

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ ओ३म् ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्

भाष्यम्

श्रीभक्ताव्यतीर्थ पण्डित शिवशङ्कर-
शर्मणा निर्मितम्

तेनैव संशोधितम्

संस्कृतार्थभाषाभ्यां समन्वितम्

अस्य ग्रन्थस्याधिकारः श्रीमत्परोपकारिण्या समया
स्वाधीन एव रचितः ।

अजमेर नगरे वैदिक-यन्त्रालये

मुद्रितम्.



Registered under Section 185 19 of act XXV of 1867

संवत् १९८५ वि०

{ मूल्यम् ५)
डा. रुच्यम् ॥३)

विद्युत् डा. रुच्यम्
देवानां भूतानां देवताः

प्रो.
श्री.
रा-
को
की
श
भी
ति
ता
की
व
।
से
ह
॥
में
ए
क
र
।
।

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

ईशा, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषदें अतिप्राचीन और सुप्रसिद्ध हैं। मुख्यतया इनही दशों की संगति लगाने के लिये वादरायण व्यास ने वेदान्त शास्त्र रचा है। श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य प्रभृतिर्यो ने इनकी इसनी प्रतिष्ठा की है कि इन दशों को साहान् वेद नाम से अपने अपने ग्रन्थों में पुकारते हैं और श्रुति के प्रमाण की जहां २ आवश्यकता होती है वहां २ इनके वाक्य दिखलाते हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी भी इनही दशों को प्रमाणकोटि में मान गए हैं। इन दशों में भी बृहदारण्यकोपनिषद् अन्तिम है। अन्यान्य उपनिषदों की अपेक्षा इसकी आकृति भी बड़ी है, अतः इसका नाम बृहत् और अरण्य अर्थात् वनमें नियमपूर्वक इसका अध्ययन अभ्यास होता था अतः इसको आरण्यक कहते आए हैं। यजुर्वेद की यह उपनिषद् है। यजुर्वेद की अनेक शाखाएं हैं। उनमें से माध्यन्दिन और काण्व दो शाखाओं में यह उपनिषद् पाई जाती है। इन दोनों में किञ्चिन्मात्र पाठभेद है। श्री शङ्कराचार्य ने काण्व शाखा के पाठ के अनुसार ही भाष्य किया है। सबसे वही उपनिषद् सर्वत्र प्रचलित हुई। अभी तक जितनी उपनिषदें जहां कहीं छपी हैं वहां २ काण्व शाखा के अनुसार ही छपी हैं। अतः मैंने भी इसी का भाष्य किया है। यजुर्वेद का जो विख्यात शतपथ ब्राह्मण है उसके १४ वें और अन्यान्य काण्डों में यह विद्यमान है। इसके छः अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में कई एक ब्राह्मण और ब्राह्मण में कई एक उपपद होते हैं। इसके ब्रह्मज्ञानेहारे कौन हैं यह अभी तक निर्णीत नहीं हुआ है, परन्तु याज्ञवल्क्य नामके ऋषि इसके रचयिता हैं ऐसा प्रतीत होता है। इसके समय का भी निर्णय करना एक महादुष्कर कार्य है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि वेदान्तशास्त्र और ब्रह्मसूत्राणि आदियों से बहुत पूर्व समय की यह उपनिषद् है।

सामान्य-दृष्टि—उपनिषदों में से एक इसी में कर्म और ज्ञान दोनों काण्डों का वर्णन पाया जाता है। इनमें बहुतसी ऐसी बातें हैं जिनकी गन्ध भी अन्याय्य

उपनिषदों में नहीं है इससे उस समय के सामाजिक, धार्मिक और राजकीय अवस्था के बहुतसे आचार विचार जानें जाते हैं। विचार की स्वतन्त्रता का प्रवाह वह रहा है ब्रह्मज्ञान तो इसके मुख्य विषय हैं ही किन्तु आत्मोन्नति के साधन और आत्मा के गुण इसमें जितने कथित हैं प्रायः अन्यान्य उपनिषदों में उतने नहीं। मैं यहाँ दोचार उदाहरण अति सक्षेप से दिखलाता हूँ क्योंकि इसकी भूमिका अति लघु लिखूँगा। श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि—**हृदये होव रूपाणि प्रतिष्ठितानि** ॥ २० ॥ **हृदये होव श्रद्धा प्रतिष्ठिता** ॥ २१ ॥ **हृदये होव रेतः प्रतिष्ठितम्** ॥ २२ ॥ **हृदये होव सत्यं प्रतिष्ठितम्** ॥ २३ ॥ **कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठिता इति हृदये इति** ॥ २४ ॥ ४० उ० ३।६। हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित हैं हृदय में ही श्रद्धा, रेतः, सत्य और वाणी आदि प्रतिष्ठित हैं। यदि विशाल शास्त्रानुसार विचार जाय तो निःसन्देह यही सिद्ध होता है कि सारी क्रियाएँ हृदय में प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रिय केवल लघु साधन हैं। दूसरे स्थान में कहते हैं कि **“एष प्रजापतिर्यहृदयम्” एतद् ब्रह्म एतत्सर्वम्** ॥ १ ॥ ४० उ० १५।३। हृदय ही प्रजापति है अर्थात् सम्पूर्ण लौकिक वैदिक क्रियाओं का सृष्टिकर्ता यही हृदय है। यही ब्रह्म है अर्थात् इस मानव शरीर में इससे बढ़कर कोई पदार्थ नहीं यही सत्य है। पुनः कहते हैं—**“सर्वासां रिद्यानां हृदयमेकायनम्”** ॥ २।४।११ ॥ सन विद्याओं का एक मुख्यस्थान यह हृदय है। इतना ही नहीं याज्ञवल्क्य कहते हैं **“हृदये होव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति। हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म”** ॥ २।१।७ ॥ हे सम्राट् जनक! इसी हृदय में सर्व भूत प्रतिष्ठित हैं। हे सम्राट्! यही परम ब्रह्म है अर्थात् महान् है। बुद्धिमान् जन ही इस विषय को समझ सकते हैं कि कैसा यह अद्भुत सिद्धान्त मनुष्यों के कल्याणार्थ अर्थात् ने प्रकाशित किया है। अतएव अपि कहते हैं—**“स ययाऽऽर्द्धघाम्ने रम्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्चसितमेतद् यदग्नेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं निष्पेपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अस्तुत्यस्त्यन्तानि च्यात्यन्तानि अस्यैवैवानि निश्चसितानि”** ॥ २।४।१० ॥ गीली समीचाओं से यदि आपने प्रचलित किया जाय तो उसमें से जैसे पृथक् २ बहुतसे धूम निकलते हैं वैसे ही इसी महान् आत्मा का यह निश्चास है जो यह अग्नेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं। इसी

महान् आत्मा के ये निश्चास हैं । इससे बढ़कर कौनसा सत्य सिद्धान्त हो सकता है । यदि मानवजाति में सबसे बढ़कर कोई त्रुटि है तो यह यह है कि यह अपने आत्मा को नहीं पहिचानता है अपने आत्मा के गुण इससे मालूम नहीं, इसी प्रत्यक्ष आत्मा से सारी विद्याएं निकली हैं निकल रही हैं और निकलती जायंगी इस भेद को न जानकर मनुष्य मूढ़ बन रहा है । अतएव जब चाक्रायण उपस्तने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म=महान् कौन है जो आत्मस्वरूप है और जो सर्व के अन्तर में है । याज्ञवल्क्य ने कहा “यः प्राणेन प्राणिनि स त आत्मा सर्वान्तरः । योऽपानेन अपानिति । यो व्यानेन व्यानिति इत्यादि”

३ । ४ । १ ॥ जो प्राण, अपान, व्यान और उदान आदि से जीवनयात्रा कर रहा है वही अपरोक्ष महान् आत्मा है । ऋषि याज्ञवल्क्य ने इस मानव शरीर को घट्टत ही पवित्र माना है प्रथम तो यह कहते हैं कि ये नयन, कर्ण, नासिका, जिह्वा आदि ऋषि हैं । २ । ३ । ४ ॥ पुनः कहते हैं कि यह वाणी अग्निदेव है । नासिका वायुदेव है । नेत्र आदित्यदेव है । कान दिग्देव है । मन चन्द्रदेव है । १ । ३ । १२-१६ ॥ पुनः कहते हैं इनकी शक्ति के लिये आहुति डालो यथा । ६ । ३ । २ ॥ में देखो “ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा । प्राणाय स्वाहा वसिष्ठाय स्वाहा । वाचे स्वाहा प्रतिष्ठाय स्वाहा । चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा । श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा । मनसे स्वाहा प्रजापत्ये स्वाहा” ज्येष्ठ श्रेष्ठ आदि शब्दों के अर्थ में किसी को सन्देह न हो अतः स्वयं उपनिषद् कहती है कि “प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । वागै वसिष्ठा । चक्षुर्वै प्रतिष्ठा । श्रोत्रं वै सम्पद् । मनो वै आयतनम् । ६ । ११ । ६ ॥ पुनः इन इन्द्रियों को ब्रह्म नाम से अर्थात् अति महान् नाम से पुकारते हैं यथा—वागै ब्रह्मेति । २ । प्राणो वै ब्रह्मेति । ३ । चक्षुर्वै ब्रह्मेति । ४ । श्रोत्रं वै ब्रह्मेति । ५ । मनो वै ब्रह्मेति । ६ ॥

यदि उपनिषद् के इस महान् सिद्धान्त पर विचार किया जाये तो मुक्तकण्ठ से सर्वे विद्वान् एकमत होके कहेंगे कि निःसन्देह मानवेन्द्रिय बहुत ही बड़े हैं जय तक इनकी पवित्रता और इनके परमगुणों को मनुष्य न जानेगा तबतक उन्नति नहीं कर सकता । अब मैं उस समय की कुछ सामाजिक, धार्मिक और राजकीय दशा-दिखलाना चाहता हूँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण उस समय अच्छे प्रकार बन चुके थे । १ । ४ । ११—१५ तक देखो परन्तु अधिकांश

गुण कर्म से ही वर्णव्यवस्था मानी जाती थी । क्षत्रिय कुल वंशज हो चले थे ऐसा प्रतीत होता है । क्षत्रिय से ब्राह्मण विद्याध्ययन करते, परन्तु शुभ्रा आदि सेवा वचनमात्र से करते साक्ष्यात् नहीं क्योंकि जब पचालदेशाधिपति क्षत्रिय जैमिनि प्रवाहण के निकट गौतम वरीय एक ब्राह्मण विद्याध्ययन करने को गया है वहाँ यह लिखा है कि “वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति सहोपायनकीर्त्योवास” । ६ । २ । ७ । पहिले के ब्राह्मण भी वचनमात्र से क्षत्रिय के निकट उपनीत हुए हैं अतः यह गौतम भी शुभ्रादि की वचनमात्र से कीर्तन करते हुए उनसे विद्याध्ययन करने लगे । अजातशत्रु ने कहा है कि यह उलटी बात है कि क्षत्रिय के निकट जाकर ब्राह्मण विद्याध्ययन करे । २ । १ । १५ । पुनः लिखा है कि “तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये” १ । ४ । ११ । राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय के नीचे ब्राह्मण बैठता है । उस समय उड़ी २ सभाएं होती थीं और उसमें देश २ के विद्वान और अन्यान्य मनुष्य निमग्नित होते थे । जैसे जनक की सभा में बहुत दूर ७ देश से मनुष्य इकट्ठे हुए थे । अत्यन्त रोचक और परमाभ्युदयसूचक वार्ता यह थी कि स्त्रिया भी समानरूप से सभा में आती थीं और केवल प्रभोत्तर की ही अधिकारिणी नहीं थीं किन्तु निर्णय करने का भी अधिकार रखती थीं । जैसे सम्राट् की सभा में श्रीमती गार्गी थी । यद्यपि श्री याज्ञवल्क्य की दो भार्ष्याएं थीं तथापि सार्वजनीन नियम एक ही स्त्री रखने का था । राज्यप्रबन्ध के अनेक स्थान भिन्न २ नियत थे जैसे “तद्यथा राजानमायान्त मुपाः प्रत्येनसः सूतग्राम-रथः अन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्ते । ४ । ४ । ३७ । उप, प्रत्येनस् सूत और ग्रामणी इन चार प्रकार के हाकिमों के नाम आते हैं उम शब्द से प्रतीत होता है कि पौजी हाकिम । प्रत्येनस्=प्रति एनस् । एनस्=पाप, इस से प्रतीत होता है कि एक २ पाप वा अपराध के लिये निर्णेत एक २ (मजिस्ट्रेट) नियत होता था । जैसे चोरों के लिये एक निर्णेत । दुराचारी व्यभिचारी के लिये एक मजिस्ट्रेट । दूतपरे के लिये एक मजिस्ट्रेट । सूतग्राम, ग्राम रथ, गौदा आदिकों के विवाद का शमन करने का या और ग्रामणी शब्द से प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्राम में शान्ति स्थापना के लिये एक २ ग्राम-नायक रक्ता जाता था । उस समय राजा और आचार्य में परस्पर शिष्य और गुरु का भाव था, जैसे जनक महाराज सम्राट् थे परन्तु श्रीयाज्ञवल्क्य के आने पर सिंहासन पर से उठकर नमस्ते किया करते

ये “जनको ह वैदेहः कूर्चाद्रुपावसर्पशुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य” । ४ । २ ।
१ । पुनः अपने आचार्य के निकट दासत्व को भी स्वीकार करते थे यथा सम्राट्
जनक कहते हैं कि—“सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति”
। ४ । ४ । २३ । यह मैं परम पूज्य आपको सम्पूर्ण विदेह देश देता हूँ और
दासत्व के लिये मैं अपने को भी समर्पित करता हूँ । उस समय स्त्रियों की बहुत
ही उच्चदशा थी । स्त्रीजाति यह के समान परमपवित्र मानी जाती थी । इस का
प्रत्येक अङ्ग यज्ञाङ्ग माना जाता था ।

ज्ञान और कर्मकाण्ड—जैसे प्रत्येक उपनिषद् ज्ञान की श्रेष्ठता और कर्मका-
ण्ड की तदोद्देश्या अश्रेष्ठता बतलाती हैं । वैसे यह भी ज्ञान की परम श्रेष्ठता का
उपदेश देती है । पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में आता है कि—“ये चामा अरण्ये
श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्जिरामिमंभवन्ति” इत्यादि । ६ । २ । १५ । जो अरण्य
में श्रद्धापूर्वक सत्य परमात्मा की उपासना करते हैं वे प्रकाश में प्राप्त होते हैं और
अन्तर्गत गत्वा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं “वेपां न पुनरावृत्तिः” उनकी पुनरावृत्ति
नहीं होती अर्थात् बहुत समयतक मुक्ति सुख का लाभ चढाते हैं और “अथ ये
यज्ञेन, दानेन, तपसा लोकान् जयति ते धूममभिसंभवन्ति” । इत्यादि । ६ । २ ।
१६ । जो यज्ञ से, दानसे और तपसे लोकों को जीतते हैं वे अन्धकार में जाते
हैं और अन्तर्गत गत्वा कुछ दिन साधारणसुख भोगकर ‘एवमेवानुपरिवर्तन्ते’
इसी प्रकार जन्ममरण के प्रवाह में बहते रहते हैं ।

विशेष दृष्टि—१ छान्दोग्योपनिषद् की कई एक कथाएँ समानरूप से इस में
आई हैं । यथा क—देवों का उद्गीथ द्वारा विजय पाना—“देवासुरा ह वै यत्र
संयेतिरे उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजहुग्नेनैनानमिमविष्याम इति” ।
छान्दोग्योपनिषद् (छा० उ०) १—२ द्वारा ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः
कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पृद्धन्त ते ह देवा ऊचु-
र्हन्तासुरान्यन्न उद्गीथेनात्ययामेति ॥ बृ० आ० उ० १—३ समान है परन्तु
बृहदारण्यक में कुछ विशेषरूप से वर्णन है । दोनों को तुलना करके पादिये
ख—पञ्चाग्निविद्या—श्वेतकेतु को पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण जैबलि के निकट जाना
और यहां इसका परास्त होना पुनः इसके पिता गौतम को राजा से विद्या ग्रहण
करना इत्यादि वर्णन छा० उ० और बृ० उ० दोनों में प्रायः तुल्य है छा० उ०

पञ्चम प्रपाठक के तृतीय खण्ड से लेकर दशमखण्ड तक और वृ० उ० के पष्ठाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण को देखिये । छा० उ० में विद्विज् मात्र विशेष वर्णन है ग-द्वा० उ० पञ्चम प्रपाठक के और वृ० उ० के पष्ठाध्याय के आरम्भ से प्राण-सवाद वर्णित है । दोनों उपनिषदों में यह आख्यायिका भी प्रायः तुल्य ही है । घ—इसी प्रकार भीमन्यकर्म वृ० उ० ३०-६-३ में बृहत् रूप से और छा० उ० ५-२ में खल्वरूप से वर्णित है ।

२—छा० उ० की रीति के समान वृ० उ० में भी कई एक वर्णन आए हैं । जैसे महाभोग्रिय अर्थात् महावैदिक प्राचीनशाल और उद्दालक आदि कई एक ब्राह्मण मिलकर कैकेय देश के राजा अश्वपति के निकट वैश्वानर के अध्ययन के लिये गये हैं और उनसे विद्याध्ययन किया है इसी प्रकार अनूचान अर्थात् वैदिक बालाकि नाम के एक ब्राह्मण ने काशी के राजा अजातशत्रु के निकट परास्त होकर उनसे विद्याध्ययन किया है इस प्रकार छा० उ० और वृ० उ० के अनेक विषय समान हैं ।

चाङ्गवल्क्य और मैत्रेयीसवाद उपनिषद् में दो बार प्रायः तुल्य रूप से आया है द्वितीय और चतुर्थ अध्याय के अन्त में देखिये इसी प्रकार वशनाक्षण भी तीन स्थानों में प्रायः समानरूप से वर्णित है । इसमें सन्देह नहीं कि इस उपनिषद् में पुनराक्षि अधिक है ।

बहुत आदमी कहते हैं कि इस में कुसस्कार के विषय हैं जैसे वृ० उ० २-३ में लिखा है कि पतञ्जल नाम के किसी पुरुष की कन्या गन्धर्वगृहीता थी इस शब्द का अर्थ श्रीशंकराचार्य “गन्धर्वेणामानुषेण सत्त्वेन केनचिदाविष्टा” करते हैं इस से सिद्ध है कि जैसे आज कल मूर्ख गवार आदमी भूत खेलता है इसी प्रकार वह कन्या भी किसी अदृश्य गन्धर्व से पकड़ी हुई थी और आज कल के समान खेलती भी होगी यह कुसस्कार की बात है ।

उ०—यह गन्धर्व शब्द का अर्थ गानविद्या सिखलाने वाला अध्यापक करने से कोई दाँप नहीं आता । श्रीशंकराचार्य का अर्थ सर्वथा अमान्य है “य” पुनः कहते हैं कि इसमें विज्ञान शास्त्र की विरुद्ध बातें हैं जैसे वृ० उ० ३-६ के शार्ङ्ग या-ङ्गवल्क्य के सगद में आता है कि यह पृथिवी जल के आधार के ऊपर है वह जल वायु के, वायु अन्तरिक्ष के, अन्तरिक्ष गन्धर्व लोक के, गन्धर्व-लोक आदित्य-लोक के,

आदित्य-लोक चन्द्र-लोक के, चन्द्र-लोक नक्षत्र-लोक के, नक्षत्र-लोक देव-लोक के, देवलोक इन्द्रलोक के, इन्द्रलोक प्रजापति लोक के और प्रजापति लोक ब्रह्म लोक के आधार पर ठहरा हुआ है। यह सर्वथा विज्ञान विरुद्ध बात है पृथिवी किसी जल के ऊपर नहीं और न सूर्य लोक चन्द्र लोक के अधीन है। उ०—मैंने अपने माध्य में इसका आशय संक्षेप से दर्शाया है जिससे शंका सर्वथा दूर होजाती है श्रीशंकराचार्य आदि के अर्थ सर्वथा त्याग्य हैं। प्रश्न-वृ० उ० ३-३ में लिखा है कि सूर्य का रथ एक अहोरात्र में निरंतर चलकर जितने देश में जाता है उतना देश देवस्याह्वय कहलाता है ३२ रथाह्वय के धरावर यह लोक है इस लोक के चारों तरफ द्विगुण पृथिवी है और पृथिवी के चारों तरफ द्विगुण समुद्र है इन दोनों लोकों के मध्य में उतना अवकाश है जितना चाकू का अप्रभाग अथवा मक्खली का पांख हो इत्यादि सांदिग्ध और विज्ञान विरुद्ध बात है इसी प्रकार पञ्चमाध्याय दशम ब्राह्मण में आया है कि जब पुरुष मरता है तब वायु में जाता है वायु अपने देह में उसको उतनी जगह देता है जितना रथ के चक्र का छिद्र हो उस छिद्र से विद्वान् ऊपर आदित्य लोक को जाता है पुनः आदित्य लोक से चन्द्रलोक को जाता है। यह वर्णन भी सर्वथा विज्ञान प्रतिकूल है क्योंकि प्रथम वायु कोई चेतन देव नहीं जो किसी जीव को वह रास्ता बतला सके और चन्द्र पृथिवी के निम्नस्थ व सूर्य दूरस्थ है इस अवस्था में सूर्यलोक से चन्द्रलोक में जाने का वर्णन सर्वथा असंगत है इस प्रकार की बहुतसी ऊटपटांग बातें भरी पड़ी हुई हैं। उ०—कोई ऊटपटांग बातें नहीं इस माध्य को उस २ स्थल पर देखिये तो शंका दूर होजायगी।

शंका—इसमें स्त्रीजाति की बड़ी नीच अवस्था दिखलाई गई है प्रथम इसके कर्त्ता, घर्त्ता याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ एक साथ थीं दूसरी बात वृ० उ० ६-४ में लिखा है कि यदि स्त्री राजी न हो तो उसको दण्ड से मारकर भी अपने बश में लावे यह बिलकुल जंगलीपन की बात है। समाधान—याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं परन्तु इससे कोई यह बात सिद्ध नहीं होती कि उस समय ऐसे सब कोई थे और यह विधि थी इसके विरुद्ध उस समय के अन्यान्य ग्रन्थों में एक स्त्रीव्रत अनेक स्थल में पाया जाता है। स्त्रीजाति को तो उपनिषद् परमपवित्र यज्ञस्वरूप मानती है परन्तु यदि कोई स्त्री कर्कशा हो तो उसको दंड का भय दिखलाने को कहा गया है न कि मारने के लिये कोई आज्ञा आती है। शंका—पष्ठाध्याय के चतुर्थ

माझण में मारण मोहन आदि कई एक घृणित और निन्दनीय विषय वर्णित हैं जैसे किसी पुरुष की रीढ़ का कोई जार (चार) हो तो उसके मारने का मारण प्रयोग लिखा है इसी प्रकार स्प्रलित वीर्य को अंगुली से उठाकर स्तनों और भोंहों के बीच में लगाने की चर्चा पाई जाती है, इत्यादि । उ० मेरा भाष्य एकवार देखने मात्र से सब शङ्काए दूर होजायगी ।

भाष्य के सम्बन्ध में वक्तव्य ॥

ईश्वर की कृपा से यह भाष्य अब मुद्रित हो प्रकाशित भी होगया है इसकी रचना में अनेक विघ्न समय २ पर उपस्थित होते रहे करीब ५ पाच वर्ष पहिले आधा भाष्य लिखा गया पुनः इसकी समाप्ति “धेन देन प्रकारेण” एक वर्ष में हुई है । ईश्वर का ही कुछ ऐसा अनुमह था कि अब यह भाष्य सब जिज्ञासु पुरुषों के निष्कट पहुँच सकता है मुझे कोई ऐसी आशा नहीं थी । इसके लिये मैं दो चार महाशयों को धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता—प्रथम अजमेर-निवासी वैद्यकुल-वत्स तथा हिन्दू सुपरिऔरिटी ग्रन्थ के रचयिता श्रीमान् बाबू हरबिलासजी शारदा जी, ए सहकारी मन्त्री, श्रीमती परोपकारिणीसभा तथा कनयनिर वैदिक-पुस्तकालय कमेटी अजमेर । कायस्थकुलकमल श्रीमान् बाबू गौरीशंकरजी चार पेटहा, मन्त्री, आर्यप्रतिनिधिसभा राजस्थान । तथा क्षत्रियवशप्रदीप तथा परोपकारिणी सभा सभासद्, जोषनेर वास्तव्य श्रीमान् ठाकुर कर्णसिंजी । इन धीनों उदार महाशयों के सुप्रबन्ध से मैं इस कार्य को निर्विघ्न समाप्त करने में समर्थ हुआ हूँ । इसके पश्चात् बाबू गणेशीलालजी भी, जो इस समय वैदिक पुस्तकालय के प्रबन्धकर्त्ता हैं, धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि इन्होंने अनेक पत्र द्वारा मुझे प्रेरणा कर और युक्ता भाष्य की समाप्ति कराई । अन्त में पुनः उस परमात्मा को नमस्कार कर पाठकों से निवेदन करता हूँ कि अनेक विघ्न के और करीब छ० वर्ष के अन्तर के कारण मे भी जो इसमें वही न्यूनता होगई हो उसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ । इति शुभम् ।

अजमेर,
ता० २-६-१९११ ई०

निखिल मनुष्य हिताऽऽकांक्षी—
शिवशङ्कर.

सूचीपत्र ॥

विषय	अवपातनिका	पृष्ठ सं०
चेष्टावर्णन	१
आयुर्विचार	१४
सर्वकाल में आचार्यों की विद्यमानता	३०
स्वाध्याय-प्रशंसा	३४
आत्मनिर्णय-प्रमाणता	४१
आत्म-निर्भरता का अभाव	४७
आत्मबलोपाय	५१
आत्मशक्ति	५८
ब्रह्म-भक्तिदर्शनादिविचार	६२
ब्रह्मसाक्षात्कार	८८
	भाष्य की पृ० सं०	
अक्षशब्दवाच्यसंसारार्थग्रहण	१
मृत्युवाच्यब्रह्मोपासना	३१
स्वार्थत्यागोपासना	६७
पुरुषविधजीवगुणोपासना	११६
उपासनाविचार	२०५
शिशुब्राह्मणम्	२७६
अज्ञातशत्रुहृत्तवालाकिसंवाद	२८३
आदेशोनेतिनेति ...		३१२
याज्ञवल्क्य भैत्रेयीसंवाद	३१६
दध्यद्विद्वार्थवर्ण	३८६
वंशब्राह्मण	४०१
जनक की समा	४०५
याज्ञवल्क्य और अश्वलसंवाद	४१६

विषय	म.प्यकी पृष्ठ सं०
✓ याज्ञवल्क्य और आर्त्तभाग संवाद	४२६
✓ याज्ञवल्क्य और भृश्रुमंवाद	४५५
✓ याज्ञवल्क्य और उपस्तसंवाद	४६३
याज्ञवल्क्य और कहोलसंवाद	४६८
॥ ॥ गार्गीसंवाद	४७३
॥ ॥ उद्दालक संवाद	४८१
॥ ॥ गार्गी संवाद	५०६
॥ ॥ विदग्धसंवाद	५१३
॥ ॥ जनकर्मवाद	५७३
॥ ॥ मैत्रेयीसंवाद	६६२
वंश ब्राह्मण	६६६
प्रजापति और देवादिकों का संवाद	६६८
सत्यका वर्णन	७०५
मरण समय का वर्णन	७१४
प्राण का वर्णन	७१६
गायत्री का वर्णन	७२१
प्राणसंवाद	७३५
पञ्चाग्निविद्या	७४३
श्रीमन्यकर्म	७५८
श्रीपुत्रमन्यकर्म	७६६
वंशब्राह्मण	७८३

ओ३म् तत्सत्

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये

अवपातनिका

आलस्यं मृत्युरित्याहुर्नृत्नं जीवनमित्युत ।

यथाबोधं यथाशक्ति च नूनं सर्वधेतनो व्याप्रियमाणो दृश्यते । तद्यथा-
पिपीलिकाः खलु सततं कणशः कणशोऽशनं समाहृत्य २ विवरं प्रपूरयन्ति ।
पुत्तिका वल्मीकसंचयनात् क्षणमपि न विरमन्ति । भ्रमराः कुसुमेभ्यो मधु
संगृह्णानाः स्वव्यापारं न कदाप्यवहेत्यन्ति । विहगा अनवरतस्त्रकूजनैः
क्षुल्लस्वभावप्रणोदितैः खोत्पतनावपतनैश्च गृहानुपवनानि उद्यानानि पादपान्
अरण्यानि सचेतनानीष कुर्वन्तो भूषयन्तश्चाऽऽप्रदोषात् स्वनिर्योगमशून्यं वि-
दधति । अहो ! अचेतना अपि सूर्यादयो महता वेगेन भ्रमन्तः क्षणिकामपि
विभ्रान्तिं न कादन्ति । क्षणमपि स्तिमिते समीरणे कथमिव व्याकुली-
भवन्ति जीवाः । भगवती वसुन्धरा नैरन्तर्येण उच्चावचान् पदार्थान्
प्रसृजाना महता रंहसा धावति । एवं ये प्राणिनः क्षणाधुपः सन्ति तेऽपि
यथावत् यथामनोरथं चेष्टमाना एव दृष्टाः । एवं जीवनप्रदा इमे स्यावरा अपि
चेष्टमाना अतितरां शोभन्ते । तेषां मध्ये मनुष्यो महाचेष्टावानित्यत्र कः संशयीत ।
इतरेषां तु नियता नैसर्गिकी जीवनायाऽऽवरियकी चेष्टा प्रतीयते न तथा
मानवी । दृश्यतां तावन्मनुष्याणां मध्ये केचित् क्रियां प्रशंसन्ति । निन्दन्ति च
केचन । सन्ति चेदानीमपि परमहंसामिधायिनो येऽशनमपि स्वहस्तेन कर्तुं
नेच्छन्ति, नग्ना विचरन्ति, न चीवरयन्ते, न स्नान्ति, न शौचमाचरन्ति । तद्विप-

रीताः खलु बहवः । अतो न समा न च नियता मानवी क्रिया । अस्वाभावकान्यपि कर्माणि अनुष्ठीयन्ते मानवजात्या । तद्यथा-दिवास्वापो रात्रिजागरणम् । खल्वे वयसि परिग्रहग्रहणम् । बह्वीनां स्त्रीणामेकेन पुरुषेणावरोधः । अतिमयङ्करः पुत्रावधः । सतीदाहः । भृग्वादितनमग्निप्रवेशः । ब्राह्मणादिजातिभेदः । इत्येवविधं बहु स्वभावविरोध्यपि दृढादभ्यासेन स्वाभाविकीकृतमस्ति । स्वभुज-वस्त्रेण जगदशीकरणचेष्टा । स्वजातिवधाय लचशः सैन्यस्थापनम् । इतरान् दरि-द्राकृत्य स्वार्थसिद्धये बहुलललानां परिच्छेद-चतुरङ्गसेना-प्रासादो-द्याननटविट-धूर्तादि-पालनमित्येवंविधं सर्वमनावश्यकमेव ।

अपने २ बोध और सामर्थ्य के अनुसार सब चेतन परिश्रम करता हुआ दीप्तता है । विपीलिकाएँ सतत एक २ कण को इधर उधर से इकट्ठा कर अपने बिबर को पूर्ण करती रहती हैं । पुस्तिकाएँ वस्त्रों के ढेर करने से क्षणमात्र भी विराम नहीं लेती । ये भ्रमर कुसुमों से मधु समग्र करते हुए अपने व्यापार का कदापि भी निरादर नहीं करते । बिहग अनवरत अपने २ कूजन से और चञ्चल स्वभाव-प्रेरित निज उत्पन्न और अवपतनों से गृहों, वपवनों, वृक्षों तथा वनों को मानो सचेतन और मूर्छित करते हुए रात्रिपर्यन्त अपने नियोग (अनुष्ठेयकार्य) को शून्य नहीं करते । अहो, अचेतन सूर्यादि पदार्थ भी बड़े वेग से घूमते हुए एक क्षण भी विभ्रान्ति नहीं चाहते । एक क्षण भी जब वायु स्थिति होजाता तब जीव कैसे व्याकुल होते । भगवती वसुन्धरा निरन्तर उत्तम, मध्यम, निरष्ट विविध पदार्थों को पैदा करती हुई बड़े वेग से दौड़ रही है । जिन प्राणियों की क्षण भरही की आयु है वे भी अपने बल और मनोरम्यभर चेष्टा करते हुए बरे गये हैं । इसी प्रकार स्थावर भी चेष्टायमान हैं जिन में चेतनशक्ति गाढ़ सुषुप्ति में पड़ी हुई है और जो जगत् में जीवनप्रद और अति सुशोभमान दीप्तते हैं, उन सब में मनुष्य महाचेष्टावान् जीव है इसमें कौन सन्देह कर सकता है । परन्तु अन्य जीवों की चेष्टा नियत स्वाभाविक जीवन के लिये आवश्यक प्रतीत होती किन्तु मानवी चेष्टा वैसी नहीं । देखो, मनुष्यों में कोई क्रिया की प्रशंसा और कोई निन्दा करते । आजकल नी घेसे परमहम नाभयारी मनुष्य पाये जाते हैं जो अपने हाथ से अशन भी करना नहीं चाहते, नम ही विचरते न तो वस्त्र उपा-ज्जन करते और न धारण करते, न स्नान, न किसी प्रकार के शौच ही करते ।

परन्तु इसके विपरीत बहुत हैं । इस हेतु मनुष्यों की क्रिया समान और नियत नहीं है और अस्वाभाविक कर्म भी मनुष्य करता है, जैसे—दिवा-स्वाप, रात्रि-जागरण, मोदी ही वयोवस्था में स्त्रीग्रहण । अतिभयङ्कर महाघोर, पुत्रीवधरूप कर्म, संतीदाह, पर्वत पर से गिरकर मरना, अग्निप्रवेश, मनुष्यों में ब्राह्मणादि जातिभेद इत्यादि २ स्वभाव विरोधी कर्म हैं । तथापि ये स्वाभाविक बना लिये गये हैं । मनुष्यों के अनावश्यक कार्य भी बहुत हैं, जैसे—अपने भुजबल से जगन् को धरा में करने के लिये चेष्टा करनी । अपनी ही जाति के वध के लिये लाखों सेना स्थापन । दूसरों को दरिद्र बनाकर स्वार्थसिद्धि के लिये बहुतसी स्त्रियां, वस्त्र, चतुरङ्गसेना, मांसाद, उद्यान, नटविट, घूर्तादिकों का प्रविपालन इत्यादि २ अनावश्यक ही हैं ॥”

अतो ब्रूमो मनुष्याणां चेष्टा बह्वी अनियता अनावश्यकौ अस्वाभाविकी च । इत्थम् उमे चेष्टे तु महदन्तरं सूचयतः । नहि सर्वान् स्वबन्धूनुच्छेत्तुं प्रयतमानो ह्येषः कश्चिच्छाद्दलः । मनुष्येस्तु तथा दृष्टः । श्रूयते किल परशुरामो निखिलानि राजन्यकुलानि समुन्मूलयितुं प्रतिजज्ञे । तथैव रामोऽपि रचांसि । महारथानां रघुप्रभृतीनां दिग्विजयव्यापारोऽपि तादृगेव । पितृवधकोऽपि तः सम्राट् जनमेजयः खिलोऽकव्यापिनो निःशेषतया सर्पान् बद्धिमात् कर्तुं चक्रमे । इदानीमपि सन्ति सहस्रशो राजानो ये सम्पूर्णां पृथिवीं स्वायत्तां विधित्सन्ति । अशेषैर्मनुष्यैः शिरोभिर्बन्धमानान् स्वचरणांश्च दिदृक्षन्ते । ईश्वरः खलु तदुद्योगे यदि विघ्नं नोत्पादयेत् न च स्वबन्धव एव तदीयशात्रवस्तुत्पाद्य तदीयमनोरथव्याघातं न कुर्व्युस्तर्हि कांस्कानत्याचारान् नाचरेदिति वक्तुमपि कठिनमेव । केचिज्जगतः सकलश्रेष्ठिनोऽपि शाययितुं कामयन्ते । केचिद्विद्यया सर्वानभिभूय न मादृशः कोऽपि कदापि भवेदित्याशामते । इत्थं विभिन्नचेष्टा निरवधिकचेष्टा मनोरथस्यापि सीमासु द्रव्यं वर्तितुमिच्छति मानवजातिः । मानवमानासिकव्यापारवेगमुपश्लोकयितुं स्वयंवादेव्यपि कदाचिदेव समर्था भवेत् । नेतरजीववत् परिच्छिन्ना मानवी चेष्टा । न केवलं शरीर-पोषणपरा । न च पृथिव्यन्त विश्रामा । नैहिकनिखिल-पदार्थ-प्राप्तौ संमाप्तिमती । किं तर्हि अदृश्यानापि स्वकपोलकल्पनया पदार्थकृतानापि च पदार्थान् उपलब्धुं समीहन्ते । अतो मनुष्येषु कचिन्महत्तयशान्तिः । कचिच्छान्तिः । कचिन्निष्क्रियता । कचिन्कर्मपरायणता इत्येवंविधपरस्परविरुद्धोभयगुणा दृश्यन्ते मानवाः ।

इस हेतु कहना पड़ता है कि मनुष्य की चेष्टा अनियत, अस्वाभाविक और अनावश्यक भी होती है। इस प्रकार ये दोनों चेष्टाएं (मनुष्य की और अन्य जीवों की चेष्टा) बहुत अन्तर रखती क्योंकि कोई भी शार्दूल सकल निज बन्धुओं के नारा करने का प्रयत्न करता हुआ नहीं दीप्तता। परन्तु मनुष्य में ऐसी लीला है। सुना जाता है कि परशुराम ने निखिल क्षत्रियकुलों को मूल से उद्घा-
 ङ्गने की प्रतिज्ञा की थी। वैसी ही प्रतिज्ञा राम ने राक्षसों के वध के लिये की। महारथ रघु प्रभृतियों का दिग्विजय व्यापार भी वैसा ही है। पिता के वध से कोपित हो महाराज जनमेजय ने त्रिलोकी-व्यापी सर्पों को भस्म करना चाहा। आज भी अनेक राजा हैं जो सम्पूर्ण पृथिवी को अपने ही अधीन में करना चाहते और पृथिवीस्थ समस्त मनुष्यों से बन्धमान अपने चरणों को देखना चाहते हैं। यदि इनके उद्योग में ईश्वर विघ्न न डाले वा अन्य निजभाई ही शत्रु बनकर इनके मनोरथ को न रोकें तो ये कौन २ अत्याचार न करें, सो कहना कठिन है। कोई जगत् के सकल सेठों को अतिश्रम करना चाहते। कोई विद्या से सबों को दूरा, मेरे समान कोई न होवे, ऐसी आशा बिया करते हैं। इस प्रकार मनुष्य की भिन्न २ चेष्टाएं हैं और उनकी अपाधि नहीं है। मनुष्य-
 जाति मनोरथ की सीमा को भी लांघकर रहना चाहती है। मनुष्य के मानसिक व्यापार सम्बन्धी वेग को श्लोकों में वर्णन करने को वाग्देवी भी कदा-
 चित् ही समर्थ होवे। अतः यह मित्र हुआ कि इतरजीववत् मनुष्य की चेष्टा परि-
 चिद्ध भी नहीं, केवल शरीर-लोपण-पर्यन्त ही नहीं। पृथिवी के अन्त तक ही विश्राम लेनेवाली नहीं, और न ऐहिक निखिल पदार्थ प्राप्ति होने से ही समाप्ति होनेवाली है, किन्तु अदृश्य भी निज कल्पना से पदार्थोक्त (अर्थात् जो पदार्थ न था वह पदार्थ बनाया गया हो) पदार्थों की भी प्राप्ति की इच्छा करनेवाली है। इसी हेतु मनुष्यों में कहीं बड़ी अशान्ति और कहीं शान्ति, कहीं निष्क्रियता और कहीं बड़े वेग से समपरायणता देखी जाती है।

अत्र प्रथमं तावन्मीमांस्यते कीदृश्या मानव्या चेष्टया भाव्यम् ।
 मनुष्येषु महानयमनुग्रहः प्रतिभातीत्यस्य यद् विवेकसहिता इमे सृष्टाः त-
 द्विवेकविष्टद्वयं वेदा अपि प्रदत्ताः । तैरेव मनुष्यचेष्टापि नियन्तुं शक्या ।
 किन्तिवदानो विवादप्रस्वत्वात् शासनाय प्रदत्ता अपि वेदास्तावत्किंचित्काल-

चोपादीयन्ते । सामान्यविवेकेनैव सर्वं पर्यालोचयामः । ननु विवेकतारतम्या-
चेन निश्चयकरणासामर्थ्यामिति ब्रूयेत् । न, आवश्यक-कार्यविधौ एकदैशि-
कानां विवेकस्य साम्यप्रायदर्शनात् । तथाहि जुषया म्रियमाणेषु कस्य नानु-
क्रोशः । चोरितेषु प्रियेषु घनेषु जातव्ययः को विवेकी चौर्यवृत्तिं साध्या
मन्येत । एकाकी प्रोषितो दैवाद्गुणोपरिचितैर्निराकाङ्क्षिभिः सद्भिरुपचरितः
शायितः पापितो भोजितश्चिकित्सितोऽन्ततोविशल्याकृतः सन् कः खलु परस्पर-
साहाय्यकं कयामिव नानुमेदेत् । एवमेव विवेकेन पर्यालोचिताः सर्वेऽत्याचाराः
सर्वेषां दृष्टौ हेयत्वमेव प्राप्स्यन्ति । इत्यभात्मनिदर्शनानि पुरस्कृत्य विमृश्यन्तो
जनाः न कापि न्याय्यात् पथः प्रायश्चलिष्यन्ति ।

अथ यहां विचार किया जाता है कि मानवी चेष्टा कैसी होनी चाहिये ।
मनुष्यों के ऊपर ईश्वर का यह महान् अनुग्रह है कि विवेक सहित मनुष्य बनाये
गये । उस विवेक की वृद्धि के लिये ही ईश्वर ने वेद दिये और उनही से हम
निर्णय कर सकते हैं परन्तु सम्प्रति वेदों को भी विवादग्रस्त कर दिया अतः थोड़ी देर
तक वेदों को नहीं लेते । किन्तु सामान्य विवेक को ही लेकर विचार आरम्भ करते
हैं । यदि यह कहें कि विवेक के न्यूनाधिक्य होने से हम लोग केवल विवेक से
निर्णय करने में असमर्थ होवेंगे यह कहना उचित नहीं । क्योंकि आवश्यक कार्य
की विधि में एक देश निवासियों का विवेक प्रायः तुल्य ही देखने में आता है ।
देखो ! जुघा से मरते हुए मनुष्यों पर किसको दया नहीं उपजती । निज प्रियवस्तु
की चोरी होजाने से किसको व्यथा उत्पन्न नहीं होती और इस अवस्था में कौन
विवेकी पुरुष चौर्यवृत्ति को अच्छी मानता । अनुमान करो कि कोई एकला ही
विदेश गया और दैवयोग से कहीं रुग्ण हो गया । तदनन्तर किन्हीं आकाङ्क्षा-
रहित अपरिचित अच्छे पुरुषों ने उसकी शुश्रूषा की, सुलाया, पिलाया, खिलाया
और दवाई करवाकर नीरोग करवाया, अब कहो वह मनुष्य परस्पर की सहा-
यता का अनुमोदन करेगा या नहीं । इस प्रकार यदि विवेक से सकल अत्याचार
अच्छे प्रकार विचारित होंगे तो सबों की दृष्टि में वे त्याज्य ही ठहरेंगे । इस प्रकार
अपने आत्मदृष्टान्त आगे रखकर यदि मनुष्य विचार करे तो वहीं भी न्याय-
युक्त पथ से नहीं गिरेगा ।

ननु सृष्टिमारम्याद्यपर्यन्तं, भूयांसि संवत्सराणां सहस्राणि अयुतानि वा

लक्षणाणि वा कोटयो वाऽर्बुदानि वा शङ्खानि वा व्यतीथुः । तदन्तरेऽभूदन्
 असंख्येया जनहितहेतवो महर्षयो मुनय आचार्या धर्मरक्षका धर्मस्थापकाः
 शान्तिप्रचारका आत्मबलिप्रदातारोपि लोकोत्तरमतयः प्रभावशालिनः पुरुषाः ।
 तथापि न प्रशशाम वैरम् । न निवृत्तेऽकिञ्चनता । न जहावज्ञानता । न क्षयित्
 पलायांचक्रे तुमुलसंप्रसारः । किं बहुनोक्तेन भ्रातृव्यशब्दस्य शत्रुतायाः स्वाभा-
 विकत्वमनादित्यमाप्रलयस्यादित्वं च गमयति । ईश्वरस्यैदृश्येव सृष्टिः प्रतिभाति ।
 न तत्रास्माकं जीवानां दोषः । अनादिकालप्रवृत्तो देवासुरसंग्रामोत्र प्रमाणम् ।
 किमिदानीं स शान्तिं समाप्तिं च नीतः । अस्ति मोरेकमपि निदर्शनं निरुपद्रवं
 कस्यापि युगस्य कस्यापि धर्मावतारस्य सम्राजोपि वा । धर्मावतारः किल श्रूयते
 युधिष्ठिरः । सोऽपि देवविषययोगादाचार्य्य गुरु पितृ पितामह प्रपितामह-भ्रातृ-
 श्वशुरस्थालेष्टमित्रादि संहार-कारिण्यं संग्रामहत्यां पतितोऽभूत् । एक् एव किल
 महाभारताख्यः कलहः सर्वाणि ब्राह्मणजातिं ज्ञानवीर्याणि धार्मिक्योशस्त्रीः
 समहापीदित्याहुः । अतो विवेककयापि रिक्तैव प्रतिभाति । क इदानीं वसिष्ठेभ्यः
 कृष्णभ्यः भीष्मभ्यः विवेकिनं न मन्यते । तैरपि तु अत्याचरितम् । यदि शिष्टैः
 दुष्टा भ्रातृतायिनः संहर्तव्या अतस्तेषामीदृशी प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । इदमपि
 निर्येतुमशक्यम् । अन्योन्यं हि दुष्टमज्ञानिन धर्मविगदितं व्यवहरन्ति जनाः सर्वे
 स्वार्थं समीहते । का तर्हि व्यवस्थाशा । को विवेको नाम को वाऽविवेकः ।
 धर्मनाम्ना सर्वं विडम्बनमात्रं प्रतिभाति ।

यहा पर एक भारी आशङ्का उपस्थित होती है कि सृष्टि के आरम्भ से आज
 तक कितने सहस्र, अयुत, लक्ष, कोटि, अर्बुद वा शङ्ख वर्ष बीत गये । इसके
 बीच २ में महर्षि, मुनि, आचार्य्य, धर्मरक्षक, धर्मस्थापक, शान्तिप्रचारक, आत्म-
 बलिप्रदाता, लोकोत्तरमति और वड़े २ प्रभावशाली पुरुष हुए तथापि धैर शान्त न
 हुआ । दरिद्रता न गई अज्ञानता ने किसी का पिरण्ड न छोड़ा । तुमुल समाम कहीं
 भाग न गया । बहुत क्या कहें “भ्रातृव्य” शब्द ही दिखलाता है कि शत्रुता स्वा-
 भाविक, अनादि और प्रलय पच्यन्त स्थायी है । ईश्वर की ऐसी ही सृष्टि है यहा हम
 जीवों के दोष नहीं । इसमें अनादिकाल से प्रवृत्त देवासुर-संग्राम प्रमाणभूत है । क्या
 आज वह देवासुर-संग्राम शान्त होगया ? नहीं । क्या किसी युग का वा किसी ध-
 र्मात्मा सम्राट् का भी एक निरुपद्रव दृष्टान्त दिखला सकते हैं ? जगत् भर में युधि-

धिर महाराज धर्मावतार कहे जाते । क्या, इनको भी, दैव के विप्रयोग से गुरु आ-
चार्य्य पितृमह प्रपितामह भ्राता अशुर श्याल इष्ट भिन्नों का भी संहार करनेवाली
संप्रामाण्य महाहत्या में गिरना नहीं पड़ा ? । आश्चर्य की बात है कि एक ही महा-
भारत नामक कलह ने सम्पूर्ण ब्राह्मतेज, चात्रवीर्य, व्यापार शक्तियां हरण करलीं ।
इस हेतु मुझे विवेक की क्या भी रिक्त=अर्थशून्य ही प्रतीत होती है । कौन आदमी
इस समय कह सकता है कि वसिष्ठ वा कृष्ण वा भीष्मापितामह विवेकी नहीं थे ।
परन्तु उन्होंने भी अत्याचार किया यदि यह कहा जाय कि दुष्ट और आवतायियों
का संहार करना ही उचित है तो मैं कहता हूं कि इसका भी निर्णय अशक्य है
क्योंकि एक दूसरे को अज्ञानी धर्महीन कहा करते हैं । क्योंकि सब कोई स्वार्थ
चाहता है तब व्यवस्था की आशा कैसे हो सकती है ।

इत्यादिषु ब्रूमः—अज्ञानतां सर्वानर्थबीजमिति सर्वैरात्मैर्गवस्यापितम् । तयो-
हि । शूलभा अग्नौ पतित्वा प्रियन्ते । इत्यत्र सुनिपुणतया विचार्यमाणे वस्तुनि
अज्ञानतैव हेतुः प्रतीयते । अज्ञानो बालो विषधर्ममपि हस्तेन ग्रहीतुमिच्छति,
स एव पुनरपि विदितः सन् तस्मादमीत्वा पलायते । तं व्यापादयितुम्वा प्रय-
त्नते । इदानीमपि अज्ञानी खलु भारतवर्षीयो ब्राह्मणः पवित्रस्यापि शुद्धीकृतस्य
नरस्याश्व-सुहृदाऽऽविना व्ययते प्रायश्चित्तं विधाय सुखयति । प्राचीनशिष्टो-
च्चारव्यवहारस्तु पुनरपि शुद्धैराश्वं पाचयितव्यमिति दृश्यते, इत्यत्र एव ज्ञानी
सन्त्यासी चापढालस्यापि शुद्धोदनमभ्यवहन् न किञ्चन शोचति । रुग्णे
बालके कस्याधिद् डाकिन्या अयं व्यापार इति मन्यन्ते स्म । सम्प्रति ज्ञानचिह्नद्वौ
न कोपि विवेकी डाकिनीं मन्यते । तेन सहस्रशो मनुष्याणां चिकित्सयोद्धारो
जातः । दुर्वोधो जनो राहुनिबन्धनं ग्रहणं मत्वा स्वाज्ञानेन दुःखशतानि भुङ्क्ते । ग्रह-
तत्त्वविदस्तु किञ्चिदपि न शोचन्ति । सन्तीदृशानि उदाहरणशतानि यानि
विद्याविषयोर्महदन्तरं सूचयन्ति । अतो ब्रूमः—विवेकेनोत्पन्ने ज्ञानाऽऽलोके पुनरपि
न स्यास्यत्यज्ञानान्धतमसम् । ननु पुरा यदि न नोदियाय । कयमिदानीं तदीयो-
दयस्य प्रत्याशा । उदयस्तीकारेपि नाविद्यायाः सर्वशेन ग्रहाणिरिष्टा कदापि ।
इत्याशङ्कायां ब्रूमः—नहि सर्वावच्छेदेनाऽज्ञानस्योच्छ्रितिर्भवितेत्यत्रोमिति वय-
मपि ब्रूमः । ययोदितेपि सूर्ये क्वचित्तिष्ठत्येवान्धकारः, न तेन तु कार्ये हानिः ।
भवनममितो वर्तमान आलोके भवनस्य तमोव्याहृतमिव न कार्ये विघ्न-

द्वत्पादपितुं शक्नोति । एवमेव प्रवृद्धायां विद्यायां समुदिते च विवेके भवचिद्धी-
ना अविद्या न दुःखाकरिष्यति । पुराणान्यपि सन्त्युदाहरणानि यानि प्रजास्व-
क्लेशं दर्शयन्ति । तथाहि—जानश्रुतिर्हि पौत्रायणः अद्वादेयो बहुदायी बहुपावय
आस । स ह सर्वत आबसयान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव भेज्जस्यन्तीति । अन्या
चाप्याख्यायिका सेयम्—स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच—न मे स्तेनो जनपदे
न कदर्यो न मघपो नानाहिताभिर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कृतः । यद्यप्र-
माणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मै धनं दास्यामि तावद्भगवद्भयो
दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति ॥ छा० उ० । मदीयमेवाञ्जं सर्वे भिक्षवो-
ऽज्ञन्तिवत्पाशयेन सर्वत्रराज्ये शास्तामापनं पौत्रायणस्य जानश्रुतेर्महतीमुदारतां
धर्मपरायणता मौचित्यपालयितृत्वं च दर्शयति । एतेन देशे शान्तिः सुधया-
चामरणं प्रदर्शितम् । महाराजस्याश्वपते राज्ये तु चौर्याद्यभावोपि गम्यते ।

इस आक्षेप पर कहा जाता है कि सब आस जनों ने स्थिर किया है कि अज्ञा-
नता ही अनर्थ बीज है । देखो ! शलभ अग्नि में गिरकर मर जाते हैं । यहां
निपुणता के साथ विचार करने पर भी अज्ञानता ही कारण प्रतीत होती है अज्ञानी
बालक बिपश्चर सर्प को भी हाथ से पकड़ना चाहता है । जब वही ज्ञानवान् होता
है तब उस सर्प से डरकर भाग जाता है वा उसको मारने की चेष्टा करता है ।
देखो, आजकल अज्ञानी भारतवर्षी प्राद्वण पवित्र शूद्र का (जो धर्मा में शूद्र
नहीं है जिसको हठात् शूद्र मान लिया है) अन्न खाकर बहुत मानसिक दुःख से
व्यथित होते और प्रायश्चित्त कर सुखी होते, किन्तु प्राचीन शिक्षाचार व्यवहार तो
यह बतलाता है कि शूद्रों को ही अन्न पकाना चाहिये । देखते हैं कि यहा के ज्ञानी
संन्यासी चाण्डाल का भी शुद्ध भाव खाकर कुछ भी शोक नहीं करते । जब कोई
लडका दण्ट होता तो अज्ञानीजन कहते हैं कि किसी डाइन का यह व्यवहार है ।
इस हेतु मेरा लडका रुग्न हुआ है । अब ज्ञान की वृद्धि होने से कोई विवेकी पुरुष
डाकिनी को तर्ही मानता । इससे स्पष्टतः अनुषों का चिकित्सा से इतर हुआ है,
दुर्बोध जन गहकृत प्रदण मान सैकड़ों दुःखों को भोगते हैं, परन्तु प्रदण के पत्व
ज्ञाननेहारे कुछ भी शोक नहीं करते । ऐसे शतशः उदाहरण हैं जो विद्या और
अविद्या में बड़ा अन्तर स्थित करते । इस हेतु कहते हैं कि विवेक से ज्ञानरूप
आलोक की उत्पत्ति होने पर अज्ञानान्धकार नहीं ठहर सकता और तब ही निपुण

की भी सम्भावना है। यहां पुनः शङ्का होती है कि पूर्व समय में यदि उस ज्ञानाऽऽ-
लोक का उदय न हुआ तो अब उसके उदय की प्रत्याशा कैसे हो सकती। उत्तर—
यह हम भी स्वीकार करते हैं कि सर्वथा अज्ञानता की उच्छिष्टाति (विनाश) कदापि
भी होनेवाली नहीं क्योंकि सूर्य के उदय होने पर भी कहीं अन्धकार रहता ही है
परन्तु उस अन्धकार से कार्यहानि नहीं होसकती। जब गृह के चारों तरफ आलोक
वर्तमान रहता तो भवनस्य भी तम व्याहृत सा हो कार्य में विघ्न उत्पन्न नहीं कर
सकता। इसी प्रकार अतिराग विद्या की वृद्धि होने से विवेक के उदय होने पर कहीं
विलीना भी अविद्या दुःखोत्पादन में समर्थ नहीं होगी और अतिप्राचीन भी बहुत
उदाहरण हैं जो प्रजाओं के क्रेशों के अभाव दिखलाते हैं। जैसे—पौत्रायण जानश्रुति
महाराज किसी एक समय में हुए। वे भद्रपूर्वक दान दिया करते थे और बहुत
देते थे अर्थात् याचक की इच्छा को पूर्ण करनेहारे थे और इनके गृह पर प्रतिदिन
अन्न बहुत पकाये जाते थे। इन्होंने अपने राज्यभर में भोजनशालाएं बनवाई थीं कि
सब कोई भरे ही अन्न को ग्रहण करें। अन्य भी आख्यायिका है। यह यह है—
कैकय देश के अधिपति अश्वपति नाम के राजा बड़े आत्मज्ञानी थे, इनके निकट
कई एक जिज्ञासु आत्मतत्त्व विचार के लिये आये। उनका विधिपूर्वक सत्कार कर
एक दिन प्रातःकाल उठ और अपने आतिथियों के निकट आ, अपने राज्य का वृत्ता-
न्त सुनाने लगे। हे भरे माननीय ब्राह्मणो! मेरे राज्य में न चोर, न छपण, न
मद्यप, न व्यभिचारी ही है। व्यभिचारिणी सब कैसे होंगी। हे भरे पूज्यो! मैं यज्ञ
करनेवाला हूं इस हेतु मेरे गृह और राज्य को पवित्र मान आप लोग निःशङ्क हो
निवास करें। एक २ ऋत्विक् को जितना धन दूंगा उतना आप लोगों को भी दूंगा,
इत्यादि दान्दोग्य उपनिषद् में देखो। अब विचार करो कि ये दोनों आख्यायिकाएं
कैसा प्राचीन वृत्तान्त हम लोगों के निकट प्रकट करती हैं। मेरे ही अन्न को सब
भिक्षुक खाएँ इस अभिप्राय से राज्यभर में धर्मशालाओं का धनवाना सूचित करता
है कि—जानश्रुति पौत्रायण बड़े उदार, धर्मरायण, औचित्यपालयिता थे। इससे यह
भी सिद्ध होता है कि देश में बड़ी शान्ति थी और क्षुधा से मरण का अभाव था
और द्वितीय आख्यायिका से विस्पष्टतया कहती है कि राजा अश्वपति के राज्य में
कोई आदिक किञ्चित् अत्याचार नहीं था।

अन्यथ 'सोमिपिक्वोऽमिपिक्वे ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्यात्। सहस्रं दद्यात्।

क्षेत्रं चतुष्पाद् दद्यात् । अथाप्याहुः—असंख्यातमेवापरिमितं दद्यात् । अपरिमितो वै क्षत्रियः ।” ऐतरेय ८ । २० ॥

और भी सुनो—जब राजा अभिषिक्त होवे तब वह अभिषेक्ता ब्रह्मविद् पुरुष को हिरण्य देवे क्षेत्र और चतुष्पाद् पशु देवे । दूसरे आचार्य कहते हैं कि असंख्यात अपरिमित धन देवे, क्योंकि क्षत्रिय अपरिमित होता है ।

एतेनोपार्जितधनस्य सत्पात्रेषु निक्षेपेण देशस्य माङ्गन्यमेव सूचयति । अन्यच्च—असंख्येयापरिमितद्रव्यविश्रायणं राज्यस्यात्यन्तिकं सुखित्वमवगमयति । सर्वस्य सर्वमिन् महाभिषेकेऽपरिमितदानविधिर्भवति । तथापि श्रूयते महाभिषेकेणाभिषिक्ता षभूधुरनेके राजान इति । तथाहि—

यद् युक्त उपार्जित धन को सत्पात्रों में रखने से देश के मङ्गल को ही दिखला रहा है और असंख्य अपरिमित द्रव्य के दान की विधि गमक है कि राज्य में अत्यन्त सुख था । सन के सन महाभिषेक में अपरिमित दान की विधि होती है । तथापि सुना जाता है कि अनेक महाराज महाभिषेक से सिक हुए । इसमें ऐतरेय ब्राह्मण के बहुत प्रमाण हैं उनमें से कुछेक प्रमाण यहाँ देते हैं ।

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महामिषेकेण तुरः कावपेयो जनमेजयं पारिक्षितमभिषिषेच ॥ १ ॥

इसी परमेश्वर्यप्रद महाभिषेक से तुर कावपेय ऋषि ने जनमेजय पारिक्षित को अभिषिक्त किया था ॥ १ ॥

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महामिषेकेण च्यवनो भार्गवः शार्व्यातं मानवमभिषिषेच ॥ २ ॥

इसी ऐन्द्रमहामिषेक से च्यवन भार्गव सहर्वि ने मनुपुत्र शार्व्यात को अभिषिक्त किया ॥ २ ॥

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महामिषेकेण सोमशुष्मा वाजरत्नायनः शतानीकं शत्राजितमभिषिषेच ॥ ३ ॥

इसी ऐन्द्र महाभिषेक से सोमशुष्मा वाजरत्नायन ने शत्राजित के पुत्र शतानीक को अभिषिक्त किया ॥ ३ ॥

एवमेव-आम्नायः, युष्मांश्चैष्टिर्ग्रासैः, विश्वकर्मा मौवनः, सुदाः पैजवन
इत्यादयो बहवो राजानोऽभिषिक्ताः । ऐतरेयब्राह्मणेऽष्टमपञ्चिकां पश्य ।
श्रूयते किल पुरा सर्वस्वदक्षिणो विश्वजिन्नाम यज्ञो बभूव । यत्र राजमिस्ताहिना-
न्वागतानि सर्वस्वानि प्रज्जाम्यो दीयन्ते । कयमीदृश्यः प्रजाः दुःखिता भवितु-
मर्हन्ति कथञ्च राज्ये प्रजोपद्रवः । यत्र यस्य यदेवामीष्टं तदेव मनोऽथपूरं प्रदीयते ।
एतेन सिद्धयवितराम्-चिरन्तनकालेऽपि महती शान्तिर्मनुष्यता च, परन्तु न सर्वदा
समानता । अतोपि चिरन्तनदृष्टान्तैरद्यापि तथा समयो भवितुमर्हतीत्याशां कर्तुं
कन्याः । पुरा विवेको नोदियायेत्यपेशलं वचः । सर्वेषु युगेषु मनुष्यधर्मसाम्यात् ।
अन्यच्च । यत्पुरा नामवचदद्यापि न मवति न च मन्विष्यतीत्यपि नियमो न विद्वद्भिः
स्वीकरिष्यते । विनिगमकामावात् तद्विपरीतदर्शनाच्च । वैशेषिकन्यायशास्त्रद्वयं
कणमबादिचरणभ्यां प्राक् नासीदिति निरचीयते आसीदपि न तादृशम् ।
आग्नेयशकट-विद्युत्तार-द्वायाप्राहियन्त्र-ग्रन्थमुद्रायन्त्र-शब्दप्राहियन्त्र-दूरीचण-
परमाणुवीचण-व्यवहितपदार्थवीचणयन्त्र-नूतननूतनाग्नेयविद्याऽखिविद्याप्रभृतयो
विद्याः पुरा नासन् आसन्नपि मध्ये विनष्टाः पुनरपि नव्यैः प्रकाशिताः । इत्थं पदा-
र्थविद्या-भूगर्भविद्या-पशुपतिविद्यादयोऽनेका अभिनवोदया विद्याः प्रतिमान्नि-
जगति । वेदे विद्यमानापि महर्षिभिर्ज्ञातापि आकर्षणविद्या मध्ये सर्वथैवोच्छिन्न-
मूलिका पुनरपि पादचातयैः स्वविवेकबलेन प्रकाशिता । इत्थमहरहरिदानीमपि
आचार्या नूतनं नूतनमाविष्कारं कुर्वन्तो दृश्यन्ते । अन्यच्च । पुरायुगीना एव
विवेकिनो बभूवुर्नाद्यतना न तथा भाविष्यन्तीत्यत्र हेतुः कोपि वाच्यः । कालधर्म-
श्चेत् । अज्ञानिनामिर्यं कथा । नहि नित्यो विभुरचेतन एकरसः कालो न्यूना-
धिक्येन विशेषाविशेषं जनयेत् । तथा च सांख्यसूत्रम् । “न कालयोगतो व्या-
पिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् । १ । १२ ॥” ननु इह हि शीतर्तुमपेक्ष्य ग्रीष्मर्तुं
कुशला अपि स्वस्या अपि न तावन्ति कार्याणि सम्पादयन्ति । निरुपद्रवे च
समये भूयान् व्यापारोदयो विद्योपचयो विविधकलाभिर्मावश्च श्रूयते ।
सोपप्लवे च समये न तथा दृश्यते । यौवने च यथा कार्यक्षमता न तथा घातृके
इदं च कालस्य दृढत्वं प्राप्तम् । अन्यच्च । अनुमीयतां तावत् करिष्यत् सर्व-
सम्पन्नो देशः केनापि समरप्रियेणाविवेकिना राज्ञा वा चीरेण वा नितरां
विदलितः विनाशितनिखिलबुधकुल उच्छिन्नराजन्यगण वत्त्वावितघनहेतुकवैश्य-

जातिः । तदा तस्य कीदृश्यवस्या भविष्यति । कोला भीलाः किरातादयश्च
 आर्यैर्विदलिता अधापि बन्धदशाया वहिर्गन्तुं न समर्थाः । एष सर्वः काल-
 स्यैव प्रमादः । इत्याशङ्कायां समावृत्ते-प्रकृतेः सर्वदा साम्यादतूनामुदाहरणं
 नुद्धतरम् । य एवमेवः पुरा त एवेदानीमपि । श्रीभर्तुरपि न सर्वत्र समानः
 बदरिकाश्रमे श्रीभर्तुरेव कार्यसम्पादकः । हिमालयेपि तथा । तथा मनुष्यः
 स्वकुटुम्बलेन आतपेऽपि धारागृह-जलोच्चितवीरणावरणादिकनिष्पादनेन सर्वत्र
 शीतर्तुं कर्तुं समर्थः । अथवा तादृशं स्थानं परित्यज्य कार्ययोग्यं स्थानान्तर-
 माश्रयितव्यम् । पुरा निरुपद्रवो देश आसीदिति प्रशंसामात्रम् । नित्यस्य विभोः
 कालस्य वयोवस्थाविचारस्तु बालप्रस्तापसमः । कोलभीलनिदर्शनेन कालप्र-
 मादसिमाधयिषापि न त्रिरेकिनां मनोमिरब्जिका । न वयं हि ब्रूम एकत्रैवाभ्यु-
 दयः । सर्वमौमोऽय प्रस्तावः क्वचिदभ्युदयः क्वचिद्भास इति प्रकृत्यैव जायते ।
 विजयिषु जायतान्तद्विधाभ्युदयः । अतो न कालधर्मः कारणं तत्र ।

इसी प्रकार आन्वाष्टय, युधाश्रेष्ठि औपसेन्य, विश्वकर्मा भौवन, सुदा पैजवन
 इत्यादि अनेक राजा अभिषिक्त हुए हैं । जिनको अपरिमित धन प्रजाओं में बाटना
 पड़ा । ऐतरेय ब्राह्मण अष्टम पञ्चिका देखो । और भी मुनवे हैं कि पूर्वकाल में
 राजा लोग सर्वस्य दक्षिणा नाम यज्ञ करते थे । जिसको पूर्वि के उद्देश से उस दिन
 तक जो कुछ धनधान्य आते थे वा घर में विद्यमान है सब ही धन प्रजाओं में बाट
 दिया जाता था । कैसे ऐसी प्रजाएँ दुःखिता हो सकती हैं और कैसे ऐसे राज्य में
 उपद्रव हो सकता । जहाँ जिसका जैसा अभीष्ट रहता वह मनोरथ भर दिया जाता
 है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरातन काल में भी कभी कभी पड़ी शान्ति और
 मनुष्यता थी । परन्तु सर्वदा समानता नहीं रही । अतः चिरन्तन दृष्टान्तों से आज
 भी हम आशापद्ध हो सकते हैं कि वैसा ही समय आज भी हो सकता है । अब
 दूसरी बात यह है कि मान लिया जाय कि पूर्वकाल देश में विवेकोदय नहीं हुआ ।
 क्या हमसे यह सिद्ध होगा कि जो पूर्व में नहीं था वह अब न होता और न होगा ।
 इस नियम को कौन विद्वान् स्वीकार करेगा । देखो—वैशेषिक न्याय में दोनों शास्त्र
 कणाद और गोतम के पूर्व नहीं थे यह निश्चय है । यदि वे भी वो वैसे नहीं ।
 आग्नेयसकट (रेजगाड़ी), विष्णुचार (बिजली का तार), छायाप्रादीयन्त्र (फोटो-
 माफी), ग्रन्थमुद्रायन्त्र (छापाखाना), शब्दप्रादी (फोनोग्राफी), दूरबीक्षण, परमा-

शुचीक्षण व्यवहितपदार्थवीक्षणयन्त्र नूतन नूतन आग्नेयविद्या अस्त्रविद्याएं आदि पूर्व में नहीं थीं । यदि थीं भी तो मध्य में विनष्ट होगईं थीं यह स्वीकार करना पड़ेगा । परन्तु ये सारी विद्याएं अभी विद्वानों ने प्रकाशित की हैं । इसी प्रकार पदार्थविद्या, भूगर्भविद्या, पशुपक्षि-सम्बन्धी विद्या प्रभृति अनेक विद्याएं जगत् में नवीन ही आविर्भूत हुई हैं । आकर्षण विद्या यद्यपि वेद में विद्यमान थी और ऋषियों को भी विदित थी तथापि मध्य में यह समूल नष्ट होगई पुनरपि पाश्चात्य विद्वानों ने निज विवेक बल से प्रकाशित की । इस प्रकार दिन दिन आज भी आचार्य्यगण नूतन नूतन आविष्कार करते देखे जाते हैं । इस हेतु सब समय में मनुष्यों की विद्या और विवेक की वृद्धि हो सकती है । और यह भी विचारो कि पूर्व युग के ही मनुष्य विवेकी हुए आजकल के वैसे नहीं हो सकते इसमें कोई हेतु भी कहना चाहिये । यदि कहो कि इसमें काल धर्म ही हेतु है तो यह कथन अज्ञानियों का सा है क्योंकि नित्य, विमु, अचेतन, एकरस, काल न्यूनाधिकता से विशेषाविशेष को उत्पन्न नहीं कर सकता । सांख्यशास्त्र कहता है कि काल से बन्धन या मुक्ति नहीं होती, क्योंकि काल व्यापी, नित्य और सबसे सम्बन्ध रखने वाला है । यदि काल-कृत बन्धन हो तो मुक्त पुरुष को भी बन्धन होजाय । क्योंकि यहां पर भी काल है । अर्थात् जो काल सत्ययुग में था वही काल आज भी है काल से यदि किसी को वित्र होता तो सामान्यरूप से सब युग वालों को होना चाहिये । यहां शङ्का होती है कि शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में कुशल भी स्वस्थ भी मनुष्य उतने धर्म सम्पादन नहीं करते । यह काल का ही प्रभाव है । निरुपद्रव समय में बहु-व्यापारोदय, विशेषधय, विविधकलाभिर्भाव सुना जाता है, परन्तु उपद्रव-सहित समय में नहीं । और भी सुनो यौवनावस्था में जैसी कार्यक्षमता होती वैसी वार्द्धक में नहीं । अब कालरूप पुरुष की वृद्धता प्राप्त होगई । और यह भी अनुमान करो कि एक देश सर्वगुणसम्पन्न है उसको किसी समरप्रिय अविवेकी राजा वा वीर ने अत्यन्त विदलित कर वहा के सकल विद्वान् कुलों को नष्ट, राजकुलों को उच्छिन्न करदे और धनहेतु वैश्य जाति को उखाड़ डाले तब उस देश की क्या अवस्था होगी । भोल भील और किरावादि आर्यों से विदलित हो आज भी घन्य दशा से बाहर नहीं निकल सकते । यह सब काल का ही प्रभाव है । उत्तर—ऋतुओं का उदाहरण ठीक नहीं क्योंकि सब युग में ऋतुओं की समानता है जो ऋतु पहले थे

वे अब भी हैं। प्रीष्मन्तु की सर्वत्र समानता नहीं। वज्रिकाश्रम में प्रीष्मन्तु ही कार्यसम्पादक है हिमालय पर्वत और उस के समीपदेशों में भी यही दशा है और मनुष्य अपनी बुद्धिबल से आतप में भी धारगृह, जलोदित-रसस्त्रस की दृष्टि आदियों के निष्पादन से सर्वत्र शीतन्तु करने में भी समर्थ है अथवा ऐसे स्थान को त्याग कार्ययोग्य अन्य स्थान का आश्रय करलेवे। उपद्रव के सम्बन्ध में इतना कहना पड़ता है कि पूर्व समय में उपद्रव नहीं था यह केवल प्रशसामान ही और आप भी श्मको स्वीकार कर चुके हैं। काल की वयोवस्था का विचार बालक प्रलाप के समान है। और कोल भील आदिकों के उदाहरण से काल प्रभाव को साधने की इच्छा भी विवेकी जनों का मनोभिरञ्जक नहीं है हम यह नहीं कहते हैं कि एक ही स्थान में अभ्युदय या अपचय हो। यहाँ सम्पूर्ण पृथिवी से सम्बन्ध रखनेवाला यह प्रस्ताव है। एक नष्ट होता है और एक उदित होता है। एक द्वीप का अभिभय दूसरे का विजय यह सार्वभौमिक नियम है। विजयी पुरुषों में ही श्रद्धा-तक विद्या आदि का उदय होवे। इस हेतु इसमें काल धर्म कारण नहीं हो सकता ॥

आयुर्विचारः ॥

सम्पत्त्यायुषां द्वासान् नाभ्युदयसम्भव इति निवर्ता मिथ्याप्रलापः। वेदेषु सर्वकालायुःसमानत्ववचनात्। तद्यथा-इयं नार्युषं मृते पूज्यान्यावपन्तिना। दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदःशतम् ॥ १ ॥ दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदःशतम् ॥ २ ॥ तच्चतुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुचरते। परयेम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र व्रजाम शरदः शतमदीनाः स्थाम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ३ ॥ जरां गच्छ परिधत्स्व वामः... । शतं च जीव शरदः सुवर्चा... । शतञ्च जीवामि शरदः पुरुचीः। कुर्ध्वे-वेह कर्माणि जिजीविषेऽन्तं समा। इत्यादीनि वेदवचनानि मनुष्यस्य शता-युष्मामनन्ति। श्रुपयोपि शतायुर्वै पुरुष इत्येव निश्चिद्यु।

आयुर्विचार ॥

यदि यह कहा जाय कि आज कल के पुरुषों की आयु कम होगई है पहले बहुत जीते थे इस हेतु पूर्ववत् आज के लोग नहीं हो सकते सो यह कथन भी उचित नहीं। यह अत्यन्त मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि वेदों में सब काल के लिये आयु

समान ही कहा गया है । देखो—“इयं नारी” इत्यादि मन्त्रों में १०० ही वर्षों की आयु का वर्णन है । अथ मन्त्रार्थः—(इयम्+नारी) विवाहसम्बन्धी यह मन्त्र है । यह स्त्री (उपभूते) ईश्वर से प्रार्थना करती है कि (मे+पातः+दीर्घायुः+अस्तु) मेरे पति दीर्घायु होवें (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (जीवाति) जीवें (अस्याः) इस नवोन्मा स्त्री के (यः+पतिः+दीर्घायुः) जो पति है वह दीर्घायु होवे । (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (जीवाति) जीवे ॥ २ ॥ आगे प्रार्थना के मन्त्र हैं । (चक्षुः) ज्ञानस्वरूप अथवा नेत्र के ज्योतिःप्रद (देवहितम्) पदार्थमात्र का हितकारी (शुक्रम्) शुद्ध (पुरस्तात्) सामने (उच्चरत्) उदित=हृदय में भासित (तत्) उस प्रत्यक्षादि अगोचर ब्रह्म को मनोवृत्तिद्वारा हम उपासक (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (परयेम) देखें (शरदः+शतम्+जीयेम) उसकी कीर्ति देखते हुए १०० वर्ष जीवें (शरदः+शतम्+शृणुयाम) उसकी कृपा से उसकी विभूति को १०० वर्ष सुनें (शरदः+शतम्+प्रब्रूयाम) १०० वर्ष व्याख्यात करें (शरदः+शतम्+अदीनाः+स्याम) सौ वर्ष अदीन होवें (शरदः+शतात्+भूयः) पुनः १०० वर्ष उस तेज को देखें । पुनः विवाह के ये मन्त्र हैं—वर कन्या से कहता है (जरात्+गच्छ) पूर्णवस्था को प्राप्त होओ । ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक (वासः+परिधत्स्व) बल पहिनो (शतम्+च+जीव) १०० वर्ष जीओ (सुवर्चाः) शुभ्रतेज वाली होओ ईश्वर स्वयं कहता है कि मनुष्य (कर्माणि) वेदविहित शुभकर्मों का (कुर्वन्+एव) अनुष्ठान करता हुआ ही (इह) इस लोक में (शतम्+संमोः) १०० वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, इत्यादि वेदवचन मनुष्य की १०० वर्ष की आयु को दियलाते हैं । ऋषि लोगों ने भी “शतायुर्वै पुरुषः” ऐसा ही निश्चय किया है ।

ननु शतशब्दस्य बहुनामसु, अनन्तसंज्ञासु च पाठात् तेन परिमित शताब्दी निर्णेतुं न शक्या । तथा दृश्यतेऽपि । इदानीमपि कोऽपि शरदः शतमतिक्रम्य मृतो दृष्टः । अतो न शतशब्दोऽवधारयिता । अत्र समाधत्ते—अन्यदप्युक्तं वेदे तदपि विचार्य निर्णेतव्यम् ॥ “त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्रयायुषम् । यदेवेपु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ।” पूर्ववचनैस्तु सामान्यतो नृणामायुर्वर्षशतं विधायकस्यचिद्व्योगिनः समाध्याद्युषार्यः कदाचित् त्रिगुणितं मवि-
सुमर्हतीति अस्माद् वेदवचनाद्भ्रम्यते । अन्यथा विकल्पेन युगभेदेन वाऽऽयुषः

परिमाणेन विहितेन भाव्यम् । तथा च कचिदपि शतशब्दवत् सहस्रायुतलक्षादि शब्दोपि प्रयोद्ध्यः । न तत्प्रयोगः कचिदाम्नायते । अतोऽनुमीयते शतशब्दं मध्यमसंख्यावाचकः । यथा लोकेऽस्य पुरुषस्य प्रायः विंशतिर्गावः सन्तीति वाक्यं न त्रिंशतोऽधिका न च दशभ्योऽन्यूना अपि प्रत्यापयति । अत्र विंशति-शब्दस्तत्समीपस्यसंख्यामपि समुचिनोति । किन्तु न दूरस्थां संख्यां त्रिंशतं चत्वारिंशत्तन्वा संगृह्णाति । न्यूनतायामपीदृशी व्यवस्था ।

इससे कोई शङ्का करते हैं कि शत शब्द “बहु” और “अनन्त” नामों में पठित है अर्थात् शत शब्द का अर्थ बहुत और अनन्त है। इस हेतु परिमित १०० वर्ष निर्णय करना उचित नहीं और वैसा देना भी जाता है । आज कल भी कोई कोई १०० वर्ष को अविक्रमण करके भरा हुआ देना गया है । कोई १२० वर्ष दीतने पर भरता है। इस हेतु इन वेदमन्त्रों में आया हुआ शतशब्द अवधारणवाची नहीं किन्तु बहुवाची है। इस शङ्का का यह समाधान है कि आपका कथन ठीक नहीं है अन्य बात भी वेद में कही गई है उसका भी विचार कर निर्णय करना चाहिये । “आयुष जमदग्ने” इस मन्त्र में त्रिगुण आयुष का प्रमाण मिलता है । अर्थात् सामान्यतः मनुष्यों की आयु १०० ही वर्ष परिमित है । किसी योगी की समाधि आदि उपायों से कदाचित् वह आयु त्रिगुणित हो सकती यह पूर्वोक्त वेदवचन से लाभ होता है । यदि ऐसा न माना जाय तो विकल्प करके अथवा युग के भेद से आयु का परिमाण विहित होना चाहिये था और कहीं भी शत शब्द के समान महस्र (१०००) अयुत (१००००) लक्ष (१०००००) आदि शब्द का भी प्रयोग करना था । परन्तु वैसा प्रयोग कहीं भी विहित नहीं । इससे अनुमान होता है कि १०० (सौ) वर्ष और कुछ अधिक आयु की अवधि है । यह शत शब्द मध्यम संख्यावाचक है । जैसे लोक में कहते हैं कि इसको प्रायः २० गायें हैं । इस कथन से यह नहीं आता है कि इसको २० ही गायें हैं किन्तु ३० से अधिक नहीं और १० से कम नहीं यह प्रतीत होता है । यह विंशतिशब्द स्वसमीपस्थ संख्या का भी बोधक है परन्तु दूरस्थ संख्या तीस या चालीस का भी संग्रह करनेकार नही । अन्यथा तीस चालीस शब्द का ही प्रयोग करता । न्यूनता में भी यही व्यवस्था है । अर्थात् ऐसे स्थलों में सख्यावाचक शब्द स्वसमीपस्थ संख्या का भी ग्राहक होता है । इस हेतु वेदस्थ शतशब्द स्वसमीपस्थ ११०, १२०, १३०,

१४०, १५० और ६०, ८०, ९० आदि का ग्राहक हो सकता इससे अधिक का नहीं अर्थात् २००, ३०० आदि का बोधक नहीं हो सकता। क्योंकि तब द्विशत त्रिशत शब्द का प्रयोग होना ही उचित होता इसी हेतु त्र्यायुष मन्त्र की भी आवश्यकता हुई, इससे यह सिद्ध हुआ कि शत शब्द से सौ से अधिक का ग्रहण हो सकता। अतः १२० वा १३० वा १५० वर्ष तक जीकर मरने में कोई दोष नहीं।

ननु करिचज्जातः सन्नेव त्रियते । कथमेतत् । मयतामाशयस्तु नयतेर्वा अशीतेर्वा सप्ततेर्वा पञ्चाशतो वा न्यूनेन नायुषा भाव्यम् । इत्यमूर्ध्व-गणनायामपि पञ्चाशदुत्तराच्छतादधिकमायुर्न भवितुमर्हति । अत्र समाधीयते । अत्र जीवन-कालस्यैव परिमाणं विहितं न मरणकालस्य । अयमाशयो यदि मनुष्यः पूर्णायुः स्यात् तदापि शतं वर्षाणि जीविष्यति । मध्यममंस्थान्यायात् पञ्चाशदधिक-शतवर्षाण्यपि जीवेत् । न ततोप्यधिकमिति निर्णयः । योगिनान्तु त्र्यायुषं जीवनम् । यथा दण्ड्यस्य कारागार-निवासादधिः क्रियते । अयं समाप्य न पुनस्तत्र क्षणमपि स्थाप्यः । यदि च तस्य शुद्धाचारः सद्ग्रन्थहारश्च भवति । तदा प्रागपि अवधेर्मोचनीयः । अयमाशयो दण्ड्यमवधेरधिकं क्षणमपि बन्धयितुं न शक्नोति । मोचनन्तु प्रागपि कर्तुं समर्थः । एवमेव दार्ष्टान्तिकेऽपि योज्यम् । अन्यच्च—सत्ययुगीनेषु प्राचीनतमेषु ग्रन्थेषु मनुष्य-जीवन-व्यवस्थाप्रस्तावो पादश उपबद्धस्तादृगेव सम्प्रत्यपि दृश्यते । प्रथमं तावद्वेदानुशासनमेव दृश्यताम्— :

पुनः शङ्का होती है कि कोई तो उत्पन्न होता ही मर जाता है और आप का आशय तो यह प्रतीत होता है कि नवति (६०) वा अशीति (८०) वा सप्तति (७०) वा पञ्चाशन् (५०) से न्यून आयु नहीं हो सकती । इसी प्रकार ऊर्ध्व गणना में भी १५० से अधिक नहीं । तब क्यों इससे न्यून अवस्था में आदमी मर जाता । सुनो—यहां केवल जीवनकाल का ही परिमाण विहित है मरण का नहीं । अर्थात् यह आशय है कि यदि मनुष्य पूर्णायु होवे तथापि शत वर्ष ही जीवेगा अर्थात् मध्यम संस्था—न्याय से ५० वर्ष अधिक—शत वर्ष पर्यन्त जीवेगा उमसे अधिक नहीं, यह निर्णय है । और योगियों का त्र्यायुष भी जीवन है । इसमें यह एक दृष्टान्त भी है जैसे अपराधी पुरुषों की कारागार-निवास की अवधि की जाती है । अयं को समाप्त कर क्षणमात्र भी उसके वहां

नहीं रख सकते, परन्तु यदि उमका शुद्ध आचार और शुद्ध व्यवहार हो तो अश्वि के पहिले भी छूट सकता है अर्थात् दण्डनीय पुरुष को अश्वि से अधिक क्षण-मात्र भी बाध नहीं सकते, परन्तु अश्वि के पूर्व छोड़ सकते हैं। अच्छे आचरण देख जब चाहे सब छोड़ दे। इसी प्रकार गरण का नियम नहीं, जीने का नियम है। सत्ययुग के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में मनुष्य के जीवन की व्यवस्था सम्यन्धी प्रस्ताव जैसा कहा है आज भी वैसा ही देखते हैं, दोनों में अन्तर कुछ नहीं पाते। प्रथम वेद का अनुशासन ही देखो—

दशमासावृद्धशयानः कुमारो अश्वि मातरि । निरैतु जीवोऽअक्षतो जीवो जीवन्त्या अश्वि । अग्नेद् ५ । ७८ । ६ ॥ इति वेदवचनादशमासावधिर्मातृगर्भ-निवासो विहितः । इदानीमप्ययमेवाश्विः ।

गर्भवास सम्यन्ध में वेद कहता है कि—(कुमारः) गर्भस्थ बालक (अश्वि मातरि) मातृगर्भ में (दश+मासान्+शयानः) दश मास वास करके (अक्षतः+जीव) निरुपद्रव जीवित (निरैतु) निकले और माता को भी किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। इस वेदवचन से दश मास के अभ्यन्तर ही सब की उत्पत्ति की व्यवस्था है। यही आज भी मनुष्य में नियम देखते हैं।

अन्यच्च—“भोः किं पुण्यमिति ब्रह्मचर्यमिति । किं लोक्यमिति ब्रह्मचर्यमेवेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यं, तच्चतुर्धा वेदेषु श्रूयुषा द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यम् । द्वादशवर्षाण्ययवर्षमपि स्तायंश्चरेद् यथाशक्नुयश्च ॥” गो० आ० २ । ५ ॥

ब्रह्मचर्य के सम्यन्ध में देखो कोई पूछता है (भोः किं पुण्यम्) हे आचार्य । पुण्य क्या है (ब्रह्मचर्यम्+इति) ब्रह्मचर्य ही पुण्य है (किं लोक्यम्) हे आचार्य । किस कर्म से अच्छा लोक प्राप्त होता है (ब्रह्मचर्यम्+एव+इति) लोकप्रद भी ब्रह्मचर्य ही है (तस्मै+एतत्+प्रोवाच) तब आचार्य ने उससे कहा कि हे शिष्य । (अष्टाचत्वारिंशद्वर्षम्) ४८ (अड़तालीस) वर्ष (सर्ववेदब्रह्मचर्यम्) सब वेदों के लिये ब्रह्मचर्य है अर्थात् चारों वेदों के लिये ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य है (तत्+चतुर्धा+वेदेषु+श्रूयुषा+द्वादशवर्षम्+ब्रह्मचर्यम्) विभाग करके प्रत्येक वेद के लिये १२ वर्ष का ब्रह्मचर्य है यदि इतना भी न हो सके तो ६ (छः) वर्ष का ब्रह्मचर्य रखते ।

इत्येवंविधगोपयब्राह्मणवचनास्तत्पुगेऽपि अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं ब्रह्मचर्यं विहितं सर्ववेदाध्ययनार्थम् । एकवेदाय द्वादशवर्षम् । इदानीमपि साङ्गान् सोपाङ्गान् सप्ताङ्गान् सोपनिषत्कान् चतुरो वेदान् अष्टाचत्वारिंशद्वर्षेण समापयितुं शक्नोति । द्वादशवर्षैः पुनरेक एव वेदः समापयितुं शक्यः । पुनः—

षट्त्रिंशदान्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।

सदर्धिकं पादिकं वा ग्रहशान्तिकमेव वा ॥

इत्यनेन मनुवचन-प्रामाण्येनापि सत्ययुगीनानामपि वेदत्रयाय षट्त्रिंशद्वर्षं ब्रह्मचर्यं दृश्यते । इदानीमपि एतावान् कालावधिः । यदि सत्ययुगीनानां लक्षवर्षमायुः स्यात् तर्हि तच्चतुर्यांशकालिकं ब्रह्मचर्यं विधेयम् । तच्च न क्वापि दृश्यते । पुनरपि छान्दोग्योपनिषदि “पुरुषो वाच यज्ञ” इत्युपक्रम्य पुरुषस्य षोडशोपेतं शतवर्षमायुः परिगणितम् । “तत्र यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनम्” । “अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्” । “अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम्” इति पुरुषे यज्ञत्वाध्यारोपेण प्रदर्शितम् । स्वयदान्ते-एतद्यज्ञविद् ऐतरेयो महीदासः षोडशं वर्षशतमजीवत् । “अ ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद” इति फलं च दर्शयामास । यज्ञतत्त्वविदोऽपि सत्ययुगीनस्यापि अनुमानस्यापि ऐतरेय ब्राह्मणस्य प्रणेतुरपि महीदासस्य षोडशोत्तर-वर्षशतमायुः प्रदर्शितम् । इदानीमपि सदाचारवान् पुरुषस्तावताऽऽयुषा जीवन् दृष्टः । अग्रे प्राकृतमाश्रयामेव प्रकृतविषयोऽवलोकनीयः । ग्रन्थबाहुल्यात् संस्कृतं परिहीयते ।

यह गोपय ब्राह्मण का वचन है । सत्ययुग में भी सत्र वेदों के लिये ४८ वर्षों का ही ब्रह्मचर्य विहित है । एक २ वेद के लिये १२ वर्ष हैं आज भी अन्न, अपाङ्ग ब्राह्मण और उपनिषद् सहित चारों वेदों को ४८ वर्षों में पढ़ सकते हैं । द्वादश वर्ष में केवल एक ही वेद साङ्गोपाङ्ग समाप्त कर सकता । (षट्त्रिंशद्) तीन वेदों के लिये ३६ वर्ष का ब्रह्मचर्य होना चाहिये । अर्थात् १२ (बारह) प्रत्येक वेदों के लिये, इस प्रकार चारों वेदों के लिये ४८ वर्ष होंगे । अशक्यावस्था में अर्ध वा एकपाद ६ ब्रह्मचर्य रखे । इस मनुवचन के प्रमाण से भी सत्ययुगियों के लिये भी ३६ वा ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य विहित है । आज भी घटना ही कम तक है । यदि उस समय दोषपूर्ण

आयु होता तो उसका चतुर्थांश ब्रह्मचर्यकाल कहना उचित था परन्तु सो नहीं देखाते । पुनरपि छान्दोग्योपनिषद् में यह दिखाया गया है कि पुरुष ही ब्रह्म-स्वरूप है । इतना वह पुरुष की आयु ११६ वर्ष नियत की है । उनमें २४ वर्षों का प्रातःसवन, ४४ वर्ष का माध्यन्दिनसवन, ४८ वर्ष का तृतीय सवन । पुरुष में ब्रह्म का अभ्यारोप करके यह वर्णन है और उपसंहार में उस ब्रह्म के तत्त्वविद् महीदास ११६ वर्ष जीते रहे यह दिखाया गया है । और जो कोई इसको जानता है वह भी उतनी आयु पावेगा ऐसा फल कहा गया है । अब विचार करो कि सत्ययुग-गतिनासी, अनूपात, ब्रह्मतत्त्वविद्, महीदास ऐतरेय की भी ११६ वर्ष आयु कही गई है आज भी सवाचारवान् पुरुष उतनी आयु से जीता हुआ देखा गया है । आगे प्राकृत भाषा में ही इस विषय को देखो ।

यदि सत्ययुगी पुरुषों की आयु सत् या अधिक वर्ष की होती तो उनके लिये ब्रह्मचर्य के भी वर्ष अधिक होने चाहिये । क्योंकि सम्पूर्ण आयु को चार विभागों में बाँटकर तदनुसार चार आश्रम विहित हैं । ब्रह्मचर्य के लिये कुछ अधिक वर्ष दिये गये हैं क्योंकि विद्याध्ययन मुख्य कर्त्तव्य है । सो भी सभ के लिये नहीं । पञ्चान्तर में प्रायः चतुर्थ भाग ही होवेगा, क्योंकि मनुजी के अनुसारः—

गर्भाष्टमेऽन्दे कुर्यात् ब्राह्मणस्थोपनायनम् ।

गर्भाद्देवादशे राज्ञो गर्भान्तु द्वादशे विशः ॥ मनु० २ । ३६ ॥

गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन होना चाहिये । गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य का । पुनः—

ब्रह्मवर्षसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।

राज्ञो बलार्चिनः षष्ठे वैश्यस्येदार्थिनोऽष्टमे ॥ मनु० २ । ३७ ॥

यदि ब्रह्मवैश्वी बनाना चाहे तो पञ्चम वर्ष में ब्राह्मण अपने पुत्र का उपनयन करावे । इसी प्रकार बलार्ची राजा का षष्ठ वर्ष में और धनार्थी वैश्य का अष्टम वर्ष में उपनयन होना चाहिये । अब मानलो कि ५ वें वर्ष में उपनीत होकर मध्यम संस्था १८ वर्ष तक आचार्य कुल में रहने से २३ वें वर्ष में ब्रह्मचर्य

समाप्त होता है । परन्तु इतने वर्ष में पूर्ण विद्या जैसा आज नहीं होती वैसी ही पूर्ण में न होती थी क्योंकि ३६ वर्ष का ब्रह्मचर्य रक्ता है परन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पूर्ण समय में भी चारों वेदों के ब्रह्म विरले ही होते थे । एक विद्या में परम निपुणता को प्राप्त होते होंगे । अन्यो में साधारण परिश्रम करते थे । इसी हेतु प्रत्येक वेद के लिये १२ (बारह) वर्ष ब्रह्मचर्य के हिसान में प्रायः ठीक २ चतुर्थ भाग होता है । मनुस्मृति के अन्यान्य विषय पर भी यदि विचार किया जाय तो यही विदित होगा कि शतवर्ष परिमित आयु है । देखो:—

त्रिंशद्वर्षो बहेत्कन्यां दद्याद्द्वादशवर्षिकीम् ।

३० वर्ष का पुरुष विवाह करे । इससे यह सिद्ध हुआ कि ३० वर्ष तक आचार्य-कुल में वास कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे । पुनः—

द्वितीयमायुषो भागं कृतदागो गृहं वनेन ॥ ५ । १६६ ॥

आयु के द्वितीय भाग को गृहस्थाश्रम में बिताने । पुनः—

गृहस्थस्तु यदा परयेद् वलीपलितमात्मनः ।

अपत्यस्येन चापत्यं तदारभ्य समाश्रयेत् ॥

जब गृहस्थ देखे कि त्वचा शिथिल होगई, केश पड़ गये और पुत्र का भी पुत्र हो गया तब वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण करे । पुनः—

घनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।

चतुर्थमायुषो भाग त्यक्त्वा सगान् परिव्रजेत् ॥

इस प्रकार आयु के तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रम में रह आयु का चतुर्थ भाग सब संग छोड़ कर सन्न्यास में बिताने । यद्यपि वानप्रस्थ और सन्न्यास के काल का नियम नहीं तथापि पौत्र जब होजाय तब वानप्रस्थाश्रम को ग्रहण करे यह नियम देखा जाता है । ३० वें वर्ष में पुत्र और ६० वें वर्ष में पौत्र हो जायगा । इससे सिद्ध होता है कि ६० वें वर्ष के अनन्तर वानप्रस्थाश्रम को अवश्य ग्रहण कर लेवे । पुनः ३० वर्ष वानप्रस्थाश्रम करके, अर्थात् ६० वर्ष के अनन्तर सन्न्यास

स का ग्रहण करें। यदि यहाँ तीस वर्ष तक जीता रहा तो सब वर्ष मिलके १२० (एक शत और बीस) वर्ष की आयु सिद्ध होती है। अब एक शब्द यह बतलाने की है कि मनुस्मृति में कहा गया है कि—

अरोगाः सर्वसिद्धार्याश्चतुर्विंशतायुषः ।

कृतप्रेतादिषु क्षेपामायुर्द्वसति पादशः ॥ मनु० १ । ८३ ॥

सत्ययुग के मनुष्य रोगरहित और बड़े सुखी थे और ४०० वर्ष की आयु तककी थी। हापर, त्रेता और कलियुग में एक २ पाद आयु घटती गई। इससे यह सिद्ध होता है कि पहले चार सौ वर्ष की आयु थी। उत्तर-सुनो मोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि सत्ययुग में ४०० वर्ष की आयु थी। तथापि आज-कल के लोगों का कथन तथा पुराण का गण्य निराकृत जाता रहता है क्योंकि पुराण कई एक सहस्र वर्ष की आयु बतलाता है। अब इस पर यह विचार करें कि मनुजी धर्मशास्त्रकर्ता सत्ययुग में थे। इनका धर्मशास्त्र सूत्ररूप में था इसी का प्रायः अनुवाद आजकल की मनुस्मृति प्रतीत होती है। संभव है कि पूर्व धर्मशास्त्र से इसमें कुछ न्यूनाधिक्य हो। परन्तु जब यह मनुजी के नाम पर है और इससे प्राचीन श्लोकबद्ध कोई धर्मशास्त्र नहीं मिलता तो इससे निश्चय है कि प्राचीन धर्मशास्त्र के सब विषय लिये गये होंगे। अथवा मुख्य २ विषय तो अवश्य ही लिये गये होंगे। सत्ययुग के ग्रन्थ में उस समय के नियम अवश्य होने चाहियें। अब मनुस्मृति के ऊपर दृष्टि दो सब पता लग जायगा। अधिक से अधिक ३६ वर्ष तक वेद का अध्ययन सो भी सब के लिये नहीं। और अधिक से अधिक १० वर्ष में विवाह, सोभी सब के लिये नहीं इस प्रकार मनु के पूर्व कथनानुसार १२० वर्ष की ही आयु सत्ययुग में सिद्ध होती है। अब जो ४०० वर्ष की आयु कही गई सो केवल उस युग की प्रशंसामात्र है क्योंकि “अरोग” और “सर्व-सिद्धार्य” ये दो विशेषण भी हैं। क्या सत्ययुग में रोग नहीं था? क्या सब कोई सिद्धार्य ही थे? यह कदापि नहीं हो सकता। इसका कोई उदाहरण भी नहीं मिलेगा। ग्रन्थ के विस्तार मय से उदाहरण नहीं देने परन्तु महर्षि विश्वामित्र सदृश पुरुष ते सत्ययुग में ही दुःख पायें। बहिष्ठ और विश्वामित्र में बड़ी लड़ाई हुई। परशुराम ने क्या बलीला रची थी। यह सब सत्ययुग की ही बात है। अथवा जैसा मीने भ्यायुष मन्त्र

के ऊपर लिखा है कि योगियों को त्रिगुण आयु प्राप्त हो सकता है सत्ययुग में अधिक योगी थे अतः वैसा कहा है। इसके आगे के श्लोक देखने से भी मनु का भाव विरह हो जायगा। देखो:—

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानाम् ॥ १ । ८४ ॥

मनुष्यों की आयु जितनी वेद में कही गई है, उतनी जाननी चाहिये। १०० वर्ष की आयु वेदोक्त है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आयु तो सब युग में १०० ही वर्ष की है परन्तु योगाभ्यास से कदाचित् किसी की आयु बढ़ सकती है सो भी १०० सो से अधिक नहीं यह भाव है। मनु के सब श्लोक प्रमाण भी नहीं ॥

वैद्यक के प्रमाण—सुश्रुत ग्रन्थ सब से प्राचीन माना जाता है कहा जाता है कि सुश्रुत सत्ययुग में हुए। इस ग्रन्थ का प्रमाण भी देखो—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्मारी तु षोडशे ।

समत्वागतवर्षां तौ जानीयात् कुशलो मिषक् ॥

पुरुष और स्त्री क्रम से पच्चीस और सोलह वर्ष की अवस्था में जब प्राप्त हों तब दोनों का समान धीरे जानो अर्थात् २५ वें वर्ष में पुरुष और सोलहवें वर्ष में स्त्री युवा होती है। आज भी इतनी ही अवस्था में यौवन प्राप्त होता है। पुनः—

वयस्तु त्रिविधं बालं मध्यं वृद्धमिति । षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यवयः । तस्य विकल्पो वृद्धिर्यावनं सम्पूर्णता हानिरचेति । तत्राऽऽविंशतेवृद्धिरात्रिशतो यौवनमावत्पारिशतः सर्वधात्विन्द्रिय-बलवीर्य-सम्पूर्णता अत ऊर्ध्वमीपद् परिहानिर्भावत् सप्ततिरिति । सप्तस्यान सुश्रुत अ० ३५ । ५० ॥

अर्थ—अवस्था ३ प्रकार की होती है—बाल, मध्य और वृद्ध, सोलहवें वर्ष की अवस्था से लेकर ७० (सत्तर) वर्ष की अवस्था पर्यन्त मध्य अवस्था होती है। फिर इसके ये भेद हैं—वृद्धि (बढ़ना), यौवन (जवानी), सम्पूर्णता (परिपूर्णता या स्थिति) और हानि (घटाव), जिसमें २० वर्ष तक वृद्धि और तीस वर्ष की अवस्था तक यौवन और चालीस वर्ष की अवस्था में सब धातु उपधातु खण्डिन्द्रिय और बल वीर्य की पूर्णता होती है इसके उपरान्त ७० (सत्तर) वर्ष की अवस्था तक कुछ न कुछ घटाव होने लगता है, पुनः—

सप्तवेरूर्ध्वं वीर्यमाणधात्विन्द्रिय-बलवीर्योत्साहमहमन्यहानि षलीपलितस्त्वा-

नित्यजुष्टं कासश्चामप्रपृतिभिस्पर्द्धवरभिभूयमानं सर्वक्रियास्त्वसमर्थं जीर्णगारमि-
चाभिपृष्टमरसीदन्त वृद्धमाचक्षते ॥५१॥ घृतस्थानमुभयसंहिता । अध्याय ३५ ॥

अर्थ—सत्तर वर्ष की अवस्था से ऊपर सन पाठु इन्द्रिय बल वीर्य्य दिन २
रात्र ही होता जाता है और शरीर की त्वचा में सलवट पड़जाती है । सम्पूर्ण घाल
सकेत व पीले पड़ जाते और उड भी जाते, दासी श्वास आदिक उपद्रवों से पीडित
हो सन कार्यों में असमर्थ होजाता, जैसे—पुराना जीर्ण मकान भेष घरसने पर गिर
पड़ता है तेसे जीर्ण अवस्था घाले को वृद्ध कहते हैं ॥ ५१ ॥

यह सुश्रुत बहुत प्राचीन ग्रन्थ समझा जाता है यदि सत्ययुगादिक में मनुष्य
की १०० से अधिक १०००० वर्ष की होती तो वृद्ध भी वो २, ४ सहस्र वर्षों
के पश्चात् होता परन्तु ऐसा वर्णन किंसा सच्चाक्ष में नहीं देखते इससे भी यही
निष्कर्ष होता है कि पूर्व समय में श्री इतनी ही आयु होती थी । यहा इसी प्रकार
यह भी जानना चाहिये कि हम समय के लोगों के शरीर का आकार भी प्रायः
आजकल के समान ही था क्योंकि वैद्यक में शरीर के प्रत्येक अङ्ग का नाप दिया
हुआ है । अङ्गों की लम्बाई चौड़ाई मोटाई आदि सन कुछ लिप्सी हुई है ।

“सहस्रसंवत्सरशब्दस्य सहस्रदिनपरताधिरक्षणम्”

मीमांसा का प्रमाण—जैसे उत्तर-मीमांसा (वेदान्तशास्त्र) उपनिषदों के
अर्थ का वर्णन करती है वैसे पूर्वमीमांसा ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों की सगति
लगाती है । चाण्ड्यमहाब्राह्मण में ऐसा वर्णन है किः—

पञ्चपञ्चाशत्स्त्रिवृतः सम्यत्सराः । पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः । पञ्चपञ्चा-
शतः सप्तदशाः । पञ्चपञ्चाशत् एकत्रिंशाः । विश्वसृजानयनं सहस्रसम्यत्स-
रम् ॥ ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् ॥ २५ । १८ । १ ॥

यहा “पञ्च पञ्चाशतः” का अर्थ पञ्चगुणित पञ्चाशत् (५०) है अर्थात् ५०×
५=२५० पचास अधिक दोस्रो । “पञ्च पञ्चाशत्” शब्द चार बार आया है अतः
२५०+४=१००० सन मिलकर एक सहस्र वर्ष होता है । प्रथम २५० वर्षों में
त्रिवृत् स्तोम । द्वितीय २५० में पञ्चदश स्तोम । तृतीय २५० में सप्तदश स्तोम
और मनुष्य २५० वर्षों में एक त्रिंशत्स्तोम प्रधानतया होता है । अत्र शङ्का होती है
कि १००० वर्ष का यज्ञ ब्राह्मण ग्रन्थों में विदित है तो यह मनुष्यों के लिये है या

देवों के लिये या जिसरी आयु सहस्र वर्ष की हो उसके लिये है । इस असमजस की निवृत्ति के लिये जैमिनि “सहस्र शब्द का अर्थ एक सहस्र दिन है” इस नाम का एक अधिकरण आरम्भ करते हैं अर्थात् एक वर्ष का अर्थ एक दिन है । इस पर प्रथम पूर्वपक्ष सूत्र लिखते हैं यथा—

सहस्र-सम्बत्सरं तदायुषामसंभवान् मनुष्येषु ॥ ६ । ७ । ३१ ॥

भाव यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित जो सहस्र वर्ष का यज्ञ है वह (तदायुषम्) जिनरी आयु १००० वर्षों की होती है उनके लिये होसकता मनुष्य के लिये नहीं क्योंकि (मनुष्येषु) मनुष्यों में (तदायुषाम्+असंभवान्) उतनी आयु का असंभव है अर्थात् मनुष्य जाति में १००० वर्ष आयु नहीं होती इस हेतु अन्य देवादियों के लिये यह यज्ञ है । मनुष्य के लिये नहीं । इस पर पुनः कहते हैं कि—

अपि वा तदधिकारान् मनुष्यधर्मः स्यात् ॥ ६ । ७ । ३३ ॥

(अपि वा) देवादियों का अधिकार शास्त्र में नहीं है । इस हेतु यह (मनुष्यधर्मः+स्यात्) मनुष्य का ही धर्म है क्योंकि (तदधिकारात्) शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है अर्थात् मनुष्य के लिये ही १००० वर्ष का यज्ञ है क्योंकि यज्ञ करने में मनुष्य का ही अधिकार है । यदि कहो कि मनुष्य की उतनी आयु नहीं फिर कैसे उतने वर्षों का यज्ञ कर सकता है । यदि कहो कि रसायन योग साधन आदि उपायों से आयु बढ़ जायगी, इस पर कहते हैं कि मो नहीं हो सकता ।

नामामर्ध्यात् ॥ सू० ३३ ॥

यह द्वितीय पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है पूर्व में जो कहा गया कि १००० वर्ष के यज्ञ में मनुष्य का ही अधिकार है अन्य का नहीं सो (न) नहीं होसकता क्यों ? (नामामर्ध्यात्) सामर्ध्य नहीं होने से, न इतनी मनुष्य में स्वतः सामर्ध्य है और न औषध आदि से ही उतनी आयु होसकती । इस सूत्र का जो भाष्य है सो लिखकर अनुवाद कर देता हूं ।

न रसायनानामेतत्सामर्ध्यं दृष्टम् । येन सहस्रसम्बत्सरं जीवेयुः । एतानि हि अप्रेर्वर्द्धकानि वलीपलितस्य नाशकानि स्वरवर्षग्रमादकानि मेधाजननानि ।

नैतावदायुषो दातृणि दृश्यन्ते । ननु स्वरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव ज्योत् जीवनम-
प्यनुमास्यते । न इति ध्रूम । कुतः शतायुर्वै पुरुष इत्यनुवादः । स एवं ज्योत्
जीवे न अवकल्पते । अत्र उच्यते शतान्यायुरस्येति विग्रहीष्यामः । नैवं संख्या-
शब्दानां समास इष्यते । न च गमकानि भवन्ति । द्विवचनबहुवचनान्तानामस-
मास इति चाभियुक्तवचनात् ।

अर्थ—(रसायनानाम्) रसायनों का (एतत्सामर्थ्यम्) यह सामर्थ्य (न-
दृष्टम्) नहीं देखा गया है (येन) जिससे (सहस्रसत्स्वरम्+जीवेयुः) १०००
वर्ष मनुष्य जी सके (हि) क्योंकि (एतानि) ये रसायन (अग्नेः+वर्धकानि)
अग्नि के वर्धक हैं (वलीपलितस्य+नाशकानि) वृद्धावस्था के कारण से जो केशादि
शुक्ल हो गये हैं उनके नाशक हैं (स्वरवर्णप्रसादकानि) उत्तम स्वर और वर्ण के
देनेवाले हैं परन्तु (एतावदायुषः+दातृणि) इतनी आयु के देनेहारे (न+दृश्यन्ते)
नहीं देये जाते (ननु) इस पर शङ्का होती है कि (स्वरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव०)
रसायन से उत्तम स्वर और सुन्दर गौरादि वर्ण की वृद्धि होती है यह तो आप भी
मानते हैं तब इसी से अनुमान कर लेवेंगे कि (ज्योक्+जीवनम्) अधिक जीवन
भी होता है । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं—(न+इति+ध्रूमः) नहीं । ऐसा नहीं
हो सकता (कुतः) क्योंकि (शतायु+वै+पुरुषः) पुरुष की आयु १०० वर्ष ही
की है (इति+अनुवादः) यह वेदों का अनुवाद ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है इस
हेतु (स+एवम्+ज्योक्+जीवे+न०) उस पुरुष की आयु की अधिक कल्पना नहीं
हो सकती । पुनः शङ्का होती है कि—(शतान्यायुरस्य इति विग्रहीष्यामः) ॥

“शतायु” यहा “शतानि+आयुः+अस्थ” ऐसा समास करेगे तो इससे कई सौ
वर्ष आयु होती है यह सिद्ध होगा । इसका उत्तर (नैवम्) ऐसा नहीं हो सकता ।
क्योंकि मरया शब्दों में ऐसा समास नहीं होता अन्यथा बड़ी आपत्ति होगी किसी
ने कहा कि यह बालक ‘पञ्चवर्ष’ है (पांच वर्ष का है) अब यहा (पञ्च च पञ्च
च पञ्च चेति पञ्च । पञ्चवर्षाणि अथ स पञ्चवर्षः) ऐसा समास करने पर यह बालक
कितने वर्षों का है यह निश्चय नहीं हो सकता ५, १०, १५, २०, २५, ३०,
३५, १००, १०००, १००००, १०००००, १००००००, १००००००० पांच वर्ष से लेकर
क्रिष्टों का अर्थ हो जायगा । फिर मरयावाचक शब्दों में कई व्यवस्था ही नहीं

रहेगी । इस हेतु संस्थावाचक शब्द में द्विवचन बहुवचन करके कदापि समाप्त नहीं होता । इस हेतु यह सिद्ध हुआ कि रमायन से केवल बल, स्वर, वर्ण आदिक की वृद्धि होती है आयु की नहीं । अतः उतनी आयु के असम्भव के कारण यह यज्ञ मनुष्य के लिये न कहा जा सकता । अतः अन्य प्रकार से समाधान करते हैं ।

स कुलकल्पः ष्यादिति काष्णाजिनिरेकस्मिन्नसंभवात् ॥ सू० ३७ ॥

काष्णाजिनि आचार्य कहते हैं कि (स.) यह यज्ञ (कुलकल्पः+स्यात्) कुल-कल्प है । अर्थात् शास्त्रों में मनु य का ही अधिकार है और १००० (सहस्र) वर्ष का यह यज्ञ कहा गया है (एकस्मिन्+असंभवान्) एक पुरुष में उतनी आयु का होना असंभव है एक आदमी इसको कदापि नहीं कर सकता परन्तु विहित विधि को पूर्ण करना भी उचित है सो जिस प्रकार हो वैसा करना चाहिये । सो “कुल-कल्प” के बिना नहीं हो सकता । अर्थात् इस यज्ञ को यदि किसी के पिता ने आर-म्भ किया हो तो पिता के मरने पर उसके पुत्र करें । इसके बाद इसका पुत्र करे जब तक सहस्र वर्ष पूरा न हो तब तक उसके कुल के लोग इस विधि को पूरा करते जायें इसी का नाम “कुलकल्प” है । इस प्रकार से यह यज्ञ समाप्त हो सकता है ऐसा काष्णाजिनि आचार्य का पक्ष है । इस पर अन्य आचार्य कहते हैं—

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यादिति ॥ ३६ ॥

पूर्व में जो “कुलकल्प” कहा गया है सो भी उचित नहीं क्योंकि (एकस्य+एव+प्रयोगः) एक ही पुरुष का यह कर्तव्य है (कृत्स्नसंयोगान्) क्योंकि संपूर्ण विधि से संयोग एक ही आदमी का है अर्थात् जो सम्पूर्ण विधि को समाप्त करने में समर्थ हो उसी का यह में अधिकार है । इसका भी कारण यह है कि प्रयोग करनेवाले में ही फल कहा गया है । इस हेतु “कुलकल्प” भी उचित नहीं, इतना वा-दानुवाद करके आगे सिद्धान्त सूत्र कहते हैं । यथा—

विप्रतिषेधाच्च गुणवन्त्यतरः स्यादिति लावुकायनः ।

भाव यह है कि सम्बत्सर शब्द या पञ्चपञ्चाशन् शब्द गौण मानना पड़ेगा । यहां सम्बत्सर शब्द ही गौण अर्थ में है यह लावुकायन आचार्य कहते हैं इस पर हेतु देते हैं ।

सम्बत्सरो विचालित्वात् ॥ ३८ ॥

(विचालित्वात्) सम्बत्सर शब्द विचालो अर्थात् विचलित होने का है। अर्थात् यह शब्द केवल वर्ष में ही रुक नहीं, किन्तु अन्यान्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यहां किस अर्थ में है इस पर कहते हैं —

अहानि वाभिसद्व्यत्त्वात् ॥ ४० ॥

यहां सम्बत्सर शब्द “एकदिन” के अर्थ में है। इस प्रकरण में सम्बत्सर शब्द दिनवाचक है। यह निश्चय किया है।

अब आप विचार करते हैं कि यदि पूर्व समय में मनुष्यों की अधिक आयु होती तो इतनी शक्ती करने की आवश्यकता न होती और वर्ष शब्द का अर्थ दिन नहीं करते।

और यह भी कदाचित् जैमिनि कह देते कि सत्ययुग में इतनी आयु का मनुष्य हुआ करता था अतः ऐसी विधि की गई अब इतनी आयु न होने से वह यह नहीं हो सकता। परन्तु वैसा नहीं कहा इससे निश्चय होता है कि जैमिनि आदि आचार्य वैदिक आयु के परम विश्वासी थे। मैं बहुत क्या लिखू ऐसी २ यात्रें सर्वथा धे-
दशाब्धिद्वद्ध होने से सप्त के लिये त्याग्य हैं। जब कलियुग के लोग अस्पृह होने लगे तब ही ऐसी २ कुसस्कार की यात्रें फैलाई।

स्फुट बातें—शतमृतु यह नाम इन्द्र का है, परन्तु इन्द्र नाम जीवात्मा का है यह वर्णन विस्तार से वैदिक इतिहासार्थ निर्णय में देखो। यह जीवात्मा शतमृतु कहाता है जिसकी १०० (सौयों) वर्षों की आयु जन्म से लेकर मरण तक क्रतु अर्थात् शुद्ध वैदिक व्यवहार में बीता है और जिमका बाल्यावस्था से मरण पर्यन्त जीवन शुद्ध है वही शतमृतु इन्द्र है। वही जीवात्मा महान् ऐश्वर्यशाली होगा अतएव जो शत यह करेगा वही इन्द्र होगा ऐसी आध्यात्मिका पुराणों में चली आती है इस शब्द से भी मनुष्य की शतायु सिद्ध होती।

उपनिषदादि ग्रन्थों में ७२००० (सत्तर हजार) नाडियों का वर्णन आता है। यह भी शतायु का प्रदर्शक है, जैसे ३६० दिन और ३६० रात्रि का एक वर्ष माना गया है दोनों मिलकर ७२० अहोरात्र होते हैं अर्थात् प्रायः एक वर्ष में ३६० दिन और ३६० रात्रियां होती हैं। अब ७२० को १०० से गुना करो क्योंकि

१०० वर्ष की आयु है अब ७२०+१०० के गुना से ७२००० (बहत्तर सहस्र) हो जाते हैं इन ही आश्रय से जीवात्मा कार्य करता है अतः ये शरीरस्थ नाडीवन नाडियां कहाती हैं । पश्चात् इम का वास्तविक वृत्त्व न समझ कर शरीर की नाडियों को ही ७२००० सहस्र मानने लगे । कोई कहते हैं कि श्रीरामचन्द्र आदिक महापुरुष कई सहस्र वर्ष जीते रहे । परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि उपनयन के पश्चात् ही विश्वामित्र आके लक्ष्मणसहित राम को यज्ञरक्षार्थ वन लेगये और इसी यात्रा में सब भाइयों का जनकपुर में विवाह होगया । किसी ग्रन्थ से इस समय राम की उम्र ३० वर्ष से अधिक मिद्ध नहीं होती । प्रत्युत बहुत ग्रन्थकार १६ वर्ष से न्यून ही मानते हैं । एवमस्तु, अब १४ वर्ष रामचन्द्र को तो वनवासमिला इस यात्रा में बाली और रावण आदि शत्रुओं को मार रामचन्द्र की लीला प्रायः समाप्त हो जाती है । अब मैं पूछता हू कि कई सहस्र वर्ष जीवन धारण कर श्रीराम क्या करते रहे क्या इसकी दिनचर्चा बतला सकते हो । यदि इनकी लीला का सब पूरा हिसाब किया जाय तो सब ही १०० वर्षों के आभ्यन्तर ही समाप्त हो जाती है । अतः अनेक सहस्र वर्ष की आयु कल्पना करनी सर्वथा अज्ञानता की बात है । इति संक्षेपतः ॥

सर्वकाल में आचार्यों की विद्यमानता ।



ननु तर्हीदानीमपि कथं न तादृशो भवन्ति महाभागा इति भवानेव साधयतु । शृणु-इदानीमपि तादृशो भवन्ति । येषामाचार्याणां ग्रन्थेष्वधीतिनो भूत्वे-
दानीं पण्डितायन्ते ते सर्वे प्रायः कलिभवा एव । तद्यथा-महामाध्यकारो भग-
वान् पतञ्जलिर्पदानां व्याकर्त्ता, कुसुमाञ्जलोर्विरचयितोदयनाचार्यो बहूनामाचा-
र्याणामपि व्याकुलयिता, कृत्स्नस्य सांख्यशास्त्रस्य सप्तत्येवाऽऽर्याभिः सघटयिता
श्रीमानीश्वरकृष्णः, सर्वेषां मांख्यादि-शास्त्राणामपि भ्रमप्रदर्शकोऽद्वैत-संप्रदाय-
प्रथमाचार्यः श्रीशङ्कराचार्यः, अस्यापि खण्डयिता वैष्णवधर्मस्य व्यवस्थापयिता
च श्रीरामानुजस्वामी, ज्योतिःशास्त्रे नूतनगणितानामारिष्कर्त्ता भास्कराचार्यः,
इमेऽन्येऽप्यभूयन् पृथिवीं शतश आचार्या कलावेव । ऐतिह्येन ज्ञायन्ता तेषां
नामधेयानि । निशामय ननममुदाहरणम्-यत्स्वल्पेनैव कालेन दिगन्तमप्यति-
क्रान्तं जगत्प्रशस्यम् । कैर्हतभार्यैर्मन्दपुरुषैः भुवनविदित आम्नायतत्तत्पर-
दृष्ट्वा निसर्गत एव जनितापद्मानः प्रशमितममस्तपापापिडलीलः पुनरुज्जीवित-
मूर्च्छितवेदपुरुषो निरस्तसमस्ताधुनिकविबुधगर्वो भगवान् दयानन्दो न ज्ञायते।
यः खलु सर्वान् पूर्वाचार्यान्तिस्यप तिष्ठति । नायमृपिरेव योऽयं महर्षिपदं प्रा-
पितो गुणग्राहिणीभिर्भारत-सन्ततिभिः । कृतं बहुलेणेन जिह्वायामफेन । स्वदे-
शान् द्वीपान्तराणि च गन्ता पश्चाचार्याः शतशोऽथ सहस्रशः कुशाग्रबुद्धय
ईश्वरप्रणिहितमतयो दृष्टन्त्या अधननसमयालङ्कारभूताः ।

शङ्का - तत्र आजकल भी वेमे महाभाष्यवान् पुरुष पृथिवी पर अनुमद् कयों
नहीं करते आप ही इसको सिद्ध करें । उत्तर-आज भी वेसे होते हैं । जिन आ-
चार्यों के ग्रन्थ पढ़कर आज प्रहित बनते वे सब ही प्रायः इसी युग के हैं व्याक-
रण के विस्तार करनेवाले महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि, बहुत आचार्यों को भी
व्याकुल करनेवाले कुसुमाञ्जलि आदि ग्रन्थों के कर्त्ता उदयनाचार्य, सम्पूर्ण सांख्य-
शास्त्र के सिद्धान्त को केवल ७० आर्या छन्दों में घटानेवाले श्रीमान् ईश्वरकृष्ण,
सब सांख्यादि शास्त्रों के भी भ्रमप्रदर्शक अद्वैतमत के प्रथमाचार्य श्रीशङ्कराचार्य, इन

के मत का भी खरडन करनेहारे वैष्णव धर्म के व्यवस्थापयिता श्रीरामानुज स्वामी, ज्योतिष शास्त्र में नूतन २ गणित के आविष्कर्ता भास्कराचार्य, वे सब और अन्य भी शतशः आचार्य इसी कलियुग में हुए हैं । अतिनवीन नाम भी सुनो जो थोड़े ही समय में दिशाओं के अन्त को भी अतिक्रमण करना चाहता है और जिसकी प्रशंसा सन्पूर्ण जगत् कर रहा है । सुवनाविदित, वेदतत्त्वों के जिन्होंने पारतक देखा है, स्वभावतः जिनको आर्यज्ञान उन्मत्त हुआ है, जिन्होंने समस्त पाण्डित्यों की लीला शान्त की, मूर्च्छित वेदपुण्य पुनरि उज्जीवित किये, निजिल आधुनिक विद्वानों का गर्व निरस्त किया ऐसे परमपूज्य महर्षि दयानन्द को कौन हतभाग्य मन्दपुरुष नहीं जानता है जो मय पूर्व चाप्यों को अतिक्रमण कर स्थित हैं । ये केवल अथि ही नहीं हुए किन्तु गुणमाही भारत-सन्तानों ने महर्षिपदवी तक इनको पहुँचाया । जिहा के दुःखप्रद बहुत लेख से क्या प्रयोजन, देश और द्वीपान्तरों में जा आजकल भी शतशः सहस्रशः कुशामबुद्धि ईश्वरभक्त आजकल के अलङ्कार-स्वरूप आचार्यों को देखो । जिससे ज्ञात होगा कि आजकल भी बड़े २ आचार्य और विवेकी होते हैं ।

ननु पुरापि यदि विवेकिनोऽभूवन् भवन्त्यधुनापि तर्हि किमुदिरयाकाण्डं-
ताण्डवप्रस्तावो भवताम् । विरम विरम तावत् समनःसर्वाङ्गखेदकराल्लेखात् । स-
त्यमेतत् । स्वतो न विवेकोत्पाद् अपेक्षते तु किमपि । यदि शैशवात्प्रभृति न
'कापि शिक्षा, न सतां सङ्गतिर्न पदार्थावलोकनम्, न चोपदेशश्रवणं' स्यात्तर्हि
कयं स वरयेत् । अतः शिक्षार्थो ग्रन्थो लेख्य एव । सचोचरोत्तरजानां पुरु-
षाणां सहायकः । ननु यथादिसृष्टौ पदार्थावलोकनेन स्वपमुद्धृतं ज्ञानं तथेदानी-
मपि भविष्यति । अत्रोच्यते—आदावपि अनादिर्वेदो वै शिक्षको बभूव । त-
स्मात्सर्वे बोधवन्तः । येषां तु वेदाऽस्वीकारपक्षः । तत्रापि अस्त्येव लेखप्रयोज-
नं सहायकत्वेन सापेक्षत्वात् । आहुस्तद्वादिनः—आसीत्पृथिवी प्रथममिनरप्रा-
णिभिः पूर्णा । जज्ञिरे पश्चान्मनुष्याः । जातैष्वपि तेषु वर्षसहस्रपूगानि जनिरपि
नाभूद्विद्यायाः । केऽपि पर्वतगह्वरानध्यास्य रात्रिं नयन्ति स्म । केऽपि वृक्षाना-
रुह्य हिंस्रसत्त्वैर्मय आत्मानं श्रायन्ते स्म । मस्तरपिण्डो, दारुलगुह्येऽप्येवविधानि
तेषामस्त्राणि । नोखलमूसले, न चुल्लिः, न भाण्डानि, न चेत्राणि, न हलानि,
न धुर्याः, न बाहाः, न पात्राणि, न शकटानि, न गन्ध्यः, न गावो नाश्वा इत्या-

दीन् परमोपयोगिनोऽहरहः कावितान् पदार्थानपि न विदुः । अपक्वन् मोज-
फाः । अकुटीरा अवासमथ । किं बहुना पशुकल्पा एवामन् । गच्छन्सु वदपु
कालेषु शनैः शनैः सामान्या विद्या क्षेत्रादिसम्बन्धिनी विज्ञाना । सापि कस्मि-
श्चिदेशे नाभूदद्यापि । यद्यत् किञ्चित् तीर्तदितं तत्तत्प्रथमं गीतिषु निबद्धं क-
थासु च कीर्तितम् । कतिपयवर्षलक्षगमनानन्तर ते लिपिं ज्ञातवन्तः । ततो लिलि-
खुर्ग्रन्थान् । तदाप्रमृतिं पूर्ववृत्तान्तज्ञा अभूवन् केचन । ते च ग्रन्था उत्तरोत्तरमा-
विमन्तानानामुपकारिण उपकुर्वन्ति स्म । इत्थं पूर्वलिखितग्रन्थादि-पठनपाठन-
व्यवहारेण स्वानुभूतसम्पत्त्या च सम्प्रति ईदृशा इयंतो विद्वांसो जाता जायन्ते च ।
यदि लेख-परिपाटी सम्प्रत्ययसीदेत् तर्हि भूयोपि सर्वे तामेव शैशवीं दशां
भजेयुः । अतोप्युत्तरोत्तर-साहाय्यार्थो ग्रन्थस्तु लेख्य एवेति तेषामपि राद्धान्तः ।
तत्राप्यहं नेदं नवीनं रचयामि अपिप्रणीतानामेव ग्रन्थानामाशयमाधुनिकप्रा-
कृतभाषया तथा सरलसंस्कृतभाषया च प्रकटयितुं प्रयत्ने । यतो नाधुना सर्वे
संस्कृतं पठन्ति । पठन्तोपि नार्पमापाध्ययनाय कालं यापयितुं शक्नुवन्ति पठ-
नीयबाहुल्याद् आर्पग्रन्थानां भाषाकाठिन्याच्च । अन्यच्च यदि बौद्धारो न लि-
खेयुर्नोपदिशेयुस्तर्हि पुनरपि सैन प्राचीनतमा दशाऽऽपतेत् । अतोपि लेख्यम् ।
अत्र सांख्यसूत्रद्वयमुदाहृत्यान्साययामीमं प्रासङ्गिकं लेखम् ।

उपदेशोपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः । इतरथाऽन्धपरम्परा ॥सां० ३॥ सू० ७६-८०॥

शङ्का—यदि पूर्व में भी विवेकी पुरुष हुए आज भी होते हैं तब किस उद्देश
से अस्थान और असमय में नृत्य का प्रस्ताव कर रहे हैं । मन-सहित सर्वाङ्ग-
वेद कर लेख से विराम करना ही अच्छा है । उत्तर—आपका कथन सत्य है परन्तु
स्वतः विवेक भी उत्पत्ति नहीं होती किसी वस्तु की अपेक्षा करता है । यदि शैश-
वावस्था से न शिक्षा, न सत्संगति, न पदार्थावलोकन और न उपदेश-श्रवण हो तो
तब वह विवेक कैसे उत्पन्न होगा । इस हेतु शिक्षार्थ ग्रन्थ लेख्य है । वह उत्तरोत्तर
पुरुष का सहायक होता है । शङ्का—जैसे आदि मृष्टि में पदार्थों के देखने से स्वयं
ज्ञान उत्पन्न हुआ वैसा ही आज भी होगा । उत्तर—आदि में भी निश्चय वेद
शिक्षक हुआ उससे सब कोई बोधवान् हुए परन्तु जिनका वेद स्वीकारपत्र नहीं
है वहा पर भी लेख का प्रयोजन है ही, क्योंकि भाषी सन्तान के सहायक होने के

लिये उसकी अपेक्षा है । इस सिद्धान्त के माननेहारे कहते हैं कि यह पृथिवी पहले अन्यान्य प्राणियों से पूर्ण हुई, पश्चात् मनुष्य उत्पन्न हुए, मनुष्यों के उत्पन्न होने पर भी अनेक सहस्र वर्षों तक विद्या का जन्म नहीं हुआ कोई तो पर्वत के गहरों में वास कर रात्रि काटते थे और कोई उच्च वृक्षों पर चढ़ दुष्ट जन्तुओं से अपनी रक्षा करते थे पत्थर और काष्ठ की छड़ी उन के अस्त्र थे । न ऊखल, न मूसल, न चूल्हा, न भाट्ट, न खेल, न हल, न बहनेवाले, न ढोनेवाले, न गाय, न घोड़े, न काटने के हँसुए, न शकट, न छोटी गाड़िया थीं । प्रतिदिन जिनके बिना आज कार्य नहीं चल सकता ऐसे परमोपयोगी पदार्थों को भी वे लोग नहीं जानते थे । बिना पकड़ा हुआ भोजन करनेहारे थे, न कुटी और न वस्त्र इनको थे । बहुत क्या कहें वे प्राचीन लोग पशुओं में किञ्चिन् न्यून ही थे । इस प्रकार बहुत काल व्यतीत होने पर धीरे २ साधारण स्वेत आदि की विद्या इन्होंने जानी वह भी किमी२ देश में आज भी नहीं । उन्होंने जो कुछ जाना प्रथम उन सबों को गीत में धनाया और कथाओं में कहने, सुनने और सुनवाने लगे । कतिपय लक्ष वर्ष बीतने पर इन्होंने लिपि जानी । तब ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया । तब से कोई २ पूर्ववृत्त के जाननेहारे होने लगे । वे ग्रन्थ उत्तरोत्तर सन्तान के उपकारी हुए । इस प्रकार पूर्व-लिखित ग्रन्थों के पठन पाठन व्यवहार से और अपने अनुभव की सम्पत्ति से आजकल ऐसे और इतने निद्वान् उत्पन्न हुए और हो रहे हैं । यदि लेख-परिपाटी आज समाप्त होजाय तो पुनरपि सब कोई उमी शैशवी दशा को प्राप्त होवें । इस हेतु उत्तरोत्तर साहाय्यार्थ ग्रन्थ तो लेख्य है यह उनका भी सिद्धान्त है । उस में भी मैं तो कोई नवीन ग्रन्थ नहीं बनाता श्रुतिप्रणीत ग्रन्थों के आशय को प्राधुनिक भाषा के और सरल संस्कृत भाषा के द्वारा प्रकाशित करने के लिये प्रयत्न करता हूँ । जिस हेतु आजकल सब कोई संस्कृत नहीं पढ़ते, पढ़नेहारे भी आर्षभाषाध्ययन के लिये समय बिता नहीं सकते । क्योंकि पढ़ने के लिये बहुत हैं और आर्षभाषा की कठिनता भी है अतः यदि बोद्धा न लिखें और न उपदेश देवें तो पुनरपि वही प्राचीनतम दशा आ पडेगी इस हेतु भी लिखना चाहिये । इस विषय में सांख्यशास्त्र के दो सूत्र दे यह प्रासङ्गिक लेख समाप्त करता हूँ ।

उपदेश्य (शिष्य) और उपदेशा (आचार्य) दोनों के होने से जगन् में कल्याण की आशा होती यदि ये दोनों न होवें तो जगन् में अन्धपरम्परा फैलजाय ।

विद्वानभिक्षुक ने प्रसङ्ग से इनका तात्पर्य अन्य प्रकार से भी वर्णन किया है परन्तु यहाँ उसका प्रसङ्ग नहीं ।

स्वाध्याय-प्रशंसा ॥

अत्र प्रथम तादृशीणां पन्था अनुकरणीयः । तस्मिन् पन्थानभिमानि वाक्यानि विस्तुष्टं प्रकाशयन्ति । तद्यथा—

स्वाध्याय-प्रशंसा ॥

इस में प्रथम ऋषियों के मार्ग का अनुकरण करना उचित है । ये पद्यमाण वाक्य उस मार्ग को विस्तृततया प्रकाशित करते हैं । वे ये हैं—

“आचार्यकुलाद्देवमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेपेण+अभि समावृ-
त्य कुटुम्बं शुचौ देशे स्वाध्यायमधीगानो धार्मिकान् रिदधद्+आत्मनि सर्व-
न्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य+अहिंसनं सर्वाणि भूतानि+अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेव
वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकात्मनिमम्यते न च पुनरावर्तते” । ब्र. श्रोग्यो० = ।
१५ । १ ॥

इसमें पन्थानमनु कुर्वन्तो जनाः कथङ्कारं न निवेकिनो मतिष्यन्ति । ऋषे-
र्महाजस्य ब्रह्मचर्यव्रतं निरीक्ष्यताम् ।

(आचार्यकुलात्) आचार्य के गृह पर जाकर (यथाविधानम्) विधिपूर्वक
(वेदम्+अधीत्य) वेद पढ़ (गुरोः) आचार्य के (अतिशेपेण+कर्म्म) सब
शुश्रूषा गौचारण आदि सेवा कर (अभिसमावृत्य) पश्चात् गुरु की आज्ञा से स-
मावर्तन कर अर्थात् गुरुकुल में लौट (कुटुम्बे) विवाह कर अपने कुटुम्ब के साथ
रहता हुआ (शुचौ+देशे) पवित्र स्थान में (वेदम्+अधीयानम्) वेद को पढ़ता
हुआ धार्मिकान्) मनुष्यों को धार्मिक (रिदधत्) बनाता हुआ (आत्मनि) अ-
पने में (सर्वाणि+इन्द्रियाणि) मन इन्द्रियों को (सम्प्रतिष्ठाप्य) स्थापित कर अ-
र्थों पर वरा में कर (अन्यत्र+तीर्थेभ्यः) निगालों वा घर्मशालाओं से अन्यत्र भी
(सर्वाणि+भूतानि) निमी प्राणी की (अहिंसनं) हिंसा न करता हुआ जो आ-
दमी २२ समार में वर्णित है (स) वह (एवम्) पूर्वोक्त प्रकार से (यावदायु-
षम्) आयु पर्यन्त (वर्तयन्) चलता हुआ पुनः (ब्रह्मलोकात्मं) अन्त में ब्र-

ज्ञानन्द को (अभिसम्पद्यते) प्राप्त होता है (न+च+पुनः+आवर्तते) पुनः पुनः क्लेश को नहीं पाता । जो कोई इस आर्पण्य का अनुकरण करेंगे वे क्यों नहीं गिबेकी होंगे । ऋषि भरद्वाज के ब्रह्मचर्य-बल को देखो ।

तैत्तिरीया आमनन्ति—“भरद्वाजो ह त्रिभिर्गयुर्भिर्ब्रह्मचर्यं प्रुवाप्त । तं ह जीर्णिं स्थविरं शयानमिन्द्र उपब्रज्योवाच—भरद्वाज ! यत्ने चतुर्थमायुर्दद्यां किमेनेन कुर्या इति ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच” । तै० ब्रा० ३, १०, ११, ३, ४ । भरद्वाजराद्विद्याभिलाषिभिः प्रथम भाष्यम् । नाको मौद्गल्यः स्वाध्याय-प्रवचनयोरेव प्रशस्यनमत्त्वमाह । तद्यथा—“स्वाध्यायप्रवचन एवेति नाको मौद्गल्यः ।” तैत्तिरीये । पुनः—“स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । तानि स्वयोपास्यानि ।” तै० । पुनः—“अथ यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव..... अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव . अथ यदनाशकापनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव” । इत्यादिविधानि छान्दोग्यवचनानि ब्रह्मचर्य पदे पदे स्तुवन्ति । पुनः सन्ति शतपथब्राह्मणवचनानि स्वाध्यायं प्रति विशेषाऽऽदराणि तद्यथा—

तैत्तिरीय लोग कहते हैं (भरद्वाजो+ह) ऋषि भरद्वाज (त्रिभिः+आयुभिः) तीन बाल्य यौवन और बार्धक्य आयुओं से (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (उवास) करते रहे (तम्+ह+जीर्णिम्+स्थविरम्) जब वह जीर्ण और स्थाविर होगये तब इनके निकट (इन्द्रः) इन्द्र ने (उपब्रज्य) आकर (उवाच) कहा (भरद्वाज) हे भारद्वाज ! (यत्ने) जो आप को चतुर्थ आयु दू तो उस आयु से आप क्या करेंगे । इस पर भरद्वाज ने कहा कि इस से भी मैं ब्रह्मचर्य ही करूंगा । इस इतिहास से यह सिद्ध होता है कि पूर्वकाल के ऋषि बड़े ही विद्याभिलाषी थे । और जिन्होंने ऐसा परिश्रम किया वे ही ऋषि भी हुए । उस हेतु ऋषि भरद्वाज के समान विद्याभिलाषी होने चाहियें । नाक मौद्गल्य ऋषि वेद के पढ़ने पढ़ाने को सब तपस्या से प्रशस्य-सममानते हैं पुनः कहा गया है नि स्वाध्यायःपठना । प्रवचन=उमके व्याख्यान उपदेश अध्यापन आदि इन दोनों से (न प्रमदितव्यम्) कदापि भी प्रमाद न करे । पुनः (अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते) जिसको यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है । जिसको सत्रायण नाम यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है । जो अनाशकापन नाम का यज्ञ कहलाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है । इस प्रकार ब्रह्मचर्य की स्तुति छान्दो-

श्रुति पद पद में करती हैं । विद्याध्ययनरूप धर्म का ही नाम ब्रह्मचर्य है । पुनः शतपथ ब्राह्मण के वचन स्वाध्याय की कहा सफ़ स्तुति करती हैं सो देखो श्रुति कहते हैं ।

“अथातः स्वाध्यायप्रशंसा—प्रिये स्वाध्य यमवचने भवन्तो धुक्रमना भवत्यप-
राधीनोऽहरहर्यान् साधयते सुरा स्थापोत परमाचिकित्सक आत्मना भवतीन्द्रिय-
समग्रैरुपगतता च ब्रह्माष्टद्विर्यशो लोकपतिम् । प्रश्ना वर्धमाना चतुरो धर्मान्
ब्राह्मणममिनिष्पादयन्ति ब्राह्मण्य प्रतिरूपचर्या यशो लोकपतिम्, लोकः पश्य-
मानश्चतुर्मूर्धन्यब्राह्मणं भुनक्त्यवचनं च दानेन चाउपेयनया चावध्यतया च ॥ १ ॥
ये ह वै के च श्रमाः । इमे दावापृथिवीऽमन्तरेण स्वाध्यायो ह्येव तेषां परमता
काष्ठा य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ २ ॥ यद्यद्
धाऽध्ययं ध्वन्दसः स्वाध्यायमधीते तेन तेन ह्येवास्य यज्ञक्रतुनेष्टं भवति य एवं वि-
द्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ ३ ॥ यदि ह वा अयम्यज्ञः
अलङ्घ्यः संहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते आ ह्येव स नखाग्नेभ्यस्त-
प्यते य एव विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ ४ ॥ मधु ह
वा श्रचः पृत ह सामान्यमृत यजूपि ॥ ५ ॥ मधुता ह वाऽएष देवास्तर्पयति ।
य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तप्तास्तर्पयन्ति सर्वः कामः सव-
भोगं ॥ ६ ॥ घृतेन ह वाऽएष देवास्तर्पयति । य एवं विद्वान्स्तामान्यहरहः
स्वाध्यायमधीते त एनं तप्ता इत्यादि ॥ ७ ॥ अमृतेन ह वा एष देवास्तर्पयति ।
य एवं विद्वान्पूज्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तप्ता इति ॥ ८ ॥ यन्ति धाऽ-
श्रापः एत्यादित्यः एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि यथा ह वा एता देवता नेपु-
र्नकुपुरेव ह्येव तदहर्नाक्षणा भवन्ति यदहः स्वाध्यायः नाधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽ-
ध्येतव्यस्तस्मादप्यृच वा यजुर्वा साम वा गार्गा वा कुन्वा यामिभ्य हरिद् व्रत-
स्याव्ययच्छेदाय” ॥ १० ॥ शतपथ ब्रा० का० ११ । अ० ५ । ब्रा० ७ ॥

(अथातः स्वाध्यायप्रशंसा) आगे स्वाध्याय की प्रशंसा कहते हैं (स्वाध्याय-
प्रवचने) पठना पठाना (प्रिये+भवत) ये दोनों वस्तु परमप्रिय हैं क्योंकि (यु-
क्रमना +भवति) इस कर्म से उत्पन्न मन उत्तमयुक्त होता (अपराधीनः) किसी
के अधीन नहीं रहता अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता (अह +अहः) प्रतिदिन (अथातः)

धर्म, अर्थ काम, मोक्ष इन चारों पदार्थों को (साधयते) सिद्ध करता (सुखं+भव-
पिति) सुख से जीवन विताता (आत्मनः+परमचिकित्सकः+भवति) अपने आ-
त्मा का परम वैद्य बनता (इन्द्रियसयमः) इन्द्रियों का सयम होता (एकारामता+
च) और ब्रह्म में अनवच्छिन्न विआन्ति लाभ करता । यज्ञ एक होने पर भी
बहुत होता (ब्रह्मावृद्धिः) ब्रह्मा की वृद्धि (यशः) यश (लोकपतिः) ऐहिक पार-
लौकिक सुख की परिपक्वता (वर्धमाना ब्रह्मा) बढ़ती हुई ब्रह्मा (चतुरः+धर्मान्)
चार धर्मों से (ब्राह्मणम्+अभिनिष्पादयति) ब्राह्मण को युक्त करता है । वे चार
ये हैं (ब्राह्मण्यम्) ब्राह्मण्य (अतिरूपचर्या) गुणानुसार आचरण (यशः+लो-
कपतिः) यश और लोक-परिपक्वता इन चारों पदार्थों को बढ़ती हुई ब्रह्मा देती है ।
और (लोकः+पद्ममानः) परिपक्व होता हुआ लोक भी (चतुर्भिः+धर्मैः) चार
धर्मों से (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (मुनक्ति) पालन करता है । वे ये हैं (अर्च-
या+च) पूजा से (दानेन+च) दान से (अज्येयता+च) हानि को न होने देने से
(अवध्यतया+च) और न वध्य होने देने से अर्थात् विद्वान् की सदा पूजा होती
दान मिलता रहता किसी प्रकार की हानि न होती, और अपराधी होने पर भी
वध्य नहीं होता ॥ १ ॥ (इमे+द्यावापृथिवी+अन्तरेण) इन द्यावापृथिवी के मध्य
में (ये+ह+वै+के+च+अग्नाः) जो कोई अग्नि तपस्याएं हैं (तेषाम्) उन तपस्याओं
में (स्वाध्यायः+वै) स्वाध्याय ही (परमता+काष्ठा) परमकाष्ठा है अर्थात् स्वाध्याय ही
तपस्या की चरम काष्ठा है (यः+एवम्) जो ऐसा जानता हुआ (स्वाध्यायम्+अ-
धीते) स्वाध्याय का अध्ययन करता है (तस्मात्+स्वाध्यायः+अध्येतव्यः) इन
हेतु स्वाध्याय (वेद) अध्ययन करना चाहिये ॥ २ ॥ (अयम्) यह ब्रह्मचारी
(छन्दसः) वेदों में से (यद्+यद्+ह) जो जो (स्वाध्यायाम्+अधीते) स्वाध्याय
पढ़ता अर्थात् वेद के जितना २ छन्द वा भाग पढ़ता जाता है (तेन०) उस २
अध्ययन रूप यज्ञ से यज्ञ ही होता (यः) जो कोई इस प्रकार जानता हुआ
स्वाध्याय करता है । इस हेतु वेद अवश्य पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥ (यदि+ह+वा+अ-
भि) यदि वा वह (अभ्यक्तः) शरीर में तैलादि युक्त हो (अलङ्कृतः) त्रिविध
भूषणों से अलङ्कृत हो । अथवा (सुहितः) समाहित हो (सुखे+शयने+शयानः)
अथवा अच्छे शयन पर सोता हुआ अर्थात् किसी अवस्था को प्राप्त हो किसी समय
में (स्वाध्यायम्+अधीते) वेद को पढ़ता है (सः) वह अध्येता (आ+नन्नाग्नेभ्यः+

तायते) शिर से लेकर नख पर्यन्त तपस्या ही करता है (यः+एवम्) जो कोई इस प्रकार इत्यादि । इस चतुर्थ कण्डिका का भाव है कि येन केन प्रकारेण वेद शास्त्र अवश्य पढ़ना चाहिये । इसके लिये यदि व्रत होसके तो अच्छा है यदि व्रत न हो भूपणादि परित्याग न कर सके, गृह को भी न छोड़ सके पृथिवी पर न शयन करके अच्छे पर्यङ्क पर ही शयन करे तब भी कोई क्षति नहीं, परन्तु स्वाध्याय अवश्य करे । स्वाध्याय का किसी अवस्था में परित्याग न करे यही एक बड़ी भारी मय से श्रेष्ठ तपस्या है ॥ ४ ॥ (मनु+ह+वा+ऋचः) ऋग्वेद मधु (घृतम्+ह+सामानि) सामवेद घृत (अमृतम्+यजूषि) और यजुर्वेद अमृत है ॥ ५ ॥ (मधुना+ह-वा) ऋग्वेद रूपी मधु में (अयम्) यह पढ़नेद्वारा (देवान्+नर्पयन्ति) देवों को तृप्त करता है (यः) जो ऐसा जानता हुआ प्रतिदिन वेद को पढ़ता है (ते) वे देव (तृप्ताः) तृप्त होकर (एनम्) इस को (सर्वैः०) सब काम और सब भोगों से तृप्त करते हैं ॥ ६ ॥ (घृतेन०) सामवेदरूपी घृत से वह देवों को तृप्त करता है इत्यादि० ॥ ७ ॥ (अमृतेन०) यजुर्वेदरूपी अमृत से देवों को तृप्त करता है इत्यादि ॥ ८ ॥ (यन्ति+ये+थापः) प्रतिक्षण जल चलते ही रहते (आवित्यः+एति+चन्द्रमा+एति+नक्षत्राणि+यन्ति) सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र भी अपना अभ्यास कदापि नहीं त्यागते (यथा+हवै+एता +येता+नन+द्यु+नन+सुर्गुः) यदि ये दधनाए इस प्रकार न आवें और न अपना कार्य करें तो पृथिवी की क्या गति होगी (एवम्+हैव०) इसी प्रकार उस ब्राह्मण को भी जानो जो स्वाध्याय को नहीं करता है ब्राह्मण के स्वाध्याय न करने से भी वैसी ही हानि होती है (तस्मान्०) इस कारण ऋग्, यजु, साम अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों का कोई भाग भी अवश्य पढ़े इस व्रत का लोप कभी न करे इस प्रकार ऋषिगण स्वाध्याय की प्रशंसा करते आते हैं ।

मनुश्रातुराश्रम्ये स्वाध्यायमनुशास्ति “षट्त्रिंशदादिकं चर्यं” मित्यादिमि-
श्रद्धाचर्याश्रमे । सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधेनः । यथातथाऽ-
ध्यापयन्तु सा क्षस्य कृतकृत्यता ।” मनु० ४ । १७ ॥ “यथा यथा हि पुरुषः
शास्त्रं समभिगच्छति । तथा तथा निजानाति पिज्ञानं चास्य रोचते” । ४ । २० ॥

मनुजी महाराज चारों आश्रम में स्वाध्याय का अनुशासन करते हैं । (१)
“षट्त्रिंशदादिकं चर्यं” इत्यादि से श्रद्धाचर्याश्रम में । (२) “सर्वान् परित्यजेदर्थान्”

इत्यादि से गृहस्थाश्रम में । अथ श्लोकार्थ । (स्वाध्यायस्य विरोधि-ः) स्वाध्याय करनेहारे (सर्वान्+अर्थान्) चारम्बार धनिक के गृह पर जाना, कृपि और लोक-यात्रा आदि सब कार्यों को (परित्यजेन्) छोड़ देवे । यदि इन सबों से स्वाध्याय में विघ्न हो तो छोड़ देवे और (यथा+नथा) येन केनोपाय से अपना निर्वाह करता हुआ (अध्यापयन्) पढ़ता पढ़ाता हुआ ही काल को बितावे (हि) क्योंकि (सा+अस्य+कृतकृत्यता) पठन पाठन ही जीवन की कृतकृत्यता है । यदि यह न हुई तो सब ही नष्ट समझो (यथा+यथा+हि) जैसे २ (पुरुषः) पुरुष (शास्त्रम्) शास्त्र (समधिगच्छति) जानता जाता है (यथा+तथा) वैसे वैसे (विजानाति) पढ़ाई को जानता जाता है (च) और (विज्ञानम्) विज्ञान (अस्य) इसको (रोचते) रोचक होता जाता है ॥

इत्यादिभिः श्लोकैर्न केवलं गार्हस्थ्ये स्वाध्याय एव विहितः स्वाध्यायस्य तु विरोधीनि यानि यानि कार्याणि भवेयुस्तानि तानि सर्वाणि त्यज्जघ्यानीत्यपि, वानप्रस्थाश्रमे—‘स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादान्तो मंत्रः समाहितः । दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ।’ ६ । ४८ इत्यादिभिः श्लोकैः । पारिव्रज्ये—‘सन्न्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानुपानुदन् । नियतो बंदमभ्यस्य पुत्रधर्यै सुखं वसेत्’ ॥ ६ । ६५ ॥ एवंविधैः श्लोकैः । केचन सन्न्यासिनां स्वाध्यायादि-सर्व-कर्म-सन्न्यासमाहुस्तदसत् । ‘अनाथितं कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निरनचाक्रियः’ ॥ गीता । ६ । १ ॥

‘यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्’ । १८ । ५ ॥ ‘नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥ मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः’ । १८ । ७ ॥ इत्यादिभ्यः श्रीकृष्णवाक्येभ्यः । अप्रसङ्गादिदामिह न सम्यह-मीमांसि ॥

इत्यादि श्लोकों से न केवल गृहस्थों के लिये स्वाध्याय का ही विधान करते किन्तु स्वाध्याय-के विरोधी जो २ कार्य हों वे स्वाध्याय की रक्षा के लिये उन सब का परित्याग करना विहित करते हैं । वानप्रस्थाश्रम में—(३) ‘स्वाध्याये नित्य-युक्तः स्यान्’ इत्यादि श्लोकों से । और सन्न्यासाश्रम में—(४) ‘सन्न्यस्य सर्वाणि कर्माणि’ इत्यादि श्लोकों से । इस प्रकार चारों आश्रमों में स्वाध्याय की विधि

मनुजी कहते हैं । कोई सन्न्यासियों के लिये स्वाध्याय आदि सब कर्म का परित्याग कहते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि “अनाश्रितः कर्मफलम्” इत्यादि श्रीकृष्ण के वाक्यों से सिद्ध है कि स्वाध्याय आदि कर्म वे अवश्य करें । ये त्याज्य नहीं हैं । इन प्रमाणों से बुद्धिमान् मनुष्य अनुमान कर सकता है कि स्वाध्याय के ऊपर कि-तना जोर दिया गया था । जतक वैसा स्वाध्याय यहाँ रहा तब तक बड़े-बिबेकी हुए । जब चहा से अ-यत्र स्वाध्याय चला गया तब यहाँ ही बिबेकी जन उत्पन्न होने लगे । इस अवस्था में जिन्होंने स्वाध्याय का कुत्सेक अश को भी पाया वे अवश्य बिबेकी हुए । इस हेतु स्वाध्याय २५५ विवोकोत्पत्ति में उक्त कारण है ।

स्वाध्यायस्य हानिकारं वस्तु ॥

अहो पुरोभांगिता भारतहनकस्य । स्वाध्याये ह्यपि विवेकविरोधिनः धाव्यन्ते भूयिष्ठाः कुर्मस्काराः । ते च शिशूनां वर्णिनामन्तःकरणं प्रविश्य निघ्नन्ति । तद्यथा—अविवेकिन आचार्याः शिष्येभ्यः व्याकरणस्य चतुर्दशसूत्री नृत्पतो महेश्वरस्य ढक्कातो निर्गता न केनचिन् मनुष्येण प्रणीता । साक्षाद्दिनमण्डिरेव रूपान्तरं विधाय उद्योतिःशास्त्रं मनुष्यान्ध्यापयद् अन्यथा कः खलु पृथिवी गोचरो भूत्वा ग्रहादीनां मानगमनादि वेत्तुं समर्थः स्यादित्येवमाद्याः प्रभूताः कुर्मस्काराः सर्वेषु शास्त्रेषु बालकेभ्यः शिक्ष्यन्ते । ते चाचार्यमुखान्छुत्वा तान् सर्वान् अवितथानेन मन्यन्ते । तैरपि स्वाध्यायेभ्यः, इत्यन्वपरम्परा अद्यापि न निवृत्ता । तथा चामाणकः—“अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे” स्यादेतत् । परम्परं भाषन्ते च देवानामेताः कृतयो न वयं मनुष्या ग्रन्थान् निर्मातुं पागविष्यामः । यदि वा श्रीभगवत्पाराधिता मसन्ना स्यात्तर्हि तद्वरप्रसादेन कदाचिद्वयमपि तत्कार्यं सम्पादयेम आगच्छत भगवतीमेवाराधयेम किमध्ययनेन देवतानुग्रहविरहिणा । इत्यमनेके स्वाध्यायं विहाय देव्याराधनेनापि फलमलब्ध्वाऽन्ते चोन्मता जायन्ते । अपरे तु अर्थापन्तोऽपि अस्मत्सामर्थ्य-चिह्नैर्भूतं ग्रन्थादिप्रणयनमिति मत्वा सर्वदोदासतेतमम् । केचन सम्प्रति केवलं पुण्यायैव ग्रन्थान् प्रत्यहमावर्तयन्ति न ज्ञानाय नान्योपदेशाय च किं बहुना अद्यतनी स्वाध्याय-शैल्यः विवेकस्याने मौढ्यमेव जनयति यदि मचलिता संस्कृतस्वाध्यायशैली एवमेव स्यास्यति तर्हि न विवेकोदयस्य प्रत्याशा ।

आश्चर्य की बात है कि यह हत भारतवर्ष दोष ही देखता है क्योंकि स्वाध्याय में भी विवेक विरोधी बहुत कुसंस्कार सुनाये जाते थे वरुचे ब्रह्मचारियों के अन्तःकरण को पैठ कर नष्ट करते हैं। वे अभिनेकी आचार्य कहते हैं कि व्याकरण के ये चौदहों सूत्र नृत्य करते हुए महादेव की ढक्का से निम्नले हैं किसी मनुष्य ने नहीं बनाए। साक्षान् सूर्य ने ही अन्य रूप धारण करके ज्योतिःशास्त्र मनुष्यों को पढ़ाया, अन्यथा कौन पृथिवीस्थ हो महादिकों के मान और गमनादि जानने में ममर्थ हो सकता इस प्रकार के बहुतसे कुसंस्कार सब शास्त्रों में बालकों को सिखलाते हैं। वे वरुचे आचार्य के मुख से सुन कर उस सब को सत्य ही मानने लगते। वे अपने शिष्यों को सिखाते। इस प्रकार आज भी वह अन्धपेरम्परा निवृत्त न हुई। यहां एक आभास है कि अन्धे को पकड़ कर चलता हुआ अन्धा जैसे पद २ पर गिरता पड़ता है ऐसी ही दशा इन शिष्यों की है। अच्छा जो हो। वरुचे परस्पर कहते हैं कि ये सब शास्त्र देवों की रचना है। हम मनुष्य हो के बैसे ग्रन्थों को बनाने में कदापि भी समर्थ न होवेंगे अथवा यदि यह देवी आराधित होने पर प्रसन्न हों तब उनके घर के प्रसाद से कदाचिन् हम भी यह कार्य कर सकें। इस हेतु आओ हम संयं भगवती की आराधना करें। देवतानुग्रहरहित अध्ययन से क्या प्रयोजन ? इस प्रकार अनेक बालक स्वाध्याय को छोड़ देवी की आराधना करने लगते हैं। यहां पर भी फल न पाकर अन्त में उन्मत्त हो जाते हैं। अन्य पुरुष पढ़ते हुए भी हमारे मा-मर्ष्य से ग्रन्थादि प्रणयन बाहर है यह मानकर सर्वदा उदास ही रहते हैं। कोई आज कल केवल पुण्य के लिये ग्रन्थों की प्रतिदिन आशुति किया करते हैं, ज्ञान और उपदेश के लिये नहीं। बहुत क्या कहें आजकल की स्वाध्यायशैली भी विवेक-स्थान में मूर्खता ही उत्पन्न करती है। यदि प्रचलित संस्कृत स्वाध्याय शैली अर्थ भी ऐसी ही रहेगी तो त्रिकोण की प्रत्याशा नहीं है।

आप्तनिर्णय-प्रमाणता ॥

ननु इमे कुसंस्कारा, इमे सुसंस्कारा, इमे ग्राह्या, इमे हेया इत्यत्र केनोपा-येन केन प्रमाणेन वा निर्णयान्तं वयं प्रतिपत्स्यामहे ? इत्यत्रापि विवेक एव हेतुः। स्वातन्त्र्येण परस्परसंवादश्चापि निरपेक्षाणां लोकहितपिणां परीक्षाणां च सत्यमसत्यञ्च निर्णेष्यति। यद्यप्यत्रापि नैकान्ततो निर्णयः संभवति। मनु-

व्यवृद्धिपरिच्छिन्नत्वात् । नहि सर्वः सर्वं जानाति तथा च बहुला ईश्वरीयविद्या
इदानीमपि वेदेषु प्रकृतिषु च गुप्ता अविदिततया स्थिता दृष्टाः प्रत्यहं नवनवा-
विष्कारोभवलैल्लोकेषु दृश्यते । तथापि निजसामयिकमत्यवधिनिर्णयो भवितुम-
र्हति । अनागताः पुनः स्वाधिया यथाज्ञानोदयं निर्णयन्ति ।

ननु अनया विचलितया व्यवस्थया सर्वव्यवहारोच्चेदमसङ्गः स्यात् ।
कथमिव-प्रथमं तावन्न सवेः सर्वस्मिन्ब्रूहधाति य एव केषांचित्पूज्यास्त एवेव-
रेषां व्यतिक्रमणीयाः । न प्रत्यक्षेण नानुमानेन वा धर्मोऽप्युपगमः । रूपाद्यमा-
वाक्यायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरो लिंगाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् । अतोऽत्र शब्द
एवाश्रयितुं शक्यते तेन व्यवस्थापि स्थिरत्व माप्ता मुखाकरिष्यति । स्यादे-
तत् । कथन्तुशब्दैर्विवादोपशमः । शास्त्रकृतां प्रसिद्धमाहात्म्यानां कपिलकण-
मुक्प्रभृतीनामपि हि परस्परविप्रतिपत्तयो दृश्यन्ते ।

अतः “कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का ममा” इति न्यायेन विवा-
दविषयीभूतत्वाच्चब्दानां तत् प्रामाण्यमस्वीकुर्वन्तो वयं तावद् ब्रूमः कश्चित्
कालं परीक्षकाणामाप्तानां बुद्धावेव तिष्ठेत् । नन्वस्मिन्पक्षेऽपि बहुविवादोत्पा-
नावसरः कुनः कस्याऽऽन्यस्य सिद्धान्तमनुमोम कपिलस्य कणादस्य वा मनो-
र्याज्ञान्वयस्य वा बुद्धस्य शङ्कराचार्यस्य वा आधुनिकानामाप्तानां वा । अन्य-
च्च-यः कश्चिद्विषयो बुद्धिमद्भिः स्थाप्यते स एव बुद्धिमत्तैर्व्युत्पाप्यते इतरेः
कश्चिद् बुद्धिमत्समैश्च बालविचारोपममिति परिहृष्यते युक्तिभिरुपपत्तिमिथ्य शतेन
खण्ड्यते अतः शब्दगम्येऽर्थे वा शङ्कां कृया इत्यस्माकं राद्धान्तः सौष्ठवः ।
सत्यमेतत् । तथापि विवादप्रशमनार्थमेवैष पन्था अंगीक्रियते ननु विवादविहृ-
द्धयै । शब्दानां प्रामाण्येऽभ्युपगम्यमाने सत्येव “बुद्धिकामेया पलायमान आ-
शीविषममुख निपातितः” इति न्यायं चरितार्थं करिष्यामः । तथाहि-सर्वे साम्प्र-
दायिकाः सूर्यान्धकारवत् परस्परविरुद्धमपि स्वस्वमतमागमैः प्रमाणयन्ति ।
यत्र मद्यपानं स्मृतिकारा महापातकेषु गणयन्ति तत्र तान्त्रिकास्त्वदेव पुण्यमा-
मनन्ति इत्थं वैष्णवता त्रिकादीनि मतानि परःसहस्राणि परस्परविरुद्धानि दृष्ट्वा-
पि कः परीक्षको ब्रूहस्पतिबुद्धिरपि आगमैर्निर्णेतुं शक्नुयात् । अतः सर्वानित-
रशब्दान् विहाय वेदोपदेशमनुमरता न विवादावसर इति यौष्माकीनं वचोव-

यमपि स्वीकुर्मस्तथापि परस्परविरुद्धव्याख्याभाष्यादिभिर्वेदार्थानामावृतत्वेन निर्णयामंभवाच्च तदङ्गीकुर्मः । तद्यथा—जीवच्छरीरदाहमस्वीकुर्तां शिरांसि श्रीगामानुजीया “अतःउतनू”रिति मन्त्रं प्रमाणयन्तश्चूर्णोक्तिरिष्यन्ति । मद्यपाः खलु “स्याद्दीं त्वा स्वादुना तीव्राम् । यजुः ० १६ । १ ॥” “आसन्दी रूपं राजासन्धै वेद्यै कुम्भी सुराधानी । यजुः १६ । १६ ॥” इत्यादीन् मन्त्रानुपन्यस्यन्तः सुरापान-निषेधकानां कां दशां गमयिष्यन्तीति न जाने । किं बहुना—स्वार्थसाधनतत्परैः सम्प्रति वेदार्थोऽपि कदर्याकृतः । अत इहाप्याप्तानां परीक्षकाणां बुद्धि-विचारादिव्यतिरेकेण न किमपि शरणम् । अतो ब्रूम आप्ता एवाश्रयितव्याः । ये च स्वसमये बुद्धिमत्तमत्वेन सर्वैर्गृह्यन्ते त एव निर्णेतृत्वेन नियोज्य-ध्याः । ते च सम्यक् परीक्ष्यावश्यं वेदानेव धर्म-निर्णयिकान् वक्ष्यन्ति । यत ईश्वरोक्तत्वाद् वेदेषु न कश्चिद् भ्रमः । न च तर्कप्रतिष्ठास्योकारेण वेद उच्छेदं प्राप्स्यतीति मयं कार्यम् । न हीश्वरात्कोप्यधिकस्तार्किकः । परःसहस्रा अपि तार्किका एकमप्यर्थं वैदिकं प्रत्याख्यातुं न समर्थाः ।

प्रश्न—ये कुसंस्कार, ये सुसंस्कार, ये माह्य और ये त्याज्य हैं इस विषय के निर्णय के अन्त तक हम किस उपाय वा प्रमाण से पहुँचेंगे ? (उत्तर) यहां पर भी विवेक ही हेतु है और निरपेक्ष लोकहितैषी परीक्षकों का सवाद भी सत्य और असत्य का निर्णय करेगा । यद्यपि यहां पर भी सर्वथा निर्णय संभव नहीं । क्योंकि मनुष्य की बुद्धि परिद्विष्ट है । सब कोई सब नहीं जानता और अनेक ईश्वरीय विद्याएँ अब भी वेशों और प्रकृतियों में गुप्त और आविदितरूप से स्थित देखी जाती हैं । क्योंकि प्रतिदिन नूतन नूतन आविष्कार शोधों में हो रहे हैं । तथापि अपने समय की बुद्धि की सीमा तक निर्णय हो सकता है और भाषी पुनः अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय कर लेवेंगे । प्रश्न—इस विचलित व्यवस्था से सध व्यवहार का उच्छेद हो जायगा । कैसे—पहिले तो सब सब में श्रद्धा ही नहीं रखता और जो ही किन्हीं के पूज्य हैं वे ही अन्यो के अपूज्य हैं । प्रत्यक्ष वा अनुमान से धर्म की सिद्धि नहीं क्योंकि रूपादिक के अभाव से वह प्रत्यक्षगोचर नहीं । चिह्नादिक के अभाव से अनुमानादिक का भी गोचर नहीं इस हेतु यहां शब्द का ही आश्रय लेना उचित है इसमें व्यवस्था भी स्थिर हो सुखकारिणी होगी । उत्तर—ऐसा हो परन्तु शब्दों से विवाद की शान्ति कैसे हो सकती है क्योंकि शास्त्र के रचनेवाले जिनका

माहात्म्य जगत् में प्रसिद्ध है ऐसे कपिल कणाद आदिकों का भी परस्पर विवाद है।

इस हेतु “कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा” * इस न्याय के अनुसार शब्द-प्रमाण को विवाद विषयीभूत होने से उसकी प्रमाणता को न स्वीकार करते हुए हम कहते हैं कि कुछ काल आप्त परीक्षकों की बुद्धि के आश्रय में रहें। प्रश्न-इस पक्ष में भी बहुत विवादों के उत्थान का अवसर है क्योंकि जिस किसी विषय को बुद्धिमान् स्थापित करते हैं उसमें उनमें अधिक बुद्धिमान् मिथ्या घतला देते हैं और उनसे भी अधिक बुद्धिमान् “यह धालक का विचार है” इस प्रकार हँसते हैं अथवा सैकड़ों युक्तियों और उपपत्तियों में खण्डन करते हैं। इस हेतु कहते हैं कि जो केवल शब्दगम्य विषय है उसमें शङ्का नहीं करनी चाहिये। यह हम लोगों का अच्छा सिद्धान्त है। उत्तर-हा सत्य है तथापि विवाद के प्रशमेनार्थ ही इस मार्ग को स्वीकार करते हैं न कि विवाद की विवृद्धि के लिये। शब्दों की प्रमाणता के अगीकार करने पर ही “वृश्चिकभिया पलायमान आशीविषमुजे निपतितः” इस न्याय को हम लोग चरितार्थ करेंगे, क्योंकि सगरी साम्प्रदायिक सूर्य और अन्ध-कारवत् परस्पर विरुद्ध रहते भी स्व स्व मत को आगमों (शब्दप्रमाणों) से प्रमाणित करते हैं। देखो-जहा स्मृतिकार मंथपान को महापातकों में गिनते हैं वहाँ तांत्रिक उसको पुण्य मानते हैं। वैष्णव तान्त्रिक आदि परस्पर विरुद्ध सहस्रों मतों को देखकर भी कौन परीक्षक वृहस्पति बुद्धिवाले भी शब्दप्रमाणों से निर्णय करने में समर्थ होंगेंगे। यदि ऐसा कहो कि सकल अन्य शब्दों को छोड़ वेदोपदेश के अनुसरण करनेहारे को कोई भी विवादावसर नहीं होगा तो यह कहना सर्यथा प्राज्ञ है हम भी स्वीकार करते हैं तथापि इससे निर्णय होना सम्भव नहीं क्योंकि वेदों के अर्थ परस्पर विरुद्ध व्याख्यानादिकों से आवृत हो रहे हैं। देखो, रामानुजीय सम्प्रदायी “अतत्ततनूः” इस मन्त्र को प्रमाण में देते हुए जीवित शरीर के दाह को न स्वीकार करनेहारे पुरुषों के शिरों को चूर्ण चूर्ण कर देंगे। इसी प्रकार मधपायी

* यदि (कपिलः) सांख्यवर्त्ता कपिल महर्षि (सर्वज्ञः) सर्वज्ञ ये ऐसा स्वीकार करें तो (कणादः) वैशेषिक शास्त्रवर्त्ता कणादश्चपि (न+इति) सर्वज्ञ नहीं ये इसमें (न+प्रमा) क्या प्रमाण है अर्थात् एक को अच्छा एक को न्यून मानने में कोई युक्ति नहीं हम अवस्था में कैसे निर्णय होता है ॥

जन "स्वाधीत्या" "आमन्दीरूप" इत्यादि मन्त्रों को पेश करते हुए सुरापान के नि-
पेयकों को किम दशा को पहुंचावेंगे मैं नहीं कह सकता । बहुत क्या कहें । आज-
कल वेद का अर्थ भी कथ्य कर रक्खा है, तब कैसे निर्णय हो । इस हेतु यहां पर
आत परीक्षकों के बुद्धि विचारण के अतिरिक्त शरण नहीं है । इस हेतु हम कहते
हैं कि आत लोग ही आश्रयिन्य हैं । जो आत अपने समय में परमबुद्धिमान् करके
सब लोगों से स्वीकृत हैं उनको ही निर्णय के लिये नियुक्त करो । अच्छे प्रकार प-
रीक्षा करके वे अवश्य ही वेदों को ही धर्मनिर्णायक मानेंगे क्योंकि ईश्वरोक्त होने
से वेदों में कोई भ्रम नहीं होसकता । यदि ऐसा कहो कि तर्क की प्रतिष्ठा स्वीकार
करने पर वेद नारा को प्राप्त होगा । इस हेतु तर्क को हम स्वीकार नहीं करते । मैं
कहता हूं ऐसा मत करो, क्योंकि ईश्वर से बढ़कर कोई तार्किक नहीं । सहस्र
तार्किक मिलकर भी वेद के एक अर्थ का भी प्रत्याख्यान नहीं कर सकते ॥

ननु "नैपा तर्केण मतिरापनेया मोक्षान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" "कोऽद्वा वेद
क इह प्रवोचत्" "इयं विस्मृतिर्यत आबभूव" "अचिंत्याः खलु ये भावा न तां-
स्वर्केण योनयेद् । प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्" । इत्येवमादि-
भ्यः श्रुतिस्मृतिभ्यः केवलेनाऽऽगमेन बोधे वस्तुनि तर्को नाऽऽदर्शव्य इति सर्वे-
पामाप्तानामपि स्वीकारात्कथं धर्म-विषये तर्काग्रहः । अभिहित-वचनानि शुष्क-
तर्कान् निवारयन्ति । अन्यथाऽऽशक्यो हि निर्णयः सम्पत्ति बहुशोऽबोचाम अत
आप्ताः सद्भिस्त्वर्कैर्यत्किमपि निर्णयन्ति तदितरैः स्वीकर्तव्यमिति न व्यवस्था-
यां विचलनं किमपि । इममर्थमिदानीं प्रचलितभाषायां निबध्नामि तत्रैव दृष्टव्यम् ।

शङ्का (नैपा०) यह बुद्धि तर्क से दूर नहीं होमकनी है (को०) कौन जा-
नता है कौन व्याख्यान कर सकता है कि यह निश्चित सृष्टि कहाँ से हो गई । (अ-
चिन्त्याः०) जो अचिन्त्य पदार्थ हैं वहाँ तर्कों को न लगाया चाहिये । इत्यादि श्रुति
स्मृतियों से केवल आगम बोध्य वस्तु में तर्क का आदर नहीं करना चाहिये । यह
सब आप्तों को स्वीकार होने से धर्म विषय में कैसे आप तर्क का आग्रह करते हैं ।
सनर—मुनो, कथित वचन शुष्क तर्क का निशरण करता है अन्यथा आजकल
निर्णय नहीं होमका यह वाग्म्वार हमने कहा है । इस हेतु आत पुरुष सन् तर्कों
से जो कुछ निर्णय करे उसको अन्य लोग स्वीकार करें ऐसा करने पर व्यवस्था में
कोई विचलन नहीं होगा ।

बहुत से बुद्धिमान पुरुष कहते हैं कि धर्म और शास्त्रों में भेद है । धर्म में न कोई तर्क बितर्क और न आधुनिक आत्मा की प्रमाणता, किन्तु शास्त्रों में ये दोनों बातें स्वीकृत हैं अतएव अपने पद्धतियों में तर्क और युक्तियों का महासमुद्र तरङ्गायमान हो रहा है और जिनका सिद्धान्त इन दोनों से सुपुष्ट है वे ही परम मान्यगण्य हैं । शास्त्रों में ही “वक्तरोत्तरमुनीना प्रामाण्यम्” की भी घोषणा है । धर्म की ऐसी व्यवस्था नहीं । उत्तर-इस पर इसना मुक्त को लिखना पड़ता है कि यद्यपि आर्यावर्त की यह व्यवस्था नहीं । यद्वा शास्त्रों के ऊपर ही धर्म स्थिर है । शास्त्र इसके अंग माने गये हैं । मैं पूछता हू कि जो बात तर्कों से, बितर्कों से, विविध युक्तियों और उपपत्तियों से अथवा शास्त्रों से मिथ्या समझी जाय क्या उसका मानना कदापि धर्म समझा जायगा ? नहीं । सत्यता ही का नाम धर्म है । वस्तुगत धर्म ही का नाम सत्यता है यदि कहो कि शास्त्रों वर्राजिकों से स्वर्गादिकों की कदापि भी सिद्धि न होगी तब इसके विधायक सकल धर्मप्रन्य मिथ्या ठहरेंगे । इसका क्या उत्तर है । उत्तर-ये मिथ्या ही हैं । कोई बुद्धिमान इसको नहीं मानता । रोचक और भयानक बातें प्रकृति के लिये कही गई हैं । यदि धर्म में तर्क आदिकों को आदर न होता तो सृष्टि की आदि में से आजतक एक ही संप्रदाय रहता आज भी सहस्रों सम्प्रदाय चल रहे हैं । बहुतसे पुरुष यह शङ्का करेंगे कि तब पुरातन ऋषियों की बड़ी अप्रतिष्ठा और उपेक्षा होती जायगी । यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि सत्यता सर्वदा एकरस रहती है । चिरन्तन ऋषियों ने जिस सत्यता को देखा आज भी आज उसको देखते और देखेंगे । सर्वदा से हाथी को सूझवाला कहते आए । किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं हुआ । धर्मरस्तु भी इर्म प्रसार प्रत्यक्ष है पुनः ऋषि लोग ईश्वरीय पुस्तकों की महायता से सत्यता को स्थिर करते आए तब हम में व्यवस्था-भेद कैसे हो सक्ता । यदि कहो कि प्रत्यक्ष भेद का अपलाप कैसे करें कौन महा-पुरुष शाक्त और वैष्णव की, आधुनिक वेदान्त और न्याय की एकता सिद्ध करसक्ता है । अज्ञानरुत ये सारे भेद हैं जो आज ईश्वरीय ज्ञान को अपना अस्त्र बनायेंगे उन में कोई भेद उतना नहीं होगा । ईश्वरीय ज्ञान वेद और यह सृष्टि है । इन दोनों में कोई भेद नहीं । बुद्धिमान् जन इस को विचारें वेदों और सृष्टि के पदार्थों के जानने के लिये परिश्रम करें तब देखेंगे कि ये दोनों एक ही वस्तु हैं । सृष्टि के तत्त्वविषयों को ही आज कहते हैं । सृष्टि और वेद दोनों ही ईश्वरव्युत्पन्न हैं तब आज

पुरुष कैसे इन दोनों में भेद लगा सकते । अतः आत्मा की प्रमाणात्ता स्वीकार करने में कोई छति नहीं । अलमतिविलसरेण विवेकिपुरुषेण ।

आत्मनिर्भरतायां अभावः ॥

सर्वेषु कार्येषु कृतविद्यानामधीतप्रवृत्तिविलासानां पञ्चरहितानां मनीषिणा-
मात्मनिर्भरतैव सर्वनिर्णेत्री । बहुशतवर्षेभ्यो भारतवर्षीया आर्या नात्मानं स्व-
कीयमध्यासते । अतस्तेषां बुद्धिः सर्वपैव मन्दायिता । अन्तर्गन्तव्या क्रियन्तो
जना आत्माऽऽदेशानुकरणे प्रयतमाना अपि पश्चात्तु स्ववर्णैर्वा स्वग्रामीणैर्वा
स्वजानपदैर्वा देशिकैर्वा बाध्यमाना नाऽऽविचारान्तं स्वातन्त्र्यं लंभिरे । ततस्ते
किञ्चिदिव विपर्यस्य परिग्रम्य वा प्रचलितसिद्धान्तमेव स्थापयामासुः स्वस-
म्प्रदायम् । अत्र रामानुज-रामानन्द निम्बार्कादयः प्रमाथम् । केचन समन्ता-
दिप्रकीर्णान् कुर्मस्कारान् समुन्मूलयितुं मेहताः । तेषां मतन्तु प्रचलितानि मता-
नि अपेक्ष्य साधूयोऽप्यत्रन्यास्त्रैवर्णिका नोररीचक्रुः । अत्र कबीराननकादय
उदाहरणम् । गतेषु कालेषु एतेषामपि मतकुल्याः पौराणिक-व्यामोहाब्धि निप-
तिताः । अतोऽत्रत्येतिहासपर्यालोचनेन स्थिरीक्रियते यत् प्रविरला एवात्मनिर्भ-
रत्वस्य महिमानं विदांचक्रुः । अतएव निकृष्टमपि नीचमपि वेदविरुद्धमपि स्व-
बोधेनापि विपरीतमपि गतानुगमनमेव रुरुचेऽत्रत्येभ्यो जनेभ्यः । जातोऽस्य
महोभयङ्करः परिणामः । अनेनैव कारणेन ईदृशी कर्तव्याकर्तव्यविचारविमूढा
वातुला मतिरुत्पन्ना यदाऽऽहता निपतिता इदानीमपि नोत्पातुं शक्नुवन्त्यार्या
धात्योत्पत्तिता महादृष्टा इव । अत्र पञ्चपाणीभान्युदाहरणानि येषां भवणमपि
हृदयविदारकं सताम् ।

आत्मनिर्भरता का अभाव ॥

- कृतविद्य, प्रवृत्तिविलास के अध्ययनशील और पञ्चरहित मनीषियों की आत्म-
निर्भरता ही सब कार्यों में निर्णय करनेहारि होसकती है । दो तीन सहस्र वर्षों
से भारतवर्षीय आर्य अपने आत्मा के ऊपर निर्भर नहीं हैं । अतः इनकी बुद्धि
सर्वथा मन्द होगई । बीच २ में कितने ही मनुष्य आत्मा के आदेश के अनुसार
चलने में यत्नवान् हुए । परन्तु पश्चात् अपने वंशजों से वा अपने ग्राम के रहनेहारों

से वा अपने जानपदों से वा देशवासियों से बाध्यमान और निवार्यमाण हो अपने विचार के अन्ततक स्वतन्त्रता को उन्होंने न पाया, तब प्रचलित सिद्धान्त को ही विज्ञित् उलट पलट कर अपने मन्त्रदाय की स्थापना की। इसमें रामानुज, रामानन्द, निम्बार्क आदि प्रमाण हैं। कोई सर्वत्र विस्तीर्ण हृत्संस्कारों को जड़ से उखाड़ने में प्रयत्न करने लगे। उनका मत प्रचलित मतों की अपेक्षा साधु भी था तथापि यहाँ के त्रेयणिकों ने स्वीकार नहीं किया। इसमें कबीर, नानक आदि उदाहरण हैं। बहुत काल व्यतीत होने पर उनकी भी मृतरूप कृत्रिम पौराणिक व्यामोहरूप समुद्र में डूब गई। इस हेतु यहाँ के इतिहास की पर्यालोचना से स्थिर किया जाता है कि बहुत कम पुरुष आत्म निर्भरता के भविष्य को जानते थे। यहाँ के लोगों ने निरुद्ध भी नीच भी वेदविरुद्ध भी अपने बोध से विपरीत भी "गतानुगमन" को ही पसन्द किया। इस का बड़ा भयङ्कर परिणाम हुआ। इसी कारण से यहाँ ऐसी कर्तव्याकर्तव्यविमूढ़ वातुला (पगली बायु से आहत) मति उत्पन्न हुई और बघरडर से उलाड़े और गिराये हुए महापुरुष के समान जिससे आहत और नीचे गिर कर अब भी आर्यों को छठने की शक्ति नहीं है। इस विषय में पाच हज़ार उदाहरण हैं। जिन का श्रवण भी सज्जनों के हृदय का विदारक है ॥

प्रथमं निरपराधानां जीवन्तानां विधयानां काष्ठादिबन्धनैः बलात् प्रवेपः।
 चक्षैः प्रन्दतामात्मशिक्षणां कार्यसिद्ध्याशया देवतायै समर्पणेन, गङ्गाद्यानां
 नदीनामम्भसि प्रवाहेण तथा चैरविधेभ्यो ग्रामादिदेवैश्च प्रदानेन बालहत्याकुरणम्।
 विचादभीत्या पुत्रीहत्या। एकस्मै वराम कन्याशतप्रदानम्। पापाण्य-
 शिवादिमूर्तिभिः सह कन्योद्वाहनम्। पर्वताभिषेकान्महनम्। काशीप्रभृतिती-
 र्थस्थानेष्व्वात्महत्या किमत्र बहुवच्यं नितान्तनिरुद्धमपि लिङ्गभगादिपूजनं सर्वत्र
 प्रचारितं महाधूर्तैः। इत्येवंविधाः परःसहस्रा अननुष्ठेया वेदेषु काप्यदृष्टाः क्रिया
 अपि कृतवन्तः। ईदृशनिन्द्यतमक्रियानुष्ठानाय न केवलं स्वामिमममेव प्रकाशया-
 मासुः किन्त्वत्र वसिष्ठशर्क्यं नारदवचनञ्च प्रमाणम्, अत्र साक्षात्पराशरो विधिं
 करोति, अत्र स्वयमेव श्रीकृष्णः श्रीरामश्चोपदिशति, इत्येवंविधानां प्रामाण्य-
 काना नाम्ना बहून् ग्रन्थान् विरचय्य जगद् वञ्चयामासुः। इमे कितना मूढा
 मन्दमतपो निर्दयाः प्रस्तरहृदयाः स्वार्थसाधनपारवश्येन नाजीगणन् महापात-
 कानि, नान्वकार्ष्यश्चिचरितानि, नात्राधुर्देवचांसि, अमृष्टहन्नाधितान् धर्ममी-

रुन् मुग्धान् भारतवासीयान् । इमे अत्याचारा न वैविदपि दौर्ज्ञनिवारिताः ।
धर्माभिधानेन यानि यानि पातकानि कर्तव्यः पाटञ्चर्यं सचरितानि तानि
तानि समधिकृष्टानि भूत्वा विनेष्टुरूपम् अगाधे समुद्रामगि निमज्जयामासुः ।
आत्मनिर्भरताविरहादेव तत् सर्वं समुत्पन्नं निश्चयम् ॥

देवो, निरपराध जीती हुई विधवाओं को वा-रुन् आग्नि में फेंकना । कार्य-
सिद्धि की आशा से उच्चस्वर में चिन्ताते हुए अपने बच्चों को भी देवताओं के लिये
समर्पण करने से, अथवा गङ्गा आदि नदियों के जल में प्रवाहित करने से अथवा
ऐसे ग्रामादिदेवों को भी देने से बालहत्या करना । विवाह के भय में पुत्रियों की
हत्या करनी । एक ही घर को सौ सौ कन्याएँ देनी । पापान् शिवादिक के साथ
कन्या का विवाह कर देना । पर्वत पर से गिर कर आत्महत्या करना । कारी प्र-
भृति तीर्थस्थानों में आत्महत्या । बहुत यहाँ बसा रहना है अत्यन्त निष्ठुर लिङ्ग-
भगवत् के पूजन को भी मत्वाधूतों ने चलाया । इत्यादि सदृश अकर्मकृत्य और जित-
की वेदों में कहीं भी चर्चा नहीं ऐसी भयानक क्रियाएँ भी यहाँ के लोग करते रहे
और ऐसी क्रियाओं के अनुष्ठान के लिये न केवल अपनी सम्मति ही प्रकाशित
करते थे किन्तु यहाँ इस विषय में दृष्टि और नारद ऋषि के वाक्य प्रमाण हैं ।
यहाँ साक्षात् पराशर ही विधि करते हैं । यहाँ स्वयमेव श्रीकृष्ण और राम उपदेश
देते हैं । इस प्रकार के प्रामाणिक आचार्यों के नाम से बहुत ग्रन्थों को रचकर इन
धूर्तों ने जगत् को वञ्चित किया । मूढ़, मन्दमति, निर्दय और प्रस्तर-हृदय इन
धूर्तों ने अपने स्वार्थ साधन के परवश होकर महापातकों को नहीं मिला । ऋषि-
चरित्रों का अनुकरण नहीं किया । वेद-वचन न सुने । किन्तु आभित, धर्मभीरु,
मुग्ध भारतवासियों को मोहित किया । किन्हीं विद्वानों ने इन अत्याचारों का निवार-
ण नहीं किया । धर्म के नाम से धूर्तों और पाटञ्चर्यों ने जिन २ पातकों का संचार
किया उन्होंने अधिक दृढ़ हो विधेक-रूप पुत्र्य को अगाध समुद्र के जल में डुबो
दिया । यह सा अनिष्ट आत्म-निर्भरता के न रहने के कारण से ही उत्पन्न हुआ है ।

इमे कुलधर्मा ग्रामधर्मा देशधर्माश्च चिररात्राय प्रवृत्ताः सर्वे पूर्णैराहताः
कथमस्माभिर्हातव्याः कथमद्यतनस्य तव कथां युक्तिं वा स्वीकृत्यानेकशताब्द्या-

ऽऽगतधर्मपरिहारेण लोकेषु हास्यतां प्राप्य निन्दां शिरसि धारयेम । यदि किं पूर्वाजशो आसीदित्यनेन सर्वैरस्माभिर्धार्यमान्यमिति पृच्छन्तर्हि नायं आन्यः कणा विधाय गन्तव्यमिति भणित्वा कुध्यन्तो निन्दितुं वा योजुं वा प्रारम्भन्ते । ग्रामीणा, अपि वेदादिसन्ध्याश्रवणमधीतपञ्चग्रन्थास्तानेवानुकुर्वन्ति । ये केचन सम्यग्गर्हातिनस्तेऽपि मननव्यापारविरहितया अवुधा एव । तथा चोक्तम् । “यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् । लोचनान्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति” न हि शास्त्रपाठमात्रं काचित् जनान् विबुधयति । तादृि मननादि-शास्त्रमपेक्षते । विवेकिनाभीष्टान् निन्द्याचारान् परयतामपि आदासीन्यम् अनभिज्ञान् प्रत्युत अविवेके द्रढयति । यद्यपि बहुशो विघ्नाः सत्यतां प्रार्थयतां पथ्याऽऽगच्छन्ति । तथाप्युक्तमाः सत्यव्रता लोकाहितेऽप्यसौ न कदापि प्रमादयति स्वानुष्ठानात् ॥

ये कुल-धर्म, ग्राम धर्म, देश-धर्म वद्वत दिनों से प्रवृत्त हैं सर्व पूर्वजों से आहत होते आये हैं । हम कैसे इनको त्यागें । कैसे आज सेरी कथा वा युक्ति को स्वीकार कर अनेक शताब्दी से आते हुए धर्म के परित्याग से लोक में हास्य को प्राप्त हो निन्दा शिर पर धारण करें । इस के उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि क्या पूर्वज और ये इस हेतु हम सब को भी चोरही होना चाहिये । इस पर इस की बात सुनने के योग्य नहीं । कान बन्द कर यहां से चले जाना चाहिये ऐसा कह कुछ होते हुए निन्दा वा युद्ध करना आरम्भ करते हैं । ग्राम के रहनेहारे वेदादि सन्ध्याओं को छोड़ केवल चार पांच ग्रन्थों के अध्ययन करने हारे इन के अनुकरण करते हैं और जो कोई सन्यग् पढ़ने हारे भी हैं । ये भी मनन व्यापार के न करने से अवुध के समान ही हैं । ऐसा कहा गया है (यस्य०) जिस को स्वयं बुद्धि नहीं है उस को शास्त्र क्या करता है । लोचनहीन पुरुष को दर्पण क्या करेगा । केवल शास्त्रपाठमात्र किन्हीं मनुष्यों को विद्वान् नहीं बनाता क्योंकि वह मननादि शास्त्र की अपेक्षा रखता है । ऐसे निन्द्य आचारों को देखते हुए भी विवेकी पुरुषों की उदासीनता अनभिज्ञ पुरुषों को अविवेक में दृढ़ करती है । यद्यपि ऐसे बहुतसे विघ्न सत्यता के फैलाने हारों के मार्ग में आते हैं, परन्तु उत्तम, सत्यव्रत, लोकाहितेषु जन अपने कार्य से कदापि प्रमाद नहीं करते ।

आत्मबलोपायाः ॥

आदौ पौनःपुन्येन प्रचलितव्यवहारा अध्येतव्याः । भूयोभूयस्तेषां गुणा दोषाश्च गम्भीरया निर्जनसेवापरिष्कृतया विमलया मेधया आत्मनि मीमांसनीयाः । दैशिकाः सुप्रसिद्धाः पक्षविरहिता गुणिनश्चात्र प्रष्टव्याः । इत्यमस्यां मीमांसयां बहुकालः प्रथमं यापयितव्यः । समस्तकार्यजालं विहाय स्वकीयादर्यादपि समाधिकतरं विज्ञाय भाविनीषु सन्ततिषु स्वदेशस्य सर्वास्ववस्थासु च करुणरस-पूर्णां गम्भीरां दृष्टिं दत्त्वा चास्मिन् साध्ये सन्नद्धेन भाव्यम् । यथा रक्तः पुरुषः कामतन्मयो भवति । यथा घनलोलुपो धनार्जने रात्रिन्दिव-मुन्माद्यति । यथा योगी परमभक्तो वेश्वराराधने निमज्जति । यथा शिशुः क्रीडासक्तः पानाशनादिकमपि विस्मरति । किं धनलोभेन, निजप्राणसमर्पणपणेनाप्यस्मिन्नासज्जनीयम् । जगत्यास्मिन् नातोऽधिकं शुभं कर्म । यज्ञो नाम यदि कश्चित्सदार्थस्तर्ह्ययं महायज्ञः । यदि संसारे मक्तिरस्ति तर्ह्ययं महती गरीयसी मक्तिः, यदि वीरता स्यात्तर्ह्ययं महावीरता । यदि पुरुषकारो नाम तर्ह्यतो को वा समाधिकतरः पुरुषकारः यदीश्वराज्ञापालनममीष्टं तर्हीदमेव यत्नेन रक्षितव्यम् । वर्तमानकाले हि तेन कोटिशो जना ज्ञानोदयं समासाद्यापूर्वसुखं भुञ्जते । देशे च शान्तिप्रवाहः स्रवति । भाविनः सन्तानाः समुन्नतिसोपानाऽऽरोहणाय प्राप्तावकाशा जायन्ते । लोकाः स्वातन्त्र्यं भजमाना ईश्वरीयमहिमानं प्रति प्रवणा भवन्ति । स्वातन्त्र्यपुरःसरं विचारयन्तो विचक्षणान् नवं नवं पदार्थमाविष्कुर्यन्ति । नहि जीवात्मने स्वातन्त्र्यादन्यत् किञ्चन रोचते । यत उक्तम् “सर्वं परवशं दुःखं सर्वमत्मवशं सुखम् । इति विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः” सर्वात्मप्रत्ययप्रत्यक्षोऽयं विषयः । किमिह बहुवचनम् । अस्मादपि किमपि गुरुतरं कार्यं जगति साधनीयं मनुष्य-शरीरेणास्तीति नाहं वेदि । अतोऽत्र वियती निष्कपटता कियती स्वार्थपरित्यागिता कियती बुद्धिगम्भीरता कियती बहुमुश्रुतता कियती अध्ययनप्रवचनशीलता च आवश्यकत्वेनापेक्षितास्तीति सर्वैर्जगद्वितीपिभिश्चिन्तनीयम् । अतोऽस्मिन् मा-हल्लिके मनुष्योपेक्षितौ महाव्रते सम्यक्सम्पादनाय स्वमात्मानं दाक्षेत । नहं दिवं नैरन्तर्येणानुष्ठानं विधातव्यम् । आध्यात्मिकं भूयोभूयो मननमेवास्यानुष्ठानम् । इत्थं शान्तो जितेन्द्रियः समाहितचेताः परमोदारो निर्वैरोऽसमुद्धतो निरु-

द्वेगोऽशद्वेगोऽभय आत्मविश्वामाश्वमेधपरायणः परमास्तिवतामम्भो महात्मन्वी
 ब्रह्मवर्चस्वी भूत्वा अस्या मनुष्येष्टां प्रवर्तेत । तेन समाधिस्थेनात्मना तदा यो हि
 निर्णयः स्यात् सोऽनुमानीयः । अन्ये चापि प्रयत्नेनानुसारयितव्याः । स्थाने
 स्थाने विदुषां समितिं विधाय तदनाचारनिर्वहणं यथायेन मनसा वाचा धर्मे-
 विद्यया लोकैः सर्वथा शङ्कया प्रयतितव्यम् । न बुद्धिनिर्भयो न ग्रामीण्यभ्यो न
 दैशिकेभ्यो न राजन्येभ्यो न कस्मादापि हेतोर्विभेकस्थापनाय भेदव्यम् । स्वोदा-
 हरणान्यपि तथैव दर्शयितव्यानि । यतश्चाङ्गम् ।

परोपदेशे पाणिडित्य सर्वेषां सुदृग् नृणाम् ।

धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु मदात्मनः ।

तस्मान्मनुष्यपदेशे यथानुशास्ति तथैव स्वयोगेऽपि वर्तन्ते । अन्यथा दाम्भिक-
 त्वात् स्वयं यथेष्टाचरन्त्याश्च संपर्हयते उपदेशेषु च न श्रेयोऽभ्युदयः प्रत्युत धर्म-
 ग्लानिरुपदेष्टृषु चाश्रद्धोपवीयते । सत्येयं तदन्त्यामिष्यत्सु सर्वगुणगुम्फिते-
 षूपदेष्टृष्वपि अश्रद्धयाऽनन्तभाविकल्याणव्याघातः । तेन सा महान् पार्षाणान्
 भजति य एवमाचरति । अतो यथा उपदेशं वर्तितव्यम् । न हि भूलिङ्गन्यायं च-
 रितार्था-दुर्धता जना अविश्रान्तं लम्बयितव्यः । चरमुपदेशान्मोहनायनम् ।
 अन्यच्च—‘देशे मन्ति विचक्षणाः सर्वविधाः । ते नानुसन्ति सन्मार्गम् । कथ-
 महमेव कर्तुं वा प्रचारयितुं वा प्रयतेय । जनाश्चादाश्च शृणुयाम् । किं मदी-
 यैवोपलब्धिः । मदीया एव सर्वे फलानां भोक्ताः । अतः किमेतन् जनहृदि-
 विपरीतेन कलहिना बहुलप्रयासेन’ इति विचार्य नोदानितव्यम् । अनेन हि
 देशे हानिरुपजायते । पुरुषकार एव मनुष्यतां धरयति । कदाचिदिदमपि दृष्टं
 यत् प्रथमं प्रजा अनुपूर्वविषयं ग्रहीतुं बोद्धुम्भ्या न शक्नुवन्ति, अतः हृष्यन्ति,
 उपदेष्टारं मस्तरत्नोष्ठादिकं प्रक्षिपन्ति, लघुङ्गैः प्रहरन्ति, वानरैः विभीषिकां दर्श-
 यन्ति, कदाचिद् गुप्तस्थाने घातयन्त्यपि । सर्वमत्याहितं कर्तुं धर्मासाध्या-
 स्तेदा प्रयतन्ते । परन्तु शनैः शनैर्वोध्यमानास्त एव चरणयोः पूजयन्ति । मृते
 च तस्मिन्नुपदेष्टरि “अहो अपोद्धारो ज्ञानलवहुविदग्धा यय न तं महात्मानं
 लोकोत्तरमिति पार्थिवेभ्यो बहु मिलिष्य तदीयसिद्धान्तं सहैव गृह्णन्ति लोकाः ।
 अतः मयाभिमन्यावोपदेष्टव्यं न च जनमनसां विनोदाय । अतो विवेकोत्पा-
 दाय बहुधा चेष्टितव्यम् । माणपणेनापि सर्वं साधनीयम् ।

आरं वलोपाय

प्रथम प्रचलित व्यवहारों का पुनः अध्ययन करे और उन के गुण दोषों की गम्भीर, निर्जनमेया में परितः कृत और विमल बुद्धि से चारम्बार मन में मीमांसा करे। देश के रहने हारे सुप्रसिद्ध और पञ्चरहित गुणिजन भी इस में प्रवृत्त हैं इस प्रकार इस विचार से बहुत बाल बिलोपे। समस्त कार्य की चिन्ता छोड़ इस से निज कार्य से भी बहुत अधिक समस्त भविष्यत् सन्तानों और देश की मन दशाओं पर पूरी दृष्टि के इस कार्य में सन्नत होवे जैसे रक्त पुरुष वामतन्मय होजाता, जैसे धनलोभी धन के उपार्जन में रात दिन डूबकर रहता, जैसे योगी या परमभक्त ईश्वर के ध्यान में निमग्न रहता, जैसे बालक निज क्रीडा में पड़ कर खाना पीना भी भूल जाता। बहुत क्या कहें, अपने प्राण को समर्पण कर इस में लग जाय। इससे बढ़कर जगत् में कोई शुभकार्य नहीं। यदि यज्ञ नाम कोई पदार्थ है तो यह महायज्ञ है। यदि ममार में कोई भक्ति पदार्थ है तो यह महाभक्ति है। यदि कोई वीरता है तो यह महावीरता है। यदि कोई पुरुषनार है तो इस से बढ़कर कोई पुरुषवार नहीं। क्योंकि इसमें वर्तमान में बोटियों पुरुष ज्ञान प्राप्त कर अपूर्व सुख का भोगते हैं। देश में शान्ति फैली है। भविष्यत् सन्तानों को दिन २ समुन्नति-सोपान पर चढ़ने का अवसर प्राप्त हो जाता है। लोक स्मृत्यन्त हो ईश्वरीय महिमा की ओर मुक्त हो स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करते हुए विचक्षण नव २ पदार्थ को आविष्कृत करते। जीव त्मा को स्वतन्त्रता से बढ़कर कोई भी पदार्थ न्य नहीं है बड़ा गया है “सय ही परवश दुःख और मन आत्मवश सुख है यही संक्षेप से दुःख सुख का लक्षण जानना”। यह विषय सन आत्मा का प्रत्यक्ष है इस में अधिक क्या कहें। मैं नहीं कह सजता कि इस से बढ़कर भी अन्य कार्य मनुष्य शरीर से साधनीय है। इस हेतु इस में कितनी निरूपयता, कितनी स्वार्थ-परित्यागिता, कितनी बुद्धि-गम्भीरता, कितनी यदुमुश्रुता और कितनी अध्ययन प्रवचनशीलता की आवश्यकता है। इस हेतु इस महान् मांगलिक मनुष्योपे यज्ञ के सम्पादनार्थ प्रथम स्वयं इस महाप्रत में दीक्षित होवे। रात्रिनिद्रा निरन्तर इसका अनुष्ठान करता जाय। आध्यात्मिक विचार ही इसका अनुष्ठान है। इस प्रकार शान्त, जितेन्द्रिय, समाहितचेता, परम वृद्ध, निर्वैर, निरुद्ध, निरुद्ध, निःशङ्क, निर्भय, आत्मविश्वासी, ईश्वरप्रेमपरायण,

परम आस्तिकतासम्पन्न महामनस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी होकर इस मनुष्येष्टि में तत्पर होवे । सब उस समाधिस्थ आत्मा से जो कुछ निर्णय होवे उसका अनुसरण करे । अन्यों से प्रयत्न पूर्वक करवावे । स्थान २ में विद्वानों की समिति बनवाकर उस अधर्म और अनाचार के नाश के लिये काय, मन, वचन, धन, विद्या, लोग और सब शक्ति से यत्न करे । न कुल के, न ग्राम के, न देशके मनुष्यों से, न राजपुरुषों से और न किसी हेतु से विवेक-स्थापन के लिये भय करे । अपना भी उदाहरण वैसा ही दिखलावे । जिस हेतु कहा गया है (कि सब कोई दूसरों के उपदेश में बड़ा पाण्डित्य लपटते परन्तु विरले ही महात्मा निज कथनानुसार धर्म के लिये अनुष्ठान करते) इस हेतु वह उपदेष्टा जैसा अनुशासन करता हो वैसा ही बर्ताव रखे । ऐसा न करने से उन को दाम्भिक और थपेष्टाचारी समझ सब कोई त्याग देते हैं । और उपदेश्य पुरुषों में श्रेय का अभ्युदय भी नहीं होता । प्रत्युत धर्म की ग्लानि और उपदेष्टाओं में अभ्रद्धा बढ़ती जाती है । ऐसा होने से उस के पीछे आने वाले सर्वगुणसम्पन्न भी उपदेष्टाओं में अभ्रद्धा के कारण अनन्त भावी कल्याण का नाश हो जाता । इस हेतु वह महान् पापी होना जो ऐसा करता है । इस हेतु निज उपदेश के अनुकूल आचरण किया करे । भूलिङ्ग (१) नामक पक्षी सम्बन्धी न्याय को चरितार्थ

(१) भूलिङ्ग नाम का एक पक्षी होता है । वह प्रायः हिमालय पर्वतीय देश में वास करता । “मा साहस कुरु” साहस मत करो ऐसी इसकी बोली होती है । परन्तु यह पक्षी स्थय सिंह के दाँत में लगे हुए मांस को निकाल निकाल कर खाता करता है । अर्थात् यह अपने कथन से विरुद्ध आचरण करता है । ऐसे ही जो जन परोपदेशमात्र में तो कुशल हैं परन्तु स्वयं जो मन में आता है सो करते हैं । ऐसे पुरुषों के लिये भूलिङ्ग पक्षी का दृष्टान्त दिया जाता है । महाभारत में इसकी क्या कई एक स्थान में आई है । समापर्व अध्याय ४३ वें में इस प्रकार है—

अथ चैषा न ते बुद्धिः, प्रकृतिं याति भारत ।

मयैव कथितं पूर्वं, भूलिङ्गशकुनियथा ॥ २७ ॥

भूलिङ्गशकुनिर्नाम, पार्ष्वे हिमवतः परे ।

भीष्म ! तस्य सदा वाचः, अयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥ २८ ॥

करता हुआ वह मनुष्यों को अविश्वासी न बनावे। इस अवस्था में उपदेश से मौन साधन अच्छा है। और भी "देश में बहुत विचक्षणजन विद्यमान हैं, वे सत्यमार्ग का अनुसरण नहीं करते, तब क्यों मैं ही उमको करने के लिये वा प्रचार के लिये प्रयत्न करूं, जनापवादों को सुनू, क्या मेरी ही इसमें उपलब्धि है। क्या मेरी ही

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल ।

साहसं चात्मनातीव, चरन्ती नावबुद्धयते ॥ २६ ॥

सा हि मांसार्गलं भीष्म, सुखात् सिंहस्य ज्वादतः ।

वन्तान्तर्विलग्नं यत्, तदादत्तेऽल्पचेतना ॥ ३० ॥

इच्छतः सा हि सिंहस्य, भीष्म जीवत्यसंशयम् ।

तद्वत्त्वमप्य धार्म्मिष्ठ सदावाचः प्रभाषसे ॥ ३१ ॥

अर्थः—यहां शिशुपाल और भीष्मपितामह का संवाद है। शिशुपाल कहता है कि भीष्म ! यह आपकी बुद्धि का दोष है पूर्व में मैंने कहा था कि जैसे भूलिङ्ग पक्षी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता है, वैसे ही आपकी बुद्धि अपनी प्रकृति को ही प्राप्त है ॥ २७ ॥ हे भीष्म ! हिमालय के एक किनारे में भूलिङ्ग नाम का एक पक्षी रहता है उसकी बोलिया अर्धविगर्हित मुनने में आती हैं ॥ २८ ॥ क्योंकि सर्वदा यह " मत साहस करो-मत साहस करो " ऐसा बोलता हुआ सुना जाता है परन्तु स्वयं इसको अत्यन्त उल्लङ्घन करता है ॥ २९ ॥ क्योंकि मांस खाते हुए सिंह के दातों में लगे हुए मांस को निकाल कर खाया करता है ॥ ३० ॥ हे भीष्म ! इसमें सन्देह नहीं कि सिंह की इच्छा से यह जी रहा है। नहीं तो उसका सब साहस क्षण में निकल जाता। तद्वत् आप भी इन राजाओं की इच्छा से ही ऐसा साहस कर ऐसी २ बात बोल रहे हैं। आपसे बढ़कर कौन अधर्म होगा। इस श्लोक पर भी ध्यान देना चाहिये—

न गाथा गायिनं शास्ति, बहुचेदपि गायति ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि, भूलिङ्ग शकुनिर्यथा ॥ महामा० समार्ष ४० ॥

कितने ही गाथा करें परन्तु गानेवाले को गाथा अनुशासन नहीं करती। प्राणी अपने स्वभाव को ही प्राप्त होता है, जैसे भूलिङ्ग पक्षी ॥

स्वजातिया हमें फलों की भोक्ता होवेंगी । उस हेतु मनुष्यों की मर्ति के विपरीत, कलहयुक्त और बहुल, चास मध्य व्यापार से क्या द्योजन ?" यह विचार कर उदासीन न होवे हमने देश में बड़ी हानि होजाती । पुत्रपत्न्य ही मनुष्यता का सूचक है । कभी यह देश गया है कि प्रथम प्रजाण अश्रुतपूर्व विषय को ग्रहण वा समझने से समर्थ न होती, अतः कोय रहती हैं, उपदेश के उपर पत्थर डेला आदि कैंकरी । ताठियों से प्रहार करती हैं, वानर के समान विभीषिका दिखलाती ; क-दचित् गुप्त खान में उसको मरवा भी देती हैं । सन प्रकार से अत्यादित (अनाचार, अनर्त्तय) करने के पार में उस समय धर्माभासान्ध होकर नहीं डरती, परन्तु शनै, शनै सम्मान पर वे ही प्रजाए उस उपदेश के चरों को पूजने लगती हैं । हमारे मरने के पश्चात् 'अहो अयोद्धा ज्ञानस्वरु दिवित्य हम लोग उस लोकोत्तर बुद्धियाले महात्मा को नहीं पहिचान मर्ती, इस प्रकार बहुत विलाप कर तदीय सिद्धान्त को सहर्ष ग्रहण करती हैं इस हेतु मर्त्य की धृति के लिये उपदेश करना ही चाहिये । मनुष्यों के मनोविनोद के लिये नहीं । उस हेतु बिरेकोत्पादन के लिये बहुत चेष्टा करे । प्राणायाम से भी इसमें सिद्ध करे ।

एतदर्थं द्रोणान्तरमपि गजजेत् । स्तेरुमेव द्रोण भगवता न्यायकारिणा धार्मिकैस्तत्त्वदर्शिभिर्गर्तृनिर्दिष्टम् । समन्नेहनत्वात् सर्वत्रैव महाभाग' जनिताः । आदेया निशस्तेभ्योऽनश्य गृहीयात् । आदाय च स्वदेशे च विस्तारयेत् । यदि तत्रैव न्यूनता तर्हि स्वर्गोपा एव निग्रास्वत्र दद्यात् । धर्मेऽपि निर्णयाद् यदुत्तम सिध्येत् । परस्परं तद् गृहीयात् । न हि सत्यत्परो धर्मः । यत्र निरद्वलं सर्वप्रमाणमिदं सत्यं विराजते तत्रैव कल्याणम् । इत्थं विनिमयेनापि देशस्य महान्मङ्गलं भवति । स्तेच्छदेशा नाभिगन्तव्या इति भीरुणामशोचोपहतचेतसां च कथाः । स्तेच्छानपि हि धर्मपरायणान् विधाय ब्राह्मणपदवीं प्रापदेदिति विदुषां धार्मिकाणां नृणाञ्च कर्तव्यता । नक्षेरुम्भिन्नेव देशविशेषे स्तेच्छा निवसन्ति । अशुद्धाचरणा निशानिनय कारुण्य-सत्यतादि-मद्गुणग्रामनिहीना हि सर्व एव स्तेच्छाः । ईदृशा स्तेच्छाः सर्वत्रैव गृहे गृहे ग्रामे ग्रामे निवसन्ति । गृह गृहमश्रितता-सत्यता चाधिरुन्ति । अनेन किं गृहमपि त्याज्यम् ? न । पृथिव्या सर्वे जनाः शिष्टाचार्योन्निषितव्या इत्येषा शिष्टानां कर्तव्यता । अत्र चाभाषकः—

“नहि भित्तुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिशीयन्ते”

“न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते”

यद्येवमुच्येत—

“अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितम् । स्थले कमलोपणं, सुचिरमूर्परं
धर्पितम् ॥ इवपृच्छमवनामितं, वधिरक्वणजापः कृतः । कृतान्धमुखमण्डना,
यदधुधोजनसेवितः” ॥

अतो म्लेच्छा अबुधास्तान् प्रति शिक्षाऽध्यापनादिव्यापाराः पूर्वोदाहरण-
ममाः । नहीदं वाच्यम् । ईदृशानामज्ञानिनां सर्वत्र विद्यमानत्वात् सर्वत्रैवोप-
देशविच्छेदप्रमङ्गः स्यात् । नहि सर्वो देशोऽगोचो भवितुमर्हति । यदि स्यादेव त-
थापि यदा पशूनपि निहगानपि शिक्षितुं वयं समर्थास्तदा मनुयान् कथञ्च म-
नुष्यान् विधातुं पारयिष्यामः । अत्र एषा सर्वा विद्य विहीनानां कथेति त्यजेत् ।
अन्यान्देशान् द्वीपान्तराणि च सर्वत्र गच्छेत् । द्वीपान्तरयात्रायां सन्ति वेदेषु
बहूनि प्रमाणानि । अन्यच्च-रघुरमादयः सर्वान् देशान् गत्वाऽजैषुः । अप्योऽ-
पि देशान्तराणि स्वगमनेन पवित्रीकृत्योपदिदिशुः । अद्यतना भारतकुलाङ्गारा
मूढधियो विदेशयात्रां निवारयन्ति । यदा ईदृशो मूढा अनधीतवेशा आवेदिता-
र्षमार्गाः प्रचलिता व्यवहारानुमोदनेन मूर्खजनाभिनन्दिनः स्वार्थान्धा मानवप्रेम-
धासनाविरहिताः पूर्वारानिचारिणोऽदीर्घदर्शिनो भारतवर्षं स्वजन्मना दूषितव-
न्तोऽपवित्रं कृतवन्तस्तदैव विवेकोऽस्माञ्चिक्कम्य द्वीपान्तरमाश्रितः ।

इतदर्थं अन्य द्वीपों में भी जावे क्योंकि न्यायकारी भगवान् ने एक ही द्वीप का
धार्मिक तथा आत पुण्यों से भरि डित नहीं किया, क्योंकि ईश्वर का सर्वत्र सम ही
स्नेह है । इस हेतु सर्वत्र महामार्गशाली पुरुष उत्पन्न हुए हैं, इनसे प्रहणयोग्य
विद्याएं अवश्य लेलेनी चाहिये और लेकर स्वदेश में उनका विस्तार करे । यदि वहां
ही-न्यूनता हो तो अपनी ही विद्याएं देवे, धर्म के विषय में भी निर्णय मे जो उत्तम
सिद्ध होवे परस्पर उसी का प्रहण करे । सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं । जहां नि-
श्चल सर्वप्रमाणमिद्व सत्य विराजता है वहां ही सर्व कल्याण है । इस प्रकार वि-
निमय से भी देश में मद्वा कल्याण होता है ” म्लेच्छ देश मे न लामा चाहिये ”

यह भीह्यों और अज्ञों की क्या है । क्योंकि स्लेच्छों को भी धर्मपरायण बनाकर ब्राह्मणपदवी तक पहुँचाना ही विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का काम है । स्लेच्छ किसी एकही देश में नहीं रहते किन्तु जिनके शुद्ध आचरण नहीं हैं और विद्या, विनय, कारुण्य, सत्यतादि सद्गुण में जो रहित हैं वे सब ही स्लेच्छ हैं ऐसे स्लेच्छ सर्वत्र पाये जाते हैं । घर २ अपवित्रता, असत्यता वास कर रही है इस हेतु क्या घर भी छोड़ देना चाहिये ? नहीं । लोगों को शिष्ट बनाना ही शिष्टों का काम है । यहाँ एक आभार है:—

“भिक्षुक के ढर से पाक करना बन्द नहीं करते वा मृगाओं के भय से गृहस्थ खेती करना नहीं छोड़ते” यदि ऐसा कहो कि जैसा “अरण्य रोदन, मृत-शरीर में छपटन लगाना, स्थल में कमलरोपण, ऊपर में घृष्टि, कुत्ते के पुच्छ को नवाना, व-धिर के कर्ण में जप और अन्ध पुरुष के मुख का मण्डन करना व्यर्थ है वैसी ही अबुधजनों की सेवा है” । जिस हेतु स्लेच्छ अबुध हैं इस हेतु इनको सिखलाना, पढ़ाना, पूर्ण उदाहरण समान होंगे । नहीं, यह बात नहीं । ऐसे अज्ञानी सर्वत्र विद्यमान हैं फिर आप कहीं उपदेश नहीं कर सकते । देश के देरा सब ही अज्ञानी नहीं हो सकते । यदि हों तब भी जन पशुपक्षियों को भी हम शिक्षित कर सकते हैं तो क्या मनुष्य को मनुष्य नहीं बना सकते । अतः यह सब विद्याविहीन पुरुषों की बात है । इसको त्यागो । अन्य देशों और द्वीपों में बराबर जाओ । इसमें वेद के बहुत प्रमाण हैं । रघु रामादिकों ने सब देशों में जाकर विजय किया । ऋषि मरु वेश में जाकर उपदेश देते थे । आजकल के भारत-मुलाहारे ने इसको रोक रक्खा है । ऐसे २ मूढ़ जब देश में उत्पन्न हुए तब ही विवेक ने भागकर अन्य देशों का आश्रय लिया ।

आत्मशक्ति:

आत्मवतां नहि किमप्यसाध्यं नाम वतते । सन्ति जीवात्मनि दिव्यगुणाः समवेताः । न वान् वयमर्थमहे न चाध्यापयामः । अतोऽपि पदे पदेऽवसीदामो मुशामथ । अप्रत्ययोऽपि अणीयानपि आत्मा महदाश्चर्यं चरित्तुमर्हति । इद-मात्मरत्नमेव पदेकोऽपि श्रीरामः पञ्चवटीमात्रितान् सर्वान् राक्षसान् इन्तुपृ-

पीणां सन्निधौ प्रतिजज्ञे । एकोऽपि महावीरः सर्वेऽपि राक्षसेषु महाभटेषु पश्यत्सु लङ्कां ददाह । एकलो जनमेजयः पारिचितः सम्पूर्णा पृथिवी व्यजेष्ट । शार्ङ्गातो मानवस्तथा । तथा—

आरम्भशक्ति ॥

आत्मवान् पुरुषों को कोई भी असाध्य दस्तु नहीं। क्योंकि जीवात्मा में बहुत गुण समयेव (मिले हुए) हैं, उनको न हम लोग पढ़ते और न पढ़ाते हैं । इस हेतु से भी पद २ में हम लोग दुःखित और मोहित होते हैं यद्यपि यह आत्मा अप्रत्यक्ष और बहुत अणु है तथापि महा आश्चर्य कार्य करने में समर्थ है । यह आत्मवान् ही है कि एक ही श्रीरामचन्द्र ने पञ्चवटी के आश्रित सत्र राक्षसों के हनन के हेतु ऋषियों और मुनियों के समीप प्रतिज्ञा की । एक ही महावीर ने महायोद्धा सर्व राक्षसों के देखते २ लङ्का को भस्म कर दिया । एक ही परिचित के पुत्र जनमेजय ने सम्पूर्ण पृथिवी का विजय किया । मनुपुत्र शार्ङ्गात ने भी । ऐतरेय ब्राह्मण में इन महा योद्धाओं की आख्यायिका पठित है । वह यह है—

“तस्माद् जनमेजयः पारिचितः सन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयाया-
थेन च मेघ्येनेजे । तदेपामिजयगाथा गीयते । आमन्दीवति धान्याद् रुक्मिणम्
हरितम्रजम् । अश्वं ववन्ध सारंगम्, देवेभ्यो जनमेजयः” ॥

उस हेतु पारिचित जनमेजय सत्र तरु से पृथिवी के अन्ततक जीतना हुआ मेघ्य अश्व के साथ लौट आया और अश्वमेध यज्ञ किया । इनकी विजय-गाथा इस प्रकार गाई जाती है (आसन्दीवति) मिहामन के निकट (धान्यादम्) धान्य खाते हुए (रुक्मिणम्) सुवर्णालङ्कार से भूषित अथवा जिसके मस्तक पर विजय-चिह्न लगा हुआ है (हरितम्रजम्) हरित वर्ण की माला से सुशोभित (अश्वम्) अश्व को (जनमेजयः) जनमेजय ने (देवेभ्यः) वैदिक आर्यों की प्रमत्तता के लिये (ववन्ध) बांधा । प्राचीन काल थी कि राजा अपने सिंहासन के निकट उस अश्व को बाधकर रखता था जिसपर चढ़कर उसने पृथिवी पर का विजय पाया है । प्राचीनकाल में वैदिकधर्म-विहीन को असुर और वैदिक-धर्मावलम्बियों को देव कहते थे ।

यवनोऽलक्ष्येन्द्रोऽपि श्रूयते प्रायः सम्पूर्णं पृथिवीं विजिनवान् । एतत्सर्व-
मात्मशक्तिविजृम्भणम् ।

यवन अलक्ष्येन्द्र (एलेगजेण्डर) ने भी प्रायः सम्पूर्ण पृथिवी को विजय विधा-
या । यह सब आत्मशक्ति का ही प्रकाश है ।

इन्द्रोऽग्राप्नोति । य आत्मवित् पुरुषः “स एकधा भवति । त्रिधा
भवति । पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव । पुनश्चैकादश स्मृतः । शतञ्च दशचैव
सहस्राणि च । विंशतिः” छा० ७-२६-२ । माध्यान्दिना आप्नोति “यस्या-
नुचितः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् सन्देहो गहने प्रविष्टः स विश्वकृत् स हि सर्व-
स्य कर्ता तस्य लोकः स तु लोक एव” ॥ घृ० उ० ४ । ४ । १३ ॥

इन्द्रोऽग्राप्नोति कहने हैं (यः०) जो आत्मतत्त्वेत्ता है वह प्रथम (एकधा+
भवति) एक ही रहता तब त्रिधा+भवति०) तीन, पाँच, सात, नौ, अठारह,
शत, कई सहस्र होता जाता है । अभिप्राय यह है कि ज्यों ज्यों आत्मिक शक्ति
वर्धनी जाती है त्यों त्यों उसके घरा में मनुष्य होते जाते । इस प्रकार अन्त में देश
के देश उसके अर्चन हो उसी शक्ति को बहुत बड़ा देते हैं । माध्यान्दिना कहने हैं
(अस्मिन्+सन्देहो) इस शरीर में (प्रविष्ट) प्रविष्ट (यस्या+आत्मा) जिसका
जीवात्मा (अनुचितः) मननादि व्यापार के पश्चात् तत्त्वों को प्राप्त कर लिया है
इसी हेतु (प्रतिबुद्ध) सच तरह से जागृत हो गया है या सच ज्ञान को प्राप्त हुआ
है (स+विश्वकृत्) वह सच कार्य के बर-हारा होता (हि) क्योंकि (स+सर्व-
स्य+कर्ता) सच का कर्ता है (तस्य+लोकः) उर्मा का ससार है (स+तु+लोकः+
एव) वह ससारस्वरूप ही है । हमरा भी पूर्वज ही भाव है । यथार्थ में देखो
तो भौतिक जगत् का ईश्वर ने रचा परन्तु मनुष्यों में जो कुछ धर्मव्यवहार वा
राजकीय व्यवहार वा लौकिक व्यवहार है उस सब का स्तोत्र वही आत्मवित् है ।
देखते ही हो कि जिसने विश्वित आत्मतत्त्व को पाया है । उसके घरा में भी
सहस्रा पुरुष हो जाते हैं परन्तु जिसने अशुद्ध प्रकार आत्मतत्त्व का अध्ययन किया
है उसके घरा में क्या नहीं सब कोई होवेगा । वह आत्मवित् जगत् में जैसा परि-
पूर्ण करने चाहता होगा वैसे करके दिगमला देता है, इस हेतु मूल में (सर्वस्य+कर्ता)

सब का कर्ता वह कहा गया है । जब आध्यात्मिक शक्ति बहुत बढ़ जाती है तो जगत् के सब लोगों को अपने समान देखने लगता है । और लोग उससे विद्वित् भी भेद नहीं रखते हैं इसी हेतु मूल में कहा है कि उसीसा ससार है । वह संसारस्वरूप है । यहां संसार शब्द से ससारस्य मनुष्य का ग्रहण है, जैसे आजकल भी कहते हैं कि 'मेरा देश गिर गया, मूर्ख हो गया' इत्यादि यहां देश से देशस्थ पुरुषों का ग्रहण है । इस हेतु आत्मशक्ति का परिचय भी होना साधकों के लिये आवश्यक है ।

स्थात्तावद् वटबीजमियनो महनो द्रुमस्य जन्मदाने प्रचुरशक्तिः । यदि तन्मो-
चितायां भूमावुप्येत तर्हि किं करिष्यति । तीक्ष्णाप्यसिधारा कोणे स्थापिता
विररात्रायाऽप्रयुक्ता मलिनायने गृहमूषिकमपि छेत्तुं नालम् । एवमेव सर्वगुणैः
समलङ्कृतोऽपि जीवात्मा यदि समुचितविनियोगरहितस्तर्हि न किमपि शुभं स-
म्पादयितुं शक्नोति । अतोऽसिप्रभृतिकरणवः जीवान्मना कार्यं साध्यम् । यथा
यथेनं कार्येषु विनियुञ्जते । तथा तथाऽस्य शक्तिरुपचीयते । खड्गादि साधन-
न्तु कदाचिन्-मूर्च्छति कुण्वति श्रुटयति च । अयन्तु सम्यग् यथाविधि विनियुक्तः
सन् बलवत्तरस्तीक्ष्णः सूक्ष्मो बुद्धिमत्तरः सूक्ष्मातिमूक्ष्मतत्त्वाग्गादी भवन्ति ।
क्रमशः क्रमशान्तरदृक् इव विविधविधातत्त्वद्विवेकादिपल्लवितः सन् बहु शो-
भते । आश्रितांश्च सर्वदा सुखयति च ।

इतने महान् वटवृक्ष के जन्मदान में प्रचुर शक्ति-सम्पन्न वटबीज भले ही होवे ।
परन्तु यदि उचित भूमि में वह न बोया जाय तो वह क्या कर सकता है । तीक्ष्ण
खड्गधारा यदि गृह के कोने में स्थापित रहे बहुत दिनों से उससे काम न लिया
गया हो तो अवश्य मलिन हो जायगी । और गृह के चूहे काटने को भी समर्थ न
होगी । इसी प्रकार सब गुणों से समलङ्कृत भी जीवात्मा यदि समुचित विनियोग
रहित (अर्थात् जो उससे काम लेना चाहिये वह नहीं किया जाता) है तो कुछ
भी शुभकर्म सम्पादन नहीं कर सकता । इस हेतु जैसे खड्ग से कार्य लेते वैसे
ही आत्मा से भी कार्य लेना चाहिये । यह आत्मा भी साधनवत् ही है । जैसे २
इसको कार्य में लगाते वैसे २ इसकी शक्ति बढ़ती जाती है । खड्ग आदि साधन

तो मूर्छित, कुण्ठित, छिन्न भिन्न भी हो जाता है और अन्त में बिलकुल टूट जाता परन्तु यह आत्मा तो सम्यक् यथाविधि कार्य में विनियुक्त होने से बलवत्तर, तीक्ष्ण, बुद्धिमत्तर और सूक्ष्म से सूक्ष्म सत्त्वावगाही होता है । क्रमशः क्रमशः षटपृष्ठ के समान विविध विद्याओं से और उस २ विवेक से पल्लवित हो बहुत शोभायुक्त हो अपने आश्रितों को बहुत सुख देता है ।

ब्रह्म-भक्ति-दर्शनादि विचारः

अथ केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते । इयत्तया विद्याः परिच्छेत्तुं न शक्यन्ते । या-
वन्तो हि पदार्थास्तावद्यो विद्याः । तावत् पृथिवीस्थानामेव पदार्थजातानामा-
नन्त्यम् । चेतनानामेव चतुर्शास्त्रिकोटिसंख्याः पौराणिकैर्गण्यन्ते । असंख्येया
ओपधयो देशभेदेन बिलचणाः । सामुद्रिकानां यादसां यानमपि न समस्ति
मनुष्याणाम् । इत्थमन्यायुर्मनुष्यो यदि सर्वपदार्थस्य नामावगणयितुं साहसिको
भवेत्तर्हि सम्पूर्णेनाऽऽयुषा नामगणनाया आप पर्यवसानं न भवेत् । कुतस्तरां
तन्निबन्धनाया निघाया लामः । अतः सर्वं परित्यज्य मातापितृसहस्रेभ्योऽपि
अधिकवात्सल्यशाली भगवानेव प्रतिक्षणं शुश्रूषितव्यः । स एव तुष्टो बुद्धिं भक्तिं
चान्तेऽत्यन्तसुखं कैवल्यञ्च प्रदास्यति । किं बहुलायासैरपि असाध्यया मनो-
रथलेदकर्या विद्यया । तथा चाभाषकः “अक्ले चेन्मधु विन्दते, किमर्थं पर्यतं
व्रजेत् । इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ, को विद्वान् यत्नमाचरेत् ।” अतो नेदं साहसं
विचारचारु प्रतिभाति मे । समाधत्ते । मनुष्यसर्जने यद्येवमाशययान् भगवान्
स्थात् तर्हीदृशी सृष्टिरेवानुचिता स्यात् । कथमिव । मृगु, इतरजोवेभ्योऽधिका
जिज्ञासावती च मनुष्यबुद्धिरस्तीत्यत्र न कोऽपि प्रश्नावकाशः । स किमर्थेति
चिन्तायां जाग्रत्यां किमुत्तरीष्यति भवान् । अन्ये जीवा ब्रह्मविज्ञानायात्तमा व-
यन्तु तथा बुद्ध्यातज्ज्ञातुं समर्थाः । अतो ब्रह्मविज्ञानार्थेयं बुद्धिरिति मतिरुच्या-
मि । सत्यमेव । तर्हिसमायातो मद राद्धान्तः । कथय तर्हि कथं ब्रह्मपरिचयः ।
अहमिदं वच्मि—ईश्वरनामधेयमनिशं जपिष्यामि । स प्रसन्नः स्वात्मानं दर्श-
यिष्यति । तेनैव कृतकृत्यता स्यात् । तथाहुः कठशास्त्रिनः—

“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैव दृणुते तेन लभ्यस्त्वस्यैव दृणुते तन्नं स्वाम् ॥”

इयं श्रुतिः प्रवचनमेधात्रयणादीनां ब्रह्मदर्शकत्वं निवारयति बोधयति च केवलां भक्तिम् । तद्युक्तार्यैव सहीश्वरो वरं ददद् दृष्टोस्ति । आथर्वणिका अप्येवं मन्यन्ते "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचो विष्णुश्चय अमृतस्यैष सेतुः" एतेन प्रतीयते भक्तिरेव गरीयसी । सा न कदापि विद्यामधिकरोति । अपेक्षते तु केवलात्मन्यगामिनीं भीतिम् । सा नहि विद्याया नवा पदार्थविज्ञानाज्जायते । अतः कृतमप्रामाणिक्या विद्यया ।

ब्रह्म-भाक्ते-दर्शनादि विचार

यहां कोई शङ्का करते हैं कि इतनी ही विद्याएँ हैं यह नहीं कह सकते, क्योंकि जितने पदार्थ इतनी विद्याएँ । प्रथम पृथिवीस्थ पदार्थों का ही अन्त नहीं । पौराणिक कहते हैं कि ८४ कोटि योनियां चेतनों की हैं । ओपधिया असंख्य देश-भेद से बड़ी बड़ी विलक्षण हैं । सामुद्रिक सकल जन्तुओं का ज्ञान भी मनुष्यों को नहीं है । इस प्रकार अल्पायु मनुष्य यदि सब पदार्थ के नाम ही गिनने के लिये साहस करे तो सम्पूर्ण आयु से भी नामगणना की समाप्ति न होगी । तब कैसे तत्सम्बन्धी विद्या के लाभ की आशा हो सकती है, इस हेतु सब परित्याग कर सहस्रों माता पिता से कहीं बढकर वात्सल्यशाली भगवान् ही प्रतिक्षण शुश्रूषितव्य है । वही तुष्ट होकर बुद्धि भक्ति और अन्त में अत्यन्त सुखकारी कैवल्य को भी देवेगा, बहुत परिश्रम से भी असाध्य और मनोरथ को खेद पहुँचानेहारी विद्याओं से क्या प्रयोजन है ? इस विषय में एक आभाणक है "अके चेत् मधु विन्देत" इत्यादि (१) इस हेतु मुझ को यह साहस विचारचारु प्रतिभासित नहीं होता । (समाधान) मनुष्य की सृष्टि करने में भगवान् का यदि ऐसा ही आशय हो तो ऐसी सृष्टि करनी ही अनुचित थी । कैसे तो सुनो-अन्य जीवों से मनुष्य की अधिक और जिज्ञासा करने हारी बुद्धि है इसमें कोई प्ररनावकाश नहीं, वह बुद्धि किस प्रयोजन के लिये है ? ऐसी चिन्ता जागृत होने पर आप क्या उत्तर देंगे ।

(१) घर के कोने में ही यदि मधु मिल जाय तो कौन मूर्ख मधु के लिये पर्वत पर जायगा । इष्ट अर्थ की अच्छे प्रकार सिद्धि हो जाने पर कौन विद्वान् यत्न करे ॥

अन्य जीव साधारण बुद्धि से ब्रह्म जानने को असमर्थ हैं । परन्तु हम मनुष्य मानवी बुद्धि से उसको जान सकते, इस हेतु ब्रह्म विज्ञान के लिये यह बुद्धि है यह उत्तर में दूंगा । सत्य है । तब मेरा ही सिद्धान्त आया । अच्छा यह कछो, ब्रह्म-पारचय का वौनसा उपाय है ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि ईश्वर का नाम जपूँगा । यह प्रसन्न हो अपना आत्मा (शरीर) टिरालावेगा और उससे सर्वत्र कृत-कृत्यता होगी । कठशास्त्री भी ऐसा ही कहते हैं ।

(नायमात्मा०) यह परमात्मा वेदादिकों के व्याख्यानों से, सूक्ष्म बुद्धि से अथवा अनेक शास्त्रों के श्रवण से अथवा विविध तर्क-धिनर्कदि से प्राप्त नहीं होता, विन्तु जिसके ऊपर उसकी कृपा होती है उस भक्त को निज शरीर यह भक्तवत्सल दिगता देता है ।

यह श्रुति साक्ष्य निषेध करती है कि प्रयत्न, मेधा और श्रवणादिक उपायों से ईश्वर का दर्शन नहीं होता और भक्ति को बतलाती है । क्योंकि भक्तियुक्त पुरुष को ही घर देता हुआ श्रीभगवान् देखा गया है । आध्वर्णिक भी ऐसा ही कहते हैं (तमेवैकम्०) हे शिष्यो ! हे मनुष्यो ! उसी एक परमात्मा को अच्छे प्रकार जानो । अन्य व्यर्थ व्याख्यानादिकों को त्यागो । यही परमात्मा अमृत का सेतु है । इससे भक्ति ही श्रेष्ठ प्रतीत होती उस भक्ति में बिद्या का अधिकार नहीं । यह केवल अनन्यगामिनी प्रीति चाहती है क्योंकि यह भक्ति न बिद्या से न पदार्थविज्ञान से उत्पन्न होती, इस हेतु अप्रामाणिक बिद्या से क्या लाभ होगा ।

समाधत्ते । किं च भोः, तस्मींश्चरं मन्यसे जीवात्मानमपि तस्मात् पृथक् मन्यसे । जीवात्मा द्रष्टास्ति । ईश्वरोऽपि द्रष्टा सर्वव्यापकश्चास्तीत्यत्रापि न करिच-त्सन्देहः । तर्हि विभावय—जीवात्पसन्निधौ सर्वदेश्वरः वर्ततेतरां सर्वव्यापकत्वात् । तर्हि सदैव जीव ईश्वरं न पश्यति किम् ? अन्धो नाम न किमपि पश्येत् । नायमात्मान्धः । तथाहं त्वां प्रत्यासन्नं साक्षात् पश्यामि एवमेवात्मा परमात्मानं सन्निहितं कथं न पश्येत् ? एतेनात्मा प्रतिक्षणमेवेशं पश्यतीति फलति । आत्मा हृदि तिष्ठति 'इद्येष आत्मेति' श्रुतेः तत्र ब्रह्मणोऽपि सद्मावान् सदा दर्शनं मरतीति कः सन्देहः । के वादिन एतत्प्रतिषेधेषुः । अथ काश्चिद्वादी वदन्ति

स्यादेतत् । अत्रायं सन्देह उदेति । ब्रह्म तु बाह्ये चाभ्यन्तरे च सममेवास्ति ।
इत्थं यथा बाह्यतो-न तस्य दर्शनं तथाऽभ्यन्तरतोऽपि न भवतीति-प्रतीयते ।
अन्यच्च अभ्यन्तरतो यदि तस्य दर्शनमुपैति तर्हि कथं न स्वयमेव ब्रह्म
जीवात्मा "अहमीशं-परयामीति" न तु केषांचिदप्येष प्रत्ययः कदाचिदपि
दृष्टः श्रुतश्च । अतोऽभ्यन्तरेऽपि न दर्शनाभ्युपगमनमिति मन्ये । सिद्धान्ती-नैतद्विचा-
रसदम् । कथमिव-अभ्यन्तरे न कोऽपि प्रतिबन्धो येन युक्तो न पश्येत् । बाह्ये-
त्वेपि सर्वं स्थूलकरणैराचरति । तेषां स्थूलकरणानां सूक्ष्मतमेव ब्रह्मणि न प्रवेशः ।
एष प्रत्यक्षविषयः सर्वेषां परीक्षकापरीक्षकाणां सामान्येन । बहिर्गतमीश्वरं हृदि-
स्यो-जीवः कथं-स्वयं-पश्येत् शरीरव्यवधानात् । अन्तःस्थस्य न किमपि व्यव-
धानम् । अतस्तत्र कथन्न-परयेत् । तर्हि कथन्न वक्ष्यति अमापणस्य त्वेतत्कार-
णम् । बाह्यतः स्थूलकरणैरेव यत्-किमपि संबिधोति तच्चत् बाह्यतः प्रकाशयति ।
अभ्यन्तरविज्ञातमभ्यन्तरे-तु प्रकाशयतीति नियमो-दृश्यते । कथमिव-यतः सर्वे
वादिनो, ज्ञानवान्नास्मेति-स्वीकुर्वन्ति-। एवं भूतोऽपि । "अयं सर्पोऽस्ति, अस्य
दंशनेन जनो त्रियते, अतो नायं हस्तेन स्पर्शनीयः । अयं विषोऽस्ति, अस्य
पानेन मृत्युर्भवति-अतो न पेय" इत्यादीनि वस्तु-ज्ञानानि बाह्यतो यावन्न लभते
तावत् किमपि न जानाति न किमप्याविष्करोति । अतः प्रतिबन्धकामावादान्तर्दर्शनं
भावतीत्यत्र तु न संशयितव्यम् । एवं सति सर्वव्यापकत्वाच्च ब्रह्मणः स्पर्शनमपि
प्रतिबन्धं भवतीत्यपि अभ्युपगम्यस्येव । दर्शनस्पर्शनयोरभ्युपगम्यमानयोर्मापण-
मपि स्वीकार्यमेव । हेतुदर्शनात् । उभौ चेतनौ सम्मिलितौ कथन्न परस्परं मा-
पेयाताम् । यद्यपि मनुष्यवज्रेदवरस्य मापणम् । आम्नायानां तथैवोपदेशात् ।
तथापि विलक्षणमनिर्वचनीयञ्च तत् स्वीकार्यमेव बाधकामावात् । एतेन दर्शनं
स्पर्शनं मापणं सहनिवासश्चेत्यपि सर्वं सिध्यति । इदानीमेतन्मामोसनीयम् । द-
र्शनाद्युपलब्धावपि कथन्न जीवात्मानः कृतकृत्यता । एष तु मम भ्रष्टः । भवतु
तवैव भ्रष्टः । शृणु एषा सर्वा वितण्डाकथा । तव भक्तिकया तु सर्वथा वित-
ण्डैव । यदि-नामजपमात्रेण केवलया शुश्रूषया वा स प्रसीदेत् । तर्हि मुधा
मानवी-सृष्टिः । तर्हि स इदं कुर्यात् । महतीं सुविस्तीर्णामाद्यन्तपारविहीनां
सर्वसुखोपेयाम् आत्मसदृशीमेकां सृष्टिं रचयेत् । तत्र न मृत्युर्न रोगी न जरा नाशि-
शिषा न पिपासा नेर्ष्या न द्वेषो न कलहो जनयितव्यः । किञ्चिदुना न किमप्यनिष्टं

पि नोत्पादकं सृजेत् । तत्र मनुष्यमदृशान् असंख्येयान् जीवान् सर्वगुणसम्प-
 ञान् स्थापयित्वाऽऽज्ञापयेत् । जीवाः ! सर्वे यूयं ममैव नाम जपत, ममेव शुश्रूषा
 यत्नेन कार्या । बुद्धिरपि तादृश्येव दातव्या येन न स्वनिर्योगात् विरमेयुः । य-
 तस्तस्यैवाधीनं सर्वमस्ति । इत्यमासनान्यध्यासीनान् जनान् स्वनाम जापयन्
 शुश्रूषयैरच स प्रसीदतु । किं मानवसृष्टयानया क्षुत्पिपासादिसंग्रह्या, ईदृशीं
 सृष्टिमकृत्वा क्षुत्पिपासापानादिमतीं कृत्वा च किं फल पश्यतीश्वरः । एतेन यां
 त्वं भक्तिं मन्यसे यन्त्र नाम जपं यात्र च शुश्रूषाम् । तदर्थो नेयं सृष्टिर्नेय भक्ति-
 र्नेदं शुश्रूषादि । ईदृशरेणास्माकं या प्रदत्ता बुद्धिरात्मशक्तिश्च । तस्याः कोप्य-
 परोजनिप्रायः । यावती बुद्धिशक्तिरस्ति अस्या गतिरपि च यावद्व्यापिनी वर्तते
 तदवधौ कार्ये सा निद्योक्तव्या । यत्नेन तत्पर्यन्तं कार्यं साधयित्वा सा स-
 फली-कर्तव्या । यदि तां शक्तिं लब्ध्वा कार्येन परिग्रहयसि तर्हि पापीयानसीति
 कः सन्देहः । यथा धनं स्वस्वेतरलोकोपकाराय वर्तते । यदि तद्धनं लब्ध्वा कोऽपि
 न वर्धयेत्, न च रक्षेत्, न किमपि तेन कुर्यात् प्रत्युत तद्दिस्मरेद्वा धौरादिमिर-
 पहारयेद्वा । तर्हि स कथञ्च पापीयान् एवमेवेत्येव या शक्तिः प्रदत्ता तोमर-
 यित्वा विनाशयेम । कथञ्च तर्हि वयं पापभागिनः । कार्ये शक्तिरविनिर्योग एव
 शक्तिरिनाशनम् । क्रमशः सा हि शक्तिरविनिर्गुणा दृष्यते । बालकादिषु शि-
 क्षातारतस्यदर्शनात् ॥

(समाधान) सुनो तुम ईश्वर को और जीवात्मा को भी हमसे प्रथक् मानते
 हो । जीव आत्मा देखनेहारा है, ईश्वर सर्वव्यापक द्रष्टा है । इन बातों में कुछ सन्देह
 नहीं है । तब अब विचारो—जीवात्मा की सन्निधि में ईश्वर सर्वदा ही रहता है ।
 क्योंकि वह व्यापक है । तब यह जीव ईश्वर को सदा नहीं देखता है ? क्या अन्या
 भले ही न देखे । परन्तु यह आत्मा अन्य नहीं । इस हेतु इस से यह सिद्ध होता
 है कि जीवात्मा ईश्वर को प्रतिक्षण देखता है, करता, आत्मा इन्द्र में रहता है यह
 श्रुति कहती है यहा ब्रह्म की भी सत्ता है । तब जीव को सदा ईश्वर का दर्शन होता
 इरामे क्या सन्देह है । कौन वादी इसको निषेध कर सकता है । वादी कहता है
 ऐसा ही हो, परन्तु यहाँ एक सन्देह उदित होता है । ब्रह्म तो बाहर भीतर दोनों
 में समभाव से है जैसे बाहर से उसका दर्शन नहीं वैसे ही अभ्यन्तर से भी दर्शन
 नहीं होना होगा ऐसी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है । और भी, यदि अभ्यन्तर से यह

जीवात्मा दर्शन पाता तब स्वयं जीवात्मा क्यों नहीं अन्य लोगों से कहा करता है कि मैं ईश्वर को देखता हूँ । अबका तब उसके दर्शन के लिये इतना उत्सुक ही क्यों सदा रहता है । और ऐसा प्रत्यक्ष भी किन ही को नहीं देखा सुना गया । इस हेतु अभ्यन्तर में दर्शन की प्राप्ति नहीं होती । सिद्धान्ती कहता है यह आपका कथन विचारयोग्य नहीं । कैसे, अभ्यन्तर में कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है । जिसमें युक्त हो आत्मा परमात्मा को न देख सके । यह जीवात्मा बाह्य में स्थूलेन्द्रियों से सब काम करता है उन स्थूलेन्द्रियों का परमसूक्ष्म मध्य में प्रवेश नहीं होता । यह परीक्षक और अपरीक्षक दोनों का प्रत्यक्ष विषय है । यहिगंत ईश्वर को हविस्थ जीव कैसे देख सकेगा क्योंकि शरीर व्यवहित है । अन्तःस्थ जीव का कोई भी व्यवधान नहीं । इस हेतु वहाँ तो देण सक्त है । तो कहता है क्यों नहीं ? न कहने का यही कारण है यह नियम प्रतीत होता है कि बाह्य स्थूल इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ यह संचय करता है उस २ को बाह्य के उन इन्द्रियों के द्वारा प्रकाश करता और भीतर का जो विज्ञान है सो भीतर ही प्रकाश करता है क्योंकि सब यदि इस आत्मा को ज्ञानवान् स्वीकार करते हैं । अब आश्चर्य देखो कि यह आत्मा ज्ञानवान् होने पर भी "यह सर्प है इस के काटने से मनुष्य मर जाता, इस हेतु इसको हाथ से छूना नहीं चाहिये । यह विष है इसके पान से मृत्यु होता इस हेतु इसे नहीं पीना चाहिये" इत्यादि वस्तु ज्ञान बाह्य से जब तक नहीं लाभ करता है तब तक वह कुछ नहीं जानता है । कुछ आविष्कार नहीं करता है * । और

* भाव इसका यह है कि जीवात्मा सदा एक रस रहता न यह बालक, न युवा, न वृद्ध होता और न यह घटता, न बढ़ता, न मोटाता, न दुर्बल होता । जो कुछ है उसी रूप से सदा बना रहता है यह शास्त्रों का सिद्धान्त है । अब एक अत्यन्त छोटे बालक के निकट विषधर सर्प रखो । इसको देखकर किञ्चिन् भी भय नहीं होगा, उसको हाथ से पकड़ने की चेष्टा करेगा उस बच्चे के भीतर जो आत्मा है वह तो सब कुछ जान रहा है और उसी आत्मा की चेष्टा से शरीर चेष्टित होता है । तो इस अवस्था में वह बालक उस विषधर सर्प को पकड़ने के लिये क्यों चेष्टा करता और भय क्यों नहीं खाता ? यदि कहो कि वह अन्तःस्थ आत्मा सर्प के गुण अवगुण को भूला हुआ है इस हेतु पकड़ता है तो यह कथन सुन्दर नहीं । आत्मा ज्ञानी है यह प्रथम

सर्वव्यापक होने से सब जीवों के साथ ब्रह्म का प्रतिक्रमण स्पर्श होता है । यह तो आप स्वीकार ही करोगे । जब दर्शन, स्पर्शन स्वीकार है तब भाषण अवश्य

ही स्वीकार हो चुका है । अथवा जिस वस्तु को हम सर्वत्र देखा करते हैं उसको नहीं भूल सकते विशेष वस्तु का विस्मरण होता सामान्य का नहीं । अब इस नियम पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो कोई योनि नहीं है जहाँ सर्प का दर्शन न होता हो । यदि यह कहो कि मनुष्याभिरुक्त योनि में सर्पादि का बोध नहीं प्रथम तो इस में कोई प्रमाण नहीं । दूसरा यदि “दुर्जन सतोष” न्याय से मान भी लें तब यह आत्मा अन्य योनि से ही मनुष्यशरीर में नहीं आता । तब जो जीवात्मा एक मनुष्य शरीर से दूसरे मनुष्य-शरीर में आया है उसको तो स्मरण रहना चाहिये सो नहीं नहीं देखा जाता, यदि कहो कि भूल जाता है तो यह कथन पूर्वोक्त नियम से उचित नहीं क्योंकि विशेष को भूलता है सामान्य को नहीं । अर्थात् जैसे किसी ने युवावस्था में कलकत्ता वा मुम्बई को देखा तब से बहुत वर्ष व्यतीत हो गये पुनः कलकत्ता नहीं गया । कलकत्ते के आकार आदि को वह कदापि नहीं भूलेगा । उसकी आल के सामने स्मरण करते ही कलकत्ते का आकार आजायेगा । यह बात कदाचित् भूल जायगी कि मैंने अमुक पुरुष से क्या बातें की थीं उन्होंने मुझे क्या भोजन कराया था । भोजन की सामग्री के नाम न स्मरण हों । ऐसी २ बातें भूल सकती हैं परन्तु सामान्य विषय का विस्मरण नहीं हो सकता ।

यदि कहो कि अत्यन्त बाल्यावस्था की सामान्य बात भी तो विस्मृत होजाती, इसका उत्तर मेरे सिद्धान्त में तो बहुत सरल है परन्तु तुम्हारे मत में इसका उत्तर होता अशक्य है । अभी मैं लिख चुका हू कि अभ्यन्तर से जिसको आत्मा देखता सुनता है उसका बोध अभ्यन्तर ही में रहता कदापि भी बाहर नहीं होता । बाल्यावस्था में बाह्य इन्द्रिय बहुत दुर्बल और विषय-ग्रहण में अपटु रहता । इस हेतु मानो, बाल्यावस्था में बाहर से कुछ देखा सुना ही नहीं । पुनः स्मरण क्या होवे । बाल्यावस्था के अनन्तर इन्द्रिय विषय ग्रहण में बाहर से चलिष्ठ और पटु होता जाता है । इस हेतु इस अवस्था से सामान्य वस्तु की विस्मृति नहीं होती । इस प्रकार मेरे मन्तव्य में संगति होती है । तुम्हारे सिद्धान्त में कदापि भी संगति नहीं । तुम विचारो जब आत्मा को एकरस, निर्विकार और चेतन मानते हो तो

ही स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि इसमें हेतु भी देखते हैं दोनों ही चेतन सम्मिलित होने पर क्यों नहीं परस्पर संमापण करेंगे। तथापि मनुष्यवत् ईश्वर का भाषण न हो क्योंकि वेदों का वैसा ही उपदेश है। तथापि विलक्षण अनिर्वचनीय भाषण तो स्वीकर्तव्य ही है क्योंकि इसमें कोई बाधक नहीं देखते। इससे ईश्वर का दर्शन, स्पर्शन, भाषण, सहनिवास इत्यादि सब ही सिद्ध होता है। यहां अब यह विचारणीय है कि दर्शनादि की प्राप्ति होने पर भी जीवात्मा की कृतकृत्यता क्यों नहीं? यह तो मेरा ही प्रश्न है। अच्छा तुम्हारा ही प्रश्न रहे। सुनो यह सब वितण्डा क्या है। तुम्हारी भक्ति की कथा तो सर्वथा वितण्डा ही है। देखो, यदि केवल नाम जपने से वा शुभ्रा से वह ईश्वर प्रसन्न होवे तो मनुष्य-सृष्टि करना ही व्यर्थ था। तब इसको ऐसा करना, या एक बहुत बड़ी, सुविस्तीर्ण, आश्रयपायविहीन, सर्वसुखों से युक्त, बहुत क्या कहें अपने समान सृष्टि बनावे वहां न मृत्यु, न रोग, न जरावस्था, न भोजनेच्छा, न पिपासा, न ईर्ष्या, न द्वेष, न कलह, न कोई विघ्नोपादक अनिष्ट वस्तु बनावे। मनुष्य-समान सर्वगुणसम्पन्न असंख्य जीवों को यहां

अति बाल्यावस्था में सर्प से क्यों नहीं डरता? बाल्यावस्था में भी सर्पज्ञान होना चाहिये। जो नहीं देखते। अतः अनुमान होता है कि अभ्यन्तर ज्ञान केवल अभ्यन्तर के लिये, बाह्यज्ञान बाहर के लिये है। यह आत्मतत्त्व अत्यन्त कठिन विषय है। इसको अब अधिक न बढ़ावें। प्रकृत विषय का अनुसरण करें॥

देखो, शङ्कर-सिद्धान्त देखने से मालूम होगा कि सुषुप्ति अवस्था में यह आत्मा सर्वथा ईश्वर से मिलता है। शङ्कराचार्य ने पद पद पर वर्णन किया है और इन श्रुतियों को प्रमाण में देते हैं:—

“यत्रैतत्पुरुषः स्वपिबिनाम, सदा सौम्य सदा सम्पन्नो भवति स्वर्गपीतो भवति। इत्यादि। ब्र० उ० ६। ८। १॥

इस सब से भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवात्मा को ईश्वर का दर्शन साक्षात् स्पर्श दिव्य होता है। अतः प्रतिबन्धक के अभाव से अन्तःकरण में दर्शन होता इस में सन्देह नहीं, यह सर्व आस्तिक सिद्धान्त है।

स्थापित कर आज्ञा देवे । हे जीवो ! तुम सब मेरा ही नाम जपो, मेरी ही शुश्रूषा यत्नपूर्वक करो । उनको बुद्धि भी वैसी ही देवे जिससे कि वे अपने कार्य से विरत न हों क्योंकि उसीके अधीन सब कुछ है । इस प्रकार आसनों के ऊपर बैठे हुए मनुष्यों से अपना नाम जपवाता और शुश्रूषा करवाता हुआ यह प्रसन्न होवे, इस क्षुत्पिपासादि-संयुक्त मानव-सृष्टि से क्या प्रयोजन ? ईश्वर ईश्वर सृष्टि न कर क्षुधा-पिपासा-ज्ञानादिमति सृष्टि कर क्या फल देखता है ? इससे प्रतीत होता है कि जिसको तुम भक्ति, जप और शुश्रूषा मानते हो तदर्थ यह सृष्टि नहीं है, न यह भक्ति और न यह शुश्रूषा है । ईश्वर ने जो बुद्धि आत्मशक्ति हम लोगों को दी है उसका कुछ अन्य अभिप्राय है । जितनी बुद्धि-शक्ति है और इसकी गति भी जहातक है वहातक कार्य में इसको लगाना चाहिये । यत्न से वहातक कार्य साध उसको सफल करे । यदि उस शक्ति को पाकर कार्य में नहीं लगाते हो तो तुम बड़े पापी हो इसमें सन्देह ही क्या ? जैसे धन अपने और अपने से इतर मनुष्यों के उपकार के लिये है । यदि कोई अज्ञानी उम धन को न बढ़ावे, न रक्षा करे, उससे कुछ भी न करे प्रसृत धन को भूल जाय या चोर आदिकों से चोरी करवावे वा उसके आलस्यवश चोरी हो जाये तो वह आदमी क्यों नहीं पापी गिना जायगा । इसी प्रकार ईश्वर ने जो शक्ति दी है उसकी रक्षा न करके विनारा करदेवें तो हम लोग क्योंकर पाप के भागी न बनेंगे । कार्य में शक्ति को न लगाना ही शक्तिविनारा है क्योंकि क्रमशः क्रमशः यह शक्ति अविनियुक्त हो जाने से क्षीण होताही है * ।

* इसकी परीक्षा इस प्रकार कर सकते हो कि जो बालक तीक्ष्णबुद्धि है उसको कुछ कात सक्त मत पढ़ाओ और जो मन्दबुद्धि है उसको यत्न से पढ़ाओ यह मन्द-बुद्धि कुछ दिन के अनन्तर अच्छी बुद्धिवाला हो जायगा, धारणाशक्ति बहुत बढ़ जायगी । परन्तु यह तीक्ष्णबुद्धि बालक मन्द होजायगा, पुनः इसको भी पढ़ाना आरम्भ करो तो कुछ दिन के अनन्तर इसकी बुद्धि पुनः बढ़ती चली जायगी । अभ्यास शक्ति आदि सब गुण बढ़ जायेंगे । इतिहास से यह मालूम हुआ है कि एक आप को छोड़कर एक स्थान वा एक वेश वा एक द्वीप में प्रायः कुछ दिन तक एकसी बुद्धि रहती है । न्यूनाधिक्य रहती है भी तो बहुत कम । जब इनके ही मध्य में लोकोत्तर बुद्धिवाला मनुष्य उत्पन्न हो अपना सिद्धान्त फैलाना तब पुनः प्रायः

इदानीं चिन्त्यतामस्मासु कियति कीदृशी च शक्तिरस्ति । एतदर्थानि कृत-
कार्याणामाप्तानां मुदाहरणान्यादेयानि । मनुष्यत्वेन वयं समास्ताहिं यतैः कृतं
तत्कथञ्च करिष्याम इति विचार्य तस्मिन् प्रवर्तितव्यम् इत्यमवश्यमेव त्वमपि
कर्तुं शक्यसि । ननु तारतम्यं विद्यत एव । सत्यमेतत्—प्रागेव स्वप्रवृत्तेस्त्वय-
वेदं “न मम साध्यमिति” कथं प्रत्यक्षीकृतम् । ननु स्वसेनापरिवृतः सम्राट्
यत्करोति तत् कुर्वन् कश्चिद् हालिको दृष्टः । नद्येतदेकस्य कार्यम् । त्वमेकोऽसि ।
एकस्य दृष्टान्तो ग्रहणीयः । ययैकः कणादः परमाणुविद्यामाविश्वकार । तथा
त्वमपि कर्तुं समर्थः । राजदृष्टान्तोऽप्येवं समाधातव्यः । अथैतिहासिका आहुः—
ज्ञायते पुरा किल न कोपि राजाभूत् । गच्छत्सु कालेषु बलिष्ठो न्यूनान् बाधितुमा-
रेभे । शनैः शनैः स्वशक्तिं च वर्धयामास । बलाद् बहून् न्यूनबलान् स्वापत्तीकृत्य

सब की बुद्धि तदनुकूल हो जाती, पुनः कोई उससे भी बुद्धिमान उत्पन्न होता तो
इसके अनुकूल लोग चलने लगते हैं । हां ! इतनी बात अवश्य है कि इठ दुराग्रह
से भी कोई २ बात स्थिर रहकर प्रमान् बहुत शक्तिसम्पन्न हो जाती है । यहां भारत-
वर्ष में इसके अनेक उदाहरण हैं । कुछ दिने ऐसा था कि सतीविधि का प्रायः सब
ने अनुमोदन किया परन्तु अब इठी दुराग्रही को छोड़ एक बालक भी इसका अनु-
मोदन नहीं करता, सान्त्रिक धर्म बड़ी प्रयत्नता से चला, पुनः उसको दबाकर वैष्णव-
धर्म ने भी निज शक्ति का प्रभाव सब के हृदय पर जमाया । पूर्वकाल में सुना जाता
है कि बौद्ध सम्प्रदाय की अद्भुत शक्ति थी परन्तु यह भी यहां से नष्ट हो गई,
भारत में इसका नाम तक शेष न रहा । इस प्रकार के सहस्रशः उदाहरण दिखला
रहे हैं कि यह बुद्धि बढ़ती घटती रहती है इस हेतु बुद्धि को स्वतन्त्रता से पूर्ण-
प्रयत्नपूर्वक कार्य में अवश्य लगावे । यहां यह भी जानना चाहिये कि जब २
किसी कारण विशेष से बुद्धि की स्वतन्त्रता के ऊपर महान् प्रहार हुआ है तब ही
देश में “अन्धगोलाङ्गूलन्याय” की प्रवृत्ति हो जाती २ छति पहुंची कि जिसका
वर्णन कदापि नहीं हो सकता है । इस हेतु हे मनुष्यो ! अपनी बुद्धि-शक्ति को
जहां तक हो तुम काम में लगाओ । वही ईश्वर की परममक्ति है क्योंकि ईश्वर के
दिये हुये अस्त्रों को यदि तुम मंलीन करदोगे वा किसी काम में न लगाओगे तो
क्या ईश्वर हमसे अप्रसन्न न होगा ?

राज्यं स्थापयामास । पुरा नासीदीदृशं विस्तीर्णराज्यम् । यद्वा, चौरपाटश-
रादि-दुष्टजनैरुपद्रुताः स्वस्वरक्षणेऽसमर्थाः, प्रजा, एकं, नायकं, स्थिरीकृत्य तद-
धीनत्वं स्वीकृत्य रक्षार्थं राज्यवद-व्यवस्थां प्रथमं कृतवन्तः शनैः । शनैरस्या
ईदृगाकारः सवृत्तः । अतो नैकस्येदं कार्यं न चैकवन्द्यस्य वा । राज्यव्यवस्था
समयाधीना परिवर्तते । विद्या त्वन्या कथासंकाशीना, पश्चाच्छनैः शनैः सापि
वृद्धिं प्राप्नोति । अतो महतां दृष्टान्तेन कार्यं प्रवर्तितव्यमेव । भवन्तु तावत्
पदार्थानामानन्त्यादन्ता विद्याः "सर्वाः विद्या जानीहि सर्वा वा । आविदिता
विद्याः प्रकाशय" इति क उपदिशति, । चेष्टा, कर्त्तव्येत्येतावानुपदेशः । ननु
नववेदान्तिभिरपि शुष्ककाष्ठैर्शुभिर्वा जडैर्वा भाव्यम् । अहो-नवीनवेदान्ति-
नामनिर्वचनीयं मौढ्यम् । तैः कर्मत्यागोऽप्युपदिश्यते । किं तैस्त्वहम् ? एतैः
पशुमूर्खैरज्ञातविद्यातत्त्वैरन्धीकृता भारतभूमिः । अस्तां तावदेतेषामलसानाम-
ज्ञानिनाञ्च कथाः प्रकृतमनुसरामः ।

अब यह चिन्ता करो कि हम लोगों में कितनी और कैसी शक्ति है इसके लिये
कृतकार्य मनुष्यों के उदाहरण लेवें और विचारें कि मनुष्यत्वेन हम सब धरमर
हैं तब एकने जो काम किया उसको हम क्यों नहीं कर सकेंगे, यह विचार उस
कार्य में प्रवृत्त होजाय, अवश्य ही तुम भी इसको कर सकोगे । शङ्का—सुखि की
सारतन्त्र देखते हैं । उत्तर—सत्य है, परन्तु अपनी प्रवृत्ति से पूर्व ही तुम को यह
कैसे प्रत्यक्ष होगया कि यह कार्य मुझ से न होगा । प्रश्न—एक सम्राट् अपनी सेना
से परिवृत्त हो जो काम करता है उस २ काम को करता हुआ अविज्ञान हल
चलानेद्वारा कदापि नहीं देगा गया, यदि वह हासिक उस सम्राट् के समान मनो-
रथ करें तो कैसे हो सकता । उत्तर—यह एक का कार्य नहीं । तुम एक ही एक
का दृष्टान्त लो । यथा—एक कणादश्रुति ने परमाणु विद्या का आविष्कार किया वैसा
तुम भी कर सकते हो । राजा का दृष्टान्त जो तुमने दिया है उसका भी इस प्रकार
समाधान होगा । इतिहास से जाना जाता है कि पूर्व में कोई राजा नहीं था । कुछ
समय बीतने पर बलिष्ठ पुरुष न्यून पुरुषों को बाधा देने लगे । धीरे, २ उसने निज
शक्ति को बढ़ाना आरम्भ किया । बलात् न्यून पुरुषों को अपने वश में करके राज्य
स्थापित किया पूर्व समय में ऐसा विस्तीर्ण राज्य नहीं था । अथवा जब चोर डाकू
आदि दुष्ट जनों से प्रजाए उपद्रवित होने लगी और अपनी रक्षा करने में असमर्थ

हुई तब एक नयक को स्थिर कर उनकी अधीनता स्वीकार कर रक्षा के लिये राज्य के समान प्रथम व्यवस्था बांधी । धीरे २ राज्य का आज ऐसा आदार हो गया है । इस हेतु वह एक वा कार्य नहीं और न एक वंशस्थ पुरुष का ही, किन्तु अनेक वंशपरम्परा होते २ आज इसकी यह आशुनि है । राज्यव्यवस्था समयाधीन परिवर्तित होती रहती है । बिधा तो अन्य कथा है । वह एक के अधीन है । पश्चात् धीरे २ वह भी वृद्धि का प्राप्त होती, इसमें सन्देह नहीं । इस हेतु महान् पुरुषों के दृष्टान्त से कार्य में प्रवृत्ति करनी चाहिये । इस हेतु पदार्थों के अनन्त होने से विद्याएं भी अनन्त हों । इसकी कोई चिन्ता नहीं । “मय ही विद्याएं जानो । अथवा सब ही आविर्दित विद्याओं को प्रकाशित करो ” यह वान उपदेश देता है किन्तु चेष्टा करनी चाहिये इतना ही उपदेश दिया जाता है, उपदेश महा यह दिया जाता है कि नवीन वेदान्तियों के समान शुष्कनाष्ठ वा पशु वा जड मन होओ । आश्चर्य ! नवीन वेदान्तियों का मॉट्ट भी अनिर्बचनीय है । वे नवीनवेदान्ती सर्वकर्म त्याग के लिये उपदेश देते हैं । उन्होंने स्वयं क्या त्याग ? ये पशु और मूर्ख हैं जिन्होंने विद्याओं के तत्वों को न जाना इस भारतवर्ष को अन्ध बना दिया है । इन आलसी अज्ञानियों की कथाओं को यहां ही रहने दो हम लोग अपने विषय का अनुसरण करें ।

वेदेषु ब्राह्मणेषूपनिषत्सु च समस्ति काशीदृशी शिक्षा ? येदानीमिव केवलं नामजापं स्वदीयां भक्तिञ्च दर्शयेत् । नद्येतन्सदृशं क्वापि तत्त्वपारदृग्बमिश्र-पिभिरचरितम् । चातुराधर्म्ये कर्मम्याध्यायप्रवचनपरिपाटी समवतततरामिति प्रागवोचाम । अ. मा. कं प्राञ्च आचार्याः पदार्थविज्ञानैव निःश्रेयसं मन्यन्ते स्म ।

वेदों में, ब्राह्मणों में, उपनिषदों में कोई भी ऐसी शिक्षा है ? जो केवल नाम, जप और तुम्हारी भक्ति को बतलावे । ऐसे ऐसे कार्यों को कहीं भी तत्त्वपारदृश श्रुतियों ने कभी नहीं किया है । चारों आधर्मों में कर्म, म्याध्याय और प्रवचन की ही अधिक परिपाटी थी इसको प्रथम हम कह चुके हैं, ज्ञानोपाजन ही परमभक्ति मानी जाती थी भृगु आदिक के उदाहरण से विदित होता है । यह भी वेदोंः—हम लोगों के प्राचीन आचार्य पदार्थों के विज्ञान से ही निःश्रेयस मानते थे ।

तद्यथा—“धर्म-विशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म-सामान्यविशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥ पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥ रूपरसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्या परिमण्यानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वापरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥ उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमन-मिति कर्माणि” ॥ ७ ॥ वैशेषिक द० अ० १ । आ० १ ॥

यथा—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये छः पदार्थ वैशेषिक के हैं। इनहीं पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस होता है। यह महर्षि कणाद कहते हैं। पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सङ्ख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये गुण हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन ये पाच कर्म हैं।

इत्यादि सूत्रजातं सूत्रयन्तो मगवन्तः कणादाः पृथिव्यादिपदार्थसमुदाय-तत्त्वविज्ञानादेव निःश्रेयसपथमुपदिशन्ति ।

इत्यादि सूत्रों को रचते हुए भगवान् कणाद महर्षि पृथिवी आदि पदार्थ-समुदाय के विज्ञान से ही मुक्ति होती है यह उपदेश देते हैं। यदि केवल नाम जपने से वा तुम्हारी भक्ति से ही कल्याण होता तो क्या कणाद ऋषि लोकरात्रु थे कि जिन्होंने इस महान् ग्रन्थ को बनाकर पढ़ने का भार सबों पर डाला है।

एवमेव—“प्रमाण प्रमेय-मंशुष-पयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्ताद्यय-तर्क-निणय-चाद जल्प-विनष्टा-हेत्वाभास-क्षल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ २ ॥ आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रज्ञादिषु प्रेत्याभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ६ ॥ पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥ गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदयाः” इत्यादिभिः सर्वभगवान् श्रौतमोक्षि पदार्थज्ञानमेवावगर्गसाधनमुपदिशति ।

इसी प्रकार—प्रमाण १ प्रमेय २ मशय ३ प्रयोजन ४ दृष्टान्त ५ सिद्धान्त ६ अवयव ७ तर्क ८ निर्णय ९ वाद १० जल्प ११ वितण्डा १२ हेत्वाभास १३ छल १४ जाति १५ निग्रहस्थान १६, इन षोडश पदार्थों के ज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होती है ॥१॥ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं ॥३॥ आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग ये प्रमेय हैं ॥६॥ पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश ये पांच भूत हैं ॥११॥ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पृथिवी आदिक के गुण हैं । इत्यादि सूत्रों से भगवान् गौतम भी पदार्थ ज्ञान को ही मोक्षसाधन कहते हैं ।

सम्प्रति कापिलं सांख्यमधीष्व । प्रकृति-पुरुष-विज्ञानमन्तरा न तत्रापवर्ग-स्याशालेशोपि क्वापि ध्वनितः सम्पूर्ण-दृश्यमदृश्यं सूर्यादिसहितं ब्रह्माण्डपद-वान्यं यत्किमपि वर्तते तत्सर्वं प्रकृतिकार्यम् । अत्र कार्यवर्षाधेनैव प्रकृति-बोधः । तस्मिन् सति प्रकृतिस्तं पुरुषं जहाति । ततो मुक्तिः । तत्रेमः कारिका भवन्ति ।

अब कापिलसंख्य शास्त्र को देखो । प्रकृति और पुरुष के विज्ञान के बिना उस शास्त्र में कहीं भी मुक्ति का केश ध्वनित नहीं हुआ है । सम्पूर्ण दृश्य, अदृश्य, सूर्यादि सहित ब्रह्माण्डमद्वयार्थ जो कुछ है वह सब ही प्रधान का कार्य है ॥ कार्य के बोध से ही प्रकृति का बोध कहा गया है । 'जब ऐसा बोध उत्पन्न होता है तब प्रकृतिरूप की पुरुष को छोड़ देती है तब मुक्ति होती है ।' इस त्रिषय में इन कारिकाओं को देखो—

दृष्टवदानुश्रविकः सदाविशुद्धिचयातिशययुक्तः । तद्विपर्ययः श्रेयान् ध्येयान् व्यक्तज्ञ-विज्ञानात् ॥ २ ॥ रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाशय निवर्तते प्रकृतिः ॥ ५६ ॥ प्रकृतेः सुकृमास्तरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्मवति । या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥ रूपैः सप्तभिरेव बन्धनान्मानमात्मना प्रकृतिः । सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोच-यत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

(दृष्टवद्-आनुश्रविकः) दृष्ट उपायों के समान ही धर्मशास्त्रोपाय भी हैं (दि) क्योंकि (अविशुद्धि०) के धर्मशास्त्रोपाय भी अशुद्ध, क्षयशील और अति-

शययुक्त है, इस हेतु इसके विपरीत (व्यक्त) प्रकृति का कार्य=यह सम्पूर्ण जगत् (अव्यक्त) स्वयं प्रकृति और (ज) आत्मा इन दोनों का विज्ञान ही मुक्ति साधक है ॥ १ ॥ (रत्नमय०) जेमे नर्तकी नृत्य देग्नेहारों को सम्पूर्ण खीला दिसला कर नृत्य से निवृत्त हो जाती है वैसे ही यह प्रकृति जीवात्मा को अपनी आकृति दिसला कर छोड़ जाती है ॥ ५६ ॥ (प्रकृतेः) मे समझना है कि प्रकृति से बढ़ कर कोई भी सुखमार नहीं है । क्योंकि जब प्रकृति पन्धवार भी यह देग्नेलती है कि मुक्त को इस पुरुष ने दख लिया तब पुनः उस पुरुष के सामने कदापि भी नहीं होती है ॥ ६१ ॥ यह प्रकृति मात्र रूपों से जीवात्मा को बाधती है और एक रूप से बही इसको छुड़ भी है ॥ ६३ ॥

विचारय ! नहि मानुषीय प्रकृतिः कापि युवती सुन्दरी मनोमहास्ति । या स्त्रेन सौन्दर्येण कमलि रक्तं बध्नीयात्, न चेयं कारि राजवधूरसूर्यपदयास्ति या मरेण पुरुषेण दृष्टास्मीति तस्मात्प्रवेत । पुनश्चात्मानं न दर्शयेत् कदापि । किन्तु जं यात्मानं वर्जयित्वा सम्पूर्णं सृष्टिरेव प्रकृतिः । यथा—

मत्तजस्तमसा माभ्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चदन्मात्राण्युभयमिन्द्रिय तान्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशती-गेणः ॥ ६१ ॥ सार्व० अध्याय १ ॥

इदानीमनुमानं शक्नोषि-व्यक्राव्यङ्ग्य-विज्ञानांमुक्तिमुपदिशतामाचार्याणां कोनाऽऽशयः । व्यक्राव्य प्रकृतिद्वार्यस्य विज्ञाने क्रियन्ति रर्षीणि व्यत्येव्यन्ति । तथापि किं तस्याशेषस्य निःशेषतया सम्पत्ज्ञानं कदापि भवितुमर्हति । कार्य-त तस्यानन् यत् । आचार्यास्तु तज्ज्ञानान्मुक्तिं शामति । एतेन प्रकृतिविज्ञाने कृत्रिमन्तो जना भवन्तिप्रति प्ररोचनार्थं शास्त्रं प्रणीतम् ।

अब यहां विचार करो कि प्रकृति, मानुषी के समान युवती, सुन्दरी, मनो-रमा खी तो नहीं है, जो स्वकीय सौन्दर्य से किसी रक्त पुरुष को बाधेगी, न यह कोई राजा की स्त्री के समान असूर्यपरया (जो सूर्य को भी नहीं देखती है) खी है, जो परपुरुष से में देखी गई है इस हेतु उसमे बराबर खजानी, रहे, पुनः अपने शरीर को कदापि नहीं दिखलावे तो प्रकृति क्या है ? देग्ने जीवा-

त्मा को छोड़ यह सन्नूर्ण सृष्टि ही प्रकृति है, क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि “सत्त्व, रज, तम इन तीनों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति में महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा और धर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। तन्मात्रा से पञ्चस्थूलभूत होते हैं इससे महान् से लेकर पृथिवी पर्यन्त प्रकृति के कार्य हैं। इत्यादि शास्त्रों से सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नाम ही प्रकृति है। इससे कोई भिन्न प्रकृति नहीं। अब आप अनुमान कर सकते हैं कि व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के विज्ञान से मुक्ति होती है यह उपदेश करते हुए आचार्य का क्या आशय हो सकता है ? प्रकृति-कार्य जो व्यक्त है उसके विज्ञान-निमित्त कितने वर्ष व्यतीत होवेंगे। तथापि क्या सम्पूर्ण व्यक्त का सम्पूर्णतया सम्यक् ज्ञान कदापि हो सकता है ? क्योंकि ये कार्यसमूह अनन्त हैं, परन्तु आचार्य इसके ज्ञान से ही मुक्ति कहते हैं, इसमें विस्पष्ट है कि प्रकृति के विज्ञान में मनुष्य रुचिमान होवे इसी प्ररोचनार्थ शास्त्र रचा है।

योगशास्त्रन्तु सांख्यमेवानुकरोति । यावदायुषं यज्ञानुष्ठानं शांति मीमांसा । तत्त्वशेषाणां वेदानां शतपथादि-ब्राह्मणानामङ्गानामुपाङ्गानाञ्चाध्ययनाद् विना न संभवति । वेदादयस्तु ईश्वरीय-विभूत्यपरनाम्ना प्रकृतिमेव पदे पदे स्तुवन्ति । अयमग्निः । एष सूर्यः । अयं वायुः । एते ग्रहाः । एत उपग्रहाः । इत्यादि नामानिर्देशेन । एवं यज्ञानुष्ठानञ्छलेन विविधाः प्रकृतिविकारा एव अध्याप्यन्ते । ब्रह्ममीमांसा तु सर्वासामुपनिषदां समन्वयरूपे स्वीयामाकृतिमय-तां विस्तीर्णा करोति यां परिरब्धुं सहस्रेषु लक्षेषु वा कश्चिदेवाहः । यदि नामजपादिभिरेव ब्रह्म प्राप्तुं शक्यं तर्हि मुधैव कृष्णैर्द्रोणायनश्चतुरध्यायी प्रणिनाय । अन्ये च स्वं स्वमीदृशं शास्त्रम् ।

योगशास्त्र मान्य का ही अनुसरण करता है। मीमांसा सम्पूर्ण आयु यज्ञानुष्ठान की ही जिज्ञा देती है। वह अनुष्ठान सत्र वेदों के, सत्र ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण मन्त्रों के तथा अङ्ग उपाङ्गों के अध्ययन विना कदापि नहीं हो सकता। वेदादि मन्त्र शास्त्र ईश्वरीय विभूति की दूमरी नामावली प्रकृति की ही पद पद में स्तुति करती है। यह अग्नि, यह सूर्य, यह वायु, यह ग्रह, ये उपग्रह हैं। इस

प्रकार यज्ञानुष्ठान के द्वाल से विविधप्रकृतिनिकार ही पढाये जाते हैं । ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) तो मत्र उपनिषदों के समन्वय करने के निमित्त अपनी आकृति को इतनी विस्तीर्ण करती है कि जिसको पाने के लिये सहस्रों लार्यों में कोई एक ही समर्थ हो सकता है, यदि नाम के जपादि से ब्रह्म-प्राप्ति हो सकती थी तो व्यर्थ ही कृष्ण द्वैपायन आदिक आचार्यों ने ऐसा २ शास्त्र रचा ।

अत्र तु न सन्देहस्तत्त्वविज्ञानायैव यमादयो धर्माः सेव्यत्वेनोपदिष्टाः । नहि तत्त्वविज्ञाननिरपेक्षाः क्वचिदपि यमादयः साध्यत्वेनोक्ताः । अतो धूम-ईश्वर-निभूत्यध्ययनायैव मानवी सृष्टिरिति । यथा यथा मनुष्येषु तत्त्वविज्ञानं वर्धयन्ते तथा तथा मिथ्याज्ञाननिवृत्तेः सुखमपि प्रसारयति । तदैकान्तमत्यन्तव्यापनं लप्स्यन्ते मनुष्या इत्यत्र किमिहास्ति बहु वक्तव्यम् । एतान् देवपर्याप्तं यत् “ज्ञानान्मुक्तिः” इत्यस्माकमाचार्याणां सिद्धान्तो भूयो भूयो मीमांसनीयः ।

हममें सन्देह नहीं कि तत्त्वविज्ञान के लिये ही यम आदि धर्म सेव्यत्वेन उपदिष्ट हुए हैं । तत्त्वविज्ञान रहित यमादिक की साधना कहीं नहीं कही हुई है । इस हेतु हम कहते हैं कि ईश्वर की निभूति के अध्ययन के लिये मानवी सृष्टि हुई है । जैसे २ मनुष्यों में तत्त्वज्ञान बढ़ेगा वैसे २ मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होगी और उससे सुख भी फैलेगा । तब ही एकान्त और अत्यन्त अवर्ग (मुक्ति) को मनुष्य पावेंगे हममें बहुत क्या कहना है । इतना ही कहना बहुत है कि—“ज्ञानान्मुक्तिः” जो यह हम लोगों के आचार्यों का सिद्धान्त है उसको बारम्बार मनन करो ।

पुनः शङ्कते—योऽयमोश्वरो धारापृथिव्यै जनयन् मातापितृशत्रुभ्योऽप्यधिकृत-र-वात्सल्यशाली निखिलप्रयोजनविद् पुद्गेरापिशुद्धिप्रदोस्ति । स किमुदिरयमां विलक्षणां मानवीं सृष्टिं विदधाति । अस्ति काचिदीदृशी मनुष्येषु शक्तिर्यथा परमगहनं वादिप्रतिवाद्युन्थापितप्रतिपत्तिमयङ्करोमपि यदज्ञानेन रिक्तीकृताखिलमानुषप्र-यत्नम् अतएवोत्तरेतरकल्याणाय परःसहस्रैरप्यायभिरप्यशेषचित्तबोधं पर्यन्त-योगमवधारयितुं पारयाम । अस्तीति समाधानम् । यदि श्रुतिपदविहीनाः प्रेक्षावन्तो जनाः परीक्षका ब्रह्मणि मनः सनावाय तन्नाशिसु आवृद्धस्तम्भोद्यायचेष्टु पदा-

येषु गंधीरां सात्त्विकीं विज्ञानदृष्टिं प्रतिपन्त एतदर्थं कालं चपयेयुस्तर्हि किन्नाम
दुष्करं विचक्षणानां पञ्चजनानाम् । दृश्यते आकिञ्चिदुद्बोधोदयाद् मानवो-
र्मकः खलु स्वपरित ऊर्ध्वमधश्च स्थितान् नूतनान् नूतनान् पार्थिवान् प्राच्या-
मुद्यन्तं मास्करं, नक्तं गगनस्थं, चन्द्रमण्डलं, नक्षत्रचक्रं, ध्रुलोकस्थान्, उत समी-
पतरवारिणः सारमेयवायसादीन् पदार्थान् दर्शं दर्शं किमिदं किमिदं मार्तर्भण
मे सर्वमिति पृच्छन् विज्ञासावानहरहो दृश्यते । दृष्ट्वा चेमान् चकितो भवति तत्त-
त्पदार्थज्ञानाय लालसावानुत्सुकतरश्च जायते । रात्रिन्दिवं घालचरितानि पश्य ।
तेन ज्ञास्यसि इयं मानवी सृष्टिर्बलवत्तरविजिज्ञासावती वर्तते इति । विजिज्ञासा खलु
पदार्थानां विशेषतया ज्ञातुमिच्छा । दृश्यते च तेन विजिज्ञासावलेन स्तुत्य-
निवृत्तये मनुष्यैः यथायथं विदिता न्यपि भूरीणि गूढानि पदार्थतत्त्वानि । एतेन
विजिज्ञासार्थवतीति न सन्देहः । अत्रोऽनुमन्यामहे किमपि विज्ञातुमवेयं विशेषेण
मानुषी सृष्टिः । जिज्ञासायामेव प्रवर्त्तयितुं मानवजातिः सृष्टा परमात्मनेति सिद्धयति
अत्र ईश्वरीयवाक्यानां तज्ज्ञानां महर्षीणां प्रवृत्तेरच प्रमाणम् । यदुभयमन्त-
रा केवलैः शुष्कतर्कवादार्त्तं किमप्यस्माभिः प्रतीष्टापयितुं शक्यम् । तत्र तत्र
वेदेषु तु “तमेव विदित्वाति मृत्युमेति” इत्यादिषु स्ववचनेषु ज्ञानार्थक-
विद्यादिवातुमयोगैः पदार्थानां वेद्यत्वं मनुष्याणां वेत्तृत्वञ्च सम्यगनुशास्ति
मगवान् कारुणिकः । अप्योऽपि स्वस्वप्रवृत्त्या “य एव वेद य एव वेदेत्यादीन्
भूरि-भूरि प्रयोगांश्च विदधतस्त्वमेवार्थमनूय मगवाभिदेशं प्रमाणीकुर्वन्ति । तद्यथा-

शङ्का—जो यह ईश्वर, ध्रुलोक और पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ, शतशः माता
पिताओं से भी अधिकतर वात्सल्यशाली, समस्त प्रयोजनों को जाननेद्वारा बुद्धि को
भी सुबुद्धिप्रद है । वह किस चक्षेत्र से इस विलक्षण मानव सृष्टि को करता है ?
क्या मनुष्यों में कोई ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा इस परम-गहन प्रश्न को निश्चित
करने में हम लोग समर्थ होवें क्योंकि यह प्रश्न वादी और प्रतिवादी दोनों के
छाए हुए विविध सन्देहों से अति भयङ्कर हो रहा है । भयङ्कर होने पर भी जिसके
न जानने से मनुष्यों के अखिल प्रयत्न व्यर्थीभूत होगये हैं । इस हेतु उत्तरोत्तर
कल्याण के वास्ते हजारों परिश्रमों से भी जिसका बोध अवश्य ही अपेक्षित है इसके
उत्तर में कहा जाता है कि हे अर्थात् मनुष्य में वह शक्ति है । यदि प्रतिपक्ष-

विहीन प्रेक्षावान (१) जन परीक्षक होके ब्रह्म में मन समाहित कर उसकी महिमा जो ब्राह्मण से लेकर स्तम्भ (पत्त) पर्यन्त ऊच नीच पदार्थ हैं उन पर गम्भीर सा-
त्त्विक विज्ञान दृष्टि को फेंक देते हुए इसके लिये काल को बितावें तो विचक्षण
मनुष्यों के लिये क्या दुष्कर है । देखते हैं जब ही किञ्चित् बोध का उदय होता है
तब से ही मनुष्यालोक अपने चारों तरफ ऊपर और नीचे स्थित क्या नवीन पृथि-
वीस्थ पदार्थ, क्या पूर्व दिशा में उगता हुआ सूर्य, क्या रात्रि में गगनस्थ चन्द्र-
मण्डल, नक्षत्रसमूह, शुलोकस्थ पदार्थों को, क्या अति समीप में विचरण करनेवाले
कुत्ते, कौबे आदि पदार्थों को देख २ कर यह क्या है, यह क्या है, मा मुझको
सन कहो, इस प्रकार पृच्छता हुआ दिन २ जिज्ञासावान् दीप्त पड़ता है । इन सनों
को देख २ कर बड़ा ही चकित होता है । उस २ पदार्थ को जानने को लग्नसा-
यान् और अति उत्सुक होता । आप लोग रात दिन बालचरितों को देखो उससे
आप जानोगे कि यह मानवी मृष्टि वही विनिज्ञासावती है । पदार्थों को विशेष
पूर्वक जानने की इच्छा का नाम ही विजिज्ञासा है । इस जा-बल्यमाना और महती
इच्छा से यह अधिकतर युक्त है और यह भी देखते हैं कि उस जिज्ञासा के बल
से अपनी उत्सुकता की निवृत्ति के हेतु मनुष्यों ने जिस किसी प्रकार से बहुत कुछ
पदार्थों के गूढ़ तत्त्वों को जान भी लिया है । इससे विजिज्ञासा अर्थवती है यह
सिद्ध होता अर्थात् जिज्ञासा ध्वर्थ नहीं है । इससे हम अनुमान करते हैं कि कुछ
न कुछ जानने के लिये ही विशेषकर मनुष्यसृष्टि है । इससे सिद्ध होता है कि
जिज्ञासा में प्रवृत्त करवाने के लिये ही ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की है यहा प्रथम
ईश्वरीय वाक्यों का और तत्पश्चात् उनके जाननेवाले महर्षियों की प्रवृत्ति का प्रमाण
प्रस्तुत करते हैं । जिन दोनों के बिना केवल शुष्क तर्कवादों से कुछ भी हम लोग
प्रतिष्ठापित नहीं कर सकते । वहा २ वेदों में तो ज्ञानार्थक “विद्” आदि धातुओं

(१) यस्यामुत्पद्यमानायामविद्या नाशमहर्षि ।

विवेककारिणी बुद्धि सा प्रेक्षेत्यभिधीयते ।

जिसकी उत्पत्ति होने से अविद्या नाश को प्राप्त होती है, ऐसी जो विवेका-
रिणी बुद्धि है उसे प्रेक्षा कहते हैं ॥

के प्रयोगों से कारुणिक भगवान् अच्छे प्रकार सिखलाता है कि पदार्थ अवरय वेद्यं अर्थान् जानने योग्य है और मनुष्य वेत्ता अर्थान् जाननेहारे हैं । अपि लोग भी अपनी अपनी प्रवृत्ति से और अपने ग्रन्थों में पद २ पर “ य एवं वेद, ये एवं वेद ” जो ऐसा जानता है जो ऐसा जानता है, इस प्रकार के बहुत २ प्रयोगों को करते हुए उसी वैदिक अर्थों का अनुवाद कर भगवान् की आज्ञा को प्रामाणिक करते हैं । अब प्रथम वेदों के प्रमाण कहते हैं ॥

स्त्रियः सतीस्तौ उ मे पुंस आहुः पर्यदक्षंपवान् न वि चेतदन्धः । कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितृपितामत् । अ० १ । १६४ । १६ ॥ य ई चकार न सो अस्य वेद य ई ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् । स मातृपौनां पतिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निश्च्युतिमा विवेश । अ० १ । १६४ । ३२ ॥ “ प्र तद्वोचेदमृतं तु विद्वान् गन्धर्वो धाम विमृतं गुहासत् । त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् । ” यजु० ३२ । ६ ॥ “ न तं विदाय य इमा जजान । ” य० १७ । ३१ । यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्मोताः प्रजा इमाः । सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्रह्मणं महत् ॥ अथर्व० १० । ८ । ३७ ॥ पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिमिर्गुणैरभिरावृतम् । तस्मिन् यत्तमो रमन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

“स्त्रियः” इस मन्त्र में “ज्ञा” धातु और “य ई चकार” “प्रतद्वोचेद” । “न तं विदाय” । “यो विद्यात्” । “पुण्डरीकम्” “अकामः” । “यत्र देवाः” । इत्यादिक मन्त्रों में “विद्” धातु के प्रयोग विद्यमान हैं । इत्यादि अनेक स्ववचनों में स्वयं भगवान् भूतभावन परमपिता “विद्” धातु और तदर्थक धातुओं के प्रयोगों से परममाननीय और शारवती इच्छा का प्रकाश करते हैं कि पदार्थविज्ञान के स्त्रिय ही मनुष्यों को मैं रचता हूँ । यदि यह आराय नहीं होता है तो जानने से मनुष्यों को कल्याण होगा ऐसी शिक्षा वेदों में नहीं देवे । इससे मालूम होता है कि जानने के लिये ही मनुष्य-सृष्टि है । आगे सचेष्ट से उक्त मन्त्रों का अर्थ करते हैं ।

इन्धर कहता है (मे) मेरी (सतीः) सर्वदा रहनेवासी नित्य अविनश्वर (स्त्रियः) जो ये विस्तीर्ण विविध शक्तियाँ हैं । यद्यपि ये शक्तियाँ स्त्रीस्वरूपा हैं तथापि

(तान्+ऊ+इति) उन को ही विद्वान् लोग (पुंसः+आहुः) पुरुष कहते हैं । इसको (अक्षरवान्+पश्यत्) छानी पुरुष देखते अर्थात् जान सकते (न+वि+चेद्+अन्धः) परन्तु जो ज्ञानरूप नेत्र से रहित हैं वे नहीं देख सकते किन्तु (यः+पुत्रः) जो मेरा पुत्र अधिकारी (कविः) पदार्थ तत्त्ववित् है (सः+ई+आधिकेत) यही जानने में समर्थ हुआ है । हे मनुष्यो ! (यः) तुम लोगों में जो (ता) उन सम्पूर्ण पदार्थों को (विजानात्) विशेष रीति से जानता है (सः) वह (पितुः) पिता का भी (पिता) पिता (असत्) होता है । अर्थात् पुत्र पौत्रादि सहित चिरकाल जीवित रहके परम, उपाति को प्राप्त होता है । यहाँ यह विविध सृष्टियाँ मानो स्रिया हैं क्योंकि जीवत् ये विविध पदार्थों को प्रतिदिन उत्पन्न कर रही हैं परन्तु इनको हम लोग पुरुष कहते हैं । अर्थात् इन्द्रीय सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ में स्त्रीत्व और पुंस्त्व दोनों शक्तियाँ विद्यमान हैं । इसको केवल छानी जानते हैं अन्य नहीं । (म+ई+चकार) जो ही पुरुष इस प्राणी को पुत्रादि रूप से उत्पन्न करता है (सः) वही पिता (अस्य) इस पुत्र के विषय में (न+वेद्) कुछ भी नहीं जानता । यद्यपि पिता पुत्र को उत्पन्न करता है परन्तु वह उसके विषय में कुछ भी नहीं जान सकता तथापि (तस्मात्) उस पुरुष से (हिरक्+इत्) वह परमात्मा से अन्तर्हित ही है । अर्थात् छिपा हुआ ही है (सः) वह परमात्मा के ज्ञानरहित (मातृयोर्ना+अन्तः) मातृगर्भ में (परिवीर) बारबार परिवेष्टित हो (बहुप्रजाः) अनेक जन्म ग्रहण करता=बहुत पुत्र पौत्रादि उत्पन्न करता हुआ (नैर्ऋतिम्+आ-विशेष) केवल दुःख की ही पाता रहता है । (गन्धर्वः) जो वेदवर्णों का धारण करने द्वारा (विद्वान्) पंडित (नु) शीघ्र (तत्+अमृतम्) उस अमृत परमात्मा का (प्रयोचेत्) व्याख्यान कर सकता है । जो परमात्मा (गुहा) गुप्त स्थान में (सत्) विद्यमान (धाम) स्थान है (विभूतम्) स्थित है । अर्थात् अत्यन्त गोपनीय स्थान में रहता है अर्थात् अज्ञेय (अन्य) इस परमात्मा के (त्रीणि प-दानि) तीन स्थान तो (गुहा निहितानि) गुप्तस्थान में छिपे हुए हैं (यः) जो विद्वान् (तानि) उनको (वेद्) जानता है (सः) वह (पितुः पिता+असत्) पिता का पिता होता है । (न+तं+विदाथ०) हे मनुष्यो ! उसको तुम नहीं जानते हो जिसने इसको बनाया । (यः) जो (विततम्) विस्तीर्ण (सूत्रम्) सूत्र को (विद्वान्) जानता है (यस्मिन्+इमाः+प्रजाः+ओताः) जिसमें ये समस्त प्रजाएँ

स्थित हैं और (सूत्रस्य+सूत्रम्) इस सूत्र के सूत्र को भी (यः+विद्यान्) जो जानता है (सः) वह (ब्राह्मणम्+महत्) महान् ब्रह्मतेज को जान सकता है। (पुरा-
रिकम्) सयद्वार सहित त्रिगुणों से संयुक्त जो यह शरीररूप कमल है (तस्मिन्)
- उस शरीर में परमात्मा सहित जो जीवात्मा है उसी को बड़ा विद्वान् लोग समझते हैं।

अक्रामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न
विमाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ अ० १० । ८ । ४४ । यत्र देवा
ब्रह्मविदो ब्रह्मज्येष्ठमुपासते । यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता
स्यात् । इत्याद्यनेकेषु स्वयमेव मंगयान् भूतभावनः परमोर्षिर्विदि तद-
र्थकवातुप्रयतैः “पदार्थविज्ञानायैव मनुष्यान् सृजामीति” परमाननाया
शारवती समीहां प्रकटयति । महर्षीणां प्रवृत्तिं पश्यत । “भृगुर्वै वारुणिः ।
वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अर्चं
प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनोवाचम्” । तैत्तिरीये । “अधीहि भगव इति होपससाद
सनः कुमारं नारदः । तं होवाच यद्वेत्य तेन सोपसीद ततस्व ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥”
छा० ७ । १ । ॥ “श्वेतकेतुहारुण्य आस । तं ह पितोवाच श्वेतकेतो ! वस
ब्रह्मचर्यम् । न वै सोम्यास्मत्कुत्रीनोऽननूय ब्रह्मचन्धुरिव भवतीति । स ह द्वाद-
शवर्ष उपेत्य चतुर्निशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्यः पर्यायः” । “अतश्च
स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृमान् पितृमान् आचार्यवान्
पुरुषा वेदः ॥”

(अक्रामो) अक्राम, धीर, अमृत स्वयंभू, रसेन तृप्त, निर्भय जो परमात्मा
है उसका जानता हुआ पुरुष पुनः मृत्यु से नहीं डरता है । (यत्र देवाः) जहां
ब्रह्मविद पुरुष ब्रह्म की उपासना कर रहे हैं उनको जो जानता है यही विद्वानी ब्रह्मा
है । इत्यादि वेदों में बहुत मन्त्र हैं जिनमें विस्पष्टरूप से कहा हुआ है कि पिता
पदार्थों के ज्ञान से मनुष्यों का कल्याण नहीं हो सकता । अब ऋषियों की प्रवृत्ति
देतो : वरुणपुत्र भृगु अपने पिता वरुण के निकट गये और बोले हे भगवन् !
मुझ को ब्रह्म के विषय में पढ़ाइये । भृगु से वरुण बोले, इस प्रकार उपदेश दिया :—
अम, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन इत्यादि ।

नारद सनत्कुमार के निकट विद्याध्ययन के लिये गये । नारद से सनत्कुमार खोले हे नारद । आप जितना जानते हैं उन सबों को प्रथम सुनाओ । उसके आगे आपको मैं उपदेश दूँगा । अरुणपुत्र श्वेतकेतु जिसो समय में कहीं हुए । पिता ने उन से कहा कि हे पुत्र श्वेतकेतो । ब्रह्मचर्य करो । मेरे कुल में कोई अननूषान (वेद के न जाननेवाले) नहीं होते । वह श्वेतकेतु १२ वर्ष की अवस्था में आचार्य के यहाँ आकर २४ वर्ष की अवस्था तक सारी विद्या अभ्ययन करते रहे । तत्पश्चात् गृह पर लौट आये । हे ब्रह्मचारियो ! सत्यता धारण करो और इस के साथ पदों ओर पढ़ाओ । सत्य पदार्थ को जानो और इसके साथ स्वाध्याय (निज पठन) प्रवचन (दूसरों को पढ़ाना) भी किया करो । स्वाध्याय से प्रमाद मत करो । स्वाध्याय प्रवचन से प्रमाद कदापि नहीं करना चाहिये । मादमान्, पिदमान् और अर्वाचर्यान् पुरुष जानता है ।

अन्यथ—इतरेषां पशु-विहग-सर्प-सरीसृपादीनां निसर्गत एव स्वजीवनाप-
योगिशिक्षाबोधश्च जायन्ते । स्वस्वजातिजाः कठिना अपि विद्याः स्वभावेनैव
विना प्रयामेन जन्मत एवोपलभ्यन्ते नैतन्मनुष्येषु कचिदृष्टम् । नहि कोऽपि प्ल-
वङ्गशिशुन् दृष्ट्वा शिञ्चते । नहि विहगान् तालपत्राचलाम्बिनो लघून् सुन्द-
रान् गृहान् निर्मातुं कोप्यध्यापयति । मत्स्या जन्मत एव जलेषु तरन्ति ।
भ्रमरा केन नैपुण्येन सरसां विदधति । एवमभ्योयन्तामितरेषां स्वभावाः । किन्तु
नाध्ययनेन विना विदुषां मनसा विद्वांसो भवितुमर्हन्ति । मादतःपिदत आग-
च्छन्ति बहवो गुणाः । परन्तु विद्यासम्बन्धिवार्तास्ते यदि च न जानीयुस्तर्हि तेषा-
मितरजीववन्निर्वाहोऽपि दुष्कर एव । किं बहुना, ययाययोस्मिन् विवेचयन्ति
तयातयेर्दं वेदिष्यन्ति भवन्तः । पदार्थानां तत्त्वज्ञानार्थमेव मानवी सृष्टिरिति ।
सम्पूर्णं दृष्टदारण्यकोपनिषत्प्रधानतया शिञ्चते । तदिहोपरिष्ठाद् ययाययं
व्याख्यास्यामः । ग्रन्थविस्तारमपाम् कमप्यर्थं विस्तारयिष्यामः । संक्षिप्यैव
प्रकटित आशयो बहुधा बुद्ध्या विधातव्यः । तच्च पदार्थतत्त्वविज्ञानमध्यवसायं
विना नहि कदापि मनुष्य उपलब्धुमर्हः स हीदृग् विनिज्ञासवानपि भूत्वा
अलसो भवतीत्याद्यर्थम् । यदा ईषत्प्रयोजनवन्तोऽप्यन्ये जीवाः एकं ध्यमपि
श्रयत्नशून्यमालस्यपूर्वं कुर्वन्तो न दृश्यन्ते ।

इत्यादि अपि महर्षि मुनि महामुनियों की प्रवृत्ति से भी विदित होता है कि कुछ जानने के लिये ही यह मनुष्य-सृष्टि है । और भी पशु, विहग, सर्प, सरीसृप इत्यादि मनुष्यों से भिन्न जीवों को स्वभाव से ही निज जीवन के उपयोगी शिक्षा और बोध उत्पन्न होजाते हैं । स्वस्वजाति की कठिन भी विघात स्वभाव से ही बिना प्रयास के ही उनको जन्मते ही प्राप्त होजाती हैं । परन्तु मनुष्यों में ऐसा कहीं नहीं देखा गया । बानरों के बच्चों को घृष्ट पर कूदना कोई नहीं सिखलाता है । तालघृष्टों के पञ्चावलम्बी छोटे छोटे सुन्दर गृहों को बनाने के लिये पक्षियों को कौन पढ़ाता है । मछलियाँ जन्म से ही पानी में तैरने लगती हैं । भ्रमर किस निपुणता के साथ मधुसूते को बनाते हैं । इसी प्रकार अन्य जीवों के स्वभावों को पढ़ो । परन्तु विद्वानों का पुत्र अध्ययन के बिना कदापि भी विद्वान् नहीं होता । इसमें सन्देह नहीं कि माता पिता से बहुत गुण आते हैं, परन्तु विद्यासम्बन्धी बातों नहीं आती और मनुष्य यदि उन्हें न जानें तो इनका इतर जीववत् निर्वाह होना भी दुष्कर है । बहुत क्या कहें, जैसा २ इस विषय में विवेक करेंगे वैसा २ आप जानेंगे कि पदार्थों के उत्त्वज्ञान के लिये ही मानवसृष्टि है । यह सम्पूर्ण ब्रह्मदारण्य-कोपनिषद् प्रधानतया इसी को सिखलाती है । इसको आगे यथास्थान में व्याख्यान करेंगे, संक्षेप से प्रकटित आशय ही बुद्धि से बहुत कर लेना चाहिये और वस पदार्पितस्वविज्ञान को अभ्यवसाय (परिश्रम) के बिना मनुष्य कदापि भी नहीं प्राप्त कर सकता । मनुष्य ऐसा जिज्ञासावान् होकर के भी अलस होजाता है यह बड़ा आश्चर्य है । जब थोड़े प्रयोजन वाले अन्य जीव अपने एक क्षण को भी प्रयत्नशून्य और आलस्यगुक्त करते हुए नहीं देखे जाते तो क्या ही आश्चर्य है कि बहुप्रयोजन-वान् मनुष्य प्रयत्नशून्य हो ।

एवं बुद्धिमन्तोऽपि वेदैरनुगृहीता अपि पृथिवीस्याऽशेषजीवभ्यो भूयांसोऽपि उपायैरस्त्रिंशं दुःखमुपशमयितुं शक्ता अपि यदुःखमेवाद्यावापि भुञ्जन्ति मानवाः । तस्य प्रयत्नविरोध्यज्ञानमेव कारणम् । अस्त्यैहिकपारलौकिकीभ्यां मिथ्या तृतीया केवला सात्त्विकी चेष्टा या भक्तिशब्देन ज्ञानशब्देन वा व्यवदि-यते । परमे ब्रह्मणि परमा निष्ठा भक्तिर्ज्ञानम्वा । यो वाच मानव्या अशान्तेर्हेतुः सम्पद् विज्ञाय केवलकल्पनोद्भवामासुष्मिकीं कथाञ्चतिरस्कृत्य वेदत आचार्यतः स्वात्मानुभूतितममनुषज्जनिप्रयोजनमवधार्य निःश्रेयस-पथप्रदर्शकं निखिलान-

न्दप्रदं सर्वप्राणिसुखानह ब्रह्ममहिमानमुपधावति । सदास्थाः सात्त्विक्याद्येष्टाया
 अनुग्रहापात्रम् । स तृतीयाया एकमात्रमपि यदि लब्धुमनुकम्प्यते प्राप्नुतुप-
 र्त्तावेदप्रमादेन वा तर्हि तयैकमात्रया सहितः स यावत्सुखं जनेभ्यः प्रयच्छ-
 ति तवत्सप्रादपि समस्तैरेव सम्पत्त्यंशैर्दातुं न शक्नुयात्कालत्रयेऽपि । तथाहि
 साख्येन परमर्षिः कपिलो वेदान्तेन कृष्णद्वैपायनो वैशेषिकेण कणमच आन्वी-
 त्तिक्याऽऽचरणो मीमांसया जैमिनियोगेन पञ्चञ्जलिध्याकरणेन दाक्षीपुत्रः पाणि-
 नी रामायणेन आदिकविर्गाल्मीकिः सम्प्रत्यपि रघुवंशादि काव्येन कालिदासो
 गणितेन भास्कराचार्यो भाषारामायणेन तुलसीदासरचेत्यादयो महर्त्मानस्त्य-
 क्तपणा दृष्टव्यविभूत्येकांशाः सम्प्रति कीर्त्यकशेषा अपि यावत् सुखं लोकेभ्यो
 वितरन्ति कः खलु सम्पूर्णपृथिवीधनराशिम्पन्नोऽपि तावदनं विश्राणयितुं
 पारयेत् । अहो विद्यात्रयमिदं वरदत्त्वात्तपार्थाभूतानां प्रभावः । एकेनैव दण्डे
 नागैश्च शक्यते विना पिशतिं क्रोशान् अतिवाहयितुं सुखेनानायासेन सुदृष्टिः ।
 संहालयन् गायन् रथयन् केनतरेण यानेन शक्नुयात् । सहस्रकौटुम्बे हि
 तस्यापि प्रियस्य सवाद चक्षमात्रेण भागयितुं नञ्चित्तरव्यापारं विना । निःशेष
 भूजनाः समिनिता अपि न समर्थाः । कः खलु पृथिव्यामीदृग् धनिको वा
 भूपतिर्वा वर्तते यो धनबलेन राज्यबलेन वा इतोऽनेकलक्षयोजनेषु दूरेषु विश्वेऽपि
 नक्षत्रमण्डलं प्रत्यासर्ज्य कृत्वा दर्शयित्वा च सरतो विद्रज्जनकुतूहलमपनो-
 दितुमर्हति । एष तु ज्ञानिनामेव प्रभावः । ये हि दूर्वाक्षय-त्रादिकं प्रकार्य
 दुर्लभेनापि वस्तुना प्रजामनोरथं पूरयन्ति । ईदृशाः शतशो महिमानो विराजन्ते
 पृथिवीतले तेषां ब्रह्मविभूतिमहोदधेऽमिगुसीनाम् महात्मनाम् इमे श्रोत्रिया
 ब्रह्माऽऽज्ञा प्रचरन्त्यग्रीभूता जनहितसाधनवत्परायणास्तृणीकृतं सांसारिक-विभू-
 तयो बसिष्ठावेष्टामित्राऽत्रिकेयपगोतमाङ्गिरोवामदेवागस्त्यप्रभृतयो यानि यान्य-
 भूतानि काव्याणि सर्पाद्य मजाभ्यो हितमकार्षुः तदुपवर्णनेऽपि न वेपथ्विदु-
 र्वाणीप्रपारः । एतेषामेव महापुरुषाणां नितान्तमनुष्यसुखेच्छनामुद्योगप्रभायो
 यदिदानोमापे मनुष्या धर्ममाचरन्तां सुखमाजनानि भवन्ति ।
 एते बुद्धिमान् चेतोऽनुगृहीत, पृथिवी के आरोप जीवो से ध्वे और उपायों
 से निखिल दुःखों के उपशान्त करने में समर्थ होने पर भी ये मनुष्य सन्तानों जो
 आजतक दुःख ही भोग रहे हैं इसका प्रयत्न विरोधी अज्ञान ही कारण प्रतीत होता

है । इस हेतु अज्ञान के नशार्थ चेष्टा करनी मनुष्य का कर्त्तव्य है । यह जगत् स्वार्थसिद्धि के लिये ऐहिक वा पारलौकिक चेष्टा में सर्वदा आसक्त रहता है परन्तु । नितान्त प्रेमियों की कथा और चेष्टा इन सब से विलक्षण होती है । ऐहिक-पारलौकिक से भिन्न एक तृतीया केवल सात्त्विकी चेष्टा है जिसको भक्ति वा ज्ञान कहते हैं, परब्रह्म में परम जो निष्ठा वसी को भक्ति वा ज्ञान कहते हैं । जो मानवी-अशान्ति के हेतुओं को अच्छे प्रकार जान, केवल कल्पना से जिसकी उत्पत्ति है-ऐसी पारलौकिक कथाओं को तिरस्कार कर वेद, आचार्य और निजात्मानुभय से मनुष्य-जन्म के प्रयोजन को निश्चित कर निःश्रेयसमार्गप्रदर्शक निरालानन्दप्रद सर्वप्राणिसुखावह ब्रह्ममहिमा की ओर दौड़ते हैं, वे इस सात्त्विक चेष्टा के अनुग्रह के पात्र बनते हैं । जो पूर्वजन्म के संस्कार से अथवा ईश्वर की कृपा से यदि तृतीय-चेष्टा की एक मात्रा को भी पाने को अनुकम्पित (अनुगृहीत) होता है तो वह उसी एक मात्रा से युक्त हो मनुष्यों को इतना सुख पहुँचाता है कि जितना सम्राट् भी-समस्त-धनसम्पत्तियों-से त्रिकाल में भी नहीं दे-सकता है, देसों, सारय से परमर्षि, कपिल, वेदान्त से कृष्णद्वैपायन, वैशेषिक से-कणाद, न्याय-से गौतम, मीमांसा-से जैमिनि, योग से पतञ्जलि, व्याकरण से दाक्षीपुत्र, पाणिनि, रामायण से आदिकवि, वाल्मीकि, आजकल भी काव्यों से कालिदास, गणित से भास्कराचार्य, भाषा रामायण से तुलसीदास इत्यादि महात्मा जो एतद्गणों से रहित ब्रह्म-विभूति के एक-२ अंश के दर्शक हैं आजकल यद्यपि इनकी कीर्तिमात्र अवशेष है तथापि ये जितना सुख लोगों को दे रहे हैं, कौन मनुष्य पृथिवीस्थ सम्पूर्ण धन-राशि से युक्त होकर भी उतना सुख देने में समर्थ होगा । अहो ! ईश्वर की दृष्टिपात के पात्रीभूत विद्यावान् पुरुषों का प्रभाव देसों, आग्नेयशकट (रेलगाडी) के बिना एक दण्ड में २०—२५ कोश पहुँचने में सुखपूर्वक अज्ञायास में सुहृदों के साथ आलाप करता, गाता हुआ ही सुख से सोता हुआ हसता हुआ ही अर्थात् सर्व सुख से ही अन्य यान से समर्थ हो सकता है । सहस्र कोशों पर स्थित भी प्यारे के संवाद को क्षणमात्र में पहुँचा देने में तडित् तार के व्यापार के बिना संवे मनुष्य मिलकर भी समर्थ नहीं हो सकते । पृथिवी पर कौन ऐसा धनिक वा भूपति है जो धनबल से वा राज्यबल से अनेक लक्ष्योन्नत दूर पर विचरण करते हुए भी नक्षत्र-मण्डल को मानों समीप में लाकर और सब प्रकार से दिखलौ विद्वज्जन के कुतूहल

को दूर करने में योग्य होवे । यह सब ज्ञानियों का प्रभाव है जो दूरवीक्षण यन्त्रादिकों को प्रकाशित करके दुर्लभ वस्तु से प्रजाओं के मनोरथ को पूर्ण कर रहे हैं । उनके ऐसे २ शतराशः महिमा श्रुतिवीतल में विराजमान हैं जो लोग ब्रह्मविभूतिरूप महोदधि की ओर अभिमुख हुए हैं । इन लोगों से भी अधिक श्रोत्रिय ब्रह्माज्ञाप्रचार में व्यग्रीभूत जनहित-साधनव्रतपरायण और सासारिक-विभूति को जिन्होंने दृष्टवत् समझा है ऐसे २ घसिष्ठ, विद्यामित्र, अत्रि, करयप, गौतम, अङ्गिरा, वामदेव, अगस्त्य प्रभृति महर्षियों ने जिन २ अद्भुत कार्यों को सम्पादन करके प्रजाओं का हित किया, उसके वर्णन करने में भी किन्हीं की धाणी का प्रसार नहीं है । इनहीं महापुरुष और नितान्त मनुष्यसुरेच्छु महर्षियों के उद्योग का प्रभाव है कि आज भी मनुष्य धर्माचरण करते हुए सुख के पात्र होते हैं ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारः

कथं ब्रह्मसाक्षात्कारः । कोऽस्याभिप्रायः । किं तदस्मदादिवच्छरीरं विभ्रायं क्वचिदपि गुहामधिशेत अथवा दिवि तृतीयस्थाने तिष्ठन्सर्वं स्वमाहिम्ना प्रशास्ति । किम् अनेन मानवविप्रेक्ष्य कदाचिदपि स ईश्वर-पदवाच्यो देवो ब्रह्मं शक्यः ? आहोस्विमेति । कस्यापि महात्मनोऽनुनयेन प्रसीतः सन् तादृशमेव रूपं धृत्वा स्वात्मानं तस्मै कदापि दर्शयति न वेति ? प्रेत्यापि प्रत्यक्षतया घटपटादिवत् तं ब्रह्मयान्ति यतयः चीलकन्मषाः आहोस्विमेति ? अस्ति कापि मनुष्याणां मीश्वरप्रत्यदीकरणयोग्यता नवेति ?

ब्रह्मसाक्षात्कार

(१) ब्रह्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता है और इसका क्या अभिप्राय है ?

(२) क्या यह ईश्वर हम लोगों के सगान शरीर को धारण कर किसी गुहा में वा समुद्रादि में राखन करता हुआ है ? अथवा शुलोक जो तृतीयस्थान कहा जाता है, वहाँ रहता हुआ सम्पूर्ण विरव को निज महिमा से शासन कर रहा है ? वहाँ ही जाकर सबों को उससे साक्षात्कार होता है । (३) क्या इस मनुष्य-शरीर से कदाचित् भी यह ईश्वरपदवाच्य देव दीख सकता है ? (४) किसी महात्मा

के विनये प्रार्थना से प्रसन्न हो बैठे ही 'रूप को घर अपना शरीर किसी' को दिखला सकता है या नहीं ? (५) मरणानन्तर भी जो यति निष्पाप है वे लोग भी 'घटपटादिवत् प्रत्यक्षतया' उसको देख सकेंगे या नहीं ? बहुत क्यों कहें ईश्वर को प्रत्यक्ष करने में मनुष्यों को कोई योग्यता है या नहीं ?

समाधीयो—न सन्ति सम्प्रति युधिष्ठिरपरीक्षितजनमेजयविक्रमादीनां महि-
मिनां तानि भौतिकशरीराणि । वे नास्माननुशासति । नास्मान् भुवन्ति किमपि ।
यदा तु तेषामाशेषात् कथोद्धानं सर्वं चरित्रं पठामो यशोगानं च हृणुमस्तदा
मृत्युदाः पुरास्थिता इव ते प्रतिमान्ति प्रीतिं जनयन्ति । तेषां चरित्रं भ्रान्तं
भ्रान्तं वयं सुखिनो भवामः । प्रीत्या श्रद्धयात्सुक्येन च तच्चरित्रं गायन्तो जना
जन्मता भवन्ति, रुदन्ति, हसन्ति, वीरयन्ते । पुनः पाणिनिः क्वावात्सीत्
किमाकृतिगौरो वा कृष्णो वा सुन्दरो वा कुरूपो वासीदिति न वयं विभो न
चेदानीं केनापि प्रकारेण तज्ज्ञानसम्भवोऽस्ति । तथापि तदीयं व्याकरणं येऽधीयते
तु महिषमेव तं मन्यन्ते, तस्य नामश्रवणादेवास्त्रासिता भवन्ति, अनन्तरं तस्य
महिमानमुद्घोषयन्ति, पूज्यबुद्ध्या आदरधिया च तदीयं सर्वं पश्यन्ति । यो
निपुणः स्थपतिरपूर्वरचनमनन्यकं शिल्पघटितं मयि विरच्येत उत्क्रामति । तस्य
तु नामधेयमामवनविध्वंसात् परस्मरणा लोकाः कीर्तयन्ति । समये समये तस्य
सर्वं चरित्रं श्रुत्वा विस्मयमापन्ना भवन्ति ।

समाधान—देखो, सम्प्रति युधिष्ठिर, परीक्षित, जनमेजय, विक्रमादित्य आदि
महामानों के वे भौतिक शरीर नहीं हैं । वे आज हम लोगों के ऊपर शासन नहीं
करते । न हम लोगों से कुछ कहते हैं परन्तु जब हम उनकी बातयावस्था से लेकर साथ
चरित्रों को अच्छे प्रकार पढ़ते अथवा उनके यशोगान सुनते सुनाते हैं तब वे प्रत्यक्ष
सामने खड़े से भासित होते, प्रीति उत्पन्न करते हैं उनके चरित्र सुनकर हम मुस्की
होते हैं । प्रीति, श्रद्धा और उत्सुकता से उनके चरित्र को गाते हुए लोग जन्म
हो जाते, रोने लगते, हंसने लगते, वीरता आजाती है । और भी—पाणिनि वहाँ
रिहते थे, उनकी आकृति कैसी थी, वे गौर वा कृष्ण थे, सुन्दर वा कुत्स थे, यह
सब हम लोग नहीं जानते हैं और आज किसी प्रकार से उन सबों का ज्ञान होना
भी सम्भव नहीं है तथापि उनके बनाए व्याकरण को जो लोग पढ़ते हैं वे उनको

महर्षि ही मानते हैं । उनकी साक्षात्मूर्ति देखने को किसी को लालसित और उत्क-
 रिष्ठ नहीं देखते । कोई नहीं कहता है कि जब तक पाणिनि का साक्षात्कार नहीं
 होगा तब तक उनके व्याकरण पढ़ने से क्या लाभ और आनन्द भी नहीं आवेगा ।
 किन्तु उनके नाम श्रवण से ही सब कोई जाननेवाले गदगद हो जाते हैं । अनवरत
 उनकी महिमा को उद्घोषित करते हैं । पूज्यबुद्धि और आदरबुद्धि से उनके सब
 पदार्थ को देखते हैं । और भी देखो—लोक में देखते हैं कि यदि कोई निपुणस्थपति
 (मकान बनाने हारा) अपूर्वरचनासहित, अनन्यकौशलपटित (जिस कौशल को
 अन्य कोई नहीं घटा सकता) भवन को बनाकर यहाँ से ऊपर चला गया ।
 (अर्थात् मर गया) तथापि इसके नाम को जब तक भवन नष्ट नहीं हुआ है तब
 तक परम्परा से लोग गाया करते हैं । समीप २ पर उसके चरित्र को सुन विस्म-
 यापन्न होते हैं ।

एवमेवेश्वरसाक्षात्कारो द्रष्टव्यः । पाणिनेरैकेनैव ग्रन्थेन चयमेव मोहिता
 ईश्वरस्य तु असंख्येया अगण्या गणनवृत्त्यतिक्रान्ताः सन्ति परितः स्थापिता
 ग्रन्थाः । ऐन्द्रजालिकस्यैकमपि विलक्षणमभूतपूर्व कौतुकमवलोक्य बहु हृष्यामो
 हृदयेन च ते प्रशंसामश्च । कति सन्ति कौतुकानीश्वरस्य, कति चरित्राणि इत-
 स्ततो लिखितानि यानि केषांचिद् योगिनां यतीनां वा मनांसि मोहयन्ति ।
 इदमेव समष्टिव्यष्टिभावेन स्थित जगज्जगदीश्वरस्य ग्रन्थराशिः साक्षात्तैरेव
 लिखितो नान्यैः संशयितैः कविभिः । यो हि सर्वमीश्वरचरित्रं चित्रयति तस्य
 यथा यथैतज्ज्ञानमुपचीयते तथातयेश्वरसाक्षात्कारोऽनुभूयते । को हि शुद्धिमतां धरो
 निपुणस्याऽस्य शिन्पिनः शिन्पमवलोक्य अदर्शनेनापि तद्दर्शनं नानुभवति ।

इनही उदाहरणों को ध्यान में रखकर अब ईश्वर साक्षात्कार के विषय में
 भीमासा करो । ईश्वर का भी साक्षात्कार ऐसा ही है । पाणिनि के एक ही ग्रन्थ
 के हम लोग ऐसे मोहित हैं परन्तु ईश्वर के असंख्य, अगण्य, गिनने की जहांतक
 शक्ति है उसमें भी बहुत दूर स्थित ग्रन्थ चारों तरफ स्थित हैं । ऐन्द्रजालिक के
 एक भी विलक्षण अभूतपूर्व कौतुक को देखकर बहुत हर्षित होते हैं हृदय से उसकी
 प्रशंसा करना आरम्भ करते हैं । ईश्वर के कितने कौतुक हैं । कितने चरित्र इधर
 उधर लिखित और गीयमान हैं जो किन्हीं योगियों और यतियों के मन को मो-

हित कर रहे हैं । यही समष्टिव्यष्टिभाव से स्थित जगत् ही ईश्वर का प्रत्यरशि है जो साक्षान् ईश्वर से ही लिखित है अन्य संशयापन्न कवियों से नहीं जो ईश्वर के सब चरित्रों को प्रकाशित करता है । जैसे २ इसका ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे २ ईश्वर साक्षात्कार का अनुभव होता है । बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कौन विद्वान् निपुण शिल्पी के शिल्प को देख दर्शन के बिना भी उम शिल्पी के दर्शन का अनुभव नहीं करता है ॥

ननु—“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विप्रुतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुमाति सर्वं तस्य मासा सर्वमिदं विभाति । इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनमस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमन्यक्तमन्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषाच्च परं किञ्चित् सा काष्ठा परमागतिः” इत्येवं जातीयक्रेम्यः श्रुतिवाक्येभ्यो जगद्विर्भूतमीश्वरं मन्यन्ते महर्षयः । अतो जगद्विज्ञानेन कथमस्य साक्षात्कारः । यदि स प्रकृतिस्वरूपः स्यात्तर्हि प्रकृतिपरिचयेन तस्यापि बोधः सम्भवेन्न तथा सोऽभ्युपगम्यते भवद्वि कथं तर्ह्येववादः ।

प्रश्न—(न तत्र०) वहां सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विगुन् आदि कोई पदार्थ फांसा नहीं करते । इस अग्नि की वहां शक्ति ही क्या है । वहा वह स्वयं प्र है । इसके पीछे सब प्रकाशित होते हैं । इसी की दीप्ति से सब ही दीप्ति रहा है (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से परे अर्थ (विषय) है । अर्थों से मन से परे बुद्धि है । बुद्धि से परे महान् (महत्त्व) और महान् से प (प्रकृति) है अव्यक्त से परे पुरुष (ईश्वर) है । पुरुष से परे वही काष्ठा है । वही परा गति है । इस प्रकार के श्रुतिवाक्यों से कि महर्षि लोग जगत् से बाहर ईश्वर को मानते हैं । इस हेतु ज इसका साक्षात्कार कैसे हो सकता है । यदि वह ईश्वर प्रकृति होवे तब तो प्रकृति के परिचय से उमका भी बोध होना सम्भव है । प नहीं माना जाता है । तब यह वाद कैसे ?

समाधानम्—पूर्वोक्तानि निदर्शनानि परिशीलयत-यथा ७ छिन्नादीनां महा-महाद्भुतरुमणां मन्त्राणां विद्यानिधीनां पाणिन्यादीनाञ्च चरित्रामृतं कर्णपुटैः

पीत्वा तत्साविध्यमनुभवन्ति जनाः । एवमेवेश्वरचरित्रचित्रितमाद्यन्तविहीनं जगदिदमधीत्य रुच्यन्तत्साक्षात्कारानुभवो विज्ञानाम् । यथा चेह चरित्रचरित्रियोंः सर्वथा भेदेऽपि चरित्रं स्वस्वामिनं सर्वेषां श्रोतृणां मनःसु सम्यक् स्थापयति । सर्वविषयान् प्रत्यक्षयति, उन्मादयति, अन्यत्सर्वं विस्मारयति, बहुन् दुर्गुणानपि तन्करोति तान् मन्दमन्दमुत्खातयति पश्चादुज्ज्वलीकृत्य लोकेषु पूज्यमपि चिदधोति । यदा मानवचरित्रस्थापय महिमास्ति तदा का कथेश्वरवार्तायाः । एतेन जगज्जगदीश्वरयोरभेदस्वीकारे सत्येन जगद्विज्ञानेनशरबोधः शक्य इति यदुक्तं तन्न दूरदर्शितां विचारसहम् । अयं “न तत्र सूर्यो भाति” इत्यादिवाक्यानां कोऽभिप्रायः ? यदि यत्र यत्रेश्वरसत्त्वं न तत्र तत्र सूर्यादीनां गतिरित्याशयन्तः सन्ति भवन्तस्तर्हि न साधु विचारयन्ति । सर्वत्रेश्वरव्यापकत्वाऽभ्युपगमात् । यदि न तत्रेत्यादीनि वाक्यानि सूर्यादि-गतिविरहितेऽपि प्रदेशे ब्रह्मसद्भावं सूचयन्ति । तर्हिदं सर्वं ययं स्वीकृत्यः । एतेन प्रकृतिविज्ञानमेव ईश्वर-साक्षात्कारे प्रधानं साधनं गौणदर्शनमपीदमेतत्प्र न कापि क्षतिः । अतः प्रथमभूमिकायां जगत्येव महिमा दर्शनीयः परमप्रीत्या स एव चिन्तनीयः । यथायथातत्त्वोद्बोधस्तथातथेश्वरमाक्षिप्यप्राप्तिरिति सन्तोषणीयम् ।

समाधान-पूर्वक उदाहरणों को अच्छे प्रकार विचार करो । जैसे महा-ब्रह्म कर्म करनेवाले युधिष्ठिर आदि सम्राटों के और विद्यानिधि पाणिनि आदि महर्षियों के चरित्रों को कर्णपुटों से पीकर उनकी समीपता का अनुभव मनुष्य करते हैं । वैसे ही ईश्वर के विपुल आद्यन्तविहीन जगत् रूपचरित्र को पढ़ करके विश्वपुरुषों को ईश्वरसाक्षात्कार का अनुभव क्यों नहीं होगा और जैसे चरित्र और चरित्रियों (चरित्रवाला) का सर्वथा भेद रहने पर भी चरित्र अपने स्वामी को सब भोत्रियों के मन में अच्छे प्रकार स्थापित कर देता है उसके सब अवयवों को प्रत्यक्ष करता है, सुननेवाले को उन्मत्त बना देता है । अन्य सब को भुला देता है । बहुत दुर्गुणों को धोड़े कर देता है । मन्द मन्द उन दुर्गुणों को उखाड़ डालता है । पश्चात् अपने स्वामी को उज्ज्वल कर ५ खोंगों में पूज्य भी करता है । जब मानवचरित्र की ऐसी महिमा होती है । तब ईश्वरसम्बन्धी बातों के विषय में कहना ही क्या है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जगत् और ईश्वर के अभेद स्वीकार करने पर ही जगत् के पिता से ईश्वर का बोध हो सकता है यह जो पूर्व में कहा है सो दूस-

दर्शियों के विचार योग्य बात नहीं है । अब आपने "न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि वाक्यों का क्या अभिप्राय समझा है । यदि इसका भाव यह होवे कि जहाँ २ ईश्वर की सत्ता है वहाँ २ सूर्यादिकों की गति नहीं है, यदि आप ऐसा ही अर्थ मानते हैं तो कहना पड़ेगा कि आप अच्छा विचार नहीं करते क्योंकि ईश्वर की व्यापकता को सर्वत्र स्वीकार कर चुके हैं । "यदि न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि वाक्य सूर्यादि-गति रहित प्रदेश में भी ईश्वर की विद्यमानता को सूचित करता है तब हम सच भी इसको स्वीकार करेंगे अर्थात् ईश्वर सर्वव्यापक है यह सर्ववादि-सम्मत है तब जहाँ सूर्य और जहाँ तक सूर्य की गति है वहाँ पर भी ईश्वर है इसमें सन्देह नहीं तो इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर के निकट भी सूर्य चन्द्र नक्षत्र विद्युत् और अग्नि प्रकाश करते हैं । तब "न तत्र सूर्यो भाति" ऐसे उपनिषद् वाक्यों का आशय दो प्रकार से हो सकता है कि इन सूर्यादिकों की ज्योति से ईश्वर अस्मदा-दिश्वत् प्रकाशित नहीं । अथवा जहाँ तक उनकी गति है उससे भी परे भगवान् है भगवान् की ज्योति से यह प्रकाशित है न कि इनकी ज्योति से भगवान् प्रकाशित है । इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृति विज्ञान ही ईश्वर साक्षात्कार में प्रधान साधन है और यही गौणदर्शन है । इस हेतु प्रथम भूमिका में जगत् में ही उसकी महिमा दर्शनीय परमप्रीति से यही चिन्तनीय है । जैसे २ उस महिमा के बोध का उदय होता जायगा वैसे २ ईश्वर की सन्निधि की प्राप्ति होती है । ऐसा सन्तोष करना उचित है-।

किमिह बहु वर्णयामि । जगदिदमीश्वरस्य परमप्रियमस्ति । कथमन्यथा स्वयं भगवान् निर्मलः निर्विकारः शुद्धोऽप्यपविद्धोऽपि भूत्वा तद्विपरीतमिदं जगत् प्रविश्य स्वावयवमिव नृपोऽन्त्यामिव करोति । प्रीतिं विना कथय कथमेतत्संभवति । भूर्तीनां बहुषु स्थलेषु ईश्वरस्यादित्वेन सूर्यादयो रूप्यन्ते ।

तथाहि—इस्य भूमिः प्रमाञ्तरिचक्षुतोद्देशम् ।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

यहाँ मैं क्या बहुत वर्णन करूँ । यह जगत् ईश्वर को परमप्रिय है । यदि ऐसा न होता तो स्वयं निर्मल, निर्विकार, शुद्ध, अपोपविद्ध होकर इसके विपरीत इस जगत् में प्रविष्ट हो राजा मन्त्री के समान निज अवयववत् बनाता है । कंठोऽप्रीतिं

के बिना यह कैसे सम्भव हो सकता । श्रुतियों के बहुत स्थलों में ये सूर्यादि पदार्थ ईश्वर के अङ्गवत् निरूपित हुए हैं ।

देवो (यस्य) जिस परमेश्वर का (भूमिः) पृथिवी (प्रमा) चरण समान (अन्तरिक्षम् + उत + उदरम्) और अन्तरिक्ष उदर समान है (यः) जिसने (दिवम् + मूर्धानम्) शुलोक को मूर्धा स्थानीय बनाया है (तस्मै०) उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार होवे ।

अविग्रहस्य भगवतो न हि भूम्यादयः पादादयो संचितमहन्ति कथं तर्हि वर्णनमिदम् । भूम्यादिषु पादादीनामारोपोऽज्ञानिनां सुबोधाय क्रियते इति तु सत्यम् । किन्तु किञ्चित्ताम्यमुपलभ्यागोप्यते । नहीश्वरस्य त्रिकालेऽपि जगता सह किञ्चिदपि साम्यत्वं लभ्येत । एतेन पुत्रे पितेधेश्वरो जगति स्निह्यतीति प्रतीयते । यद्वा तज्ज्ञानाय इमे सर्वादय एव साधनभूता इति श्रुतीनां ध्वनयः ।

वेदाः सलु क्वचित्प्रतिप्रतिरचनाभ्यामिमान् सूर्यदीन् प्रस्तुवन्त एते तत्त्वतो विज्ञातव्यास्तैर्ब्रह्ममहिमा ज्ञातव्यो भवतीति विस्फुटमुपदिशन्ति । अन्यथा जड़ानां वर्णनेन किं प्रयोजनं स्यात् । तथाहि—

— “ कः खिदेकाकी चरति क उ खिज्जायते पुनः । किं खिद्धिमस्य भेषजं किम्बाऽऽनपनं महत् ॥ ६ ॥ सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ” ॥ १० ॥ यजुर्ऽद ॥ २३ ॥ पुनः—को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को घावापृथिवी अन्तरिक्षम् । को सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं “ को वेद चन्द्रमस यनोजः ” ॥ ५६ ॥ यजुः २२ ।

“ वेदादिस्य भुवनस्य नाभिं वेद घावापृथिवी अन्तरिक्षम् । वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रस्यो वेद चन्द्रस्य यतोऽज्ञाः ॥ ६० ॥ पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिम् । पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ ६१ ॥ किंस्वित्सूर्यममं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः । किंस्वित् पृथिव्यै वर्षायः कथं माता न विद्यते ॥ ४७ ॥ ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः । इन्द्रः पृथिव्यै वर्षायान्, गोस्तु माता न विद्यते ” ॥ ४८ ॥

यः कश्चित्त्विक् यजमानो वा पृथिव्यादि-तत्त्वं सम्यङ् न जानाति स कथं भूतनस्य-नाभिं पृथिव्याः परमन्तं सूर्यादीनाञ्च गमनागमनं वेत्तुमर्हति । कथ-
ञ्चेदशानां, प्ररनानां, समाधानं करिष्यति । अतोऽपि प्रकृतिरध्येतव्येति विज्ञायते
सा त्रेश्वरसाक्षात्कारे साधनम् ।

शरीर रहित भगवान् के चरण आदि पृथ्वी आदि नहीं हो सकते हैं । तब
यह वर्णन कैसे हो सकता है । यदि कहो कि पृथिवी आदिकों में चरण आदिकों
का यहा आरोपमात्र किया गया है कि अश्लोक अच्छे प्रकार समझ जायँ । सो यह
सत्य है परन्तु जबतक निश्चित समता न हो तबतक आरोप नहीं होता है । परन्तु
त्रिकाल में भी जगत् के साथ ईश्वर की किञ्चित् समता नहीं हो सकती है । इससे
यह सिद्ध होता है कि पितापुत्रवत् इस जगत् में ईश्वर का स्नेह है । अथवा उसके
ज्ञान के लिये सूर्यादि पदार्थ ही साधनमूल हैं यह श्रुतियों की ध्वनि है । और भी
देखो—कहीं कहीं वेद प्रभोत्तररूप से इन सूर्यादिकों का वर्णन करते हुए उपदेश देते
हैं कि ये तत्त्वतः विज्ञातव्य हैं उनसे ब्रह्ममहिमा जानने योग्य होता है । अन्यथा
इन जड़ पदार्थों के वर्णन से क्या प्रयोजन ?

वेदों में प्रश्न आए हैं (कः+स्वित्) कौन पदार्थ (एकाकी+चरति) अकेला
विचरण करता है ? (कः+उ+स्वित्+जायते+पुनः) कौन पुनः पुनः नवीन होता
हुआ दीप्तता है ? (किं+स्वित्) क्या (हिमस्य) हिम का (भेषजम्) औषध
है ? (किम्वा+आवपन+महत्) सब से बड़ी घोने की जगह कौन है ? ॥ ६ ॥
(सूर्यः+एकाकी+चरति) सूर्य अकेला विचरण करता है (चन्द्रमाः+जायते+पुनः)
चन्द्रमा पुनः पुनः नवीन होता हुआ प्रतीत होता है (अग्निः+हिमस्य+भेषजम्)
अग्नि हिम का औषध है (भूमिः) यह पृथिवी ही घोने का बड़ा स्थान है ॥ १० ॥
पुनः (अस्य+भुवनस्य) इन सम्पूर्ण प्राणियों के (नाभिम्) कारण को (कः+वेद)
कौन जानता है ? (द्यावापृथिवी+अन्तरिक्षम्) ध्रुलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षलोक
को (कः) कौन जानता है ? (बृहत्+सूर्यस्य) इस महान् सूर्य के (जन्त्रम्)
जन्म को (कः) कौन जानता है ? (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा को (यतोजाः) कहां
से पुनः पुनः प्रकाशित होता है इसको (कः+वेदः) कौन जानता है ॥ ५६ ॥
इस प्रश्न के उत्तर में मानो एक जीवात्मा कहता है कि (अहम्) मैं (अस्य+

भुवनाय+नाभिम्+वेद) इस भुवन के कारण को जानता हूँ । और (वाया०) पृथिवी अन्तरिक्ष को मैं जानता हूँ (वेद+सूर्यस्य०) इस वेद सूर्य के जन्म को मैं जानता हूँ (अयो+वेद०) और चन्द्रमा जहाँ से पुनः पुनः होता है इसको भी जानता हूँ । (पृच्छामि+त्वा०) मानो ऋत्विक् परस्पर पूछते हैं कि (पृथिव्याः) पृथिवी के (परमन्तम्) अवधि को तुम से मैं पूछता हूँ (यत्र+भुवनस्य+नाभिः) जहाँ जगत् का कारण है उसको (पृच्छामि) पूछता हूँ (वृष्णः) वर्णन करने द्वारा (अश्विन्य) सूर्य का बाल के (रेतः) बीज को (त्वा+पृच्छामि) तुम से पूछता हूँ (वाचः) वेदरूप वाणी का (परम+भ्योम) परमस्थान को (पृच्छामि) पूछता हूँ ॥ ६१ ॥ (सूर्यसम+ज्योतिः) सूर्यसमान ज्योति (किंस्वित्) क्या है ? सो तुम कहो (समुद्रसम+सरः) समुद्र समान सरोवर (किम्) कौन है ? (पृथिव्यै+वर्षायाः+किंस्वित्) पृथिवी से बड़ा कौन है ? (कस्य+मात्मान+न+विद्यते) जिसका परिमाण नहीं है ॥ ४७ ॥ इसके उत्तर में कहा जाता है कि (ब्रह्म) वेद वा ब्रह्मविद् पुरुष वा स्वयं ब्रह्म (सूर्यसम+ज्योतिः) सूर्य समान ज्योति वाला है (यौः+समुद्रसम+सरः) धुलोक समुद्र समान सरोवर है (इन्द्रः) विद्युत् (पृथिव्यै+वर्षायाः) पृथिवी से बड़ा है (गोः) इस गमनशील विश्व का (मात्रा+न विद्यते) परिमाण नहीं है । अर्थात् यह दृश्यमान विश्व कहातक है इसका निर्णय नहीं हो सकता । इन मन्त्रों को विचारो ।

जो कोई ऋत्विक् वा यजमान पृथिवी आदिक तत्त्वों को अच्छे प्रकार नहीं जानता है वह कैसे भुवन के कारण को, पृथिवी की अवधि को, सूर्यादि के गमना-गमनों को जानने में समर्थ हो सकता है । कैसे ऐसे प्रश्नों का समाधान कर सकेगा । इस से भी यही जाना जाता है कि प्रथम ईश्वर साक्षात् के लिये प्रकृति का ही अध्ययन करना चाहिये ।

एतेषां तत्त्वज्ञानादेव निःश्रेयसाभ्युपगम इत्यपि वेदोपदेशः । तद्यथा-
 “ गर्भे नु सञ्जन्तामवेदमहं देवानां जनिमानि रिषा । शर्वं मा पुर आयसी-
 ररक्षन्ध स्येनो जपसा निरदीयम् ” ॥ ऋ० वे० । ४ । २७ । १ ॥ यहिं
 वाचं वामदेवो जीवो देवानां प्राकृतानां भूर्यादीनां निखिलानि जनिमोपलब्धि-
 ततत्त्वानि वेत्ति । तदायमयः पुरोपलब्धितनोपलब्धः स्वबन्धनानि मोचयित्वाऽऽ-
 त्यन्तिकमुखापर-पर्यायमपवर्गं लभत इति मन्त्राशयः ।

पुनः इसके तत्त्वज्ञान मे ही मुक्ति की प्राप्ति होती है यह वेदों का उपदेश है । जैसे कोई जीवात्मा मुक्तिवस्था में कहता है (सन्) जीवात्मा (अहम्) मैंने (गर्भे) इस ब्रह्माण्डरूप गर्भ में वर्तमान (तेषां देवानाम्) इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्यादि सकल प्राकृत वस्तुओं के (विरवा) सब (जनिमानि) उत्पत्ति स्थिति आदि अर्थात् सत्रे तत्त्वों को (नु) निश्चिन्नरूप से (अनुभवद्म) अच्छे प्रकार जान लिया (मा) मुक्तो जो (आपसीः) लोहमयी अर्थात् बन्धनमय (शतम्) अनेक (गुरः) शरीर (अरक्षन्) रक्षा करते थे (अयम्) अब (जबसा) ज्ञानरूप बड़े वेग से (श्येनः) बाजपक्षी के समान (निर्दीपम्) उनसे निकल गया हूँ । लोहमय शरीर मेरी रक्षा करते थे इसका भाव यह है कि मैं अज्ञानता के कारण लोह सदृश अदृढ शरीर में बन्द था । जब मैंने सकल प्राकृतिक वस्तुओं के तत्त्वों को अच्छे प्रकार जान लिया तब श्येन पक्षी के समान ज्ञानरूप साधन के द्वारा बड़े वेग से उन शरीरों से निकल गया अर्थात् जन्मरहित होगया । अब मैं मुक्ति का सुख भोग रहा हूँ । यह हमका भाव है, इन मन्त्र से भगवान् उपदेश देता है कि जनक पदार्थ-ज्ञान नहीं होगा तबतक मुक्ति नहीं होगी । अतः इससे प्रतीत होता है कि पदार्थ-ज्ञान ईश्वर-भावात्कार में सहायक होता है क्योंकि जब धामदेव जी ने प्राकृत सूर्यादि सब देवों के जनिमोपलक्षित निखिल तत्त्वों को जानलिया तब ही अयम् पुरोपलक्षित निखिल बन्धनों से अपने को छुड़ाकर आत्यन्तिक सुखवाला अपवर्ग का प्राप्त हुआ ।

इतथापि प्रकृतिरेवेश्वरसाक्षात्कारे साहाय्यकारिणी । वेदेषु सर्वाः प्रसिद्धा अंगप्रसिद्धा वा विद्या बीजरूपेणोपदिष्टाः सन्तीति महर्षीणां साद्धान्तः । ना एव विद्या महर्षिभिः स्वस्मन्याख्यामिर्वहुलीकृता विविधप्रशानोदधृहिता ब्रह्मचर्यव्रतेन वणिभिरधीयन्ते । ना विशेषतया प्रकृतिविकाररत्ननेत्रा एव दृश्यन्ते । यदि विकाराध्ययनमीश्वरज्ञानसाधनं नाऽभविष्यत् । तर्हि तत्त्वपारदस्वानो महर्षयः तास्ता विद्या न प्राचारायिष्यन् अतो ब्रह्मणो महिर्भव दृश्यः । महिमा तु सर्वमिदं जगज्जगदीश्वरस्य । अन्यच्च । चेतनमात्रस्फाप्रयस्यादरयस्य ब्रह्मणोऽस्तित्वं, संपूर्णत्वं, रक्षितृत्वं, विनाशयितृत्वं, मङ्गलत्वं, पूज्यत्वमुपास्यत्वमित्येवंप्रधानि गुणकर्माणि कथमवधारितानि । इदं जगदवलोक्यैवेत्यत्र कः सन्देहः । न हि मानुषैर्न देवैर्नान्यैर्जगदिदं जनयितुं शक्यम् । न च स्वयमुत्पद्यते । अ-

तोऽस्त्यस्य कोऽपि कर्तेत्यनुमीयते । यो हीदृशं पञ्चभूतममन्त्रिनं मर्त्यवन्दन-
प्रादिक जगज्जनयति तेन वीदृशेन मरितव्यम् । तेनैतेभ्यः सर्वेभ्यो ज्यायसा
भाव्यम् । इदमनुमानं सुकरं भवति । विचार्य्यतां सम्प्रति जगतो महत्त्वेनस्वर-
स्य महत्त्वमनुमीयते । तर्हि कथञ्च जगदध्येयम् । अतो जगन्महन्त्वज्ञानमन्तरा
ब्रह्मणो महत्त्वविज्ञानमपि न संभवति । अतो यदि ब्रह्म-साक्षात्कर्तुमीह्ये तर्हि
प्रथमं महिमाध्येतव्यः । अथेश्वरः कस्मिंश्चित्स्थाने तिष्ठतीति योऽप्य द्वितीयः
प्रश्नः । तत्रेदं वाच्यम् । बालकाः समुद्रादिस्थानविशेषेषु तिष्ठन्त परमेश्वरं
मन्वन्ते न शास्त्रिणो घेदादिमिस्तस्य सर्वव्यापकत्वावधारणात् । मानवाविग्रहेण
स कदाचिदपि दृश्यो भवतीति तृतीयः प्रश्नोऽपि पूर्वदेवास्ति । यदा जीवात्मा-
पि मानवविग्रहेण मत्पदीकर्तुं न शक्यः । तर्हि कथमीश्वरोऽणीयसामप्य-
णीयान् ।

“न चक्षुषा शृण्वते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन
विशुद्धमत्तनस्ततस्तु तं पश्यते निष्फलं ध्यायमानः ॥ एषोऽणुसारमा चेतसा
वेदितव्यः” ॥ “न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
इहा मनीषा मनसाभिवलृप्ता य एतद्दिदुरमृतास्ते भवन्ति” ॥ “न तत्र चक्षुर्ग-
च्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विज्ञो न जानीमो यथैतदनुशिष्यात्” । इत्ये-
वंविधानि प्रमाणानि ब्रह्मणश्चक्षुरादिमिरग्राह्यत्वमहरयत्वञ्च साधयन्ति । एत-
त्सर्वमपि गृह्णाद् व्याख्यास्यामो यथास्थानम् । विस्तरमयादत्रैव समापयामीमामव-
पत्तिकाम् । येन केन प्रकारेण मनुष्यजन्मप्रयोजने विज्ञाय तदनुष्ठातुं प्रयत्न-
वान् भवेदित्याशास्महे ॥

इससे भी प्रकृति ही ईश्वर-साक्षात्कार में माहाय्यकारिणी होती है । वेदों में
प्रसिद्ध वा अप्रसिद्ध सारी विद्याएँ बीजरूप से उपदिष्ट हैं यह सब महर्षियों का
सिद्धान्त है उनही विद्याओं को महर्षियों ने स्वस्वव्याख्याओं से बहुत बढ़ाया है ।
शिद्धि व प्रत्यानों से वे युक्त हुए हैं । उनको ही ब्रह्मचर्य व्रत से ब्रह्मचारी अध्ययन
करते हैं । वे सारी विद्याएँ प्रकृति के विकार के धर्मेनपरक ही दीखती हैं । यदि
विचाराध्ययन ईश्वर के ज्ञान का साधन नहीं होता तो तत्त्वों के पार तक देखे हुए
महर्षिगण उन ३ विद्याओं का प्रचार कदापि नहीं करते । इससे यह सिद्ध होता

है कि ब्रह्म की महिमा ही हर्य है । यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म की महिमा है । और भी ब्रह्म के अस्तित्व स्रष्टृत्व आदि गुण भी तो जगत् के अवलोकन से ही विदित होता है । न मनुष्य न देवादिक इस जगत् को बना सकते इससे सिद्ध होता है कि इस जगत् का कोई कर्त्ता घर्त्ता अवश्य है इस प्रकार जगत् के महत्त्व के ज्ञान से ही ईश्वर के महत्त्व का भी बोध होता है । फिर जगत् का अध्ययन क्यों नहीं किया जाय इस हेतु ईश्वर के साक्षात्कार करने के लिये प्रथम महिमा ही अभ्येतव्य है । क्या ईश्वर किसी विशेष स्थान में रहता ? इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर केवल यह है कि यह बातों की क्या है विद्वानों की नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है इसको सब मानते हैं । मनुष्य शरीर से ईश्वर दृश्य होता या नहीं यह प्रश्न भी पूर्ववत् ही है । सब जीवात्मा ही को इस मानव शरीर से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तो ईश्वर को कैसे ? “न चक्षुषा” इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि ईश्वर चक्षुरादिगम्य नहीं । ये सब विषय आगे बहुत विस्तार से वर्णित रहेंगे । जिस किसी प्रकार से मनुष्यजन्म का प्रयोजन जान उसके अनुष्ठान के लिये सब कोई प्रयत्नवान् हों यह आशा करते हैं ।

इति श्रीमच्छिवशङ्कर-विरचित-बृहदारण्यकोपनिषद्-
भाष्यावपातनिका समाप्ता



॥ ओ३म् तत्सत् ॥

बृहदारण्यकोपनिषच्छैवभाष्यम्

(अश्वशब्दवाच्यसंसागध्ययनम्)

उपा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो-
व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य ॥ (क)

अनुवाद—निश्चय, इस विज्ञातव्य (विशेषरूप से जानने योग्य) संसार का
शिर उपा, नेत्र सूर्य, प्राण वायु, मुख वैश्वानर अग्नि है । इस विज्ञातव्य संसार
का शरीर संवत्सर (वर्ष) है (क) ।

पदार्थ—(वै) निश्चय, इसमें सन्देह नहीं (मेध्यस्य) अच्छे प्रकार जा-
नने योग्य (अश्वस्य) संसार का (शिरः) शिर (उपाः) प्रातःकाल है (चक्षुः)
नेत्र (सूर्यः) सूर्य है (प्राणः) जीवन (वायुः) वायु है (व्यात्तम्) बुला
हुआ मुख (वैश्वानरः+अग्निः) विद्युत् नाम का अग्नि है (मेध्यस्य+अश्वस्य)
जानने योग्य संसार का (आत्मा) शरीर (संवत्सरः) वर्ष है ॥ (क) -

भाष्यम्—कोऽयं मेध्योऽश्वो यस्योपाः शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राण इत्या-
दीन्यलौकिकानि विशेषणानि दृश्यन्ते ? अत्राश्वशब्देनेदं सम्पूर्णं जगत्प्रच्यते ।

॥ वैदिक और नैदिक संस्कृत शब्दों, में, अर्थ, पर, अर्थ, अन्तर, होना, है ॥
अतः वैदिक प्रयोगों का आज बहुत कठिन और कुछ असह्यता अर्थ प्रतीत होता
है । इसी प्रकरण में “समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः” यहाँ सब विद्वान् समुद्र
शब्द का अर्थ ईश्वर ही करते । परन्तु पुराणों ने जलराशि समुद्र से घोड़े की
उत्पत्ति मान ऐसे २ स्थान में भी समुद्र शब्द का अर्थ प्रसिद्ध समुद्र (जल-समूह-
स्थान) ही कर रक्ता है ॥

यथाश्चः पशुपतित्वेन गोस्तथाऽयं संसारो रथातिशयेन सम्यक् सरन् वर्तते । अत एवास्य संसारो जगदित्यादीनि नामधेयानि । यः संसरति स संसारः । यद्भृशं गच्छति नैरन्तर्येण याति तज्जगत् । अनारम्भे यदि न आम्बे तर्हि क तिष्ठेद् । ग्रहाणां प्रत्यक्षेण भ्रमिदर्शनादियं पृथिव्यापि भ्रमतीति कः सन्देहः । तथाच-
यथाऽश्वः स्वपृष्ठेन मनुष्यं वहति तथेयं पृथिवी स्वपृष्ठे सर्वान् पदार्थान् स्थाप-
यित्वाऽतिरंहसा धावन्ती वर्तते । अन्येषामपि चन्द्रादिलोकानामीदृशी व्यवस्था ।
इत्थं समष्टिबुद्ध्या वहनाद् गमनाच्चायं सम्पूर्णः संसार एकोऽश्वः । व्यष्टिबु-
द्ध्या पृथिव्यादिरेकैको लोकोऽश्वः । यद्वा एक एव शब्दः क्वचिद्भृद् इव क-
चिर्द्यौगिक इव प्रयुज्यते द्वागेऽनशब्दो रुद्रः परमात्मादिषु यौगिको न जायते
इति धात्वर्थशक्तेः । एवमेवाश्वशब्दो ह्येव रुद्रः संसारार्थे यौगिको व्युत्पत्तेस्त-
दर्यावगमात् । तथाहि—अश्व व्याप्तौ संघाते च अशनुते व्याप्नोतीत्यश्वः । सं-
सारस्यैयस्तां परिच्छेत्तुं नालं मानुषी बुद्धिः । अतोऽस्माकं दृष्ट्याऽस्य व्यापकत्व-
न ह्यस्य । बहुषु पशुषु मध्ये तु स्वगुणेनास्यापि काचिद् व्यापकतास्त्वेव ।
सर्वे शब्दा यौगिका नतु रुद्रा इत्यपि राद्धान्त आचार्य्याणाम् । अश भोजनेऽपि
वर्तते । यद्भोजनोऽश्वो भवति । अनेकार्था धातव इत्यपि सार्वजनीनः पदः ।
स्वयमेव वेदोऽश्वशब्दस्य संसारवाचकत्वं ब्रूते । तद्यथा—

“अश्वस्यात्र जनिमाऽस्य च स्वर्तुहो रिपः संपृचः पाहि सरीन् ।

अमासु पृषु परोऽममृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि” ॥ अ० २।३।६॥

अत्रास्मिन् परमात्मनि परमात्मनो व्यापकतायाम् अस्य परितो दृश्यमान-
स्य अश्वस्य संसारस्य जनिम जन्मास्ति । च पुनः स्वः मुखस्यापि जन्मास्ति
सत्रैव । इत्यादि । म पया विस्तरेणोपपादितं द्रष्टव्यम् ॥

अथ कण्डिकार्थः—मेध्यस्य संगमनीयस्य सम्यग् पित्रातृवस्य । ‘मेधु
संगमे च’ अद्रवस्य शिर उक्तमाह्वम् “उक्तमाह्व शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽ-
स्त्रिपाम्” उपा अस्ति प्रमिद्धो ब्राह्मो मुहूर्तः, उपाः प्रमातृकाल इत्यर्थः । वै
निश्चयार्थकः । “स्पृरेवं तु पुनर्वैवेत्यवधारणवाचकाः” अस्याश्वस्योपाः शिरो-
ऽस्तौत्यवधारणीयमित्यर्थः । “उपाः कर्मादुच्चतीति सत्या रात्रेरपरः कालः”

निरु० “उपा वष्टेः कान्तिकर्मण उच्छतेरितरा माध्यमिका०” निरु० १२ ।
 ५ ॥ ‘वष्टेर्वोच्छतेर्वा’ इति देवराजः । वश कान्तौ, उच्छी०निवासे । नि-
 वासः समाप्तिः । या उच्छति शर्वरं तमो विवासयति समापयति विनाशयति
 सोपाः । यदा उच्यते काम्यते या सा उपा इति व्युत्पत्तिः । वेदेषु भूयसीभि-
 र्धर्मिभिरुपाः प्रशस्यन्ते । “एषा दिवो दुहिता” “अभ्रातेव पुसः” “कन्येवत-
 न्वा शासदाना” इत्येवंविधाभिः । नष्टानित्यानि वस्तूनि वेदाः प्रस्तुवन्ति ।
 अतः प्राकृतपदार्थवर्णनकारा सर्वे मनुष्यव्यवहारा विविधाभिर्धर्मिभिरुपादिष्टाः
 सन्ति । अत्र सम्मानपुरःसरं स्त्रीभिः पतयः शुश्रूषणीयाः । पित्राद्यभावे स्वय-
 मेव वरणीयाश्च । इत्यादि । अत्रोपनिषदुपसो जगच्छिरस्त्वमाह । कथमेतत् ।
 अनङ्गेऽस्मिन् संसारे कथमङ्गकल्पना । किं तथा च प्रयोजनं पश्यन्त्युपसः ?
 समाधानम्—संसाराध्ययनार्थमेव मनुष्याणां सुबोधायानङ्गेऽप्यङ्गानि रूप्यन्ते ।
 यदा परमात्मनो निरवयवस्याप्यङ्गानि ‘यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्यवः’ इ-
 त्येवंविधैर्मन्त्रैः शिष्यायै रूप्यन्ते तर्हि का कथाऽन्येषाम् । भूयो भूयो विचार्यमा-
 णमिदं रूपकं गूढार्थं सौन्दर्यातिशयञ्च प्रकाशयिष्यति । तच्चाध्ययनं कदारब्ध-
 व्यमिति जिज्ञासायां प्रमातादारभ्याऽऽशयनकालादेकैकः पदार्थः अध्येतव्यः ।
 अध्ययने चावयवेषु माघान्येन शिरसः कालेषूपसश्च सहाय्यकमित्युभयार्थयो-
 तनायोपसः शिरस्त्वं । यथा बाल्ये शिरसि किञ्चिदिव प्रकाशः । ततो मन्दं
 मन्दं ज्ञानप्रकाशः समायाति । एवमेवोपसि सूर्यस्य किञ्चित् प्रकाशः । ततः
 सैवोपाः सरण्यु-सूर्या-प्रभृति नामधेयं विभर्ति । अयमाशयः । सैव सूर्यप्रभा-
 मधिकांमधिकां गृहाना दिवसत्वेन परिणमते । इतोऽपि तयोः साम्यम् ।
 अधिकं भाषायां द्रष्टव्यम् ॥

सूर्यश्चक्षुरिति । सूर्यः चक्षुसः साधनमित्यर्थः । साध्यसाधनाऽमेदविवक्ष-
 यैषोक्तिः । अतएव “चक्षोः सूर्योऽजायत” चक्षुषो निमित्ताय सूर्योत्पत्तिं वेदा
 आमनन्ति । अत्र निमित्तार्थे पञ्चमी दृश्यते च रात्रौ प्रापशो न केऽपि जीवाः
 पश्यन्ति सूर्याभावात् । यत्तु चन्द्रिकायां पदार्थदर्शनं तदपि सूर्यस्यैव ज्यो-
 तीषि चन्द्रे प्रतिफल्य प्रकाशयन्तीति कारणम् । अन्यानि यानि प्रदीपविद्युदा-
 दीनि ज्योतीषि सन्ति येषां साहाय्येन नेत्रेषु प्रकाशागमनम् । तेषामुपलक्षणेन
 सूर्येऽन्तर्भावः । सूर्यशब्देन सर्वाणि ज्योतिष्मानि वस्तून्मुपलक्ष्यन्ते । उपसः

कारणमपि सूर्य एव । अत उपोऽभ्ययनानन्तरं सूर्यतत्त्वावगमस्यावश्यकत्वा-
त्सूर्योपादानम् । शिरसीन्द्रियाणां चक्षुष इव जगति पृथिव्यादीनां सूर्यस्य श्रे-
ष्ठ्यमिति तयोस्तुल्यता ।

“ वातः प्राण इति । अस्य समस्तस्य जगतः प्राणो वातो वाक्षो वायुरास्ते ।
सत्यपि धर्मे वायुना विना प्राणिनो जीवितु न शक्नुवन्ति । अयमेव वाक्षो
वायु रूपान्तरं प्राप्य सर्वान् जीवयतीति गम्यते । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणामपि
वायुरेवोर्जीवकः । अत उपनिषस्तु सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणनाम्नैकेनाभिधीयन्ते ।
अतो नेत्रानन्तरं तत्सहायकं रूपं प्राणस्यानबोध उचितः । व्यासमग्निर्वैश्वानर इति ।
अस्यान्वस्य व्यासं विवृतं मुखं वैश्वानरोऽग्निः “विश्वान् नरान् नयति विश्व
एन नरा नयन्तीति वा” इति यास्कः । विश्वान् सर्वान् नरान् नरोपलक्षितान्
पदार्थान् नयति परस्परं प्रापयति स्वस्वाप्त्या वा प्रापयतीति वैश्वानरः । यद्वा
नृ नये । विश्वं मयं वस्तु आनृणाति समन्ताद्भावेन प्रापयतीति विश्वानरः स
एव वैश्वानरः । त्रिमुदाख्योऽग्निरिह वैश्वानरः । पदार्थाभ्युपगमेन विज्ञायते
यदाग्नेयपदार्थानां समूह एव संसारः । सर्वेषु पदार्थेष्वनुगता एका वैद्युती
शक्तिरस्ति । या पदार्थान् चालयति । यद्वा सर्वपदार्थाधारः सैव । ये परमाण्व
उच्यन्ते तेऽपि आग्नेयपदार्थानां भागानर्हा अंशा एव । एकोऽपि परमाणु-
स्ता विना न स्थातुं शक्नोति । अद्भुतशक्तिशाली वैश्वानराख्योऽग्निरुत्पा-
दितं कुतूहलिना परमात्मना । यथा मुखसाहाय्येनाम्बन्तरं प्राप्य सर्वे स्वाद्यप-
दार्थां शरीरं पुष्पन्ति एवमेव वैश्वानराग्निसामध्येन सर्वे पदार्थाः स्वात्मानं
पुष्पन्ति । यद्यप्ययमविनाशी तथापि केनापि कारणेन शक्नुयन्तरोऽक्रम्यमाणोर्न-
र्लीयते । तदैव मृत्युर्भवति प्राणिनाम् । वेदास्तु बहुलैर्मन्त्रैर्वैश्वानराग्निं प्रका-
शयन्ति “स रोचयन्ननुषा” इत्येवम् द्रष्टव्या ।

—सम्बत्सर आत्मेति । आत्मा शरीरम् । सम्बत्सरशब्दस्तु सदृशकालप्रवा-
ह्योक्तः । यथा दिवसादनन्तरं रात्रिः । रात्रेः पश्चादिवसः । पुनः पुनः स
एव चैवः स एव वैशाखः । त एव वसन्तादयश्चतवः । तथा बहुकालादन-
न्तरमस्य प्रलयो भवति पुनश्च समान एव संसारो जायते । पुनश्च प्रलयः
पुनस्तपचिरिति चक्रवर्त्यमिः । एकैकः प्रलयावधिः कालोऽस्य जगत एकैकं शरीरं

वेद्यम् । अश्वस्य मेघस्य संगमनीयस्य सम्यग् विज्ञातव्यस्याश्वस्य संसारस्याऽऽ-
त्मा संवत्सरोऽस्ति । अश्वस्य मेघस्येति पुनरुपादानं प्रत्येकसम्बन्धार्थम् (के)

भाष्याशय—उपा—“उपाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः” यास्का-
चार्य कहते हैं कि रात्रि के अपरकाल का नाम उपा है और अन्धकार को दूर
करने से यह नाम हुआ है आज कल प्रभात समय को उपा और ब्राह्म मुहूर्त भी
कहते हैं । वेदों में उपा का बहुत वर्णन आया है दो एक उदाहरण यहां लिखते हैं—

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ।

ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥ अ० १ । १२४ । ३ ॥

(ज्योतिः+वसाना) प्रकाशरूप बख को धारण करती हुई (दिवः+दुहिता)
शुलोक की कन्या (एषा) यह उपा प्रातर्षेत्कारुणा देवी (समना) समान=तुल्य
ही अर्थात् अन्य दिन के समान ही (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (प्रत्यदर्शि) देख
पड़ती है (प्रजानती+इव) जानती हुई स्त्री के समान यह (ऋतस्य) सूर्य के
(पन्थाम्) मार्ग के (साधु+अन्वेति) पीछे पीछे अच्छी तरह से जा रही है ।
इस प्रकार जाती हुई (दिशः+मिनाति) दिशाओं को नहीं झूलती है ।

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुमिव मनये धनानाम् ।

जायेव पत्य उशती सुवामा उपा हसेव नि रिणीते अप्सः ॥ अ० १ । १२४ । ७ ॥

प्रथम दृष्टान्त (इव) जैसे (अभ्राता) उचित बन्नादि से पालने करनेहारों
भ्राताओं से रहित कन्या (प्रतीची) विमुखी वा प्रत्याशारहिता हो (पुंसः+एति)
अपने सम्बन्धिक चाचा आदि के निकट (धनानाम्) धनों की (मनये) प्राप्ति
के लिये (एति) जाती है अथवा (अभ्राता+इव) जैसे भ्रातरहिता कन्या (पुंसः)
विवाह करके किसी पुरुष के निकट प्राप्त होती । द्वितीय दृष्टान्त (इव) जैसे वि-
धवा स्त्री (प्रतीची) दुष्ट सम्बन्धियों के कारण स्वामी के धन-वर्कों में पाकर विमु-
खी हो (धनाना+मनये) धन के लाभ के लिये (गर्तारुम्) गर्त=न्यायालय को
न्याय के लिये (एति) जाती है । तृतीय दृष्टान्त (इव जाता) और जैसे पति-
वता स्त्री (उशती) इच्छा करती हुई (सुवामाः) सुन्दर-बच्चों से सुमुपिता हैं

(हस्ताभ्य) और किञ्चित् मुसुकुराती हुई (पत्ये) पति के निकट (अप्सः) अपने रूप को (निरिणीते) अच्छे प्रकार प्रकाशित करती है । (उपाः) यह उपा देवी अर्थात् प्रातर्वेला, भ्रातृहीना कन्या के समान पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा को जा रही है और मानो अधिकार के लाभार्थ आकाशरूप न्यायालय को चढ़ रही है और पतिव्रता स्त्री के समान अपने सुन्दर समय को प्रकाशित करती है ।

कन्येय तन्वा शाशदानां एपि देवि देवमियक्षमाणम् ।

संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादा विर्वक्षासि कृणुपे विभाती ॥ अ० १ । १२३ । १० ॥

(ह्य) जैसे (कन्या) कमलीया सुन्दरी प्रगल्भा स्त्री (तन्वा) शरीर से (शाशदाना) शोभायमाना होती हुई (इयक्षमाणम्) सेवा करने की इच्छा धारित (देवम्) अपने पति के निकट जाती है और जैसे (युवतिः) यौवनावस्थासंपन्ना स्त्री (संस्मयमाना) किञ्चित् किञ्चित् हसती हुई (विभाती) अतएव प्रकाशमाना हो (वक्षासि) अपने अवयवों को अपने पति के समीप (आविपूङ्कणुपे) प्रकाशित करती है । इन्हीं दृष्टान्तों के समान (देवि) हे उपा देवि ! तू अपने सुन्दर शरीर से सुरोभिता होती हुई (देवम्) प्रत्येक जीव के निकट (एपि) उपस्थित होती है और मानो हँसती हुई (पुरस्तात्) पूर्वदिशा में (विभाती) प्रकाशिता होती हुई (वक्षासि) सम्पूर्ण रूप को (आविपूङ्कणुपे) दिखला रही है ।

वेदों में इस प्रकार उपा की प्रशंसा बहुत आई है और इस वर्णन से यह विस्पष्टतया घोष होता है कि प्रातर्वेला का नाम उपा है । इन पूर्वोक्त वैदिक मन्त्रों से अन्यान्य बहुतसी शिक्षाएँ भी प्राप्त होती हैं, वेदों में अनित्य वस्तुओं का वर्णन नहीं इस हेतु प्राकृतिक वस्तुओं के द्वारा ही मनुष्य के सब व्यवहार अनेक प्रकार से दिखालाये गये हैं । यहाँ स्त्रियों को पति के साथ मद्ध्यवहार करना और यदि कन्या के माई आदि सम्बन्धिक न हों तो स्वयं पति को वरण कर लेना आदि विषय सूचित किये गये हैं ।

१—उपनिषद् में उपा को अक्षररूप सृष्टि का शिर कहते हैं यह रूपक अति सुन्दर प्रतीत होता है । हमने अवपातनिका में कहा है कि जगद्रूप ग्रन्थ के अध्ययन के लिये ही मनुष्यजीवन है । प्रश्न-यह अध्ययन कब से प्रारम्भ होना चाहिये ।

उत्तर-जब से मनुष्य सोकर जागता है तब से लेकर रायनकाल पर्यन्त एक २ पदार्थ अभ्येतव्य होगा और विशेषकर अध्ययन में शिर से ही सहायता लीजाती है इस हेतु अध्ययन की प्रारम्भावस्था को सूचित करते हुए ऋषियों ने उपा को शिर कहा है । २-जैसे शिर में प्रकाश और अप्रकाश दोनों होता है क्योंकि घाल्या-वस्था में किञ्चित् प्रकाश तदनन्तर धीरे २ ज्ञानरूप प्रकाश आता जाता है वैसा ही प्रथम उपा अप्रकाश रूप में रहती है ज्यों २ सूर्य का प्रकाश होता जाता है त्यों २ उपा की ज्योति बढ़ती जाती है । वही उपा "सरसू" "सूर्या" आदि नाम धारण करती जाती है इसी प्रकार विवेकरूप सूर्य से शिररूप उपा जितनी प्रज्वलित होगी उतनी ही शोभा को प्राप्त होती जायगी । इस हेतु यहा उपा और शिर की समा-नता है । ३-जब यह ब्रह्माण्ड सर्वथा अज्ञानरूप अन्धकार से आवृत था तब इसके विषय में हम लोग कुछ नहीं जानते थे जब वेद के द्वारा ज्ञान का प्रकाश रुद्ध २ होने लगा तब से ही जानना आरम्भ किया । अतः यहा उपा शब्द सृष्टि के ज्ञानाज्ञान दोनों अवस्थाओं का सूचक है । इस हेतु यह सूचित हुआ कि जब से इस ब्रह्माण्ड का ज्ञानरूप सूर्य्य ने प्रकाश होने लगा है तब से इसको जान स-कते हैं उसके पहिले की बात नहीं, इस हेतु उपा शब्द का प्रयोग है । ४-अथवा जब से इस ब्रह्माण्ड ने किञ्चित् २ प्रकारास्वरूप अवयव को धारण किया है तब से इसको जान सकते हैं उसके पूर्व नहीं क्योंकि मनुजी कहते हैं—

आमीदिदं तपोभूतमप्रज्ञातमलक्ष्यम् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुममिव सर्वतः ॥

अर्थात् सृष्टि की व्यवस्था के प्रथम क्या था वैसी अवस्था थी इसका वर्णन नहीं हो सकता । अतः प्रकाराप्रकाशस्वरूप उपा ही अर्थात् सृष्टि की आशयवस्था ही शिर अर्थात् अध्ययन का उत्तम साधन (कारण) है अर्थात् जो कोई सृष्टि-विद्या का अध्ययन करना चाहता है उसे उचित है कि सृष्टि की उपावस्था को अ-पना प्रथम साधन बनावे और वहां से अध्ययन करता हुआ आज तक विद्या के विषय में जितने परिवर्तन या संयोग वियोग हुए हैं सब जाने तब ही वह शिर-वाला कहलावेगा । यास्काचार्यादिक "उपा" शब्द को दो धातुओं से निष्पन्न मानते हैं "उषा वष्टेः कान्तिकर्मण उच्छ्वेतरेतरा साध्यमिका" स्त्रिक १२/१५ ॥

“उपा षष्टेर्वेच्छतेत्या इति देवराजयज्ञः” अर्थात् “वश कान्तौ, उच्छ्री विवासे । विवासः समाप्तिः” । इच्छार्थक वश और समाप्त्यर्थक उच्छ्री इन धातुओं से “उपा” शब्द यत्नता है । जिसकी कामना सब कोई करें वा जो अन्धकार को समाप्त कर दे उसे “उपा” कहते हैं । प्रायः सब जीव प्रमात की कामना करते हैं इसमें अगुमान सन्देह नहीं । जैसे—स्वभावतः प्रमातवेला को सब ही चाहते हैं और यह अन्धकार को विनाश करता है इसी प्रकार शिर की कामना करनी चाहिये शिर को अपनी अवस्था में ले आना ही शिर की कामना है । सर्व विद्यारूप प्रकारों से शिर को पूर्ण प्रकाशित करे । जिस देश में शिर का आदर नहीं वा जहाँ के लोग शिर को नहीं बनाते वा न शिर की परवाह करते हैं वहाँ के मनुष्य पशु माने जाते और अन्त में देश की दशा भी पशुवत् होजाती इस हेतु उपा से शिर की तुलना की गई है । विशेष कर अब गृहस्थाश्रम छोड़ कर वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम में जाना है । इसमें सूक्ष्म २ विद्याओं के बोध के लिये प्रथम शिर की ही आवश्यकता होगी । अतः ऋषि कहते हैं कि आश्रमियो ! उपा के समान शिर की भी कामना करो । यहाँ यह अपरम ध्यान रखना चाहिये कि उपनिषद् का अभ्यस्त विशेषकर अरण्य से हुआ करता था । जिन्होंने ब्रह्मचर्य में सम्पूर्ण विद्या पढ़ी है । गृहाश्रम में कुछ सन्त और उनके प्रयोग किये हैं । अब तृतीय और चतुर्थ आश्रम में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व का जानना और निदिध्यासन द्वारा उन्हें प्रकाश कर कुछ चिह्न छोड़ जाना ही अवशिष्ट रहा है । इसलिये कतिपय अनुभूत मार्ग दिखलाये जाते हैं । जिनसे पदार्थाभ्यस्त में सुगमना होवे ॥

अथ—यहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वा प्रधान (प्रकृति) का नाम अथ है यद्यपि लोक में पशुवाचक अथ शब्द प्रसिद्ध है तथापि वेदों में यह अनेकार्थक प्रयुक्त हुआ है और यहाँ अथ शब्द के प्रयोग करने से अनेक आशय हैं । (१) जैसे अथ (घोड़ा) मनुष्यों का एक उत्तम वाहन है और अपनी पृष्ठ पर उनको लाद कर बड़े और से चलता है तद्वत् इस ससार को जानो । जीवात्मा और परमात्मा का यह एक उत्तम वाहन है और अथ के समान ही बड़े वेग से सब पदार्थों को लादकर चल रहा है । यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एक अथ तो यह समाष्टि ससार है परन्तु इस समाष्टि ससार में ज्येष्ठ रूप से अनन्त अथ है यह पृथिवी एक अथा (घोड़ी) है और इसके समान अनेक पृथिवी हैं ये सब ही अथाएं हैं क्योंकि ये

भी अपनी पृष्ठ पर चेतनाचेतन समुद्र नदी आदि सब पदार्थों को लेकर बड़े वेग से दौड़ रही हैं। यद्यपि प्रियमी का दौड़ना हमें प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता तथापि अनेक परीक्षाओं से सिद्ध है कि यह दौड़ रही है इसी प्रकार आकाश में चन्द्र सूर्य नक्षत्र हैं ये घोंड़े के समान दौड़ रहे हैं। इस हेतु यहां अथ शब्द से समस्त सृष्टि का ग्रहण हुआ है और इसमें उत्तम रूपक अन्य नहीं हो सकता था।

(२) संस्कृत भाषा में एक ही शब्द किसी अर्थ में रूढ़यन् प्रयुक्त होता है और किसी अर्थ में यौगिकयन्। जैसे “अज” शब्द छाग अर्थ में रूढ़ ही मानना पड़ेगा परन्तु जीवात्मा और परमात्मा में यौगिक। क्योंकि “न जायते” जो न उत्पन्न हो सके “अज” कहते हैं। इसी प्रकार “अथ” शब्द घोंड़े अर्थ में एक प्रकार से रूढ़ है, परन्तु जब संसारवाचक होगा तब यौगिक होगा। क्योंकि “अस्तुते व्य-प्रोदीन्यधः” “अथू व्याप्ती भोगाने च” जो बहुत व्यापक हो उसे अथ कहते हैं। व्यापकता भी सापेक्ष होती है, जैसे ईश्वर की व्यापकता सब से बड़ी है। इसकी अपेक्षा संसार की व्यापकता न्यून है और संसारमय पदार्थों में एक दूसरे की अपेक्षा व्यापक है। इस संसार की भी मीमा अस्मदादिष्टों की बुद्धि से बहिर्भूत है, अतः इसको “अथ” नाम से यहां अपि कहते हैं। किन्हीं आचार्यों के मत में सब ही शब्द यौगिक हैं रूढ़ नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार भी पशुओं में प्रायः अपने गुणों में अथ व्यापक प्रसिद्ध है। इस हेतु भी घोंड़े को अथ कह सकते हैं यद्वा “अथ भोजने” धातु भी है। पशुओं में अधिक भोजन करने में घोंड़े को अथ कहते हैं। यद्वा सब ही आचार्य धातु को अनेकार्थक मानते हैं। जगदाची अथ शब्द वेदों में आया है, यथा—(अथ) हे परमान्मन ! आपकी इस व्यापकता के मध्य में (अस्व) इस सर्वत्र दृश्यमान (अथेभ्य) व्यापनशील जगत् का (जनिमं) सम्म होना है अतः हे ब्रह्मन् (स्वः+ब्रह्मः-) ज्योति से द्रोह करनेहारे (रिपः) और हिंसा करनेहारे पुरुषों के (संपृचः) सम्पर्क=संसर्ग में (सूरिन्) विद्वानों की (पात्रि) रक्षा करो और हे भगवन् ! (आमासु) मा=मम्यत्ति इसमें पूर्ण (पृषु) प्रामों में जो (परः) अतिगम्य- (अप्रमृष्यम्) अवृष्यमाण-मत्कार के योग्य पुरुष है उसको (अरावयः) शत्रु (न+वि+नयन्-) प्राप्त न करसके और (भन्तवानि) सिध्दावन्तु (न) प्राप्त न होवें अर्थात् परम सन्पत्तियुक्त प्रामों में

जो सब के नायक और परम प्रतिष्ठित पुरुष हैं उनको न शत्रु और मिथ्या व्यवहार प्राप्त हों । यहां अश्व शब्द जगद्वाची है, इसमें सन्देह नहीं ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकोऽश्वो वहति सप्तनामा ।

त्रिणाभिचक्रमजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्युः ॥ २ ॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्युः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यशवाः ।

सप्त स्वस्वारी अभिसनवन्ते यत्र गवा निहिता सप्त नाम ॥ ३ ॥ ऋ० १।१६४ ॥

इन दो उपरिष्ठ मन्त्रों में सूर्य और सूर्य के किरण दोनों अर्थ में अश्व शब्द का प्रयोग आया है । अमरकोश में सप्ताश्व, हरिदश आदि सूर्य के नाम आये हैं । सूर्य की स्त्री सरत्यू एक समय घोड़ी का रूप धारण कर भाग गई सूर्य भी यह लीला देख घोड़े का रूप धारण कर उसके निकट पहुँचा । ऐसी ही याज्ञवल्क्य के विषय में कथा आई है । जब याज्ञवल्क्य वेद के लिये तपस्या कर रहे थे तब सूर्य ने घोड़े का रूप मन याज्ञवल्क्य को वेद सिखलाया इत्यादि । इन सबों का तात्पर्य कुछ अन्य ही था परन्तु पुराणों ने सब चौपट कर दिया ।

इश्वरावाची अश्वशब्द

कालो अरयो वहति सप्तरथिः सदस्त्रापो अजरो भूरिरेताः ।

तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ अथर्व० १६।५३।१ ॥

यहां काल और अरव शब्द ईश्वर के ही अर्थ में हैं, प्रायः वेदने से विदित होता है कि यह वर्णन सूर्य का है परन्तु सो नहीं है । देखो—

कालोऽमुं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।

काले ह भूतं मन्यश्चेपितं ह वि तिष्ठति ॥ ५ ॥

काले भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ॥ ६ ॥

कालादापः सममवत् कालाद्ब्रह्म तपो दिशः ।

कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥ ७ ॥

कालादृचः सप्तमवत् यजुः कालादजायत । ८

इत्यादि अथर्व (१६ काण्ड, ५३-५४) मन्त्रों के देखने से ईश्वर के ही लक्षण पाये जाते हैं । इस काल ने दुलोक पृथिवी आदि को उत्पन्न किया । काल से अग्नेदादि प्रकाशित हुए, काल से सूर्य ही उदित होता है और काल में ही प्रविष्ट होता, काल की सहायता से तप्त होता इत्यादि लक्षण ईश्वर के ही हो सकते हैं अन्य के नहीं । यहाँ ईश्वर को अश्व कहा है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व का वाहक वही है ।

शतपथ में—वज्रो यो अश्वः ॥ ४ । ३ । ४ । २७ ॥ वीर्यम्वा अश्वः ॥ २ । १ । २४ ॥ अग्निर्वा अश्वः ॥ राष्ट्रम्वा अश्वः ॥

इत्यादि प्रमाण आए हैं । वज्र, वीर्य, राष्ट्र, अग्नि आदि भी अश्व कहाते हैं । शतपथ ब्राह्मण के त्रयोदश (१३) काण्ड में “सर्वमश्वमेधः” यह शब्द अनेक-बार आया है इससे, विदित होता है कि अतिप्राचीन काल में अश्वमेध नाम “सव” का या अर्थात् इस समष्टि सृष्टि का नाम ही “सर्व” है, इसके अनन्तर ही “सर्वस्याप्य” प्रयोग आता है । सब पदार्थ की विज्ञानप्राप्ति के लिये यह यज्ञ था (अश्वः संसारो मेध्यते सम्यक् ज्ञायते इति अश्वमेधः) यह भी एक प्रथा देखने में आती है कि जो सम्पूर्ण पृथिवी को विजय करे वही अश्वमेध करने का अधिकारी होता है इस यज्ञ में पृथिवीस्थ सब मुरय महात्मा, ऋषि, मुनि, विद्वान्, गायक आदि बड़े-२ राजा महाराजा एवं सब पदार्थ एकत्रित होते थे, एक प्रकार की प्रदर्शनी थी । इससे भी यही अनुमान होता है कि सम्पूर्ण पदार्थ के विज्ञान के लिये ही यह यज्ञ था ।

मेध्य—“मेधु संगमे च” संगम अर्थ में मेधु धातु है यहाँ च शब्द से पूर्व-पठित मेधा और हिंसन ये दोनों अर्थ भी गृहीत होते हैं, इस प्रकार मेधु (मेधु) धातु के मेधा १, हिंसन २ और संगम ३ ये तीन अर्थ होते । इनमें से आजकल केवल हिंसा अर्थ का ही ग्रहण करते हैं क्योंकि ये लोग यज्ञ में पशुओं की हिंसा मानते परन्तु वैदिकसिद्धान्त यह नहीं । वेदों में अश्वमेधादि यज्ञों का कुछ अन्य भी अभिप्राय था । अश्वमेधादि शब्द का पाठ वेदों में आया है । यथाः—

“राजसूयं वाजपेयम् अग्निष्टोमस्तदध्वरः । अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीववर्हिर्मदिन्तमः” ॥ अथर्व० ११ । ६ । ७ ॥

राजसूय १, वाजपेय २, अग्निष्टोम ३, अश्वमेध ४, अर्क ५, अश्वमेध ६, जीवर्हि ७, और मदिन्तम ८, इत्यादि यज्ञ (यजुर्वेद) ईश्वर में आश्रित हैं अर्थात् ईश्वर से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं, इससे सिद्ध होता है कि अश्वमेध यज्ञ भी अनादि और ईश्वरविहित है। स्वयं ईश्वर कदापि नहीं कह सकता कि घाँड़े, बाँ अन्य पशुओं को मारकर मेरी प्रभुत्वता के लिये होम करो। यदि ऐसा कहता तो मनुष्य को भी मारकर होम करने की विधि बतलाता क्योंकि ईश्वर के सब ही प्यारे जीव हैं, सैत्तिरीय संहिता (५ । ७ । ५२) में “असावादिभ्योऽश्वमेधः” यह आदित्य=सूर्य ही अश्वमेध है, ऐसा पाठ आता है। इन सबों से प्रतीत होता है कि अश्वमेध का इच्छा अन्य ही अभिप्राय था। जिस यजुर्वेद के (२३) त्रयोविंशध्याय को आजकल यज्ञ में विनियुक्त करते हैं, इसी में ये मन्त्र आये हैं।

(१) अग्निः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त - (२) वायुः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त -
(३) सूर्यः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त .. ॥ यजु० २३ । १७ ॥

(१) अग्नि पशु है उससे यज्ञ करते हैं।

(२) वायु पशु है उससे यज्ञ करते हैं।

(३) सूर्य पशु है उससे यज्ञ करते हैं।

यदि यहाँ अन्वयार्थ लिया जाय तो क्या अर्थ होगा, क्या अग्नि आदि कोई पशु हैं जिनको मार कर यज्ञ करना चाहिये, यदि ऐसा कहा जाय कि प्रथम पशुओं को मारकर यज्ञ करते थे इसके निषेध के लिये यह मन्त्र बनाया गया है। प्रथम अग्नि आदि देव ही पशु समझे जाते थे और उनसे ही यज्ञ किया करते थे यथार्थ में अश्व, अज आदि पशु मारकर यज्ञ नहीं करते थे इस हेतु ‘तुम लोग’ जो अश्व आदि पशुओं को मारते हो सो अनुचित करते हो इस अभिप्राय के लिये अग्नि आदि देव को पशु कहा है। यह कहना भी आपका ठीक नहीं होगा क्योंकि वेद के अनुसार ही तो आप हिंसामय यज्ञ करवाते हैं, तब आपको उचित था कि ईश्वर से हिंसात्मक यज्ञ नहीं करवाते इस हेतु आपका कथन उचित नहीं। और वेद से प्राचीन कौनसा ग्रन्थ है जिससे आपको मालूम हुआ कि प्राचीनकाल में हिंसात्मक यज्ञ था। इसके निषेध के लिये “अग्निः पशुरासीद्” इत्यादि मन्त्र कहे हैं।

इसका भाव यह है कि यहां पशु शब्द का अर्थ केवल साधन-सामग्री है। पृथिवीस्थ अग्नि, अन्तरिक्षस्थ वायु और द्युलोकस्थ सूर्य इन तीनों लोकों के तीनों ही साधन से ऋषि लोग यज्ञ करते हैं। सतपथ में—“पशवो वै देवानां छन्दांसि अन्नं वै पशवः” इत्यादि वाक्य आये हैं, देवों का छन्द ही पशु है, अन्न ही पशु है, देवताओं की प्रीत्यर्थ ही यह किये जाते हैं उन देवताओं के पशु गायत्री आदिक छन्द हैं न कि घोड़े आदि पशु, यहां पर भी पशुशब्द का अर्थ केवल साधन है संस्कृत में अनेकार्थ शब्द बहुत हैं। पहले इसका अर्थ साधन होता होगा पीछे घोड़े आदिक अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा, ऐसी संभावना हो सकती है या अनेकार्थक ही मानना उचित है। निरुक्तकार यास्काचार्य लिखते हैं—

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुह्वाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुह्वाञ्चकार। तदभिवादिनी+एपा+अग् भवति य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति तस्योचरा भूयसे निर्वचनाय ॥

विश्वकर्मा भौवन ऋषि ने सर्वमेध नाम यज्ञ में सब प्राणियों को अन्त में अपने को भी होम कर दिया। इसके विषय में “य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वन्” यह ऋचा प्रमाण होती है। मैं यहां प्रथम “य इमा विश्वा भुवनानि” इस ऋचा का पूरा अर्थ महीधर के अनुसार करता हूं ताकि इस आख्यायिका का तात्पर्य विदित हो। वैदिक इतिहासार्थ निर्णय देखो। वहां विस्तार से वर्णन किया गया है।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदपिहोता न्यसीदत् पिता नः। स आशिषां द्रविणमिच्छमानः प्रथमञ्छद्वरा आविवेश ॥ यजु० १७। १७ ॥

भाष्यम्—प्रजां संहरन्तं सृजन्तं विश्वकर्माणं पश्यन्तृपिः कथयति। यो विश्वकर्मा इमा इमानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि जुह्वत् संहरन्सन् न्यसीदत् निषण्णः स्वयं स्थितवान्। कीदृश ऋषिः। अतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञः। होता संहारकस्य होमस्य कर्त्ता। नोऽस्माकं प्राणिनां पिता जनकः प्रलयकाले सर्वलोकान्संहृत्य यः परमेश्वरः स्वयमेवासीदित्यर्थः। तथा चोपनिषद्: “आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिपेत्” सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्”मित्याद्याः। स तादृशः परमेश्वरः आशिषाभि-

लापेण बहुःस्यां प्रजायेयेत्येवंरूपेण पुनः सिमृचारूपेण द्रविणमिच्छमानः जगद्रूपं धनमपेक्षमाणः अवसानमिव्यक्तोपाधीनाविवेश जीवरूपेण प्रविष्टः । कीदृशः प्रथमच्छत् प्रथममेकमद्वितीयं स्वरूपं छादयतीति प्रथमच्छत् छादयतेः क्विपि इत्थं उत्कृष्टं रूपमावृण्वन्सन् प्रविष्टः । इच्छमान इतीपेरात्मनेपदमार्थम् “सोऽकामयत बहुःस्यां प्रजायेय स तपोऽनप्यत स तपस्तत्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्यादिश्रुतेः ।

महीधर हमका अर्थ इस प्रकार करते हैं—विश्वकर्मा अर्थात् ईश्वर को प्रजाओं का और सृजन करनेहारा जान ऋषि कहते हैं कि (यः) जो विश्वकर्मा (इमा) इन (विधा) समस्त (भुवनानि) प्राणियों को (जुह्वन्) संहार करते हुए (न्यसीदन्) स्वयं स्थित है वह विश्वकर्मा कैसा (ऋषिः) असीन्द्रिय द्रष्टा अर्थात् सर्वज्ञ । पुनः कैसा है (होता) संहाररूप होम का करने हारा । पुनः (नः) हम लोगों का (पिता) पातक, जनक अर्थात् प्रलयकाल में सब को संहार कर जो परमेश्वर स्वयं एक रह जाता है । इसमें उपनिषद् का भी प्रमाण है । “आत्मा ही यह एक प्रथम या अन्य कुछ भी नहीं दीप्तता था” “हे सोम्य ! एक अद्वितीय सत् ही प्रथम था” इत्यादि । ऐसा परमेश्वर (आशिषा) अभिलाषा से अर्थात् मैं बहुत होऊँ इस प्रकार की मृष्टि करने की इच्छा से (द्रविणम्+इच्छमानः) जगद्रूप धन की इच्छा करता हुआ (अवरात्) अभिव्यक्त प्रकारित उपाधियों में (आविवेशा) प्रविष्ट हुआ । वह कैसा है (प्रथमच्छत्) अपना जो उत्कृष्ट रूप है उसको छिपाते हुए इन उपाधियों में वह प्रविष्ट हुआ, उसने कामना की कि मैं बहुत होकर उत्पन्न होऊँ । उसने तप किया तप करके यह सबधनाया और बराबर उसमें प्रविष्ट हुआ । इत्यदि श्रुति के प्रमाण से । इसका अर्थ वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय में देखें ।

अब आप विचार सकते हैं कि यास्वाचार्य ने विश्वकर्मा भौवन के सर्वभेष यश में सब प्राणियों को होवने में जो प्रमाण दिया है, इसका क्या तात्पर्य हुआ । यहा भौवन विश्वकर्मा शब्द से किसी राजा वा ऋषि का ग्रहण नहीं है किन्तु ये दोनों पद ईश्वरवाचक हैं (भौवन) भुवन=समस्त लोक लोकान्तर और समस्त प्राणी उनमें जो व्यापक हो उसे “भौवन” कहते हैं । (भुवनेषु पृथिव्यादिलोकेषु समस्तेषु च प्राणिजातेषु यत्तिष्ठति न भौवनः) इसी प्रकार “विश्वकर्मा=विश्व-

कर्त्ता" विश्व के कर्त्ता का नाम विश्वकर्मा है । इस भौवन विश्वकर्मा ने (सर्वमेधे) सर्वमेध नाम के यज्ञ में (सर्वाणि+भूतानि+जुह्वाञ्चकार) सर्व प्राणियों का होम किया, इसका तात्पर्य यह है कि उस ईश्वर ने प्रलयकाल में सब प्राणियों का (सम्पूर्ण संसार का) संहार कर लिया है और (अन्ततः) अन्त में (सः) उस परमेश्वर ने (आत्मानम्) अपने आत्मा का भी (जुह्वाञ्चकार) होम किया अर्थात् अपने को भी क्षिपा लिया । जब सृष्टि ही नहीं रही तो ईश्वर को कौन देखे, इस हेतु मानो ईश्वर ने अपने को ही संहृत कर लिया यह इसका आशय है । अब इस यास्क के वचन से कोई यह समझले कि प्राणियों का होम करना चाहिये और अन्त में अपने को भी अग्नि में गिरकर या अन्य प्रकार से होम करवावे । तो यह दोष यास्काचार्य का नहीं है । पूर्वापर और प्रमाण दिये हुए मन्त्र के अर्थ का विचार करना चाहिये । अब द्वितीय श्रुति के अर्थ को देखो—

विश्वकर्मन् हविषा वायुधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमृत घाम् । मुह्यन्त्वये अभितः सपत्ना (जनासः *) इहास्माकं मघवा सूरिस्तु ॥ यजु० १७ । २२ ॥

ईश्वर के अद्भुत कर्म को देख उपसर्ग कहता है (विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मन् ! विश्वकर्त्ता जगदीश्वर ! (हविषा+वायुधानः) सृष्टिरूप द्रव्य से बढ़ते हुए अर्थात् प्रशंसित होते हुए आप (स्वयम्) स्वयं (पृथिवीम्) सब से अधःस्थित लोक (उत) और (घाम्) सब से उपरिस्थित लोक अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को (यजस्व) होमो अर्थात् सुख पटुचाओ अथवा (पृथिवीम्) पृथिवीस और (घाम्) शुक्तो-कस्य सब जीवों को स्वयं आप (यजस्व) सुखस्वरूप दान प्रदान करो । आपके इस व्यापार को देखकर (अभितः) चारों तरफ स्थित (अन्ये) अन्य (जनासः) मनुष्य (मुह्यन्तु) मोहित हों । अथवा हे भगवन् ! आप सब को तो दान दीजिये परन्तु (अभितः) मेरे चारों तरफ जो (अन्ये) अन्य (सपत्नाः) शत्रु हैं वे (मुह्यन्तु) मोहित हों । आप की कृपा से मेरे शत्रु विनष्ट हों और (अ-स्माकम्) हम लोगों के मध्य शिक्तक (मघवा) ज्ञानप्रद (सूरिः) परम विद्वान् (अस्तु) होवे । इसका भी अर्थ वैदिक इतिहासार्थ नि० में देखो । यहाँ पर भी

सम्पूर्ण विश्व के ही यज्ञ करने की प्रार्थना पाई जाती है और इन दोनों ऋचाओं के प्रमाण यास्काचार्य ने दिये हैं । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद का कुछ अन्य ही तात्पर्य था । समय पाकर वह अर्थ विस्तृत हो गया ।

इस सर्वमेध यज्ञ की विधि शतपथ ब्राह्मण काण्ड १३ । अध्याय ७ । ब्राह्मण ६ में आई है । यथा—

ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत । तदैक्षते न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्ताहं भूतेष्वत्मानं जुह्वानि । भूतानि चात्मनाति । तत्सर्वेषु भूतेष्वत्मानं हुत्वा भूतानि चात्मानि । सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यत् । तथैवैतद् यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेघान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रेष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति ॥

ब्रह्म परमात्मा जो स्वयम्भू है उसने सम्पूर्ण विश्व में सृष्टि करने की इच्छा से शोभ पहुँचाया तब सृष्टि करने के लिये ईक्षण किया और देखा कि इस शोभ की अनन्तता नहीं है अर्थात् मैं जो सृष्टि करना चाहता हूँ वह बहुत छोटी है । अच्छी मैं सब भूतों में अपने को और अपने में सब भूतों को होमू । ऐसा विचार उसने सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को होम कर श्रेष्ठता, स्वाराज्य (सुखमय राज्य) और आधिपत्य को पाया । वैसे ही यजमान "सर्वमेध" नाम के यज्ञ में सब मेघों को और सब भूतों को होम करके श्रेष्ठ्य, स्वाराज्य और आधिपत्य को पाता है । यदि मेध शब्द का अर्थ हिंसा ही हो तो ईश्वर के पक्ष में कदापि घट ही नहीं सकता क्योंकि वह अपने आत्मा की हिंसा नहीं कर सकता । यहाँ ईश्वर के पक्ष में अर्थ विस्पष्ट है । ईश्वर सृष्टि बनाकर उसमें व्याप रहा है और यह समस्त विश्व ईश्वर के आधार पर है अपने ही आधार पर इस सृष्टि को बनाया । अब यजमान के पक्ष में यदि यह कहा जाय कि सर्वमेध में सब की हिंसा कर होम करदे तो यह भी नहीं हो सकता । क्योंकि क्या अपने अधीन मनुष्य को भी मार कर होम दे और अन्त में आप भी मरजाय । अतः इन यज्ञों का उद्देश्य कुछ अन्य ही था समय पाकर सब कुछ परिवर्तित होगया । देखो वैदिक ६० नि० ।

सूर्य्य । सूर्य्यं चक्षुः=सूर्य्य नेत्र है अर्थात् नेत्र का साधन वा कारण सूर्य्य है, इसी हेतु "चक्षोः सूर्य्यो अजायत" चक्षुः=नेत्र के निमित्त सूर्य्य की उत्पत्ति होती है

ऐसा वर्णन वेदों में पाया जाता है। प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि रात्रि में कोई प्राणी पदार्थ को नहीं देखता, चादनी रात्रि में जो देखता है वह भी सूर्य के ही प्रकाश-चन्द्र में गिरकर पृथिवी पर प्रतिफलित होने से नेत्र में ज्योति प्राप्त होती है और अन्य जो प्रदीप विद्युत् आदिक तैजस् पदार्थ हैं जिनकी सहायता से नेत्र में ज्योति प्राप्त होती है वे सब सूर्य शब्द के अन्तर्गत ही आ जाते हैं क्योंकि उपलक्षण से सूर्यशब्द प्रकाशवान् वस्तुमात्र का बोधक होता है। उपा का भी कारण सूर्य है अतः उपा के अनन्तर सूर्य के तत्त्वों का अन्वेषण करना आवश्यक है सौर जगत् में सूर्य की और शिर में चक्षु की प्रधानता है। यहां चक्षुशब्द से सब ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण है क्योंकि नेत्र के अनन्तर नासिका आदि का वर्णन नहीं है। ऐसा भी देखा गया है कि जहां सूर्य की उष्णता नहीं पहुँचती है वहां नेत्र नहीं बनता है पदार्थ विद्या के अन्वेषण करनेहारे अतिगंभीर समुद्र के जल के अभ्यन्तर ऐसा स्थान बतलाते हैं। जैसे सूर्य नेत्र का सहायक वैसे ही पृथिवी प्राण का, वायु त्वचा का, जल रसना का और आकाश कर्ण का, ओत्र के लिये वायु भी सहायक है क्योंकि “ओत्राद्वायुश्च” ओत्र के निमित्त वायु की उत्पत्ति वेद मानता है।

वातः+प्राण=इस सम्पूर्ण समष्टि जगत् का वायु ही प्राण है। सूर्य के रहते हुए भी यदि वायु न मिले तो प्राणियों को जीवन धारण करना अति कठिन है इससे यह सूचित होता है कि बाह्य वायु ही रूपान्तर को प्राप्त होकर सब जीवों को जिता रहा है और यही वायु नेत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और शिर को सहायता पहुँचा रहा है इसी हेतु उपनिषदों में सब इन्द्रियों का एक नाम “प्राण” आता है। इस हेतु नेत्र के अनन्तर उसका भी जो सहायक है उसका बोध होना उचित है।

वैश्वानरः+अग्नि+व्यात्तम्=वैश्वानर अग्नि ही मुख है वैश्वानर शब्द अग्नि का विशेषण है (यो विश्वान् सकलान् नरान् पदार्थान् नयति स वैश्वानरः) सब पदार्थों में अनुगत जो एक आग्नेय शक्ति जिसको विद्युत् भी कहते हैं, उसे यहां वैश्वानर कहा है पदार्थों के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि यह ब्रह्माण्ड आग्नेय पदार्थों का एक समूह है जो परमाणु कहे जाते हैं वे भी आग्नेय पदार्थ का भागानर्ह अंश है, कोई परमाणु आग्नेयशक्ति से विहीन नहीं। बहो-शक्ति पदार्थ के अस्तित्व का भी कारण है। ईश्वर ने अद्भुत-शक्ति-सम्पन्न, इस वैश्वानर-अग्नि,

को बनाया है । पदार्थ तत्त्वविद् इसके गुण को जानते हैं । जैसे मुख की सहायता से खाद्य पदार्थ अन्धन्तर में जा शरीर की पुष्टि का कारण होता है वैसे ही इस वैश्वानर अग्नि की सहायता से वायुपदार्थ पुष्टि पा रहे हैं । यद्यपि इस वैश्वानर-अग्नि का नाश कदापि नहीं तथापि किसी कारणवश यह दब जाता है तब ही प्राणी की मृत्यु प्राप्त होती है । वैश्वानर सम्बन्धी वेदों में अनेक मन्त्र आये हैं यहाँ एक मन्त्र उद्धृत करते हैं जिससे अनेक भाव विद्वान् सांग निकाल सकते हैं ।

स रोचयञ्जनुया रोदसी उभे स माग्नोरभवत् पुत्र ईक्ष्यः ।

हव्यवाद्वाग्निरजरध्नोहितो दूढभो विशामतिथिर्विभावसुः ॥ ऋ० ३। २। २ ॥

(सः) उस वैश्वानर ने (जनुया) जन्म से अर्थात् उत्पन्न होने ही (उभे+रोदसी) सुलोक और पृथिवी इन दोनों को (रोचयत्) प्रकाशमान किया (सः) वह वैश्वानर (माग्नोः) माता पिता जो सुलोक और पृथिवी इन दोनों का (ईक्ष्यः) भरोसनीय (पुत्र) पुत्र है पुनः वह अग्नि कैसा है (हव्यवाद्) पदार्थों का वाहक । पुनः (अग्निः) सब में स्थित (अजरः) जरायुस्थारहित अर्थात् द्वास=चरहित (चनोहितः) अन्न=खाद्य पदार्थ के धारण करनेद्वारा (दूढभः) जिसकी हिंसा नहीं होसकती=अविनश्यर (विशाम्) प्रजाओं का (अतिथिः) साम्य (विभावसुः) परार्थों का प्रकाशक । इससे विस्पष्टतया विदित होता है कि एक अदृश्य सद्दान शक्ति का नाम वैश्वानर है जो सब पदार्थों के अस्तित्व का कारण है ।

अन्नस्य मेध्यस्य+संवत्सर आत्मा=इस सृष्टि का वर्ष शरीर है (आत्मा=शरीर) यहा संवत्सर शब्द सदृश कालप्रवाह का सूचक है । प्रत्यक्षतया देखते हैं कि एक-दश मासों के पश्चात् वही समय पुनः प्राप्त होता है । प्रत्येक द्वादश मास समान ही प्रायः होता है । यहा संवत्सर शब्द केवल उपलक्षण में है । इस सृष्टि का समान प्रवाहरूप जो एक एक कल्प है वह २ शरीर है, जैसे शरीर बदलता जाता है वैसे ही इस सृष्टि का जो एक एक कल्प रूप शरीर है वह भी परिवर्तित होता रहता है ।

“घौः पृष्ठम्” अब आगे सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को जानने के हेतु गिनाते हैं । यदि सब शब्दों पर विशेष व्याख्या की जाय तो एक २ कलिङ्ग का एक २ ग्रन्थ

हो जायगा । इस हेतु कठिन शब्दों का भावार्थ कहा गया है आगे अपनी बुद्धि से श्रवियों के आशय को पुनः पुनः विचार करो ॥ (क)

द्यौः पृथमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम् । दिशः पार्श्वं
अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वा-
ण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि ॥
ऊवर्च्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओप-
धयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्द्धो निम्लोचन् जघ-
नार्द्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मे-
हति तद्वर्पति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥ (ख)

अनुवाद—इस विज्ञातव्य संसार की पृष्ठ-शुलोक है, उदर-अन्तरिक्ष, पादास-
नस्थान-पृथिवी, पार्श्व-दिशाएं, पार्श्व की अस्थि-अवान्तर दिशाएं, अङ्ग-श्रुत,
सन्धियां-मास और अर्धमास, पाद-अहोरात्र, अस्थि-नक्षत्र, मांस-नभस्थमेघ ।
अर्धपरिपक्वभोजन-बाह्य, नाडियां-नदियां, यकृन् और क्लोमा-पर्वत, लोम-ओपधि
और वनस्पति, पूर्वार्ध-उदित होता हुआ सूर्य, जघनार्ध-अस्त होता हुआ सूर्य,
लो विजृम्भण है-बह विद्योतन है, जो गात्रकम्पन है-बह गर्जन है । जो मूत्रा
है-बह वर्पण है, वाणी ही इसकी वाणी है ॥ १ ॥ (ख)

पदार्थ-आगे अन्य अवयवों का वर्णन करते हैं । इस जानने योग्य संसार
की (पृष्ठम्) पृष्ठभाग (द्यौः) शुलोक है (उदरम्) उदर=पेट (अन्तरिक्षम्)
अन्तरिक्ष है । पृथिवी और शुलोक के मध्यस्थान का नाम अन्तरिक्ष है (पाजस्यम्)
पादासनस्थान=पैर रखने की जगह (पृथिवी) यह भूमि है (पार्श्वं) दोनों पार्श्व
(दिशः) पूर्व पश्चिमादि दिशाएं हैं (पर्शवः) पार्श्व की हड्डियां (अवान्तरदिशः)
आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएं हैं । (अङ्गानि) जो अङ्ग पहले कह चुके हैं
उनको छोड़ अन्यान्य अङ्ग (ऋतवः) वसन्त ग्रीष्म आदि श्रुत हैं । (पर्वाणि)
अङ्गों की जहां २ सन्धियां हैं वे पर्व कहाते हैं संसार की सन्धियां (मासाः+च+
अर्धमासाः+च) चैत्र आदि मास और शुक्लपक्ष आदि अर्धमास है (प्रतिष्ठाः)

पैर (अहोरात्राणि) दिन और रात्रि है (अस्थीनि) हड्डियाँ (नसत्राणि) अस्थिनी भरणी आदि नक्षत्र हैं । (मासानि) मास (नमः) नमस्त्व मेघ हैं (ऊग्रथ्यम्) अर्धपरिपक्व भोजन (सिकताः) बाज्र है (गुदाः) नाडियाँ (क्षिन्धवः) नदियाँ हैं (यरुन्+च) हृदय के नीचे दक्षिणभाग में जो मासपिण्ड उसे यरुन् कहते हैं (क्लोमानः) और उत्तरभाग में जो मासपिण्ड उसे क्लोमा कहते हैं वे (पर्वताः) हिमालय आदि पर्वत हैं (लोमानि) लोम (ओपघय,+च) ओपघा (घनस्पतयः+च) घनस्पति हैं (पूर्वावेः) नाभिप्रदेश के उपरिष्ठ भाग को पूर्वार्ध कहते हैं इस ससार का पूर्वार्ध (उद्यम्) उदितायस्था प्राप्त रूप संसार है (जघनार्धः) नाभि प्रदेश के नीचे भाग को जघनार्ध कहते हैं । इसका जघनार्ध भाग (निम्नोच्चम्) उत्तरता हुआ संसार है । जैसे दस शरीर की दो अवस्थाएँ हैं एक चढ़ती और एक उतरती अर्थात् बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक इसकी वृद्धि होती जाती पीछे इसमें से हास होने लगता है इसी प्रकार इस ससार की भी वशा है । एक ही घाट यह ससार झट से नहीं हो जाता किन्तु धीरे २ यह घनता और बहुत दिनों के पीछे घटते घटते एक समय प्रलय आ जाता है । ये ही दोनों इस ससाररूप अश्य के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध है (यद्+विजृम्भते) जो विजृम्भण (शरीर के मज्जों के साथ मूल के विदारण का नाम विजृम्भण है) है (तद्विद्योतते) यह विद्युत् का विद्योतन है (यद्विधूनुते) जो गात्रविकम्पन है (तत्+स्तनयते) यह मेघ गर्जन है (घत्+मेहति) जो मूत्रकरण है (तद्वर्षति) वही वर्षण है (अस्य) इस संसारस्थ प्राणियों की जो (वाग्) वाणी है वही (वाग्) इसकी भी वाणी है अर्थात् जैसे शरीर में विजृम्भण आदि क्रिया होती है तद्वत् मानो विद्योतन आदि है । वाणी के लिये अन्य कल्पना इसलिये नहीं की गई कि ससार कोई भिन्नवस्तु नहीं जो जो भाषण करनेवाले हैं वे भी तो ससार ही में हैं । ससार से भिन्न नहीं जैसे वन और वनस्थ और वनस्थ पृष्ठ वृक्षों के समुदाय का नाम ही वन है यदि वन से पृष्ठ समुदाय पृष्ठक् कर दिया जाय तो वह वन पुनः वन नहीं कहलावेगा । इसी प्रकार ससारस्थ प्राणियों की जो वाणी है वही ससार की वाणी है ॥ १ ॥ (स)

भाष्यम्-यैः पृष्ठमिति । अस्य मेध्यस्य सम्भूतं विज्ञातव्यस्याभ्यस्य संसार-
रूपं ससाररूपस्यास्य वा पृष्ठं धीरस्ति जगत्तो यः सर्वोपरिष्ठो भागः स

धौशब्देन, मध्यमे भागोऽन्तरित्तशब्देन, अवस्थः पृथिवीशब्देन व्यवह्रियते
अतो द्युलोक ऊर्ध्वत्वमाभ्यात्पृष्ठम् । अत्रकाशसाम्यादन्तरित्तमुदरम् । अधःस्थि-
तत्वसाम्यात् पृथिवी पाजस्यं पादस्थानम् । पादा अस्यन्ते स्थाप्यन्तेऽस्मिन्निति
पादस्यं पाजस्यं पादासनस्थानम् । अत्र दकारस्थाने जकार आपो विज्ञेयः ।
दिशः प्राच्यादयश्चतस्रः पार्श्वे कक्षाधोभागौ पार्श्वे “वाहुमूले उमे कक्षौ पा-
र्श्वमस्तौ तयोरधः” अत्रान्तरदिश आग्नेयाद्याः पार्श्वः पशुकाः “पार्श्वस्थानि
तु पशुका” इत्यमरः । ऋतवो वसन्तग्रीष्मशरदादयः अङ्गानि उक्तेभ्योऽन्ये-
ऽवयवाः । मासाश्चैत्रादयः । अर्धमासाः शुक्लपक्षादयः पर्वाणि सन्धयः । अ-
होरात्राणि प्रतिष्ठाः पादाः । प्रतितिष्ठति प्राणी एतैरिति प्रतिष्ठा । नक्षत्राणि
अश्विनीमरुतीप्रभृतीनि अस्थानि । नभो नमस्या मेघा मांसानि । सिकता वा-
लुका ऊवध्वम् अर्धजरीणमशनम् । गुदा नाड्यः सिन्धवो नद्यः स्मन्दनसाम्यात् ।
यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्थौ दक्षिणोत्तरौ मांसपिण्डौ पर्वनाः कठिन्योच्छ्र-
यत्वसाम्यात् । ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि । उद्यन्तद्वगच्छन् सूर्यः पू-
र्वाधो नामेरुर्ध्वभागः । निम्लोचन् अस्तं गच्छन् सूर्यो जयनाधो नामेरधो-
भागः । यद्विजृम्भत इत्यादौ प्रत्ययार्थस्याविवक्षितत्वमस्ति यद् विजृम्भते यद्-
विजृम्भणं गात्राणां विनामनेन मुखविदारणं तद्विद्योतते विद्योतनम् । यद्विधू-
नुते गात्रविधूननमवयवकम्पनं तत्स्तनयति तत्स्तनितं गर्जनम् । यन्मेहति य-
न्मूत्रणं तद्वर्पति तद्वर्पणम् । अस्य संसारस्य प्राणिनो वा या वाग् सैवास्यापि
वाग् अत्र नान्या कल्पनास्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ (ख)

अहर्वा अश्वमिति । संसारस्य द्वे अवस्थे भवतो व्यक्ताऽव्यक्ता च उदिता
प्रलीना वा । व्यग्रहारिकी व्यक्ता तदन्याऽव्यक्ता । इदानीमभितः सर्वं सूर्यं नक्षत्रं
चन्द्रं मेघं पर्वतं नदीं मनुष्यं पशुं पक्षिणमित्येवविधं पदार्थं व्यक्तं पश्यामः । इ-
यमेव दैनिकी योदिता वा व्यक्ता वा व्यावहारिक्यवस्था । यदा सूर्यादयः सर्वे
पदार्था जलपूरप्रवेशविकीर्णाः सिकता इव नञ्चरन्ति तदेदं जगत् प्रसृप्तमिव स-
र्वतो भास्पति इयमेव शार्वरी वा प्रलीना वाऽव्यक्ता वा अव्यवहार्यावस्था इमे
एव द्वे अवस्थे अत्राहन्रात्रिशब्दौ लक्ष्यतः । अहन्शब्देन सृष्टेर्व्यावहारिकी रा-
त्रिशब्देन प्रालयिक्यवस्था लक्ष्यते । इमामेव सृष्टेर्महान्तौ महिमानौ । श्रीकृ-

अप्पोऽर्जुनमाह “अन्यत्रादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तानि धनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २ । २८ ॥ अहोरात्र इवोदयप्रलयं परिवर्तते । इममेकमेव संसारं बहुधा पश्यन्ति । “परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः” योगे । “यथा—दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादमिलाषः । कुत्रापि कोऽपि सुखीति । तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः” । सांख्ये—अतो दुःखत्रयसंश्लिष्टत्वाद्देयोऽयं संसार इति सांख्ययोगिनः । चार्वाकास्तु—

अहः=दिन । मुख्यतया संसार की दो अवस्थाएँ हैं । व्यक्त और अव्यक्त अथवा उदित और प्रलीना, जिस काल में सब व्यवहार हों वह व्यक्तावस्था इससे अन्य अव्यक्तावस्था । इस समय अपने चारों तरफ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ, पर्वत, नदी, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि सब ही व्यक्त (प्रकट) देखते हैं इसी का नाम दैनिकी वा उदित वा व्यक्ता व्यावहारिक अवस्था है । कदाचित् ऐसा भी समय आयेगा जब सूर्य आदि सब पदार्थ जैसे जलप्रवाह के प्रवेश में बालू के कण छितरा जाते हैं वैसे ही होकर नष्ट हो जायेंगे । तब यह जगत् प्रसुप्त (सोएहुए) के समान चारों तरफ से प्रतीत होगा । इसी अवस्था का नाम रात्रि (रात्रि सन्वन्धी) वा प्रलीना वा अव्यक्ता है । यहां इन्हीं दो अवस्थाओं को अहत् और रात्रि शब्द ज्ञात करते हैं अर्थात् अहन् शब्द से सृष्टि की व्यावहारिकी और रात्रि शब्द से प्राकृतिकी अवस्था सूचित होती है । ये ही दोनों अवस्थाएँ सृष्टिरूप अथ के वा परमात्मा के महान् महिमा हैं अन्य नहीं, यहा महिमा शब्द के जो अन्य अर्थ करते हैं सो सर्वथा त्यज्य है । श्रीकृष्ण भी अर्जुन से इन ही दो अवस्थाओं का वर्णन करते हैं “हे अर्जुन ये सब भुवन पृथिव्यादि लोक आदि में व्यक्त, मध्य में व्यक्त और पुनः अन्त में अव्यक्त ही रहते हैं इसमें शोक करने की क्या बात है” ।

इस एक ही संसार को अपनी २ रात्रि के अनुसार भिन्न २ देखते हैं । सांख्य और योगी इसको दुःख मिश्रित समस्त त्याज्य मतलाते हैं और कहते हैं कि (विवेकिनः) विवेक्षाल योगी की दृष्टि में (सर्वम्+दुःखमेव) निरुद्ध विषय सुख दुःख ही है क्योंकि (परिणामतापसंस्कारदुःखैः) परिणाम दुःख, ताप दुःख, संसार दुःख इन तीन दुःखों से विषय सुख को मिश्रित होने से (च)

और (गुणवृत्तिविरोधात्) गुणनिष्ठ स्वभाविक चाञ्चल्य से निरन्तर सत्त्वगुण की सुखाकार वृत्ति को अन्य विरोधी वृत्तियों से मिश्रित होने से विवेकी को निश्चित ही सुख दुःखरूप मान होता है (यथा—दुःखात्+क्लेशः+पुरुषस्य) पुरुष को दुःख के निमित्त जितना क्लेश पहुँचता है (न+तथा+सुखाद्+अभिलाषः) उतना सुख से अभिलाष की पूर्ति नहीं होती है (कुत्रापि+कोपि+सुखी) जगत् में कहीं कोई एक आश सुखी है (तदपि+दुःखरात्रलम्) उस सुख को भी दुःख मिश्रित होने से (दुःखपक्षे+निक्षिपन्ते+विवेचकाः) विवेकी दुःख ही समझते हैं इन कारणों से इस संसार को दुःखमय समझ कर योगी देखे कहते हैं ।

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां, दुःखोपमृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
 व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् को नाम भोस्तुपकणोपहितान् हितार्थी ॥
 इह सर्वेषामानन्दानामेकाऽमृतपल्लवी प्रमदा । इह नयनानन्दकरस्तनयः ।
 इह प्रियो बन्धुः । इह मयै नियं भोग्यम् । अमितः सुखमेव सर्वं मन्दभागिनं
 कुधियञ्च दुःखाकरोतीति । एवं मन्यमान्या आदेय इति वदन्ति ।

न मे द्वेपरागौ न लोभो न मोहो मदो नैव मे नैव मात्सर्यज्ञानम् ।
 न घम्रो न चायौ न कामो न मोक्षविदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥१॥
 न पुण्यं न पापं न मौख्यं न दुःखं न मंत्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः ।
 अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता विदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥२॥
 न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
 न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यविदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥ ३ ॥

इसके विरुद्ध चावक इस संसार को इस प्रकार मानते हैं (दुःखोपमृष्टम्+ इति) दुःख से मिश्रित है इस हेतु (विषय-संगम-जन्म+सुखम्+त्याग्यम्) वनि- तादि विषय जन्य सुख को त्याग-देना चाहिये (एषा) यह (पुंसाम्) मनुष्यों की (मूर्खविचारणा) मूर्खता का विचार है अर्थात् मूर्ख लोगों का ऐसा विचार हुआ करता है कि संसार दुःखमय है । इसमें बनिता आदि बहुत सुख के पदार्थ हैं (भोः) हे शिष्य ! देखो (सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्) श्वेत तण्डुलों से भरे हुए (शक्तीन्) धानों को (कः+हितार्थी+नाम) कौन हित चाहनेवाला पुरुष

(तुपक्वणोपहितान्) तुप=भूसे के कणों से युक्त होने के कारण (जिहासति) त्यागना चाहता है अर्थात् जैसे शाली में ऊपर भूसा लगा रहता है उसके नीचे चावल होता है । भूसे के भय से शाली को कोई नहीं त्यागता । इसी प्रकार यदि इस ससार में भूसे के समान किञ्चित् दुःख है तो चावल के समान सुख भी बहुत है । इसको त्यागना मूर्खों का काम है । देखो ! यहाँ सब आनन्दों की एक अमृतलता प्रमदा (स्त्री) । यहाँ नयनानन्दश्चर तनय । यहाँ प्रियग्रन्थु । यहाँ सब ही प्रियभोग्य वस्तु है । पाणि और सत्र सुखमय ही पदार्थ हैं, परन्तु मन्दभागी और कुतुब्धि पुरुष को दुःख देता है । इस प्रकार चारों तरफ मानते हुए यह ससार प्रहरीय है ऐसा उपदेश देते हैं ॥

नवीन वैश्वान्वी लोग इसको ऐसा समझते हैं (न+मे+द्वेपरगौ०) न मुझे द्वेष, न राग, न लोभ, न मोह, न मद, न मात्सर्य, न धर्म, न अर्थ, न काम, न मोक्ष है । मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ । मैं सर्वथा कल्याणमूर्ति हूँ (१) (न+पुण्यम्०) न मुझे पुण्य, न पाप, न सुख, न दुःख, न मन्त्र, न तीर्थ, न वेद, न यज्ञ, मैं न भोजन हूँ, न भोग्य हूँ, न भोक्ता हूँ, मैं केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ । मैं कल्याणरूप हूँ (न+मे+मृत्युशङ्का०) न मुझे मृत्यु की शङ्का है न मुझे जातिभेद है, न पिता है, न माता है, न जन्म है, न वन्ध है, न मित्र है, न मेरा गुरु है, न मैं शिष्य हूँ, मैं केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ ॥

इत्युपरिष्ठकोपदेशं ददत आनन्दैरुपपत्त्यादानन्द एवेत्येके वेदान्तिनः । यथाशास्त्रं भोज्यो हेयश्चेति वेदिकाः । इयमीदृशमिदानीकविधं संसारं पश्यन्ति विप्रतिपत्तारः । अतो वच्यत्पुनरुपनिषद्ब्रह्म भूत्वा देवानवहदित्यादि । अनेन संसारस्य परमगहनत्वं सूचितं भवति । अतः ॥ यथानतया सूक्ष्मविचारेण च भीमांसनीयोऽयं संसार इत्युपदिश्यते ॥

इस प्रकार उपरिष्ठ उपदेश देते हुए इस ससार को आनन्दरूप होनेसे आनन्द प्रकटाने हैं । वैदिक लोग वेदानुसार इस ससार को भोज्य और हेय दोनों कहते हैं । इस प्रकार ईश्वर के समान ही इस ससार को भी अनेक विध देखते हैं जो लोग विविध सहाय और तर्क नितर्क करनेवाले हैं, इसी हेतु मध्य उपनिषद् कहेंगी—द्वयो

भूत्वा इत्यादि । इस हेतु सावधानता से सूत्रम विचार के द्वारा यह संसार मीमांसनीय है यह उपदेश होता है ॥

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः । हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥ २ ॥

अनुवाद—निश्चय, इस संसाररूप अश्व के लक्ष्य से प्रथम उदयरूप महिमा प्रकाशित होता है, इसका कारण पूर्ण परमात्मा है । पश्चान् इसके लक्ष्य से प्रलयरूप महिमा प्रकट होता है उसका भी कारण सर्वोत्कृष्ट परमात्मा ही है । निश्चय, संसाररूपी अश्व के दोनों तरफ ये दो महिमा उत्पन्न हुए * । यह संसाररूप अश्व "भूत्वा" होकर देवों को वहन करता है "भोग" होकर गन्धर्वों को "हिंसा" होकर असुरों को और साधारण भोजन होकर मनुष्यों को वहन कर रहा है । परमात्मा ही इसका बन्धु है । परमात्मा ही इसका कारण है ॥ २ ॥

द्वितीय अर्थ—इस संसाररूप अश्व के लक्ष्य से, निश्चय, पूर्वदिशा में दिनरूप महिमा होता है । उसका पूर्व आकाश में स्थान है इसके लक्ष्य से पश्चिम दिशा में रात्रिरूप महिमा होता है । इसका पश्चिम आकाश में स्थान है । संसाररूप अश्व के दोनों तरफ ये दो महिमा होते हैं (इसके आगे पूर्ववत्) ॥ २ ॥

पदार्थ—अब इस सृष्टि की दो अवस्थाएँ कहते हैं एक व्यक्तावस्था और दूसरी प्रलयावस्था (वै) निश्चय (पुरस्तात्) प्रथम=आगे (अश्वम्+अनु) इस संसाररूप अश्व की सृष्टि हो अर्थात् प्रकाश हो इस दृष्टि से (अहः) दिन=

* प्राचीनकाल में अथवा अब भी यह रीति वहीं २ पाई जाती है कि घोड़े के दोनों तरफ घूँघरू लटका देते हैं वे सोने चादी आदि के होते हैं । इसी प्रकार इस संसाररूप अश्व के दोनों ओर उदय और प्रलयरूप घूँघरू लटके हुए हैं ॥ १७ ॥

अर्थात् व्यक्तावस्था अर्थात् उदयरूप (महिमा) महिमा महत्त्व (अजायत) होता है अर्थात् प्रथम इस सृष्टि का उदय होता है मानो, सृष्टि के सम्बन्ध में ईश्वर का यह महिमा है । इस महिमा का कारण कौन है सो आगे कहते हैं (तस्य) इस उदयरूप महिमा का (पूर्वे) पूर्ण (समुद्रे) परमात्मा (योनि) कारण है (पश्चात्) अन्तिमावस्था में (एतम्+अनु) इस ससार के उद्देश से (शत्रिः+महिमा) प्रलय-रूप महिमा (अजायत) प्रकट होता है । अर्थात् अन्त में इसका प्रलय होता है । इस प्रकार (अश्वम्+अमितः) ससाररूप अश्व के दोनों तरफ (वै) निश्चय (एतौ+महिमानौ) यह उदय-प्रलयरूप महिमा (सम्बभूवतुः) प्रकट होते हैं । अब आगे यह दिखाते हैं कि यह एक ही ससार भिन्न २ रूप से मनुष्यों को भासित होता है । यह ससार (ह्यः+भूत्वा) त्यागरूप होकर (देवान्) सन्न्यासी जनों को (अबहत्) ढो रहा है अर्थात् सन्न्यासी जन इस संसार में रहते हुए भी इसको त्याग्य समझते हैं । स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा अर्थात् विरक्त दृष्टि में सब त्याग ही सूक्तता है (वाजी) भोगविलास होकर (गन्धर्वान्) गायक अर्थात् विलासी पुरुषों को ढोरहा है अर्थात् विलासी पुरुषों को सब पदार्थ भोग ही सूक्तता है । (अर्वा) हिंसा होकर (असुरान्) दुष्ट पुरुषों को ढोता है अर्थात् इस ससार में येन केन प्रकारेण अपने को सुखी बनाना चाहिये इसमें लोगों को कितनी ही क्षति पहुँचे कोई चिन्ता नहीं, देश का देश बरबाद होजाय, लाखों कोटियों कियों बिपदा होकर भले ही दुःख भोगें, हजारों बालक अग्नि में स्वाहा भले ही होजायें, परन्तु निज स्वार्थसिद्ध करना ही धर्म है । जगत् में देखते हैं कि बली पशु निर्बल पशुओं को खाजाते हैं इसी प्रकार हमें भी करना उचित है यही असुरजनों का सिद्धान्त रहता है, अतः इनको हिंसा ही हिंसा सूक्ती है । (अश्वः) साधारण भोजन होकर (मनुष्यान्) मनुष्यों को ढोता है । साधारण निर्वाह से जो जगत् में रहते हैं वे मनुष्य कहलाते हैं धर्मपूर्वक अपने जीवन को बिताना, न किसी को क्षति पहुँचानी, न राग्यादि की अभिलाषा करना, न अधिकता और न न्यूनता को चाहना ऐसे सिद्धान्तवाले पुरुष इस ससार को साधारण भोग्य वस्तु समझते हैं । अब वैराग्योत्पादन के लिये इस संसार का ईश्वर-सम्बन्ध कहते हैं (अस्य) इस ससार का (बन्धुः) बन्धु=स्नेह से पाघनेवाला (समुद्रः) परमात्मा ही है और (योनिः) कारण भी (समुद्रः) ईश्वर ही है ॥ २ ॥

द्वितीयोऽर्थः—(अश्वम्+अनु) संसाररूप अश्व के लक्ष्य से अर्थात् इस संसार में प्रकाश हो इस उद्देश से (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (वै) निश्चय (अ-हः+महिमा+अजायत) दिनरूप महिमा होता है (तस्य+पूर्वे+समुद्रे) उस दिनरूप महिमा का पूर्व आकाश में (योनिः) स्थान है । अर्थात् दिन पूर्वोक्त आकाश में होता है यह प्रत्यक्ष है (एनम्+अनु) पुनः इसके उद्देश से (रात्रिः+महिमा+अजायत) रात्रिरूप महिमा होता है (तस्य) उस रात्रिरूप महिमा का (अपरे+समुद्रे) पश्चिम आकाश में (योनिः) स्थान है । इस प्रकार (अश्वम्+अभितः) इस संसार रूपी अश्व के दोनों तरफ (एतौ+महिमानौ) ये दिन और रात्रिरूप महिमा (सम्बभूवतुः) होते हैं । इसके आगे अर्थ तुल्य ही जानना ॥ २ ॥

माध्यम्—पुरस्तात् पुराज्ये “प्राच्यां पुरस्तात्प्रथमे पुरार्थेऽप्रत इत्यपि” अश्वं सृष्टिरूपमरवम् । अनु लक्ष्यकृत्य । अहर्दिनं तदुपलक्षितव्यवस्था । स एव महिमा वै अजायत जायते परमात्मनो महत्त्वं प्रकटीभवतीत्यर्थः । महतो भावो महिमा “पृथ्वादिभ्य इमनिञ्च्” इतीमनिञ्च् ततः टेः “भस्य टेलोपः स्यादिष्टेमेयःसु” इति टेलोपः । अस्य महिम्नः कि कारणमित्यपेक्षायामाह । तस्य पूर्वं इति । तस्य सृष्टिव्यवस्थारूपस्य महिम्नः । पूर्वं समुद्रेः पूर्वंः समुद्रः । त्रिमहिव्यत्ययोऽत्र सर्वेषां सम्मतः । पूर्वंः पूर्णः समुद्रः समुत्पद्य भूतानि द्रवन्ति लयं गच्छन्त्यस्मिन्निति समुद्रः, सम्यग् उद्भवन्ति उदगच्छन्ति भूतानि यस्माद्वा स समुद्रः परमात्मा । पूर्णः परमात्मैव योनिः कारणम् । परमात्मैव सृष्टिं व्यञ्जयति नान्य इत्यर्थः । यद्वा पूर्वं पूर्णं समुद्रे ब्रह्मणि योनिर्योगः सम्बन्धः । अथ प्रलयावस्थां दर्शयति प्रलयः पश्चादन्त्यायामवस्थायाम् । एनमरवम् । अनु लक्ष्यकृत्य । रात्रिः रात्रिशब्दोपलक्षितः प्रलयः । स एव महिमा अजायत जायते । “द्वन्द्वसि लुङ्लङ्लोटः ३।४।६ ॥ घात्वर्णानां सम्बन्धे सर्वकालेष्वेते वास्युः” ननु “विषद्वचोऽपि संवर्धं स्वयं ज्ञेत्तुमसाम्प्रतम्” इति न्यायेन यदस्य कर्तेश्वरस्तर्ह्यन्येन केनापि विध्वंसयिषा भवितव्यमित्याशङ्कयामाह । तस्यापरे समुद्रे इति । तस्य प्रलयरूपस्य महिम्नोऽपि । अपरे समुद्रे योनिः, अपरः समुद्रः योनिः=न पर उत्कृष्टो विद्यते यस्मात्सोऽपरः सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः । समुद्रः परमात्मा । योनिः कारणम् । प्रलयस्यापीश्वर एव कारणम् । इयं सृष्टीश्वरस्य लीलैव । स एव सृजति पाति संहरतीति न पर-

मात्मनि दोषः । तथाचोक्तम्—यस्य ब्रह्म च चक्षुः च चोभे भवतु भोदनम् ।
मृत्युर्यस्योपमेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥

अथ द्वितीयोऽर्थः—अश्वं संसारम् । अनु लचीकृत्य । पुरस्तात् पूर्वस्यां
दिशि अहर्दिनं । स एव महिमा जायते । तस्याहोरूपस्य महिम्नः । पूर्वं समुद्रे
पूर्वदिक्स्थे आकाशे । योनिः स्थानम् । दिनस्योदयः पूर्वाकाशे भवतीति प्रत्य-
क्षम् । पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि रात्रिरूपो महिमा जायते । तस्य परे समुद्रे ।
योनिः स्थानम् । पुनर्दिनं भवति । यद्वा तस्याह्नः पूर्वं समुद्रो योनिः ।
विभक्तिव्यत्ययेन । समुद्र आकाशः समभिद्रवन्त्यापोऽस्मिन्निति समुद्रः ।
रात्रिरूपस्य महिम्नः । अपरः समुद्रो योनिरित्यपि ध्वन्यते । यथाऽहोरात्रः
परिवर्तते तथैव संसारस्योदय-प्रलयौ महिमानौ सदा भवत इत्यवधारणीयम् ।
इत्थं महिमानौ । अश्वमयितः सम्बभूवुः सम्भवत इत्यर्थः । संसारमनुलचीकृत्य
सहोदयप्रलयौ भवत इत्यर्थः । कथमेमांश्वरमहिमानौ ज्ञात्वा सर्वे विमुच्यन्ते ।
भिन्नचित्वाज्जना एकमेव संसारं यथामति किमिश्वररूपं पश्यन्ति । नास्य
धापार्थ्यं वेत्तीति मुह्यन्ति । तदेवाह हयो भूत्वेत्यादि । अयं संसारः । हयस्त्यागो
भूत्वा देवान् प्रजाजिनो जनान् । अगदत् वहति । अतो देवाः संसारे स्थिता
अपि विषयैरसंस्थाः सन्ति । वाजी भोगो भूत्वा गन्धर्वान् अवहत् । “क्षी-
कामा वै गन्धर्वाः” अतो गन्धर्वा भोगमेव पश्यन्ति । अर्या हिंसाभूत्वा असु-
रानवहत् । अतोऽसुराणां हिंसात्मको धर्मः । अरवोऽशानं भूत्वा मनुष्यान्वहत् ।
अतो मनुष्या साधारणभोग्येषु आसज्जन्ते । अथ वैराग्योत्पादनायेश्वरमि-
मुखीकरणाय चास्येश्वरसम्बन्धित्वमाह । समुद्र इति । अस्याश्वस्य । समुद्रः
परमात्मैव । बन्धुर्वो प्रेम्णा बध्नाति स बन्धुः । सहृदयन्य इत्यर्थः । अस्य
योनिः कारणमपि । समुद्रः परमात्मैव । “हयो हायस्त्यागः । ओहाक् त्यागो
अस्माद् घात्रि कृते “आतो युक् चिण्कृतोः ७ । ३ । ६६ ॥ इति युगागमेन
हाय इति सिध्यति “परोक्षप्रिया हि देवा प्रत्यक्षाद्विपः” इति न्यायेन हायः
सन् हय इति प्रयुक्तः । यद्वा हय क्लमे इति कविकल्पद्रुमः । ज्ञमो ग्लानिः
श्रम इति यावत् । अयं संसारो हयो ग्लानिग्लानिकर एव अतोऽपि त्याज्यो
नष्टा किमपि सुखम् । वाजी=वाजमश्वमिति ब्राह्मणम् । अश्वमिति भोग्यवस्तु-
पलक्षणम् । वाजमस्मिन्विषये विधत् इति वाजो भोग्यप्रधानो विषयः । गन्धर्वो

गायकत्वेन प्रसिद्धाः, अत्र गन्धर्वशब्दो विपयिणो लक्षयति । अयं संसारो भोग्य इति गन्धर्वाः पश्यन्ति । अर्वा=अर्धवधे इति कविकल्पद्रुमः । वधात्मको धम्मोऽसुराणामित्युक्तं पुरस्तात् । इत्वा वा धित्वा वा श्रुणं कृत्वा घृतं पीत्वा वा शरीरं पोषयेदित्यसुराः पश्यन्ति । अश्वः=अश भोजनं । मनुष्याः साधारणजीविकाभिच्छन्ति । अत्राश्वशब्देन सृष्टिवर्णनोपक्रान्ता अतस्तत्पर्यायैरेवान्येऽपि उपमेया दर्शिता इति वेदितव्यम् ॥ २ ॥

भाष्याशय—अहः=अह्न शब्द का “अहः” रूप होता है । यहां दो अर्थों में, यह शब्द है । मुख्य अर्थ इसका दिन, परन्तु लक्ष्यार्थ संसार की बदयावस्था है । इसी प्रकार रात्रि शब्द का मुख्यार्थ रात्रि है । लक्ष्यार्थ प्रलयकाल है । पुरस्तात्=पूर्व दिशा, सामने, प्रथम, पूर्वकाल और आगे इत्यादि अर्थ में इसका प्रयोग होता है । “पूर्व समुद्रे” यहां दोनों शब्दों में सप्तमी के एकवचन का प्रयोग है परन्तु शङ्कराचार्य आदि सब भाष्यकर्त्ताओं ने अर्थ करने के समय सप्तमी की जगह प्रथमा विभक्ति मानी है अर्थात् “पूर्व समुद्रे” के स्थान में “पूर्वः समुद्रः” “शङ्कराचार्य के ये शब्द हैं” पूर्व=पूर्वः । समुद्रे=समुद्रः । ... “विभक्तिव्यत्ययेन” इस की टिप्पणी में आनन्दगिरि कहते हैं “कथं सप्तमी प्रथमार्थे योज्यते । छन्दस्यर्थानुसारेण व्यत्ययसम्भवान्” कैसे सप्तमी विभक्ति को प्रथमा विभक्ति के अर्थ में घटाते हैं ? ऐसा प्रश्न करके उत्तर देते हैं कि वैदिक भाषा में अर्थानुसार विभक्ति का व्यत्यय=परिवर्तन हुआ करता है, इसमें कोई दोष नहीं । सुरेश्वराचार्य इसीको वार्तिक (श्लोकबद्ध) में लिखते हैं “व्यत्ययेनावबोद्धव्या प्रथमार्थे च सप्तमी ” इतने लिखने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन वैदिक भाषा में अर्थानुसार विभक्ति बदल जाती है जो लोग प्राचीन भाषा के तत्त्व को नहीं जानते हैं वे ऐसी २ जगह में धक्का कर टीका वा भाष्यकारों को कुबाध्य कहने लगते हैं । यहां “योनि” शब्द का प्रयोग है इस हेतु व्यत्यय करना पड़ा है । समुद्र योनि=कारण है । समुद्र में कारण है । ऐसा प्रयोग नहीं होता । परन्तु दिन और रात्रि के पक्ष में विभक्ति व्यत्यय के बिना भी अर्थ हो सकता है । अर्थानु दिन का योनि=न्याय, पूर्व समुद्र-आकारा में है, ऐसा अर्थ करने से कोई छति नहीं । पूर्व समुद्रे+अपरे समुद्रे=यहां सब टीकाकारों ने और अनुवादकर्त्ताओं ने “समुद्र” शब्द का अर्थ “प्रसिद्ध जल-समूह स्थान ही” किया है । परन्तु यह बड़ी भूल है । क्या दिन समुद्र से उत्पन्न

होता है ? या रात्रि समुद्र में लीन होती है ? क्या ही आश्चर्य की बात है कि विभक्ति बदलने में प्राचीन व्याकरण को काम में लाते हैं परन्तु अर्थ करने में प्राचीन षोडश को काम में नहीं लाते । देखो । समुद्र नाम आकाश का है ।

अम्बरम् । विपत् । व्योम । वह्निः । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशः । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वा । पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । अध्वरम् । इति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ निघण्टु । १ । ३ ॥

यहाँ यास्काचार्य ने “समुद्र” शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ दिखलाई हैं । वेद में इसके बहुत उदाहरण आते हैं । (एकः सुपर्णः समुद्रमाविवेश) इत्यादि अनेक मन्त्रों में समुद्रशब्द आकाशवाची आया है । हम देखते हैं कि पूर्वीय आकाश की ओर दिन का उदय होता है इसी प्रकार रात्रि का पश्चिमीय आकाश में । यहाँ समुद्र शब्द का अर्थ जलराशि स्थान करना धालकपन है । आगे चलकर शङ्कराचार्य और तदनुयायियों को “समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रयोनिः” यहाँ समुद्र शब्द का “प्राविद्ध” अर्थ छोड़कर “वद्ध” अर्थ करना पड़ा, यथा “समुद्र एवेति परमात्मा” शङ्करः । इसके ऊपर सुरेश्वराचार्य लिखते हैं “समुद्र ईश्वरो ज्ञेयो योनिः कारणमुच्यते” नित्यानन्द मुनि “समुद्र” शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं:—“समुत्पद्य भूतानि द्रवन्ति त्वं गच्छन्त्यस्मिन्निति समुद्रः परमात्मा” उत्पन्न होकर लय को प्राप्त हो जिसमें उसे समुद्र कहते हैं । अर्थात् परमात्मा इत्यादि अर्थ का अनुसन्धान करना ॥

हय=हय, बाँगी, अर्धा और अश्व ये चारों नाम छोड़े के हैं । जिस हेतु इस संसार को “अश्व” मानकर वर्णन आरम्भ हुआ है, इस हेतु यहाँ अश्ववाचक ऐसे शब्द प्रयोग किये गये हैं कि जिस का योगिकर्ष्य संसार में पड़जाय । हय=हय=त्याज्य । अयना “हय” धातु का अर्थ कृत=ग्लानि दुःख है । देव लोगों को यह संसार ग्लानिकर ही विदित होता है । बाजी=बाज=अज्ञ । अज्ञ शब्द भोगोपलक्षक है । अर्थान् अज्ञ शब्द से भोग अर्थ प्रतीत होता है (लीकामा वे शब्ध्या) ऐसा पद ब्राह्मणमन्त्रों में प्रायः आया करता है । जो मनुष्य केवल भोगी और बिलासी हो उन्हें गन्धर्व कहते हैं ऐसे पुरुषों को यह संसार भोगप्रव

सूक्ता है। अर्वा—अर्व धातु का अर्थ वष भी होता है, कविकल्पद्रुम का यह मत है। निरुष्ट कर्म में प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को असुर कहते हैं। असुरों की हिं-
सामय जगत् सूक्ता है। अथ—अश भोजने धातु से बनता है। साधारण जन का नाम यहां मनुष्य है। जो लोग धर्मपूर्वक और सन्तोष के साथ साधारण जीवन से रहते हैं ऐसे मनुष्यों का केवल धर्मपूर्वक पोषण होना चाहिये। वे अन्य पदार्थ नहीं चाहते हैं। उन्हें यह संसार साधारण भोग्य प्रतीत होता है ॥२॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

इदं द्वितीयं ब्राह्मणं जगदिदं क्षुधां प्रपीडितं परस्परं निजिगलिपदस्तीति लवयति । परितो निरीक्ष्यतां किमिवाथर्थं प्रतिमाति, स्थावरो वा जंगमो वा अणुतमः कीटो वा सर्वः किमप्यनुमिच्छति, क्षणायुरपि जीवोऽनमन्तरा क्षणमपि निर्वाहयितुं न शक्नोति । इयं क्षुधेयतीं वृद्धिं गता यत् कश्चिज्जीवो मातुरुदरे स्थित एव तदीयोदरमांसं खादितुमारभते इह हि कुलीराः प्रमाणम् । शुन्यो निजशावकान् भक्षयन्त्यो दृष्ट्वा, मत्स्या मत्स्यान् खादन्ति, किं बहुना सम्प्रत्यपि क्वचिदेशे मनुष्या मनुष्यान् भक्षयन्तीति श्रूयते । अबला बलिष्ठान् भोजनमिति तु नियम एव संसारस्य । पुत्रास्तु मातरं मातरः पुत्रान् खादन्तीत्याश्चर्यम् । अश्वत्थादिस्थावरा अपि खयोग्याशनमप्राप्य शुष्यन्ति । इत्थं सम्पूर्णं जगदिदमशनया गृहीतमास्ति । उपनिषदादिषु अनेकोक्तिर्मग्याऽर्थोऽयं अर्थादिति ।

यह द्वितीय ब्राह्मण दर्शाता है कि यह सम्पूर्ण जगत् क्षुधा से प्रपीडित है परस्पर एक दूसरे को निगलजाना चाहता है। चारों तरफ देखो, कैसा आश्चर्य देखता है, क्या स्थावर क्या जंगम क्या अणुतम कीट सबही कुछ खाना चाह रहा है जिस जीव की आयु क्षणमात्र ही है वह भी भोजन के बिना एक क्षण निर्वाह नहीं सकता। यह क्षुधा इतनी वृद्धि को प्राप्त हुई कि कोई रं जीव माता के उदर में स्थित रहते ही अपने माता के उदर को ही खाना आरम्भ करता है। इसमें

कंकड़ा ✽ प्रमाण है । कुतिया अपन बच्चों को खाती हुई देखी गई है । मत्स्य मत्स्यों को खाते हैं, धनुष क्या कहें आजकल भी किमी देश के मनुष्य, मनुष्य को खाते हैं ऐसा सुनते हैं । यन्त्रियों का अबल भोजन है यह तो ससार का नियम ही दीप्तता है । परन्तु पुत्र माता को और माता पुत्रों को खाती हैं यह आश्चर्य की बात है । अश्वत्थ आदि स्थावर भी अपने भोग्य को न पाकर सूख जाते हैं । इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् भूत से गृहीत है । उपनिषदादियों में अनेक प्रकार से यह अर्थ प्रदर्शित हुआ है ।

“ता एता देवताः मृषा अस्मिन् महत्पर्यवे प्रापतन् । तमशनापिपासा-
श्यामन्ववार्जत् । ता एनमनुवन्वायत नः प्रजानीहि । यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नम-
दामेति । ताभ्यो गामानयत् । ता अन्नवत् न वै नोऽयमलमिति । ताभ्योऽश्व-
मानयत् । ता अन्नुरन्न वै नोऽयमलमिति । ताभ्यः पुरुषमानयत् । ता अन्न-
वत् सुकृतं घटेति । पुरुषो घाव सुकृतम् । ता अन्नवीत् । यथायतनं प्रविशतेति ।
अग्निर्गाम्भूत्वा मुखं प्राविशत् । वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् । इत्यादि
ऐतरेयोपनिषदि, द्वितीये खण्डे । एतेन मनुष्यजातिर्महाशुभ्रवायतीति दर्शित-
मुपनिभिः ।

(ता + एता + देवता) यहा अलङ्कार रूप से वर्णन करते हैं कि जब सद्य
आग्नि आदि देव ईश्वर से सृष्ट हो इस ससाररूप महासमुद्र में आगिरे तब परमे-

✽ यह एक जलजन्तु है जमीन के ऊपर भी रहता है । बगाल आहाते में
यहूत होता है । सरसट में कुलीर, कर्कट, सदशक इत्यादि कहते हैं (स्यात्कुलीरः
कर्कटक) एक साथ पचामों बच्च होते हैं । वे अपनी माता के उदर को बिदा-
शकर निकलते हैं और उसके मांस को रत्ती २ खाजाते हैं । महाभारत में कहा है—
“यथा च वेणु कदली नलो वा, फलत्यमावाय न भूतप्रेतमन । सयैव मा ते परि-
रक्ष्यमाणामादास्यते कर्कटकीव गर्भम् ॥” जैसे वेणु, कदली और नलपृष्ठ अपने
मारा के लिये ही फलता है । जैसे कर्कटकी अपने मरण के लिये ही गर्भ धारण
करती है ।

श्वर ने जीवात्मा पुरुष को भूख और प्यास से संयुक्त किया । तब सब देव मिल-
कर सृष्टिकर्ता परमात्मा से बोले कि हम लोगों के लिये स्थान कल्पित कीजिये जि-
समें प्रविष्टित हो अन्न खावें (ताम्ब्यः गाम्+आनयत्) उनके लिये सृष्टिकर्ता ने
स्वल्प स्थान लेकर दिखाया कि इसमें आप लोग निवास करके अन्न खाते जायें ।
उन सब ने कहा कि यह हम लोगों के लिये पर्याप्त नहीं है । तब परमेश्वर उनके
लिये अश्वरूप स्थान रच कर ले आया इसे भी देख उन्होंने कहा कि ये भी हम
लोगों के लिये पर्याप्त नहीं है । तब उन लोगों के लिये मनुष्यजाति ले आया ।
तब वे सब प्रसन्न हो बोले कि हां यह बहुत है क्योंकि मनुष्य जाति ही सम्पूर्ण
सुकृत कर्मों का स्थान है । तब भगवान् ने उनसे कहा कि आप लोग अपने २-
स्थान में प्रवेश करें, तब अग्निदेवता बाणी होकर मुख में पड़े । वायु देवता प्राण
होकर नासिका में प्रविष्ट हुए । इत्यादि ऐतरेयोपनिषद् द्वितीय खंड में वर्णित है ।
इसका अभिप्राय विस्तृत है । अग्नि आदि देवता जड़ हैं । आत्मसंयोग से ही जड़-
देव भूख प्यास क्रम क्रोधादि उत्पन्न करते हैं । जब परमेश्वर ने इन अग्न्यादियों के
संयोग से गाय, बैल, घोड़े आदि सब पदार्थ रचे और अग्न्यादिकों को इस जीवों
में रहने के लिये, मानो, आज्ञा दी । परन्तु इन पशुओं में ही निवास करना इन्होंने
पसन्द नहीं किया क्योंकि इनके भोग्यवस्तु परिच्छिन्न हैं तब परमेश्वर ने, मानो,
सर्वोत्तम मनुष्ययोनि बनाकर सब देवों को आज्ञा दी कि इसमें प्रवेश कर यथेच्छ
भोग को सेवन करें । इस आख्यायिका से मनुष्ययोनि को बहुत भोग्यशाली होना,
इसी में पञ्चभूतों के गुणों का पूर्णरीति से प्रकाशित होना, और सुकृत वा दुष्कृत
का निवासस्थान आदि सिद्ध होता है । आगे शतपथ का ग्रन्थ लिखते हैं, यथाः—

प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवास । स ऐक्षत कथं नु मजायेयेति सोऽआ-
म्यस्त तपोऽस्तप्यत स प्रजा अमृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानी-
मानि यथांश्च पुरुषो वै प्रजापतेर्नदिष्टं द्विपादा अयं पुरुषस्त्वस्माद्विपादो वयांसि
॥ १ ॥ स ऐक्षत प्रजापतिः । यथा न्वेव पुरैकोऽभूवमेवमु न्वेषाप्येतर्कैक एवा-
स्मीति स द्वितीयाः समृजे ता अस्य परैव बभूवुस्तादिदं सुद्रं सरीसृपे
यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः समृज इत्याहुस्ता अस्य परैव बभूवुस्त इमे सर्पा एता
इन्वेव द्वयीर्याज्ञवन्क्ष्य उवाच त्रयीरु तु पुनर्भ्रूवा ॥ २ ॥ सोऽर्चस्वह्नाम्यन्त्र-
जापतिरीदांश्चक्रे । कथं नु मे प्रजाः सृष्टाः परामवन्तीति स रैतदेव ददर्शान्-

शनतया वै मे प्रजाः परामवन्तीति स आत्मन एवाग्रे स्तनयोःपय आप्याययां-
चक्रे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा स्तनावेवाग्निपथ तास्ततः सम्ब-
भूवुस्ता इमा अपराभूताः ॥ ३ ॥ शत० २ । ५ । १ ॥ - -

(प्रजापतिः+ह) प्रथम प्रजापति ही एक था। उसने देखा कि मैं प्रजाओं को
उत्पन्न करूं। उसने अपने ज्ञान से सकल प्रजाएँ सृजन कीं। उनकी बनाई हुई
प्रजाएँ विनष्ट होती गईं। वे ये पक्षी हैं निश्चय प्रजापति के समीपी पुरुष ही है यह
पुरुष द्विपाद है इस हेतु दो पदवाले पक्षी हैं ॥ १ ॥ (सः+प्रेक्षत-प्रजापतिः०)
प्रजापति ने पुनः विचार किया कि मैं जैसा पहले एक था वैसा अब भी हूँ इस हेतु
उसने दूसरी प्रजाएँ बनाईं वे भी विनष्ट सी होगईं। वे ये हैं:-जो सर्प से भिन्न
क्षुद्र सरीसृप आदिक हैं, सब प्रजापति ने तीसरी प्रजाएँ उत्पन्न कीं वे भी विनष्ट सी
होगईं वे ये सर्प आदि हैं ॥ २ ॥ सब प्रजापति ने पुनः विचार किया कि क्योंकि
मेरी सृष्ट प्रजाएँ विनष्ट होती जाती हैं। सब प्रजापति ने अपनी शक्ति से दूध की
वृद्धि की, दूध की वृद्धि करके प्रजाएँ बनाईं। वे उत्पन्न हुईं, प्रजाएँ दूध को पाकर
समर्थ हुईं ये प्रजाएँ अपराभूत हैं। इस का भी भाव यह है कि जगत् में जन्मकाल
से ही अन्न की आवश्यकता होती है। शतपथ के द्वितीय ब्राह्म में इसका वर्णन
आया है।

कृतः समायातेयं पिशाचीं बुभुक्षा । भोजनाधीनः सर्वव्यवहारः । अद्या-
भोज्याश्चोपरशो वाऽकर्त्ता दृश्यते । मासे मासे वा वर्षे वर्षे वाऽऽनमविधाय
दैनिकं दायिकं वा कृत्वा तद्धिना मरणञ्च योजयित्वा कमुपकारं पश्यति मग-
यान् परमेश्वर इति परामर्शं निसर्गत एवोपतिष्ठते मनोपेणां मनसि । ईश्वर एव
महानात्मा सृष्ट्वा सृष्ट्वा संहरमाण एव प्रतेक्षणं दृश्यते । अतस्तस्य प्रजा अपि
तादृश्यो बभूवुरित्यत्र किमाश्चर्यम् । कार्यगुणो हि कारणगुणमनुयाति । “यस्य
ब्रह्म च क्षेत्रं चोभे भवत आदनम् । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः”
इत्युक्तं कठवल्क्याम् । अतएव “अत्ता चराचरग्रहणात्” इति सूत्रं सूत्रयित्वा
प्रश्नैव महदन्नस्तीति सूचयति बादरायणः । कृषीवलानां जीविकार्यानि क्षेत्राणी-
धेधरस्यैकैका सृष्टिः क्षेत्रमस्तीति मन्ये । अन्यथा कयं सृजति संहरति च । क्षेत्रा-
जीवोऽपि प्रथमं क्षेत्रं सृजति कश्चित्कालं रवाति ततो जुनाति । ईदमेव व्यवहार

ईश्वरस्य । महान् मक्षयिता हि सः । अतः क्षेत्रमनाद्यनन्तमस्ति तस्य । ननु अशनापिपासागहित स उच्यते । सत्यम् । तस्यास्माकमिवाशनाभावाद् महाम-
हाशनः सन्ननशन उच्यते “परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विपः” लोकाः खलु
हास्येन वा शिष्टाचाराप्ररोधेन वा अकिञ्चनं घनिकं, मूर्खं पण्डितमन्धं
चक्षुष्मन्तमित्येवं प्रयोगं प्रयुज्जते । इहापि तादृशेन प्रयोगेन भाष्यम् । अन्यथा
स कथमत्रा उच्येत कथम्वा तस्य च चराचरं भोजनं स्यात् । कथम्वा तस्योदरे
सर्वेषां भुवनानां निवास इति वर्येत । समाधत्ते । दृष्टुं न न यथार्थं भोक्ता ।
स पर्याप्तकामः सदा तृप्तस्तिष्ठति । तस्मिन् अतृप्तत्वादिकं केवलमुपचर्यते
न च स प्रजानामुपादानं वर्तते । येन कार्यगुणानुमानेन तदीयगुणो निर्धयेत ।
स्वभावं एषोनादिः सृष्टेः । येन इन्द्रैर्युक्ता सृष्टिः । यथा पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे
ईश्वरस्य जगत्कारणत्वं दर्शितं तथास्मिन् ब्राह्मणे जगत्संहर्तृत्वमाख्यायिकापूर्वकं
दर्शयिष्यति ।

यह पिशाची बुभुक्षा कहां से आई । भोजन के अधीन ही सर्व-व्यवहार हैं ।
आज का भूया कल था परसों कुछ कार्य नहीं कर सकता । भगवान् परमेश्वर
मास २ में या वर्ष २ में भोजन न विहित कर दैनिक या क्षणिक भोजन बना
और उसके बिना मरण का निरूपण कर किस उपकार को देरता है ऐसा विचार
स्वभावतः बुद्धिमानों की बुद्धि में उपस्थित होता है । इस पर कोई कहते हैं कि
ब्रह्म ही महान् भक्त है क्योंकि वह सृष्टि को बना २ कर संहार करते हुए प्रति-
क्षण देरता जाता है इस हेतु उसकी सृष्ट प्रजाएं भी वैसे ही हुई इसमें आश्चर्य की
बति ही क्या है क्योंकि कार्यगुण-कारणगुण के अनुसरण करता है । कठवल्गु-
पनिषद् में कहा गया है कि “जिस ब्रह्म के ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ओदन है,
मृत्यु जिमका उपसेचन (घृत) है कौन उसको जानता है जहां वह है ” अतएव
“अत्ता चराचरमहणात्” इस सूत्र को रचकर ब्रह्म ही महान् अत्ता है, ऐसा या-
दरायण सूचित करते हैं । जैसे कृषीबलों (रोती करनेवाले किसानों) को जीविका
के लिये क्षेत्र हैं वैसे ही एक एक सृष्टि ईश्वर का क्षेत्र है ऐसा मैं मानता हूं । ऐसा
यदि न हो तो क्यों बनाता और पुनः संहार कर लेता है । कृषिबल (किसान)
भी प्रथम क्षेत्र बनाता है कुछ काल उसकी रक्षा करता है तब काट लेता है । ईश्वर
का भी ऐसा ही व्यवहार देखते हैं । जिस हेतु वह महान् महाभक्त है इस हेतु

इसका क्षेत्र भी अनादि अनंत है । यदि कहो कि वह तो भूरा-प्यास से रहित कहा जाता है, यह सत्य है । हम लोगों के समान अरान पान न होने से वह महा-अरानकारी है इस हेतु निन्दारूप से उसको अनरान (अरानरहित) कहते हैं । क्योंकि विद्वान् लोग प्रत्यक्ष-द्वेषी और परोक्षप्रिय होते हैं अर्थात् विद्वान् लोग द्वि-पाक्षर यात कहा करते हैं । बहुत खानेवाले को कुछ नहीं खाना है ऐसा कहा है । लोक भी हास्य से वा शिष्ट व्यवहार से दूरि को धनिक, मूर्ख को परिहृत, अन्ये को नेत्रवाला कहते हैं । यहा भी वैसा ही प्रयोग होगा अन्यथा वह क्योंकिर अज्ञा कहालाता है और क्योंकिर चराचर जगत् उसका भोजन कहा जाता है । कैसे उसके घर में सब भुवनों का निवास माना है । यह तुम्हारा क्यन ठीक नहीं, तुमो ! यह यथार्थ भोक्ता नहीं है । वह पर्याप्त काम सदा रत रहा करता है उसमें भोक्तृ-त्व का केवल उपचारमात्र होता है इस हेतु इसको यथार्थ भोक्ता मानना उचित नहीं । और वह प्रजाओं का उपादान कारण नहीं है जिससे कि कार्य के गुणों के अनुमान से उस के गुण का अनुमान होगा । सृष्टि वा यह अनादि स्वभाव है जिससे कि यह सम्पूर्ण सृष्टि द्वन्द्व से मुक्त है । जैसे पूर्व ज्ञाक्षण में ईश्वर को जगत् कारणत्व प्रदर्शित हुआ है । वैसा ही इस ज्ञाक्षण में आत्मायिका पूर्वक जगत् संघ-र्तत्व बरसावेगी ।

नेवेह किञ्चनाम आसीन्मृत्युर्नेवेदमावृतमासीदशनाय-
याऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति ॥
सोऽर्चन्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति
तदेवार्कस्यार्कत्वम् ॥ कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्क-
स्यार्कत्वं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—प्रारम्भ में यहां कुछ नहीं था । अमुक्षा-स्वरूप मृत्यु से ही यह आवृत था, क्योंकि अमुक्षास्वरूप ही मृत्यु है । उसने वह मन किया कि मैं (सृष्टि करने के लिये) प्रयत्नवान् होऊ उसने, (प्रकृति और जीवात्मा को) माने, सत्कार करता हुआ (प्राकृतिक परमाणुओं को) संचारित किया । सत्कार करते हुए उसके समीप-कार्यभूत और व्यापक आकाश उत्पन्न हुआ । सत्कार करते हुए मेरे लिये

यह ब्रह्माण्ड हुआ' इस हेतु वही अर्क का अर्कत्व है । जो कोई इस प्रकार अर्क के इस अर्कत्व को जानता है । निश्चय, उसको सुख प्राप्त होता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(अग्रे) सृष्टि के पहले (इह) यहां (किञ्चन) कुछ (न+एव) नहीं ही (आसीत्) था (अशनायया) बुभुक्षास्वरूप (मृत्युना) परमेश्वर से (एव) ही (इदम्) यह ब्रह्माण्ड=विश्व (आवृतम्+आसीत्) आवृद्धादित था (हि) क्योंकि (अशनाया) बुभुक्षास्वरूपी (मृत्युः) परमेश्वर है । उस मृत्यु-वाच्य परमेश्वर ने (तत्+मनः) सृष्टि करने में समर्थ सङ्कल्प लक्षण जो मन=विज्ञान उसको (अकुरुत) किया अर्थात् मन में विचार किया । क्या विचार किया सो कहते हैं—(आत्मन्वी) मैं प्रयत्नवान् (स्याम+इति) होऊँ । इस प्रकार विचार करके (सः) उसने (अर्चन्) प्रकृति और जीवात्मा को सत्कार करता हुआ (अचरत्) प्राकृतिक परमाणुओं को संचालित किया अर्थात् उन में गति दी । (तस्य+अर्चतः) सत्कार करते हुए उस ईश्वर के निकट (आपः) सब व्यापक काव्यरूप आकाश उत्पन्न हुआ ईश्वर कहता है (अर्चते) सत्कार करते हुए (मे) मेरे लिये (कम्+अभूत्) यह ब्रह्माण्ड हुआ (इति) इस हेतु (तद्+एव) यही (अर्कस्य+अर्कत्वम्) पूजनीय सृष्टिरूप देव का "अर्कत्व" है । आगे फल कहते हैं—(यः) जो विज्ञानी (अर्कस्य) अर्चनीय संसाररूप देव के (अर्क-त्वम्) अर्चनीयत्व को जानता है (अस्मै) इस विज्ञानी पुरुष को (ह+धै) निश्चय ही (कम्) सुख (भवति) होता है ॥ १ ॥

भाष्यम्—नैवेहेति । इदानीं परितः परिपूर्णमत्र मयं विभाति । किं शश्व-देवमेवेदं तिष्ठति, एवमेवासीद् भविष्यति चैवमेव आहोस्वित्परिणमते । अत-आह-नैवेहेति । इह दृश्यमाने सप्रपञ्चे जगति । अग्रे पुरा सृष्ट्युत्पत्तेः मार्गः । किञ्चन किञ्चिदपि नैव आसीत् नैव बभूव किञ्चिदपि । "आसीदिदं तसो-भूतमेवज्ञातमलक्षण"मित्यपि स्मृतिः । तर्हि-असतः सद्जायतेति सिद्धान्त-ज्ञानिः । अत आह-मृत्युनेति । इदं विश्वम् । अशनायया अशनाया अशि-शिषा बुभुक्षा तथा अशनायान्तेत्यर्थः गुणगुणिनोरमेदविवक्षयोक्तिः । मृत्युना मृत्युपदवाच्येन परमात्मना । आवृतमाच्छादितमासीत् । अनेकार्थत्वान् मृत्यु-शब्दस्य स्वामीष्ठार्यं श्रूते । अशनाया हि मृत्युः । अयमर्थः-मरणान्मृत्युः ।

इह दृश्यते बुभुक्षितो हि सिंह इतरं पशुं मारयति । ईश्वरोऽपि बुभुक्षितः सन् जगत्संहारतीत्युत्प्रेक्षे । इत्यपरिमितं जगत् संहारमपि न कदाचिद्विरमति संहारादित्यतः स याथाव्येन अशनमूर्तिरेवेश्वरः । अत आह अशनाया हि मृत्युः । बुभुक्षामूर्तिरेवेश्वर इत्यर्थः । अत आह स मृत्युपदवान्य ईश्वरः । जगत्सर्जनक्षमं यन्मनोऽस्ति तन्मन अकुरुत । मनःशब्दवान्यं सङ्ख्यादिलक्षणं विज्ञानं कृतवान् । केनाभिप्रायेष्येत्यत आह—आत्मन्वीति अहं सर्वं कर्तुं समर्थ आत्मन्वीत्यामिति मनोऽकुरुत अहं जगत्सृष्टौ प्रयत्नवान् भवेयमित्यर्थः । “आत्मायत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभायो ब्रह्म वर्त्म च” स प्रकृतो मृत्युः । अर्चन् प्रकृतिं जीवात्मानञ्च पूजयन् सत्कारयन्निव । अर्च पूजायाम् । पूजा सत्कारः । अचरद् चारयद् परमाणुपुञ्जं संचारितवानित्यर्थः “चर गतिभक्षयोः” अर्चतः सत्कारयतस्तस्य मृत्योः । आपोऽजायन्त “आप्लु व्याप्ता” व्यापकः कार्यभूत आकाशोऽजायत । आप इत्यन्तरिक्षनामधेयम् । यथा—“अम्बरम् । विषद् । व्योम । यर्हिः । धन्वः । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वा । पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि । निघण्डु । १ । २ । ३ ॥ “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” इति निगमात्प्रथममाकाशस्याधिर्भावः । तत्रापि प्राथमिकसूक्ष्मावस्थालक्षकोऽप्यशब्दः सर्वत्र सृष्टिप्रकरणे प्रयुज्यते आप्लुषातुर्हि तदर्थमवगमयितुं समर्थः । सम्प्रति सृष्टेः पूज्यत्वं दर्शयितुमपक्रमते । वै निश्चयेन । अर्चते प्रकृतिजीवात्मानौ सत्कारयते मे मह्यं मदर्थम् । कमभूत् ब्रह्माण्डमभूत् । कमिति ब्रह्माण्डनामधेयम् । यतोऽर्चतः परमेश्वरस्य सकाशात् क ब्रह्माण्डमभूत् तस्मादेतौस्तदेव अर्कस्यार्कत्वम् अन्यथा कथं तस्यार्चनीयत्वं संभवेत् । अग्रे फलमाह—कमिद्वि महर्षेः । यो विज्ञानविन्दुरूपः । अमुना प्रकारेण । अर्कस्य अर्चनीयस्य सृष्टिरूपस्य देवस्य । एतदर्कत्व । चेद जानाति । अस्मै विज्ञानवते ह वै । कं भवति सुखं भवति । नामसामान्यारकमित्युक्तम् । “अर्को देवो भवति—यदेनमर्चयन्ति । अर्को मन्त्रो भवति—यदेनार्चन्ति । अर्कमन्नं भवति—अर्चति भूतानि । अर्को वृक्षो भवति—सर्वत्र फटुकिम्ना” एवमर्कशब्दोऽनेकार्थः । “कः शिरसि, जले, सुखे, ब्रह्मणि, विष्णौ, प्रजापतौ, दत्ते, इत्यादिषु, पुनः—कामदेवे, अग्नौ, धायौ, यमे, सूर्ये, आत्मानि, राजनि, ग्रन्थौ, मयूरे, इति मेदिनी । मनसि,

शरीरे, काले, घने, शब्दे “इति अनेकार्थ कोशः । प्रकेशे च इति एकाक्षरकोशः । इत्यं के शब्दोपि भूरिमावप्रद्योतकः । कः कर्माणी भवति सुखो भवति क्रम-
णीयो वा । तद्यथा—“कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा” इति निरुक्ते दैवत-
कारण्डे ४ । २२ ॥ १ ॥

माध्याशय—अभी चारों तरफ यह सम्पूर्ण विश्व परिपूर्ण हो रहा है । यहाँ प्रभ होता है क्या यह दृश्यमान ब्रह्माण्ड सर्वदा ऐसा ही रहता है, ऐसा ही था और ऐसा ही रहेगा ? अथवा इसमें कुछ परिवर्तन होता है ? इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये आगे कहते हैं (इह) यहाँ । अर्थात् अपने चारों तरफ जो महा अद्भुत सप्रपञ्च संसार इस समय देख रहे हैं । इस में (अग्रे) जब सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि सृष्टि कुछ प्रकट नहीं हुई थी इसके पहले यहा कुछ नहीं था । स्मृति भी कहती है कि प्रथम यह तमोमय अप्रज्ञात और अलक्षण (जिस का लक्षण वर्णन नहीं हो सकता) ऐसा था अब यहाँ शङ्का होती है कि क्या तब असन् से सन् अभाव से भाव हुआ । यदि ऐसा मानोगे तो सिद्धान्त की हानि होगी । इस हेतु आगे कहते हैं कि (मृत्युना+आवृत्तम्+आसीन्) यह संसार ईश्वर से ढका हुआ था । यहा इतने पद से मित्र होता है कि प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वर तीनों थे । क्योंकि आवर्ता (आच्छादयिता=ढाकनेहार) तब ही कहलाता है जब आवरणीयवस्तु (ढाँकने की चीज) हो यदि कोई आवरणीय पदार्थ ही नहीं था तो मृत्यु ने किसको ढक रक्खा था इससे सिद्ध होता है कि आवर्ता (ढाँकनेहार) और आवरणीय (ढाँकने योग्य पदार्थ) ये दोनों थे । आवर्ता ईश्वर और आवर-
णीय प्रकृति और जीव है । मृत्यु यहा ईश्वर का नाम है मारने के कारण मृत्यु । ईश्वर सब का संहार करता है इस हेतु वह मृत्यु है । अशानाया भोजन की इच्छा का नाम “अशानाया” है जिसको क्षुधा बुभुक्षा आशिप्रीया और भूख आदि शब्दों से व्यवहार करते हैं । यहाँ “अशानाया” शब्द ईश्वर के विशेषण में आया है । शङ्का—ईश्वर को “अशानाया” क्यों कहा । अवतरण में इसका उत्तर देखो । जैसे भूखा सिंह अपने आहार के लिये अन्य पशु को मारता है, मानो वैसे ही भूखा ईश्वर सर्वदा सृष्टि संहार करता रहता है । इससे मालूम होता है कि ईश्वर बहुत भूखा है यदि भूखा न होता तो अपनी बनाई हुई सृष्टि को क्यों संहार करता है क्योंकि “विपवृत्तोऽपि संवर्ष्य स्वयं क्षेप्तुमसाम्प्रतम्” विप वृत्त को भी बढ़ाकर स्वयं

इसको कोई नहीं काटता । इस हेतु ईश्वर बहुत भूरा है यह प्रतीत होता है । अतएव इसको “अशनाया” धुमुक्षा (भूय) स्वरूप कहा है । अर्थात् अशनाया-वान्=भूरा । अशनाया गुण है । अशनायान् न कह कर अशनाया क्यों कहा । उत्तर—संस्कृत में ऐसे प्रयोग आते हैं यहा गुण और गुणी में अभेद मान करके ऐसा कहा है । अथवा, मानो ईश्वर बड़ा भूरा है इस हेतु इस को धुमुक्षा-स्वरूप ही कहा है । भूरा पुरुष कुछ कार्य करता तब उसे भोजन मिलता है । धुमुक्षित ईश्वर ने क्या किया सो आगे कहते हैं “आत्मन्वी” यत्न, धृति, बुद्धि, स्यमाय, प्रज्ञ और शरीर इत्यादि अर्थों में “आत्मा” शब्द के प्रयोग आते हैं आत्मन् शब्द से “आत्मन्वी” “आत्मवान्” बनता है अर्थात् जैसे कृषिधल (किसान) खेत करने के लिये मन में विचारकर प्रयत्नवान् होता है । वैसा ही भोग्य अन्नोत्पादन के हेतु मानो ईश्वर यत्नवान् हुआ । हमसे यह शिक्षा मिलती है कि जब तक पूर्ण प्रयत्न न किया जाय तब तक कार्य सिद्धि नहीं होती है । जब सर्व सामर्थ्य-सम्पन्न ईश्वर ही सृष्टि की रचना के लिये प्रयत्नवान् हुआ । तब हम लोगों को अपने योग्य कार्य के लिये क्यों नहीं प्रयत्नवान् होना चाहिये । जब सृष्टि के लिये प्रयत्नवान् हुए तब ईश्वर ने क्या किया सो कहते हैं (अर्बन्) प्राकृतिक परमाणु और जीवात्मा ये दोनों भी अनादि पदार्थ हैं इन दोनों को प्रथम आदर किया अर्थात् इन को कार्य में लाना ही इन का आदर है । मानो ईश्वर का यह परम अनुग्रह है कि इनको कार्य में लाता है । अर्बे धातु का अर्थ पूजा । इस प्रकार से आदर करके (अचरत्) सम्पूर्ण परमाणुपुञ्जों में एक प्रकार की गति दी अर्थात् जैसे क्षेत्राजीव (किसान) क्षेत्र को सत्कार करने हुए हल आदि से कर्षण करते हैं । इसी प्रकार मानो प्रकृति और जीवात्मास्वरूप स्त्रियों में गति प्रदान से ईश्वर ने एक प्रकार का स्नेह प्रकृष्टाया, जब ईश्वर ने पदार्थों में गति दी तब (आप.) सर्वव्यापक कार्यभूत आकाश नाम का एक पदार्थ बना जो सबों का आधार है । “आप” शब्द का अर्थ यहा आकाश है इस में निषण्ण का प्रमाण संस्कृत में देखो जिन्होंने “आप” शब्द का अर्थ सृष्टि पक्ष में जल किया है उन की यह भूल है क्योंकि जब “आपः” शब्द का पाठ आकाश के नामों में आया है तब ऐसे स्थलों में इस का अर्थ आकाश क्यों नहीं किया जाय । तैत्तिरीयोपनिषद् में भी श्रुति कहते हैं कि उस परमात्मा से प्रथम आकाश आधिभूत हुआ यही सिद्धान्त सबका,

है । " प्रथम जल की उत्पत्ति हुई " यह किसी शास्त्र का मिथ्यान्त नहीं । यहां ' आप' शब्द को देख कर सब टीकाकारों ने जल अर्थ करके ऋषियों के तात्पर्य को कल्पित कर दिया है । आकाश का अर्थ यहां अवकाश नहीं है एक अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वव्यापक पदार्थ है जिसके द्वारा सृष्टि के सब कार्य हो रहे हैं । "आप्" धातु से "अप" शब्द बनता है व्यति अर्थ में इस का प्रयोग होता है । अर्थात् सृष्टि की सूक्ष्म प्रथमावस्था का नाम एक प्रकार से "आप" है । सृष्टि प्रकरण में प्रायः इसी शब्द का प्रयोग आया है । द्वितीय पक्ष में इस का "जल" अर्थ है । यहां यह ध्यनि है कि जब गृहस्थ लोग खेत को हल आदि से तय्यार कर लेते हैं तो पानी की अपेक्षा करते हैं । ईश्वरोंय सृष्टि यदि न हुई तो कूप आदि से खेत के लिये पानी उत्पन्न करके खेत में देते हैं । वैसे ही ईश्वर संसाररूपी बाटिका के बनाने के लिये प्रथम आप नाम का एक पदार्थ उत्पन्न किया ।

अर्क=सम्पूर्ण सृष्टि का नाम यहां अर्क है क्योंकि इसमें दो शब्द हैं । अर्क+क "अर्च पूजायाम्" अर्च धातु पूजा अर्थ में है । उस धातु से व्याकरण के अनुसार क्तिप् करने पर अर्क् सिद्ध होता है । अर्क्-पूजा करनेहार । और " क " शब्द का अर्थ ब्रह्माण्ड (जगत्=ससार) है । (अर्चः अर्चितुः+क=अर्कः) पूजा करनेहार का जो यह क-ब्रह्माण्ड उमे "अर्क" कहते हैं । मूल में कहा है कि (अर्चते) पूजा करते हुए ईश्वर के लिये (कम्) "क" हुआ । इस हेतु वही अर्क का अर्कत्व है अर्थात् अर्क शब्द का यही अर्थ है । इस वर्णन से प्रतीत होता है कि "अर्क+क" इन दो शब्दों से "अर्क" शब्द की सिद्धि उपनिषद्कारों ने मागी है । व्याकरण के अनुसार "अर्क्+क" दोनों मिलकर "अर्क" और "अर्क" दोनों प्रकार के शब्द हो जाते हैं । अथवा केवल "अर्च" धातु से भी अर्क बनता है । परन्तु उपनिषद् का यह अभिप्राय नहीं है । इस पक्ष में "अर्क" नाम देव का है संस्कृत में इस का प्रमाण दिया गया है । जिस हेतु ईश्वर ने इस का सत्कार किया अतः इस संसार का नाम ही "अर्क" हो गया अर्थात् पूजनीय । जब ईश्वर ने ही इस का सत्कार किया तब हम लोगों को तो अवश्य ही इस का सत्कार करना उचित है । जो इस प्रकार "अर्क" के अर्कत्व को जानता है उस को "क" सुख प्राप्त होता है । यहां "क" शब्द के अनेक अर्थ संस्कृत भाष्य में दिलाये गये हैं । यहां "ब्रह्माण्ड" और "मुख" ये ही दो अर्थ लिये गये हैं । जो "क" - अर्थात्

ब्रह्माण्ड को जानता है वह “क” अर्थात् सृज को पाता है । इस में सन्देह ही क्या ? क्योंकि ब्रह्माण्ड के ज्ञान से ही ईश्वर का ज्ञान होता है और तत्पश्चात् मोक्षरूप सुख मिलता है । इस प्रकार उपनिषदादियों में शब्दों के तात्त्विक और पारमार्थिक अर्थ को न समझते तब तक भ्रम में ही पड़े रहेंगे । अन्य भाष्यकारों ने इन कण्डिकाओं के अर्थ करने में बड़ा ही मोलमाल लगाया है । आस्तिक लोग भगवान् के चरित्र को देस आश्चर्यान्वित होते हैं इस सृष्टि में दो कार्य कभी सम्भव नहीं होते मरना और जन्म लेना, डकारों मरते और उत्पन्न होने हैं । जैसे गृहस्थ हुआरों देत करते, काटते, फिर देत करते और काटते हैं । यही लीला ईश्वर की है । यही ईश्वर को “मृत्यु भशनाया” कहा है इतना कहकर सृष्टि को कैसे लगाया यह अपि वर्णन करते हैं । इस हेतु यह सृष्टि का प्रकरण है नकि किसी विशेष अवधेयादि यज्ञों का ।

आपो वा अर्क्स्तद्यदापां शर आसीत्तत् समहन्यत् । सा पृथिव्यभवत्तस्यामग्राम्यत्तस्य आन्तस्य तस्य तेजोरसो निर्वर्त्तताग्निः ॥ २ ॥

अनुवाद—निश्चय, आप् अर्थात् आकाश अर्क (ब्रह्माण्ड) है । आकाश की जो शर अर्थात् उपमर्दिका शक्ति थी वह सब इकट्ठी हुई । वह पृथिवी (यह पृथिवी नहीं) हुई । तब उस पृथिवी के होने के अनन्तर मृत्युवाक्य ईश्वर ने श्रम किया तब आन्त और तत् ईश्वर की महिमा से अग्निरूप तेजोरस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

पदार्थ—पूर्व कण्डिका में कहा गया है कि आप् उत्पन्न हुआ और यही अर्क का अर्कत्व है इसमें अभिप्राय विस्पष्ट नहीं हुआ । सृष्टि हुई आप् की अतः आप् का अपत्य कहना या सो न कहकर अर्क का अर्कत्व कहा है सो क्या धात है ? इस की विस्पष्टता के लिये आप् और अर्क की एकता को कहते हुए सृष्टि-विस्तार वर्णन करते हैं (आप + वै + अर्क) आप ही अर्क है अर्थात् सर्वाधार आकाश का नाम आप है और ब्रह्माण्ड का नाम अर्क है सर्वाधार होने के कारण से, मानो आप=आकाश, अर्क ब्रह्माण्ड है क्योंकि वही आप उपमर्दभाव से ब्रह्माण्ड होता है इस हेतु जो आप है वही ब्रह्माण्ड है । इतना कहा अब मुख्य विषय को कहते हैं ।

जब ईश्वर ने जीव-सहित प्रकृति को क्षोभ (संचालन+गति) पहुंचाया । तब अप् शब्दवाच्य सर्वाधार, सर्वव्यापक एक पदार्थ उत्पन्न हुआ जिसको विचक्षण जन आकाश कहते हैं । उसी में एक उपमर्दिका शक्ति उत्पन्न हुई । उसी को यहां शर कहा है जैसे जब बीज पृथिवी के अभ्यन्तर पड़ता है तब बीज की सम्पूर्ण शक्ति को ले और बीज को असमर्थ बना अङ्कुर होता है अर्थात् बीज का जो स्थूल भाग है वह फटकर नष्ट और सड़ गल जाता है । परन्तु उसकी एक विलक्षण शक्ति के द्वारा एक सुन्दर अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है । इसी का नाम उपमर्दभाव है और पीछे वह क्रम से बढ़ता बढ़ता वृक्ष बन जाता है । इसी प्रकार (अपाम्) उस सर्वाधार आकाश नाम के पदार्थ का (यत्) जो (शरः) उपमर्दिका शक्ति (असीन्) भी (तत्) वह (समहन्यत) इकट्ठी हुई (सा+पृथिवी+अभवत्) वह पृथिवी हुई । अर्थात् वह समिलित शक्ति अतिराय स्थूल और व्यक्त होकर पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हुई । यहां इस पृथिवी से अभिप्राय नहीं है । आप् से कुछ स्थूल और विस्पष्ट अवस्थान्तर विशेष का नाम पृथिवी है क्योंकि पृथिवी शब्द भी आकाश के नामों में पठित है १ । ३ ॥ निघण्टु देखो । इम हेतु उमी आकाश के उपमर्दभाव से रूपान्तर विशेष का नाम पृथिवी है इस पार्थिव अवस्था में यह सृष्टि बहुत दिनों तक स्थित रही क्योंकि पुनरपि आगे ईश्वर का भ्रम (प्रयत्न) कहा जायगा । ईश्वर का प्रयत्न सृष्टि के तुल्य प्रवाह का बोधक है । अर्थात् किञ्चित् परिवर्तन के साथ यह सृष्टि समान रूप से बहुत दिनों तक रहती है पुनः इस में एक अन्य प्रकार का परिवर्तन हो जाता है । समानावस्था में सृष्टि का रहना मानो ईश्वर का एक प्रयत्न वा भ्रम है । इम हेतु आगे भ्रम का वर्णन होने से बहुत वर्षों तक वह सृष्टि उसी अवस्था में रही यह प्रतीत होता है । जैसे जलादि परिपूर्ण खेत होने पर शर्यादि रोवने के लिये किसान परिश्रम करता है वैसे ही (तस्याम्) सृष्टि की पार्थिववस्था होने पर अभ्रम उत्तरोत्तर सृष्टिवृद्धि के लिये (अश्राम्यत्) ईश्वर ने मानो पुनः भ्रम करना आरम्भ किया । यदि वह ईश्वर भ्रम नहीं करता रहता तो पूर्वावस्था को त्याग अवस्थान्तर को यह सृष्टि कैसे प्राप्त होती । तब क्या हुआ सो कहते हैं (तस्य+आन्तस्य+तप्तस्य) आन्त और तप्त उस परमात्मा की महिमा से (अग्निः) अग्निरूप (तेजोरमः) तेजोरस (निरवर्तत) उत्पन्न हुआ । यहां इम अग्नि से तात्पर्य नहीं । किन्तु प्रथम यह सम्पूर्ण जगत् सहस्र सूर्य की

प्रभा के समान एक गोलाकार होकर महान् वेग से घूमने लगा । जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं । हजारों सूर्यों की प्रभा के समान यह अण्ड हुआ । इस हेतु मूल में "तेजोरस" पद आया है अर्थात् रससत्त्व तेज उत्पन्न हुआ अर्थात् इस संसार की दशा जलवन् बहता हुआ अग्नि के समान थी ॥ २ ॥

भाष्यम्—आप इति । अर्कपशब्दयोरैक्यकथनपूर्वक-सृष्टि-विस्तारं श्रुते । आपो वै अर्के इति । अव्यवस्थितायां कण्टककारां यौ अवकां वर्णितौ तौ न भिन्नाभिप्रायामिधायिनौ या आपः स एवार्कः । आप एवोपमर्दभावेन ब्रह्माण्डत्वं प्राप्नोति । उभौ ब्रह्माण्डवाचिनावित्यर्थः । आकाशस्यापि सर्वाधारकत्वाद् ब्रह्माण्डाभिधायित्वम् । प्रकृतममिधत्ते । यदेशो जीवात्मसहितां प्रकृतिं क्षोभयामास तद्रूपशब्दवाच्यः सर्वव्यापकः सर्वाधार एकः पदार्थोऽजायत यमाकाशमित्याचक्षते विचक्षणः । तास्वेका उपमर्दिका शक्तिरजायत सेह शरशब्दनाभिधीयते । यथा नीजमुपमर्गं बीजशक्तिं गृहीत्वा तच्चासमर्थं विधायाद्भूतो जायते । स चाद्भुतः क्रमेण वर्धमानो बृहत्त्वमापद्यते तथैव अपां । ययः शरः उपमर्दिका शक्तिरासीत् तत्सर्वं समहन्यत संघातमापद्यते सम्मिलितमभूदित्यर्थः । सा पृथिवी अभवत् सा शक्तिः सम्मिलिता सती आतिशयपृथुतरा व्यक्ता पृथिवीशब्दवाच्या बभूव । नेयं पृथिव्यन्नाभिरेयते । अप्सकाशात् स्थूलतरो विस्पष्टोऽवस्थान्तरविशेषः पृथिवीशब्दवाच्यः । यतः पृथिवीशब्दोऽप्याकाशनामसु पाठितः, तद्यथा—अम्बरम् । पियद् । व्योम । यर्हि... पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । इत्यादि निघण्टुः १ । ३ ॥ अतस्तस्यैवाकाशस्योपमर्दभावेन रूपान्तरविशेषं पृथिवीशब्दो श्रुते । अस्यामेवावस्थायां चिरादियं सृष्टिस्थात् पुनरपीश्वरभ्रमदर्शनात् । एकैक ईश्वरभ्रमो हि सृष्टेः समानं प्रवाहं धोतयति । यथा जलादिपरिपूर्णक्षेत्रे धान्यादिरोषणाय क्षेत्राजीवः परिआम्यति एवमेव तस्यां पृथिव्यां सप्तत्पन्नायां सोऽपि सृष्टुरआम्यदिति मन्ये अन्यथा कथं पूर्वावस्था विदायाऽवस्थान्तरमापेदे जगदिदम् । ततः किं जातमित्याह—तस्येति-तस्य आन्तरस्य तत्स्य सृष्ट्योः सकाशात् तेजोरसो निरवर्तत तेज एव रसस्तेजोरसोऽजायत । कोऽसौ तेजोरस इत्यत आह—अग्निरिति । अग्निरूपस्तेजोरसोऽजायतत्यर्थः । न हि साधारणोऽयमग्निः । किं तर्हि सत्पूर्व

जगदिदं सहस्रमूर्यप्रभमेकं गोलाकारं भूत्वा महता वेगेन भ्रमितुमारेभे । तद्यथाह भगवान् मनुः—“तदण्डमभवद्भ्रमं”—“सहस्रांशुसग्नप्रभम्” ॥ २ ॥

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुताऽऽदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य अग्नीं दिक्विशरोऽसौ चासौ चेस्मौ । अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यो दक्षिणा चोदीची च पार्श्वं द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रातिष्ठितो यत्र कंचैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥

अनुवाद—उस मृत्युवाच्य परमेश्वर ने संसाररूप प्रयत्न को तीन प्रकार से विभक्त किया तृतीय आदित्य, तृतीय वायु और (तृतीय अग्नि) इस प्रकार से यह संसाररूप प्राण तीन हिस्सों में विभक्त हुआ । उस संसाररूप पुरुष का शिर—प्राची (पूर्व) दिशा, दोनों बाहु—यह और यह अर्थात् ईशानी और आग्नेय कोण, और इसका पुच्छ—प्रतीची (पश्चिम) दिशा, पृष्ठ की हड्डियाँ—यह और यह अर्थात् वायव्य और नैऋत्यकोण, इसके पार्श्व—दक्षिणा और उदीची (उत्तर) दिशाएँ, पृष्ठ—धुलोक, उदर—अन्तरिक्ष, उर—यह पृथिवी । सो यह संसार सर्वाधार आकाश में प्रविष्टित है । जो उपासक इसको इस प्रकार जानता है यह जहाँ जाता है वहाँ ही प्रविष्टित होता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(सः) उस मृत्युवाच्य परमात्मा ने (आत्मानम्) संसाररूप प्रयत्न को (त्रेधा) उपमर्दभाव से तीन भागों में (व्यकुरुत) विभक्त किया, यहाँ “ आत्मा शब्द प्रयत्नवाची है ” संस्कृत में प्रमाण देखो । ईश्वर का प्रयत्न यह संसार ही है । कैसे विभाग किया सो आगे कहते हैं (आदित्यम्+तृतीयम्) तीसरा आदित्य=धुलोक अर्थात् वायु और अग्नि की अपेक्षा तीसरा आदित्य अर्थात् धुलोक और इसी प्रकार आदित्य और अग्नि की अपेक्षा तृतीय वायु=अन्तरिक्ष और आदित्य और वायु की अपेक्षा तीसरा अग्नि अर्थात् पृथिवी लोक इस प्रकार से तीन विभाग किये । यहाँ प्रारम्भ में कहा है कि “तीन प्रकार से विभाग किया”

परन्तु आदित्य और वायु इन दो का ही विभाग देखते हैं तीसरे का नहीं । इस हेतु प्रतिज्ञानुसार ऊपर से “अग्नि” अर्थ लिया जाता है । यहां आदित्य १, वायु २ और अग्नि ३, इन तीन शब्दों से क्रमशः सुलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक का बोध होता है । इस से यह फलित हुआ कि तीनों लोकों को अर्थात् सम्पूर्ण संसार को बनाया क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदादियों में सुलोकस्य आदित्य अन्तरिक्षस्य वायु और पृथिवीस्य अग्नि कहा गया है ये ही तीनों देव तीनों भुवनों के अधिष्ठाता वा स्वामी भी बने गये हैं इस कारण शब्दसामर्थ्य से ये तीनों शब्द सम्पूर्ण जगत् को लक्षित करते हैं । इसी को पुनः उपसहाररूप से आगे कहते हैं—(सः) वह (एषः) यह (प्राणः) ससाररूप प्राण (त्रेधा+विहितः) तीन हिस्सों में बनाया गया । यहां ससार को प्राण इसलिये कहा है कि यही ससार जीवात्मा वा परमात्मा का प्रकारक है । आगे अलङ्काररूप से पुरुषवत् इस ससार का वर्णन करते हैं—(तस्य) उस उत्पन्न ससार का (शिरः) शिर (प्राची+दिक्) पूर्व दिशा है (इमौ) इस के दोनों बाहु (असौ+च+असौ+च) यह और यह अर्थात् ईशान और आनन्द कोण है (अय+अस्य) और इस का (पुच्छम्) पुच्छ (प्रतीची+दिक्) पश्चिमदिशा है (सक्थ्यौ) पृष्ठ की दो हड्डिया (असौ+च, असौ+च) वह और वह अर्थात् वायव्य और नैऋत्यकोण है (पार्श्वे) इस के पार्श्व (दक्षिणा+च, उदीची+च) दक्षिण और उत्तर दिशाएं हैं (पृष्ठम्) पृष्ठ (यौः) सुलोक है (उदरम्+अन्तरिक्षम्) उदर अन्तरिक्ष है (वरः) छाती (इदम्) यह पृथिवी है । यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड किस आधार पर स्थित है सो आगे कहते हैं—(सः+एषः) सो यह ससार (अप्सु+प्रतिष्ठितः) सर्वव्यापक आकाश में प्रतिष्ठित है । यहां “आप्” शब्द का जल अर्थ करना अज्ञानता है, आगे फल कहते हैं—(एवम्+विद्वान्) जो उपासक इस प्रकार ससार के तत्त्वों को जानता है वह (यत्र+इव+च) जहां कहीं (एति) जाता है (तद्+एव) वहां ही (प्रति+तिष्ठते) प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स इति । स मृत्युवाच्यः परमात्मा । आत्मानं प्रयत्नं जगद्रूपं प्रयत्नं त्रेधोपमर्दभावेन त्रिप्रकारकं व्यकुल्य व्यभजत् । अत्रात्मशब्दः प्रयत्नवाची “आत्मा मनो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ध्म च” कथं त्रेधेत्यत आह—आदित्यमिति । आदित्यं तृतीयमग्निवाय्वेक्षया व्यकुल्य । तथा वायुं तृती-

यमग्न्याऽऽदित्यापेक्षया व्यकुर्वत । तथाऽग्निं तृतीयं वाय्वादित्यपेक्षया व्यकुर्वतेति योजनीयम् । स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुर्वतेत्युक्तत्वात् । अत्रादित्यवाय्वग्नि-शब्दा घुलोकान्तरित्पृथिवीलोकान् लक्षयन्ति । एतेन त्रींश्लोकान् ससर्जति फलितम् । बहुषु स्थलेषु हि घुलोकस्थ आदिन्योऽन्तरित्स्थो वायुः पृथिवीस्थोऽग्निरित्येते त्रय एव देवा अधिष्ठातारो वा स्वामिनो वा संसारस्योच्यन्ते । अतः सामर्थ्यात्तच्छब्दत्रयं सम्पूर्णं विश्वं लक्षयति । इत्थं स एष प्राणो जगद्रूपः प्राणः । त्रेधा त्रिप्रकारेण विहितो विभक्तो जीवात्मप्रकाशकत्वादस्य संसारस्य प्राणसंज्ञा । अथास्योत्पन्नस्य संसाररूपस्य पुरुषस्य । प्राची दिक् शिरः । अथाहुन्यानिर्देशेनाह । असाँ चासाँ च ऐशानाग्नेयौ कोणौ ईर्म्मौ बाहू । अथास्य प्रतीची पश्चिमा दिक्—पुच्छम् । असाँ चासाँ च वायव्यनैर्ऋत्यौ कोणौ सक्थ्यौ सक्थिनी पृष्ठस्थितोऽभतास्थिनी । दक्षिणाचोदीची च दिशौ पार्श्वौ । द्यौर्धुलोको पृष्ठम् । अन्तरित्त्वं—उदरम् । इयं पृथिवी उरः । इयं शब्दः प्रायः पृथिवी महाहुन्या निर्देशेन । स एव संसार अप्सु सर्वाधारे आकाशे प्रतिष्ठितः स्थापितः । एतदुपासनफलमाह—यत्रेति । एवं विद्वान् इदं जगदेवं जानन् सन् यत्र क्व यत्र क्वचित् एति गच्छति । तदेव तत्रैव । प्रतिष्ठिति प्रतिष्ठां लभते ॥ ३ ॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनं समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमविभः ॥ यावान् संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्ताद-सृजत । तं जातमपिठ्याददात्स भाणकरोत्सैव धागभवत् ॥४॥

अनुवाद—उसने इच्छा की कि मेरा द्वितीय यत्न प्रकाशित होवे । उस अशनायावान् मृत्यु ने मन के साथ वाणी को संयोजित किया उसमें जो ज्ञान-प्रसवण है वह वाणी का सरोवर हुआ । इस के पहले वाणी-सरोवर नहीं हुआ था । जितना एक युग होता है उतने काल तक उसने उस वाणी सरोवर को अपने में ही धारण कर रक्खा था । इतने काल के पश्चात् उसको बनाया । उस उत्पन्न

वाणी सरोधररूप घालन को फैलाया । उस कुमार ने इस पृथिवी को दीप्तिमान् और प्राणवान् किया । इस प्रकार बही वाणी हुई ॥ ४ ॥

पदार्थ—(सः) उम मृत्युनामधारी परमेश्वर ने (अकामयत्) कामना की कि (मे) मेरा (द्वितीय. + आत्मा + जायेत्) द्वितीय परिश्रम या प्रयत्न प्रकट होवे (इति) इस प्रकार कामना कर (सः) उस (अशान्ताया + मृत्युः) दुःखज्ञावान् मृत्यु ने (मनसा) मन के साथ (वाचम्) वाणी को (मिथुनम्) द्वन्द्वभाष (समभवत्) किया अर्थात् मन के साथ वाणी को सयोजित किया तब (तद्) उस ब्रह्म में (यद् + रेत्. + आसीत्) जो ज्ञान का स्वरूप है (सः) वह (सम्यत्सरः) वाणियों का सरोधर हुआ : (तत्. + पुरा) इसके पहले (सम्यत्सरः) वाणी-सरोधर (न + ह + आम्) नहीं था यह बात सुप्रसिद्ध है तो वह कहा था सो आगे कहते हैं—(एतावन्तम् + कालम्) इतने काल तक (तम्) उस वाणीरूप सरोधर को (अविभः) अपने में ही धारण कर रक्खा था कब तक धारण कर रक्खा था सो आगे कहते हैं—(यावान् + सम्यत्सरः) जितना एक कल्प होता है (एतावतः + कालस्य) इतने काल के (परस्तात्) पीछे (तम् + असृजत्) उमने उत्पन्न किया (तम् + जानम्) उम उत्पन्न सम्यत्सर = वाणी-सरोधर को (अभिव्याददात्) फैलाया (सः) उसने इस जगत् को (भाण) दीप्तिमान् और प्राणवान् (अकरोत्) किया (सा + ण्व + च ग् + अभवत्) वही जगत् में वाणी हुई । शब्दोच्चारण करने वाले प्राणी हुए ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्र ग्रन्थाशयस्तावत्कठिनतरोऽस्ति शब्दा अपि केचिद् द्वय-
याः प्राचीनारच प्रमुखाः । विषयश्च गूढतरः सृष्टिविपरिणामः । तत्राप्यलङ्कारेण
निरूपितः । अतो ग्रन्थाशयविज्ञानाय सृष्टितत्त्वविदा परामर्शः प्रथमं वेदित-
व्यः । ते आहुः—यादृशी सम्प्रतीय पृथिवी भासते तादृश्येव प्रारम्भे नोत्पन्ना ।
शनेः शनैरियमिमामवस्था प्राप्ता । ये च हिमालयः दयो नगाधिपा अत्युच्छ्रिता
नाना नदी-धातु द्रुमादिभिः शोभमाना दृश्यन्ते ते वरिमश्चिद युगे जलाभ्यन्तरे
अशयिपतेन, केचन पृथि सुदरेऽप्यनान् पोषयन्त इवाऽऽसन् । केचन जन्मापि
नाग्रहीषुः । यत्र यत्र सम्प्रति समुद्रास्तत्र तत्र सत्त्वसंकीर्णा रमणीयाः प्रदेशा
वैपरीत्येन यत्र यत्र प्रदेशास्तत्र समुद्राः । अस्या अनेका दशाः परिवर्ति-

ताः । या चेयत् समानेव दशा स एकैको युगः । इयं पृथिवी सूर्यवत् वह्निज्वा-
लाभिर्वद्भुषु कालेषु प्रज्वलन्ती जन्तुशून्या अनिवार्यैवासीत् । शनैः शनैरपि-
रिष्टिकस्य भागस्याग्निज्वाला प्रशमितुमारभत । यथा यथा ज्वाला प्रशान्ता
तथा तथोद्भिज्जानामोषधीनां पादुर्भावः । चिरसमयमस्याः केवला ओद्भिज्जिकी
दशाऽऽसीत् । ततः क्षुद्रकीटाः । ततः पशवः । बहुकालादनन्तरं ततो मनु-
ष्याः । मध्ये मध्ये महत्परिवर्तनं जातम् । एतत्सर्वं पदार्थविद्ययाऽवगमनीयम् ।
अतः समासेन सृष्ट्युत्पत्तिं प्रथमं निबध्य वेदोत्पत्त्युपक्रमनिबन्धाद्योत्तरग्रन्थमा-
रभते—स मृत्युपदवाच्यः परमात्मा । अकामयतैच्छत् । किमकामयतेत्यत आह—
मे द्वितीय इति । मे मम पृथिव्यादिमृष्ट्युत्पत्त्यपेक्षया द्वितीय आत्मा प्रयत्नः ।
जायेत उत्पद्येतेति कामनानन्तरं किं कृतवानित्यत आह—स इति । सः ।
अशनाया अशनायावानित्यर्थः । मृत्युः । मनसा मननवृत्तिनान्तःकरणेन ।
वाचं स्वकीयां वाणीम् । मिथुनं समभवद् द्वन्द्वभावं कृतरान् । मनसा सह
वाणीं योजितवानित्यलङ्कारेण वर्णनम् । तत्तत्र ब्रह्मणि । यद्रेतो विज्ञानस्रव-
णमासीत् स इति विधेयप्राधान्यात्पुरुषम् । तद्रेतः । सरस्वरः वाक्मरोचरोऽ-
भूत् । अस्मिन्नर्थे प्रमाणम्—रेतः—रि रीद् स्रवणे दैवादिकः रीयते ऋवतीति
रेतः स्रवणम् । कस्य स्रवणम् ? ईश्वरप्रकरणान् मनसा सह वाक्गुणपर्काच्च ज्ञान-
स्यैव स्रवणमपेक्ष्यम् । नान्यदित्यर्थः । ध्रुतिरपि—अमरचर्त्ता भूरिधारे पयस्वती
घृतं दुहाते सुकृते शुचिमेत । राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सि-
ञ्चतं यन्मनुर्हितम् । ऋग्वेद । मण्डलम् ६ । सू० ७० । मं० २ ॥ सम्ब-
त्सरः सम्पन्निवधते ज्ञायतेऽनेनेति संविद् ज्ञानम् संगित्सन् ‘सम्बदिग्युच्यते’ परो-
क्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षाद्विषः, इति न्यायात् । सगति निःसरति जलं यस्मात्
सरस्तडागः । अकारान्तोऽयं शब्दो नात्रसकारान्तः । ऋदोरप् ॥ ३ । ३ ।
५७ ॥ इत्यप् । “पञ्चाकरस्तडागोऽस्त्री कावारः सरमो सरः” सकारान्तोऽत्र
सरस् शब्दः । यद्वा संवदन्ति संवदन्ते वा परस्परं सम्पग्वदन्ति अनयेति सं-
वद्व्याणी तस्याः मरः प्रसारः । प्रसारणम् । संवत्सरो वाणीसरोवरस्तेन वाणी-
सरोवरसंपुष्पप्राणिनो लक्ष्यन्ते । ततस्तस्मात् कालात् । पुन प्राग् । संवत्सरः
वाणीप्रसारः नाऽऽमनवभूव । वाणीमंयुक्तजीवानामुपनिर्वासीदित्यर्थः । हेति
प्रसिद्धम् । कासीर्चिर्हि । इतरसम्पत्सरशब्दः कालवाची । एकयुगलक्षकः ।

यावान् यावत्कालपरिमितः सम्बत्सर एको युगो भवति एतावन्तं कालं तत्परिमितं समयम् । तं सम्बत्सरम् । अभिमः मगवान् स्वात्मन्येव भूतवान् धृतवान् न प्रकाशयामसेत्यर्थः । एतावतः कालस्य परस्तात् पश्चादूर्ध्वम् । तम् सम्बत्सरम् । अमृजतोदपादयत् । तं जातं चाणीप्रसारात्मकमुत्पन्नकुमारम् । अमिविस्तारयामास । स वायुपलचितव्यक्रान्यङ्गमापणकारी प्राणीजातः सन्नेव इदं जगद् भाण् अकरोत् भात मासितं प्राणितश्चाकरोत् । मातीति भा । अणित्तीति अण् । भा चाण् च इति भाण् । चाणीसंयुक्कजीवसमुदायमृष्टिः दीप्तिमती तथा प्राणवती च वभूवेत्यर्थः । इत्थं सैव वागभवत् । वागुपलक्षितवाणीविशिष्टप्राण्यभवदित्यर्थः ॥ ४ ॥

भाष्याशय—यहा प्रन्याशय ही प्रथम कठिनतर है कोई २ शब्द भी दो २ अर्थ वाले और प्राचीन प्रयुक्त हैं । विषय भी गूढ़तर सृष्टिविवरण सो भी अलङ्कार से निरूपित है इस हेतु प्रन्याशय के विज्ञान के लिये विद्वान् पुरुषों का परामर्श प्रथम जानना चाहिये, वे कहते हैं—आजकल यह पृथिवी जैसी भासती है वैसी ही प्रारम्भ में उत्पन्न नहीं हुई । धीरे २ यह हम दशा को प्राप्त हुई जो हिमालय आदि पड़े २ पर्वत आज अतिशय ऊँचे और नानाविध नदी, धातु, दुमादिषों से शोभायमान दीप्त पड़ते हैं वे किसी युग में जल के अभ्यन्तर मानो सो रहे थे । कोई पृथिवी के उदर में ही मानो अवयवों को पुष्ट कर रहे थे । किन्हीं का जन्म ही नहीं हुआ था जहा २ अभी समुद्र है वहा २ कभी जन्तुओं—से सङ्कीर्ण रमणीय प्रदेश थे । इसके विपरीत जहा २ आज प्रदेश हैं वहा २ कभी समुद्र थे । इनकी अनेक दशाएँ परिवर्तित हुई हैं जो २ कुछ समान सी दशा हुई पड़ी २ एक २ युग कहाता है । यह पृथिवी सूर्यवत् वह्निज्वाला से जलती हुई जन्तुशून्या निवास के अयोग्य बहुत कालों तक रही । धीरे २ ऊपर की अग्निज्वाला शान्त होने लगी । क्यों २ अग्निज्वाला शान्त होनी गई क्यों २ उद्भिज्वालि ओषधियों का आविर्भाव होने लगा । बहुत समय तक पृथिवी की केवल ओद्भिजिकी दशा ही घनी रही । तब जूट २ कीट पतङ्ग पशु आदि होने लगे, तब बहुत काल के अनन्तर मनुष्य हुए । मध्य २ में भी बहुत परिवर्तन होता गया । यह सब धार्ता पदार्थविद्या के अध्ययन से जाननी चाहिये, तब इसका भाव अच्छे प्रकार मालूम होगा इस प्रकरण में व्यक्त वा अव्यक्त वाणी बोलनेवाले जीवों की उत्पत्ति और मनुष्य

में विस्पष्ट बाणी और विद्या कहा से आई इसको कहेंगे । इसमें भिन्न २ सिद्धांत हैं । बहुत आदमी, जैसे २ अन्य वस्तुओं की धीरे २ वृद्धि हुई वैसे २ ही बाणी और विद्या की भी वृद्धि धीरे २ हुई ऐसा मानते हैं परन्तु वैदिक सिद्धांत है कि प्रारम्भ में ईश्वर ने इस विद्या के प्रचार में सहायता दी अन्यथा बाणी और विद्या होनी कठिन थी । इसी कारण इन कण्डिका में ईश्वर का यह द्वितीय प्रयत्न कहलाता जो यह विद्या का प्रचार है क्योंकि इस के बिना मनुष्यसृष्टि भी अपूर्ण ही रहती इस हेतु अपना सम्पूर्ण कौशल दिखलाने के हेतु ईश्वर ने वेदविद्या का प्रकाश किया है । संक्षेप से सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम को बांध वेदोत्पत्ति के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं ।

(सः+अकामयत्) इत्यादि द्वितीय आत्मा=द्वितीय प्रयत्न=व्यक्त वा अव्यक्त बाणी भाषण करनेवाले जीवों को उत्पन्न करना भी मानो पृथिवी आदि के समान कठिन कार्य है । यद्यपि ईश्वर के लिये कुछ भी कठिन नहीं परन्तु यहाँ अलङ्कार रूप से वर्णन है इस हेतु यह सन बात कही जाती है । जब ईश्वर ने यह विचार किया कि मेरा द्वितीय प्रयत्न प्रकट होवे । द्वितीय प्रयत्न से यहाँ तात्पर्य भाषण करनेवाले जीवों से है । तब उस समय ईश्वर ने मन के साथ बाणी को मिलाया अर्थात् भविष्यत् जीव की श्रेष्ठता दिखलाने के हेतु यह कहा है कि ईश्वर ने मन के साथ बाणी को संयोजित किया । इससे यह भी सिद्ध होता है कि बाणी को उच्चारण करनेवाले ये जीव मननशक्ति-सम्पन्न हैं । किसी में किञ्चित्, किसी में विशेष मननशक्ति प्रत्यक्षतया भी दीखती है । इस प्रकार ईश्वर ने मन और बाणी को मिलाकर क्या किया सो कहते हैं—(रेतः) बहनेवाली वस्तु का नाम संस्कृत में 'रेत' है, यहाँ बाणी का प्रकरण है । बाणी भी मानो जल के समान बहती है इस हेतु यहाँ बाणी का प्रसवण=फरना अर्थ किया है । ईश्वर में जो स्वाभाविक ज्ञान=प्रसवण है वह सम्बत्सर=सम्बित् से सम्बत् बना है । प्राचीन काल का एक ऐसा नियम देखते हैं कि "परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" विद्वान् लोग परोक्ष के प्रिय होते और प्रत्यक्ष से द्वेष रखते हैं । इसके अनुसार बहुत से राज्य कुछ गुप्त वा अव्यक्त चलता पुलटा वा अज्ञहीन वा अधिक हैं । अपने स्वरूप में वे नहीं हैं यहाँ "सम्बित्" के स्थान में "सम्बत्" है और "सरस्" के स्थान में "सर" है । सम्बित्=ज्ञान । सर=सरोवर=तड़ाग ज्ञान का तड़ाग । ईश्वर में जो ज्ञान का

प्रत्यक्ष था, वही मानो ज्ञान का तडाग बन गया, यह उपलक्षक शब्द है “ज्ञानी जीव उत्पन्न हुए” यह इसका निष्कर्ष है । यद्वा (सम्बद्गन्नि सम्बन्धन्ते अनयेति सवेत्) जिसके द्वारा अव्यक्त वा व्यक्त भाषण विद्याजगत् उसे “सवन्” कहते हैं अर्थात् वाणी । सर=तडाग अर्थात् वाणी का तडाग । यद्वा इतनी बात और दृष्टि में रगनी चाहिये कि एक २ जाति की जो एक २ वाणी है, मानो वह एक २ वाणी का तडाग है । शुक्र, वाक्, कौकिल, सर्प, कृकल, व्याघ्र, वृषभ, गर्दभ, मनुष्य ये सब एक २ भिन्न जानिया हैं । इनकी भिन्न २ बोलिया भी हैं । मानो यही एक २ तडाग है । आगे अलङ्काररूप से वर्णन है कि वाणीसयुक्त जीव, मानो बहुत कालतक ईश्वर के उदर में ही पुष्ट होते रहे । एक कल्प के अनन्तर भगवान् ने इनको प्रकाशित किया और पृथिवी पर विसृत किया । “भाण अकरोत्” उस वाणीमरोवर और वाणीयुक्त जीवों ने इस जगत् को भाण किया । भा=शोभा । अणू=प्राण अर्थात् जगत् को सुरुोभित और प्राणित किया इस प्रकार “वाणी ” हुई अर्थात् वाणीसयुक्त जीव हुए ॥ ४ ॥

स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनाऽऽत्मानेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च-
चो यजुंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून् स यद्यदे-
वासृजत तत्तदत्तुमाध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदतित्वं
सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददिते-
रदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

अनुवाद—उसने ईच्छा किया कि निश्चय यदि मैं इसको खप करूंगा तो “भोजन के लिये” थोड़ा अन्न करूंगा । इम हेतु उसने उस वाणी और उस प्रयत्न के साथ सब कुछ उत्पन्न किया जो कुछ है । अणू, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजाप और पशु इन सबों को बनाया । उसने जो जो कुछ उत्पन्न किया उस उस को खाने को मन किया । जिस हेतु निश्चय वह सब खाता है अतः उसका नाम “अदिति” है । यही “अदिति” का अदितित्व है । जो उपासक इस प्रकार “अदिति”

के इस “अदितित्व” को अच्छे प्रकार जानता है वह इस सब का अन्ता होता है। इसका सब अन्त होता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—बुभुक्षित पुरुष मद्याभक्ष्य का विचार नहीं करता है। माता अपने पुत्र को भी खा जाती है और पुत्र माता को खा जाता है, इसके उदाहरण प्रकृति में बहुत पाये जाते हैं। पहले कह आये हैं। कर्कटकी (बेकड़ी) के बच्चे अपनी माता के मांस को बिलकुल खा जाते हैं। कुतिया अपने बच्चे को खाती हुई देखी गई हैं। आपत्ति में मनुष्य भी अपने बच्चे को खाते हुए देखे गये हैं। वृश्चिक आदि बहुतसे जन्तु ऐसे हैं कि अपने बच्चे को खाते हैं। इस आश्चर्य को दिखाते हुए वेदों की और वेद जाननेहार मनुष्य की तथा कर्मों और मनुष्य के सहचारी पशुओं की उत्पत्ति का वर्णन आगे करते हैं। जब क्षेत्र में कुछ फल आने लगते हैं। तब बुभुक्षित कृषीयल उनको खाना चाहते हैं, परन्तु यह विचार करके कि ये फल यदि पुष्ट होकर पकेंगे तो इनसे अधिक लाभ उठावेंगे, उनको नहीं खाते हैं अन्य प्रकार से तब तक दिन काटते हुए पाकावस्था तक क्षेत्रफल की अपेक्षा करते रहते हैं। इसी प्रकार मानो ईश्वरीय लीला है। देखो सृष्टिरूप रेत लगाता है। बीच २ में भी पके हुए को खाता रहता है। प्रलयान्त में सब को सहार कर जाता है (सः+प्रेक्षत) उस मृत्युवाची ईश्वर ने देखा कि (वे) निश्चय (यदि) यदि (इमम्) इस उत्पन्न कुमार की (अर्थात् बाणी सहित जो प्रथम सृष्टि हुई मानो वही एक अभिनयोत्पन्न बालक है) (अभिमंस्ये) हिंसा करूंगा अर्थात् मारकर खाऊंगा तो मैं अपने भोजन के लिये (कनीयः) बहुत थोड़ा (अन्नम्) अन्न (करिष्ये) करूंगा। अपाकावस्था में गृहस्थ लोग यदि गेहू आदि अन्न काटकर खाएँ तो बहुत किञ्चित् अन्न होगा तद्वन् (इति) यह विचार कर मानो उस कुमार को ईश्वर ने नष्ट नहीं किया। तब आगे क्या किया सो कहते हैं—उससे नी उत्तम रेत लगाया वह यह है (सः) उस मृत्युवाच्य ईश्वर ने (तथा+चाचा) उस प्रशस्त बाणी के साथ (तेन+आत्मना) और उस प्रयत्न के साथ (इदम्+सर्वम्) इस सब का (अमृजत) उत्पन्न किया (यद्+इदम्+किञ्च) जो यह कुछ मनुष्यादि जाति देस पड़ती है विशेष २ का नाम गिनाते हैं। मनुष्यों के लिये (ऋचः) ऋग्लक्षणयुक्त, (यजूषि) यजुर्लक्षणयुक्त, (सामानि) सामलक्षणयुक्त इन तीनों लक्षणों से संयुक्त चारों वेदों को, (छन्दांसि) गायत्री आदि छन्दों को अर्थात्

वेदविहित सकल गायत्री आदि छन्दों को तथा (यज्ञान्) वेदविहित सकल शुभ-
कर्म को (प्रजा.) वेद पढ़ने हारे तथा कर्म करने हारे मनुष्यों को (पशून्)
मनुष्यों के साथ रहने हारे गौ आदि पशुओं को बनाया (सः) उसने (यद-
धत्+धा) जिस २ को ही (अभूजन) उत्पन्न किया (तत्+तत्) उस २ सब
वस्तु को (अतुम्) पाने के लिये (अध्रियत्) विचार किया । इसी हेतु परमेश्वर
का एक नाम “अदिति” है । जो सब पाने उसे अदिति कहते हैं । वह परमेश्वर
(सर्वम्+वै+अनि) सब कुछ पाने है (इति) इस हेतु वह “अदितिः” कह-
लाता है (तत्) वही (अदितेः+अदितित्वम्) अदिति का “अदितित्व ” है ।
आगे इस उपासना का फल कहते हैं—(यः) जो कोई तत्त्वविद् पुरुष (एवम्)
इस प्रकार से (अदितेः) अदिति के (एतन्+अदितित्वम्) इस अदितित्व को
(वेद) जानता है अर्थात् भगवान् का नाम “अदिति” क्योंकि हुआ इस तत्त्व
को जो कोई जानता है वह (सर्वस्य+एतस्य) इन सब वस्तुओं का (अत्ता)
भोक्ता होता है और (अस्य) इस तत्त्ववित् पुरुष का (सर्वम्+अन्नम्+भवति)
सब ही अन्न भोग्य होता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—स इति । बुभुक्षितः एतु मक्ष्यामक्ष्यं न विचारयति स्वपुत्र-
मपि खादति माता पुत्रो मातरम् । अत्र सन्तुष्टाहरणानि प्राकृते दृश्ये । कर्क-
टिकी शायकाः स्वमातरं खादन्ति । स्वार्मकं खादन्त्यः शुन्यो दृष्टः । आपदि
मनुष्या अपि स्वापत्यानि खादन्तो दृष्टाः वृश्चिकादयः सन्त्यनेकशो जन्तवो
ये नित्रान् पृथुरान् खादन्ति । इदमाश्चर्य्यं दृश्यं दर्शयन् वेदानां तदुपल-
क्ष्याणां मनुष्यकर्मणां तत्सहचराणां पशूनाञ्चोत्पत्तिं कथयति । यथा बुभुक्षितः
क्षेत्राजीनः कश्चित् क्षेत्रे किञ्चिदुद्गतानि फलान्यवलोक्यापकान्येव भक्षयितुमी-
हने । परं परिपक्वैरैः फलाधिक्यं बहुकालार्थं लप्स्यामह इति भूयो २ विचार्य्यं
तावत् कथमपि दिनानि निर्वाहयन्तः फलपरिष्कावस्यामपेक्षन्ते । एवमेश्वर-
स्यापि ध्यापार इति मन्ये । उत्पाद्योत्पाद्य परिपक्वे जगति कल्पान्ते कल्पान्ते
उदरपूरणाय मंदरतीक्ष्णारचर्यम् । कथमिव स बुभुक्षित इत्येतदीश्वरव्यापारपू-
र्वकं वर्णनमिदम् । स मृत्युरशनायावान् ऐक्षतेक्षणं कृतवान् । इमं संवत्सरं
सावत्सगोपलवितमिदानीमेव जानं वाणीविशिष्टं प्राणिसमूहरूपं कुमारं । यद्यहम् ।
यै अभिमंस्ये हिंसिष्ये । तर्हि कनीयोऽन्नं करिष्ये स्वमोजनाय किञ्चिदेवाहम्-

त्पादयिष्यामि अत्यन्तक्षुधितस्य भवेदं पर्याप्तं न भविष्यति अत इदानीमयं न
हिंसितव्य इति विचार्य । स तथा वाचा ज्ञानलक्षणा वाण्या अथवा व्यक्ता-
व्यक्त्या वाण्या तथा तेनात्मना तेन प्रयत्नेन सहैव । पश्चाद् इदं सर्वं चाणीस-
हितं प्रयत्नसहितञ्च यत् किमपि मनुष्यादिप्राणिजातं मृत्पाद्यमासीत् तत्सर्वं
अमृजत प्रकाशयामास । अत्र विशेषाणां नामानि गणयन् ब्रह्मणोऽवृत्तत्वं दर्श-
यति । अथ ऋग्लक्षणां वेदान् । यजुर्गणं यजुर्लक्षणां । सामानि सामल-
क्षणां । इन्द्रांसि वेदविहितानि गायत्र्यादीनि यज्ञान् । मनुष्यसंपाद्यानि
अग्निष्टोमादीनि कर्माणि प्रजाः कर्मणां कर्तृन् मनुष्यान् । पशून् तत्सहायकान्
गोमहिषादीन् पशून् असृजतेति शेषः स यद्यदेव अमृजत । तत्तत्सर्वं वस्तु
अनुं भक्षयितुमधिगतं तत्तत्सर्वं भक्षयितुं मनोधृतवान् । यतो मृत्युः सर्वान्
जन्तून् मरणधर्मणो विहितवानित्यतः । यथा परिपक्वं गृहस्थोऽनुं लुनाति
ब्रह्मणः सर्वं भक्षयितृत्वं दर्शयति । यतः सर्वं वस्तु । वै निश्चयेन । अस्ति भक्ष-
यति । अतः अदितिर्निगद्यते । तदिदमेव-अदितेरदितित्वम् । फलं ब्रूते । यः
कश्चिदुपासकस्तत्त्ववित्पुरुषः । एवमेव प्रकरेण । अदितेरेतददितित्वं वेद
सम्यग् जानाति । सोऽपि पुरुषः । सर्वस्यैतस्य वस्तुनः । अत्ता भक्षयिता भ-
वति । अस्पोपासकस्य सर्वमन्नं भोग्यमेव भवति । स सर्वपदार्थस्य तत्त्वं विदि-
त्वा भक्ष्या-भक्ष्यस्यविवेकं लभते । यद्वा सर्वपदार्थतत्त्वज्ञानात् सर्वेभ्यः । स्वामी-
ष्टं ग्रहीतुं शक्नोति । इदमेव भोक्तृत्वम् । महीश्वरवदयमुपासकः प्रस्तरघ्न्यादि-
भक्ष्येऽपि समर्थः । अतोऽत्रपदे सर्वशब्दः योग्यतापरको व्याख्येयः ॥ ५ ॥

भाष्याशय—अदिति शब्द की यद्यपि अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं । तथापि यहाँ
केवल “अद् भक्षणे” (खाना) धातु से इस शब्द की सिद्धि मानी गई है । ईश्वर
सब को संहार करता है अतः यह “अदिति” कहलाता है यहाँ यह एक शंका
होती है कि जो इस तत्त्व को जानता है वह भी सब का भक्षक होता है मूल में
ऐसा कहा है । और “विद्” धातु का प्रयोग प्रायः मनुष्य में ही होता है क्योंकि
जानने की शक्ति मनुष्य में है । इस हेतु यह फल मनुष्य के लिये कहा गया है
पश्यादियों के लिये नहीं । तब क्या जो तत्त्वविद् हो वह पशु प्रभृतियों को भी खाया
करे यह इसका भाव है वा कुछ अन्य ? समाधान—यहाँ दो बातों पर ध्यान देना
चाहिये । ईश्वर सब को खाता है अर्थात् संहार करता है । इस हेतु वह सर्वभक्षक

है । इस हेतु उस के उपासक को भी सर्वमच्छक होना चाहिये, यहा यदि उपासक के पक्ष में ईश्वरपूजकत्वं “सर्वं” शब्द का अर्थ यावत्-सर्व-पदार्थ लिये जायें तो यह घट नहीं सकता है क्या तत्त्वविद् उपासक पृथिवी पर्वत वृक्ष सूर्य अग्नि आदि को भी ईश्वरपूजक हो सकता है ? कदापि नहीं । इस हेतु सर्व शब्द का अर्थ “योग्य-तापरक” है । जिस २ पदार्थ के राने में मनुष्य की योग्यता है उसको खा सकता है । यह इसका गौण तात्पर्य है, मुख्य तात्पर्य यह है कि उपासक अर्थ में अन्ता शब्द का अर्थ “भोक्ता” है । अनेक प्रकार से पदार्थों का भोग होता है । भेष के सौन्दर्य को देखकर जो चित्त प्रसन्न होता वह भी एक भोग है, मधुरध्वनि सुन जो कर्ण वृत्त होता है वह भी भोग है, पुत्रादि प्रिय वस्तु को देख जो आनन्द प्राप्त होता है वह भी भोग है । इस प्रकार यावत् पदार्थ के अनुभव का नाम भोग है । विद्वान् लोग, इसमें सन्देह नहीं, ईश्वरीय बहुत वस्तुओं के तत्त्व को अनुभव करते हैं, उनसे आनन्द उठाते हैं, जैसे अर्थ जाननेवाले को पाणिनि व्याकरण या भास्कररीय-ज्योतिःशास्त्र पाठ करने से जितना आनन्द प्राप्त होगा उसके लक्षाश भी अर्थानभिज्ञ पाठ करने हुए पुरुषों को नहीं मिलेगा यह प्रत्यक्ष निषय है । इसी प्रकार तत्त्वविद् पुरुष को पृथिवी आदि पदार्थों को देखने से जो एक अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है वह कदापि अतत्त्वविन् पुरुष को नहीं और यथार्थ में ईश्वरीय पदार्थ का ज्ञान होना यह सब भोगों में सर्वश्रेष्ठ भोग है । विद्वान् लोग इस भोग को महाभोग मानते हैं इससे जीवात्मा पुष्ट होता और अध्यादिक से केवल सण्महुर शरीरमात्र पुष्ट होता है । अतः विद्वान् को सब का अन्ता (भोक्ता) कहा है न कि पशु आदि मारकर खाने से तात्पर्य है ॥ ५ ॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । सोऽभ्रा-
भ्यस्त तपोऽतप्यत तस्य भ्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुद-
क्रामत् प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेप्लूक्रान्तेषु शरीरं श्वयितु
मधियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥ ६ ॥

अनुराद्—उमने ईच्छा किया कि मैं पुनरपि बहुत यज्ञ से यजन करूँ ।
सोने इस कार्य के लिये उसने प्रयत्नरूप श्रम और हानिरूप तप किया उसको

शान्त और तप्त होने पर यश और वीर्य्य उन्नति को प्राप्त हो सर्वत्र विस्तीर्ण हुआ । निश्चय, प्राण (प्राणी) ही यशोवीर्य्य हैं उन प्राणों को उन्नत हो सर्वत्र प्रकीर्ण होने पर पृथिव्यादि-लोक-स्वरूप शरीर जीवों की शोभा से बढ़ना आरम्भ हुआ उस मृत्यु का मन पृथिव्यादिस्वरूप शरीर में था ॥ ६ ॥

पदार्थ—जैसे यहां विधिवत् शुभकर्मों के अनुष्ठान से ही कीर्ति और ब्रह्म-चर्य्य व्यापामादि के रक्षण से बल शनैः २ सञ्चय करता है उससे यशस्वी तेजस्वी और बलवान् होता है । मानो, ईश्वर भी वैसे ही सृष्टि-रचनारूप महाकर्म को करके ही यशस्वी और वीर्यवान् हुआ, अन्यथा कौन किस उपाय से उसको जान सकता, उसका यश और वीर्य्य कैसे लोगों को मालूम होता इस हेतु विविध प्रकार की सम्पूर्ण सृष्टि बना वह निरपेक्ष और उदासीन हो किसी गह्वर में नहीं सो गया किन्तु अघाबधि विविधलीला दिखला रहा है । यदि वह आज भी कर्म करता ही हुआ अनुमित होता है तब क्यों नहीं ये जीव प्रयत्न लक्षण कर्म में प्रतिकूल सन्नद्ध रहते, इसी अर्थ को दिखलाते हुए इस संसार के “अश्व” और “अश्वमेध” कैसे नाम हुए इसको कहते हुए सृष्टि की परिपूर्णता का वर्णन करते हैं । यह सृष्टिरचना भी एक महायज्ञ है इस मृष्टि में समान कल्प, मानो एक २ यज्ञ है । ये प्रधान-क्षया चार हैं । १—पृथिवी आदि जड़ वस्तु की उत्पादनरूप प्रथम यज्ञ, २—उनमें भी चन्द्रिज से लेकर क्षुद्र जन्तु की उत्पत्ति तक द्वितीय यज्ञ, ३—बानर तक पशुओं की उत्पत्ति तृतीय यज्ञ, ४—मनुष्योत्पत्ति चतुर्थ यज्ञ, इसके अवान्तर यज्ञ-भेद तो बहुत होंगें, वर्णन सौकर्य्यार्थ ये चार कहे गये हैं, ये चार यज्ञ ईश्वर से पहले ही विहित हुए । अब पञ्चम यज्ञ का आरम्भ करते हैं । पञ्चम यज्ञ कौन है ? उत्पादित का पालन करना ही पञ्चम यज्ञ है जैसे देवों में शस्यों के उत्पन्न होने पर भी यदि क्षुद्र घासों न उत्पादित होवें तो शस्य की सम्पन्नता न होगी वैसे ही स्वभाव से ही उत्पन्न होनेहारे विघ्नों को यदि ईश्वर दूर न करे तो इस जगत् की स्थिति नहीं हो सकती इस हेतु मूल में कहा है कि (स.+अक्रामयत्) उस मृत्युनामधारी ईश्वर ने कामना की कि (भूयसा) बहुत (यज्ञेन) प्रयत्नरूप यज्ञ से (भूयः) फिर भी (यजेय) यज्ञ कर्त्तुं (इति) ऐसी कामना की । केवल कामना से कुछ नहीं होता “प्रयत्नेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः” इस हेतु आगे कहते हैं कि (स.+अब्राम्यत्) मानो उसने परिश्रम किया और (तपः+अतप्यत्)

ज्ञानरूप तपस्या की, यहा मनुष्य की कर्तव्यता दिखलाने के हेतु “अन्न” और “तप” कहे गये हैं। मनुष्य को उचित है कि जब किसी कार्य को करने के लिये स्थिर करले तब पूरा परिश्रम और उसके लिये विविध व्रत धारण करे, तपस्या के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। तब (तम्य+आन्तस्य) उसके परिश्रम और (त-स्य) ज्ञानरूप तपस्या करने पर मानो (यश.+वीर्यम्) यशोवीर्य (उदात्तामत्) वन्नति को प्राप्त होते लगा “यशोवीर्य” इतने शब्द का क्या अर्थ है इसको स्वयं श्रुति कहते हैं—(प्राणा+वे+यशोवीर्यम्) निश्चय प्राण ही यशोवीर्य है। प्राण= इन्द्रिय=अर्थात् इन्द्रिययुक्त प्राणी से यहां सात्पर्य है जब तक इन्द्रिय न होवे तब तक “प्राणी” नहीं कहलाता प्रस्तरादिक में भोग करने के इन्द्रिय नहीं हैं, अतः वे प्राणी नहीं। वृक्षादिकों में भी भोग के इन्द्रिय विस्पष्ट नहीं प्रतीत होते अतः वे भी प्राणी नहीं कहलाते जिनमें विस्पष्ट इन्द्रियशक्ति है वे प्राणी हैं और इन्द्रिय केवल पृथक् भी नहीं रह सकते जहा इन्द्रिय वहा इन्द्रियवान् जीव होगा इस हेतु यहां प्राण, इन्द्रिय) शब्द से प्राणवत् प्राणियों का ग्रहण है (तत्प्राणेषु+उत्क्रान्तेषु) उन प्राणियों को उन्नत हो सर्वत्र फैलने पर (शरीरम्) पृथिव्यादि लोक-रूप शरीर (अयितुम्+अप्रियत) बढ़ना आरम्भ हुआ (तस्य) उस ईश्वर का (मनः) मन (शरीर+एव) पृथिवी आदि लोकरूप शरीर में ही (आसीत्) लगा रहा है। भाव इसका यह है कि ईश्वर के प्रयत्न से मानो जब सृष्टि में छुद्र जन्तु से लेकर मनुष्य पर्यन्त की उत्पत्ति हुई तब इस पृथिव्यादि लोक की शोभा बहुत बढ़ने लगी इस हेतु मूल में कहा है कि “शरीरम्+अयितुम्+अप्रियत” शरीर शब्द से यहा पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश का ग्रहण है। इन ही पञ्चभूतों से जीवों का शरीर बना हुआ है। पृथिवी, चन्द्र, नक्षत्र आदि जितने लोक लोकान्तर हैं वे सब जीवों के एक समष्टि शरीर हैं क्योंकि यदि शरीर के अतिरिक्त वे पृथिवी, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ न होवें तो क्या यह छुद्र शरीर रह सकता है ? कदापि नहीं। इस हेतु सब जीवों का पृथिवी आदि एक ही महाशरीर है। और दूसरा प्रत्येक जीव का एक २ निज छुद्रशरीर है इस हेतु “शरीर” शब्द से पृथिव्यादि लोक अपेक्षित हैं। जब प्राणियों की उन्नति इस पृथिवी पर हुई तब मानो यह पृथिवीरूप शरीर (अयितुम्+अप्रियत) बढ़ना आरम्भ हुआ। यद्यपि पृथिवी पहिले ही बढ़ी हुई थी अब शोभा करके इसकी वृद्धि हुई। जैसे अलङ्कारों

से युवती की वृद्धि होती है । अब जब चारों तरफ पृथिवी के ऊपर जीव फैल गये तो मानो ईश्वर को बड़ी चिन्ता लगी कि ये जीव अन्न खानेद्वारे बनाये हैं । अन्न पृथिवी से उत्पन्न होते हैं । अतः पृथिवी आदि के ही अधीन इनका जीवन है । यदि ये पृथिवी आदि समष्टि शरीर उचितरूप से स्थिर न हुए वा न धनें तो ये जीव, जो मेरे पूर्ण भोजन हैं, नष्ट होजायेंगे, इस हेतु जीव के फैलने पर ईश्वर का मन पृथिवी आदि समष्टि शरीर के ऊपर ही लग रहा । अतः “तस्य शरीरे एव मन आसीद्” यह मूल में कहा है जैसे फल लगने पर फलकों का मन देत में ही लगा रहता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—यथैह लोकाः शुमानि कर्माणि विधिवदनुष्ठानायैव कीर्तिं, ब्रह्म-
चर्यं, व्यापामादिपालनेन बलञ्च शनैः शनैः संचिन्वन्ति यशस्विनस्तेजस्विनो
बलवन्तरच तेन भवन्तीति मन्ये । एवमेवेश्वरोऽपि सृष्टिरचनारूपं महत्कर्म
विधायैव यशस्वी वीर्यवान् बभूव अन्यथा कः खलु केनोपायेन तं विधात् ।
अतो विमृष्टिं सर्वां सृष्ट्वा नायमीश्वरो निरपेक्ष उदासीनरच भूत्वा कचिद्
गह्वरे शिरये परमिदानीमपि निविधां लीलां दर्शयन्नेवास्ते । यदि च स इदा-
नीमपि कर्म कुर्वन्नेवानुमीयते तर्हि कथं न जीवाः प्रयत्नलक्षणे कर्मणि प्रति-
क्षणं सन्नद्धास्तिष्ठेयुरित्येवमर्थं दर्शयन् संसारस्यान्धाधमेध नाम्नोः कारणञ्च
निर्बुबन् सृष्टेः परिपूर्णतां विज्ञोति सोऽकामयतेति । स मृत्युरशनापावान्
परमेश्वरः । अकामयतैष त । भूयसा बहुलेन । यज्ञेन प्रयत्नलक्षणेन कर्मणा ।
भूयः पुनरपि । यजेय इति । पृथिव्यादिजडवस्तुत्पादनस्वरूप एको यज्ञः,
तत्रोद्भिज्जादिजुद्रजन्तुत्पादो द्वितीयः, वानरान्तपशुजन्मा तृतीयः, मनुष्योत्प-
त्तिश्चतुर्थो यज्ञः । एतेषामत्रान्तरयज्ञभेदा यद्यप्यो भविष्यन्ति, इमे चत्वारस्तावद्
वर्णनसौकर्यार्थं मुक्ताः । इमे चत्वारो यज्ञास्त्वीश्वरेण पूर्वं विहिताः सम्प्रति
पञ्चमो यज्ञ उपक्रम्यते । कोऽयं पञ्चमो यज्ञः ? उत्पादितस्य पालनम् ।
ययोत्पन्नेष्वपि शस्येषु यदि जुद्रघासा नोत्पादयेरन् न तर्हि शस्यसम्पन्नता
तथैव यदि निसर्गत एवोत्पत्त्यमानान् विघ्नान् न निराकुर्याच्चर्यास्य दुःस्थि-
तिरेव अतो मूले भूयो यज्ञकरणं विहितम् । सोऽश्राम्यत् । यशो वीर्यमुद-
क्रामत् यशोवीर्ययोरर्थं स्वयमेवाभिधत्ते प्राणा वै यशोवीर्यम् प्राणाः प्राणिनः
प्राणवन्तोजीवाः । विशेषतया ब्रह्मणो यशोवीर्यं प्राणवन्तो जीवा एव दर्शयन्ति

अतस्ते यशोवीर्यशब्दाभ्यामभिधीयन्ते । ते प्राणिनः शनैः शनैः सर्वेषु
लोकेषु पृथिवीप्रभृतिषु उदक्रामन् उन्नतिं प्राप्य प्रकीर्णा बभूवुः । उच्छब्द
उन्नतिगोचरः तत्प्राणेषु उत्क्रान्तेषु सर्वत्र उन्नतिं प्राप्य प्रकीर्णेषु सत्सु ।
शरीरं पृथिव्यादिलोकस्वरूपं शरीरम् । श्वयितुं प्राणिनां शोभया वर्द्धितुम् अ-
धियत प्रारमत । दुःश्रोत्रि गतिवृद्धयोः । तस्य मृत्योः परमात्मनः । शरीरे
पृथिव्यादिस्वरूपे एव मन आसीत् तदधीनत्वान्जीवनं प्राणिनाम् । जीवास्तु
सर्वत्र प्रकीर्णाः सम्प्रति यदधीनमेतेषां पोषणं ते पृथिव्यादि लोकाः सम्यग्
रक्षणीया इति हेतोस्तस्य शरीर एव मन आसीदित्युक्तम् ॥ ६ ॥

सोऽकामयत मेध्यं म इदं स्यादात्मन्यनेन स्यामिति ।
ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्या-
श्वमेधत्वम् । एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद । तमन-
वरुद्धेयवामन्यत । तं संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत ॥
पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् ॥ तस्मात्सर्वदेवत्वं प्रोक्षितं प्राजाप-
त्यमालभन्ते ॥ ७ ॥ (क)

अनुवाद—मेघ उत्पन्न किया हुआ जीवों का शरीरभूत यह पृथिव्यादि लोक
पवित्र वा अशुद्ध प्रकार जानने योग्य होवे इस हेतु इसके साथ मैं प्रयत्नवान् होऊँ
ऐसी कामना मृत्यु (ईश्वर) ने की इस कामना के अनन्तर यह अश्व (जगत्)
पवित्र हुआ । अथवा तब अश्व हुआ अर्थात् यह संसार यथार्थरूप से सर्वगुण स-
म्पन्न हो गया । जिस हेतु प्राणियों की शोभा से और ईश्वर के प्रयत्न से यह बहुत
वृद्धि को प्राप्त हुआ इस हेतु इस संसार का नाम “अश्व” हुआ । इसी हेतु यह
“मेघ” भी हुआ । यही “अश्वमेध” का “अश्वमेधत्व” है । जो अधवाच्य इस
संसार को इस प्रकार जानता है निश्चय यही “अश्वमेध” को जानता है उस संसार
को परमेश्वर ने निष्कार ही रक्ता एक कल्प के अनन्तर इस (संसार) को अ-
पने लिये क्षेत्र के समान काटता है । विद्वानों को उसने विद्वानरूप भोजन दिये
इसी हेतु वैज्ञानिक लोग सर्वदेवत्व प्रोक्षित और इस प्राजापत्य संसार को अपने
काम में लाते हैं ॥ (क)

पदार्थ—(स+अकामयत्) उम ईश्वर ने कामना की । कौनसो कामना की ? सो आगे कहते हैं—(मे) मेरा अथान् मुझ से उत्पन्न किया हुआ (इदम्) पृथिवी आदि लोकरूप जो जीवों का ममाष्टि शरीर है वह (मेध्यम्+स्यान्) पवित्र होवे अथवा अच्छे प्रकार जानने योग्य होवे, इस हेतु (अनेन) इस पृथिव्यादि-स्वरूप शरीर के साथ (आत्मन्वी+स्याम्+इति) प्रयत्नवान् होऊँ ऐसी कामना ईश्वर ने की । आत्मा=प्रयत्न । यहा आत्मा शब्द का प्रयत्न अर्थ है यह कई एक स्थलों में कहा गया । जब ईश्वर ने ऐसा सङ्कल्प किया तब क्या हुआ सो आगे कहते हैं—(ततः+अश्वः+समभवन्) तब यह अश्व अर्थात् संसार हुआ सृष्टि का होना तो प्रथम ही कह चुके अब यह क्या ? प्रथम की अपेक्षा से ईश्वर सङ्कल्प द्वारा अब यह ब्रह्माण्ड यथार्थरूप से सर्व गुणसम्पन्न हुआ यह इसका तात्पर्य है । अथवा (अश्व+समभवन्) तब यह अश्व=संसार । मेध्य=पवित्र (सम-भवन्) हुआ । यहाँ मेध्य शब्द का अध्याहार करना पड़ेगा क्योंकि ईश्वर का सङ्कल्प है कि “यह मेध्य” होवे सो यदि यह “मेध्य” न होवे तो निःसन्देह ईश्वर का सङ्कल्प नष्ट होगा इस हेतु ईश्वर के सङ्कल्प के अनुरोध से यह संसार मेध्य=पवित्र हुआ यह अर्थ करना पड़ेगा । प्रसंगवश “अश्व” शब्द की व्युत्पत्ति भी स्वयं अपि कहते हैं (यद्) जिस हेतु (अश्वद्) प्राणियों की उत्पत्ति से और ईश्वर के प्रयत्न से यह बहुत बढ गया इस हेतु इसको “अश्व” कहते हैं । “शिव” धातु का अर्थ गति और बढना है इसी से “अश्व” बनाया ऐसा इसका अभि-प्राय है (तन्+मेध्यम्+अभूत्) जिस हेतु ईश्वर के प्रयत्न से बढा इस हेतु यह संसार पवित्र या जानने योग्य भी हुआ (तद्+एव) वही (अश्वमेधस्य+अश्व-मेधत्वम्) अश्वमेध का अश्वमेधत्व है । अश्व=संसार । मेध=पवित्रता । संसार की पवित्रता । यद्वा अश्व=संसार । मेध=संगमन-संज्ञान । संसार का परमज्ञान । यद्वा अश्व=संसार । मेध=संगम । सृष्टि के साथ ईश्वर का संगम अथवा पवित्र संसार इत्यादि भाव जानना, इस उपासना का फल कहते हैं—(यः) जो, तत्त्वविन् उपासक (एनम्) इस अश्ववाच्य संसार को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (वे) निश्चय (एषः) यही (अश्वमेधम्) अश्वमेध को (वेद) जानता है । इस संसार को किस आधार पर रक्खा सो कहते हैं (तम्) इस संसाररूप अश्व को (अननुरुध्य+इय+अमन्यत्) न धाव करके ही माना अर्थात् इसको किसी

रस्सी से किसी में नहीं बाधा, भाव यह है कि निराधार ही इसको छोड़ रखता, इस शब्द से यह प्रतीत होता है कि सर्वथा यह निराधार नहीं किन्तु सम्पूर्ण का एक आधार ईश्वर ही है। प्रथम कहा गया है कि अति बुमुचित मृत्यु ने इसको अपनी जीविका के लिये रचा तब यह भी कहना उचित है कि इसको वह कन काटता है। अर्थात् इसका प्रलय होता या नहीं, इस आशङ्का पर आगे कहते हैं—(तम्) उस ससार को (सवत्सरस्य) एक कल्प के (परस्तात्) पीछे (आत्मने) अपने लिये (आलभत) ग्रहण कर लेता है अर्थात् इसका सहार कर लेता है। क्या वह अपने जनों वा भक्तों को भी कुछ देता या नहीं इस पर कहते हैं कि (देवताभ्यः) इन्द्रियरूप देवताओं के लिये (पशून्) सर्व प्राणी (प्रत्यौहत्) समर्पण किया (तस्मात्) इसी हेतु (सर्वदेवत्यम्) जिसमें सन सूर्य आदि देव हों अथवा सप्त इन्द्रियों के हितकर (प्रेक्षितम्) उपवनादि के समान स्वयं ईश्वर से सिकत अर्थात् लगाया हुआ (प्राजापत्यम्) प्रजापति=ईश्वर की सन्तान समान जो यह ससार ससारो (आलभन्ते) अपने २ लिये यथा भाग ग्रहण करते हैं ॥ ७ ॥ (क)

भाष्यम् --स इति । मे ममोत्पादितमिदं पृथिव्यादि-लोकस्वरूपं जीवानां शरीरम् । मेध्यं सगमनीयं सम्पद् ज्ञातव्यं पवित्रमथा स्यान्नवेत् । “पूतं पवित्रं मेध्यञ्चेत्यमरः” । तन्मम प्रयत्नेन विना न भविष्यतीति अहमनेन सह । आत्मन्वी प्रयत्नवान् । स्यां भवेयम् । इति स परमेश्वरोऽकामयत् । ततोऽस्य कामनानन्तरम् । ईश्वरप्रयत्नेन सम्पूर्णं जगदिदं । अथः ममभवत् । अथः संसारः यथार्थरूपेण सर्वगुणसम्पन्नः ससारोऽभूत् पूर्वापेक्षेयत्यर्थः । यद्वा अथः संसारः मेध्योऽभूदीश्वरमकल्पेन अत्र मेध्यशब्दोऽप्याहार्य ईश्वर संकल्पाज्जरो-धात् । ईश्वरसङ्कल्पपशु अयं मेध्यः स्यादिति । स यदि मेध्यो न भवेत्तर्हि सङ्कल्पहानिः । प्रसङ्गात् स्वयमेव अश्वशब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयति । यद्यस्मात्कारणात् प्राणिनां शोभया ईश्वरमङ्गमेतत् संसारः । अथदशयद् अवधिष्ट परमवृद्धिगतः । अतः सोऽथो निगद्यते । तत्तस्मादेवकारणात् । मेध्यं पवित्रं संगमनीयमथा अभूत् । तदिदमेव—अथमेधस्याश्चमेधत्न विज्ञातव्यम् । अधुनापासनफलं कथयति । यो हि उपासकः । एनं जगद्रूपमथम् । एवमुपनिषदुक्तिप्रकारेण । वेद सम्पद् जानाति । एष ह वै स एवैव पुरुषः । अथमेधं वेद इति प्रसिद्धम् । नेत्रेणोपयेनाश्चमेधस्य वेत्तृत्वं ममवति । इमां सम्पूर्णां विसृष्टिं विरचय्य क-

स्मिन्नाधारे स्थापयामासेत्याकादशायामाह—तमनवरुध्य इति । तं जगद्रूपमश्वम् । अनवरुध्यैव अश्वैव कश्चादिदाधारे अस्थापयित्वैव । अमन्यतेऽश्वः कस्यचिदाधारस्योपर्यस्य स्थापनमुचितं न मेने । उच्छृङ्खलं तुरङ्गमिवेमं जगद्रूपमश्वं कृतवान् परमेश्वरः । अशनायावान् मृत्युः खलु स्वमोजनायेदं जगत्सृजति कृपीबलः क्षेत्रमिवेत्युक्तं पुरस्तात् । तन् कदा परिपक्वमिदं लुनातीत्यपि बह्वपमित्यत आह । इह संत्सरशब्द एकप्रलयवाचीति दर्शितं पुरस्तात् । सम्बत्सरस्य एकप्रलयस्य परस्तादूर्ध्वम् । तं जगद्रूपमश्वम् । आत्मने आत्मार्थे स्वौदरपरिपूरणायैव । आलभत आलम्भनं कृतवान् आत्ममात् कृतवानित्यर्थः । कल्पे कल्पे जगदिदं स्वान्मपोषायेन संहरतीति मन्ये । अन्येभ्यः स्वजनेभ्यो भक्तेभ्यो वा स किमपि ददाति नवति शङ्कायामाह—पशूनिति । देवनाभ्य इन्द्रिभ्यः । पशून् सर्वान् पशून् । प्रत्याहन् प्रायच्छत् । ऐतरेयोपनिषद्वाक्यैः प्रदर्शितमिदं यत् सृष्टाभ्यो देवताभ्यो गवादीन् पशून् नयत् । ततोऽस्तृप्तास्ता मनुष्यमवलोक्य सन्तुष्टाः बभूवुः । एतेन पशवोभोगयोनय इति वदति । अथवा देवताभ्यो विद्वद्भ्यः “विद्वामो वै देवा” इति प्रसिद्धम् । पशून् ब्रह्मासि वेदज्ञानानि प्रत्याहत् प्रायच्छत् समर्पितवान् । एतैश्चन्द्रोभिरेव स्वजीविकां पूर्णं कुरुतेत्यश्वपः । ब्रह्मोऽर्थे प्रमाणम्—पशवो वै देवानां ब्रह्मासि । तत्रपेदं पशवोयुक्ता मनुष्येभ्यो बहन्त्येवं ब्रह्मासि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं बहन्ति तद्यत्र ब्रह्मासि देवाः समतर्पयन् । तदतस्तत्प्रागभूद् यच्चब्रह्मासि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाहुर्यदेनान् समतीवृषन् ॥ शत० कां० ४ । ४ । ५ । १ ॥ यस्मात् सर्वासां प्रजानां पतिर्भगवान् मृत्युः कल्पे कल्पे सर्वं संहति तस्मादेव कारणादिदानीमपि तत्त्वविदोवैज्ञानिका इमं प्राजापत्यं प्रजापतेः परमेश्वरस्य अपत्यभूतमिममश्वमिवेयम् । संसारम् आलभन्ते उपयुञ्जन्ति स्वनिर्वाहाय जगत्पदार्थान् आददत इत्यर्थः ॥ ७ ॥ (क)

भाष्याशय—मेध्यम्—पूत, पवित्र और मेध्य ये तीन नाम पवित्र के हैं ॥ ईश्वर ने कहा कि यह जगन् पवित्र होवे इस हेतु यह पवित्र हुआ । इसी हेतु “अश्वमेध” ऐसा भी नाम इस संसार का है । मेध्य=पवित्र । अश्व=संसार । पवित्र जो संसार उसे “अश्वमेध” कहते हैं । यहां “मेध्याश्व” शब्द होना चाहिये परन्तु पाणिनि के “प्योदरादीनि ययोपदिष्टम्” इस सूत्र के अनुसार “अश्वमेध” शब्द हो

जाता है । इसके अनेक अर्थ हैं पदार्थ में देखो । देवता—देव और देवता एकार्थक हैं अर्थात् जो अर्थ देव शब्द का है वही अर्थ देवता शब्द का है । ऐसे २ स्थलों में देव या देवता इन्द्रिया को कहते हैं यह बात प्रामाण्य ही है । ऐतरेयोपनिषद् के ब्रह्महर्षण से पूर्व में दिखा चुका है कि इन्द्रियों के लिये परमात्मा, प्रथम गौ आदि पशु ले आए, उनसे इनकी वृत्ति न हुई पश्चान् मनुष्य को देव्य वे अतिप्रसन्न हुए इत्यादि । वेदों (पशून्+प्रत्योहन्) उन इन्द्रियों के भोग के लिये पशु दिये गये अर्थात् पशुषोऽति भोग के लिये हैं अथवा देव=विद्वान् और पशु=छन्द । इस शब्द के ऊपर कुछ विशेष वक्तव्य है । प्रवरणानुसृत अर्थ गौ महिष, सिंह, व्याघ्रादिक हैं, परन्तु देवताओं के प्रकाश में इसका अन्य अर्थ भी होता । इसमें सन ब्राह्मणमन्त्रों के प्रमाण हैं । शतपथ (वे) निश्चय ही (देवानाम्) देवताओं का (पशानः) पशु (छन्दामि) छन्द है (तद्+यया) और जैसे (इदम्) ये (पशानः) गौ, माह्व, अज आदि पशु (युक्ताः) हल शकट आदि में युक्त होने पर (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों के हित के लिये (वहन्ति) वहते हैं (एवम्) इसी प्रकार (छन्दामि) छन्द=वेद=समारम्भान (युक्तानि) जन कर्म या कार्य में प्रयुक्त होते हैं तत्र (देवेभ्यः) देवों अथान् विद्वाना को (यज्ञम्) कर्मजनित विविध इन्द्रियों को पहुँचाते हैं (तद्+यया) उस हेतु (छन्दामि) वेदों ने (देवान्) देवों को (समतर्पयन्) अच्छे प्रकार तृप्त किया । (अथ) और (देवाः) देवों ने (छन्दामि) वेदों को (समतर्पयन्) तृप्त किया । इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को तृप्त करनेहारे हुए । इसी हेतु ये छन्द (वेद) ही देवों के पशु हैं । यहाँ पर एक शङ्का यह होगी कि 'देव' और 'मनुष्य' ये दोनों पदों के आने से ये भिन्न प्रतीत होते हैं ।

समाधान—द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यञ्चैवानृतञ्च सत्यमेव देवाः । अनृत मनुष्याः । इदमहमनृतात्मस्यमुत्तमं ति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ शत० १ । १ । ४ ॥

इस जगत् में दो वस्तु हैं तोमरी नहीं । सत्य और असत्य (अनृत) सत्य वो देव हैं और असत्य मनुष्य हैं वे मनुष्य जब असत्य से पृथक् हो सत्य को ही धारण करते हैं । वे ही तब मनुष्य से देव होत हैं । भाव यह है कि जब मनुष्य

की गति सत्य की ओर होती है अत्येक वस्तु की सत्यता को समझना आरम्भ करता है तब उसी मनुष्य की सज्ञा देव होना आरम्भ होता है जब पूर्ण सत्यता आ जाती है तब वह पूर्ण देव बन जाता है । जैसे जिस समय से व्याकरण पढ़ना आरम्भ करता है उसी समय से 'वैयाकरण' सज्ञा उसे मिल जाती है परन्तु व्याकरण पूर्ण होने पर ही पूर्ण वैयाकरण कहलाता है ।

सर्वदेवग्रन्थम्—यह ससार सब विज्ञानी पुरुषों का हित करने वाला है क्योंकि इसका जानकर ईश्वर की महिमा को जानते हैं तदनन्तर मुक्तिभागी होते हैं ।
प्रोक्षितम्—प्र+गच्छेत् । “उक्ष सेचनं” उक्ष=सींचना । जो अच्छे प्रकार सिक्त (सींचा हुआ) हो उसे ‘प्रोक्षित’ कहते हैं अर्थात् यह ससाररूप बाटिका साक्षात् ईश्वर से ही लगाया हुआ है ।
प्राजा रत्यम्—प्रजा+पति । प्रजाओं का भरण पोषण करनेवाला ईश्वर ही है, उसका यह जगत् सत्तान के समान है अतः इसको ‘प्राजा-पत्य’ कहते हैं ॥ ७ ॥ (क)

एष ह वा अश्वमेधो य एष तपाति तस्य संवत्सर आ-
 त्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आदमानस्तावेतावर्काश्चमेधौ ।
 सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युञ्जयति नैनं
 मृत्युरामोति मृत्युरस्याऽऽत्मा भवत्येतासां देवतानामेको
 भवति ॥ ७ ॥ (ख)

अनुवाद—यही अश्वमेध है जो यह (ससार) तप्त हो रहा है अर्थात् यह ससार ही अश्वमेध है । उसका एक प्रलय शरीर है । यह सब का जो नेता है वही अर्क है । उसके ये लोक प्रयत्नस्वरूप हैं वा शरीर हैं । जो यह मृत्यु (पर-
 मेध्वर) है वही एक प्रधान देवता है । जो विज्ञानी उपासक इस प्रकार जानता है वह मृत्यु (भरण) को अच्छे प्रकार जीतलेता, इसको मृत्यु नहीं प्राप्त होता, मृत्यु इसका शरीर समान हो जाता । यह इन धृतिव्यादि देवताओं वा विद्वानों के मध्य प्रधान होता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—अश्वमेध शब्द का अर्थ यहां प्रसंगवश स्वयं कर देते हैं जिससे लोगों को भ्रम न हो (एषः+नवे) यही (अश्वमेधः) अश्वमेध है (य +एषः+

तपति) जो यह तप्त हो रहा है । ईश्वर की परम महिमा से यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तप्त अर्थात् ऐश्वर्यवन् हो रहा है इसी का नाम अश्वमेध है अन्य कोई अश्वमेध नहीं । 'तप ऐश्वर्ये' ऐश्वर्य अर्थ में तप धातु है (तप्त्य) उस अश्वमेध नामधारी ससार का (सन्वत्सरः) एक २ प्रलय (आत्मा) शरीर है । एक प्रलय तक ही यह ससार रहता है इस हेतु मानो यही इसका शरीर है जैसे हम लोगों का शरीर मानो दशवर्ष है क्योंकि उतने ही काल यह शरीर रहता, इसी प्रकार एक प्रलय मानो इस ससार का शरीर है (अयम्+अग्निः) ससारत्वे स्वमहिमा से प्रत्यक्ष-वत् भासमान और सका अमरी (आगे २ चलनेहार) जो ईश्वर है वही (अर्कः) अर्क है मूर्त्यादिक अर्क नहीं । इस प्रकरण में अर्क शब्द से ईश्वर का ही प्रहण है अन्य का नहीं इस हेतु यह वर्णन किया गया है ईश्वर को अर्क क्यों कहते हैं ? सका वह पूज्य है इस हेतु, यद्वा क=ब्रह्माण्ड उसको जो आदर करे । पूर्व में दिखलाया गया है कि ईश्वर इन ब्रह्माण्ड को बहुत आदर करता है । अथवा ब्रह्माण्ड ही पूजा करनेहारा है जिसको, इत्यादि कारण से ईश्वर का नाम अर्क है (तस्य) उस अर्कवाच्य परमात्मा के (इमे+जोवा.) पृथिवी आदि ये लोक (आत्मानः) प्रयत्न हैं अर्थात् ये जो कुछ पृथिवी आदि लोक हरय हैं वे ईश्वर के प्रयत्न कहलाते हैं क्योंकि उनके प्रयत्न से हुए हैं (तो+एतौ+अर्क-श्वमेधौ) वे ये दोनों अर्क=ईश्वर, अश्वमेध=ससार । जानने योग्य हैं । आगे दिखलाते हैं कि इस ससार में एक ईश्वर ही उपास्यदेव है (मृत्यु.+एव) जो मृत्युपद वाच्य ईश्वर है (सा+एव+पुनः) वही (एका+देवता) एक=प्रधान उपास्यदेव है अन्य नहीं है । आगे फल कहते हैं—जो विज्ञानी उपासक इस मृत्यु को और इस मृत्यु के क्षेत्र को जानता है वह (मृत्युम्+पुनः) इस मृत्यु (मरण) को (अपजयति) जीत लेता है (एनम्) इस विज्ञानी को (मृत्यु,) मरण (न+आप्नोति) नहीं प्राप्त होता है (अस्य) इस तत्त्ववित् पुरुष का (मृत्युः+आत्मा) मृत्यु शरीर होता है वह (एतासाम्+देवतानाम्) इन पृथिवी आदि देवों के मध्य अथवा विद्वानों के मध्य (एकः) प्रधान (भवति) होता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अश्वमेधशब्दस्यार्थं स्वयमेववञ्चि-हवै निरचयार्थको । एपोऽश्वमेधो य एपस्तपति । कस्तपति ? सम्पूर्णोऽयं संसारः । ईश्वरपरममहिम्नायं परमैश्वर्यवान् भरति । "तप ऐश्वर्ये च" । छन्दसि सर्वे विधयो वैकल्पिकाः । तस्य संसारस्य ।

सम्बत्सर एकप्रलयावधिःकालः । आत्मा शरीरम्, तावत्कालस्थितिमत्त्वादि-
त्यर्थः । अस्य जीवात्मनः शतवर्षशरीरवत् । संसाररूपस्त्रमाहिम्ना प्रत्यक्षवद्
भासमान अग्निरप्रणीः सर्वेषां नेता योऽसौ परमात्मास्ति स एवार्कः, अर्कपद-
वाच्यः । अर्चनहेतुत्वादर्कः पूज्यः, कं ब्रह्माण्डं योऽर्चति सोऽर्को वा । अर्क=अ-
र्चयितुं कं ब्रह्माण्डं यस्य वा । यं परमात्मानं सम्पूर्णं ब्रह्माण्डमर्चयति ।
सूर्यादिनिवृत्त्यर्थेयमुक्तिः । अस्मिन् प्रकल्पेऽर्कशब्देनेश्वर एव ब्राह्मो नान्यः ।
तस्यार्कवाच्यस्य परमेश्वरस्य इमे लोका भूरादयः । आत्मानः प्रयत्नस्वरूपाः ।
तौ एतौ अर्कारवमेधौ वेदितव्यौ । ईश्वर एवास्मिन्नुपास्य इति विस्पष्टयति-यः
खलु मृत्युः परमेश्वरोऽस्ति । सैव पुनः एका मुख्यः देवता भवति नान्येत्यर्थः ।
मृत्युपदवाच्या एकैव देवताऽस्माकमाराध्या । फलमाह-यो वा उपासको मृत्युं
मृत्युचेत्रञ्च वेद स पुनः मृत्युं मरणमपजयति । अपेत्यस्य व्यवहितेन जयतिना
सम्बन्धः । पुनरिदमेव द्रढयति । एनमुपासकम् । मृत्युर्मरणम् । नैवाऽऽप्नोति ।
मृत्युरस्याऽऽत्मा भवति । एतासां पृथिव्यादीनां देवतानां मध्ये । एकः प्रधानो
भवति अथवा विदुषां मध्ये एको भवति ॥ ७ ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

ईश्वरेण मृत्युनेयं विमृष्टिः परिश्रमेण विज्ञानेन च प्रकटीकृता महाद्भुतम् ।
अस्यां सर्वः सर्वं स्वादितुं धावति, सबलो दुर्बलं हन्ति । मनुष्यवर्जं नात्र विवेकः
क्वापि लभ्यते । इहापि सत्यधिके बले कः खलु विवेकी विरमति परधनहर-
णाद् । येन केनापि प्रकारेण सर्वः सर्वस्य स्वं जिहीर्षति । इतरेतरं स्वायत्ती-
कर्तुं जगच्चेष्टमानं दृश्यते । अतोऽयं समारः सांयुगीनः कृत इति मन्ये । अहो,
साम्प्रदायिकपारायणता केवलस्वार्थोत्थापिताऽज्ञानप्रचुरा महामहोदरी श्रनादि-
कालप्रवृत्ता शाश्वती सर्वदेव जाज्वल्यमाना । अस्याः कदाचिदपि समुच्छ्वसि-

मैविष्यतीत्यपि मम्मामयितुमशक्या । मृत्युना कृतेय मृष्टिमितेतरस्याः प्राणा
 नेवाऽऽहर्तुं सर्वदा सन्नद्धा । न तस्या आपनेः कस्यापि त्राणम् । एतन्मुखे सर्वोऽपि
 निपतिनोऽस्ति । एतन्मृत्युमुन्निपातात्महाभयङ्करादतलस्पर्शविरहितान्महा-
 न्धतममाग्नीर्णाद् यथात्मानं रक्षितुमीहमे । तर्हीतरोमृत्युरेवाश्रयितव्यः । येनेय
 मक्राशीकृताऽसंख्येष्वृथिव्यादिलोकभृंस्तला । निसर्गत एव मनुष्यस्त्रभावोऽप्रो-
 गाभी । ईश्वरसंनिध्यमपि न कपटेन नाऽऽगच्छति । केचित्सु केवल कैतव-
 मेवविधातुं धर्मचिह्नानि गृहीत्वा ईश्वरमक्रिभाजनमात्मानं दर्शयन्ति । अथो
 धर्मनाम्ना परःशता व्याजाः स्तब्धन्दं निष्कण्टकं राज्यं भुञ्जन्ति । बहवो धाद्यतः
 साधवः । अभ्यन्तरतः कपटमिच्छवः । ईदृशां निपातः कदाचिदपि भवत्येष ।
 निश्चलमात्रेण य ईश्वरमुपनिष्ठेते स कल्याणमागं स पुनर्देवत्वं प्राप्नोति । अय-
 मेवाश्रयस्तुनीयब्राह्मणस्य । इदं ब्राह्मणमन्य न्यपि बहूनि वस्तूनि शिञ्जेते ।
 अस्माकं शरीर एव मित्राण्यमित्रा निवसन्ति । अहरहः पश्यामः—कदाचित् शुभे
 कर्मणि प्रवर्तामहे कदाचिदशुभे । कः प्रवर्तयति ? स्वमाशङ्कते कः प्रवर्तयिता ।
 स द्विधास्ति विवेक्यविवेकी च । वेदादिशास्त्राभ्य सज्जनितो विवेकी स्यमानः
 स इह देवशब्देनोच्यते दिव्यकल्याणकरगुणविशिष्टत्वात् । अविमृश्यकारीतरः
 स इहासुरशब्देन व्यवह्रियते अमङ्गलकारिगुणवत्त्वाद् अन्येषामसुहरणप्रवृत्ति-
 रत्तत्वाच्च । इमौ द्वौ स्वमाश्रयिन्द्रियाणां वर्तेते । तानि चेन्द्रियाणि तु जीवात्मनः
 संयोगादेव स्वस्वविषय ग्राहकाणि भवन्ति । अत एते जीवत्वनः सन्ताना
 निगद्यन्ते । जीवात्मा प्रजापतिशब्देनोच्यते प्रजानामिन्द्रियाणां पोषकत्वात् ।
 इमा द्विविधा इन्द्रियवृत्तय इत्येतरविषयानपहर्तुं प्रतिकूलं यतन्ते । अयमेव
 सर्वानुभूयमानोऽनादिकालप्रवृत्तो देवासुरमग्रामः । अयं संप्रामो विनाशवि-
 तव्यः । यदाऽऽसुरी प्रवृत्तिर्वर्द्धते तदा महती हानिः । दैवी तु शान्तिप्रदानाय
 जगत्तः । इमाभासुरीं प्रवृत्तिमिन्द्रियाणां दूरीकर्तुं छलादिष्ववशरान् हित्वा पर-
 मात्मा सन्निधातव्यः ॥

मृत्युवाच्य ईश्वर ने इन विविध मृष्टियों को परिश्रम और विज्ञान के साथ
 महाद्भुत प्रकट किया है । सब सबको खाने के लिये दौड़ रहा है । बलवान् दुर्बल
 को मार रहा है, मनुष्य को छोड़ यहाँ कहीं भी बिबेक नहीं देखते इस समुदाय में
 भी अधिक बल रहने पर बोन विवेकी परधनहरण से बिराम होता है । जिस

किसी उपाय से सब सबके धन को हरण करना चाहता है, परस्पर एक दूसरे को अपने अधीन करने के लिये जगत् चेष्टमान दीखता है । इससे विदित होता है कि यह सत्सार महायुद्ध का स्थल बनाया गया है । अहो, किस प्रकार की युद्धपरायणता दीख पड़ती है । जो केवल स्वार्थ से उत्थापित है, जिसमें अज्ञान बहुत है, जिसका उदर बहुत ही बड़ा है, जो अनादि काल से चली आती है, सर्वदा एक एस में रहनेहारी है, सर्वदा महाप्रलय की ज्वाला के समान जाज्वल्यमान हो रही है । इस युद्ध-परायणता का कर्म कदापि भी विनाश होगा ? ऐसी संभावना भी जिसके विषय में नहीं हो सकती । मृत्यु की सृष्टि को मृत्यु ही बारम्बार स्मरण आता है । एक दूसरे के प्राणहरण में यह सृष्टि सन्नद्ध है, इस आपत्ति से किसी का ध्यान नहीं, क्योंकि इसके मुख में सब ही गिरा हुआ है । महाभयङ्कर तलस्पर्शविरहित, महान्वकार से परिपूर्ण जो यह मृत्यु-मुख में निपात अर्थात् गिरना है उससे यदि अपने आत्मा को बचाना चाहते हो तो ईश्वररूप मृत्यु के आश्रय में आओ । जिसने असंख्येय पृथिव्याणि लोकरूप गृहलला को प्रकाशित किया है । स्वभाव से ही मनुष्य का स्वभाव अधोगामी है क्योंकि ईश्वर के निकट भी लोग कपट से आते हैं । कोई तो केवल कपट करने के लिये ही धर्मचिह्न ग्रहण करके अपने को ईश्वरभक्त प्रकट करते हैं । कैमे आश्चर्य की बात है सैकड़ों धूर्तताप स्वच्छन्द निष्कण्टक राज्य भोग रही हैं । बहुत लोग बाहर से साधु और अभ्यन्तर से कपटभिन्नु बने हुए हैं । इसमें सन्देह नहीं कि ऐसों का निपात अवश्य कभी न कभी होगा । निश्चल भाव से जो ईश्वर के निकट उपस्थित होता वही कल्याण-भागी होता है । यही तृतीय ब्राह्मण का आशय है । यह ब्राह्मण अन्य भी बहुत वस्तुओं की शिक्षा देता है । हम लोगों के शरीर में मित्र और अमित्र दोनों हैं । रात्रिनिद्रा देखते हैं कि कभी हम लोगों की प्रवृत्ति शुभ कर्मों में होती और कभी अशुभ में । कौन प्रवृत्ति करानेहारा है ? स्वभाव को छोड़ दूसरा कौन प्रवर्तयिता हो सकता । वह स्वभाव दो प्रकार के हैं एक विवेकी दूसरा अविवेकी । वेदादिशास्त्राभ्यास-जनित स्वभाव को विवेकी कहते हैं । इस विवेकी स्वभाव को यहां “ देव ” कहते हैं क्योंकि इसमें दिव्य और कल्याणकर गुण रहते हैं । बिना विचार से जो करता है उसको अविवेकी स्वभाव कहते हैं । इसका यहां “ असुर ” शब्द से व्य-
वहार होता है क्योंकि इसमें अमङ्गलकारी गुण हैं और दूसरों के प्राणहरण करने

की प्रवृत्ति में मदा रत रहता है, ये दोनों ही इन्द्रियों के स्वभाव हैं । वे इन्द्रिय जीवात्मा के संयोग से ही स्व स्व विषय के प्राहक होते हैं इस हेतु ये जीवात्मा के सन्तान कहलाते हैं । जीवात्मा को यहा "प्रजापति" कहते हैं क्योंकि यह प्रजाएं जो इन्द्रिय उनको पोषण करता है । ये जो दो प्रकार की इन्द्रिय-प्रवृत्तियां हैं वे परस्पर एक दूसरों के विषयों को हरण करने के लिये यत्न कर रही हैं । यही प्रतिशरीर में सब से अनुभूयमान अनादि काल से प्रवृत्त "देवासुरसंग्राम" है । इस संग्राम को विनाश करना चाहिये क्योंकि जब २ आसुरी प्रवृत्ति घटती है तब २ बड़ी हानि होती और दैवीप्रवृत्ति जगत् को शान्तिप्रदान के लिये है । इस आसुरी प्रवृत्ति को दूर करने के लिये ब्रह्मादि व्यापार को छोड़ परमेश्वरही आश्रयितव्य है ॥

इया ह प्रजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव
देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त ते ह देवा ऊचु-
र्हन्ताऽसुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययानेति ॥ १ ॥

अनुवाद—प्रजापति के सन्तान दो प्रकार के हैं । एक देव और दूसरे असुर । उनमें से देव थोड़े अथवा छोटे हैं और असुर बहुत अधया बड़े हैं । वे दोनों इन ब्राह्मणादि स्थावरान्त शरीररूप लोकों की प्राप्ति निमित्त परस्पर एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे । देवों ने परस्पर विचार कर स्थिर किया कि यज्ञ में उद्गीथ की सहायता से असुरों के ऊपर अतिव्रमण करते जायें यदि सत्रकी सम्मति हो । इति (इस प्रकार की एक आर्यायिका बहुत दिनों से चली आरही है यह वार्ता अन्यत्र भी प्रसिद्ध है ऐसा ग्रन्थकार का आशय है) ॥ १ ॥ ‡

पदार्थ—(१) यह आर्यायिका अन्यत्र भी प्रसिद्ध है इसको सूचित करने के लिये " ह " शब्द का प्रयोग है । प्रायः इतिहास और प्रसिद्ध अर्थ में " ह " शब्द के उदाहरण बहुत हैं । देवों और असुरों की आर्यायिका का यहा आरम्भ

‡ देवासुर ह वै यत्र सयेतिरे उभये प्राजापत्याः । तद्धदेवा उद्गीथ-
माजदुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥ छान्दोग्योपनिषद् । अध्याय १ । खण्ड २ ।
प्रपाक १ ॥

है (प्राजापत्याः) प्रजापति=जीवात्मा उनके पुत्र (द्रव्याः) दो प्रकार के हैं (देवा.+च) एक दिव्य गुणवाले देव और दूसरे (असुरा.+च) दुष्ट गुण वाले असुर हैं इन्द्रियों की अच्छी प्रवृत्ति का नाम देव और दुष्ट प्रवृत्ति का नाम असुर है । (ततः) उन देव असुरों में से (देवा.+एव) देव ही अर्थात् इन्द्रियों की अच्छी प्रवृत्तियाँ ही (कानीयसा*) थोड़ी अथवा छोटी हैं (असुरा.) इन्द्रिय की दुष्ट प्रवृत्तिरूप असुरगण (ज्यायमाः) बहुत वा बड़े हैं । (ते) वे दोनों देव और असुर (एषु+स्तोत्रेषु+अस्पर्धन्त) ब्राह्मण के शरीर से लेकर स्थावर शरीर पर्यन्त जो एक २ भोग करने का लोक है उसकी प्राप्ति निमित्त स्पर्धा करने लगे अर्थात् एक दूसरे को विजय करने के लिये उग्रत हुए । उत्पन्नात् मानो देवों ने एक अपनी सभा स्थापित की और उसमें (ते+ह) वे प्रसिद्ध (देवाः) देवगण (ऊर्ध्वः) परस्पर भीमासा करके बोले कि (हन्त) यदि सब की अनुमति हो तो (यज्ञे) ज्योतिष्टोम नाम के यज्ञ में (उद्गीथेन*) उद्गीथ की सहायता

* उद्गीथ-लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत । पृथिवी हिङ्गारः । अग्निः प्रस्तावः । अन्तरिक्षमुद्गीथः । आदित्यः प्रतिहारः । द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥
छान्दो० २ । २ । १ ॥

छान्दोग्योपनिषद् में हिङ्गार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन ये पाँच प्रकार के साम गान कहे गए हैं । ये पाँच विभक्तियाँ कहलाती हैं । इनमें से जब उद्गीथ विभक्ति आती है तो इसको ओम् शब्द से आरम्भ करते हैं । इसमें अधि-कतर ईश्वर की ही प्रार्थना रहती है । यदि उद्गीथ की पूर्णता अच्छे प्रकार हो तो मानो यज्ञ की समाप्ति भी अच्छी होगी । इसी हेतु देवगण विचारते हैं कि प्रबल शत्रुओं के विजयार्थ प्रबलतर आश्रय लेने चाहिये । उद्गीथ से बढ़कर उत्तम आश्रय क्या हो सकता है । इस हेतु अपने शत्रु के विजय के लिये यज्ञसम्बन्धी उद्गीथ की शरण में आये, परन्तु जब तक निःस्वार्थ और निर्दोष होकर ईश्वर की शरण में नहीं आता है तब तक उसका विजय कठिन होता है । यह वार्ता इस उद्गीथ प्रकरण में अच्छे प्रकार दिसलाई जायगी ॥

से (असुरान्) असुरों के ऊपर (अत्ययम्) आक्रमण करें (शते) ऐसा विचार किया ॥ १ ॥

भाष्यम्—द्वया हेति । हेतिशब्द इतिहासद्योतकः । द्वया द्विप्रकाराः । किल । प्राजापत्याः प्रजापतेर्जीवात्मन इन्द्रियाणि सन्तानाः सन्ति । तेन प्रजानामिन्द्रियाणां पतिः प्रजापतिः प्रजापतेरभत्यानि प्राजापत्याः । “दित्यादित्यादित्यपत्युत्तरपदापयः” इति एय प्रत्ययः । जीवात्मप्रज्जलितस्य सति स्वस्वसत्ता-वत्त्वादिन्द्रियाणि जीवात्मनोऽपत्यानि निगद्यन्ते । ते के द्विप्रकारा इत्यत आह—देवा इति । देवाश्चासुराश्च । शास्त्रमननाभ्यामपरिमला ईश्वरीयविभूतिद्योतनात्मिका इन्द्रियप्रवृत्तयो देवाः । अविमृश्यकारिण्योऽज्ञानबहुला अन्येषामसुहरण-रताः स्वार्थैकसाधिका इन्द्रियप्रवृत्तयोऽसुराः । इमे द्विविधाः प्रजापतेः सन्तानाः । ततस्तेषु देवाः कानीयसाः कनीयाम एव कानीयसाः अन्पीयासः । विवेकज-नितप्रवृत्तेरत्यन्तकनीयस्त्वात् । असुरा ज्यायसाः ज्यायांस एव ज्यायसा बहु-तराः । अविवेकप्रवृत्तिबाहुल्यात् । ते देवा असुराश्च । एषु लोकेषु ब्रह्मादिस्था-वरान्तेषु विवेकाविवेकविशिष्टेषु लोकेषु निमित्तभूतेषु सत्सु अस्पर्धन्त स्पर्धां परस्परामिभवेच्छां कृतवन्तः । ब्रह्मादिस्थावरान्तानि गान्धर्वसंख्येयानि इन्द्रि-याणां भोग्यानि शरीराणि सन्ति तान्यस्माकमस्माकं भवन्तु अस्माद्धेतोरुभये प्राजापत्या योद्धारंभरे । ततोऽसुराणां बलाधिक्यमवलोक्य ते ह देवाः क-चित्समवेता भूत्वा परस्परमूचुः । हन्त यदि सर्वेषामग्रसम्भूतिः स्यात्तर्हि यज्ञे सर्वसम्भूत्या प्रारिप्स्यमाने ज्योतिष्टोमाख्ये यज्ञे उद्गीथेनोद्गीयकमभ्रयेण असुरान् अस्माविरुद्धान् दुष्टप्रवृत्तीन् सहोदरानेव अत्ययमातिगच्छाम । दुष्टस्व-भाव विहाय स्व देवस्वभावं प्रतिपद्यामहे इत्युक्त्वन्तः । अयमाशयः—हे भ्रातरः ! कोपि महान् यज्ञः प्रारब्धव्यः । तत्र सर्वगुणसम्पन्नः कोप्युद्गाता नियोजयि-तव्यः । सोऽस्माकं कल्याणं गायति । तेन वयं विजयिनो भविष्यामः । अन्ययाऽस्माकं विपत्ता वर्धिष्यन्ते । स्वयं गृहीत्वाऽस्मान् निष्कासयिष्यन्ति । वित्पत्तौ पत्स्यामः । अतो नोदासीनैर्भाव्यमिदानीम् ॥ १ ॥

भाष्याशयः—प्राजापत्य=प्रजापति शब्द से यहाँ जीवात्मा का ग्रहण है । चक्षु, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रिय जीवात्मा के आश्रय से ही निज २ विषय ग्रहण करने

में समर्थ होते हैं । इस हेतु जीवात्मा के पुत्रवत् होने से ये प्राजापत्य कहलाते हैं । इस बात को एक साधारण पुरुष भी जानता है कि उत्तम और निरुष्ट दो प्रकार के इन्द्रिय गुण हैं वही इन्द्रिय किसी काल में उत्तम और किसी काल में निरुष्ट नीच अधम बन जाता है । जो कुछ जगत् में प्रवृत्ति होता है वह इन्द्रिय की परीक्षा से ही होती है । कृकर्म वा सुकर्म, कुपथ वा सुपथ में लेजानेहारा इन्द्रिय ही है । इस जीवन में देखा गया कि जो प्रथम बहुत कुपथगामी था वह कालान्तर में सुपथगामी हो जाता और जो बड़ा धर्मात्मा था वह कालान्तर में जाकर महापापी बन जाता । इन दोनों मार्गों पर ले जानेवाला कौन है ? इन्द्रिय । अतः मूल में कहा गया है कि प्रजापति के पुत्र इन्द्रियगण दो प्रकार के हैं एक असुर, दूसरे देव, अतः ये दोनों परस्पर “सहोदर भ्राता” हैं आश्चर्य की बात यह है कि सहोदर भ्राता ही परस्पर के विरोधी बन गये और इस प्रकार दोनों उद्धत हुए कि एक दूसरे को जड़मूल से उखाड़ देने को प्रयत्न कर रहे हैं इसी सम्बन्ध को देख श्रियों ने “शत्रुता” का नाम “भ्रातृव्य” रखा है । कानीयसाः उपायसाः—जगत् में यह भी देखते हैं कि दुष्ट मनुष्यों की संख्या अधिक और शिष्टों की न्यून है । क्योंकि विवेकी पुरुष स्वभावतः न्यून होते हैं विवेकोत्पत्ति के लिये वेद शास्त्रों का अभ्ययन, धर्म के अनुष्ठान में परायणता, आप्त पुरुषों के वचन का निरन्तर मनन और एकान्त देश में रहकर बारम्बार पदार्थों को विचारना और जातीय, सामाजिक, वैशिक, राजकीय आदि अनेकविध कुसंस्कारों से पृथक् होना इत्यादि अनेक सामग्री-संभार की परम आवश्यकता होती है । तब कहीं सहस्रों में एक आध विवेकी होता है । और दुष्टता के लिये उतनी सामग्री की आवश्यकता नहीं । इस कार्य के लिये अपेक्षित सामग्रिया भी सुलभ और सर्वत्र प्राप्त हो जाती हैं । इस हेतु असुरों की संख्या अधिक और देवों की संख्या न्यून कही गई ।

लोकेषु—पृथिवीलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक इत्यादि अनेक लोक हैं, परन्तु यहां ब्राह्मण-शरीर से लेकर क्षुद्र से क्षुद्र स्थावर-शरीर पर्यन्त जितने शरीर हैं वे एक २ लोक हैं क्योंकि इन्द्रिय इन ही शरीरों में रहकर अपने भोग को भोगते हैं । असुर और देव इन्द्रिय अपना २ अधिकार जमाना चाहते हैं और इसी हेतु इन दोनों में अनादिकाल से युद्ध होता रहता है । यज्ञे—यहा अन्य ग्रन्थानुसार “ज्योतिष्टोम” यज्ञ माना गया “ज्योतिष्-स्तोम” इन दो शब्दों से “ज्योतिष्टोम” शब्द

वनता है । ज्योतिष्-प्रकारा । स्तोम=स्तोत्र । यज्ञ समूह इत्यादि (स्तोमः स्तोत्रेऽध्वरे वृन्दे, अमरः) “ज्योतिरायुषःस्तोमः” इस सूत्र से “प” होकर “ज्योतिष्टोम” शब्द सिद्ध होता है विवेकरूप जो प्रकाश तत्सम्बन्धी जो यज्ञ उसे “ज्योतिष्टोम” यहा कहा है । विवेकरूप ज्योति के प्रकाश होने से ही तो अज्ञानान्धकाररूप असुरों का नाश हो सकता । अतः यहा “ज्योतिष्टोम” नामक यज्ञ कहा है ॥ १ ॥

ते ह वाचमूचुस्त्वन्न उदगायेति तथेति तेभ्यो वाग्दे-
गायत् । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत् कल्याणं
वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येप्यन्तीति
तमभिवृत्त्य पाप्मनाऽविध्यन्तस यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं
वदति स एव स पाप्मा ॥ २ ॥

अनुवाद—ये देव (साधु इन्द्रिय प्रवृत्तिया) वाग्देवी से प्रार्थना कर बोले
हे वाग्देवते । हम लोगों के हित के लिये आप इस यज्ञ में उद्गात्री बनकर उद्-
गान करें, इति । वाग्देवता ने एवमस्तु कहकर उनके लिये उद्गान करना आरम्भ
किया । जो वाणी में भोग है उस (भोग) को देवों के लिये गान किया और जो
वाग्देवता मंगलविधायक भाषण करती है उसको अपने लिये गाया । ये असुर
जान गये कि इस उद्गाता की सहायता से ये देवगण हम लोगों के ऊपर अतिक्र-
मण (चढ़ाई) करेंगे । इस हेतु वार्ष्णेय उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उस
उद्गाता को पापरूप अस्त्र से वेध दिया । वह यही पाप है जिससे युक्त हो वाणी
जो यह अनुचित भाषण कहती है । वही सो पाप है (अन्य नहीं) ॥ २ ॥

पदार्थ—इस प्रकार मानो सभा में स्थिर करके (तेन) ये देवगण (वा-
चम्) वाग्देवी से प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि हे वाग्देवते । आप से वद कर
उद्गीथ गानेहारी कौन है इस हेतु (नः) हम सब के कल्याण और शत्रुओं के
पराभव के लिये इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में “उद्गात्री” बनकर (त्वम्) आप (उद्-
गाय) उद्गीथ विधि को पूर्ण करें । देवों की इस प्रार्थना को सुनकर वाग्देवी
कहती है कि (तथावदति) एवमस्तु आप लोगों का कार्य करूंगी । इस प्रकार

(वाग्) वाग्देवता देवों की प्रार्थना सुनकर (तेभ्यः) उनके हित के लिये (उ-
दगायन्) उद्गीथ का गान करने लगी । अब आगे वाणी की स्वार्थता और उससे
हानि कहते हैं—(वाचि) वाग्देवता में (यः) जो (भोगः) भोग अर्थात् सुख
विशेष है (तम्) उसको (देवेभ्यः) देवों के हित के लिये (आगायत्) अच्छे
प्रकार गान किया और स्वयं वाग्देवता (यद्+कल्याणम्) जो मंगलविधायक
वचन (वदति) बोलती है (तद्) उसको (आत्मने) अपने लिये गाया, यही
वाग्देवता की स्वार्थता और अपरिशुद्धता का कपटित है । इसके पश्चात् क्या हुआ
सो कहते हैं (ते+विदुः) उन असुरों ने (दुष्ट इन्द्रियप्रवृत्तियों ने) जान लिया
कि ये देव ज्योतिष्टोम यज्ञ रच और इसमें वाग्देवता को उद्गात्री बना हम लोगों
के नारा का उपाय मोच रहे हैं । हे भाई असुरो ! (वै) निश्चय (अनेन+उ-
द्गात्रा) इस वाणीरूप उद्गाता की सहायता से ये देवगण (नः) हम लोगों के
रूपर (अत्येप्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये, स्थिर
हुआ कि इस उद्गाता को नष्ट कर देना ही अच्छा है (तम्) इस हेतु उसे=
वाणीरूप उद्गाता के ऊपर (अभिद्रुत्य) आक्रमण कर (पाप्मना) पापरूप महा
अन्न से (अविभ्यन्) वाग्देवता की छाती पर वेध किया अर्थात् वाग्देवता से स्वा-
र्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया यह कैसे प्रतीत होता है कि वाग्देवता को पाप ने
प्रकट लिया और इस हेतु वह देवों के कार्य को सिद्ध न कर सकी, यह अनुमान
से प्रतीत होता है सो आगे कहते हैं (सः+यः) असुरों से जो पाप वाणी में
फँका गया (स+पाप्मा) मानो सो यह पाप अनुमान से प्रतीत होता है यह कौन
पाप है सो कहते हैं । जिस पाप से युक्त होकर यह वाग्देवता (यद्+एव) जो
ही (इदम्+अप्रतिरूपम्+वदति) यह अनुचित भाषण करती है (सः+यः)
वही (सः+पाप्मा) वह पाप है यदि ऐसा न होता तो वाग्देवता अनुचित भाषण
क्यों करती । इससे मालूम होता है कि असुरों ने अपने ससर्ग से वाणी को पापिष्ट
बना दिया ॥ २ ॥

भाष्यम्—ते ह वाचमिति । कस्मिंश्चिन्महति कार्ये निःस्वार्थो, दीर्घदर्शी,
निखिलगुणसम्पन्नो नायको नियोक्तव्यस्तदैव कार्यसिद्धिः । ज्योतिष्टोमो यज्ञो
देवैः प्रारिप्स्यते । तत्रोद्गीथेनामुरान् जिगीषन्ति । श्रेष्ठमाप्तमुद्गातारमन्तरा न
वत्कर्म सम्पादयितुं शक्यम् । अतः कोप्यद्गाता तादृशो नियोक्तव्य इति हेतोः

प्रथमं देवाः स्वेषां मध्ये सर्वगुणालङ्कृतां वाग्देवीमुद्राङ्गीं कर्तुं गीमांसां चक्रिरे । तस्यां हि स्वामाधिकी गीति शक्तिः । एवं गीमांसित्वा च ते ह देवाः शास्त्रोद्भासितेन्द्रियप्रवृत्तयः । वाचं वाग्देवीम् । प्राप्योचुः । हे वाग्देवि ! त्वमास्मिन् प्रारिप्स्यमाने यज्ञे उद्रात्री भूत्वा उद्गीथकर्मविधिना । नोऽस्माकं कल्याणाय शत्रुपरिभवाय च उद्रायोद्गानं कुरु । यथास्माकं कल्याणं स्यात्तथा त्वमीश्वरं प्रार्थयस्व इति ययं त्वां प्रार्थयामहे । इयं देवैः प्रार्थिता सा वाग्देवी तथेत्युक्त्वा तेभ्यो देवेभ्यो देवहितार्थम् । उद्गायतुद्रातुं प्रारभत । अयाग्रं वाग्देवतायाः स्वार्थित्वं तेन हानिश्च प्रदर्शयते । वाचि वाएयाम् यो भोगः सुखविशेषः तं देवेभ्योऽगायत् । यच्च वाग्देवता कल्याणं शोगनं मङ्गलसाधकं हितकरं वदति यथाशास्त्रं वाणीमाविष्करोति तदात्मने आत्महितार्थं तदगायत् । नहि वाग्देवता सर्वं स्वार्थं परिहाय प्रार्थिनां कल्याणाय गीतवती । अपरिष्कृता ह्यलादिसंश्लिष्टा सत्यासत्योभयपरिवृहीता वाणी न कार्योच्य चमा । अतो न तादृशी वाणी नियोक्तव्या । हानिं दर्शयति-एवं वाग्देवतायाः कल्याणवदनरूपासाधारणविषयाभिप्लवणं रन्ध्रं स्वावसरं प्रतिलभ्य तेऽमुषा बुधेन्द्रियप्रवृत्तयः विदुर्ज्ञातवन्तः । अनेन वाग्देवतारूपेणोद्रात्रा इमे देवाः । नोऽस्मान् अन्येभ्यन्ति अतिक्रमिष्यन्ति अतिक्रम्यचास्मान् स्वाधिकाराभिष्कासयिष्यन्ति । अतः कोऽपि प्रत्युद्यमः कर्तव्य इति विचार्य वाग्देवताया व्यापारञ्च विदित्वा तं वाग्देवतारूपमुद्गातातरम् अभिद्रुम्य चेगेनातिक्रम्य तद्वचि । पाप्मना पापेन महास्त्रेण अविध्यन् तादितवन्तः । तस्यामननुरूपभाषणविरूपं महास्त्रं निचरुनित्यर्थः । कथं ज्ञायते इयं वाणी पाप्मनाऽसुरैस्तादृतास्ति ? असुरप्रक्षिप्तपाप्मविद्वत्त्वादेवेयं सत्यमनृतं च वदति । अनृतभाषणं पापिनो लक्षणम् । एष प्रत्यक्षोऽपि विषयस्तथापि विस्पष्टार्थमाह स यः इति । स यो हि पाप्माऽसुरैर्वाचि निक्षिप्तः । स पाप्माऽनुमानेन प्रत्यक्षो भरति । कोऽसुरैः पाप्मा ? येन संयुक्ता वाग्देवी । यदेव इदमप्रतिरूपमननुरूपमनुचितमनृतमिति याचत् । वदति घर्णानुचारयति । यदेवानृतादि वदति स एव स पाप्मा । येन पाप्मना सा विद्धा । अन्यथा कथं सा मिष्यादि भ्रूयाद् । अतः प्रजास्वननुरूपभाषणं यद्व्यस्यते तेनानुमीयते यदियं वाणी दूषितास्ति । अतोऽनया न कार्यसिद्धिः । एतेनेदमुपदिशति-वाचा परमात्मनो नामधेयमहर्निशं वादुल्लेखेन रटन्, वेदादिशास्त्राणा-

मपि पारायणं प्रत्यहं करोतु, तुलसीरुद्राक्षवैजयन्तीप्रभृतिमालया मन्त्रं साक्षा-
द्वेदमन्त्रम्वा जपतु एवं सर्वाणि वा शुभानि कर्माण्यनुतिष्ठतु । यद्यनृतं वदति,
वायया मिथ्याक्षेपं करोति, स्तुत्यान्निन्दति, निन्त्रान् प्रशंसति, रघोदरपूरणाय
वाग्मिर्मुग्धान् मोहयित्वा वंचयति । इत्येवं विधान्यमंगलानि वाचिकानि
कर्मणि करोति । तदान कदापि स पापेन मुक्तो भवितुमर्हतीति शिञ्चते ॥२॥

भाष्याशय—किसी महान् कार्य में नि.स्वार्थी, दीर्घदर्शी, निखिलगुणसम्पन्न
नायक को नियुक्त करना चाहिये । तब ही कार्यसिद्धि होती है । देव ज्योतिष्टोम
यज्ञ प्रारम्भ कर और उसमें उद्गीथ कर्म के द्वारा असुरों को जीतना चाहते हैं ।
यह कर्म, धेष्ट, आप्त उद्गाता के बिना सम्पादित होना अशक्य है । इस हेतु
कोई वैसा उद्गाता नियुक्त न्य है । अतः प्रथम देवों ने अपने में से सर्वगुणाल-
ङ्कृता वाग्देवी को “उद्गात्री” बनाने के लिये मीमांसा की क्योंकि उसमें गीति
शक्ति स्वाभाविकी है । इस प्रकार की मीमांसा कर वाग्देवी को उद्गात्री बनाया,
परन्तु वाग्देवी अपने सामर्थ्य और स्वभाव की परीक्षा न कर देवों की प्रार्थना पर
उद्गीथ विधि करने लगी । यह में असद् व्यवहार त्यागने पड़ते हैं परन्तु वाग्दे-
वी ने अननुरूप अनुचित भाषण का त्याग नहीं किया अर्थात् मनुष्यों का मिथ्या
अनुचित भाषण करना एक प्रकार से स्वाभाविक धर्म मानो हो गया है । जब
शुभ कर्म में अनुचित भाषण को वाग्देवी ने नहीं त्यागा तो असुरों का विजय
होना ही था । पाप ने आकर इसे दबा लिया । इस प्रकार देवों का कार्य विनष्ट
हो गया ।

शिक्षा—इससे यह शिक्षा देते हैं कि वाणी से परमात्मा के नाम को अहर्निश
कितने ही रटें । वेदादि शास्त्रों का भी पारायण प्रतिदिन कितने ही करें, तुलसी,
रुद्राक्ष, वैजयन्ती आदि माला से मन्त्रों अथवा सा. शास्त्र वेदमन्त्रों का रात दिन कितने
ही जप करते रहें । इस प्रकार सब ही शुभकर्मों का अनुष्ठान भले ही किया करें,
परन्तु यदि वह अनृत बोलता, वाणी से मिथ्या आक्षेप करता, स्तुत्य की निन्दा
और निन्द्य की स्तुति करता, सोदरपूरणार्थ अपने वागाडम्बरों से मुग्ध पुरुषों को
मोहित कर उनकी धिक्कृत करता है । इस प्रकार के अमङ्गल वाचिक कर्मों में रत है
तो वह कदापि पाप से मुक्त नहीं होगा । इस पाप से मुक्त होने के लिये शुभकर्म
के अनुष्ठान के साथ ही मिथ्यादि व्यवहार को त्याग शुद्ध आचरण बनावे ॥२॥

अथ ह प्राणमृचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण
उद्गायः प्राणे भोगस्तन्देवेभ्य आगायद् यत् कल्याणञ्जि-
घ्रति तन्नात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति
तमभिदुत्य पाप्मनाऽविध्यन्तस यः स पाप्मा यदेवेदमप्रातिरू-
पञ्जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥ ३ ॥ ❀

अनुवाद—ये देव (साधु इन्द्रियप्रवृत्तिया) तदनन्तर प्राण देव से बोले
कि हे प्राण देव ! आप हम लोगों के हित के लिये (यज्ञ में उद्गाता बनकर) उद्गीथ
का गान करे । प्राण “तथास्तु” कहकर उनके लिये गान करने लगे । जो प्राणदे-
वता में भोग है उसको तो देवताओं के लिये गया और जो प्राणदेव मंगलविधा-
यक वस्तु को सूघते हैं उसको अपने लिये गान किया । वे असुर जान गये कि
इस उद्गाता की सहायता से ये देवगण, निम्न ही हम लोगों के ऊपर अतिक्र-
मण (चढ़ाई) करेंगे । इस हेतु प्राणदेवस्वरूप उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उसको
पापरूप महाऽस्त्र से वेध दिया सो जो पाप (असुरों ने प्राणदेवता में फेंक दिया)
वही पाप (प्राणदेवता में) है जिससे युक्त होकर यह प्राणदेव अनुचित वस्तु को
सूघते हैं वही पाप है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) वाग्देवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर ये देव-
गण (प्राणम्) प्राणदेव से प्रार्थना करके (उचुः) बोले कि हे प्राणदेव ! इस
यज्ञ में (त्वम्) आप उद्गाता बनकर (उद्गाय) उद्गीथ का गान करें जिससे
हम लोग असुरों से विजयी होवे (इति) यह वचन सुन प्राणदेव बोले कि
(तथा+इति) “तथास्तु” और (तेभ्यः) उनके लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार
गाने लगे । अब आगे प्राणदेव की स्वार्थता और उसमें हानि दिखलाते हैं—(प्राणे)
प्राणत्व प्राणदेव में (यः) जो (भोगः) भोग है (तम्) उसको (देवेभ्यः)
देवों के लिये (आगायन्) अच्छे प्रकार गाया और (यन्+कल्याणम्) जो प्राण-

❀ ते ह नामिक्य प्राणमुद्गीथमुपामाश्रकिरे च ह्यसुराः पाप्मना विविधुस्त्वस्मा-
त्तेनोभय जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना होप विद्धः ॥ द्वा० ७० १ । २ । २॥

देव मंगलविधायक वस्तु (जिघ्रति) सूंचते हैं अर्थात् उसमें विशेष कर मंगल-विधायक शक्ति है (तद्+आत्मने) उसको अपने लिये गाया । यही घ्राणदेव की स्वार्थता और अपरिशुद्धता है । इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे कहते हैं—(ते+विदुः) उन असुरों ने जानलिया कि ये देव घ्राणदेव को ज्योतिष्टोम यह में उद्गाता बनाकर हम लोगों के नाश का उपाय सोच रहे हैं । हे भाई असुरो ! (वै) निश्चय (अनेन+उद्गात्रा) इस घ्राणरूप उद्गाता की सहायता से ये देवघ्राण (नः) हम लोगों के ऊपर (अत्येव्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये, तब स्थिर करके (तम्+अभिदुत्य) उस उद्गाता के ऊपर आक्रमण करके (पाप्मना) पापरूप महाऽस्त्र से (आविध्यन्) उसको घेध दिया अर्थात् घ्राणदेव में भी स्वार्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया । वह कौन पाप है सो कहते हैं (सः+यः) सो जो पाप इसमें प्रविष्ट हुआ (सः) वह यही (पाप्मा) पाप है (यद्+एव) जिससे युक्त होकर यह देव (इदम्+अप्रतिरूपम्) इस अनुचित दुर्गन्धि को (जिघ्रति) सूंचता है (सः+एव) वही (स.+पाप्मा) वह असुर-संसर्गजनित पाप है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथहेति । वाग्देवतायाः पापमेसर्गविज्ञानात्तेन च कार्य-क्षतेरनन्तरम् । ते ह देवाः । घ्राणं घ्राणस्थघ्राणं वायु घ्राणदेवतामित्यर्थः । प्राध्योञ्जुरित्यादि पूर्ववत् । सा च घ्राणदेवता कन्याण जिघ्रति । येन सुगन्धिना सर्वेषां देवानां कल्याणं भवेत् । तदात्मने साऽपापत् । अप्रतिरूपमनन्तरूपं स्वासदृशमित्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । केचन नामाग्रे परमात्मानं ध्यायन्ति तेनैव कल्याणं मन्यन्ते । केचन घ्राणाग्रे स्वावित्रिसङ्कल्पमाहात्म्येन दिव्यान् गन्धान् जिघ्राम इति जानन्ति केचन शतक्रोगस्थितानामपि कुसुमादीनामामोदमनुभवाम इत्यादिसिद्धिं प्रदर्शयन्ति । तत्तर्कं मिथ्या वेदितव्यम् । दुर्जन-वोपन्यायेन स्वीकृतायामपि तत्तद्घ्राणसिद्धावगमने घ्राणदेवतावत् तेषामधः-पतनं पापसंसर्गादित्यनुशास्ति ॥ ३ ॥

भाष्याशय—कौई नासाग्रे के ऊपर परमात्मा का ध्यान करता है, 'उमी'मे कन्याए मानता है । कौई घ्राण के अग्र के ऊपर अपनी भूर्गता के सङ्कल्प के माहात्म्य से दिव्य गन्धों को सूंचते हैं अतः हम निन्द हैं ऐसा जानते हैं । कौई शत-

क्रोश स्थित भी कुसुमादियों के आमोद को अनुनय करते हैं इत्यादि नासिकासम्बन्धी सिद्धि दिखलाते हैं, परन्तु इस सबको मिथ्या जानना चाहिये । “दुर्जनतोष” न्याय से तत्तत् प्राणसम्बन्धी सिद्धि स्वीकार भी करली जाय तब भी अन्त में पाप के संसर्ग से इनका अधःपतन होता है । यह शिक्षा हमसे मिलती है ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षु रूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरु-
दगायत् । यच्चक्षुपि भोगस्तन्देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं
पश्यति तदात्मने । ते विदुरनेन वे न उद्गात्राऽत्येप्यन्तीति
तमभिदुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त यः स पाप्मा यदेवेदमप्रति-
रूपम्पश्यति स एव स पाप्मा ॥ ४ ॥ ❀

अनुवाद—ये देव (साधु-इन्द्रिय-प्रवृत्तिया) तदनन्तर चक्षुदेव से बोलें कि हे चक्षुदेव ! आप हम लोगों के हित के लिये (यज्ञ में उद्गाता बनकर) उद्गीथ का गान करें (इति) चक्षुदेव “तथास्तु” कहकर उनके लिये गान करने लगे । जो चक्षुदेव में भोग है उसको तो देवताओं के लिये और जो चक्षुदेव मगलवि-
धायक वस्तु को देखने हैं उसको अपने लिये गान किया । ये असुर जान गये कि इस उद्गाता की सहायता से ये देवगण निश्चय ही हम लोगों के ऊपर अतिक्रमण (चढ़ाई) करेंगे । इस हेतु चक्षुदेवस्वरूप उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उसको पापरूप महाऽक्ष से वेध दिया । सो जो पाप (असुरों ने प्राणदेवता में फँक दिया) वही पाप (प्राण देवता में) है जिसमें युक्त होकर यह प्राणदेव अनुचित वस्तु को सूचता है वही यह पाप है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) प्राणदेवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर ये देव-
गण (चक्षु) चक्षुदेव से प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि हे चक्षुदेव ! इस यज्ञ में (त्वम्) आप उद्गाता बनकर (उद्गाय) उद्गीथ का गान करें जिससे हम लोग असुरों के विजयी होवें (इति) यह वचन सुन चक्षुदेव बोले कि (तथा+

❀ अथ चक्षुरुद्गीथमुपासात्क्रिरे तद्वासुरा* पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभय
पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना होतद्विद्वम् ॥ आ० व० १ । २ । ४ ॥

इति) “कथास्तु” और (तेभ्यः) उनके लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गाने लगे । अब आगे चक्षुदेव की स्वार्थता और उससे हानि दिखलाते हैं—(चक्षुपि) चक्षुदेव में (यः) जो (भोगः) भोग है (तम्) उस को (देवेभ्यः) देवों के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गाया और (यत्+कल्याणम्) जो चक्षुदेव मङ्गलविधायक वस्तु (पश्यति) देखते हैं अर्थात् जो उसमें विशेष कर मङ्गलविधायक शक्ति है (तद्+आत्मने) उसको अपने लिये गाया । यही चक्षुदेव की स्वार्थता और अपरिशुद्धता है । इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे कहते हैं—(ते+विदुः) उन असुरों ने जान लिया कि ये देव चक्षुदेव की ज्योतिष्टोम यज्ञ में उदगाता बनाकर हम लोगों के नारा का उपाय सोच रहे हैं, हे भाई असुरो ! (वै) निश्चय (अनेन+उदगात्रा) इस चक्षुरूप उदगाता की सहायता से ये देवगण (न,) हम लोगों के ऊपर (अयेप्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये, तत्र स्थिर करके (तम्+अभिद्रुत्य) उस उदगाता के ऊपर आक्रमण करके (पाप्मना) पापरूप महाअस्त्र से (अविध्यन्) उसको बेर दिया अर्थात् चक्षुदेव में भी स्वार्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया । यह कौन पाप है सो कहते हैं—(सः+यः) सो जो पाप इसमें प्रविष्ट हुआ (सः) वह यही (पाप्मा) पाप है (यद्+एव) जिससे युक्त होकर यह देव (इदम्+अप्रतिरूपम्) इस अनुचित वस्तु को (पश्यति) देखता है (सः+एव) यही (सः+पाप्मा) वह असुर-ससर्गजनित पाप है ॥ ४ ॥

माप्यम्—अयहेति । घ्राणेन्द्रियस्य स्वार्थतामशुद्धिञ्च विज्ञाय ते ह देवाः । चक्षुर्देवतामृचुरिरयादिसमानम् । केचन शारीरिकदिद्यानभिज्ञाश्चक्षुपि कृष्णतारकामेव सर्वफलप्रदमुपास्यदेवं मत्वा ध्यायन्ति । केचन भगवतो विश्वोदरस्य दारुमर्यां स्वर्णमयीम्वा मृण्मयीम्वा चित्रार्पिताम्वा मूर्तिं कृत्वा तामेव प्रतिक्षणं चक्षुषा पश्यन्त आत्मानं कृतकृत्यं मन्यन्ते । एतेन सर्वचक्षुःसिद्धयो निषिद्धयन्ते चक्षुष्यप्सामुरदैवमागौ वर्तेते । यावदामुरभावो न निःसरेत् तावत्केवलानावलोकनेन न किमपि फलं सेत्स्यतीति बोद्धव्यम् ॥ ४ ॥

माप्याशय—कोई शारीरिक विद्या के न जाननेहारे नेत्रगत कृष्णतारका को ही कोई अद्भुतदेवी समझ अथवा नेत्रगत द्याया पुरुष को ही सर्वफलप्रद उपास्य

देव मान ध्यान करते हैं । कोई विश्वोदर भगवान् की मूर्ति दाऊमयी वा स्वर्णमयी वा मृण्मयी बनाकर वा चित्र में लिखकर उसी को प्रतिक्षण देखते हुए अपने को कृतकृत्य समझते हैं । सहस्रो मोश स्थित वस्तुओं को देखने का व्याज करना, इत्यादि नयन सम्बन्धी जितनी सिद्धियाँ मानी जाती हैं, उस सबका निषेध करते हैं । नेत्र में भी आसुर और दैतभाव है । जबतक आसुरभाव न निकलजाय तब तब केवल अधलोकन से कुछ फल नहीं सिद्ध हो सकता, ऐसा जानना चाहिये॥४॥

अथ ह श्रोत्र मूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्र-
मुदगायद् यः श्रोत्रे भोगस्तन्देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं शृ-
णोति तदात्मने । ते विदुरन्नेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति
तमभिदुत्य पाप्मनाऽविष्यन्त स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रति-
रूपं शृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५ ॥ ✽

अनुवाद—हे देव (माघु इन्द्रिय प्रवृत्तियाँ) तदनन्तर श्रोत्रदेव से बोले कि हे श्रोत्रदेव ! आप हम लोगों के हित के लिये (यज्ञ में उद्गाता बनकर) उद्गीथ का गान करें । श्रोत्रदेव “तथास्तु” कहकर उनके लिये गान करने लगे । जो श्रोत्र-देव में भोग है उसका तो देवताओं के लिये गाया और जो श्रोत्रदेव मगलविधायक वस्तु को सुनते हैं उससे अपने लिये गान लिया । वे असुर जान गये कि हम उद्गाता की सहायता से (देवगण) निश्चय ही हम लोगों के ऊपर अनिष्टमण (चढ़ाई) करेंगे । इस हेतु श्रोत्रदेवस्वरूप उद्गाता के ऊपर आश्रमण कर उसको पापरूप महाउन्न से वेध दिया । सो जो पाप (असुरों ने श्रोत्रदेवता में फेंक दिया) वही पाप (श्रोत्रदेवता में) है जिससे युक्त होकर श्रोत्रदेव अनुचित वस्तु को सुनते हैं । वही पाप है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) चतु देवता को पाप में बिद्ध होने के अनन्तर वे देव-गण (श्रोत्रम्) श्रोत्रदेव से प्रार्थना करके (उचुः) बोले कि हे श्रोत्रदेव ! इस

✽ अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चरिरे तदामुतः पाप्मना विविधुस्तन्मात्तेनो-
भय शृणोति श्रवणीयञ्चाश्रवणीयञ्च पाप्मना स्वेतद्विद्धम् ॥ छा० उ० १ । २ । ५ ॥

यज्ञ में (त्वम्) आप उद्गाता बनाकर (उद्गाय) उद्गीय का गान करें जिससे हम लोग असुरों से विजयी हों (इति) यह वचन सुन ओन्नदेव बोले कि (तथा + इति) “ तथास्तु ” और (तेभ्यः) उनके लिये (उद्गायन्) अच्छे प्रकार गाने लगे । अब आगे घ्राणदेव की स्वार्थता और उससे हानि दिखलाते हैं— (श्रोत्रे) श्रोत्रदेव में (यः) जो (भोगः) भोग है (तम्) उसको (देवेभ्यः) देवों के लिये (आगायन्) अच्छे प्रकार गाया और (यत् + ग्राह्यम्) जो घ्राणदेव मगलविधायक वस्तु (शृणोति) सुनते हैं अर्थात् जो उसमें मगलविधायक शक्ति है (तद् + आत्मने) उसको अपने लिये गाया । यही श्रोत्रदेव की स्वार्थता और अपरिणुद्धता है । इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे कहते हैं— (ते + विदुः) उन असुरों ने जान लिया कि ये देव श्रोत्रदेव को ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बनाकर हम लोगों के नाश का उपाय सोच रहे हैं हे भाई असुरों ! (वै) निश्चय (अनेन + उद्गात्रा) इस श्रोत्ररूप उद्गाता की सहायता से ये देवगण (नः) हम लोगों के ऊपर (अत्येप्यन्ति + इति) आक्रमण करेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये । सब स्थिर करके (तम् + अभिद्रुत्य) उस उद्गाता के ऊपर आक्रमण करके (पाप्मना) पापरूप महाअस्त्र से (आविध्यन्) उसको बंध दिया अर्थात् श्रोत्रदेव में स्वार्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया । यह कौन पाप है सो कहते हैं (सः + यः) सो जो पाप इसमें प्रविष्ट हुआ (सः) वह यही (पाप्मा) पाप है (यद् + एव) जिससे युक्त होकर यह देव (इदम् + अप्रतिरूपम्) इस अनुचित पदार्थ को (शृणोति) सुनते हैं (स. + एव) वही (सः + पाप्मा) वह असुर-ससर्गजनित पाप है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथहेति । श्रोत्रद्वारापि सन्त्यनेने कुसंस्काराः प्रचलिता विदुषां मध्येऽपि । तस्मिन्नुत्पद्यमानं शब्दमेव परमात्मवाणीं जानन्ति केचन । अत्रत्य-शब्दोपासनमेव महत्कार्यं योगिकर्तव्यं मन्यन्ते । तेन मुञ्जिरपि स्वीक्रियते बालिशैः । अहो जाह्नवं भारतवासिनाम् । एतेन श्रोत्रसिद्धयो निषिद्धाः ॥ ५ ॥

भाष्याशय—श्रोत्र के द्वारा भी बहुत से कुसंस्कार विद्वानों में प्रचलित हैं । इस श्रोत्र में उत्पद्यमान शब्द को ही ईश्वर की वाणी कोई २ जानते हैं । इसके शब्द की उपासना को ही बड़ा कार्य और योगिकर्तव्य मानते हैं । वतिपय अनभिज्ञ

बालक इससे मुक्ति भी मन्ते हैं । अहो भारतवासियों में कैसी जड़ता आ गई है । इससे ओत्रसम्बन्धी सब सिद्धियों को निषेध करते हैं ॥ ५ ॥

अथ ह मन उत्तुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उद्गायद्यो मनसि भोगस्तन्देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं सङ्कल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्तस् यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं सङ्कल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभि रूपास्तृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥ ६ ॥

अनुवाद—ये देव (साधु-इन्द्रिय-प्रवृत्तिया) तदनन्तर मनोदेव से बोले कि हे मनोदेव ! आप हम लोगों के हित के लिये (यज्ञ में उद्गाता बनकर) उद्गीथ का गान करें (इति) मनोदेव “तथास्तु” कहकर उनके लिये गान करने लगे जो मनोदेवता में भोग है उसको तो देवताओं के लिये गाया और जो मनोदेव मंगल-विधायक वस्तु को संकल्प करते हैं, उसको अपने लिये गान किया । वे असुर जान गये कि इस उद्गाता की सहायता से (ये देवगण) निश्चय ही हम लोगों के ऊपर अतिक्रमण (चढ़ाई) करेंगे इस हेतु मनोदेवस्वरूप उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उसको पापरूप महाअच्छ से बेध दिया । सो जो पाप (असुरों ने मनोदेवता में फैक दिया) वही पाप (मनोदेवता में) है जिसमें युक्त होकर यह मनोदेव अनुचित वस्तु को संकल्प करते हैं वही पाप है, निश्चय ये देव सब इस प्रकार पापों से उपसृष्ट हुए (बूझ गये) इस प्रकार इनको पापरूप महाअच्छ में बेध दिया ॥ ६ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) ओत्रदेवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर ये देव-गण (मनः) मनोदेव से प्रार्थना कर (ऊधुः) बोले कि हे मनोदेव ! इस यज्ञ में (त्वम्) आप उद्गाता बनकर (उद्गाय) उद्गीथ का गान करें जिसमें हम लोग असुरों के विजयी होवें (इति) यह वचन सुन मनोदेव बोले कि (तथा+इति) “तथास्तु” और (तेभ्यः) उनके लिये (उद्गायत्) अच्छे प्रकार गाने लगे अब आगे मनोदेव की स्वार्थता और उससे हानि दिखलाते हैं—(मनसि) मनोदेव में (यः)

जो (भोगः) भोग है (तम्) उसको (देवेभ्यः) देवों के लिये (आगीयत्) अच्छे प्रकार गाया और (यन्+कल्याणम्) जो मनोदेव में मंगलविधायक वस्तु (सङ्कल्पयति) संकल्प करते हैं अर्थात् जो उसमें विशेषकर मंगलविधायक शक्ति है (तद्+आत्मने) उसको अपने लिये गाया । यही मनोदेव की स्वार्थता और अपरिगुह्यता है । इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे बहते हैं—(ते+विदुः) उन असुरों ने जान लिया कि ये देव मनोदेव की ज्योतिष्मत् यज्ञ में उद्गाता बनाकर हम लोगों के नारा का उपाय सोच रहे हैं हे माई असुरो ! (वै) निश्चय (अनेन+वद्+गात्रा) इस मनोदेवरूप उद्गाता की सहायता से ये देवगण (नः) हम लोगों के ऊपर (अत्येप्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये । सब स्थिर करके (तम्+अभिद्रुत्य) उस उद्गाता के ऊपर आक्रमण करें—(पाप्मना) पापरूप महाअस्त्र से (अविध्यन्) उसको वेध दिया अर्थात् मनोदेव में भी स्वार्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया । वह कौन पाप है सो कहते हैं—(सः+यः) सो जो पाप इसमें प्रविष्ट हुआ (सः) वह यही (पाप्मा) पाप है (यद्+एव) जिससे युक्त होकर यह देव (इदम्+अप्रतिरूपम्) इस अनुचित वस्तु को (सङ्कल्पयति) सङ्कल्प करते हैं (सः+एव) वही (सः+पाप्मा) वह असुरसंसर्गजनित पाप है (एवम्) इस प्रकार वाग्देवतादिक के समान ही (एताः+देवताः) ये अन्य अनुक्त त्वगादि देवता (पाप्माभिः) निज २ इन्द्रियजन्य पापों से (उपासृजन्) छूट गये (एवम्) इस प्रकार (एनाः) इन त्वचादेवादिकों को भी बागादि देववत् ही (पाप्मना) पापरूप अस्त्र से (अविध्यन्) वेध किया ॥ ६ ॥

माप्पम्—अयहेति । ज्ञानेन्द्रियाणि परीक्षितानि । उभयात्मकं मन इन्द्रियं परीक्षितुमारभते । आप्मेत्यन्तो ग्रन्थ उक्तार्थप्रायः । अन्येष्वप्यवशिष्टेष्विन्द्रिय-
देवेषु कल्याणाकल्याणोभयगुणदर्शनात् पाप्मा क्षिप्त इत्यनुमीयत इत्यत्र आह—
एवमिति । एवमेव वाग्देवतादिवदेव खलु । एता अनुक्तास्त्वगादिदेवता अपि ।
पाप्माभिः पापैः स्वैः स्वरिन्द्रियासङ्गैः । उपासर्जन्मुराः । संसर्गं कृतवन्तः ।
एवमेव बागादिवदेव । एना उक्ताभ्योऽन्यास्त्वगादिदेवताः पाप्मना पापेन
अविध्यन्ताहितवन्तः । इत्थं प्रजापतैः सर्वे सन्तानाः पापविद्धा बभूवुः स्वार्थ-
दोषदूषितत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ हेम मासन्यं प्राणमूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायसे विदुग्नेन वै न उद्गाऽत्रात्येप्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन् स यथाऽश्मानमृत्वाल्लेष्टो विध्वंसतेतैवं ह्येव विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेष्टुस्ततो देवा अभघ्न पराऽसुरा भवत्यात्मना पराऽस्य द्विपन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

अनुवाद—तदनन्तर देव इस आसन्य (मुख्य) प्राण से प्रार्थना कर बोले कि हे आसन्य प्राण ! आप हम लोगों के कल्याण के हेतु “इस यज्ञ में उद्गाता बन” उद्गीथ का गान करें, इति । यह प्राणदेव “तथास्तु” कहकर उनके लिये गान करने लगे । तब उन असुरों ने जान लिया कि इस प्राणरूप उद्गाता से हम लोगों के ऊपर ये देवगण आक्रमण करेंगे । इस हेतु उन असुरों ने उस उद्गाता के ऊपर भी आक्रमण कर पापरूप महाऽस्र से वेध करने की इच्छा की । परन्तु वे असुर नानागति और छिन्न भिन्न हो ऐसे खिन्त हो गये कि जैसे पाशुपिण्ड (धूलि का ढेला) कँके जाने पर प्रस्तर के ऊपर गिर कर चूर्ण २ हो छिन्न भिन्न हो जाता है । तबनन्तर वे देव विजयी हुए और असुरगण परास्त हुए । जो उपासक इसको जानता है वह अपने आत्मा की सहायता से विजयी होता है । और इसका द्वेपी शत्रु परास्त होजाता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(अथ+इ) जब वाग्देवी, प्राणदेव, नेत्रदेव, ओत्रदेव और मनोदेव परास्त हो गये । इनसे देवों का कार्य सिद्ध न हुआ, तब वे सब मिलकर (इमम्) इस (आसन्यम्) मुख के अभ्यन्तर में रहनेवाले (प्राणम्) प्राण से प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले हैं मुख्य प्राणदेव ! (न.) हम लोगों के कल्याण के लिये (त्वम्) आप हम महान् ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बनकर (उद्गाय+इति) गा-इये अर्थान् उद्गीथ विधि को यथाशास्त्र पूर्ण कीजिये, तब हम लोगों का कार्य सिद्ध होगा । देवों की प्रार्थना सुन मुराय प्राणदेव बोले कि (तथा+इति) “एवमस्तु” (एव+प्राण.) यह प्राण “तथास्तु” कहकर (तेभ्यः) उनके लिये (उद्गायत)

गान करने लगे (ते) वे असुरपूर्ववत् (विदुः) जान गये कि (अनेन+उद्गात्रा) इस मुख्य प्राणरूप उद्गाता के आश्रय से (नः) हम लोगों के ऊपर (वै) निश्चय (अत्येप्यन्ति+इति) ये देवगण आक्रमण करेंगे (इति) इस हेतु उन असुरों ने पूर्व अभ्यास के कारण (तम्+अभिदुत्य) उस मुख्य प्राणदेव के ऊपर भी आक्रमण कर (पाप्मना) पापरूप महाऽस्र से (अविव्यत्सन्) चैव करना चाहा, परन्तु (यथा) जैसे (सः) उन दृष्टान्त के समान अर्थान् (लोष्टः) मट्टी का टोला (अश्मानम्+श्रुत्वा) प्रस्तर के ऊपर गिरकर (विध्वंसेत) चूर्ण २ हो जाय (एवम्+इ+एव) वैसे ही वे असुर जब मुख्य प्राणदेव के ऊपर चढ़ गये तब (विश्वञ्चः) नानागति वाले अर्थात् क्षितिर् विधिर और (विध्वंसमानाः) विध्वस्त हो (विनेशुः) नष्ट होगये । (ततः) तब वे देव (अभवन्) विजयी हुए और (असुराः) असुरगण (पराऽभवन्) परास्त हुए। अब आगे इस विज्ञान का फल कहते हैं—(यः) जो उपासक (एवम्+वेद) ऐसा जानता है वह (आत्मना) अपने आत्मा की सहायता से या प्रयत्न से विजयी होता है और (अस्य) इस उपासक के (द्विपन्) द्वेप करनेवाले (भ्रातृव्य) शत्रु (परा+भवति) परास्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

माध्यम्—अयं हेति । यः खलु निरंतरं परानुग्रहे सन्नद्धः स्वार्थमारोद्ध-
हनाऽरिल्लष्टकन्धरः प्रतिष्ठागार्ध्याऽक्लेशितान्तःकरणः । स कल्याणोद्गाता न
क्रदाप्यनवाहितः सन् क्षुत्रमपि कृतं प्रतिहन्ति कुनः सार्वजनीन सामाजिकम् ।
ईदृश एव पुरुषः शुद्धोऽपविद्धो भवति । अतो देवा वाग्देवतादीनामशुद्धिं
पाप्माविद्वत्त्वञ्च विज्ञाय सर्वगुणसम्पन्नं मुख्यं प्राणमुद्गातारं कृतवन्तस्तेन
प्राप्तविजया अभूवन्निति दर्शयितुमुत्तरोग्रन्थ आरम्भते । अधानन्तरम् तं देवा
असिद्धकार्याः सन्तः । आसन्धम् आस्ये मुखे भव आसन्धः मुखोऽन्तर्विलस्यः
तं मुख्यं प्राणम् ऊचुः । त्वन्न उद्गायेत्यादिरत्येष्यन्त्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातार्थः ।
ततस्तेऽसुराः पूर्वाभ्यासवशात् तं मुख्यं प्राणमभिदुत्य पाप्मना पापेन आवि-
व्यत्सन् वेधितुमिच्छां कृतवन्तः । ततस्तेषामसुराणां किं जातमिति सदृष्टान्त-
माह-सयपेति । स प्रमिद्धो दृष्टान्तोऽयमस्ति—यथा येन प्रकारेण लोके
प्रस्तरचूर्णनाय प्रचिप्तो लोष्टः पाश्यापिण्डः । अश्मानं प्रस्तरम् । श्रुत्वा प्राप्य ।
विध्वंसेत स्वयं विध्वस्तश्चूर्णकितौ भवेत् । एवं ह्येव एवमेव । तेऽसुरा मुख्य-

प्राणं प्राप्य विध्वंसमाना विशीर्यमाणा । निध्वञ्चो विविधगतयः सन्तः ।
 विनेशुर्विनष्टाः । ततस्तस्मादसुरविनाशाद् देवत्वप्रतिबन्धकपाप्मभ्यो वियोगात्
 मुख्य प्राणोऽप्यवशात् । देवा वागादयो वक्ष्यमाणस्वस्वरूपेणाऽन्याद्यात्मक-
 स्वेनाभवन् । अमुराः पराभूता अभवन्भित्यनुपगः न पुनः प्रारोह्यति
 यावत् । इत्याऽऽख्यायिकाक्रमेण सज्जमानावस्थमजाणतिरदन्योऽप्याधानकस्त-
 श्प्राप्तिकामोऽप्युपासीतेति सफलामुपासनां विद्वद्वर्ति-भवतीति । एवं ययोः
 वक्ष्यमाणदर्मादिगुणं च प्राण यो वेद जानाति । स ज्ञान्मना आत्मगुणेन
 सम्पन्नः स्वप्रयत्नेन विजयी भवति । अस्योपासकस्य यो द्विपन् द्वेष्टा आनुभ्यः
 शत्रुर्मवति । स शत्रुः पराभवति । लोष्टवद् विध्वस्तो भवतीत्यर्थः । मुख्यै
 प्राणे उद्गातरि सति देवानां विजयस्य असुराणां पराभवस्य किमपि कारणं
 नोद्वम् । तद्वाच्यमस्ति । नाम्नेधतादयोऽप्रतिरूपमाचिरन्त्यतस्तेषु पाप्मवेधनम-
 स्तीत्यनुमानं चेत्तर्हि भक्ष्यामक्ष्य सर्वं भक्षयन् मुख्यः प्राणः कथन्त तादृश
 इति । सत्यम् । अयं तु न किमपि स्वार्थं वहति । यत् किमपि वस्तु खाद्य-
 मखाद्यन्वाऽयमपि तत्सर्वं परोपा कल्याणार्थव । मुखे प्रक्षिप्तमन्नमयं प्राणः
 मुखविलान्तर्गतः सम्यक् स्वादयित्वा गुणमगुणञ्च परीक्ष्य कल्याणं चेन्निग-
 लति । अमङ्गलं चेत्तर्हि उद्गिरति मुखात्प्रक्षिपति । तस्यैवान्नस्य रसेन सर्वा-
 णीन्द्रियाणीतराणि जीवन्ति । मुखे किमपि न तिष्ठति । अयं प्राण इयानुपकारी
 स्वार्थविहीनोऽस्ति यन्नामापि नेच्छति । नास्पेतरेन्द्रियवत्सत्तापि प्रतीयते ।
 दृश्यताम् । यथा-चक्षुरादीनां पृथक् पृथक् नाम स्थानं प्रत्यक्षतया गुणश्च
 दृश्यते । इदं चक्षुः, अयं कर्णः, इयं नासिका, इत्यादि । न तथाऽयं मुख्यः
 प्राण इति व्यपदेशो भवति । न चास्य किमपि पृथक्त्वेन नामधेयमस्ति ।
 परमेनेषां जीवनमस्यैवाधीनम् । ईदृशोऽयं निःस्वार्थः । यः खलु परस्परमङ्ग-
 लस्मिन् जगति परार्थमेवाचरति । तस्य सहायकोऽदृश्यमूर्तिर्यगवान् वर्तते ।
 लोकेऽपि पक्ष्मग्राहिणोमवन्त्यनेके अतो न तस्य विनिपातः । मनुष्यसमाजेषु
 य ईदृशमाचरति । तेनैवैकेन विजयी भवति समाज इति शिष्ये ॥ ७ ॥

भाष्याशय—जो निरन्तर पर के अनुग्रह करने में सज्ज है । जिसकी
 कन्धरा (कान्ध) स्वार्थरूप भार के वहन से पृथक् है । प्रतिष्ठा की खालसा से
 निमका अन्व.करण कोशित नहीं किया गया है । वही कल्याणोद्गाता हो सकता है ।

यह कभी अपने कार्य में अनवहित नहीं होता । और इस हेतु कुछ कार्य को भी नष्ट नहीं होने देता । सावजनीन सामाजिक कार्य की बात ही क्या; ऐसा ही पुरुष शुद्ध और अपापविद्ध होता है । ऐसा देवों में एक मुख्य प्राण ही है, अतएव धाम्देवतादिकों की अशुद्धि और पापविद्धत्व जान सर्वगुणसम्पन्न मुख्य प्राण को उद्गाता बनाया । जिससे वे विजयी हुए इसी को दिखलाने के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं ।

आमन्य—यस्तू १, आस्य २, वदन ३, तुल्य ४, आनन ५, लपन ६, मुख ७, ये सात नाम मुख के हैं । आस्य शब्द से “आसन्य” बनता है अर्थात् मुख में जो होवे उसे “आसन्य” कहते हैं । द्विप्—द्विप् और भ्रातृव्य ये दोनों शब्द शत्रु के अर्थ में हैं यथा—रिषौ वैरि सपत्नानि—द्विपट्द्वेषण दुर्दृढः । द्विद् विपत्ता रितामित्र दस्युशान्नव शन्नवः । (अमर) रिपु १, वैरि २, सपत्न ३, अरि ४, द्विप् ५, द्वेषण ६, दुर्दृढ ७, द्विद् ८, विपत्ता ९, अहित १०, अमित्र ११, दस्यु १२, शान्नव १३, शत्रु १४, इत्यादि शत्रु के अर्थ में आते हैं । इसमें पाणिनि सूत्र भी है—“द्विपो मित्रे ३ । २ । १३१ ॥ द्विप् शत्रुः व्यन् सपत्ने ४ । १ । १४५ ॥ भ्रातृव्येन स्यादपत्ये प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन शत्रौ वाच्ये । भ्रातृव्यः शत्रुः पाप्मना भ्रातृव्येणोत्पत्तौ चारात् ।” इत्यादि प्रमाण से सिद्ध है कि ये दोनों शब्द “शत्रु” अर्थ में आते हैं । अब शङ्का होती है कि तब एकार्यक दो शब्द के पाठ करने की क्या आवश्यकता । उत्तर—“भ्रातृव्यच्च ४ । १ । १४४ ” इस सूत्र के अनुसार भाई के पुत्र के अर्थ में भी “भ्रातृव्य” शब्द आता है । पूर्व में कहा गया है कि “देव और असुर” दोनों भाई हैं । असुरों की जो बुरी चेष्टाएं हैं वे ही मानो असुरों के पुत्र हैं । अतः देवों के ये भ्रातृव्य (भतीजे) हैं उन्हें “द्विप् भ्रातृव्य” कहते हैं । इस शरीर में दोनों इन्द्रियगण परस्पर युद्ध किया करते हैं और यह युद्ध भ्रातृव्यों के साथ है और अनादिकाल से चला आता है इस हेतु “भ्रातृव्य” शब्द का अच्छा अर्थ होने पर भी “शत्रु” अर्थ हो गया । अब जहां आपस की लड़ाई दिखलानी हो वहां “भ्रातृव्य” शब्द का प्रयोग बहुधा होता है ॥

यहां यह शङ्का उपस्थित होती है जब देवों के कल्याण और विजय के लिये मुख्य प्राण उद्गाता हुए तब इनका विजय हुआ और असुरों का पराभव, परन्तु

इसमें कोई कारण नहीं कहा गया कहना उचित था । यदि यह कहो कि वाग्देवता आदि सब ही अप्रतिरूप (अनुचित) आचरण करने में प्रतीत होता है कि ये सब ही पाप से बेधित हैं और इस मुख्य प्राण में कोई अनुचित व्यवहार नहीं देखते हैं सो यह कहना उचित नहीं क्योंकि यह मुख्य प्राण भी तो भक्ष्य अभक्ष्य दोनों के ग्रहण करने से पैदा ही है । फिर मुख्य प्राण को उदगाता देने से देवों का विजय क्यों ? । उत्तर—सत्य है । परन्तु यह मुख्य प्राण अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं रखता जो कुछ खाद्य वा अस्वाद्य यह खाता है वह सब दूसरा के कल्याण के लिये ही है । यह मुख्य प्राण मुख में प्रक्षिप्त अन्न को अच्छे प्रकार स्वाद ले उसके गुण अवगुण की परीक्षा कर यदि वह अन्न कल्याणदायक रहता है तो खा जाता है । यदि वह अमंगलकर रहता है तो उगल देता है । यद्यपि यह सार्वत्रिक नियम नहीं परन्तु प्रायः देखा जाता है । सभी अन्न के रस से सब अन्य इन्द्रिय जीते हैं । मुख में कुछ नहीं रह जाता अर्थात् मुख्य प्राण अपने लिये कुछ भी नहीं रखता । और यह प्राण उतना उपकारी और स्वार्थविहीन है कि जो अपना पृथक् नाम भी नहीं चाहता और न अन्य इन्द्रिय के समान इसकी सत्ता ही प्रतीत होती है । देखो जैसे नेत्र आदि के पृथक् २ नाम हैं और इनके लिये एक २ पृथक् स्थान बने हुए हैं और प्रत्यक्ष में इनकी क्रिया भी प्रतीत होती है । लोक आदि देख कहते हैं कि यह 'नेत्र' है । यह इसका स्थान है । यह कान है । यह नासिका है । इस प्रकार से यह 'मुख्य प्राण' है ऐसा मुख को देखकर कोई भी नहीं कहता है । अर्थात् यह प्राण गुप्त सा है । परन्तु इसीके अधीन इन इन्द्रियों का जीवन है । ऐसा यह नि स्वार्थी है । इस परस्पर भक्षक जगत् में जो केवल परार्थ का ही आचरण करता है । उसका सहायक अक्षरमूर्ति भगवान् होते हैं । लोक में भी अनेक मनुष्य इसके पक्ष को लेने लगते हैं । इस हेतु उमका विनिपात नहीं होता । मनुष्य समान में भी जो ऐसा आचरण करता है । उमी एक से समाज विजयी होता है ऐसी शिक्षा इससे देवे हैं ॥ ७ ॥

ते होचुः क तु सोऽमृदयो न इत्यमसत्केत्ययमाख्येऽ-
न्तरिति सोऽयास्य आक्षिप्तोऽहानां हि रसः ॥ ८ ॥

अनुवाद—वे देव (परस्पर विचारकर) बोले कि वे कहाँ थे जिन्होंने हम लोगों की रक्षा की । वे तो इसी मुख के अभ्यन्तर में रहते हैं । इसी हेतु यह “अयास्य” और “आक्षिरस” कहलाते हैं । क्योंकि अक्षों का ही यह रस है ॥ ८ ॥

पदार्थ—अब आख्यायिका के द्वारा ही प्राण के अनेक गुणों के वर्णन करने के लिये आगे का प्रकरण आरम्भ करते हैं । जब असुर हार गये तब (ते-) वे विजयी देव परस्पर बोले कि (क्व+तु) कहा (स.) वे (अभूत्) थे (यः) जिन्होंने (इत्यम्) इस प्रकार (नः) हम लोगों की (अस्त) रक्षा की अथवा देवत्व को प्राप्त करवाया । जिसकी सहायता से आज हम लोग विजयी हुए हैं । वे हम लोगों के हितकारी और कल्याण गायक कहा रहते हैं ? अभी तक इनको हम लोग नहीं जानते थे । इस पर उनमें से ही कोई कहता है (अयम्) ये (आम्ये-) मुख में जो आकाश है उसके (अन्तः+श्रुति) अभ्यन्तर में निवास करते हैं । तब उन देवों ने उन्हें जाना । अब आगे इस संवाद से किस प्राणसम्बन्धी गुण का वर्णन हुआ सो कहते हैं—जिस हेतु देवों ने कहा कि ये मुख्याभ्यन्तर में रहते हैं इस हेतु (सः+अयास्यः) वह मुख्यप्राण “अयास्य” कहाते हैं और (हि) जिस हेतु (अङ्गानाम्+रसः) सम्पूर्ण अवयवों का रस है अतः (आक्षिरसः) “आक्षिरस” कहलाते हैं । अयास्य=“अयम्+आस्य” ये दोनों पद मिलकर “अयास्य” हो गया । यह आर्पण प्रयोग है । यह “प्राण” “आस्य” मुख में रहता है इस हेतु “अयास्य” । आक्षिरस—अक्षिराक्षपि के पुत्र को भी “आक्षिरस” कहते हैं । परन्तु यहाँ अक्षों को रस पहुचाने के कारण मुख्य प्राण का ही नाम “आक्षिरस” है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—ते हेति । इदानीं पुनरपि आख्यायिकयैव प्राणस्य गुणानुपवर्णयितुं प्रकरणमिदमारभ्यते । पराभूनेष्वसुषे त्वे हि विजयिनो देवाः परस्परमृचुः । तु ननु वितर्के । क कस्मिन् स्थाने सोऽभूत् । यः । नोऽस्मान् । इत्यमनेन प्रकारेण असक्त अरक्षदनेकार्थत्वाद्वातृनाम् । यद्वा असक्त असज्जयते स्वस्वमायं संयोजितवान् देवत्वं प्रापयामासेत्यर्थः । योऽस्मान् रक्षितवान् सोऽद्यावधि कावामीदङ्गत्तः सन् । तेषां मध्ये केऽपि कथयन्ति । अयम् आस्ये मुखे य आकाशस्तस्मिन्नन्तरे सदा तिष्ठति । अनेन सम्वादेन प्राणस्य के

गुणा दर्शिता इत्याह—स इति । ते होचुस्यमास्ये तिष्ठतीति हेतोर्निवासाच्च
अयं प्राणः अयास्यः कथ्यते अयमास्ये वर्तत इत्ययास्य इति व्युत्पत्तिः ।
तथाहि यतः अद्भानां सर्वावयवानां हि रसोऽस्ति । अतएवायमाग्निरसोऽप्या-
ख्यायते ॥ ८ ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूरं ह वा
अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह देवता “दूर” नामवाली है क्योंकि इससे
“मृत्यु” दूर रहता है । जो ऐसा जानता है उस उपासक से भी मृत्यु दूर रहता
है ॥ ९ ॥

वदार्थ—यद्यपि प्राण स्वतः पवित्र और पापरूप मृत्यु से अविद्ध है, तथापि
“संसर्ग से दोष और गुण होते हैं” इन नियम के अनुसार पापविद्ध इन्द्रियों के
संसर्ग में रहनेद्वारा यह मुरख प्राण भी कदाचित् बेसा हो । इस शङ्का के निवारणार्थ
प्राण के पापविद्धत्व को दिखलाते हैं—(वै) निश्चय (सा+एषा+देवता) जिसके
निकट जा अमुर ध्वस्त हो गये और जो मुरख में रहता है सो यह प्राणस्वरूप
परमा देवता (दूर्नाम) “दूर” ऐसा नाम वाली है अर्थात् उसका नाम “दूर” है ।
(हि) जिस हेतु (अस्या.) इस प्राणरूप देवता से (मृत्युः) पापरूप मृत्यु
(दूरम्) दूर रहता है इस हेतु इसका यौगिक नाम ही “दूर” हो गया । आगे
फल कहते हैं (य+एवम्+वेद जो कोई प्राणदेवता को इस प्रकार जानता है
(अस्मात्) उस उपासक से भी (मृत्यु+दूरम्) मृत्यु दूर (भवति) रहता है
✓ (इ+वै) यह निश्चय है ॥ ९ ॥

भाष्यम्—सा वा इति । यद्यपि प्राणः स्वतः पूतः पाप्मना मृत्युनाऽ
विद्धश्च तथापि “संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति” इति नियमेन पापविद्वानामि-
न्द्रियाणां संसर्गादयमपि कदाचिच्चाहम् स्यादिति शङ्का निराकर्तुमस्याविद्वत्त्वं
दर्शयति—असुराः खलु या मृत्वा विष्वक्चो विनेशुर्या चास्ये निवसति । सा
वा एषा प्राणस्वरूपा परमा देवता । दूर्नाम इतित्येवं न्याययामते अस्या “दूर”

इति नाम धेयम् । कथमस्या दूर्नामत्प्रमित्यत आह—दूरं हीति । अस्या देव-
तायाः सकाशात् मृत्युरासङ्गलक्ष्यः पाप्मा । दूरं बहु दूरे वर्तते । न पाप्मा
अस्याः समीपमप्यागन्तुमर्हति । एवगुणविशिष्टप्राणविदः फलमाह—य एवं
वेद । अस्माद् विज्ञानिनः । दूरं दूरे मृत्युः पाप्मलक्षणो भवति । इ वै निपातौ
निश्चयं द्योतयतः । उपासकोऽपि तादृश एव भवतीति निश्चयः ॥ ६ ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य
यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार तदाशां पाप्मनो
विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्व-
वायानीति ॥ १० ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह प्राणस्वरूपा देवता इन देवताओं के पापरूप मृत्यु
को हननकर जहां इन दिशाओं का अन्त है वहां ले गई । और वहां इनके पापों
को स्थापित कर दिया । इस हेतु न जन के निकट और न उस दिशा के अन्त में
किसी को जाना चाहिये ऐसा न हो कि उस ओर जाने से पापरूप मृत्यु को मैं प्राप्त
हो जाऊ, इति ॥ १० ॥

पदार्थ—(सा+यै+एपा+देवता) निश्चय, सो यह प्राणरूपा देवता (एता-
साम्+देवतानाम्) इन इन्द्रियरूप देवताओं के (पाप्मानम्) पापस्वरूप (मृत्युम्)
मृत्यु को (अपहत्य) हनन कर (यत्र) जहां (आसाम्) इन (दिशाम्) दिशाओं
का (अन्तः) अन्त है (तत्) वहां (गमयाञ्चकार) ले गई और (तद्) वहां
ही (आसाम्) इन देवताओं के (पाप्मनः) पापों को (विन्यदधाम्) स्थापित
कर दिया (तस्मान्) उस हेतु (जनम्) उस जन के निकट (न+इयात्) न
जाय और (अन्तम्) उस दिशा के अन्त (न+इयान्) न जाय (नेत्) ऐसा
न हो कि यदि मैं उस ओर जाऊंगा तो (पाप्मानम्+मृत्युम्) पापस्वरूप मृत्यु को
(अन्ववायानि) पालूंगा (इति) ॥ १० ॥

माप्यम्—शुद्धतमोजन इतरानपि शनैः शनैः स्वसंसर्गेण स्वसदृशानेव
कर्तुं चेष्टते । अन्ततः करोत्यपि । इममेवार्थं निशदयति सा वा एषा देवतेति ।

अत्र विवेकोदय-सुसंस्कृत-पवित्रशुद्धजनाध्यासितदेशादतिरिक्तो देशो दिशान्त-
शब्देनोच्यते । यत्र सर्वदा पापिनो निवसन्ति न एव दिशामन्त इत्यर्थः । तत्रापि
दिक्शब्देन दिक्स्थः पुरुष उच्यते । यत्र यस्मिन् देशे । आमां दिशामन्तोऽस्ति
अर्थाच्च पापिष्ठस्तिष्ठति । सा वा एषा देवता प्राणस्वरूपा । एतासां देवतानां
प्राजापत्यानामिन्द्रियस्वरूपाणाम् । पाप्मानं मृत्युम् पापाकृतिं मृत्युम् । अपहृत्य
विनाश्य । तत्तत्र दिशामन्ते तत्संस्थे जने । गमयाञ्चकार स्थापितवती । तत्तत्रैव
दिक्स्थे जने । आसां देवतानां पाप्मानः पापानि । विन्यदधान् निचखान् ।
प्राणस्य संसर्गेण सर्वा निष्पापा बभूवुरित्यर्थः । पापिसंसर्गनिवारणायाहयस्मात्
पापं पापिनि तिष्ठति । तस्माद्धेतोः जनं निचिह्नपापं जनं प्रति । न कोऽपि इ-
यात् गच्छेत् । तं दिशानामन्तमपि यत्र पापी तिष्ठति नेयात् न गच्छेत् ।
कथम् ? नेदिति परिमयार्थं निपातः । यद्यहं गच्छेयं पाप्मानं मृत्युम् । अन्व-
यानि अन्ववाप्स्यामीति भीत्या न गच्छेदित्यर्थः ॥ १० ॥

भाष्याशय—शुद्धों में भी जो शुद्धतम जन है वह अपने ससर्ग से धीरे धीरे
अन्यों को भी अपने समान करने को चेष्टा करता है अन्त में वैसे ही मना भी
देता है इसी अर्थ के दिग्जलाने के हेतु आगे का प्रकरण कहवें हैं । दिशा का अन्त ।
जहा विनेकी पुरुष रहते हैं उसे मध्य देश कहते हैं उससे अतिरिक्त जो देश उस-
को दिशा का अन्त कहते हैं । अर्थात् “पापिष्ठ मनुष्य का” नाम यहा “दिशा का
अन्त” है, मानो प्राणदेव अन्यान्य देवों के सब पाप लेकर पापिष्ठजनों के निकट
ले गये और उन्हीं पापियों में स्थापित कर दिया । इस हेतु ऋषि कहते हैं कि (यत्र
दिशामन्-अन्तः) जहा दिशा का अन्त है अर्थात् जहा पापी जनों का निवास है
वहा ले गये और वहा के मनुष्यों के बीच देवों के सब पापों को स्थापित कर दिया,
इस हेतु जिस २ आदमी में मानो प्राणदेव पाप रखते हैं उस २ जन के निकट
(न-इयात्) न जाय और न उस वासस्थान में जाय क्योंकि पापियों के ससर्ग से
अवश्य पाप पकड़लेता है । यदि वह धर्म में पूर्ण दृढ़ न हो सो उसकी पड़ी जति
होती है । अतः पापिष्ठ पुरुष का ससर्ग न करे ॥ १० ॥

सा वा एषा देवतेतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपह-
त्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥ ११ ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह देवता इन देवताओं के पापरूप मृत्यु को विनष्ट कर पश्चात् इन देवताओं को मृत्यु से परे ले गई ॥ ११ ॥

पदार्थ—सम्प्रति कैसे वे इन्द्रिय देवत्व को प्राप्त हुए इसको कहने के लिये आगे का प्रकरण कहते हैं (सा+वै+एपा+देवता) निश्चय, सो यह प्राणस्वरूपा देवता (एतासाम्-देवतानाम्) इन वागादि देवताओं के (पाप्मानम्) पापस्वरूप (मृत्युम्) मृत्यु को (अपहृत्य) विनष्ट करके (अथ) पश्चात् (एनाः) इन वागादि देवताओं को (मृत्युम्+अत्यवहत्) मृत्यु से दूर ले गई ॥ ११ ॥

भाष्यम्—विस्पष्टार्थत्वात् कृतं संस्कृतभाष्यम् ॥ ११ ॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह प्राणदेव सर्वप्रधाना अथवा आद्या वाग्देवता को ही प्रथम मृत्यु से परे ले गये ॥ सो यह वाग्देवता जब मृत्यु से अतिमुक्त हुई तब वही अग्नि हुई । सो यह अग्नि पाप से अतिक्रान्त हो मृत्यु के परे दीप्यमान हो रहा है ॥ १२ ॥

पदार्थ—अब प्रत्येक इन्द्रिय की शुद्धि को कहते हैं—(वै) निश्चय (सः) वह प्राणदेव (प्रथमाम्) सर्वों में श्रेष्ठ प्रधान अथवा पहली (वाचमेव) वाग्देवता को ही (अत्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (सा) वह वाग्देवता (यदा) जब (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्यमुच्यत) अतिक्रमण करके स्वयं मुक्त हो गई तब (सः) वही वाणी (अग्निः+अभवत्) अग्नि हो गई (सः+अयम्+अग्निः) सो यह अग्नि (अतिक्रान्तः) पाप से निकलकर (मृत्युम्+परेण) मृत्यु से परे (दीप्यते) दीप्यमान हो रहा है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—सम्प्रति प्रत्येकं शुद्धिमाह—स वै प्राणोदेवः । प्रथमां सर्वासु देवतासु प्रधानभूतापाद्यां वा । वाचं वाग्देवीमेव । मृत्योः पारम् । अत्यवहत्

नीतवान् । अथ सा वाग्देवता । यदा यस्मिन्काले । मृत्युं पाप्मानं मृत्युं ।
अत्यमुच्यत अतीत्यामुच्यत स्वयं प्रोचिता । तदा सा वागेव । स प्रसिद्धोऽग्नि-
रभवत् । यतोऽग्नेर्वागित्याम्नायः । सोऽयमग्निः प्रसिद्धो लोकाग्निः पापान्नि-
ष्क्रान्तः सन् । परेण मृत्योः मृत्योः परस्तात् दीप्यते प्रकाशते । प्राणिष्वग्ने-
यशश्च वाणी वर्धते अग्नेरेवांशो वाणीत्यर्थः । सा च वाणी पापविद्धा ।
नायमग्निः । तत्कथमंशाशिनोर्भेदः । भेदस्तु शरीरसम्बन्धात् । यदा सैववाणी
विशुद्धा भवति तदाग्निवद् दीप्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

भाष्याशय—भाव इसका यह है कि प्राणियों में आग्नेय शक्ति से ही वाणी
बढ़ती है अर्थात् अग्नि का ही अंश वाणी है । परन्तु वाणी तो पाप से विद्ध और
यह प्रसिद्ध अग्नि नहीं । अंश अंशी में यह भेद कैसे हुआ ? उत्तर—शरीर के
सम्बन्ध से भेद है । जब वही वाणी विशुद्ध होजाती है तब अपना पिता अग्नि के
समान प्रकाशित होती रहती है ॥ १२ ॥

अथ ह प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायु-
रभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥ १३ ॥

अनुवाद—अनन्तर वह प्राणदेव (प्राणेंद्रिय को मृत्यु से परे ले गये । सो
वह प्राणदेव जब मृत्यु से अतिमुक्त हुआ तब वायु होगया । सो यह वायु पाप से
अतिक्रान्त होकर मृत्यु के परे वह रहा है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(अथ) पश्चात् वह प्राणदेव (प्राणम्) प्राणेंद्रिय देव को (अ-
त्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (स. + यदा) वह जब (मृत्युम् + अत्यमुच्यत)
मृत्यु को अतिप्रमाण करके मुक्त हो गया तब (स. + वायुः + अभवत्) वह वायुम्
होगया (स. + अयम् + वायुः) सो यह वायु (मृत्युम् + परेण) मृत्यु के परे (अति-
क्रान्त.) पाप से निर्मुक्त हो (पवते) बहरहा है प्राणस्थ वायु को वाह वायु से
सहायता मिलती है इसी का वह अंश है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ वाग्देवताया मृत्योरतिक्रमणानन्तरम् । प्राणम्
प्राणेंद्रियान्तः संचारिणं प्राणमित्यर्थः । पवते वाति । शेषमतिरोदितार्थम् ॥ १३ ॥

अथ ह चक्षुरत्यवहत् तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥ १४ ॥

अनुवाद—अनन्तर वह प्राणदेव चक्षुरिन्द्रिय देव को मृत्यु से परे ले गये । वह मृत्यु से अतिमुक्त हुआ तब वह आदित्य हुआ । सो यह आदित्य पाप से अतिक्रान्त हो मृत्यु से परे प्रकाशित हो रहा है ॥ १४ ॥

पदार्थ—अनन्तर वह प्राणदेव (चक्षुः) चक्षुरिन्द्रियदेव को (अत्यवहत्) मृत्यु में परे ले गये (तद्+यदा) वह जब (मृत्युम्+अत्यमुच्यत) मृत्यु को अतिक्रमण करके मुक्त होगया तब (सः+आदित्यः+अभवत्) वह सूर्यवत् हो गया (सः+असौ+आदित्यः) सो यह आदित्य (मृत्युम्+परेण) मृत्यु के परे (अतिक्रान्तः) पाप से विनिर्मुक्त हो (तपति) प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अथेति । स वै प्राणोदेवः । चक्षुरिन्द्रियदेवमत्यवहत् । इत्यादि समानम् । तपति प्रकाशते ॥ १४ ॥

अथ ह ओत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवं स्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥ १५ ॥

अनुवाद—वह प्राणदेव ओत्र देवता को मृत्यु से परे ले गये । जब वह मृत्यु से अतिमुक्त हुई तब वे दिशाएं हो गईं । सो वे दिशाएं मृत्यु पाप से विनिर्मुक्त हो गईं ॥ १५ ॥

पदार्थ—(अथ) अत्रान् वह प्राणदेव (ओत्रम्) कर्णोन्द्रिय देवता को (अत्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (तद्+यदा) वह जब (मृत्युम्+अत्यमुच्यत) मृत्यु से अतिक्रमण करके मुक्त हो गईं तब (ताः+दिशः+अभवन्) वे दिशाएं हुईं (ताः+इमाः+दिशः) सो वे दिशाएं (मृत्युम्+परेण) मृत्यु के परे (अतिक्रान्ताः) पाप से विनिर्मुक्त हो गईं ॥ १५ ॥

भाष्यम्—अथेति । अनन्तरम् । ओत्रं कर्णोन्द्रियदेवताम् । दिशः प्राच्यादयः । तत्सम्बन्धात् ओत्रस्य । शेषं समानम् ॥ १५ ॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा
अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवं ह वा
एनमेवा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अनुवाद—अनन्तर प्राणदेव मनोदेवता को मृत्यु के परे लेगये । जब वह
मनोदेवता मृत्यु से अतिमुक्त हुई तब वह चन्द्रमा हुई । सो यह चन्द्रमा पाप से
निष्क्रान्त होकर मृत्यु से परे शोभित होता है । जो कोई ऐसा जानता है उसको
भी इसी प्रकार से यह प्राणस्वरूपा देवता मृत्यु से परे लेजाती है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अथ) अनन्तर वह प्राणदेव (मनः+अत्यवहत्) मनोरूप देव-
ता को मृत्यु से परे लेगये (यदा) जब (तत्) यह मनोरूप देव (मृत्युम्+अ-
त्यमुच्यत) मृत्यु से छूट गया तब (स+चन्द्रमः+अभवत्) वह चन्द्रमा हुआ
(सः) वह (असौ) यह चन्द्रमा (अतिक्रान्तः) पाप से निकलकर (मृत्युम्+
परेण) मृत्यु से परे (भाति) शोभित हो रहा है । आगे फल कहते हैं—(यः)
जो उपासक (एवम्+वेद) ऐसा जानता है (एनम्) इस विज्ञानी पुरुष को
(एवम्+ह+वै) पूर्वोक्त प्रकार से ही (एवा+देवता) ये प्राणस्वरूपा देवता (मृ-
त्युम्+अतिवहति) मृत्यु के पार पहुँचाती है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अथेति । भाति विराजने । फलं निर्दिशति । यो हि उपासकः
एवं वेद । एनमपि विज्ञानिनमुपासकम् । एवं ह वै अनेनैव प्रकारेण । एवा-
प्राणस्वरूपा देवता मृत्युमतिवहति मृत्युमतिक्रम्य कल्याणपदं वहति प्रापयति ।
अन्यद्विराष्टम् ॥ १६ ॥

अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमागायद्याद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव
तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

अनुवाद—अनन्तर उस प्राण ने अपने लिये भोज्यान्न को गाया । क्योंकि
जो कुछ अन्न खाया जाता है वह प्राण से ही खाया जाता है इस प्राण में अन्न
प्रतिष्ठित है ॥ १७ ॥

पदार्थ—(अथ) अनन्तर उस प्राण ने (आत्मने) अपने लिये (अन्नाद्यम्) अन्न+आद्य=खाने योग्य अन्न को (आगायन्) अच्छे प्रकार गाया (हि) क्योंकि प्राणीमात्र से (यत्+क्विञ्च) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (अद्यते) खाया जाता है (तत्) वह (अनेन+एव) प्राण से ही (अद्यते) खाया जाता है (इह) इस अन्न में प्राण (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नियोजकृत्यामर्थं सम्यक् साधयित्वा केषांचिदप्यपकृतिमकृत्वा सर्वभूतानुद्वेगेन यदि कोऽपि स्वार्थमपीहवे तद्धि न दोषाय । इममर्थमनया क० पिडकया परिशोधति । प्राणो ह्युद्गाता स्वशुद्धिशक्तिसम्पन्नेन अनेनऽऽज्ञानेन सर्वा देवताः पाप्मनोमृत्योरतिक्रमय्य स्वदेवस्वभाव प्रापयामास । इदमेवाऽऽसीद् देवतानां महत्कार्यं तदनुष्ठितम् । सम्प्रति आत्मार्थाऽऽज्ञानं प्राणस्य दर्शयति । अथानन्तरम् । स प्राणः । आत्मने आत्मार्थम् । अन्नाद्यमागायत् अन्नं मोक्तुं योग्यम् आद्यम् “श्रुहलोपर्यत्” इत्युदेपर्यत् । अन्नञ्च तदाद्यमिति—अन्नाद्यमोज्यान्नमित्यर्थः । आगायदागानं कृतवान् । न केवलं प्रजापतिशरीरे प्राणस्यान्नस्वीकारे श्रुतिरेव मानं किन्तु प्राणिवन्नस्वीकारदर्शनात् कारणेऽपि तदनुमेयमित्यामिषेत्याह—यदीति । हि यतः । प्राणिभिः । यत्किञ्च यत्किञ्चिद् । अन्नं सामान्यतोऽन्नमात्रम् । अद्यते भक्ष्यते तदन्नमात्रं । अनेनैव प्राणेन अद्यते भक्ष्यते तस्मात्स्वार्थमेतदागानम् । नन्वेतदवधारणं कथं प्राणचद्वागादीनामप्यन्नकृतोपकारदर्शनादित्यत आह—इहेति । इहास्मिन् प्राणे अन्नं प्रतिष्ठितम् । अतो वागादीनां प्राणद्वारक एवान्नकृतोपकारको न तु स्वात्मन्येवेत्यर्थः । ननु तर्हि प्राणस्यापि वागादिवत्स्वार्थागानादासङ्गपापवेधः स्यादित्याशङ्कयामाह—इहान्ने देहाकारपरिणते प्राणः प्रतितिष्ठति । तदनुमारिणश्च वागादयः स्थितिमात्रेण इति प्राणान्नस्य स्वपरस्थित्यर्थत्वान्न पापवेधः प्राणस्येत्यर्थः ॥ १७ ॥

ते देवा अनुवक्षेतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तं समन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमस्ति तेनै-

तास्तृप्यन्त्येवं ह वा एनं स्वा अभिसंयिषन्ति भर्ता स्वानां
 श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवं-
 विदं स्वेपु प्रति प्रतिलुभूपति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ
 य एवैतमनु भवति यो वैतमनु भार्यान् लुभूर्पति स हैवालं
 भार्येभ्यो भवति ॥ १८ ॥

अनुवाद—उन्होंने प्राण से कहा कि हे प्राण ! निःसन्देह, जो अन्न है वह
 सब इतना ही है जिसको आप ने अपने लिये आगान किया है । इस हेतु पश्चात्
 इस अन्न में हम लोगों को भी भाग दीजिये । तब प्राण ने कहा आप सब कोई
 मुझ में चारों ओर से पैठ जायें । वे देव भी “सथास्तु” कहकर चारों ओर से
 उसमें पैठ गये । इस हेतु प्राणीमात्र जो अन्न इस प्राण से खाता है वसी से वे
 वागादि तृप्त रहते हैं जो ऐसा जानता है इसमें भी निश्चय वैसे ही उसके ज्ञाति
 प्रविष्ट होते हैं अर्थात् उसकी शरण में आने हैं । अपने ज्ञातियों का भर्ता (पालक)
 होता है, पूज्य होता है, आगे चलनेवाला होता है, अन्नाद (अन्न पानेवाला)
 अर्थात् व्याधिरहित और अधिपति होता है और ऐसे जाननेहारे के, ज्ञातियों में से
 जो कोई प्रतिकूल होकर ईर्ष्या करनेहारा होता है वह अपने पोषणीय पुरुषों के
 पालन में कदापि समर्थ नहीं होता । परन्तु जो कोई इसके अनुकूल है और जो
 कोई इसके अनुकूल होकर अपने पोषणीय पुरुषों को पालन करना चाहता है । वह
 अपने भरणाय पुरुषों के लिये निश्चय ही समर्थ होता है ॥ १८ ॥

पदार्थ—पुनः प्राण के गुणों को दिखलाने के हेतु आगे का प्रकरण कहते
 हैं । अब प्राण ने अपने लिये अन्न गान किया तब (ते+देवाः) वे वागादिक देव
 प्राणकी इस चेष्टा को देख (अद्भुवन) बोले । हे प्राणदेव ! (यद्+अन्नम्) जो अन्न
 प्राणीमात्र की स्थिति का कारण है (ददम्+सर्वम्) यह सब अन्न (एतावद्)
 इतना ही है (वै) इसमें सन्देह नहीं अर्थात् जितना अन्न आपने गानशक्ति से
 उपार्जित किया है उससे अधिक जगत् में अन्न नहीं है । हे प्राणदेव ! परन्तु (तद्)
 उस अन्न को आपने (आत्मने+आगासीः) अपने लिये गाया है जितने प्रकार के

स्वाद्य पदार्थ हैं वे सब आपने अपने लिये कर लिये अब हम लोग क्या खाकर जीवेंगे इस हेतु (अनु) पश्चात् अपने भोग के पश्चात् (आस्मिन्+अन्ने) इस उपार्जित अन्न में (नः) हम लोगों को भी (आभाजस्व) भाग दीजिये तब ही आपकी निःस्वार्थता सिद्ध होगी (इति) इस प्रकार सब देवों के वचन सुन प्राण बोले (ते) वे भाग लेनेहारे आप सब (वै) निश्चय करके (मा) मुझ में (अभि+सं+विशत+इति) चारों तरफ से अच्छे प्रकार पैठजायँ उर्सा से आप सब को भाग मिल जायगा । यह सुन वे वागादि देव (तया+इति) “तथास्तु” कह कर (तम्+समन्तम्+परिण्यविशन्त) उस प्राण में पैठ गये जिस हेतु सब वागादिदेव प्राण में पैठ गये (तस्मात्) उस कारण सब प्राणी (यद्+अन्नम्) जिस अन्न को (अनेन) इस प्राण के द्वारा (अस्मि) खाते हैं (तेन) उसी प्राणभक्षित अन्न से (एता+वृष्यन्ति) ये वागादि देवताएं (तृष्यन्ति) तृप्त रहती हैं । आगे फल कहते हैं—(एषम्+ह+वै) निश्चय ही, इसी प्रकार अर्थात् जैसे कि मुख्य प्राण के आश्रय से अन्य इन्द्रिय जीवित रहती हैं वैसे ही (एनम्) इस प्राणवित् पुरुष में भी (स्वाः) उसके ज्ञाति (अभिसंविशन्ति) पैठे जाते हैं अर्थात् प्राणवित् पुरुष के आश्रय से जीते हैं (स्वानाम्+भर्ता) और प्राणवत् ही वह उपासक अपने ज्ञातियों का भरण पोषण करनेहारा होता है । (श्रेष्ठः) पूर्य होता है (पुरः+एता) अग्रगामी (भवति) होता है (अन्नादः) अन्न+अदः=अन्न के खानेद्वारा अर्थात् व्याधिरहित नीरोग सदा रहता है और (अधिपतिः) सब के ऊपर पालन करने वाला होता है । किसका यह फल कहा गया सो आगे कहते हैं—(यः+एषम्+वेद) जो उत्त्ववित् पुरुष प्राण को पूर्वोक्त वर्णन रूप से जानता है । अब आगे प्राणवित् पुरुष के द्विषी का दोष कहते हैं (उ+ह) आश्चर्य की बात है कि (स्वेपु) अपने सन्बन्धिक ज्ञाति वन्धु बान्धवों में से (यः) जो कोई (एवविदम्+प्रति) इस प्रकार से जाननेहारे उपासक के (प्रतिः) प्रतिकूल होकर (बुभूषति) उस का शत्रु बनना चाहता है । जैसे असुर देवों के शत्रु बने थे तो यह पुरुष (मार्त्येभ्यः) अपने भरण पोषण करने योग्य ज्ञातियों के भरणार्थ (न+एव) कदापि भी नहीं (अलम्+भवति) समर्थ होता है (ह) निश्चय है । अब आगे अनुकूल का लाभ कहते हैं—(अय) और (यः) जो कोई वागादि देववत् (एतम्+एव) इसी प्राणवेत्ता पुरुष के (अनु) अनुकूल (भवति) होता है (वा) अथवा

(य०) जो कोई (एतम्+अनु) इसी प्राणवित् पुरुष के अनुमरण करता हुआ (भार्यान्) अपने भरणार्थ पुरुषों को (जुभूर्यंति) भरण करने की इच्छा करता है (सः+ह) यही (भार्य्येभ्यः) अपने भरणार्थ पुरुषों के लिये (अलम्+भवति) समर्थ होता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—पुनरपि प्राणस्यैव गुणान्तराणि वर्णयति । आत्मार्थमन्नं गी-
तवति प्राणे सति । ते देवा इतराणि इन्द्रियाणि अब्रुवन्प्रोचन् । हे प्राण ।
वै निश्चयः । यदन्नं सर्वेषां प्राणिना प्राणस्थितिकारणं विद्यते । तत्सर्वमन्न-
मेतावदेव अतोऽधिकं नास्ति । तत्सर्वमन्नं पुनस्तम् । आत्मने स्वस्मै नास्म-
भ्यमित्यर्थः । आगासौः उद्गीथागानेनाऽऽत्मसात् कृतवानसि । इति तव स्वा-
र्थता दृश्यते । अन्नं विना कथं यः जीविष्यामः । अस्मात्कारणात् हे प्राणदेव ।
सर्वकल्याणगायक । अनु पश्चात् । अस्मिन्नन्ने नोऽस्मानपि मागवदः कुरु ।
तदैव तव निःस्वार्थता सेत्स्यति इति देवताभिः प्रार्थितः प्राण आह । ते सर्वे
यूयम् । वै निश्चयेन । मा माम् । अभिसंविशत अभितः सम्बन्धं प्रविशत । सर्वे
यूयं मय्येव स्थितिं कुरुत पालयिष्यामि नः । एवमनुज्ञातास्ते देवास्तथेत्युक्त्वा ।
तं प्राणम् । समन्तं समन्तात् । परिण्यविशन्त परितो वेष्टयित्वा निश्चयेन
अविशन् । यस्मात्कारणात् प्राणं परिवेष्ट्य सर्वे निविष्टवन्तः । तस्माद्धेतोः ।
प्राणी । यदन्नम् । अनेन प्राणेन प्राणस्य साहाय्येन । अस्ति भक्षयति । तेनैव
प्राणमचित्तेनैवाऽन्नेन । एता वागादयो देवताः । तृप्यन्ति तृप्ता भवन्ति । न
स्वातन्त्र्येण भक्षयित्वा तृप्यन्त इत्यर्थः । अग्रे एतत्प्राणगुणोपासकस्य फलं
कथयति । यः खलु तत्त्वविद् । एवंवेद सर्वा वागादयो देवताः प्राणाश्रिताः
सन्तीति जानाति । एतम् इममुपामकम् । एवं ह वै यथा प्राणं वागादयस्तथैव
स्या ज्ञानयः । अभिसंविशन्ति । स्वानां ज्ञातीनामभिनिविष्टानाम् । प्राण इव
भर्ता पोषको भवति । अन्नादोऽन्नभोज्या व्याधिरहितः सन्दीप्ताग्निर्मवति ।
अधिपति रक्षिष्याय पालयिता भवति । प्राणवदेव वागादीनामिति अत्येक-
बोध्यम् ॥

इदानीं तदुपासकविद्वेषिणो दोषमाह—उ आश्चर्य्ये । ह निश्चयेन । खेपु
ज्ञातीनां मध्ये यः कश्चित्पुरुषः । एतंविद् प्राणविदमुपामकं प्रति । प्रतिः प्र-

विकूलः सन् । बुभूषति भवितुमिच्छति बुभूषति प्रतिस्पर्धी भवितुमिच्छति । स प्राणविद्विद्वेषी । प्राणस्य स्पर्धिनोऽसुरा इव । मार्ग्येभ्यो भरणेभ्यः स्वेभ्यः स्वभरणेयपुत्रेभ्यः । न ह वै लालं भवति । हेति प्रसिद्धम् । अथ प्राणविदनुकूलस्य लाभं दर्शयति । अयं यः कश्चित् ज्ञातिः । एतमेव प्राणविदमेव । अनु अनुगतः अनुकूलो गति । यो वा पुरुषः । एतं प्राणविदम् । अनु एव अनुसरणेव । भार्यान् भरणेयान् स्वान् । बुभूषति भवितुमिच्छति । स ह वै मार्ग्येभ्यो भरणेभ्यः । अलं पर्याप्तो भवति ॥ १८ ॥

सोऽयास्य आह्निरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः ॥ १९ ॥

अनुवाद—सो यह अयास्य (मुख्य) प्राण आह्निरस कहलाता है क्योंकि वह अङ्गों का ही रस है, निश्चय प्राण ही अङ्गों का रस है, हां प्राण ही अङ्गों का रस है । इस हेतु जिस किसी अङ्ग से प्राण निकल जाता है वहां ही वह अङ्ग शुष्क हो जाता है क्योंकि यह प्राण ही अङ्गों का रस है ॥ १९ ॥

पदार्थ—पुनः प्राण का ही वर्णन करते हैं—(सः+अयास्यः) वह अयास्य अर्थात् मुख में रहनेवाला प्राण (आह्निरसः) आह्निरस कहलाता है । आह्निरस क्यों कहलाता है इसमें कारण कहते हैं (हि) क्योंकि वह प्राण (अङ्गानाम्+रसः) अङ्गों का रस है (वै) निश्चय (प्राणः+अङ्गानाम्+रसः) प्राण अङ्गों का रस है (हि+वै) इसमें कुछ भी सन्देह नहीं (प्राणः+अङ्गानाम्+रसः) मुख्य प्राण अङ्गों का रस है (तस्मात्) उसी कारण (यस्मात्+कस्मान्+च) जिस किसी (अङ्गान्) अङ्ग से (प्राणः+उत्क्रामति) प्राण निकल जाता है (तद्+एव) वहां ही (तद्) वह अङ्ग (शुष्यति) सूख जाता है (हि) क्योंकि (एषः+अङ्गानाम्+रसः) यह अङ्गों का रस है ॥ १९ ॥

भाष्यम्—स इति । स एष प्राणः । यस्मात्कस्माच्चाभिर्घातितात् शरीरावपवाद् । उत्क्रामति तं तमवयवं त्यक्तोद्गच्छति । तदेव तत्रैव । तदेवाङ्गम् ।

शुध्यति शुष्कं भवति । एतेन ज्ञायते । एष हि प्राणोऽङ्गानां रसः । अतिरोहि-
तायं शेषम् ॥ १६ ॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्त-
स्माद् बृहस्पतिः ॥ २० ॥

अनुवाद—यह प्राण ही “बृहस्पति” कहलाता है क्योंकि निश्चय बादेधी ही
“बृहती” है उसका यह पति है इस हेतु यह “बृहस्पति” भी है ॥ २० ॥

पदार्थ—(एष + प्राण) यह प्राण (बृहस्पति) बृहस्पति (उ) भी बृह-
लाता है, क्योंकि (वाग् + वै) वाणी ही (बृहती) बृहती कहलाती है । अर्थात्
वाणी का नाम बृहती है (तस्या) उस वाणी का (एष + पतिः) यह प्राण पा-
लक है (तस्मात्) उसी कारण (बृहस्पति + उ) बृहस्पति भी कहलाता है ॥ २० ॥

भाष्यम्—एष इति । उरप्यर्थः । एष प्राण एव बृहस्पतिरपि । वै निश्च-
येन । वाग्वाणी बृहती बृहच्छब्दवाच्या । तस्या वाचः । एष प्राणः पतिः पा-
लकः । तस्मादेव । बृहस्पतिरपि । अत्र यथाऽन्नं प्राणेनापते । एवमेव वेदा
अपि प्राणेनैवोच्चार्यन्ते अधीयन्ते विचार्यन्ते इत्यादिक्रियाया निवर्तकः स
एवास्ति । अत एव वेदानामपि गोण्या ब्रुत्याऽस्याधिपतित्वं धनयति । तत्र
प्रथमस्य ऋगात्मन्त्वम् । यथा । “वाग्वा अनुष्टुप्” सा द्वात्रिंशदक्षरा । बृहती
च पदत्रिंशदक्षरा । तेन ब्रुत्यामनुष्टुमोऽन्तर्भावः । साऽनुष्टुप्तेदमुपलक्षयति ।
वाग्वा ऋग् । इत्यपि ब्राह्मणम् ॥ २० ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्त-
स्माद् ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

अनुवाद—यही ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है । वाणी ही “ब्रह्म” है उसका
यह पति है उसी हेतु ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है ॥ २१ ॥

पदार्थ—(एष + प्राण) यही प्राण (ब्रह्मणस्पति) ब्रह्मणस्पति (उ) भी
कहलाता है । जैसे ? सो कहते हैं—(वाग् + वै + ब्रह्म) वाणी का नाम ब्रह्म है, क्योंकि

ब्रह्मशब्द के अनेक अर्थ होते हैं (तस्याः+एषः+पतिः) उसका यह पति है (तस्मात्) उस हेतु (ब्रह्मणस्पतिः+उ) ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है ॥ २१ ॥

भाष्यम्—एष इति । एष प्राण एव ब्रह्मणस्पतिरपि । कर्म । वाग् वै ब्रह्म निगद्यते । वाचो हि ब्रह्मनामधेयमनेकार्थत्वात् । तस्या एष पतिः । ब्रह्मणो यदुर्वेदस्य वा एष पतिरिति ध्वन्यते ॥ २१ ॥

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुपिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यं सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥ २२ ॥

अनुवाद—यह प्राण ही साम भी कहलाता है । कैसे ? “सा” का अर्थ “वाग्” है और “अम” का अर्थ “प्राण” है । “सा+अम” दोनों मिलकर “साम” बनता है, यहां यही साम का सामत्व है । अथवा यह प्राण पुच्छिका-शरीर के सम (तुल्य) है । मशक शरीर के सम है । गज शरीर के सम है । इन तीनों लोक के सम है । इस सब वस्तु के शरीर के सम है । उसी कारण प्राण को साम कहते हैं—जो कोई इस प्रकार इस साम (प्राण) को जानता है । यह साम की सायुज्य और सलोकता को प्राप्त होता है अर्थात् प्राण के सर्व गुणों के जानने में समर्थ होता है ॥ २२ ॥

पदार्थ—अब गौण लक्षण से प्राण ही सामवेद है इसको कहते हैं । क्योंकि प्राण की ही सहायता से सामवेद का उच्चारण होता है (एषः+उ+एवं+साम) यह प्राण ही “साम” भी कहलाता है । कैसे ? सो आगे कहते हैं—“सा+अम” इन दो शब्द से “साम” बनता है । “तत्” शब्द के खीलिङ्ग में “सा” होता है । और “अम.” शब्द पुलिङ्ग माना है । यद्यपि “सामन्” शब्द नपुंसक और नकारान्त है । तथापि पृथक् २ रहने पर वैसा आकार माना गया है । इसमें कोई दोष नहीं । इस हेतु कहते हैं—(वाग्+वै+सा) वाणी ही “सा” है । क्योंकि वे दोनों

शब्द स्त्रीलिङ्ग है (एषः+अमः) यह प्राण अम है (सा+च+अम,+च+इति) सा और अम मिलकर 'साम' होता है । प्रथम कहा गया है कि वाणी का पति यह प्राण है । अतः सा=वाणी । अम=ग्राण । दोनों=साम । अब अन्य प्रकार से भी प्राण को "साम" कहना उचित है सो दिखलाते हैं—(उ) अथवा (यद्+एव) जिस कारण (प्लुषिणा) अणु कीट का नाम "प्लुषि" है । उस अणु कीट के शरीर के (सम.) तुल्य यह प्राण है क्योंकि जब शरीर में भी प्राण है । आगे भी ऐसा ही जानना (मराकशरीर+सम) यह प्राण मराक शरीर के समान है । (नागेन+सम) हाथी के शरीर के समान है (एभिः+त्रिभिः+लोकैः+समः) इन तीनों लोकों के समान है क्योंकि जो वाह्यवायु हैं मो तीनों लोकों में किसी न किसी स्वरूप से विद्यमान है । और यही वाह्यवायु शरीर में रहने से प्राण कहलाता है । (अनेन+सर्वेण) सत्त्व में जितनी वस्तु है उस सत्त्व के सम हैं अथवा इस सब जगत् के सम है । (तस्माद्+उ+एव+साम) उसी कारण से यह प्राण साम कहलाता है । यह इतना और जान लेना चाहिये कि "साम और सम" एकार्थक मान लिया गया है तब ही यह व्यवस्था होगी । अब आगे फल कहते हैं—(य.) जो अपामक (एषम्) इस प्रकार मे (एतन्+साम) इस सामवेद सट्ठा प्राण को (वेद) जानता है (साम्नः+सायुज्यम्) वह साम अर्थात् प्राण की (सायुज्यम्) समानता को और (सलोक्ताम्) समान लोक्ता को (अश्नुते) प्राप्त होता है । प्राण की समानता वा सलोकता यही है कि प्राण के स्वरूप अर्थात् तत्त्व को अच्छे प्रकार जानना । जो जिसको जानता है वह तद्रूप कहलाता है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—एष इति । प्राणस्य गौणसामत्वमाह—एष उ एव साम । कथम् । सा+अम इति पदद्वयं विभक्त्यर्थः क्रियते । वाग्वै सा । स्त्रीलिङ्ग-शब्द वाच्यवस्तुमात्रविषयः साशब्दः । अतः सा पदेन वाग्वृक्षते । पुंलिङ्गशब्दाभिधेयवस्तुमात्रविषयोऽप्रशब्दः । अत आह—“अपेय” एष प्राणः अमः सा च अमवेति साम इत्यार्षेयन्युत्पत्तिः । तत्साम्नः सामत्वम् । प्रसारान्तरेण सामत्वं साधयति । यद्+उ+एव इति पदच्छेदः । उ शब्दो विकल्पार्थः । यद्यस्मादेतोः अर्थ प्राणः सूत्रात्मा । प्लुषिणा पुत्तिकाशरीरेण समः तच्छरीरव्यापकत्वाद् । मराकशरीरेण गजशरीरेण च समः । एभिस्त्रिमिलोक्तैस्तुल्यः । वायस्य प्राणस्य सर्वत्र व्यापकत्वात् । यत्किञ्चन दृश्यते तेन सर्वेणानेन वस्तु-

नाऽस्य समत्वं । तस्मादेव उ साम । समसामशब्दयोस्तुल्यार्थग्रहणात् । फल-
माह—य एवमेतत्सामवेद । स सामविद् । सामरूपस्य प्राणस्य । सायुज्यं स-
लोकताम् । अश्नुवे प्राणस्य सर्वतत्त्वं सम्यग्ज्ञानतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदं सर्वमुत्तव्यं
वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥ २३ ॥

अनुवाद—यह प्राण ही उद्गीथ भी है, निश्चय प्राण ‘उन्’ है क्योंकि
प्राण से ही यह प्रथित है । वाग् ही ‘गीया’ है । ‘उन्’ और ‘गीया’ मिलकर
‘उद्गीथ’ हुआ है ॥ २३ ॥

पदार्थ—प्राण का उद्गीथत्व मायते हैं (एष.+वै) निश्चय यह प्राण ही
(उद्गीथः+उ) उद्गीथ भी कहलाता है (वै) निश्चय (प्राणः+उन्) उन् शब्द
का अर्थ प्राण है (हि) क्योंकि (प्राणेन) प्राण से ही (इदम्+सर्वम्) यह सब
वस्तुमात्र (उत्तव्यम्) प्रथित है । और (वाग्+एव) वाणी ही (गीथा) गीथा
है अर्थात् गीथा शब्द का अर्थ वाणी है । (उन्+व+गीथा+च) ‘उन्’ और
‘गीथा’ ये दोनों शब्द मिलकर (इति+स.+उद्गीथ.) वह ‘उद्गीथ’ शब्द
बनता है । पूर्व में कहा गया है कि ‘उद्गीथ’ नाम एक विधि का है । इस में
गान किया जाता है । प्राण से ही गान भी होता है । इस हेतु मानो उद्गीथ भी
प्राण ही है । यह प्राण की स्तुति है ॥ २३ ॥

भाष्यम्—एष इति । प्राणस्योद्गीथत्वं साधयति । प्राणेनैवोद्गीथस्य
सम्पाद्यत्वात् सम्पाद्यसम्पादकयोरभेदविवक्षया । एष उ वा उद्गीथः । प्रक्रिया-
माह—प्राणो वा उन् उच्छब्दमिधेयः प्राणः । यतः प्राणेनैवेदं सर्वम् । उत्तव्य-
मस्ति प्रथितमस्ति । तथा वागेव गीथा गीथाशब्दवाच्या वाग् । तेन उच्च गीथा
चेति व्युत्पत्त्या उद्गीथशब्दसिद्धिः ॥ २३ ॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं
त्यस्य राजा मूर्खानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसो-

उन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगाय-
दिति ॥ २४ ॥

अनुवाद—इसमें यह (आर्यायिका) भी है । चैकितानेय ब्रह्मदत्तऋषि
सोम को पीते हुए बोले कि इस अयास्य आङ्गिरस उद्गाता ने यदि इस प्राण को
छोड़ अन्य की सहायता से उद्गान किया हो तो उसके मूर्धा को सोमराजा गिरा
देवे क्योंकि उसने वाणी और प्राण से ही गाया है ॥ २४ ॥

पदार्थ—प्राण ही उद्गीथ है । इसको पहले कह आये हैं । इसी विषय को
आर्यायिका के द्वारा विस्मृत करते हैं (तत्) इस विषय में (ह+अपि) एक
आर्यायिका भी है (चैकितानेयः) चैकितानि ऋषि के पुत्र (ब्रह्मदत्तः) ब्रह्मदत्त
ऋषि एक समय (राजानम्) सोमरस को (मत्तयन्) पीते हुए (उवाच) बोले
अपने को ही निर्देश करते हुए बोले (अयास्य +आङ्गिरसः) अयास्य आङ्गिरस
प्राण अर्थात् प्राण तत्त्ववेत्ता मैंने (यद्) यदि (इतः+अन्येन) इस प्राण को
छोड़ कर अन्य इन्द्रिय की सहायता से (उद्गायत्+इति) उद्गान अर्थात् उद्गीथ
का गान किया हो तो (त्वस्य) उस मेरे (मूर्धानम्) मूर्धा को (अयम्+राजा)
यह सोमराजा (विपातयतान्) अच्छे प्रकार गिरा देवे । ऐसी प्रतिज्ञा उस ब्रह्म-
दत्त ने क्यों की ? सो आगे कहते हैं—(हि) क्योंकि (सः) उस ब्रह्मदत्त ने
(वाचा+च) वाणी से (प्राणेन+च) और प्राण की सहायता से ही (उद्गाय-
त्+इति) उद्गान किया था ॥ २४ ॥

भाष्यम्—एष प्राण एवोद्गीथदेवता न वागादिस्त्रिगुणार्थद्वीकरण्याया-
ऽऽख्यायिकामाह-तदिति । तत्तन्मिथ्यार्थे । इ एषाऽऽख्यायिकापि प्रवृत्ता । क-
सा । चिकितानस्यापत्यं चैकितानिः । तस्यापत्यं श्रुत्वा चैकितानेयः । ब्रह्मद-
त्तो नामतो ब्रह्मदत्तः । विश्वसृजाष्टपीशा सत्रे । राजानं राजशब्दभिधेयं सोमं
से मोऽपि राजा । राजृ दीप्तौ । सोमपानेन दीप्तिमान् भवति लोकोऽनः स रा-
जोच्यते । त सोमम् । मत्तयन् पिबन् सन् । उवाच । किमुवाच । आत्मानं नि-
र्दिशन्नाह । एषोऽयास्य आङ्गिरसः प्राणः, अर्थात् प्राणस्वरूप उद्गाता । यद्य-
दि । इतोऽस्मात्प्राणात्पूर्वोक्तादन्येन देवान्तरेण । उद्गायद् उद्गानमुद्गीथ

विधिं निर्वर्तितवानिति । तर्हि । त्वस्य तस्योद्गातुर्मूर्धानम् । अयं राजा सोमः । विपातयतात् शिरसो मूर्धानं भूमौ विस्पष्टं पातयतु । कथं स ईदृशीं प्रतिज्ञां कृतवानिति ब्रूते । हि यतः । स उद्गाता । वाचा च प्राणप्रधानया प्राणेन चैव । उद्गायदिति । प्राणेनैवोद्गायद् नान्यैर्देवैरित्यर्थः ॥ २४ ॥

माध्याशय—मान इसका यह है कि प्राण से ही गान करना चाहिये । जब प्राण बरा में रहता है तब इन्द्रिय भी अपने २ कार्य में तत्पर रहते हैं । पढ़ने वाला पढ़ रहा है परन्तु उसका मन कहीं अन्यत्र है । उद्गीथ गान कर रहा है परन्तु मन कहीं अन्यत्र लगा है । जब प्राण बरा में रहता है यह अव्यवस्था नहीं होती वाणी से जो वचन निकलता है इसमें प्राण ही मुख्य कारण है । वाणी तो एक यंत्रवत् ही है । इस हेतु “वाचा” पद कहने से कोई कृति नहीं ॥ २४ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै श्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन् वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसम्पन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे श्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव । अथो यस्य स्वम्भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

अनुवाद—जो उपासक वस इस सुप्रसिद्ध सामवाची प्राण के धन को जानता है । इसको भी धन होता है । निश्चय उसका श्वर ही धन है । इस हेतु कर्म करनेहारे ऋत्विक् को चाहिये कि वाणी में स्वर की इच्छा करे । तब वस स्वरसम्पन्न वाणी से ऋत्विक् कर्म करे । जैसे जिसको धन होता है उसको (साधारण जन) देखते हैं । ऐसे ही यज्ञ में अच्छे स्वरवाले ऋत्विक् को मन कोई देखना चाहते ही हैं । जो उपासक इस प्रकार साम (प्राण) के धन को जानता है इसको धन होता है ॥ २५ ॥

पदार्थ—प्राण ही उद्गीथ भी है यह निर्णय कर प्राण के स्व, सुवर्ण और प्रतिष्ठा इन तीन गुणों के विधान के लिये तीन कण्डिकाओं का आरम्भ करते हैं । प्रथम “त्व” गुरु कहते हैं (तस्य) पापरूप मृत्यु से रहित (एतस्य) बृहस्पति

आदि नामों से निरूपित (ह) प्रसिद्ध जो (साम्न.) साम नाम से विख्यात मुख्य प्राण है । उसके (स्वम्) धनको (यः) जो (वेद) जानता है (अस्य- ह) इस विद्वानी पुरुष को (स्वम्) धन (भवति) होता है । (वे) निश्चय (तस्य) उसका (स्वर+एव) स्वर ही=कण्ठ की मधुरता ही (म्यम्) धन=भूषण है (तस्मात्) उस हेतु (आर्त्विज्यम्+करिष्यन्) जो ऋत्विक् कर्म करने वाला है वह (वाचि) वचन में (स्वरम्+इच्छेत्) स्वर को चाहे अर्थात् अपनी वाणी को मधुर बनावे तब (तथा) उस (स्वरसम्पन्नया) उत्तम स्वरसयुक्त (वाचा) वाणी से (आर्त्विज्यम्+पुर्ण्यात्) ऋत्विक् का कर्म करे । यदि स्वर अच्छा न हो तो ऋत्विक् कर्म न करे । यह फलितार्थ है । इसमें दृष्टान्त देते हैं (अथो) जैसे (यस्य) जिस पुरुष को इस लोक में (स्वम्+भवति) धन होता है उस धनवान् पुरुष को देखना चाहते हैं (तस्मात्) वैसे ही (यज्ञे) यज्ञ में (स्वरयन्तम्) अच्छे मधुरस्वरवाले ऋत्विक् को (दिदृक्षन्ते+एव) लोक देखना ही चाहते हैं । इस हेतु प्रथम प्राण के धन को आदमी ग्रहण करे अर्थात् मधुरभाषी बने । आगे इसी गुण का उपसहार करते हैं (य+साम्न+एतत्+स्व+वेद) जो सामवाच्य प्राण के इस धन को जानता है (ह+अस्य+स्वम्+भवति) उस इस विद्वानी को धन होता है ॥ २५ ॥

भाष्यम्—प्राणयोद्गीथत्वमवधार्य स्वसुवर्णप्रतिष्ठागुणत्रयविधानार्थमुत्तरकण्डिकात्रयमाह—प्रथमं स्वगुणं ब्रूते । यः कश्चिदुपासकः । तस्य पाप्म-मृ+युप्रपञ्चराहितस्य । इतस्य बृहस्पत्यादिगुणवचया निरूपितस्य । साम्नः सामाभिधेयस्य प्राणस्य । स्वं धनं । वेद जानाति तस्यास्य वेषुः । स्वं धनं भवति । एवं गुणफलेन प्रलोभ्यामिमुखीकृतं शुश्रूषुं प्रत्याह—वै निश्चयेन तस्य प्राणस्य सामवाच्यस्य । स्वर एव कण्ठादिमाधुर्यमेव स्वं भूषणम् । तस्माद्धेतोः आर्त्विज्यमृत्तिकर्म । करिष्यन् सन्नुद्गाता । वाचि वाण्यां स्वरं माधुर्यादिगुणसम्पन्नं स्वरम् । इच्छेत् यत्नेन सम्पादयेत् । एवं तयैव स्वरसम्पन्नया वाचा । आर्त्विज्यं कुर्यात् । सौख्यस्य सामभूषणत्वे गमके सदृष्टान्तमाह—तस्माच्छब्दस्त्वर्थः । अथो शब्दो यथार्थः । तथा च यथा यस्य स्वं धनं भवति तं लौकिका दिदृक्षन्ते । तथा यज्ञेपि स्वरयन्तं मधुरस्वरसम्पन्नमुद्गातारम् । दिदृक्षन्त एव द्रष्टुमिच्छन्त्येव जना इत्यन्वयार्थः । एव सिद्धं

सफलं गुणविज्ञानमुपसंहरति-भवतिहास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेदेति ।
उक्तार्थम् । एतच्च कण्ठनिष्ठं माधुर्यं वाह्यं धनं सौस्वर्यस्य ध्वनिगतत्वा-
दित्यर्थः ॥ २५ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सु-
वर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमे-
तत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

अनुवाद—जो उपासक उस इस प्रसिद्ध सामाभिधेय प्राण के “सुवर्ण” को
जानता है । उसको भी सुवर्ण (कनक) होता है । निश्चय उसका स्वर ही सुवर्ण
(कनकवद्भूषण) है । जो साम (प्राण) के इस सुवर्ण को इस प्रकार जानता
है । इसको निश्चय सुवर्ण होता है ॥ २६ ॥

: पदार्थ—अब प्राण के “सुवर्ण” गुण को कहते हैं । यह गुण भी स्वर की
मधुरता ही है परन्तु इतना विशेष है, वह यह है—पूर्व जो धन कहा गया वह कंठ-
गत माधुर्य है और यहां सुवर्णशब्द लाक्षणिक है अर्थात् इसका कण्ठ से, इसका
दन्त से, इसका ओष्ठ से उच्चारण होता है इस प्रकार के ज्ञान से तात्पर्य है
(तस्य+ह+एतस्य) पापादिरहित बृहस्पति आदिनाम सहित (साम्नः) प्राण के
(सुवर्णम्) सुवर्ण को अर्थात् प्रत्येक वर्ण के उच्चारण को यथावत् (यः) जो
(वेद) जानता है (अस्य+ह) इस प्राण सुवर्णवेत्ता को (सुवर्णम्+भवति)
सुवर्ण=कनक सोना होता है (तस्य) उस प्राण का (वै) निश्चय (स्वरः+एव+
सुवर्णम्) स्वर ही सुवर्ण=कनकवत् भूषण है । पुनः उपसंहार करते हैं (यः) जो
(एवम्) इस प्रकार (साम्नः+एतत्+सुवर्णम्+वेद) सामाभिधेय प्राण के इस
सुवर्ण को जानता है (अस्य+ह+सुवर्णम्+भवति) इस उपासक को सुवर्ण
होता है ॥ २६ ॥

माप्यम्—विस्पष्टार्थेयं कथिहका ॥ २६ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति

तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेव एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो
गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

अनुवाद—जो उपासक उस इस सामाभिधेय प्राण की प्रतिष्ठा को जानता है
यह, निश्चय प्रतिष्ठित होता है। निश्चय उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है क्योंकि यह
प्राण वाणी में ही प्रतिष्ठित होकर गान को प्राप्त होता है अर्थात् गाता है। कोई
कहते हैं कि अन्न में ही प्रतिष्ठित होकर गान को प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

पदार्थ—अब प्राण की प्रतिष्ठा को कहते हैं। जिसमें प्रतिष्ठित हो यह प्रतिष्ठा
अर्थात् आश्रय (य) जो उपासक (तस्य+ह+एतस्य+साम्नः) उस इस सामा-
भिधेय प्राण की (प्रतिष्ठाम्) आश्रय को (वेद) जानता है वह (प्रति+ह+ति-
ष्ठति) वाणी में प्रतिष्ठित होता है (तस्य+वै+वाग्+एव+प्रतिष्ठा) उसकी वाणी
ही प्रतिष्ठा है। यहा जिह्वामूलीय आदि स्थान का नाम वाग् है। किस वर्ण का
कौन स्थान है। किस प्रकार इसका शुद्ध उच्चारण होता है। कहा पर किस वर्ण
का उच्चस्वर से वा धीरे स्वर से उच्चारण होगा इत्यादि विचार का नाम यहा
“वाक्” है। ऐसी वाणी ही यहाँ प्राण का आश्रय है। क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण
देते हैं (हि) क्योंकि (एव+प्राणः) यह प्राण (वाचि) जिह्वामूलीय आदि
स्थानों में यथाविधि (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित होने पर (खलु) निश्चय (एतत्)
इस गानशास्त्र को (गीयते) प्राप्त होता है अर्थात् जन व्याकरणशास्त्र वा गीति-
शास्त्र की शिक्षा के अनुसार अक्षर और पद अच्छे प्रकार उच्चरित होते हैं। तब
ही वह प्राण, मानो उत्तम गानस्वरूप को धारण करता है। यदि स्थान ठीक नहीं
हुए तो निन्द्य हो जाता है। प्रागे मतान्तर कहते हैं—(ह+एके+आहुः) कोई आ-
चार्य कहते हैं कि (अन्ने+इति) अन्न में जन यह प्राण प्रतिष्ठित होता है तब यह
गानस्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् प्राण की प्रतिष्ठा अन्न ही है। अन्न को खाकर
वलिष्ठ हो अच्छे प्रकार गा सकता है। स्वर अच्छा रहने पर भी निर्बल उद्गाता
अच्छे प्रकार गा नहीं सकता है। अतः अन्नोपाजित बल ही इसकी प्रतिष्ठा है ॥ २७ ॥

भाष्यम्—प्राणस्य प्रतिष्ठागुणमाह—य उपासकः। तस्य हैतस्य साम्नः
सामाभिधेयस्य प्राणस्य। प्रतिष्ठा वेद प्रतितिष्ठत्यस्या सा प्रतिष्ठा आश्रयः।

स प्रतिष्ठाविद् । प्रति ह तिष्ठति प्रतितिष्ठति ह । वाचि प्रतिष्ठां प्राप्नोति ! हेति प्रसिद्धम् । कास्य प्रतिष्ठेत्यत आह । तस्य प्राणस्य । वागेव वाण्येव प्रतिष्ठा । वागिति जिह्वामूलीयादीनामष्टानां स्थानानामाख्या कथं सा प्रतिष्ठा । हि यस्मात् । एष प्राणः । वाचि हि जिह्वामूलीयादिषु प्रतिष्ठितः सन्नेव । खलु निश्चितम् । एतद् गानम् । गीयते गीतिमावमापद्यते । वाचि प्रतिष्ठितः सन्नेवैष प्राणो गीतिं गायति । तस्माद् वागेव प्रतिष्ठेति सम्बन्धः । मतान्तरमाह—अन्नेऽन्न-परिणामे देहे प्रतिष्ठितः सन्नेव गायति । इत्येके उह खल्लाहुः । अयमाणयः । प्राणस्यान्नमेव प्रतिष्ठा । अन्ने हि प्रतिष्ठितः सन् गायति । अतो वाचं विहाय प्राणस्यान्नं प्रतिष्ठा ज्ञातव्येत्येके ॥ २७ ॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तोति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत् । “असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ” स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वैतमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितामिवास्ति । अथ धानीतराणिस्तोत्राणि तेष्यात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तं स एष एवं विदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्ष्यताया आशास्ति य एवमेतत् सामवेद ॥ २८ ॥

अनुवाद—अब यहाँ से पवमान मन्त्रों का अभ्यारोह (जपविधि) कहा जाता है । निश्चय, वह प्रस्तोता नाम ऋत्विक् साम के प्रस्ताव का आरम्भ करता है । जब वह प्रस्तोता प्रस्ताव का आरम्भ करे तब इन वाक्यों को जपे—“ असतो

मा सद् गमय" १ (असत् से मुझे सत् की ओर ले चलो), "तमसो मा ज्योतिर्गमय" २ (अन्धकार से मुझ को ज्योति की ओर ले चलो), "मृत्योर्माऽमृत गमय" ३ इति (मृत्यु से मुझ को अमृत की ओर ले चलो) । इन तीनों कण्डिकाओं का अर्थ कहते हैं । यह मन्त्र जो यह कहता है कि "अमन् मे मुझको सत् की ओर ले चलो" इसका अर्थ यह होता है मृत्यु ही असत् है और अमृत ही सत् है मृत्यु से मुझको अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझको अमृत (अमर) करो यही कहता है ॥ १ ॥ और जो यह कहता है कि "अन्धकार से मुझ को ज्योति की ओर ले चलो" मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ही ज्योति है मृत्यु से मुझ को अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझको अमृत (अमर) करो यही कहता है ॥ २ ॥ और जब यह कहता है कि "मृत्यु से मुझको अमृत की ओर ले चलो" इसमें कुछ क्षिपा हुआ नहीं है अर्थात् शून्य अर्थ विस्पष्ट ही है ॥ ३ ॥ अब जो अन्यान्य मन्त्र हैं उनमें उद्गाता अपने लिये भोग्यान्न को गाये । इसलिये उनमें घर सागे सो यह ऐसे जानने वाला उद्गाता अपने लिये वा यजमान के लिये जो २ कामना चाहता है उस उस कामना को गाता है अर्थात् गान करने से उस कामना की पूर्ति करता है । निश्चय सो यह विद्वान लोक के जीतने वाला ही है जो इस प्रकार इस स म को जानता है उसको यह आशा (डर) नहीं है कि वह लोक के योग्य नहीं होगा ॥ २८ ॥

पदार्थ-अत्र आगे प्राणोपासक के लिये मन्त्र अपने की विधि कहते हैं—(अथ+अतः) अत्र यहां से (पवमानानाम्+एव) पवमान नाम के स्तोत्रों का ही (अ-भ्यारोह) जपविधि कहा जाता है (वै+सलु) निश्चय इसमें सदेह नहीं कि (स +प्रस्तोता) वह प्रस्तोता । प्रस्तोता नाम का ऋत्विक् (साम+प्रस्तौति) साम गान का आरम्भ करता है (यज) जिस समय (स +प्रस्तुयात्) सामगान की प्रस्तावविधि का आरम्भ करे । (तद्) उस समय (एतानि+जपेत्) इन वाक्यों को जपे । ये तीन वाक्य हैं (असत्.) असत् से (मा) मुझ को (सद्) सत् की ओर (गमय) ले चलो (तमसः.) तम=अन्धकार से (मा) मुझ को (ज्योतिः.) ज्योति की ओर (गमय) ले चलो (मृत्योः.) मृत्यु से (मा) मुझ को (अमृतम्) अमृत की ओर (गमय+इति) ले चलो । ये ही तीन वाक्य हैं । आगे इन तीनों का स्वयं अर्थ करते हैं—(सः) वह मन्त्र (यद्+आह) जो यह कहता

है कि “अमृतो मा सद्गमय” इसमें (मृत्यु+नै+असत्) मृत्यु ही असत् है अर्थात् असत् शब्द का अर्थ मृत्यु है (सत्+अमृतम्) सत् शब्द का अर्थ “अमृत” है । तब इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि (मृत्योः+मा) मृत्यु से मुक्त को (अमृतम्) अमृत की ओर (गमय) ले चलो । अर्थात् (अमृतम्+मा+कुरु) मुक्त को अमृत=अमर करो (इति+एव+एतद्+आह) यही कहता है (तमसः+मा+ज्योतिः+गमय+इति) इत्यादि पदों का भी पूर्ववत् ही भाव है (मृत्योः+मा+अमृतम्+गमय) यह जो वाक्य है (अत्र) इस वाक्य में (तिरोहितम्+इव+न+अस्ति) कोई अर्थ तिरोहित सा=छिपा हुआ सा नहीं है । यह विस्पष्ट ही है । ये तीन मन्त्र वा वाक्य हो गये (अथ) अत्र (यानि+इतराणि) जो अन्यान्य (स्तोत्राणि) स्तोत्र हैं (तेषु) उन स्तोत्रों में उद्गाता (आत्मने) अपने लिये (अब्राह्म) जाने योग्य अन्न को (आगायत्) अच्छे प्रकार गावे (यस्माद्+व) इस हेतु (तेषु) उन मन्त्रों में (वरम्+वृणीत) वर मागे (यम्+कामम्+कामयेत्+तम्) जिस जिस कामना को चाहे उस उसको मागे (सः+एषः) सो यह (एवविद्) ऐसा जानने-हार (उद्गाता) उद्गाता नाम का ऋत्विक् (आत्मने+वा) अपने लिये अथवा (यजमाना-य+वा) यजमान के लिये (यम्+कामम्+कामयेते) जो जो कामना चाहता है (तम्+आगायति) उस वम कामना को उद्गान से पूर्ण करता है । आगे इस विद्याविज्ञान की प्रशंसा करते हैं—(तत्+ह+एतन्) सो यह विज्ञान (लोकजिद्+एव) लोकजिन् ही है अर्थात् इस विज्ञान से सब लोक का विजय होता है । आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्) जो उपासक इस प्रकार (एतत्+साम+वेद) इस साम को जानता है उसके (अलोक्यतायै) अलोक्यता के लिये (आशा+न+ह+धै+अस्ति) आशा कदापि भी नहीं है, किन्तु लोक्यता ही की आशा है अर्थात् ऐसे उपासक को यह डर नहीं है कि मुक्त को कोई लोक नहीं मिलेगा ॥ २८ ॥

भाष्यम्—स्वयमृषिणा व्याख्यातेयं कण्डिकाञ्चैव ॥ २८ ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्



जीवात्मविचार अत्यन्त कठिन है । इसको आँखों से देखते नहीं ॥ मरण समय चारों तरफ परिजन, पुरजन, कलत्र, पुत्र, मित्र आदि सब ही बैठकर देह-से जाते हैं कि यह मर रहा है, परन्तु यह जीवात्मा कैसे कहाँ से निकला, कैसा इसका आकार है, शरीर से निकलता हुआ देखा नहीं गया । गृह चारों तरफ से बन्द है । किस छिद्र से बाहर चला गया इस प्रकार मरणकाल में भी इस आत्मा का साक्षात् दर्शन नहीं होता । पुनः शङ्का होती है कि यह जीव अणु है । अथवा मध्यमपरिमाणु है अर्थात् जय हाथी के शरीर में जाता तब हाथी के देह के धरा-वर और जब मशकदेह में जाता तब उसके देह के तुल्य होता । अथवा विभु है अर्थात् जितना बड़ा यह ब्रह्माण्ड है उनना बड़ा एक २ जीवात्मा है । पुनः प्रत्येक शरीर में एक ही जीव है अथवा भिन्न जीव हैं अर्थात् जीवात्मा की संख्या एक ही है अथवा अनेक । अथवा जीव नाम का कोई वस्तु ही नहीं । क्योंकि इस शरीर से पृथक् होके कभी जीवात्मा न देखा गया और न सुना गया है । किसी अति-कष्टावस्था में देह से निजल पाहर क्यों न आजाता ? क्या देह के किसी देह में यह बँधा हुआ है जो ऐसी दुरवस्था में भी निकल के भाग नहीं सकता । जब कोई इस के शरीर में आग लगावे अथवा काटे अथवा किसी प्रकार से हानि पहुँचावे तो देह से बाहर निकल आकाश में उड़ा हो के क्यों न बोलता, इससे भी प्रतीत होता है कि जीवात्मा इस शरीर से कोई पृथक् वस्तु नहीं ॥

पुनः यदि बाह्य जगत् में वायु, जल, प्रकाश आदिक पदार्थ न हों और इसके भरण पोषण के प्रबन्ध न किये जायें तो भी यह आत्मा नहीं होता । इस देह से यदि वायु निकाल दिया जाय तो यह उसी काल में मर जाता है शोषित ही यदि इस देह से निकाल दिया जाय तो भी यह मर जायगा फिर यह आत्मा है क्या वस्तु ? लोग कहते हैं कि यह आत्मा बोलता है ? यदि ऐसा हो तो देह छोड़कर क्यों न बोलता । जिस पुत्र, कलत्र, मित्र के साथ इतना स्नेह रहता । मरने के पश्चात् उनसे दो एक बात भी क्यों न करलेता । पुनः कोटियों, अनन्तों जीव इस

पृथिवी पर ही देखते । वे मरकर कहां रहते कहां जाते । कोई यह भी कहते हैं कि यह आत्मा अनादि नहीं । ईश्वर इसको बनाकर देहों में भेजा करता है । किसी का यह मन्तव्य है कि केवल मनुष्यशरीर में जीवात्मा है पशु पक्षी आदिक शरीरों में नहीं । किसी का यह सिद्धान्त है कि संसार में जितने पृथिवी, अग्नि, ईश, पत्थर, सूर्य, चन्द्र आदि वस्तु देखते हैं वे सब ही चेतनों के समूह हैं अर्थात् एक २ परमाणु चेतन है । कोई कहते हैं कि यह सबही जड़ है । जड़ ही मिलकर देह बन जाते, बोलने लगते, खाने पीने लगते, पुनः समयान्तर में एक क्रिया नष्ट होकर दूसरी क्रिया उत्पन्न हो जाती, इसी का नाम मरण जीवन है । न इसका कोई बना-नेहार, न कोई शासनकर्त्ता है । अनादि काल से ऐसी ही दशा चली आती है और चली जायगी । अज्ञानी पुरुषों का मानना है कि यह स्वर्गादिकों में जाता आता है । कोई यह भी कहते हैं कि इसका पुनर्जन्म नहीं होता । इत्यादि शतशः विचार केवल इस जीवात्मा के विषय में विद्यमान हैं शास्त्रों और धर्म-पुस्तकों में विविधतर्क, वितर्क, उत्तर प्रत्युत्तर विस्तार से निरूपित हैं । इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि यह अतिगंभीर, अतिदुर्गम, अतिदुर्बोध और अविमीमासनीय विषय है । गीता में कहा गया कि—“आश्चर्य्यवत्परयति कश्चिदेन माश्चर्य्यवद् वदति तथैव चान्यः । आश्चर्य्यवच्चैन मन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं न वेद कश्चित्” स्वयं वेद भी इस के दुरजघोष का वर्णन करते हैं । यथा—य ई चकार न सो अस्प वेद य ई ददर्श हिरगिन्नु तस्माद् । स मातुर्येना परिवीतो अन्तर्वहुप्रजा निश्च्यति मा विवेश ॥ इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि यह विषय अतिकठिन है ।

इस अतिगूढ़ विषय में न जाकर मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्म पर पूरा ध्यान देवे । हम मनुष्य हैं । हम में विवेक शांति है । हमारे चारों तरफ मनुष्य भरे हुए हैं । अपने स्वजन, परिजन, पुरजन भी बहुत हैं । इनके साथ हमारे क्या कर्त्तव्यकर्त्तव्य हैं । निवेकशांति विसृष्टमापणशांति हम मनुष्यों में क्यों उत्पन्न हुई है इससे कौनसा कार्य लेना उचित है । इस पृथिवी पर हम सब कैसे सुखी रह सकते हैं । इत्यादि परम कल्याण की बातों की जिज्ञासा और पूर्ति होनी चाहिये । पश्चात् जो आत्मजिज्ञासा भी करना चाहें वो कर सकते हैं । इसके लिये अनेकानेक प्राचीन और आधुनिक ग्रन्थ भी देता करें । इस ब्राह्मण में प्रथम आत्मस्वरूप और सृष्टि का वर्णन आता है । प्रथम मूलार्थ दिखला कर पुनः इस पर निवार किया जायगा ।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदा-
त्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत् ततोऽहं नामाभवत्
तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम
प्रव्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन
ओषत् तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति
य एवं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—आत्मा ही यह प्रथम था वह पुरुषसमान था उसने अपने
चारों तरफ देखा अपने से अन्य किसी को नहीं देखा । “ मैं हूँ ” ऐसा यह पहले
बोला तब उसका “ मैं ” यह नाम हुआ । इस कारण आज कल भी कोई पुकारे
जाने पर प्रथम यह “ मैं ” हूँ ऐसा वह पर तब अन्य नाम कहता जो इसका रहता
है, सो यह इस सभ से पूर्व अर्थात् श्रेष्ठ हो के इन सब पापों को दग्ध किए हुए
है । अतः यह “ पुरुष ” (पुर+उष) कहाता है । सो जो कोई (उपासक) ऐसा
जानता है वह उसको जला देता है जो इस (उपासक) से प्रथम होता चाहता
है ॥ १ ॥

पदार्थ—(आत्मा+एव+इदम्+अग्रे+आसीत्) आत्मा ही यह प्रथम था
(पुरुषविधः) वह आत्मा पुरुष के समान था (सः+अनु+वीक्ष्य) उसने अपने
चारों तरफ देखकर (आत्मनः+अन्यद्+न+अपश्यत्) अपने से भिन्न किसी को न
देखा तब (अहम्+अहिम+इति+अग्रे+सः+व्याहरत्) “ मैं हूँ ” ऐसा उसने प्रथम
कहा (ततः+अहम्+नाम+अभवत्) इस कारण “ मैं ” यह नाम उसका हुआ ।
जिस कारण उसने सब से प्रथम “ अहमस्मि ” ऐसा कहा (तस्माद्+अपि+एतर्हि)
इसी कारण आज कल भी (आमन्त्रितः) कोई पुकारे जाने पर (अहम्+अयम्+
इति+एव+अग्रे+उच्चा) “ मैं यह हूँ ” ऐसा ही प्रथम कहकर (अथ+अन्यत्+
नाम+प्रव्रूते) तब अन्य नाम कहता है (यद्+अस्य+भवति) जो इसका नाम
माता पिता से धरा गया है (सः+अस्मात्+सर्वस्मात्+पूर्व) उस जीवात्माने इस
सभ पदार्थ से पूर्व अर्थात् मुख्य, श्रेष्ठ होकर (सर्वान्+पाप्मनः) सब पापों को
(यद्) जिस कारण (ओषद्) जला रक्खा है (तस्मात्+पुरुषः) इस कारण यह

पुरुष (पुर=प्रथम, उप=दग्ध करना) कहलाता है । आगे फल कहते हैं—(यः+ एयम्+वेद) जो उपासक ऐसा जानता है (ह+वै) निश्चय (सः+तम्+ओपति) वह उसको दग्ध कर देता है (यः+अस्मान्+पूर्वः+नुभूयति) जो कोई इस तत्त्व-विद् पुरुष से पूर्व अर्थान् प्रथम वा श्रेष्ठ होना चाहता है ॥ १ ॥

भाष्यम्—भावगाम्भीर्यात्कण्डिकैव तावद् दुरवगाह्य । पुनः संस्कृतव्याकृता कठिनतरा भवतीति प्रचलितमापायामेव व्याख्यायते ।

आशय—पुरुषविध—इससे सिद्ध है कि यह जीवात्मा इस शरीर से पृथक् वस्तु है और जैसे हम शरीर के आश्रित होके देखता, सुनता, सोचता, विचारता है । वैसे ही शरीर से पृथक् होके भी देखना आदि क्रियाएं करता है । नवीन वेदान्तियों का भी सिद्धान्त इससे निराकृत होजाता । इस व्यक्तावस्था के प्रथम भी जीवात्मा था । **अहंनाम—**मनुष्य, पशु, पक्षी, आदिक देहों में आने से इस जीव का वही २ नाम हो जाता है । यह मनुष्य है यह पशु है इत्यादि निर्देश शरीर-सहित जीव का ही होता है परन्तु इस प्रपञ्च के पहिले इसका कौनसा नाम था ? अहम् अर्थात् मैं यही नाम था । यह गुणवाचक है । इसी कारण प्राणी में अहंभाव आज तक देखा जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि अहंभाव ही प्राणी के अस्तित्व का मुख्य कारण है । जिसमें जितना ही अंश अधिक वा न्यून है वह उतना ही बलिष्ठ वा दुर्बल है । अथवा उतना ही जीवन है । मनुष्य-समाज में भी सात्त्विक अहंभाव वाले ही जीवित हैं और सदा रहेंगे । पुरुष इस शब्द की व्युत्पत्तियां कई एक हैं । यहां ऋषि कहते हैं कि पुर-उप इन दो शब्दों से बना है । पुर=प्रथम । उप दाहे=दग्ध करने, जलाने, अस्म करने अर्थ में उप धातु आता है । जो सबसे पहिले अपने पापों को ज्ञान विज्ञानरूप आग्निद्वारा अस्म कर देता है वही पुरुष है । तृतीय ब्राह्मण में दियलाया गया है कि यज्ञ में नि,स्वार्थी प्राण सब तरह से सब को पवित्र किया करता है इस प्रकार जीवात्मा जब शुद्ध अपा-पविद्ध परम पवित्र होता है तब ही यह पुरुष कहलाने योग्य और सामर्थ्यानु-रूप सृष्टि करने में भी समर्थ होता है, यही भाव इस कण्डिका में सूचित हुआ है ॥ १ ॥

सोऽविभेत् तस्मादेकाकी विभेति सहायमीक्षां चक्रे
यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु विभेमीति तत् एवास्य भयं वीयाय
कस्माद्धयभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

अनुवाद—वह डरने लगा इसी हेतु अकेला डरता है । वह विचारने लगा कि यहाँ मैं ही हूँ दूसरा कोई नहीं है । तब क्योंकि मैं डर रहा हूँ । तब ही इस का भय निःशेषरूप से चला गया । वह क्यों डरता ? क्योंकि निश्चय द्वितीय से भय होता है ॥ २ ॥

पदार्थ—यद्यपि यह जीवात्मा एकला ही था तथापि (सः+अविभेत्) वह डरने लगा (तस्मात्+एकाकी+विभेति) इसी हेतु आज कल भी एकले रहने से आदमी डर जाता करता है । जब वह इस प्रकार डरने लगा तब (सः+अयम्+ह) सो यह भयभीत जीवात्मा (ईक्ष्णु+चक्रे) ईक्ष्णु अर्थात् विचारने लगा (यद्+मत्+अन्यत्+नास्ति) कि मुझ से अन्य दूसरा कोई यहाँ नहीं है (कस्मात्+नु+विभेति+इति) फिर मैं क्यों डर रहा हूँ । इस प्रकार जब उसने विचार (ततः+एव+अस्य+भयम्+वीयाय) तब ही इसका भय चला गया । अब भय का निराकरण करते हैं कि (द्वितीयाद्+वै+अयम्+भवति) दूसरे आदमी से भय होता है परन्तु दूसरा यहाँ कोई नहीं था तब (कस्मात्+हि+अभेष्यत्) तब क्योंकि वह डरता होगा अतः परमार्थरूप से उसमें भय है ही नहीं किन्तु अज्ञानकृत ही भय है ॥ २ ॥

भाष्यम्—अपिः खलु सम्प्रति दर्शयति प्रकृतिं जीवस्य । शुद्धोऽप्यपाप-
विद्धोऽपि सर्वान् पाप्मनो मस्मसात्कृत्वा पुरुषशब्देनाभिहितोऽप्येष न पापं
जिहासति कदापि । मयन्तु महत्पापमस्ति । तच्चानादिकालादस्मिन्नासन्नमिति
विज्ञायते । वीरा योगिनो महात्मानश्चापि बिभ्यतो दृष्टाः । द्वितीयाद्वै भयं भवति ।
नास्ति द्वितीयः कश्चिज्जीवादयः । कथं स स्वस्मादेव विभीषात् । “तत्र को
मोहः कः शोक एकत्व मनुपरयतः” ॥ २ ॥

भाष्याशय—कस्मात् जीवात्मा के स्वभाव का निरूपण करते हैं । यद्यपि
जीवात्मा को पुरुष इस कारण कहते हैं कि वह सब पापों को मस्मकर विद्यमान है

और प्राण के संसर्ग से निष्पाप भी हो चुका है । तथापि यह जीवात्मा बारंबार पाप पङ्क्त में फँसता ही रहता है । भय एक महापाप है । वह इसमें अनादिकाल से चला आता है । इस पृथिवी पर वीर, योगी, महात्मा सब ही भयभीत होते हुए देखे गए हैं । परन्तु दूसरे से भय होता है जीवाऽऽत्मा सब एक ही है पुनः इस को क्योंकर डरना चाहिये । “तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः” यथार्थ में अज्ञानकृत ही भय है ॥ २ ॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् । स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नीचाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माऽऽह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्य्यत एव तां समभवत् ततो मनुष्या अजायन्त ॥ ३ ॥

अनुवाद—निश्चय, वह आनन्दित नहीं था । इसी कारण एकाकी आनन्दित नहीं रहता । उसने दूसरे की इच्छा की । निश्चय वह इतना था जितने स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर होते हैं । उसने इसी आत्मा को दो प्रकार से गिराया तब उससे पति और पत्नी दो हुए । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसी कारण जीवात्मा का यह शरीर अर्धवृगल अर्थात् आधा दाल अथवा आधी सीप के समान है अतः एव पुरुष के शरीर का रिक्तस्थान स्त्री से ही पूर्ण किया जाता है । उस स्त्री के साथ वह सम्मिलित हुआ । तब मनुष्य उत्पन्न हुए ।

पदार्थ—(स.+वै+न+एव+रेमे) वह पुरुषविध जीवात्मा, निश्चय ही, आनन्दित नहीं हुआ क्योंकि वह अकेला था अतः उसे आनन्द प्राप्त नहीं हुआ । (तस्मात्+एकाकी+न+रमते) इसी हेतु आजकल भी एकाकी पुरुष प्रसन्न नहीं रहता अतएव (स.+द्वितीयम्+ऐच्छत्) उसने द्वितीय की इच्छा की । (सः+ह+एतावान्+आस) वह इतना था कि (यथा+स्त्रीपुमांसौ+संपरिष्वक्तौ) जितने स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर होते हैं अर्थात् आदि में एकही प्रकारता थी स्त्री और

पुरुष का भेद नहीं था । जीवमात्र में उभय गुण हैं । वही शरीर पाके कभी स्त्री और कभी पुरुष होता है यह शास्त्र सिद्धान्त है । अतएव कहा गया है कि न तो यह स्त्री, न पुरुष, न कुमार, न युवा, न वृद्ध है इत्यादि । पुनः आगे क्या हुआ सो कहते हैं—(स+इमम्+एव+आत्मानम्) उसने इसी आत्मा को (द्वेषा+अपातयत्) दो प्रकार से गिराया अर्थात् दो भागों में विभक्त किया (ततः+पतिः+च+पत्नी+अभयताम्) तब पति और पत्नी दो हुए (तस्मात्) इसी कारण (एवः) आत्मा का (इदम्+अर्धयुगलम्+इव) यह शरीर आधा दाल वा आधी सीप के समान है । (इति+याज्ञवल्क्य+आह+स्म+ह) ऐसा याज्ञवल्क्य अपि ने कहा है । यह पुरुष और स्त्री दोनों आधे २ हैं इसमें पुनः कारण कहते हैं—(तस्मात्+अयम्+आकाशः) जिस हेतु पुरुष का शरीर आधा ही है अतएव पुरुष का देहरूप रिक्त स्थान (क्षिया+पूर्यत+एव) स्त्री से ही पूर्ण होता है । इस प्रकार जब स्त्री और पुरुष दोनों विभक्त हुए तब (ताम्+समभवत्) वह पुरुष उस स्त्री के साथ सम-लित हुआ । (ततः+मनुष्या+अजायन्त) तब बहुतसे मनुष्य उत्पन्न हुए ॥३॥

भाष्यम्—सर्वेषां प्राणिजातानामेषाग्रकृतिरस्ति । यद्वितीयं विना नैव तिष्ठति । अणीमान् कीटोऽपि सहधर्मिणो कामयते । आधुनिकवैज्ञानिकैः खलु वृक्षादिष्वपि स्त्रीपुमासौ भवत इति निश्चीयते । अहो विचित्रेयं ब्रह्मणो विमृष्टिः । मिथुनावन्तरा कथमस्या विवृद्धि रयादिति सर्वं जगदिदं स्त्रीपुमांसमयं कृतवान् जगदीश्वरः । एतेनास्य परमं मेमप्रकाशितं भवति । नेदं जगदिदं तेन दुःखमयमायि कृतं किन्वानन्दमयमेव । सर्वं वस्तुवानन्दमयमेवास्ति । परस्पर-मानन्दं वयं दश आदद्मश्च । सर्वे परस्परं सहायकाः । तत्रापि सर्वासु जा-तिषु स्त्रीपुमांसान्यान्मानन्दकारणम् । एतयोः परस्परसाहाय्येनैवास्याविवृ-द्धिः । यद्यत्रावित्रेकत्वाया नाभविष्यत्तर्हिदं जगन्महानन्दप्रदमभविष्यत् । अ-तो विविधमानन्दमयीं सृष्टिं दर्शयतुं “स वै नैव रेमे” इत्यादि कण्ठिका आरभते ॥ ३ ॥

भाष्याशय—देखते हैं कि इस प्राणिवी पर कोई प्राणी अकेला रहकर जीवन बिताना नहीं चाहता । अणुतक कीट पतङ्ग भी पत्नी के साथ प्रीति करता है । इनमें भी किसी आश तक अवश्य प्रेम संचरित है । आजकल के वैज्ञानिक लोग

यहातक वर्णन करते हैं कि इन वृक्षादिकों में भी स्त्री और पुरुष विद्यमान हैं । अहो ! कैसी विचित्र परमात्मा की यह सृष्टि है । जोड़ी के बिना किस प्रकार इस की बहुत वृद्धि होती अतएव उसने इस जगत् को स्त्री-पुरुषमय बनाया है । इससे उसका परमप्रेम प्रकाशित होता है । इसने इसको दुःखमय नहीं किन्तु आनन्दमय बनाया । प्रत्येक पदार्थ आनन्दस्वरूप है । हम आनन्द लेते और देते हैं परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं । इसमें भी प्रत्येक जाति में परस्पर स्त्री पुरुष आनन्द के कारण होते हैं और इनकी परस्पर की सहायता से इस आनन्दमय सृष्टि की वृद्धि हो रही है । यदि इसमें अविवेक की छाया न आती तो निश्चय यह जगत् बड़ा ही सुखदायक होता । ऐसी सृष्टि का दिखलाने के लिये आगे की कण्ठिकाएं आरम्भ करते हैं ॥ ३ ॥

सो हेयमीचां चक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा
संभवति । हन्त तिरोऽसानीति । सा गौरभवद्वपभ इतरः ।
तां समेवाभवत् ततो गावोऽजायन्त । वड्वेत्राऽभवदश्व-
वृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरः । तां समेवाभवत् तत
एकशफमजायत । अजेतराऽभवद्वस्त इतरोऽविरितरा मेप
इतरः । तां समेवाभवत् ततोऽजावयोऽजायन्त । एवमेव
यदिदं किञ्च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४ ॥

अनुवाद—सो यह विचारने लगी कि यह मुझको अपने में से ही उत्पन्न कर मेरे साथ कैसे सहवास करता है । अतः मैं क्षिप जाती हूँ । वह गौ हो गई । दूसरा (पुरुष) सांड हो गया । उसने इसने सहवाम किया । तब गोजातिया उत्पन्न हुई । वह बड्वा हुई । दूसरा अश्व हुआ । यह गर्दही होगई दूसरा गर्दहा हुआ । उससे इसने सहवास किया । तब एक सुरुवाले पशु उत्पन्न हुए । वह बकरे हो गई दूसरा बकरा हुआ वह भेड़ी हो गई दूसरा भेड़ हुआ उससे इसने सहवास किया । तब बकरे और भेड़ उत्पन्न हुए । पिपीलिकाओं से लेकर जो कुछ यह जोड़ी दीपती है उस सब को इसी प्रकार इसने सिरजा ॥ ४ ॥

पदार्थ—(सा+इयम्+उ+ह+ईक्षाम्+चके) सो यह स्त्री विचार करने लगी कि यह पुरुष (आत्मनः+एव) अपने मैं से ही (मा+जनयित्वा) मुझको उत्पन्न करके (कथम्+नु+सम्भवति) कैसे मेरे साथ समोग करता है । (इन्त+तिरोऽ-सानि+इति) इस कारण मैं छिप जाती हूँ ऐसा विचार कर (सा+गौ.+अभवत्) वह गाय हो गई (इतरः+शृपभः) और दूसरा पुरुष साड हो गया । (ताम्+एव+सम्+अभवत्) तब उसी गौ के साथ वह समोग करने लगा (ततः+गावः+अजायन्त) तब गोजातिया उत्पन्न हुई । (इतरा+वडवा+अभवत्) पुनः वह स्त्री घोड़ी वा सत्त्वरी हो गई और (अश्वपभः+इतरः) दूसरा घोड़ा वा सत्त्वर हो गया (इतरा+गर्दभी+इतरः+गर्दभः) पुनः एक गदही और दूसरा गदहा हो गया (ताम्+एव+सम्+अभवत्) उसी के साथ वह समोग करने लगा (ततः+एकराफम्+अजायत) तब एक खुरवाली पशुजातिया उत्पन्न हुई (इतरा+अजा+अभवत्+इतरः+भस्तः) वह बकरी हो गई और दूसरा बकरा (इतरा+अभिः+इतरः+मेघः) वह भेड़ी बन गई और दूसरा भेड़ बन गया (ताम्+एव+सम्+अभवत्) उसी के साथ वह समोग करने लगा (ततः+अजावयः+अजायन्त) तब बकरों और भेड़ों की जातिया उत्पन्न हुई (एवम्+एव) इसी प्रकार (आ+पिपीलिकाभ्यः) चींटियों से लेकर मद्याह्वर्य जितने (यद्+इदम्+किञ्च+मिथुनम्) ये जीव एक २ जोड़ी के साथ रहनेहारे हैं (तत्+सर्वम्+असृजत) तब सब की सृष्टि की । इसी प्रकार अन्यान्य वृक्ष आदि सहस्रों पदार्थों को सृष्ट कर इस पृथिवी को सुभूषित किया है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—नास्ति परमार्थताऽख्यायिकायाः । अन्वयानां सुबोधायऽऽख्यायिकाख्यानेन जीवात्मगुणानेवोत्कीर्तयति । एष हि अहंभानपुक्रत्वादहं नामास्ति । अपापविद्धत्वात्पुरुषः । अग्निमन्नादिकालागता भीतिरस्ति । एकाकी नैव रमते । स द्वितीयां सहधर्मचारिणीं कामयते । पतिः पत्नीं विना पत्नी पतिं विना न स्थातुमिच्छति । इत्येवंविधा अस्य गुणा एवोन्यन्ते । नात्रमृष्टिर्गर्भे किमपि तात्पर्यम् । पूर्वकपिठकायां भनुष्यसंभवं कथयित्वाऽस्यां भनुष्यसहचारिणां परमोपकारिणां पशूनां सम्भवं कतिपयपशुनामपेयपुरस्सरं विवृणोति । नात्र संशयितव्यं यज्जन्मग्रहणे जीवः स्वातन्त्र्यं भजते । कर्मैव

प्रशास्तु । तदेवेतस्ततो नेयति । यच्चात्र पितृदुहितृभाप्रदर्शनपूर्वकवर्णनमान-
मस्ति तदपि न चास्तविकम् ॥ ४ ॥

भाष्याशय—यहां सृष्टि के वर्णन से तात्पर्य नहीं है किन्तु जीवात्मा के ही गुण कहे जाते हैं । इसमें अहभाव है अतः यह “अहनामा” है । यह पापों को दग्ध किये हुये है अतः पुरुष कहलाता । अनादि काल से इसमें भय सन्निविष्ट है । यह द्वितीया पत्नी के बिना नहीं रह सकता । पत्नी पति के बिना नहीं रह सकती इत्यादि आत्मगुण ही दिखलाए जा रहे हैं । पूर्ण कण्डिका में मनुष्य सभय कहकर इसमें मनुष्य सहचारी और मनुष्य को परमोपकारी पशुओं को उत्पत्ति कहते हैं । गौ, बैल, घोडा, घोड़ी, बकरा, बकरी, भेड़, भेड़ी इत्यादि पशुओं के बिना मनुष्य का कार्य सिद्ध नहीं होता । यहां पर यह संशय करना उचित नहीं कि यह जीव जन्म ग्रहण करने में स्वतन्त्र है । कर्म ही प्रेरक है यही इधर उधर जीव को ले जाता है और यहां जो पितृभाव और दुहितृभाव दिखला के पुनः दोनों का सगम दिखलाया गया है यह भी वास्तविक बात नहीं है । अज्ञानी जनों के सुसोधार्य यह आख्यायिका कही गई है । यह कल्पनामात्र है । ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः सारी कथाएँ कल्पित होती हैं । “वैदिक इतिहासार्थ” नाम ग्रन्थ को देखिये इसमें विस्तारपूर्वक यह विषय उक्त है । शतपथ ब्राह्मण का यह उपनिषद् एक भाग है । अतः इस में भी वैसी कथा आती है । यहा आनन्दमय जगन् दिखलाने के हेतु श्री पुरुष की क्रीडा और उससे उत्पत्ति दिखलाई गई है ॥ ४ ॥

लोऽवेदहं वात्र सृष्टिरस्म्यहं हीदं सर्वमसृचीति ततः
सृष्टिरभवत् सृष्ट्यां हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

अनुवाद—उमने जाना कि, निश्चय मैं ही सृष्टि हूं क्योंकि मैंने ही यह सब सृजन किया है । अतः वह सृष्टि हुआ । सो जो कोई (उपासक) ऐसा जानता है वह भी इसकी इस सृष्टि में निश्चय, स्रष्टा होता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(सः+अवेद्) उस पुरुषविध जीवात्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि रचकर मन में यह जान लिया कि (अहम्+वाच+सृष्टि+अस्मि) मैं ही यह सृष्टि हूं । (हि)

क्योंकि (अहम्+इदम्+सर्वम्+असृष्टि+इति) मैंने ही यह सब धनाया है । जिस कारण इसने कहा कि मैं ही सृष्टि हूँ अतः (ततः+सृष्टि+अभवत्) वही पुरुष सृष्टिरूप हुआ । अब आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+वेद) जो उपासक इस प्रकार जानता है वह (अस्य+एतस्याम्+सृष्ट्याम्) इस जीवात्मा की इस सृष्टि में (भवति) सृष्टिकर्ता होता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सोऽपेदिति । स पुरुषविधो जीवः सर्ववृक्तप्रकारेण जनयित्वा स्वकीयमेव परमा विभूतिमवगम्येदं विज्ञातवान् । यदहमेव प्रधानतया सृष्टिरस्मि । अहमेव सर्वमिदं सृष्टयानस्मि । अतएव स सृष्टिरूपोऽभवत् । यः कश्चिदुपासक एव वेद सोऽपि । अस्य जीवात्मनः । एतस्यां सृष्ट्याम् । स्रष्टा भवति नात्र संदेहोऽस्ति सर्वत्र जीवस्यैव परमा विभूतिः । यद्येव न स्यात्तर्हि कः पश्येत् । कोऽस्य तत्त्वं विजानीयात् । विज्ञाय च कः खलु प्रभोः परमात्मनः परममैश्वर्यं परस्परं वर्णयेत् । चेतनं जीवं विना जड़ानां विमृष्टिरेव निष्प्रयोजनेन भवेत् । उत्पद्यमानां वनस्पतीनां किं प्रयोजनं स्याद्यदि एतेषां भक्षको न स्यात् । इत्येवंविधां सर्वा स्वशक्तिं विज्ञाय चेतनो जीवात्माह—अहमेव सृष्टिरस्मीत्यादि ॥ ५ ॥

भाष्याशयः—यहां पर भी जीवात्मगुण कथन है । इस पृथिवी पर देखते हैं कि यदि चेतन जीव न हो तो यह विचित्र सृष्टि ही निष्प्रयोजन सी प्रतीत हो । क्योंकि परमात्मा की परम विभूतियों को कौन देखे, कौन गावे, कौन सुने सुनावे ईश्वर है या नहीं, यह कैसा है इत्यादि विचार भी कौन करे करवावे । चेतन जीव के बिना जड़ पदार्थों की सृष्टि का भी कौन सा प्रयोजन हो सकता । जो ये सहस्रों वनस्पति आदि जड़ पदार्थ हैं । यदि इनका भक्षक इनको कार्य में लानेहारा इन के वास्तविक गुणों को जानने द्वारा न हो तो इनसे कौनसा अभिप्राय सिद्ध होगा ?—यदि मोर न हो तो मेघ को देख कौन नृत्य करे । यदि मनुष्य न हो तो सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, समुद्र, पर्वत और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की शोभा, गुण, तत्त्व, महिमा इत्यादि जानकर कौन वर्णन करे । यदि ये विहगगण न हों तो प्रकृति देवों को मधुरध्वनि से गान कौन सुनावे, यदि भ्रमर न हों तो कुसुमों की सुगन्धि की ओर कौन दौड़े और इनके रसों को लेकर मधुनिर्माण कौन करे । इस प्रकार चेतन के

बिना जड़ सृष्टि निष्प्रयोजन ही सिद्ध होती है । इसमें भी यदि मनुष्य सृष्टि न हो तो भी सर्व प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का वास्तविकरूप ज्ञान ईश्वर की परम विभूति की स्तुति करनेहारा केवल मनुष्य ही है । जिस ओर देखो उसी ओर इस सृष्टि में इसी की विभूति दीखती है । यह सनका इतिहास लिखता है । यह सब को काम में लाता है । ये प्रासाद, ये भवन, ये ग्रन्थ, ये महाराजपथ, ये रेल तार आदि मनुष्य के ही कार्य हैं । यही मनुष्य जाति ईश्वर के भी महिमा को जानती, जनवाती, गाती, गवाती । अन्यथा इनको भी कौन जानता । अतः प्रथम इस मानव सृष्टि का पूर्ण अध्ययन करना चाहिये । मैं पूर्व में कह चुका हूँ कि जिज्ञासा के लिये ही मानवसृष्टि है । यहां विस्पष्टरूप से दिखलाया जाता है कि यह मानव जीव कहाँ तक कार्य करने में समर्थ हो सकता है । यह कहता है कि “ मैंने सब रचा ” “ मैं ही सृष्टि हूँ ” निःसन्देह यह बात बहुत ही ठीक है । परमात्मा ने सम्पूर्ण वस्तुओं को रचकर इस पृथिवी पर स्थापित कर दिया । और इनके साथ २ विज्ञानी विवेकी मनुष्य जीव को भी यहां रख दिया । अब यदि मनुष्य इनसे काम न लेता तो इनकी शोभा कदापि न बढ़ती । जंगलों में गौ, भैंस, बकरा, भेड़ आदि पशु रहते थे । वनों में ये आम्र, कटहल, गेहूँ, जौ, मालवी, कमल, बेली, बमेली आदि पदार्थ थे, मनुष्य के द्वारा काम में लाने पर इनके गुण प्रकट होने लगे । इस प्रकार यदि आप विचार करते जायेंगे तो ज्ञात होगा कि इस पृथिवी पर तो मनुष्य जीव ही सर्वश्रेष्ठ है । यही इस प्रकार की सृष्टिकर्त्ता है अतः यह कहता है कि मैंने यह रचा है । मैं ही सृष्टि हूँ हत्यादि । ऐसा कथन करना भी जीवात्मा का स्वभाव है ॥ ५ ॥

अथेत्यभ्यमन्यत् स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृ-
जत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्त-
रतः । तद्यदिदमाहु रसुं यजामुं यजेत्येकैकं देव मेतस्यैव सा
विसृष्टिरेव उद्येव सर्वे देवाः । अथ यत्किञ्चेदमार्द्रं तद्रेतसो-
ऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवाग्रादश्च सोम
एवाग्नमग्निरग्रादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः । यच्छ्रेयसो देवान-

सृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्यां
हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

अनुवाद—पश्चात् इसने सघर्षण (रगड़) से अग्नि उत्पन्न किया । इसने
सुप्तरूप स्थान के लिये और दोनों हाथों के लिये अग्नि बनाया । इसी कारण ये दोनों सुप्त
और हाथ अभ्यन्तर से लोपरहित हैं । क्योंकि अग्नि का स्थान भीतर से लोपरहित
होता है । और जब लोग कहते हैं कि इस एकदेव का यजन करो और उस एक देव का
यजन करो तब वे यह नहीं जानते हैं कि उसी एक देव का यह सत्र बिकारा है । निश्चय,
यही एक देव सत्र देव है । पश्चात् इसने बलवीर्य के लिये उस सत्र को सृजन किया जो यह
आर्द्र प्रतीत होता है । निश्चय, वह यह सोम है । निश्चय, यह सम्पूर्ण जगत् इतना
ही है जितना अन्न और अन्नाद है । सोम ही अन्न है और अग्नि अन्नाद है । यही
परमात्मा की महती सृष्टि है । और जिस हेतु इसने परम कल्याण के लिये देवों को
बनाया और जिस कारण यह मर्त्य हो के अमृत पदार्थों को सृजन किया । इस हेतु
यह महती सृष्टि है जो कोई उपासक ऐसा जानता है वह भी इस प्रजापति की इस
महती सृष्टि में सटा बनता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(अय+इति+अभ्यमन्थन्) पश्चात् उसने अग्निमन्थन किया (स,+
मुप्तात्+च+योने) उसने सुप्तरूप स्थान के लिये (हस्ताभ्याम्+च) और हाथों
के लिये (अग्निम्+अमृजत) अग्नि मृजत किया (तस्माद्+उभयम्+अन्तरत +
अलोमम्) इस कारण यह सुप्त और हाथ दोनों अन्तर से अलोमक अर्थात्
रोमरहित हैं (हि) क्योंकि (योनि +अन्तरतः+अलोमम्) अग्निस्थान अन्तर
से रोम रहित है । (तद्+यद्+इदम्+आहु) इस कारण कोई २ जो यह कहते हैं
कि (अमुम्+एवम्+यज) इस एक २ देव का यजन कर (अमुम्=यज)
इस एक २ देव का यजन कर । वे यह नहीं जानते हैं कि (एतस्य+एव+सा+
विमृष्टिः) इसी एक की यह माना सृष्टि है (एतः+उ+हि+पव+सर्वे+देवाः) नि-
श्चय यही एक सत्र देव है । (अय+यत्+मिद्ध+इदम्+आर्द्रम्) पश्चात् जो मुख
या आर्द्र=मीमा हुआ पदार्थ है (तद्+रेतसः+अमृजत) उसको इसने बलवीर्य
के लिये सृजन किया (तद्+उ+सोमः) वह सोम है (एतावद्+यै+इदम्+सर्वम्)
यह सम्पूर्ण जगत् इतना ही है (अन्नम्+अन्नाद +च) जितना अन्न और अन्न

भोक्ता है । अर्थात् यहाँ एक तो अन्न है और दूसरा अन्न को खानेद्वारा है ये ही दो हैं अतः यह ससार ही इतना है (सोमः+एव+अन्नः+अग्निः+अन्नादः) सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद अर्थात् अन्न का भोक्ता है (सा+एपा+ब्राह्मणः+अतिसृष्टिः) यही परमात्मा श्री महती सृष्टि है । (यद्+भेयसः+देवान्+असृजत) जिस कारण परम कल्याण के लिये देवों को इसने सृजन किया (अयं+यद्+मर्त्यः+मन्+अमृतान्+असृजत) और जिस कारण मर्त्य हो के इसने अमृत पदार्थों को सृजन किया है (तस्माद्+अतिसृष्टिः) इसी हेतु यह महान् सृष्टि है (यः+एवम्+वेद) जो कोई उपासक इस प्रकार जानता है (अत्यन्त+एत-स्याम्+अतिसृष्ट्याम्) इस प्रजापति के इस महान् सृष्टि में (भवति) वह सृष्टि-कर्त्ता होता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अत्रापि जीवगुणा एवोच्यन्ते । नाऽस्तपस्य निर्वाहोऽग्निं विना । मुखं सर्वदैव परिपक्वमेव वस्तु जिघ्रिष्यति । हस्तावपि किमपि कर्तुमेव यतेते । शीतलौ भूत्वा तु किमपि कर्तुं न समर्थौ । तस्मादेव कारणात् । मुखाच्च योनिः योनिः स्थानवाची, निमित्तार्थेऽत्र पञ्चमी । मुखरूपस्य स्थानस्य निमित्ताय अग्निमसृजत । एवमेव हस्ताभ्यां हस्तयोर्निमित्तायाग्निसृष्टिः । रेतसो वीर्यस्य निमित्ताय । श्रेयसः परमकल्याणाय । सर्वत्रैवैषु स्थानेषु निमित्तार्थे पञ्चमी । देवानमृजत=एष जीवो मनुष्यशरीरं प्राप्याग्निं वायुं सूर्यं चन्द्रमस मन्यांश्च विद्युदादीन् देवान् तत्त्वतो विदित्वा स्वकार्ये नियोजितवान् तेन तेन देवेन कार्यविनियुक्तेन स्वकार्ये साधिकानित्येव देवानां सृष्टिः । नास्ति वास्तविक सृष्टौ श्रुतस्तात्पर्यम् । अन्यानि पदानि विस्तरेण प्रचलितभाषया व्याकृतानीति न व्याख्यायन्ते ॥ ६ ॥

भाष्याशय—यह भी आत्म-गुण का ही वर्णन है । यहाँ चार वस्तुओं का वर्णन है । १—एक अग्नि की उत्पत्ति का, २—दूसरा देवताओं के यजन का, ३—तीसरा सोम के सृजन का और ४—चौथा मर्त्य के द्वारा अमृतों का प्रकाशित होने का । १—जैसे रेतती और अन्यान्य कार्य के निर्वाह के लिये गौ, बैल, घोडा, गदहा, वकरा, भेड़ आदि पशु मनुष्य जीवन के परम सहायक होते हैं वैसे ही सत्य पदार्थ और उन पदार्थों के पकानेद्वारे अग्नि के बिना इसका कोई कार्य सिद्ध

नहीं हो सकता । अब यह प्रश्न होता है कि मनुष्य जाति ने अग्नि और वायु पदार्थों को कैसे जाना । इसमें कोई ऐसी सामग्री है जिसके द्वारा इन दोनों का पूरा २ बोध हो । अर्थात् कहते हैं कि मुख और हाथ ये दो पदार्थ हैं । मुख कबे पदार्थ को खाना नहीं चाहता और हाथ शीतल हो जाने पर काम करना नहीं चाहता, अतः सृष्टि की धृष्टि के साथ २ मुख और हाथ के हेतु अग्नि को इस पुरुषजीव ने कार्य में लाया । इससे केवल यज्ञ ही नहीं किया करते थे किन्तु रक्षा के विविध साधन अन्न और राक्ष भी बनाया करते थे ॥

हाथ और मुख दोनों लोभरहित हैं—लोभ शब्द यहाँ आलस्य और अक-
सैव्यता सूचक है । जिस मार्ग से चलना बन्द हो जाता है उसमें घाम उत्पन्न
हो मार्ग का चिह्न भी कुछ दिन में मिट जाता है । जिस रेत में हल न चलाया
जाय वह वनस्पतियों से आच्छादित हो कृपियोग्य नहीं रहता । भाव यह है
कि जहाँ कार्य होते रहते हैं वहाँ आलस्यरूप रोगों की उत्पत्ति नहीं होती ।
अग्नि शब्द—कार्यसूचक है । प्रत्यक्ष अग्नि जहाँ रहेगा वहाँ अवश्य अपता कार्य
करता ही रहेगा । मुख और हाथ में प्रत्यक्ष क्रिया सदा होती रहती है । क्योंकि
हाथ से कमाना और मुख से खाना ये दो काम लगे ही रहते हैं, अतः अर्थात्
कहते हैं कि मानो इसी कारण इन दोनों में आलस्यरूप रोग नहीं है । इसी
प्रकार जो सदा कार्य करता रहेगा उसको आलस्य न होगा और अन्न के लिये
यह कभी पराधीन न रहेगा ॥

२—अमुं यज, अमुं यज इत्यादि—इसमें सिद्ध है कि एक महान् शक्ति
सब में व्यापक है उसी की यह सम्पूर्ण रचना है अतः इस परम देवता को छोड़
जो अन्याय देवों की उपासना में लगने दें वे बड़े अज्ञानी हैं । ३—तीसरा सोम
की उत्पत्ति का निरूपण है । मैं प्रथम भी यह चुका हूँ कि यहाँ सृष्टि की
उत्पत्ति से तात्पर्य नहीं । किन्तु जीवन में मनुष्योपयोगी वस्तुओं को केवल दि-
खलाना है । यहाँ सन्तान दाह पदार्थ का नाम सोम है । यद्यपि दाह पदार्थ भी
अनेक हैं परन्तु जो आर्द्र अर्थात् रसयुक्त पदार्थ हैं जिन रसों से मनुष्यों को
पट्टत कुछ लाभ पहुँच सकता है । ऐसे ही पदार्थों का नाम सोम है । (रेतसः+
अमृजत) यल बीर्य के लिये उस सोम को इसने आविष्कृत किया । अब आगे

कहते हैं—भक्ष्य और भक्षक ये ही दो पदार्थ हैं, यथार्थ में अग्नि ही खानेहारा है (अग्निः+अन्नादः) अत्युक्त में देखते हैं कि अग्नि सब पदार्थ को भस्म कर देता है । अतः अग्नि ही महान् भक्षक है । जिस पुरुष में वह आग्नेयशक्ति विद्यमान है वही पदार्थों का भोक्ता होता है । (सैषा+ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः) इसमें सन्देह नहीं कि यह भक्ष्य और भक्षक की उत्पत्ति करना महान् कौशल की बात है । इति सत्तेपतः ॥

४—देवान्+अमृतं—चौथी बात यह है कि यह मनुष्य मर्त्य होकर अमृत जो न मरनेहारे देवगण इनको बनाता है । इसका भी भाव विस्पष्ट है । यह जीव उत्पन्न हो पुरुषाकृति में आ अग्नि, सूर्य, वायु, पृथिवी आदि देवों के वास्तविक गुण जान इनको अपने काम में प्रत्युक्त करने लगा । यही देवों को सृजन करता है । (इति सत्तेपतः) ॥ ६ ॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत मासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियताऽसौ नामाऽयमिदंरूप इति । तदिदमन्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदंरूप इति । स एष इह प्रविष्टः । आनखाग्नेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यन्ति । अकृत्स्नो हि सः प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैक मुपास्ते न स वेदाऽकृत्स्नोऽप्येवोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति । तदेतत्पदनीय मस्य सर्वस्य यद्यमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥ ७ ॥

अनुवाद—यहले यह सन अव्याकृत अर्थात् वृद्धि को प्राप्त नहीं था । नाम और रूप से ही इसकी वृद्धि हुई, इस कारण इसका यह नाम है, इसका यह रूप है, ऐसा व्यवहार चला । अतएव आज कल भी नाम और रूप से ही इसका व्यवहार या व्याख्यान किया जाता है । कहा जाता है कि इसका अमुक नाम है और अमुक रूप है । सो यह आत्मा इसमें प्रविष्ट है नरों के अग्रभाग से लेकर शिर तक प्रविष्ट है, जैसे क्षुरधान में क्षुर रहता है अथवा जैसे अग्नि अग्निस्थान में रहता, इस आत्मा को लोग नहीं देखते हैं । क्योंकि इस प्रकार से यह अपूर्ण है । क्योंकि प्राणवृत्ति के कारण यह प्राण कहाता, धोलने के कारण धातू, देखने के कारण चक्षु, सुनने के कारण श्रोत्र और मनन के कारण मन कहाता है इसके ये सन कर्म नाम हैं । अतः जो कोई प्राण, मुख, चक्षु आदि एक एक की उपासना करता है वह नहीं जानता । क्योंकि इस प्रकार यह आत्मा अपूर्ण ही रहता । एक एक अवयव से अपूर्ण ही है, अतः उचित यह है कि आत्मा ऐसा मान उपासना करे क्योंकि इसी में मन एक हो जते हैं । सो यह अवयव अन्वेष्टणीय है । इस सन का स्वामी जो आत्मा है वह अन्वेष्टण योग्य है इसी विज्ञान से यह उपासक सन जानता है । जैसे इस लोक में किसी विद्व से नष्ट वस्तु को पाते हैं । सो जो कोई उपासक ऐसा जानता है यह कीर्ति और प्रशमा को प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—यह पुरुषविध ब्राह्मण कहलाना है । यह दिखला रहा है कि क्रमशः २ इसकी उन्नति हुई है । सृष्टि के आदि में किस पदार्थ को किस नाम से और ये जो भिन्न २ रूप हैं इनको भी किस २ नाम से पुकारें यह बोध नहीं था और बिना नाम रूप के ज्ञान के व्यवहार सिद्ध नहीं होता, अतः इस काण्डिका का आरम्भ करते हैं (तद्+दृ+दृष्टम्+तर्हि+अव्याकृतम्+आसीत्) आरम्भ में यह सन वस्तु तब अव्याकृत थी । तत्र (नामरूपाभ्याम्+एव+व्याजिघत्स) नाम और रूप से ही यह व्याकृत हुआ (असौनामा+अयम्+दृष्टरूपः+इति) इसका यह नाम है और इसका यह रूप है । (तद्+दृ+दृष्टम्+अपि+एतर्हि) इस कारण आज भी यह जगत् (नामरूपाभ्याम्+एव) नाम और रूप से ही (व्याजिघत्से) व्याकृत होता है (असौनामा+अयम्+दृष्टरूपः+इति) अमुक नाम का यह पुरुष है इसका अमुक

रूप अर्थात् आकार है । (सः+एष+इह+प्रविष्टः+आनसामेभ्यः) सो यह जीवात्मा
 नसों के अग्रभाग से लेकर शिर के केश तक इस शरीर में प्रविष्ट है, इसमें दृष्टान्त
 देते हैं—(क्षुरधाने+यया+क्षुरः+आहितः) नापित जिसमें कैंची, वस्तुरा आदि केश
 काटने की सामग्री रखता है उसे क्षुरधान कहते हैं । उस क्षुरधान में जैसे क्षुरी
 प्रविष्ट रहती (स्याद्+वा) अथवा (विश्वम्भरः) यह अग्नि (विश्वम्भरकुलाये)
 अपने स्थान में अर्थात् जेमे प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है इसी प्रकार यह जीवा-
 त्मा भी इस शरीर में प्रविष्ट है । (तम्+न+परयन्ति) उम जीवात्मा वो कोई
 देखते नहीं (अकृत्स्नः+हि+तः) आदमी एक एक अंग को देखता है उस में
 इन को खोज करता है परन्तु एक एक अंग में वह अपूर्ण है किन्तु सम्पूर्ण अङ्ग
 में पूर्ण है जो सम्पूर्ण में खोज करेगा उसी को मिलेगा । आगे इसी अपूर्णता को
 दिखलाते हैं—(सः+प्राणन्+एव) जब यह जीव खास प्रश्राम लेता है (प्राणः+
 नाम+भवति) तब यह प्राण नाम से पुकारा जाता है । (वरन्+याक्) जब यह
 बोलता है तब याक् नाम से (परयन्+चक्षुः) जब देखता तब चक्षु नाम से
 (शृण्वन्+श्रोत्रम्) जब सुनता तब श्रोत्र नाम से (मन्वानः+मनः) जब मनन
 करता तब मन नाम से पुकारा जाता है । इस प्रकार इसी एक के अनेक नाम हैं,
 परन्तु (अत्यन्तानि+उत्तानि+कर्मनामानि+एव) इसके ये सब कर्म नाम हैं ।
 क्रिया के कारण ये सब नाम होते हैं और अज्ञानी पुरुष इसी एक एक को लेकर
 उपासना करते हैं । इसी विषय को आगे दिखलाते हैं—(अतः+सः+यः+एकैकम्+
 उपास्ते) इस कारण सो जो कोई एक एक को आत्मा जानता है (त+सः+वेद)
 वह नहीं जानता है (हि) क्योंकि (अतः) इस कारण (एर+एकैकेन+अकृत्स्नः+
 भवति) यह जीव एक एक में अपूर्ण ही रहता है । (आत्मा+इति+एव+उपासीत)
 “ आत्मा ” ऐसा ही मानकर सब को एक ही जाने (अत्र+हि) क्योंकि इसी में
 (एवे+पर्वे+एकम्+प्रयन्ति) ये सब एक हो जाते हैं (तद्+एतद्+यदनीयम्) इस
 कारण यह जीवात्महून वस्तु अवश्यमेव खोज करने योग्य है (अत्यन्तसर्वस्य+
 यद्+अयम्+आत्मा) इस सब वस्तु में जो यह आत्मा विद्यमान है, क्योंकि
 (अनेन+हि+एतन्+मर्वम्+वेद) इसी आत्मविज्ञान से इस सब को जान लेता है
 (यया+ह+य+पदेन+अनुबिन्दते) जैसे किसी चिह्न विशेष से नष्ट वस्तु को प्राप्त
 करता है (य+एवम्+वेद) जो उपासक इस प्रकार जानता है (कीर्तिम्+श्लोकम्+
 विन्दते) वह कीर्ति और यश को पाता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—तद्वेदमिति । इदमपि जीवगुणानामेव वर्णनम् । कथम् ? । क्रमशः क्रमशोऽप्यजगतो वृद्धिः । प्रारम्भे केन नाम्नाऽयं पदार्थो वक्ष्य इत्याकारकं ज्ञानं नासीत् । व्यवहारश्च तु तज्ज्ञानमपेक्षितव्यम् । अतः शनैः शनैः सर्वेषां नामान्यपि कृतानि । एषापि जीवशक्तिरेव । पुनर्जीवात्मविषयोऽपि मार्गितः । नेदं चतुर्जीवः । नेदं त्र्योत्रं जीवः । नेदं मनो जीवः । किन्नेतान्यस्य सर्वाणि साधनानि । जीवस्त्वन्य एतेभ्यः । इत्थं विविच्य जीवाऽऽभाष्यप्रवृत्तः । कपिडकार्थस्तु प्रचलितनाम्ना द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

भाष्याशय—अव्याकृत=अव्यक्त, अव्याख्यान अर्थात् जिनका निरूपण जिसका वर्णन अच्छे प्रकार नहीं हो सकना उसे अव्याकृत कहते हैं जब तक नाम और रूप न जाने जाँ सके तब पदार्थों की दशा अव्याकृत ही जलती चाहिये । प्रारम्भ में पदार्थों के नाम नहीं थे । धीरे २ समय के नाम भी रखे गये । नामकरण करनेद्वारा यह पुरुष जीव ही था । अतः वह भी जीव के गुणों का ही वर्णन है ॥ ७ ॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयोवित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यद्यमात्मा । स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रूवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

अनुवाद—सो यह वस्तु पुत्र से भी प्रियतम है, वित्त से भी प्रियतम है । सच ही अन्य वस्तु से प्रियतम है जो यह अतिबिगुलस्थ आत्मस्वरूप वस्तु है । जो कोई इस आत्मा को छोड़ अन्य ही वस्तु को प्रिय समझता है उस अज्ञानी को यह ज्ञानी कहे कि यह तेरा प्रियार मिथ्या है । ऐसा मानने से तेरा प्रिय पदार्थ नष्ट हो जायगा । क्योंकि ऐसा कहने के लिये वह उपासक योग्य है । इस कारण आत्मा को ही प्रिय मानकर उपासना करे । सो जो कोई आत्मा को ही प्रिय मानकर उपासना करता है । उसका प्रिय पदार्थ नष्ट नहीं होता ॥ ८ ॥

पदार्थ—(तत्+एतन्) सो यह वस्तु (पुत्रात्+प्रेय.) पुत्र से भी प्रियतर है (वित्तात्+प्रेय.) धन से भी प्रियतर है (अन्यस्मात्+सर्वस्मान्) अन्य सब वस्तु से प्रियतर है । वह कौन वस्तु है मो आगे कहते हैं—(अन्तरतरम्) अति-निकटस्थ (यद्+अयम्+आत्मा) जो यह आत्मा है । वह सब से प्रियतम है । जो कोई इसको ऐसा नहीं समझता है उसकी चित्ति दिसलाई जाती है । (आत्मनः+अन्यम्+प्रियम्+तुवाणन्) सो जो कोई आत्मा से अन्य वस्तु को प्रिय मान रहा है उसमे (मः+य+त्र्यान्) मो जो ज्ञानी आत्मनस्वरिद् कहे कि तेरा यह सिद्धान्त भ्रान्तियुक्त है उसे त्याग दे अन्यथा (प्रियम्+रोत्स्यनि+इति) तेरा प्रिय पदार्थ नष्ट होजायगा ऐसा कहने का अधिकार इस ज्ञानी को क्योंकि है इस पर कहते हैं कि (तथैव+ईश्वरः+स्यात्) वह ज्ञानी ऐसे उपदेश करने को समर्थ है अतः वह ऐसा कह सकता है, दूसरा नहीं । अतः (आत्मानम्+एव+प्रियम्+उपासीत) आत्मा को ही प्रिय जान कर इसकी उपासना करे अर्थात् आत्मतत्त्व को अच्छे प्रकार जानें । (सः+य.+आत्मानम्+एव+प्रियम्+उपास्ते) सो:जो कोई उपासक आत्मा को ही प्रिय जानकर उपासना करता है (अस्य+प्रियम्) इसका प्रिय पदार्थ (न+इ+प्रमायुक्म्+भवति) प्रमाणीशील अर्थात् भरण योग्य नहीं होता ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एष आत्मैव पुत्राद् रिचात् सर्वस्माद् वस्तुनः प्रियतरोऽस्ति । अयमतिमग्निहितोऽस्ति । स यः रुचिद् ज्ञानी आत्मानं विहायान्यद्वस्तु प्रियं मन्यते तदेवोपस्ते च । तस्य प्रियं विनष्टं भवति । अनः आत्मानमेव प्रियतरे-त्वेनोपासीत । प्रेयः प्रियतरः । प्रमायुक्तं प्रमणशीलम् । शेषं रिस्पष्टार्थम् ॥ ८ ॥

तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते । किमु तद् ब्रह्मावेद् यस्मात् तत्सर्वमभवदिति ॥ ६ ॥

अनुवाद—यहा ज्ञानी जन कहते हैं कि “मनुष्य ऐसा मान रहे हैं कि ब्रह्म-विद्या से हम सब वस्तु को प्राप्त होंगे । “क्या कोई ज्ञानी ऐसा है जिमने उस ब्रह्म को जाना हो । और जिससे यह सर्व वस्तु हुई हो ॥ ६ ॥

पदार्थ—(तद्+आहुः) यहा कोई ज्ञानी कहते हैं (यद्+ब्रह्मविद्या) कि ब्रह्मविद्या से हम (सर्वम्+भविष्यन्तः) सब वस्तु को प्राप्त करेंगे ऐसा (मनुष्या+मन्यन्ते) मनुष्य मानने हैं । अब यहा प्रश्न करते हैं कि (किम्+उ) क्या कोई ऐसा ज्ञानी कहीं हुआ अथवा है जिसने (तद्+ब्रह्म+अवेत्) उस ब्रह्मको जान लिया हो और (यस्मान्+सर्वम्+अभजत्+इति) जिस ज्ञान से सब वस्तु हुई हो ? ॥ ६ ॥

भाष्यम्—आत्मज्ञानं विधाय ब्रह्मविद्या सर्वं भवतीति दर्शयितुं कण्डिका द्वयमारभते । तदाहुः केचन ब्रह्मनिदः । यद् ब्रह्मविद्या सर्वं वस्तु भविष्यन्तः प्राप्स्यन्तः सन्तः । भू प्राप्ता । एवं मनुष्या मन्यन्ते । अत्र पृच्छन्ति । किमु कश्चिदीह पुरुष आसीदस्ति वा । यः । तद्ब्रह्म अवेद् विदितवान् । यस्माद् ब्रह्मनिदः सर्वमवगादिति । अग्रे समाधास्यति ॥ ६ ॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवद् । तयो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथार्पिणां तथा मनुष्याणां तच्चैतत्पश्यन् नृपिर्वा न देवः प्रतिपेदे “अहं मनुरभवं सूर्यश्च” इति । तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति । तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते । आत्माहोपां स भवति । अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसा वन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम् । यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति । एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेपां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विशुः ॥ १० ॥

अनुराद—निश्चय, प्रारम्भ म यह ब्रह्म ही था उसने अपने आत्मा को जाना कि मैं गदा दृष्टमलिये उससे सब हुआ । अतएव देवों के मध्य जो २ ब्रह्म

बोध के लिये जाग्रत हुआ उस बोद्धाने भी उस ब्रह्म को पाया । वैसे ही ऋषियों और मनुष्यों में भी जो प्रति बुद्ध हुआ वह भी ब्रह्म को प्राप्त हुआ । इस उसने देवता हुआ ऋषि वामदेव ने कहा कि "मैं ही मनु हुआ हूँ, मैं ही सूर्य हुआ हूँ" सो जो कोई ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म अर्थात् सर्ग समर्थ हूँ । वह इस सच को आज कल भी पाता है उस ज्ञानी के क्षति पहुचाने के लिये देवगण भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि यह ज्ञानी इन देवों का आत्मा बन जाता है, यह अन्य है, मैं इससे भिन्न हूँ । ऐसा जानकर जो अन्य देवता की उपासना करता है वह नहीं जानता वह देवों के लिये पशुमत् है । जैसे बहुत से पशु मनुष्य को पोषण करते हैं ऐसे ही एक २ अज्ञानी पुरुष देवों को पोषण करता है जर एक पशु को लेलेने से अभिय होता तब यदि सत्र पशु लेलिये जाय तो इसकी क्या ही क्या ? इस कारण इन देवों को यह भिय नहीं लगता है कि मनुष्य इसको जान जाय ॥ १० ॥

पदार्थ—(वै+अमे+ब्रह्म+इदम्+आसीत्) निरचय, पहले एक ब्रह्म ही यह था (तद्+आत्मानम्+एष+अवेत्) उसने अपने को ही जाना कि (अहम्+ब्रह्म+अस्मि+इति) मैं ब्रह्म हूँ (तस्मात्+तत्+सर्वम्+अभवद्) उससे यह सत्र हुआ । (तद्+यः+यः+देवानाम्+प्रत्यबुध्यत) इस प्रकार देवों के मध्य में जो २ कोई ब्रह्म-ज्ञान के लिये जाग उठे (सः+एव) वह वह (तद्+अभवत्) उस ब्रह्म को प्राप्त हुए (तथा+ऋषीणाम्+तथा+मनुष्याणाम्) इसी प्रकार ऋषियों में और मनुष्यों में जो २ जागे उस २ ने उस ब्रह्म को पाया (तद्+ह+एतद्+परयत्) इस सुप्रसिद्ध विज्ञान को जानते हुए (वामदेव+प्रतिपेदे) वामदेव ने कहा कि (अहम्+मनुः+अभवम्+सूर्यं+च+इति) मैं मनु हुआ और मैं सूर्य हुआ । (एतर्हि+अपि) आज कल भी (तद्+इदम्) उस इस सुप्रसिद्ध विज्ञान को (एवम्+वेद) ऐसा जानता है कि (अहम्+ब्रह्म+अस्मि) मैं सर्वसमर्थ हूँ (स.+इदम्+सर्वम्+भवति) वह इस सत्रको पाता है (तस्य+अभूय+देवाः+चन+न+ह+ईशते) उस विज्ञानी के अकल्याण के लिये कोई देव भी समर्थ नहीं होते अर्थात् उसको कोई इन्द्रिय अब क्षति नहीं पहुँचा सकते । (अथ) अथ (अन्य+असौ+अन्य+अहम्+अस्मि+इति) यह दूसरा है मैं इससे अन्य हूँ ऐसा जान (यः+अन्याम्+देवताम्+उपास्ते) जो कोई अन्य देवता की उपासना करता है (न+सः+वेद) वह नहीं जानता है (सः+देवानाम्+यथा+पशुः+एव) वह

अज्ञानी देवों के लिये पशुवन् ही है । (यथा+दृ+वै+यहवः+पशवः) जैसे गौ, घोड़ा, भेड़, बकरी, ऊट, हाथी इत्यादि बहुत से पशु (मनुष्यम्+मुञ्ज्युः) एक मनुष्य को पोषण करने हैं अर्थात् मनुष्य इन को कार्य में लगा कर अनेक लाभ उठाते हैं (एवम्+इकैक+पुरुषः) इसी प्रकार एक एक अज्ञानी पुरुष (देवान्+भुनक्ति) देवों को पोसता है (एरुस्मिन्+एव+मरौ+आदीयमाने) यदि किसी पुरुष का एक ही पशु ले लिया जाय चुरायाय वा नष्ट हो जाय तो उतना ही (अग्नि-यन्+नरति) उनको घडा अग्नि होना (बहुपु+किम्+उ) यदि बहुत पशु नष्ट होजाय तो दुःख की क्या दशा कही जाय (तस्मान्) इस कारण (एवाम्+तन्+न+प्रियन्) इन देवों को यह प्रिय नहीं लगता है (यद्+मनुष्याः+रतद्+विशु.) कि मनुष्य इस परमात्मा को जान जायें ॥ १० ॥

धामदेव सवन्धी धार्ता वैदिक-इतिहासार्थनिरणय में विस्तार से वर्णित है वहाँ देखिये ।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तद्वेकं सन्न व्यभवत् ।
तच्छ्रेयोरूपमत्पसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो
वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति ॥११॥ (क)

अनुवाद—निश्चय, आरम्भ में केवल एक ब्राह्मण वर्ण ही था यह एक होता हुआ समर्थ नहीं हुआ । इस हेतु उसने एक उत्तम सृष्टि रची जो (जगत् में) क्षत्रिय वा क्षत्र कहलाता है । देवों में ये क्षत्रिय हैं—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान ॥ ११ ॥ (क)

पदार्थ—(वै) निश्चय (अत्रे) क्षत्रियादि वर्ण विभाग के पहले (इदम्) यह समस्त मनुष्य समूह (एकम्) एक (ब्रह्म+एव) ब्राह्मण ही (आसीत्) था । अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में केवल एक ब्राह्मणवर्ण था, मनुष्यों में क्षत्रियादि विभाग नहीं था । तत्र (तद्) वह ब्राह्मणवर्ण (एकम्+सन्) एक ही होने के कारण (न+व्यभवत्) विशेष शक्ति को प्राप्त न हो सका । इस हेतु (तद्) उस ब्राह्मण वर्ण ने (श्रेयोरूपम्) एक उत्तम वर्ण को (अत्यमृजत) अतिपरिश्रम या अतिचातुर्य वा अतिशय बुद्धिपत्ता के साथ चन्मया वह कोन वर्ण है सो आगे

कहते हैं—(चित्रम्) जो जगत् में चित्रिय नाम से सुप्रसिद्ध है । ब्राह्मणों ने जो यह विभाग किया सो प्रकृति के बीच में कोई लक्षण देकर अथवा ईश्वर के नियम को काटनेवाली अपनी स्वतन्त्रता से, इस पर कहते हैं कि (देवत्रा) प्राकृतिक पदार्थों में (यानि+एतानि+चित्राणि) जो ये चित्रिय रक्षक विद्यमान हैं । इन ही चित्रियों को देखकर अपने में भी चित्रिय बनाया । वे कौन हैं सो कहते हैं—(इन्द्रः+वरुणः०) इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान ॥११॥ (क)

माध्यम्—ब्रह्मेति । वै निश्चयार्थे । अग्रे प्राक् चित्रियादिवर्णविभागाद् । इदं चित्रियादिवर्णभेदजातम् । एकं ब्रह्मवासीदित्यत्र न सन्देहः । ब्रह्मशब्दो ब्राह्मणवाची । यथा “वेदन्तत्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः” पुरा ब्राह्मण एवैक आमीन चित्रियादिभेद इत्यर्थः । श्रूयते ह्याद्यानां गनुष्याणां प्रवृत्तिः सारिङ्गी । अतो न पारस्परिकं वैरम् । न चार्यादिर्मातिश्च । अतो निष्प्रयोजनत्वाद् चित्रियादिवर्णभेदो नासीत् । निष्प्रयोजना मन्दानामपि न प्रवृत्तिः । गच्छन्सु बहुषु कालेषु समुपस्थितेऽन्योन्यसापत्न्ये । तदब्रह्मैकं सत् । न व्यभवत् न विभूतिमद् बभूव स्वात्मरक्षणपरनिराकरणादि व्यवहारचतुरेण मनुष्यसमुदायेन विरहितं ब्रह्मैकं दुष्टशत्रुनिवारणेऽशक्तमभूदित्यर्थः । ततः किं कृतवत् । तद्ब्रह्म । श्रेयोरूपं प्रशस्तरूपं । अत्यसृजत् । अतिशयेन सृष्टवत् । किं कृत् । यत् जगत् प्रसिद्धम् । क्षतो विहतांस्त्रायत इति चित्रम् । क्षतादिनाशाद्वा त्रायते । श्रेयोरूपं चित्रमत्यसृजदित्यर्थः । योऽयं विभागः कृतः स किं प्रकृतिमध्ये लक्षणमवलोक्य उत स्वातन्त्र्येण । अत्राह—देवत्रेति । देवत्रा देवेषु प्राकृतपदार्थेष्वपि यान्येतानि चित्राणि रक्षकाणि सन्ति । तान्यवलोक्यैव विभागः कृतः । कानि तानि चित्राणि नाप्यतो गणयन्ति । इन्द्रोवरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमोमृत्युरीशान इति । एतान्यष्टौ चित्राणि ॥ ११ ॥ (क)

तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः चित्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्वह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मेवा-

न्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनं हिनस्ति स्वां स
योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसं हिंसित्वा
॥ ११ ॥ (ख)

अनुवाद—इस हेतु क्षत्र (क्षत्रिय) से बढकर अन्य वर्ण उत्कृष्ट नहीं है ।
इस हेतु राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है । क्योंकि क्षत्रिय में ही
उम यश को ब्राह्मण स्थापित करता है । परन्तु सो यह क्षत्रका योनि (उत्पत्ति-
स्थान) है जो यह ब्राह्मण है यद्यपि राजा (राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण की अपेक्षा)
श्रेष्ठता को (उच्चपदवी को) प्राप्त होता है । परन्तु अन्त में ब्राह्मण के ही आश्रय
में आता है जो उसका कारण है । जो राजा इस (ब्राह्मण) की हिंसा करता है ।
वह अपने काम्य की हिंसा करता है । यह “पापीयान्” कहलाता है । जैसा जो
अपने से “श्रेय” † पुरुष को हिंसा करता है वह पापिष्ठ बनता है ॥ ११ ॥ (ख)

पदार्थ—(तस्मान्) जिस कारण ब्राह्मण ने क्षत्रिय को उत्कृष्ट बनाया इस
हेतु (क्षत्रात्) क्षत्रिय से (परम्) उत्कृष्ट (नास्ति) अन्य वर्ण नहीं है (तस्मा-
त्) इसी कारण (राजसूय) राजसूय यज्ञ में (ब्राह्मणः) क्षत्रिय के कारणभूत
ब्राह्मण (अधस्ताम्) क्षत्रिय से नीचे बैठकर (क्षत्रियम्) उच्चसिंहासनस्थित
क्षत्रिय की (उपास्ते) परिचर्या=मेवा करता है । अथवा (क्षत्रम्+अधस्ताम्)
क्षत्रिय के नीचे (उपास्ते) बैठता है । क्योंकि ब्राह्मण (तद्+यशः) उस प्रसिद्ध
अपने यश को (क्षत्रे+एव+वधाति) क्षत्रिय में ही स्थापित करता है । शङ्का होती
है कि अपने यश को क्षत्रिय में रख कर क्या ब्राह्मण निरुष्ट होगया इस पर कहते
हैं कि—(मा+एषा) सो यह (क्षत्रिय+योनिः) क्षत्रियों का उत्पत्ति कारण है ।
(यद्+त्रष्ट) जो यह ब्राह्मण है नीचे बैठने पर भी यह क्षत्रिय का कारण बना
ही रहा (तस्मान्) इस कारण (यद्यपि) यद्यपि (राजा) राजा राजसूय यज्ञ में
(परमताम्) उत्कृष्टता को (गच्छति) प्राप्त होता है परन्तु (अन्ततः) अन्त में

कृ पापीयान्, अधिक पापी । पापी से “पापीयान्” बनता है ॥

† श्रेय=प्रशस्त्यतर=अधिक प्रशस्तनीय । प्रशस्त्य से “श्रेय” बन जाता है ॥

यज्ञ की समाप्ति होने पर (ब्रह्म+एव) ब्राह्मण अर्थात् पुरोहितादि के (उपनिश्र-
यति) समीप नीचे बैठता है (स्वाम्+योनिम्) जो अपनी उत्पत्ति का स्थान है
उसी के आश्रय में आता है । आगे ब्राह्मण के निरादर का निषेध करते हैं—(यः+
उ) जो कोई क्षत्रिय (एनम्) इस ब्राह्मण की (दिनस्ति) हिंसा करता है अर्थात्
निरादर करता है (सः) वह मानो (स्वाम्+योनिम्) अपनी योनि की (अपने
कारण की) (अश्च्यति) हिंसा करता है (सः+पापीयान्) वह अधिक पापी होता
है (यथा) जैसे (श्रेयांसम्) अपने श्रेष्ठ को (हिसित्वा) मारकर मनुष्य अति-
शय पापी होता है । तद्वन् ॥ ११ ॥ (ख)

माध्यम्—तस्मादिति । तच्छ्रेयोरूपमत्यस्तजत” इत्युक्तं प्राग् । तेनब्राह्मणः
स्वेभ्यो ह्यातिभ्य एव कतिपयान् पुरुषान् रक्षाधर्थः गृहीत्वोत्कृष्टान् क्षत्रियान्
विरचितवानिति प्रतीयते । क्षत्रियाणां उच्चासने स्थापनं स्वस्मान्भितोरश्वे-
न्याद्यधिकारधित्यप्रदानमेवोत्कृष्टत्वम् । यस्मात्तत्क्षत्र स्वस्मादप्येव पशस्यतरं
कृतम् । तस्माद्धेतोः । क्षत्रात्परम् । क्षत्रियादुत्कृष्टमन्यत् किमपि नास्ति ।
तस्मादेव कारणात् । राजसूये राजसूयाख्ये यागे । ब्राह्मणः क्षत्रियस्य कारण-
भूतोऽपि । अधस्तात् क्षत्रियमभिषिच्यमानमघोनीचासनं गृहीत्वोपरिस्थितम्
क्षत्रियम् । उपास्ते परिचरति शुश्रूषते । यतो ब्राह्मणस्तदात्मीय पशः । क्षत्रे एव
दधाति स्थापयति । राजंस्त्वं ब्रह्मासीत्येवं स्तुत्वा स्थापयति । नन्वेवं राजनि
स्वकीयं यशो ददतो ब्राह्मणस्यापकृष्टत्वं स्यादत आह—सैषेति । यद्ब्रह्म यो हि
ब्राह्मणवर्णः । सैषा क्षत्रियस्य योनिरुत्पत्तिस्थानम् । अतो न तस्मान्पूयन्त्वं
ब्राह्मणस्य । न हि पुत्रातिपतुर्न्यूनत्वं कदापि । तस्माद्राजसूये राजा । परमता-
मुत्कृष्टताम् । गच्छति प्राप्नोति । तथापि । अन्ततोऽन्ते यज्ञसमाप्ती । स्वां योनिं
स्वोपत्तिकारणभूतम् । ब्रह्मैव पुरोहितादिब्राह्मणमेव उपनिश्रयति आश्रयति ।
समाप्तिं गते यज्ञे राजोच्चासनं विहाय ब्रह्माधस्तादुपाविशति । एतेन ब्राह्मणे
क्षत्रियोत्पत्तिकारणत्वमुक्त्वा तिरस्करणीयमिति शिञ्चते । य उ यः कश्चिद्
क्षत्रियोवलाभिमानात् प्रमादाद्वा । एनं स्वयोनिभूतं ब्राह्मणं दिनस्ति हन्ति
निराद्रियते । स पुरुषः । स्वां योनिम् । अश्च्यति हन्ति । सदनुचितं वर्म्म ।
अत आह—स पापीयान् भवति हिंसादिकूरकर्मनियुक्तत्वात्पापी तु स सदैव

पुनरपि स्नां योनिं हिंसित्वाधिकतरः पापी जायत इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तः । यथा स्नोके कोऽपि स्वस्मात् । श्रेयांसं प्रशस्यतरं हिंसित्वाऽनादृत्य पापीयान् भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ११ ॥

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

अनुवाद—पुनरपि वह ब्राह्मणवर्ण विशेषरूप से शृद्धि को प्राप्त न हुआ । तब वसने वैश्य वर्ण की सृष्टि रही । जो ये देवताओं में हैं । जो एक एक गण के नाम से प्रसिद्ध हैं । वे ये हैं—वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण ॥ १२ ॥

पदार्थ—अपने में से कतिपय मनुष्यों को क्षत्रिय बनाने पर भी धनोपार्जक संचायक और धर्षक के अभाव में (सः+न+एव+व्यभवत्) वह ब्राह्मणवर्ण विशेषरूप से कर्म करने के लिये विभूतिमान् धनवान् न हो सका, अतएव अपने में से पुनः एक वर्ण (विशम्) वैश्य (असृजत) बनाया । क्या ईश्वरीय जगत् में भी कोई वैश्यवर्ण स्वभावतः सृष्ट हैं ? । इस शङ्का पर कहने हैं—(यानि+पत्तानि) जो ये (देवजातानि) देव (गणरा.) गण करके (आख्यायन्ते) कहे जाते हैं वे वैश्य हैं । (वसवः) वसुगण (रुद्राः) रुद्रगण (आदित्याः) आदित्यगण (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवगण (मरुतः) मरुद्गण (इति) इस प्रकार के अन्य भी जानने ॥ १२ ॥

भाष्यम्—स इति । क्षत्रे सृष्टेऽपि धनानामुपार्जयितुः संचेतुर्वर्द्धयितुश्चामा-
धात् । स ब्राह्मणवर्णः क्षत्रं सृष्ट्वापि नैव व्यभवत् सर्वकर्माणि सम्यक् समापयितुं
समर्थो नैव बभूव । अतस्तदर्थम् । विशमसृजत । किं सृष्ट्वापि निसर्गतो वैश्य-
वर्णाः सृष्टाः सन्ति यानवलोक्य विभागोऽयं कृत इत्याशङ्कामाह—यान्ये-
तानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते गणं गणं कृत्वा कथ्यन्ते । ते एते
वैश्वाः । के ते ? वसवः । रुद्राः । आदित्याः । विश्वेदेवाः । मरुतः । इति-

शब्दः प्रकारार्थः । इत्येवंविधा अन्येऽप्युदाः । गणारूपानेन, गणशोगणशो मिलित्वा वायिज्यकर्तव्यतामुपादिशति । प्रायेण संहिता हि वित्तोपार्जने समर्था नैकैकशः ॥ १२ ॥

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूष्यं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ॥ १३ ॥

अनुवाद—पुनरपि वह ब्राह्मणवर्ण श्रद्धि को नहीं प्राप्त हुआ । तब उसने शूद्र वर्ण की सृष्टि रची । जो यह पूषण है । यही (पृथिवी ही) पूषा है, क्योंकि जो यह कुल (प्राणी आदि) दीसता है । इस सब को पुष्टि करनेवाली यह पृथिवी ही है ॥ १३ ॥

पदार्थ—पुनरपि सेवा करनेवाले के अभाव से (सः) वह पूर्वोक्त ब्राह्मण-वर्ण (नैव+व्यभवत्) विशेषरूप में श्रद्धि को प्राप्त नहीं हुआ तब (शौद्रम्+वर्ण-म्+असृजत) शूद्रवर्ण की सृष्टि रची । पदार्थों में शूद्र कौन है सो कहते हैं—(पूषणम्) पूषण शूद्र है जो पोषण करे उसे “ पूषण ” कहते हैं वम पूषण को शूद्र बेल शूद्रवर्ण की सृष्टि रची । पूषण कौन है ? (इयम्) यह पृथिवी (वै) निश्चय (पूषा) पूषा अर्थात् पूषण है (हि) क्योंकि (यद्+इदम्+किञ्च) इस पृथिवी पर जो यह कुल प्राणी और ओपाधि समूह हैं (इदम्+सर्वम्) उन सबों का (इदम्) यह पृथिवी ही (पुष्यति) पोषण करती है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—स इति । को भूमिं कृष्यात् । हलं चालयत् । स्थाने स्थाने कृषादिकं खनेत् । नदीनां सेतुं बध्नीयात् । स्थानात्स्थानमन्नादिकस्य भारं षडेदित्यादिकार्यं कोऽनुतिष्ठेत् । ब्रह्म स्तौति । ब्रह्मं युध्यते । विदुषोर्जते । अतः प्रागुक्तकर्मणा मनुष्ठातुर्वर्णस्याभावम् । पुनरपि । स नैव व्यभवत् । सः । शौद्रं शूद्रं कर्षणादिक्रियाक्षमं वर्णमसृजत । शूद्र एव शौद्रः स्वार्थे प्रत्ययः । कः पुनरसौ शूद्रो वर्णो योज्यं ब्रह्मणा सृष्टः । पूषणम् पुष्यतीति पूषा तं पूषणम् । पूषणं शूद्रवृत्तिमवलोक्यामृजतेत्यन्वयः । विशेषमाह—हयमिति । इयं वै पृथिवी पूषा । कथमित्यपेक्षायां स्वयं निर्भूते इयंहीति । हि शतः इयं पृथिवी एव ।

यदिदं किञ्च यदिदं निश्चितम् । प्राणिजातमोषधिसमूहञ्च तदिदं सर्वम् ।
पुष्पति पुष्पाति । यथेय भूमिः सर्वं पुष्पति तथैव सर्वपोषकः शुद्धो वर्णो
सृष्टः ॥ १३ ॥

स नैव व्यभवत्तच्छेयोरूपमत्यस्तृजत धर्मं तदेतत् क्षत्र-
स्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अवलीयान् बलीयां-
समाशंसते धर्मेण यथा राज्ञेवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्
सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदती-
त्येतद्व्येवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥

अनुवाद—यह ब्राह्मण वर्ण पुनरपि वृद्धि को प्राप्त न होसका । तब उसने
श्रेयोरूप धर्म की सृष्टि अनिपरिश्रम से रची । यह क्षत्र का क्षत्र है जो यह धर्म
है । इस हेतु धर्म में घटकर अ-य वस्तु नहीं । क्योंकि जैसे राजा के आश्रय से
दुर्बल भी प्रबल मनुष्य को जीतने की इच्छा करता है । वैसे ही धर्मशुक्त अधिक
दुर्बल भी पुरुष अपने से अधिक बल वाले को जीतने की इच्छा रखता है । निश्चय,
जो यह धर्म है सो धर्म, निश्चय सत्य ही यह है । इस हेतु जो सत्यभाषण करता
है उसको लोक कहते हैं कि यह धर्मभाषण कर रहा है और जो धर्मभाषण करता
है उसको लोक यह कहते हैं कि यह सत्यभाषण करता है, क्योंकि ये दोनों ही सत्य
और धर्म एक ही हैं ॥ १४ ॥

पदार्थ—स्वभाव से ही मानवी जाति कुटिल गतिवाली है उसमें भी प्रतिदिन
श्रूरकर्म के साधन से ये क्षत्रिय अतिकूर उग्र और प्रजा के उद्वेजक बन गये । इस
हेतु चारों वर्णों की रचना होने पर भी धर्मव्यवस्था न होने से उद्धत क्षत्रियों को
नियम में रखनेवाले के अभाव से देश में मगल नहीं हुआ । इस हेतु आगे धर्म
की व्यवस्था का वर्णन करते हैं—(स नन+पय+व्यभवत्) वह ब्राह्मणवर्ण चारों
वर्णों को पृथक् २ विभक्त करने पर भी विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ ।
इस हेतु (तन्) यह विभाग करनेवाला ब्राह्मणवर्ण (श्रेयोरूपम्+धर्मम्) कल्या-
णमय धर्म की (अत्यमृजत) अतिशय परिश्रम या अतिशय विज्ञान से सृष्टि

रची (तत्+एतद्) सो यह धर्मस्वरूप श्रेयोरूप वस्तु (चतुर्म्य+चतुर्म्) चतुर् का भी चतुर् है अर्थात् शासन करनेवाले चतुर्विधों का भी शासक है (यद्+धर्मः) जो यह धर्म है । अर्थात् उग्र से भी उग्र है (तस्मात्) इस हेतु (धर्मात्) धर्मसे (परम्) बढ़कर कोई भी वस्तु उत्कृष्ट नहीं है इसी हेतु (यथा+राज्ञा) जैसे राजा के द्वारा अर्थात् राजा के आश्रय से (एवम्) वैसे ही (धर्मेण) धर्म के द्वारा (अबलीयान्+अथो) अधिक दुर्बल पुरुष भी (बलीयासम्) अपने से अधिक बल वाले पुरुष को जीतने की (आशसते) इच्छा करता है । यह कौन धर्म है सो आगे कहते हैं—(वै) निश्चय (यः+म.+धर्मः) सो जो यह धर्म है (तत्+सत्यम्) वह सत्य है (वै) इसमें सन्देह नहीं अर्थात् सत्य ही धर्म है । सत्य और धर्म में कोई भी भेद नहीं इसमें लोक ही प्रमाण है । सो आगे दिखलाते हैं—(तस्मात्) जिम हेतु सत्य और धर्म एक वस्तु है इस हेतु (सत्यम्+यदन्तम्) सत्य को कहते हुए पुरुष को देखकर (आहुः) सत्य और धर्म के तत्त्वविद् पुरुष कहते हैं कि (धर्मम्+यदति+इति) यह धर्म कह रहा है । और (या) अथवा (धर्मम्+यदन्तम्) धर्म को कहते हुए पुरुष को देख कहते हैं कि (मलम्+यदति+इति) यह सत्य करता है । अर्थात् लोक में यह प्रसिद्ध है कि सत्यवक्ता को धर्म-वक्ता और धर्मवक्ता को सत्यवक्ता करते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि धर्म और सत्य एक वस्तु है । इसी को फिर विन्यष्ट करते हैं (हि) क्योंकि (एतद्+उभयम्) यह सत्य और धर्म दोनों (एतद्) यह धर्म ही है अर्थात् एक वस्तु है । इस प्रकार धर्म की सृष्टि होने से मनुष्यों की परम वृद्धि होने लगी ॥ १४ ॥

माध्यम्—प्रकृत्यैव जिह्मातिर्मानधी जातिस्तत्रापि ग्रान्यादिऋकूरकर्मसा-
घनादतिनूरा उग्राः प्रजोद्वेजका धधुवुरिमे चत्रियाः । अतः सृष्टेऽपि चातुर्वर्ण्ये
धर्मव्यवस्थाऽभावादुद्धततमानां चत्राणां नियन्तुरभावादेशे न मद्गलोद्भवः ।
अतो धर्मव्यवस्थां वर्णयति । स ब्राह्मणः चातुर्वर्ण्यं सृष्ट्वा नैव व्यभवत्
विशेषेण विभूतिं नैव प्राप्नोत् । अतस्तत् श्रेयोरूपं कल्याणस्वरूपं धर्मं
धर्माख्यं वस्तु । अत्यमृजत अतिशयेन परिश्रमेण विज्ञानेन सृष्टवान् । तदे-
तत् सृष्ट श्रेयोरूप । चतुर्ष्य शासकस्य चतुर्ष्यापि चतुर् शासकं उग्रादप्युग्रं
वस्तु यद्धर्मः । तस्माद्देतोः । धर्मात्परमुत्कृष्टं नियन्तु न किमप्यस्त । तस्यैव

सर्वशासितृत्वात् । तत्कथमित्याह—अथो इति । अथो अथोऽशब्दोऽप्यर्थः ।
 अवलीयानपि दुर्बलतरोपि पुरुषः । बलीयांसम् । स्वस्माद्बलवत्तरमपि । धर्मेण
 धर्मबलेन धर्माधयेण । जेतुमिति शेषः । आशंसते कामयते । उदाहरणमा-
 चष्टे । यथा राजादारेण राजाथयेण दुर्बलोऽपि बलवत्तरं जेतुमिच्छति । एवमेत-
 द्दृष्टान्तसमानमिदमपि । धर्मेण युक्तोऽन्तरतो बलीयान् जायते । स बाह्यतः
 पुष्टानपि वृणाय मन्यते । अतः सिद्ध धर्मस्य सर्वशासितृत्वम् । यो वै स धर्मो
 लौकिकैरनुष्ठेयमानो यद्वादिर्धर्म उच्यते । स धर्मः सत्यं वै तत् सत्यलक्षणः ।
 नहि सत्त्वादन्यो धर्मः कोऽपि । अत्र लौकिकप्रथया तयोरेक्यं साधयति । य-
 स्मादुभयोरभेदः । तस्मात्सत्यं वदन्तं श्रुतं पुरुषमवलोक्यायं धर्मं वदसीत्या-
 हुर्लोका धर्मसत्यविवेकज्ञाः । धर्मं शास्त्रप्रसिद्धधर्मं वदन्तमवलोक्यायं सत्यं
 वदसीत्याहुः । उक्तमभेदमुपसंहरति । हि यस्मादेवं तस्मात्कारणात् । एतदुभयं
 सत्यधर्माख्यं वस्तु । एतद् एष धर्मो भवति ॥ १४ ॥

तदेतद्ब्रह्म चतुर्विद् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्
 ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्र-
 स्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणो मनुष्येष्वेताभ्यां
 हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत् । अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं
 लोकमदृष्ट्वा श्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा
 वेदो वाऽननृक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनैवंविद्
 महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव
 लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म
 क्षीयते अस्माद्धेवाऽऽत्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥ १५ ॥

अनुवाद—इस हेतु (मनुष्यों में) यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र
 वर्ण विभक्त हुआ । सो वह ब्राह्मण ही यह के द्वारा मन देवों में ब्रह्मा हुआ और
 मनुष्यों में ब्राह्मण हुआ । क्षत्रियरूप से क्षत्रिय, वैश्यरूप से वैश्य और शूद्ररूप से

शुद्ध हुआ । इस हेतु अग्नि में कर्म करके ही देवों में आश्रय की इच्छा करते हैं और ब्राह्मण के निकट कर्म करके (ब्राह्मण के द्वारा ही) मनुष्यों में आश्रय चाहते हैं क्योंकि इन दो रूपों से वह ब्राह्मण हुआ अब यह निश्चय है कि जो कोई अपने लोक को न जान कर यहाँ से चल बसता है । उस इस पुरुष की स्वलोक (आत्मा) अज्ञात होने से रक्षा नहीं करता । जैसे अपठित वेद वा अकृत अन्य कर्म मनुष्य की रक्षा नहीं करता (अथवा) निश्चय इस ससार में अपने लोक जीवात्मा के न जाननेवाला पुरुष कितना ही महापुण्य कर्म करे परन्तु इसका वह कर्म अन्त में क्षीण ही हो जाता है । इस हेतु आत्मस्वरूप लोक की ही उपासना करे । सो जो कोई आत्मस्वरूप लोक की ही उपासना करता है इसका कर्म क्षय को प्राप्त नहीं होता । क्योंकि वह जो जो कुछ चाहता है उस उस वस्तु को इस आत्मा से ही उत्पन्न करता है ॥ १५ ॥

पदार्थ—अब पहले कहे हुए अर्थ का अनुवाद करते हुए जीवात्मा के ज्ञान की आवश्यकता को दिये जाने के लिये अभिमत प्रत्यक्ष आरम्भ करते हैं । जिस हेतु वर्ण विभाग के और धर्मशास्त्र के बिना जगत् का मङ्गल होना अशक्य है (तद्) सम कारण (एतद्+नङ्) यह ब्राह्मण वर्ण (क्षत्रम्) क्षत्रियवर्ण (विद्) वैश्य वर्ण (शूद्रः) शूद्र वर्ण पृथक् पृथक् कर्म के साथ विभक्त हुआ । इस प्रकार चारों वर्ण बने और चारों आश्रम और इन दोनों के नियम में रखने के लिये बहुत धर्मशास्त्र बने गये वा धर्मन्यवस्थाएं बाँधी गईं । अब आगे यह दिये जाते हैं कि पूर्वकाल में एक ही ब्राह्मण वर्ण था उसीने धर्म को विस्तृत किया और वही क्षत्रिय आदि बना । (तत्) वह ब्राह्मण वर्ण (देवेषु) भूमि, वायु, सूर्य आदि देवों में (अग्निना+एव) अग्नि के द्वारा अथवा कर्म के द्वारा ही (ब्रह्मा+अभवत्) सृष्टा बना । भाव इस का यह है कि प्रथम अग्नि के तत्व को जान कर ब्राह्मणों ने यह जाना कि पृथिवी में ये गुण हैं, सूर्य में ये गुण हैं, यह अन्न भोक्तव्य है, ये पशु कार्य में लाने योग्य हैं, ये फल खाद्य हैं, ये ग्रहणीय नहीं हैं । इस प्रकार के बहुत पदार्थों के तत्व जान ब्राह्मण पुरुष देवों में भी अग्नि के द्वारा सृष्टा रचयिता बना । अथवा अग्नि=यज्ञादि कर्म उस के द्वारा सूर्यादि देवों के निमित्त वह ब्रह्मा हुआ अर्थात् मंगलकारी हुआ क्योंकि यज्ञ के द्वारा सब देवों

को भाग मिलता है । आगे मनुष्योपकार कहते हैं—(मनुष्येषु) सामान्यरूप से मनुष्यों के निमित्त अर्थात् मनुष्य के मङ्गल के हेतु (ब्राह्मण + अभवत्) ब्राह्मण हुआ अर्थात् ब्रह्म से लेकर सृष्टि पर्यन्त वस्तुओं के विज्ञान के लिये तत्पर हुआ ताकि सब वस्तुओं का इस परिश्रम से मङ्गल हो । आगे विशेष वर्ण का उपकार दिग्गताते हैं । क्षत्रियों के मध्य (क्षत्रियेण) क्षत्रियरूप से (क्षत्रिय + अभवत्) क्षत्रिय हुआ अर्थात् शासक हुआ । वैश्यों में (वैश्येन + वैश्यः) वैश्यरूप से वैश्य हुआ (शूद्रेण + शूद्रः) शूद्रों में शूद्ररूप से शूद्र हुआ । अर्थात् ससार में मगलाय ब्रह्मवित् पुरुष ही चारों वर्णों में विभक्त हुए । जिस हेतु ब्रह्मवित् पुरुष ने यह निश्चय किया कि कर्म से ही देवों के तत्व जाने जा सकते हैं और अन्य उपाय में नहीं (तस्मात्) इस हेतु जो देवों के तत्व जानने की इच्छा करते हैं वे प्रथम (अग्नौ + एव) अग्निरूप आभार में यज्ञादि कर्म करके (देवेषु) भूमि आदि देवों में (लोकम् + इच्छन्ते) लोक अर्थात् आश्रय चाहते हैं । भूमि आदि स्वरूप जो देवसदृश पदार्थ हैं उनके तत्वों को जानना ही मानो भूम्यादि लोक में निवास करना है जिसने पृथिवी के तत्व को जाना उसे मानो पृथिवीरूप देव में लोक = आश्रय मिला । इसी प्रकार जिसने सूर्य के सब गुण जाने, मानो उसको सूर्यरूप देव में लोक (आश्रय) मिला । इसी प्रकार सब पदार्थों को जानना । प्रथम अग्नि में कर्म करना इसका आशय यह है कि प्रथम अग्निस्त्व को जानना चाहिये क्योंकि यह सम्पूर्ण विश्व प्रथम अग्निस्वरूप ही था । इसके पश्चात् भूमि आदि पदार्थ अध्मे-तव्य हैं । आगे मनुष्य विज्ञान के लिये ब्रह्मवित् पुरुष ही आश्रयितव्य हैं । सो कहते हैं—जो कोई मनुष्यों में आश्रय चाहता है वह (ब्राह्मणे) ब्राह्मण के निकट ब्रह्मचर्यादि कर (मनुष्येषु) मनुष्यों में लोक की इच्छा करे (हि) क्योंकि (एताभ्या) इन अग्नि और ब्राह्मण (रूपाभ्याम्) रूपों से (ब्रह्म + अभवत्) सब कर्म में समर्थ हुआ । आगे जिस आत्मा से कोई ब्रह्मवित् कोई योद्धा रक्षक कोई वैश्य और कोई शूद्र इत्यादि बहु प्रकार का हो जाता है । वह आत्मा प्रयत्नपूर्वक ज्ञातव्य है । यह उपदेश देते हैं (अथ) अन (यः) जो अनानी (स्व + जोकम्) निज लोक अर्थात् अपने जीवात्मा को (अदृष्ट्वा) न जानकर (अस्मात् + लोकात्) इस आश्रित अध्मुषित लोक से (प्रैति) उपास शरीर को त्याग शरीरान्तर ग्रहण के लिये जाता है (एनम्) इस अज्ञानी पुरुष

कि (सः+अविदितः) वह अज्ञात आत्मा (न+भुनक्ति) रक्षा नहीं करता ।
 “ धर्मो रक्षति रक्षितः ” इस न्याय के अनुसार जिसने आत्मा से परिचय नहीं
 किया उससे यह आत्मा भी दूरस्थ होजाता । यहां दृष्टान्त कहते हैं—(यथा)
 जैसे (अननूक्तः) अनधीत (वेदः) वेद (वा) और (अन्यत्+अकृतम्+
 कर्म) वेदाध्ययनातिरिक्त अकृत कर्म रक्षक नहीं करता अर्थात् लोक में देखा
 जाता है कि जिसने वेद अध्ययन नहीं किया उसको वेद जीविका आदि से रक्षा
 नहीं करता क्योंकि जो पडे रहते हैं उनको ही यज्ञादि कर्म में नियुक्त करते हैं ।
 और उन्हें ही दक्षिणा भी मिलती है । बहुत ऐसे भी धूर्तराट् होते हैं जो न कुछ
 जानते हुए भी मूर्ख लोगों में वैदिक धनकर ठगा करते हैं । अन्य उदाहरण देते
 हैं—जैसे लोक में कृषिकर्म जो नहीं करता है वह फल नहीं पाता है । जो सेत
 धरता है वह समय पर काटता है और भी भोग करता है । वैसे ही जो आत्मा को
 जानता है उसकी आत्मा रक्षा करता है अज्ञानी की रक्षा नहीं करता ॥

पक्षान्तर कहते हैं (अपि+या) अथवा (अनेवविद्) जो आदमी आत्मा को
 नहीं जानता है वह (यद्+इह) यहां (महत्+पुण्यम्) कितना ही बड़ा पुण्य
 (कर्म) कर्म (करोति) करे तथापि (अस्य) इस ज्ञानी का (तद्+इ) वह
 कर्म (क्षीयते+एव) क्षीण ही हो जाता है । इस हेतु सर को उचित है कि
 (आत्मानम्+एव+लोकम्) जीवात्मन्तरूप आश्रय का ही (उपासीत) अध्ययन
 करे जीवात्मतत्त्व का पूर्ण अध्ययन करे (मः+य) सो जो बोर्डे (आत्मानम्+एव+
 लोकम्) आत्मन्तरूप लोक के (उपासने) गुणों के निकट पहुंचता है (अस्य+
 कर्म+न+क्षीयते) इस ज्ञानी का कर्म क्षय को प्राप्त नहीं होता (हि) क्योंकि
 (यत्+यत्+कामयेते) नष्टत्वविद् जो २ कामना करता है (तन्+यत्) उप २
 अभिलषित पदार्थ को (अस्माद्+एव+आत्मनः) इसी आत्मा से (सृजते) उत्पन्न
 कर लेता है ॥ १५ ॥

भाष्यम्—इदानीं प्राणुकार्यानुपादपूर्वकं जीवात्मज्ञानावश्यतां व्याख्यातु-
 मुक्तमते यस्माद्वर्णविभागं धर्मशास्त्रञ्च विना जगन्मङ्गलं भवितुमशक्यम् ।
 तत्तस्माद्वेतोः । एतद्ब्रह्म—एष ब्राह्मणः । एतत् क्षत्रम्—एष क्षत्रियः । एष विद्
 वैश्यः । एष शूद्रो वर्णो विभक्तः । एवं चातुर्वर्ण्यं सृष्टम् । तदर्थञ्च चातुरा-

अभ्यम् । तदुभयनिधन्तृषि बहूनि धर्मशास्त्राणि च सृष्टानि । इति शेषः । सम्प्रति पुरैक एव ब्राह्मणो वर्ण आसीत् । स धर्मञ्च व्यतानीत् । तथा स एव क्षत्रियादिरूपः सवृत्त इति पूर्वोक्तमेवानुवदति । अग्निशब्दः स्ववृत्त्या यज्ञान् लक्षयति । यज्ञशब्दस्तु वेदप्रतिपादितेष्टकर्मपरकः । देवशब्दो भूमिवायु-सूर्यादिपदार्थवचनः । तदित्यम् । तद्ब्रह्म स ब्रह्मनिद्वर्णः । देवेषु निमित्तभूतेषु पृथिव्यादिसूर्यान्ताका सर्वेषां पदार्थानां निमित्तायेत्यर्थः । अग्निर्नैव वेदिकयज्ञकर्मण्येव द्वारभूतेन । ब्रह्म अभवत् ब्राह्मणोऽभवत् । उपकारकोऽभूदित्यर्थः । ब्रह्मविद्धि सर्वोपकारः । तत्कृतमाह—केन देवानुपकरोति । तत्राह—अग्निना । अग्नौ हि प्रक्षिप्तानि द्रव्याणि जडानपि चेतनानपि उपकुर्वन्ति । यद्वा देवेषु देवानां भूम्यादीनां मध्ये अग्निर्नैव कर्मण्येव विज्ञानचेष्टयैव । ब्रह्माभवत् सृष्ट अभवत् । पृथिव्यामिमे गुणाः । सूर्ये इमे गुणाः । एतान्यन्तानि भोक्त्रव्यानि । इमे पशवः कार्ये नियोक्त्रव्याः । इमानि फलानि अश्नीयानि । इमानि नादेयानि । इत्येवं विद्यानां बहूनां पदार्थानां ब्रह्मवित् सृष्टभूत । मनुष्योऽप्यकारमाह—सामान्येन मनुष्येषु मनुष्याणां भगलकरणाय । ब्राह्मणोऽभवत् । ब्रह्मार्थ्य वृण-पर्यन्तानां धरतूनां विज्ञानाय प्रयतमानो बभूव । विशेषणार्थोपकारमाह—क्षत्रियेषु । क्षत्रियेण क्षत्रियरूपेण क्षत्रियोऽभवत् । क्षत्रियरूपेण शासकोऽभवत् । वैश्येषु । वैश्येन वैश्यरूपेण वैश्योऽभवत् । विप्रिधदेशान् निशति प्रविशतीति विद् । तस्यापत्यं वैश्यः । गणशो गणशो विभज्य विविधान् देशान् प्रवेष्टुं स ब्रह्मविद् वैश्योऽभवत् । कर्पशादिकर्मकरणाय शूद्रेण शूद्ररूपेण शूद्रोऽभवत् । यस्माद् ब्रह्मविन् पुरुषः । कर्मण्येन देवतत्त्वानि विज्ञातुं शक्यानि नेतरेण केनचिदुपायेनेति निश्चितवान् । तत्तस्माद्धेतोरेदानीमपि । ये केचन देवलोकमिच्छन्ति । ते अग्नावेव । अग्न्वाधार एव यज्ञादीन् कृत्वा । देवेषु भूम्यादि लोकेषु लोकमिच्छन्ते आलोकं विज्ञानमाश्रयन्त्या कामयन्ते । भूम्यादितत्त्वविज्ञानमेव भूम्यादिलोकनिवासः । प्रथममग्नौ कर्म कर्तव्यम् । अपमाशयः । प्रथममग्नितत्त्वं वेदितव्यम् । यतोऽग्रे सर्वमिदमग्निस्वरूपमासीत् । ततोऽग्रे भूम्यादयः पदार्था अभ्येतव्याः । अत उक्तमग्नामेव । मनुष्य तत्त्वविज्ञानाय ब्रह्मविदाश्रयितव्य इत्यत आह—ब्राह्मणे इति । ब्राह्मणे ब्रह्मविदि पुरुषे ब्रह्मचर्यादिकं कृत्वा । मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये लोकमिच्छन्ति । न हि ब्रह्मविन्निरु-

देऽध्वयनादिना मनुष्यमध्ये प्रतिष्ठाभवितुमर्हति । हि यतः । एताभ्यां रूपाभ्या-
गग्निब्राह्मणरूपाभ्याम् । देवेषु मनुष्येषु ब्रह्माऽभवत् । विस्पष्टार्थमुक्तिः देवेषु
मनुष्येषु ब्रह्माऽभवत् । सम्प्रति येन जीवात्मना कोपि ब्रह्मवित् कोपि देववित्,
कोपि क्षत्रियः, इत्येवमादिवहुप्रकारो भवति । स आत्मा प्रयत्नेन वेदितव्य
इत्यत आह—अथेति । खं लोके जीवात्मानम् । अदृष्ट्वाऽविज्ञाय “ दृशिर्
ज्ञानेपि प्रयोगबाहुल्यदर्शनात् ” अस्मात् लोकात् आत्माश्रितात् मर्त्यादिलो-
कात् । प्रैति मकर्षेण एति गच्छति उपात्तदेहं विहाय देहान्तरं ग्रहीतुं गच्छति ।
तमेनं स्वस्य लोकस्य अवेचारं पुरुषम् । स आत्मा न भुनक्ति न पालयति ।
भुज पालनाभ्यवधारयोः । कथं न भुनक्ति । यतः सोऽविदितोऽस्ति । नद्या-
त्मानं वेदितुं स कदाप्यैच्छत् । अतः सोऽप्येनं न भुनक्ति । धर्मो रक्षति रक्षित
इति न्यायात् । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा लोके । अननूक्तोऽनधीतो वेदो न
पुरुषं जीविकादिप्रदानेन रक्षति । वेदस्याध्येतैव हि जीविकां लभते । तथा च वा
अथवा । अकृतमननुष्ठितम् अन्यद् वेदाभ्ययनादतिरिक्तं क्षेत्रकर्षणादिकर्म यथा
पुरुषं न रक्षति । यो हि कृष्यति स एव लुनाति । अत्र पदान्तरमाह । यदि ह
व दह संसारे अपि अथवा । अनेवंवित् शालोकस्य अज्ञानी क्षत्रित्पुरुषः ।
आत्मानं सम्यग् अविदित्वेत्यर्थः । महत्पुण्यं कर्म अश्ममेधादिकर्म नैरन्तर्येण
करोति अनुतिष्ठति । अनेनाऽऽनन्त्यं फलानां भविष्यतीत्याशया । तथापि ।
अस्यानैवंविदः पुरुषस्य । तत्कर्म । अन्ततोऽन्ते । क्षीयत एव क्षयं प्राप्नो-
त्येव । अतः आत्मानं जीवात्मानमेव लोकम् । नान्यम् । उपासीत उपास-
नया विजानीत । फलमाह—स योजिज्ञासुः आत्मानमेव लोकमुपास्ते । न हास्य
कर्म क्षीयते क्षीणं भवति । हि यतः । स उपासकः । यद्यत् कामयते । वक्ष-
त्सर्वम् । तस्मादेवात्मनो जीवात्मविज्ञानप्रभावादेव सृजते । आत्मविज्ञानं हि
सर्वपदार्थप्रसवहेतुकम् ॥ १५ ॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जु-
होति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषी-
णामथ यत्पितृभ्यो निष्ठणाति यत्प्रजामिच्छते ते पितृणामथ
यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ

यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वा-
पदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको
यथाह वै स्वाय लोकायारिष्टमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भू-
तान्यारिष्टमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमांसितम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—अन यह निश्चय है, यह आत्मा ही सन प्राणियों का लोक है । यह आत्मा जो होम करता है जो यज्ञ करता है उसमें वह (आत्मा) देवों का लोक है । और जो पदों को पढता पढाता है उसमें ऋषियों का लोक है और जो पितरों को विशेष रीति से तृप्त करता है और जो प्रजा की इच्छा करता है उससे पितरों का लोक है और जो मनुष्यों को वास देता है और जो इनको भोजन देता है उससे मनुष्यों का लोक है । और यह जो पशुओं के लिये तृण और जल प्राप्त करता है उसमें पशुओं का यह लोक है । और जो इसके गृहों में श्वापद पक्षी और पिपीलिका पर्यन्त जीव उपजीविका पाते हैं उससे उनका लोक है । जैसा कि प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि अपने लोक (शरीर) को हानि न पहुँचे । इसी प्रकार सन प्राणी इस तत्त्ववित् पुरुष की हानि नहीं चाहते हैं । सो यह विदित है और इस पर विचार भी किया गया है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अधो) अन जीवात्मा की प्रशंसा आरम्भ करते हैं (वै) निश्चय (अयम्) यह मनुष्य देहप्रविष्ट जीवात्मा (सर्वेषाम्) सन (भूतानाम्) जीवधारी प्राणियों तथा वृक्षिण्यादियों का (लोकः) आश्रय है । अर्थात् इस मनुष्यशरीर से जीवात्मा अपना और अन्य सन जीवों का उपकार कर सकता है । यदि इच्छा वैसी रखे । आगे पञ्चमहावर्णों के द्वारा मर्त्य जीवों के प्रति उपकार का वर्णन करते हैं । १—प्रथम देवयज्ञ (मः) वह मनुष्यशरीरधारी जीवात्मा (यन्+जुहोति) जो अग्नि में होम करता है और (यद्+यजते) जो प्रतिदिन विविध प्रकार के यज्ञों को किया करता है (तेन) उन दो कर्मों के अनुष्ठान से वह आत्मा (देवानाम्) श्रेष्ठों वायु आदि जब देवों का भी (लोकः) आश्रय है । २—द्वितीय ब्रह्मयज्ञ (अध) और (यन्+अनुब्रूते) जो यह स्वाध्याय का पठनपाठन करता है (तेन) उसे अध्ययन अध्यापनरूप कर्मों में (ऋषीणाम्) ऋषियों का आश्रय है । ३—वि-

तृयज्ञ (पितृभ्यः) जीते हुए पिनामह आदि पितरों के लिये (यद्+निवृणति) जो दान प्रदान किया करता है और (यत्+प्रजाम्+इच्छते) जो सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करता है (तेन) उस कर्म से (पितृणाम्) पितरों का आश्रय है । ४-चतुर्थ नृयज्ञ (अध) और (मनुष्यान्) अपने गृह पर संप्राप्त अतिथि विद्वान् आदि आए हुए मनुष्यों को (यद्+वासयते) जो वसाता है अर्थात् आसन जल आदि दे सत्कार करता है (एभ्यः) वाम करते हुए इनको (यद्+अशनम्) जो अशन भोजन (वदाति) देता है (तेन) उस वास और अशन-प्रदानरूप कर्म से (मनुष्याणाम्) साधारणतया सब मनुष्यों का यह आश्रय होता है । ५-पञ्चम भूत-यज्ञ (अध) और (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (यद्+तृणोदकम्+विन्दति) जो यह तृण और घास प्राप्त करता है (तेन+पशूनाम्) उससे पशुओं का आश्रय होता है (आपिपीलिकाभ्यः) पिपीलिक=चींटी से लेकर (आपदः) मार्जार आदि (घर्षांति) और पक्षी पर्यन्त (अस्य+गृहेषु) इस कर्म करनेवाले यजमान के गृहों में (उज्जीर्वान्त) उज्जीविका प्राप्त करते हैं (तेन) उससे (तेषाम्) उन पिपीलिका आदिक जीवों का आश्रय होता है । इस प्रकार यह जीवात्मा सब भूतों (प्राणियों) का उपकार कर सकता है और करता है और इसके बदले में जीव भी इस उपकारी पुरुष के प्रति प्रत्युपकार करते हैं सो आगे दर्शाते हैं-(इ+यै) निश्चय (यथा) जैसे इस लोक में (स्वाय+लोकाय) निज शरीर का (अरिष्टिम्) अविनाश (इच्छेत्) चाहै अर्थात् जैसे जीवमात्र अपने शरीर की रक्षा चाहता है (एवम्+इ) वैसे ही (एव+विदे) ऐसे जाननेवाले सर्वोपकारी मनुष्य का (सर्वाणि+भूतानि) सब प्राणी (अरिष्टिम्) अविनाश (इच्छन्ति) चाहते हैं (तद्+यै+एतद्) सो-यह उक्त कर्म पञ्चमहायज्ञों के प्रकरण में (विदितम्) ज्ञात है केवल ज्ञात ही नहीं है किन्तु (मीमासितम्) बहुत प्रकार से इस पर विचार करके स्थिर भी किया गया है इस हेतु यह आत्मा सर्वोपकारी है यह सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अयं जीवात्मानं प्रशंसति । मनुष्यदेहं प्रविष्टो जीवात्मा सर्वानुपकरोति । यदीच्छेत् । एतेन शक्यं कार्यमकुर्वतो जनस्य पापं समायातीति धनयति । अथो अथ जीवात्मस्तुतिरारम्भ्यते । वै निश्चयेन । अयमात्मा प्रतिशरीरं प्रविष्टो जीवात्मा । सर्वेषां भूतानामात्रपिपीलिकान्तानां प्राणिनाम् । लोक आश्रयः । पृथिवीलोकवत् । कथम् । १-देवयज्ञेन प्रथमं देवोपकारं दर्श-

यति । स जीवात्मा अग्नौ यज्जुहोति । यद्यजते विविधान् यज्ञान् करोति । तेन होमयागलक्षणेन कर्मणा । देवानाम् सूर्यादीनाम् । लोकः । २-द्वितीयेन ब्रह्मयज्ञेन ऋषीणामुपकारमाह-अथ यदनुब्रूते गुरौ स्वाध्यायमधीते । स्वध्या-
ध्याययति । तेन ऋषिणामयं जीवात्मा लोकः आश्रयः । ३-तृतीयेन पितृयज्ञेन पितॄणामुपकारमाह-पितॄभ्यो जीवद्भ्यः पितामहादिभ्यः । यत् निष्ठति । ‘पृ पा-
सनपूरणयोः’ ग्रीणाति पितॄन् ग्रीतान् कुर्वन्ति । यद्य प्रजामिच्छते उत्पा-
दयति । तेन पितॄणां लोकः । ४-चतुर्थेन नृयज्ञेन सर्वेषां नृणामुपकारमाह ।
अथ मनुष्यान् यद् वासयते आसन्नोदकप्रदानेन स्वगृहे वासं ददाति । एभ्य-
श्च वसद्भ्योऽतिथिभ्यः । अशनं भोजनञ्च । ददाति तेन । स मनुष्याणां
लोकः । ५-अथ पञ्चमेन भूतयज्ञेन भूतानामुपकारमाह-पशुभ्यो यज्ञोद-
कम् । विन्दति लम्बयति तेन पशूनामाश्रयः । आपिपीलिकाभ्यः पिपीलिका
आरभ्य श्यापदा मार्जारादयः । वयामि पक्षिणश्च । यदस्य कर्मणो गृहे । उप-
जीवन्ति । उपजीविका कुर्वन्ति तेन तेषां पिपीलिकाप्रभृतीनां भूतानाम् ।
लोकः । एवमुपकारिण देवादयोपि उपकुर्वन्तीत्याह । यथा वै । स्वाय स्वकी-
याय लोकाय शरीराय पोषणरक्षणादिभिः । अरिष्टिभविनाशमिच्छेत् । एवमेव
ह । एवंविदे सर्वेषामुपकर्त्रे सर्वाणि भूतानि अरिष्टिभविनाशमिच्छन्ति । एतद्वा
एतद् एतदेव यथोक्तानां कर्मणामवश्यकर्तव्यत्वं देवयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः
पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्चेति पञ्चमहायज्ञप्रकरणे विदितं विज्ञातम् । ननु भुतमप्यधि-
चारितं नानुष्ठेयमित्यत आह-मीमांसितमिति । ऋणं ह वाच जायते जायमानः
योऽस्ति स देवेभ्य ऋपिभ्यः पितॄभ्यो मनुष्येभ्यः । इत्यादि नैतदवश्यकर्त-
व्यत्वं विचारितमित्यर्थः ॥ १६ ॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे
स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान्
वै कामोनेच्छन्नातोभूयोविन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते
जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथा वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वी-
येति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्य कृत्स्न एव तावन्मन्यते

तस्यो हृत्सन्ता नन एवा०याऽऽत्मा वाग्जाग्रा प्राणः
प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवं श्रोत्रेण
हि तच्छृणोत्या०मेवास्य कर्मात्मना हि कर्म कपोति स एष
पांक्तो यज्ञः पांक्तः पशुः पांक्तः पुरुषः पांक्तमिदं सर्वं यदिदं
किञ्च तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

अनुवाद—आरम्भ में यह सन केवल एक पुरुष आत्मा ही था। उमने कामना की कि “मुझे खी प्राप्त हो” तब मैं प्रजारूप से उभर होऊँ “सन्तानवान् होऊँ” और तब मुझे धन प्राप्त हो तब मैं कर्म करूँ। निश्चय (जगत् में) इतनी ही कामना है। चाहता हुआ भी न चाहता हुआ भी इससे उड़कर नहीं पासकता। इस हेतु आत्म-कल भी एकाकी पुरुष कामना करता है कि “मुझे जाया प्राप्त हो” तब मैं प्रजारूप से उत्पन्न (सन्तानवान्) होऊँ और “मुझे वित्त प्राप्त हो” तब मैं कर्म करूँ। सो यह आत्मा जबतक इनमें से एक २ को नहीं पा लेता है तबतक अपने को अपूर्ण मानता है। इसकी पूर्णता इस प्रकार हो सकती है। इसका मन ही आत्मा है आत्मा के समान आत्मा है। चाणी ही जाया (पत्नी) है। प्राण ही प्रजा (सन्तान) है। चक्षु ही मानुषवित्त है क्योंकि नेत्र से ही उस मानुषवित्त को प्राप्त करता है श्रोत्र ही देववित्त है क्योंकि श्रोत्र से ही उसको सुनता है इसका आत्मा (शरीर) ही कर्म है क्योंकि आत्मा (शरीर) से ही कर्म करता है। सो यह यज्ञ पांक्त है। पशु पांक्त है। पुरुष पांक्त है। यह सन पाक्त है जो यह कुछ (जगत् में) है यह सब भी पांक्त है जो ऐसा जानता है। यह उस इस सन को पाता है ॥ १७ ॥

पदार्थ—अब जीवस्वभावदर्शनपूर्वक साधारण मनुष्यों की कामना का व्याख्यान करेंगे और यह जीवात्मा किम उपाय से सर्पोपकारक बन सकती है। यह भी दरसावेंगे। (अग्रे) विवाह आदि विधि-प्रचार के पहले (इदम्) यह दारादि स्त्रीजाति प्रधानता से (एकः+एव) एक ही (आत्मा+एव+आसीत्) आत्मोपलक्षित पुरुषजाति ही थी (सः) वह मनुष्यदेहावच्छिन्न आत्मा (अकामयत) इच्छा की, क्या इच्छा की सो आगे कहते हैं—(मे) मुझको (जाया) पत्नी=स्त्री (स्यात्) प्राप्त होवे (अथ) पश्चात् (प्रजायेय) उम जाया मे प्रजारूप से मैं उत्पन्न होऊँ

अर्वात् में सन्तान उत्पन्न कर और (अय) सत्यश्चत् (वित्तम् + स्यात्) धन होये
 (अय) धन होने के पश्चात् में (कर्म + कुर्यात्) विविध कर्म करने में समर्थ होऊँ
 (एतावान् + मे + कामः) मनुष्यों में विशेष कर इतनी ही काम इच्छा है । इतनी ही
 क्यों ? अभिलाषा तो अनन्त है इस पर कहते हैं (इच्छत्) इच्छा करता हुआ
 (न + च) और इच्छा न काता हुआ भी साधारण पुरुष (अतः) इस
 जाया और वित्त से (भूयात्) अधिक परायें (न + वि + देत्) नहीं पा सकता
 है इस हेतु ये ही दो कामनाएँ प्रधान हैं । जिस हेतु पूर्वकाल में भी इन्हीं दो
 कामनाओं की इच्छा करने वाले पुरुष ये (तस्मात्) इस हेतु (एतर्हि) आज
 कल भी (एकाकी) जो अकेला रहता है वह (कामयेते) कामना करता है कि
 (जाया + मे + स्यात्) मुझे पत्नी प्राप्त हो (अय) ज्ञाया होने पर (प्रजायेय) स-
 न्तानों को उत्पन्न करने में समर्थ होऊँ (अय) पश्चात् (वित्तम् + मे + स्यात्) मुझे
 धन प्राप्त हो (अय) वित्तप्राप्ति के अनन्तर (कर्म + कुर्यात्) विविध कर्म कर
 सकूँ । (इति) (सः) वह आत्मा (यावत्) जब तक (एकैकम् + अपि) एक २
 भी (न + प्राप्नोति) नहीं पावेता है । (तावत्) तबतक (अकृत्स्न + एव + मन्यते)
 वह अपने को अपूर्ण ही मानता है । अब आगे यह दर्शाते हैं कि जिसको जाया
 और धन ये दोनों महकारी धन किमी कारणसे प्राप्त नहीं हो सकता उसके लिये
 कोई उपाय है या वह किसी उपाय से आत्मज्ञान हो सकता है या नहीं, इस पर
 कहते हैं—(तदप + उ) निश्चय उसकी (कृत्स्नता) पूर्णता इस प्रकार हो सकती है
 (अस्य) इसका (मन + एव + आत्मा) मन ही आत्मा के समान आत्मा है क्योंकि
 दोनों की प्रधानता समान है (वाग् + जाया) वाणी पत्नी के समान है, क्योंकि
 जैसे पति के अनुकूल स्त्री रहती है वैसे ही वाणी भी पुरुष के आधीन रहती है
 इस हेतु वाणी पत्नी के समान है (प्राण + प्रजा) प्राण प्रजा के समान हैं क्योंकि
 जैसे जाया और पति के योग से प्रजा होती है तद्वत् जाया पति के समान वाग्
 और मन के योग से ही प्राण की उत्पत्ति होती है (चक्षुः) दर्शनक्रियावान् चक्षु
 ही (मानुषम्) मनुष्य सम्बन्धी गो महिष आदि (वित्तम्) धन है (हि) क्योंकि
 (चक्षुषा) चक्षु से ही (तत्) उक्त मानुषवित्त को (विन्दते) पाता है
 (श्रोत्रम्) श्रवणक्रियायुक्त श्रोत्र ही (दैवम्) दैवधन है (हि) क्योंकि (श्रोत्रेण)
 श्रोत्र से ही (तत्) उक्त दैव धन अर्वात् सूर्यादि देवतासम्बन्धी विज्ञान (शृणोति)

सुनता है क्योंकि सुनना श्रोत्र के ही अधीन है (तस्य) इस प्रकार साधनयुक्त पुरुष का (आत्माएव) शरीर ही (कर्म) कर्म है (हि) क्योंकि (आत्मना) शरीर से ही (कर्म+करोति) कर्म करता है । इस प्रकार सत्र पुरुष कृत्तनता को प्राप्त हो सकता है (स.+एष.) सो ग्रह (यज्ञ) यज्ञ (पाङ्क्त) पाङ्क्त है। पाच पदार्थों से करने योग्य हैं । आत्मा, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र इन ही पाचों से सत्र यज्ञ हो सकते हैं । यह आध्यात्मिक अनुग्रह है । आगे दिसलाते हैं सत्र ही वस्तु पाङ्क्त है क्योंकि जीवमात्र में ये पाच हैं । इस हेतु (गुः) पशु (पाङ्क्त.) पाङ्क्त है । आत्मा आदि पांचों से युक्त है (पाङ्क्त.+पुरुषः) पुरुष पाङ्क्त है (इदम्+सर्गम्+पाङ्क्तम्) यह सत्र ही पाङ्क्त है (यज्ञ+इदम्+किञ्च) जो कुछ इस संसार में है । आगे कब कहते हैं—(य.+एवम्+येद) जो ऐसा जानता है (तत्+इदम्+सर्गम्) वह डासक इस सत्र फल को (आज्ञोति) पाना है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—जीवस्माववर्णनपूर्वकं साधारणमनुष्यं तां कामं वाचते तथा सर्वभूतोपकारिणमुपायं चापि दर्शयति । अग्रे माग् विवाहादिविधिप्रचाराद् । इदं दारादिजातम् । एक एव न पत्नीद्वितीयः । आत्मैवामीत् । आत्मोपलक्षितपुञ्जातिरेव प्रधानाऽऽसीत् । ततः स “ जाया मे स्यादिति अकामयत् ” कस्मै प्रयोजनापेक्ष्य आह—अथेति । यदि मम जाया भविष्यति तर्हस्यामहं प्रजायेय प्रजारूपेणोत्पद्येय सन्तानान् उत्पादयेयम् तस्यां सन्तानानुत्पादयिष्यामि तेन मृष्टौ सर्वभूतानां रक्षारि भविष्यतीत्यर्थः । अथ वित्तं मे स्यादिति अकामयतेत्यन्वयः । वित्तेन कर्म कुर्याय विविधयज्ञानुष्ठानाय मम प्रभूतं वित्तं स्यादिति कामितवान् । साधारणा हि मनुष्या इदं द्वयमेव कामयन्ते, तेनैव सन्तुष्टा अन्यस्माच्छ्रेयस्करात्कर्षणो विरमन्ति । एतावान् वै प्रसिद्धजायापुत्रवित्तकर्मणीत्येतावान् हि कामः कामयितव्यो विषयः । ननु कामानामप्यन्त्यं दृश्यते लोकेषु कथं तद्व्यवधारणं वै शब्देन करोति इत्यत आह—नेति । इच्छन् नेच्छ, अपि च पुरुषः । अतोऽस्मात् जायापुत्रवित्तकर्मणा लामाद् । भूयोऽधिकम् । न विन्देत् न प्राप्नुयात् न प्राप्नोति । अतः प्रागुक्तमेव कामद्वयं कामयतव्यमित्यर्थः । यस्मात्पुरापेवं व्यवस्थासीत् तस्मादप्येतर्हि । इदानीमपि आधुनिकानां मध्ये एकाकी पुरुषः कामयते “जाया मे स्याद्, अयं प्रजायेय, अयं

वित्तं मे स्मादय कर्म कुर्वीषेति ” सोऽयीं एतेपामेकैकम् जाया पुत्रो वित्तं कर्म-
 त्येकैकं यावत्कालपर्यन्तम् न प्राप्नोति । तात्कालम् । सोऽकृत्स्न एव मन्यते
 अपूर्णोऽहमित्यात्मानं मन्यते । कृत्स्नत्प्रसम्पादनासमर्थं मति तदुपायमाह—
 तस्येति । तस्य च अकृत्नाभिमानिनः केनोपायेन कृत्स्नता सम्पद्येत इत्याका-
 ङ्क्षापामेनं भवितुमर्हतीत्याह—मन एव । अस्याकृत्स्नाभिमानिनः । मन एवा-
 त्माऽऽत्मात्मैवऽऽत्मा प्रधानसामान्यात् । वाग् जाया पत्नी कर्माङ्गसाधनभूता
 जायेव वाणी वर्तते भर्तृमनोनुवृत्तिसामान्यादित्यर्थः । प्राणः प्रजा प्रजेय वाङ्-
 मनसात्मा प्राणस्पोत्पद्यत्वसामान्यात् । चक्षुर्दर्शनक्रियावन्मानुषं वित्तम् । हि
 यस्मात् चक्षुषा तत्प्रकृतं गवादिलक्षणं वित्तम् विन्दते प्राप्नोति इतिसाधन-
 त्वमामान्यात् । श्रोत्रं श्रवणक्रियावत् देवं देवसम्पन्नि वित्तम् । हि यस्मात् ।
 श्रोत्रेण तदैवं वित्तम् देवतादि विज्ञानलक्षणम् शृणोति । वाक्याद्विज्ञानोत्पत्तेः
 श्रोत्राधीनत्वात् । एवं साधनं सम्पादितवतोऽस्याकृत्स्नत्वाभिमानिनः । आत्मै-
 व शरीरमेवकर्म । हि यतः । आत्मना शरीरेण कर्म करोति । अनेनोपायेन
 सर्वस्य कृत्स्नता सिद्धा भवितुमर्हति । अस्मात्कारणात् । एष यज्ञः पाकः
 पञ्चभिर्निष्पाद्यः पाकः । फलं पुनरस्य पञ्चतरसम्पत्तिमात्रेण यज्ञत्वमित्याश-
 ङ्कायां ब्राह्मयज्ञस्यापि पादकत्वमित्याह पाक इति । पशुरपि पाकः । तत्राप्यात्म-
 मनो वागादीनां विद्यमानत्वात् । पुरुषः पाकः । किं बहुना । इदं सर्वं पाक-
 मेव । जगति । यदिदं किञ्च किञ्चिद्वश्यते । फलमाह—य एवं वेद सा तदिदं
 सर्वं प्राप्नोति ॥ १७ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम्

यत्सप्तज्ञानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता । एकमस्य
 साधारणं द्वे देवानभाजयत् (क) त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्यः
 एकं प्रायच्छत् । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न

(ख) कश्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वै
तामक्षितिं वेद सोऽन्नमात्ति प्रतीकेन (ग) स देवानपि
गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीतिश्लोकोः ॥ १ ॥

अनुवाद—पिता ने मेघा और तप से जो सात अन्न उत्पन्न किये (उन सातों
अन्नों में से) इस (पिता) का एक अन्न साधारण अर्थान् साम्ना है और देवों
को दो अन्न बांट दिये (क) और तीन अन्न स्वयं अपने ही लिये और एक
अन्न पशुओं को दिया जिस पर सब ही प्रतिष्ठित है जो सांस लेता है और जो
सांस नहीं लेता है (ख) किस कारण अद्यमान (जो रमायाजाय) होने पर भी,
वे (अन्न) क्षीण नहीं होते जो ज्ञानी इसकी अक्षिति (अविनाश, अक्षयपन) को
जानता है वह प्रतीक से अन्न खाता है (ग) वह देवों को भी प्राप्त होता है ।
और ऊर्ज (बल व रस) का उपभोग करता है, ये चारों श्लोक हैं ॥ १ ॥

इसका भाष्य आगे स्वयं ऋषि करते हैं और उसी के साथ पदार्थ भी आज्ञा-
यगा, अतः पदार्थ और भाष्य नहीं किए गए ॥ १ ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि
तपसाऽजनयत्पिता । एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्सा-
धारणमन्नं यदिदमव्यते । स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो
व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत् ॥ २ ॥ (क)

अनुवाद—पूर्य में जो कहा गया है कि “पिता ने मेघा और तप से सात
अन्न उत्पन्न किये (इसका यह भाव है) मेघा अर्थात् ज्ञान ही तप है (अन्यथा
तप नहीं) उससे उत्पन्न किये ।” जो यह कहा है कि “इस (पिता) का एक अन्न
साधारण है । इसका भाव यह है” यही इसका वह साधारण अन्न है । जो यह
(सत्र प्राणियों के द्वारा) रमाया जाता है । सो जो कोई इसके अच्छे प्रकार जानता
है वह पाप से निरुक्त नहीं होता क्योंकि यह (अन्न) मिश्र (साम्ना)
है ॥ २ ॥ (क) *

* प्रथम जो चार श्लोक कहे गये हैं वे वहीं अन्यत्र के श्लोक हैं उनको

द्वे देवानभाजयदिति हुतञ्च तद्देवेभ्यो जुह्वाति च
प्रजुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति तस्मात्तेष्टियाजुकः
स्यात् ॥ २ ॥ (ख)

अनुवाद—पूरे में जो यह कहा गया है कि “दो अन्न देवों को बांट दिये” इसका अर्थिप्राय यह है। वे दो अन्न “हुत” और “प्रहुत” हैं। इस हेतु देवों के लिये (विद्वान् जन) होम और बलिप्रदान करते हैं कोई आचार्य यह कहते हैं कि वे दो अन्न ये हैं एक ‘ दर्श ’ और दूसरा ‘ पूर्णमास ’ इस हेतु बान्धेष्टि यजनशील नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥ (ख)

पदार्थ—(द्वे) दो अन्न (देवान्) देवों को (अभजत्) बांट दिये । यह पूर्वोक्त श्लोक में कहा है । वे दो अन्न कौन हैं सो कहते हैं (हुतञ्च प्रहुतञ्च) एक तो “ हुत ” और दूसरा “ प्रहुत ” (बलिहरण) है (तस्मात्) इसी कारण आज-कल भी (देवेभ्यः) देवों के उद्देश से ज्ञानी पुरुष (जुह्वाति) अग्नि में होमते हैं और होम करके (प्रजुह्वति+च) पश्चात् अन्य जीवों को बलि देते हैं (अथो+आहु) कोई आचार्य कहने लगे कि देवों के “ हुत ” “ प्रहुत ” ये दो अन्न नहीं हैं, किन्तु (दर्श+पूर्णमासौ+इति) दर्श=अमावास्या और पूर्णमास=पूर्णिमा है (तस्मात्) इस हेतु (इष्टियाजुकः+न+स्यात्) कान्य यज्ञ न करे । किसी कामना की इच्छा से ही यज्ञ न करे । किन्तु नित्य ही अमावास्या और पूर्णिमा को यज्ञ किया करे । जिससे कि देवों का अन्न नष्ट न होवे ॥ २ ॥ (ख)

पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत् पयः । पयो ह्येवाग्रे
मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे
प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद्

अपि ने अपने ग्रन्थ में बद्धूत करके स्वयं अर्थ करते हैं। इसी हेतु इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। “पदार्थ” में प्रत्येक पद के अर्थ से भाव स्पष्ट होता है ॥

इति तग्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिनि यच्च नेति पयसि
हीदं सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च न ॥ २ ॥ (ग)

अनुवाद—पूर्व में कहा गया है कि “ पशुओं को एक दिया ” इसका भाव यह कि वह एक अन्न पय=दूध है क्योंकि प्रथम दूध को ही मनुष्य और पशु ग्रहण करते हैं । इस हेतु जातकुमार को प्रथम घृत चटाते हैं अथवा स्नान पियाते हैं । और पशुओं में उत्पन्न घृत (बछरा) को “अवृणद्” अर्थात् तृण न खानेहारा कहते हैं । जो यह कहा गया है । “उस पर सर ही प्रतिष्ठित है जो सास लेता है और जो सांस नहीं लेता है” इसका भाव यह है दूध के ऊपर ही यह मन्त्र प्रतिष्ठित है जो यह सांस लेता है और जो सास नहीं लेता है ॥ २ ॥ (ग)

तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति
न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं
विद्वान्तस सर्वं हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति ॥ २ ॥ (घ)

अनुवाद—दूध की प्रशसा आगे कहते हैं—इस विषय में कोई आचार्य जो यह कहते हैं कि एक वर्ष तक दूध से होम करता हुआ उपासक पुनः मृत्यु को जितलेता है सो यह कहना ठीक नहीं, उपासक को ऐसा न समझना चाहिये । जिसी एक दिन दूध से होम करता है इसी दिन पुनः मृत्यु को जीत लेता है । इस प्रकार जाननेवाला विद्वानी देवों के लिये सब भोग्य अन्न देता है ॥ २ ॥ (घ)

कस्मात्तानि न चीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा
अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते । यो वै तामक्षितिं
वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते
कर्मभिर्यज्ञै तन्न कुर्यात् क्षीयेत ह सोऽन्नमति प्रतीकेनेति
मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानापि गच्छति स ऊर्जमुपजी-
वतीति प्रशंसा ॥ २ ॥ (ङ)

अनुवाद—पूर्व जो कहा गया है कि किस कारण वे अन्न सर्वदा अद्यमान होने पर भी नहीं क्षीण होते हैं । इसका भाव यह है कि पुरुष (भोक्ता) ही “अक्षिति” है । क्योंकि वही पुनः २ इस अन्न को उत्पन्न करता रहता है । इस हेतु अन्न का क्षय नहीं होता है । पूर्व में जो यह कहा है कि “जो हम अक्षिति को जानता है” इसका भाव यह है । पुरुष ही “अक्षिति” है क्योंकि वही इस अन्न को बुद्धि से और कर्मों से उत्पन्न करता रहता है । यदि वह पुरुष बुद्धि और कर्मों से अन्न को उत्पन्न न करे तब यह अवश्य ही क्षीण हो जाय । श्लोक में जो यह कहा है कि वह प्रतीक ने अन्न खाता है । इस का भाव यह है । प्रतीक कहते हैं मुख को, मुख से ही हम को ग्याता है और श्लोक में जो यह कहा है कि वह देवों को भी प्राप्त होता है और वह रस को भोगवा है सो यह प्रशंसा है ॥ २ (क)

त्रीण्यात्मने कुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरु-
तान्यत्रमना अभूवन्नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रोपमिति
मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति ॥ ३ ॥ (क)

अनुवाद—पूर्व श्लोक में जो यह कहा है कि “तीन अन्न अपने लिये किये” वे तीन अन्न ये हैं—मन, वाचा और प्राण । इन तीनों को अपने लिये किये । आगे मनकी प्रशंसा करते हैं । मैं अन्यत्रमना था अर्थात् मेरा मन कहीं अन्यत्र था इस हेतु मैंने नहीं देखा, मैं अन्यत्रमना था अर्थात् मेरा मन कहीं अन्यत्र था इस हेतु नहीं सुना क्योंकि मन से ही आदमी देखता है और मन से ही सुनता है ॥ ३ ॥ (क)

पदार्थ—(आत्मने) अपने लिये (त्रीणि) तीन अन्न (अकुरुत) उत्पन्न किये अर्थात् (मनः+वाच+प्राणः) मन, वाणी और प्राण (तानि+आत्मने+अकुरुत) इन तीनों को अपने लिये किये । अब आगे मन की प्रशंसा करते हैं—(अन्यत्रमना.) अन्यत्रमन वाला (अभूवम्) मैं हुआ अतः (न+अदर्शम्) इस हेतु मैंने नहीं देखा (अन्यत्रमनः+अभूवम्) अन्यत्रमन वाला मैं हुआ (न+अश्रोपम्) इस हेतु मैंने नहीं सुना (इति) (हि) क्योंकि (मनसा+एव) मन से ही (पश्यति) देखता है (मनसा+शृणोति) मन से ही सुनता है ॥ ३ ॥ (क)

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति-
र्हीर्धीर्भिरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो-
मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा एषा ह्यन्तमा-
यत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्ये-
तत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः
प्राणमयः ॥ ३ ॥ (ख)

अनुवाद—काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ही-
(लज्जा), धी (बुद्धि), मी (भय) यह सब मन ही है । इस हेतु यदि कोई
पृष्ठ से उपस्पृष्ट होता है तो मन से जान जाता है (अर्थात् यदि कोई किसी की
पीठ की ओर झिपकर उसकी पीठ को छूवे तो यह जान लेता है कि यह अमुक
आदमी है) और जो शब्द है वह संव वाणी ही है क्योंकि यही अन्न को (अर्थात्
निर्णय के अन्ततक) पटुची हुई है इस हेतु यह प्रकाशस्वरूप है और अन्य से
यह प्रकारा नहीं है । प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये “अन्न” अर्थात्
प्राण हैं । यह सब प्राण ही है निश्चय यह आत्मा एतन्मय है अर्थात् वाङ्मय,
मनोमय और प्राणमय है ॥ ३ ॥

त्रयो लोका एत एव वागेवार्य लोको मनोऽन्तरिक्ष-
लोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥

अनुवाद—ये ही तीनों लोक हैं । वाणी ही यह (पृथिवी) लोक है—मन
अन्तरिक्ष लोक है । प्राण वह द्युलोक है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(एतेऽएव) ये वाणी, मन और प्राण ही (त्रयः) तीन (लोकाः)
लोक आश्रय है इसका विभाग करते हैं—(चागूऽएव) वाणी ही (अयम्) यह
अर्थात् यह पृथिवी (लोकः) लोक है (मनः) मन (अन्तरिक्षलोकः) अन्तरि-
क्षलोक है (प्राणः) प्राण ही (असौऽलोकः) वह द्युलोक है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—त्रय इति । त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनोवाचं प्राणमित्युक्तं पुर-

स्तात् । एतच्च । “अथमात्मा वा इन्द्रो मनोमयः प्राणमय” इत्यादि दाशतम् । एतेनास्मादग्रस्य सर्वेभ्यः प्रधानत्वं सूचिम् । पुनरपि तदेव स्तोतुमुत्तरोग्रं च आरभ्यते । वाङ्, मनः, प्राण इत्येत एव अतिद्वारस्थो लोकोः । एतेषामेव वागादीनां संस्कृतानां शुद्धानां साहाय्येन । त्रयाणामपि लोकानां ज्ञानम् । या त्रयोलोका इति ऋग्वेदेषु । अथ त्रिभागमाह—रागेन्द्राग्नेरिति । अत्रेयं शब्दः पृथिवीरचनः । सर्वत्रैवेयं शैली दृश्यत आर्षग्रन्थेषु । अथ पृथिवी लोको वागस्ति । यथा पृथिवी वस्तुनि विमर्ति समये समये तानि जनयित्वा जीवान् सृजति । यथा पृथिवी वस्तुनि विमर्ति समये समये तानि जनयित्वा जीवान् सृजति । एतमेव वागपि वेदाभ्यस्तपश्चार्थाश्च गृहीत्वा यथा कालं प्रकाशय स्मरति पाति । मनोन्तरिक्षलोकः अन्तरिक्षे यथा सर्वाणि पृथिव्यादीनि वस्तुनि स्थापितानि तथैव मनसि वागादीनामपि स्थापनम् । प्राणोऽमौ लोकः । अमौ शब्द प्रायः सर्वत्र पुलोकाचक्रः प्रयुक्तः । यथा दिवि सूर्यस्तिष्ठन् सर्वं जगन् प्रकाशयति विमर्ति च । तथैवायं प्राणोऽपि सूर्द्धनि स्थितः सन् वागादीनि इन्द्रियाणि प्रकाशय रचति । अतस्तयोर्द्वयोः सभानता ॥ ४ ॥

भाष्याशय—पूर्व में कहा गया है कि मन, वाणी और प्राणरूप तीन अन्न अपने लिये किये और यह भी कहा है कि यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है । इन वर्णों से इन तीनों की अन्यान्य की अथेक्षा प्रधानता दिखलाई गई है । पुनरपि इन तीनों की स्तुति के लिये आगे का प्रकरण आरम्भ होता है । मूल में कहा है कि वाङ्, मन और प्राण ये तीनों क्रम से पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और पुलोक हैं । इसका मान यह है कि जब वाङ्, मन और प्राण संस्कृत और शुद्ध होते हैं तब इन तीनों की सहायता से इन पृथिवी आदि तीनों भुवनों का सन्त्यक्त बोध होना संभव है । इस हेतु वागादि तीनों साधन और ये साध्य हैं । अतः साध्यसाधन की अभेदविवक्षा में ये वागादि तीनों, तीनों लोक हैं ऐसा कहा है । वागादि तीनों पृथिवी आदि तीनों लोक के समान हैं ऐसा अर्थ करना चाहिये । जैसे वाग् पृथिवी है अर्थात् पृथिवी के समान है कैसे ? जैसे यह पृथिवी अपने अभ्यन्तर में त्रिविध घन ओषधि बीज आदि पदार्थों को रखती है । समय समय पर उनको उत्पन्न कर स्थापित जीवों को पारती है वैसे ही यह वाणी वेदों और अभ्यस्त पदार्थों को अपने में ग्रहण करके यथाकाल प्रकाशित कर अपने भक्त को

पालती है । इस हेतु वाणी पृथिवी के समान कहा है । मन अन्तरिक्षलोक के समान जैसे अन्तरिक्ष (आकाश) में सब पदार्थ स्थापित हैं वैसे ही मन में वाणी आदि स्थापित हैं । यदि मन विगड़ जाय या कहीं अन्यत्र रहे तो वाणी नेत्र आदि बुद्ध नाम नहीं कर सकने । प्राण शुलोक के समान सूर्य के स्थान का नाम शुलोक है । जैसे शुलांस्तस्य सूर्य सद्य का प्रकाशक और धारक है । वैसे ही यह प्राण भी सब बागादि इन्द्रियों का प्रकाशक और धारक है, इत्यादि इसके अनेक भाव घट सकते हैं यदा कहने का तात्पर्य विशेषरूप से यह है कि इन तीनों को शुद्ध करें और इनसे जितना कार्य हो सकता है उसको ग्रहण करें । आध्यात्मिक उपासना में ये तीन प्रधान हैं आगे भी ऐसा ही जानना ॥ ४ ॥

**त्रयो वेदा एतएव वागेवऋग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः
सामवेदः ॥ ५ ॥**

अनुवाद—ये ही तीनों वेद हैं । वाणी ही ऋग्वेद है । मन ही यजुर्वेद है । प्राण ही सामवेद है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(एते+एव) ये ही (त्रयः) तीनों (वेदाः) वेद हैं (वाग्+एव+ऋग्वेदः) वाणी ही ऋग्वेद है (मनः) मन (यजुर्वेदः) यजुर्वेद है (प्राणः) प्राण ही (सामवेदः) सामवेद है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—त्रय इति । ऋग्वेद इव वाग् । यथा वाचा सर्वव्यवहारस्तथा ऋचा । ऋच एव बाहुल्येन तरेषु वेदेषु पठ्यन्ते । कर्मकाले ऋग्भिरेव स्तूयन्ते गीयन्ते । यद्वा ऋग्निवेश्वरं वाक् स्तोति । वाचा हि स्तूयते सर्वम् । यजुर्वेद इव मनः । मन इन्द्रियाणीव कर्माणि सर्वाणि यजुः सम्बध्नाति वाचय रूपत्वात् । सामवेद इव प्राणः । गीयप्राणः सामवेद इतरानुज्जीविष्यति प्राण इवातः । साम्यम् ॥ ५ ॥

भाष्याशय—ऋग्वेद के समान वाणी है जैसे वचन से सर्व-कर्मव्यवहार होता है वैसे ही ऋचा से । अन्य तीनों वेदों में प्रायः ऋचाओं का ही अधिक पाठ है । कर्मकाल में ऋचाओं से ही स्तुति गीति आदि चाक्षिक-सर्व व्यवहार होते हैं । यदा

जैसा अग्नेय ईश्वर की स्तुति करता है वैसे ही वाणी भी । क्योंकि वचन से ही सब की स्तुति होती है । यजुर्वेद के समान मन है जैसे सब इन्द्रियों के साथ मन सम्बन्ध रखता है वैसे यजुर्वेद भी सब कर्म से सम्बन्ध रखता है । क्योंकि यजुर्नाम वाक्य का है । यह करो वा अमुक कर्म करो अमुक कार्य में करु इत्यादि यजुर्वेद से ही सिद्ध होता है । सामवेद के समान प्राण । सामवेद का गान जैसे सब को प्रिय होता है वैसे ही प्राण सब का प्रिय है ॥ ५ ॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

अनुवाद—ये ही देव पितर और मनुष्य हैं । वाणी ही देव है । मन ही पितर है । प्राण ही मनुष्य है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(एते+एव) ये ही (देवाः) देव हैं (पितरः) पितर हैं (मनुष्याः) मनुष्य हैं । आगे विभागपूर्वक कहते हैं—(वाग्+एव) वाणी ही (देवाः) देव है (मनः) मन ही (पितरः) पितर है (प्राणः+मनुष्यः) प्राण ही मनुष्य है ॥६॥

भाष्यम्—देवा इति । देवा अत्र विद्याप्रकाशवन्तः । पितरो रक्षितारः । मनुष्याः सामान्याः । निदावन्तः खलु पुरुषा वागिव व्यवहारसाधकाः । पितरो यथा देशान् रक्षन्ति मनस्तयेन्द्रियाणि । साधारणमनुष्या एव सर्वानुच्चावचान् व्यवहारान् साधयन्ति । अतः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

भाष्याशय—यहा विद्या-प्रकाशवान् पुरुष देव, रक्षक पितर और साधारण मनुष्य मनुष्य । विद्यावान् पुरुष ही वाणी के समान सर्व व्यवहारसाधक होते हैं । इस हेतु देव के समान वाणी । जैसे मन इन्द्रियों की रक्षा करता है वैसे ही पितर देशरक्षक होते हैं । इस हेतु इन दोनों की समानता है । जैसे साधारण मनुष्य ही छोटे बड़े सब कामों की निपाहते हैं अन्य देव पितरों का भी वे आश्रय हैं, वैसे ही यह प्राण इन्द्रियों का आश्रय और सब काम में रात दिन लगा रहता है कभी थकित नहीं होता । इस हेतु इन दोनों की समानता है ॥ ६ ॥

पिता माता प्रजेत एव मन एव पिता वाङ् माता
प्राणः प्रजाः ॥ ७ ॥

अनुवाद—ये ही माता पिता और प्रजा हैं। मन ही पिता है वाणी ही माता है। प्राण ही प्रजा है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(पिता+माता+प्रजा) पिता, माता और प्रजा=सन्तान (पते+पय)
ये ही मन, वाणी और प्राण हैं। (मनः+पय+पिता) पिता के समान मन (वाङ्+
माता) माता के समान वाणी (प्राणः+प्रजा) प्रजा अर्थात् सन्तान के समान
प्राण है ॥ ७ ॥

माप्यम्—पितेति । पालकस्यात् पिता । यथा पिता सन्तानादिकं पाल-
यति । तथा मन इन्द्रियाणि । इन्द्रियसन्तानमनोरथाश्च । अतस्तयोः साम्यम् ।
माता मानयतीति मानेन तनोतीति वा । मया सम्पत्त्या तनोतीति वा । इदं
मा-कुरु इदं मा कुरु इति तनोति शिचवे वा । मातीति वा मिमीत इति वा ।
अणशोऽणशो निर्दिमीत इत्यर्थः । इन्धाद्यनेरुधातुजोऽयं शब्दः । यथा माता
सन्तानं शनैः शनैर्वर्धयति । तथैव वाणी श्रियाविधोद्भासिता सती पुरुषं
यशसा वनादिना च वर्धयति । इत्यादि साम्यमूहम् । यथा प्रजा वंशं विमर्ति ।
यथा प्राणोऽपि शरीरादि ॥ ७ ॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किञ्च विज्ञातं
वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ८ ॥

अनुवाद—ये ही विज्ञान, विजिज्ञास्य और अविज्ञात (ये तीनों पदार्थ)
हैं जो कुछ, “विज्ञात” है वह वाणी का रूप है। क्योंकि घटन ही विज्ञान होता
है। जो इसको जानता है उसको विज्ञातस्वरूप होकर वाणी पालती है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(विज्ञातम्) जो ज्ञात=मान्य है कुछ है। जो विशेषरूप से ज्ञात
(मान्य) हो चुका है उसे “विज्ञान” कहते हैं। (विजिज्ञास्यम्) जो जानने
योग्य है वह “विजिज्ञास्य” कहलाता है (अविज्ञातम्) जो अच्छे प्रकार से

ज्ञात नहीं है वह अविज्ञात । ये ही तीन दशाएँ हैं । ये तीनो (एते+एव) ये ही वाणी, मन और प्राण हैं । अब विभाग करते हैं—(यत्+किञ्च+विज्ञातम्) जो कुछ विज्ञात है (तत्) वह (वाच०) वाणी का रूप है (वाग्+हि+विज्ञाता) प्रकाशक होने से वाणी ही जानी जाती है । (एनम्) वाणी तत्त्ववित् पुरुष को (वाग्+तद+भूत्वा+भवति) वाणी ही विज्ञातरूप होके पालती है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—विज्ञातमिति । विशेषेण ज्ञातम् । विजिज्ञास्यं विजिज्ञासितुं योग्यम् । अविज्ञातमविदितम् । इमानि त्रीणि । एत एव धागादय एव । विभागेन प्रदर्शयति । यत्किञ्च विज्ञात तद्याचो वाण्या रूपम् । हि यतः । चाग्निज्ञाता प्रकाशिता सती प्रकाशयित्री भवति । फलमाह—एनमुपासकम् । वाग् तद्विज्ञातरूपं भूत्वा । भवति रक्षति ॥ ८ ॥

१ यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽभवति ॥ ९ ॥

अनुवाद—जो कुछ विजिज्ञास्य है, वह मन का रूप है । क्योंकि मन ही विजिज्ञास्य है । इस उपासक को मन विजिज्ञास्य का रूप धारण कर पालता है ॥ ९ ॥

पदार्थ—अब मन का रूप कहते हैं—(यत्+किञ्च) जो कुछ वस्तु (विजिज्ञास्यम्) विशेष रूप से जानने के योग्य है (तत्) वह (मनसः) मन का (रूपम्) रूप है (हि) क्योंकि (मन+विजिज्ञास्यम्) मन ही प्रथम विशेषरूप से जानने योग्य है, वही मन विज्ञात होने पर विजिज्ञास्य वस्तु को प्रकाशित करता है, आगे फल कहते हैं—(एनम्) जो इस तत्त्व को जानता है । (मन०) मन (तद्+भूत्वा) विजिज्ञास्यस्वरूप होकर (भवति) पालता है ॥ ९ ॥

भाष्यम्—यत्किञ्चिद्वस्तु विशेषेण जिज्ञासितुं यभीष्टमस्ति तत्सर्वं मनसो-रूपम् । हि यतः । मन एनं प्रथमं विजिज्ञास्यम् । विजिज्ञासित मनो विजिज्ञास्य प्रकाशयति । फलमाह—एनमुपासकम् । तद्विजिज्ञास्यं भूत्वा । भवति रक्षति ॥ ९ ॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणोह्यविज्ञातः प्राण
एनं तद्रूपाऽवति ॥ १० ॥

अनुवाद—जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का रूप है । क्योंकि प्राण ही
अविज्ञात है । इस उपासक को प्राण उस अविज्ञात के रूप को धारण कर
पालता है ॥ १० ॥

पदार्थ—अब प्राण का रूप कहते हैं—(यत्+किञ्च) जो कुछ वस्तु (अवि-
ज्ञातम्) अविज्ञात है (तत्) वह (प्राणस्य) (रूपम्) प्राण का रूप है (हि)
क्योंकि (प्राणः+अविज्ञातः) प्राण अविज्ञात है । आगे फल कहते हैं—(एनम्)
इस सत्त्व के जाननेवाले को (प्राणः) प्राण (तत्+भूत्या) अविज्ञातस्वरूप होकर
(अवति) पालता है ॥ १० ॥

भाष्यम्—येति किञ्चिद्वस्तु । अविज्ञानमविदितमस्ति । सत्प्राणस्य रूपम् ।
प्राणो हि अविज्ञातः अविदितः । फलमाह—प्राण इति विस्पष्टम् ॥ १० ॥

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्वाव-
स्येव चाक् तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

अनुवाद—उस वाणी का शरीर पृथिवी है और प्रकाशात्मकरूप यह अग्नि है
इस हेतु जितनी ही वाणी है उतनी पृथिवी है और उतना ही यह अग्नि है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(तस्यै) उस (वाचः) वाणी का (शरीरम्) शरीर (पृथिवी)
पृथिवी है (ज्योतीरूपम्) प्रकाशात्मकरूप (अयम्+अग्निः) यह अग्नि है (तत्)
इस हेतु (तावती+एव) जिस परिमाण की अर्थात् जितनी बड़ी ही (वाक्)
वाणी है (तावती+पृथिवी) उतनी ही पृथिवी है । और (तावान्) उतना ही
(अयम्+अग्निः) यह अग्नि है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—तस्मै इति । पुनस्तेषामेव वागादीनां रतुतिरनुक्रम्यते । तस्यै
तस्याः । पष्ठ्या चतुर्थी । प्रायोऽस्मिञ्छास्त्रे ईदृग्यवहारः । तस्या वाचः ।

पृथिवी शरीरमाधारः । पार्थिवांशैरक्षादिभिस्तस्या उपवीचमानत्वाद् । अयं पार्थिवोऽग्निः । तस्या ज्योतीरूपम् प्रकाशात्मकं रूपम् । आग्नेयशक्तिर्या हि वाणी विवर्धते । दृश्यते मरुत्समये याम्त्कालपर्यन्तमुष्णता देहेऽनुभूयते । तावत्कालं वागप्युच्यते । शैत्यं गते देहे वागप्येति । अत उक्तमयमाग्निर्ज्योतीरूपमिति । यस्माद्वाचः पृथिवी शरीरम् । तत्तस्माद्धेतोः । यावत्त्येव यावत्परिमाणेय वागस्ति । तावन्ती पृथिवी । तथा तावानयमग्निः । अयमाशयः । यत्र यत्र वागुच्यते । तत्र तत्र पार्थिवाशः । यत्र च पार्थिवांशस्तत्राग्निः प्रत्यक्षमेतत् ॥ ११ ॥

भाष्याशयः—यह प्रत्यक्ष विषय है कि जहां जहां पृथिवी का अंश है वहां वहां से वाणी अवश्य निकल सकती है । मेघ आदि में भी पार्थिवाश का अनुमान होता है । जहां २ स्थूलता विस्तृता आदि गुण हैं वहां २ पृथिवीत्व समझना चाहिये । साध्य के मत से एक ही कोई पदार्थ है जिसको वे प्रकृति कहते हैं । पृथिवी जल वायु तेज आदि जो कुछ है वह सब ही प्रकृति का ही परिणाम है । जैसे दूध का ही परिणाम दही घी आदि है । वदत् । इस हेतु पृथक् २ करके निर्णय करना अति कठिन है । और पृथिवी कौन जल है ? पृथिवी में जलादि अंश कितना और जल में पृथिवी का अंश कितना यह सब विषय अनुवेष्टव्य है । इस हेतु जहां २ सचनता पृथुता स्थूलता आदि गुण प्रतीत होते हैं वहां २ सचनता आदि की अधिकता के कारण पृथिवीत्व ही जानना । इस हेतु वाणी का शरीर (आधार) पृथिवी और अग्नि इसका रूप कहा है । इसका भाव यह है जैसे नेत्र आविर्भूत इन्द्रिय पदार्थ ग्रहण के कारण हैं । वैसे ही अग्नि भी वाणी का कारण है । अग्नि बिना वाणी नहीं हो सकता । प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि इस शरीर में तरण के समय जब तक उष्णता का बोध होता है तब तक भाषणशक्ति भी प्रायः रहती है । जब शरीर सर्वथा शीतल हो जाता है तब वाणी भी बन्द हो जाती है । इस हेतु वाणी आग्नेयशक्तिविरहित है ऐसा प्रतीत होता है । और भी जैसे अग्नि पदार्थों का प्रकाशक और अ-प्रकाशक का नाशक होता है । वैसे ही वाणी अपने उच्चारण से सब पदार्थों की प्रकाशिका और यदि शुद्ध विशुद्ध वाणी होजाय तो अज्ञानता को भी नष्ट कर देती है । इन अनेक कारणों से स्तुति के लिये जितनी ही वाणी है उतना ही पृथिवी और अग्नि कहा है ॥ ११ ॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्त-
थावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनं समैतां
ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै
सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

अनुवाद—अब इस मन का शरीर शुलोक है और प्रकाशात्मकरूप यह
आदित्य है। इस हेतु जितना ही मन है उनना ही शुलोक है। और उतना ही यह
आदित्य है। वे मन और बाणी एकत्र संगत हुए। उन दोनों से प्राण उत्पन्न हुआ
सो यह प्राण इन्द्र (ऐश्वर्यवान्) है। सो यह शत्रु रहित है। निश्चय, दूसरा
शत्रु होता है। जो ऐसा जानता है उसका कोई शत्रु नहीं होता है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(अथ) बाणी का स्वरूप कहा गया, अब मनका स्वरूप कहते हैं—
(एतस्य+मनसः) इस मन का (शरीरम्+द्यौः) शरीर शुलोक है और (ज्योती-
रूपम्) प्रकाशात्मकरूप (असौ+आदित्यः) यह आदित्य है। (तत्+यावद्+एव+
मनः) अतः जितना बड़ा मन है (तावती+द्यौः) उतना ही शुलोक है (तावान्+
असौ+आदित्यः) उतना ही सूर्य है, अब आगे प्राण की उत्पत्ति कहते हैं—(तौ)
वे बाणी और मनरूप स्त्री पुरुष (मिथुनम्+समैताम्) इकट्ठे हुए (ततः) तब
(प्राणः+अजायत) प्राण उत्पन्न हुआ (सः+इन्द्रः) वह प्राण परमैश्वर्यवान् है।
और (सः+एषः) सो यह प्राण (असपत्नः) शत्रुरहित है (वै) निश्चय
(द्वितीयः+सपत्नः) दूसरा शत्रु होता है। आगे कल कहते हैं—(यः+एवम्+वेद)
जो ऐसा जानता है (अस्य) इसका कोई भी (सपत्नः+न+भवति) शत्रु नहीं
होता है ॥ १२ ॥

भाष्य—अथेति । वाक्स्वरूपं निरूपितम् । अथ मनसः स्वरूपमाह—
मनसो द्यौः शरीरमित्यादि पूर्ववत् । “मन एवास्यऽऽत्मा, वाग् जाया, प्राणः
प्रजाः” “मन एव पिता, वाक् माता, प्राणः प्रजा” इत्युक्तं पुरस्तात् । सम्प्रति ।
प्राणप्रजोत्पत्तिप्रदर्शनायाऽऽह । तावित्यादि । तौ वाङ्मनसात्मकौ स्त्रीपुंसौ ।
मिथुनं मैथुन्यम् । समैतां समगच्छेताम् । ततस्तयोः सङ्गमनाद् । प्राणोऽजा-

यत् । स एष प्राणः । इन्द्र ऐश्वर्यवान् । स एष प्रणः । असपत्नः न विद्यते
सपत्नोऽरिर्यस्य सः । द्वितीयो वै सपत्नः । असपत्नगुणकप्राणोपासनफल-
माह—ए एव वेद । नास्योपासकस्य सपत्नो भवति ॥ १२ ॥

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्त-
द्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व
एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हेतानन्तवत् उपास्तेऽन्तवन्तं
स लोकं जयत्यथ यो हेताननन्तानुपास्तेनन्तं स लोकं
जयति ॥ १३ ॥

अनुवाद—अब हम प्राण का शरीर जल है । और प्रकाशात्मकरूप यह
चन्द्र है इस हेतु जितना ही प्राण है उतना ही जल है । और उतना ही यह चन्द्र
है । ये सब वस्तु तुल्य ही हैं । सब अनन्त हैं । सो जो कोई इनको “अन्तवान्”,
जान इनके तत्त्वों का अध्ययन करता है । वह “अन्तयान लोक” की जय करता
है और जो इनको “अनन्तवान्” मान अध्ययन करता है वह अनन्त लोक की
जय करता है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(अथ) मन के निरूपण और प्राण की उत्पत्ति कथन के अनन्तर
प्राण के स्वरूप का वर्णन करते हैं—(एतस्य+प्राणस्य) इस प्राण (जीवन) का
(शरीरम्) शरीर=आधार (आपः) जल है । जल के बिना जड़ वृक्ष आदि भी मर
जाते हैं । इसी हेतु संहृत में जल को “जीवन” कहा है । और (ज्योतीरूपम्)
प्राण का प्रकाशात्मकरूप (असौ+चन्द्रः) यह चन्द्र है (तत्) इस हेतु (यावान्+
एव+प्राणः) जितना ही प्राण है अर्थात् प्राण की जहातक स्थिति है (तावत्यः+
आपः) उतना ही जल है और (तावान्+असौ+चन्द्रः) उतना ही चन्द्रमा है । (ते+
एते) वे वाणी, मन और प्राण ये (सर्वे+एव) सब ही (समाः) तुल्य ही हैं
(सर्वे) सब ही (अनन्ताः) अनन्त हैं (स +य+इह) सो जो कोई अध्ययनशील
पुरुष (एतान्) इस वाणी, मन और प्राण को (अन्तवतः) अन्तवान् जान
(उपास्ते) अध्ययन करता है (सः) वह (अनन्तवन्तम्) अन्तवान् (लोकम्) ।

लोक की (जयति) जय करता है (अध) और (यः+ह) जो उपात्तक (ए-
तान्) इन व गादिओं को (अनन्तान्) अनन्त मान कर (उपात्ते) अध्ययन
करता है (स) वह (अनन्तम्+लोकम्) अनन्त लोक की (जयति) जय
करता है ॥ १३ ॥

माप्स्यम्—प्राणोजीवनम् । प्राणेन जीवन्ति प्राणिनः । तस्यैतस्य प्राणस्य ।
शरीरमाधारः । आपो जलम् । जलं विना वृक्षादयोऽपि त्रियन्ते । अतएव जलं
जीवनशब्देन व्यवहियते । तथा ज्योतीन्त्वं प्रकाशात्मकं रूपम् असौ चन्द्रः ।
तथावानित्यादि अनिरोहितार्थकम् ॥ १३ ॥

स एष सन्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय
एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा-
ऽऽच पूर्यन्तेऽप च क्षीयन्ते सोऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडश्या
कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मा-
देतां रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्यादपि कृकलासस्यै-
तस्या एव देवताया अपक्षित्यै ॥ १४ ॥

अनुवाद—सो यह सन्वत्सर ही प्रजापति है । वह सोलह कलाओं से
युक्त है, रात्रियों ही इसकी पन्द्रह कलाएँ हैं और इसकी सोलहवीं कला निश्चय
निर्झरा है । वह रात्रियों ने आपूर्ण अपक्षीय होता रहता है । सो यह अमावास्या
की रात्रि में इस षोडशी कला से इस मंत्र प्राणधारी जीव में प्रवेश कर पुनः प्रातः-
काल उत्पन्न होता है इस हेतु इस रात्रि में किसी प्राणधारी का प्राणहरण न करे,
इस देवता की पूजा के लिये भी कुरूप कृकलासनामक कीड़े का भी प्राण हरण
न करे ॥ १४ ॥

पदार्थ—यहाँ प्रसङ्गवश दिखलाते हैं कि चन्द्रमा के समान यह मनुष्य भी
धन, विद्व, विद्या, आत्मबल आदि गुणों से भरता बढ़ता रहता है । उन सब धनों
में आत्मबल ही प्रधान, वन है, इस वशिष्ठ में चन्द्र का नित्यपुनर १५वीं वशिष्ठ-

का मे मनुष्य का निरूपण करेंगे (सः+एषः+सम्बत्सरः) यह जो अहोरात्र, शुक्लकृष्ण-
पक्ष, चैत्रादि मास मिल कर प्रायः ३६० अथवा ३६४ अहोरात्र का एक वर्ष होता
है (प्रजापति.) वह प्रजापति है क्योंकि इसी फल के आश्रय में सारी प्रजाए
पुष्ट होगी हैं इसके रात्रिरूप अवयव का वर्णन करते हैं—(पौडशकलः) इसमें
१६ कलाए हैं (तस्य+रात्रयः+एव+पञ्चदश+कलाः) इसकी रात्रियां ही १५ (पन्द्रह)
कलाए हैं (अस्य+पौडशी+कला+ध्रुवा+एव) इसकी सोलहवीं कला नित्या अविनश्वरी
है । अर्थात् मानो कि १५ कलाए तो वनती बिगड़ती, किन्तु वीजस्वरूप सोलहवीं
कला सदा एकरस रहती है उससे मानो, पुनः वह पूर्ण होजाता है । (सः+रात्रि-
भिः+एव+आ+पूर्यते+च+अप+क्षीयते+च) वह कालात्मक प्रजापति रात्रियों से ही
पूर्ण और क्षीण होता रहता है (अमावास्याम्+रात्रिम्+एतया+पौडश्या+रतया) अमावा-
स्या की रात्रि में इस नित्या पौडशी कला के द्वारा मानो (सः+इदम्+सर्वम्+प्राण-
भृद्+अनुप्रथिरय) वह प्रजापति इस सय प्राणधारी जीव में प्रवेश करके (ततः+प्रातः+
जायते) तन प्रातःकाल पुनः उत्पन्न होता है । (तस्मात्+एताम्+रात्रिम्) अतः
इस रात्रि में (प्राणभृतः+प्राणम्+न+विच्छिन्द्यात्) किसी प्राणी का प्राण विच्छेद न
करे (यत्स्याः+एष+देवतायाः+अपचित्यै) इस कालात्म देवता की पूजा के लिये भी
(अपि+कृकलासस्य) निष्ठुर और कुरूप कृकलास अर्थात् गिरगिट का भी हनन
करे । भाव इसका यह है कि बहुत से गंवार कहते हैं कि यह कृकलास (गिर-
गिट) पापिष्ठ और अमंगल है । इसको मारने से पन्द्रमा प्रसन्न होता, इत्यादि
छुस्तकारों को भी प्रसन्नयन श्रद्धा निवारण करते हैं । यहा केवल रात्रि का
वर्णन है इसमें सिद्ध होता है कि किसी रात्रि में प्राणिहिंसा न करे, क्योंकि कोई
रात्रि ऐसी नहीं होती जिसमें चन्द्र की कोई न कोई कला न हो । एक अमावास्या
ही ऐसी है जिसमें चन्द्र अच्छे प्रकार दृश्य नहीं होता जन इसमें भी हिंसानिषेध
किया तब वो अन्य रात्रियों में स्वतः हिंसानिषेध सिद्ध है । पुन, बड़े २ जीवों को
कोन बड़े बीट पतंगों की भी हत्या निषिद्ध है, इस प्रकार कालात्मक चन्द्र का वर्णन
कर आगे मनुष्य का वर्णन करते हैं । सरकृत व्याख्या इसकी नहीं की गई है ॥ १४ ॥

यो वै स सम्बत्सरः प्रजापतिः पौडशकलोऽयमेव स
योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य

पोडशी कला स वित्तेनैवाऽऽच पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्
नाभ्यं यद्यमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानि जीयत
आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाऽऽहुः ॥ १५ ॥

अनुवाद—सो जो यह सोलह कलाओं से युक्त संवत्सरात्मक प्रजापति है । वह यही पुरुष है जो कोई ऐसा जाननेहारा है । इसका वित्त ही पन्द्रह कलाएं है और आत्मा ही सोलहवीं कला है । सो यह वित्त से ही आपूर्ण और अपक्षीण होता रहता है । जो यह आत्मा है वह (रथ के) नाभि के समान है और जो धन है वह प्राधि अर्थात् भर के सदृश है । इस हेतु यद्यपि वह पुरुष सब वित्त से हीन होजाय किन्तु केवल आत्मबल से ही जीता हुआ रहे तो इसे देख आदमी कहते हैं कि क्या परवाह है केवल इसका धन गया है आत्मा तो विद्यमान है पुनः प्रधिस्थानीय धन से संयुक्त हो जायगा ॥ १५ ॥

पदार्थ—(य+त्रै+नः+संवत्सर+प्रजापतिः+पोडशकलाः) निश्चय, सो जो यह कलात्मक प्रजापति है जो सोलहों कलाओं से संयुक्त है इसी के समान (पुरुषः) यह पुरुष है (य+अयम्+एवंविद्) जो कोई इस सब भेद को जानता है (अयम्+एव+सः) यही वह है अर्थात् उस पोडशकलायुक्त चन्द्र के समान यह पुरुषाकार जीवात्मा है (तस्य+वित्तम्+एव+पञ्चदश+कलाः) इसके जो गों, महिष, भूमि, हिरण्य, राज्य, सम्राज्य आदि धन हैं वे सब पन्द्रह कलाओं के तुल्य हैं परन्तु (अस्य+आत्मा+एव+पोडशी+कला) इसका आत्मा ही सोलहवीं नित्या, ध्रुवा कला है (सः) वह चन्द्रवन् (वित्तेन+आपूर्यते+च+अप+क्षीयते+च) वित्त से ही पूर्ण और क्षीण होता । किन्तु (यद्+अयम्+आत्मा) इसका जो नित्य आत्मा है (तत्+एतत्+नाभ्यम्) वह रथ के नाभिस्थानीय है । (प्राधि+वित्तम्) और हिरण्यादिक धन प्राधि के समान है । प्राधि=भर । (तस्माद्) इस हेतु (यद्यपि) यद्यपि (सर्वज्यानिम्) इसका सर्वस्व नष्ट होजाय (जीयते) और धन से हीन होजाय तो भी कोई क्षति नहीं (चेद्+आत्मना+जीवति) यदि वह आत्मा से जीता हुआ हो अर्थात् यदि आत्मबल हो तो भले ही सर्व वित्त नष्ट होजाय तो भी कोई क्षति नहीं (प्राधिना+अगात्+क्षति+एव+आहुः) प्राधिस्थानीय धन से यह दीखता

को प्राप्त हुआ है ऐसा ही सब कोई कहते हैं । सो यह धन धनदस्तादत् वरान्न
आता जाता रहता है । भाव यह है कि आत्मरत्न ही मुख्य है । इसी की गवेषणा
करनी चाहिये । भाव त्रिस्पष्ट है, इसी भी मस्कृत-याख्या नहीं की गई है ॥ १५ ॥

अथ त्रयो वाच लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक
इति सोऽयं मनुष्यलोक पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा
कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोकौ च लोकानां
श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥ १६ ॥

अनुवाद—तीन ही लोक हैं । मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक, सो यह
मनुष्यलोक पुत्र से ही जीतने योग्य है अन्य कर्म से नहीं । पितृलोक कर्म से और
देवलोक विद्या से जीतने योग्य हैं । निश्चय, सब लोकों में देवलोक श्रेष्ठ है । इस
हेतु विद्या की प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अथ) सात अक्षरों के वर्णन के पश्चात् मनु यदि तीनों के वर्णन
का आरम्भ करते हैं—(त्रय + वाच) तीन ही (लोकः) लोक हैं । वे तीन हैं
(मनुष्यलोकः) मनुष्यलोक (पितृलोकः) पितृलोक और (देवलोकः) देवलोक
(इति) (स + अयम् + मनुष्यलोकः) सो यह मनुष्यलोक (पुत्रेण + एव) पुत्र
से ही (जय्यः) जीता जा सकता है अर्थात् सन्तान की वृद्धि से ही यह प्रसन्न
करने योग्य है (अन्येन + कर्मणा + न) अन्य कर्म से नहीं (पितृलोकः + कर्मणा)
रक्षण आदि और यज्ञादि कर्म से ही पितृलोक सन्तुष्ट करने योग्य है (देवलोकः +
विद्यया) ज्ञानद्वारा देवलोक सन्तुष्ट करने योग्य है । (देवलोकः + चै + लोकानाम् +
श्रेष्ठः) सब लोकों में देवलोक श्रेष्ठ है (तस्मान्) इस हेतु (विद्याम् + प्रशंसन्ति)
विद्या की प्रशंसा करने हैं । क्योंकि विद्या से ही देवलोक सन्तुष्ट हो सकता है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—सामान्येन मनुष्यस्त्रिधा । कश्चिन्नाधिकं न न्यूनमपेक्षते यावता
जीविका स्थापयितुं कामयते । नोपरुणोति न चापरुणोति । अगितुं शतं
परिधातुं परिरुन्तुं चेच्छति । सन्तानञ्च । स इह मनुष्यसंज्ञः । कश्चित्ततोऽप्य-

धिकं कामयते । ग्रामे वा देशे वा कश्चिदुपप्लव उद्भवो वा मानुषो वा दैवो ।
 चोत्थितश्चेत्तं सर्वोपायैः शमयति । अधार्मिकान् घातयति धार्मिकानुत्साध्य-
 ति । यथाधर्मनियमास्तथा सर्वाश्चालयितुं सर्वदा प्रयत्ने । स इह पितृशब्देन
 उच्यते । कश्चित् सर्वश्रेष्ठ उदारधीः सर्वदा विद्यारतः । नूतनं नूतनं वस्तु-
 लामाय प्रचारयति । जगत्कल्याणाय विविधानुपायान् जनयति । सर्वलौकिक-
 दोषैर्विनिर्मुक्तो भवति । स इह देवशब्देन व्यवह्रियते । अथ कण्डिकार्थः ।
 मनुष्येषु । इमे त्रय एव लोकाः सन्ति । के पुनस्ते ? मनुष्यलोकः । पितृ-
 लोकः । देवलोकः । किमर्थ एतेषामुद्देशः ? सम्मानार्थः । एतेऽपि सम्मान्याः ।
 केनोपायेन ? आह—सोऽयं मनुष्यलोकः । पुत्रैर्नैव सन्तानवृद्धयैव जप्यो जेतुं
 शक्यः “नृत्यजप्यौ शक्यार्थे” इति निपातः । प्रसादयितुं शक्यः । साधारणो
 मनुष्यो वृद्धावस्थायां निर्वाहाय प्रधानतया पुत्रमेव कामयते । अन्येषामपि
 पुत्रं जातमीदृते । तेनैव स तुष्यति । नान्येन कर्मणा पुत्रातिरिक्तेन कर्मणा
 स न तुष्यतीत्यर्थः । पितृलोकः कर्मणा । रक्षणादिलक्षणेन यज्ञादिलक्षणेन
 कर्मणा स पितृलोको जप्यः । विद्यया देवलोको जप्यः । सर्वेषां लोकानां
 मध्ये देवलोकः श्रेष्ठः । स च देवलोको विग्रयैव जप्योऽस्ति । नान्येन कर्मणा ।
 तस्माद्धेतोः सर्वे आचार्या विद्यां प्रशंसन्ति ॥ १६ ॥

भाष्याशय—सामान्यतया देखा जाय तो तीन प्रकार के मनुष्य-हैं । उनमें
 कोई न अधिक और न न्यून चाहता । जितने से जीविका हो उतना ही चाहता
 है न वह किसी का उपकार न किसी का अपकार करता है । खान पान परिधान
 विवाह और सन्तान चाहता है । वह मनुष्य यहाँ मनुष्य बहलता है । और कोई
 इससे अधिक चाहता है । ग्राम वा देश में कोई उपप्लव और उपद्रव मनुष्यों से वा
 दैवी घटना से यदि उत्थित हो तो वह उसको शान्त करता है । अधार्मिकों को नष्ट
 करता है और धार्मिकों को उत्साह देता है । देश में जैसे धर्म-नियम हैं वैसे ही
 सबों को चलाने के लिये प्रयत्न करता है । उसको यहाँ “पितर” कहते हैं ।
 कोई सर्वश्रेष्ठ उदारधी सर्वदा विद्यारत, लाभ के लिये नूतन नूतन वस्तु का प्रचार
 करता है और जगत् के कल्याण के लिये विविध उपायों को उत्पन्न करता है ।
 और सब लौकिक दोष से जो विनिर्मुक्त है । उसे यहाँ “देव” कहा है । मनुष्य-

लोक—साधारण मनुष्य जितना पुत्र से प्रसन्न होता सतना अन्य किसी में नहीं क्योंकि वह चाहता है कि वृद्धावस्था में अथवा किसी प्रकार का अमास्य उपस्थित होने पर कोई मेरा सहायक हो । वह औरस पुत्र से बढ़कर अन्य नहीं हो सकता । इस हेतु कहा है कि मनुष्यलोक पुत्र से ही जीता जा सकता है पुत्र से प्रसन्न हो सकता है अर्थात् जैसा वह अपनी सन्तानवृद्धि चाहता है वैसी ही अन्य की भी । उसी से वह सन्तुष्ट रहता है । अथवा पुत्र की वृद्धि होने से साधारण मनुष्य में मानो विजय सा प्राप्त हो जाता है । क्योंकि उससे अन्य लोग डरते रहते हैं । इसी प्रकार पितृलोक और देवलोक में भी जानना ॥ १६ ॥

अथातः सम्प्रतिर्यदा प्रेक्ष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति न पुत्रः प्रत्याहाऽहं ब्रह्माऽहं यज्ञोऽहं लोक इति । यद्वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकतेतावद्वा इदं सर्वमेतन्मा सव्व सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्र मनुशिष्टं लोक्य माहुस्तस्मादेनमनुशासति ॥ १७ ॥ (क)

अनुवाद—अब इस हेतु “सम्प्रति” कहते हैं । जब कोई वृद्ध पुरुष संन्यासी होना चाहता है अथवा मरने पर होता है । तब वह पुत्र को बुलाकर कहता है कि तू ब्रह्म (वेद) है । तू यज्ञ है । तू लोक है । तब वह पुत्र प्रत्युत्तर देता है—मैं ब्रह्म (वेद) हूँ । मैं यज्ञ हूँ । मैं लोक हूँ । जो कुछ “अनूक्त” है उस सब का “ब्रह्म” इस पद में एकता होती है । और ये जो यज्ञ (बिना किये हुए वा किये हुए) हैं उन सबों का “यज्ञ” इस पद में एकता है । और जो ये लोक (जित वा अजित) हैं उन सबों का “लोक” इस पद में एकता है । निश्चय, इतना ही यह सब है । यह सब अतक मेरे अधीन था अब यह मेरा पुत्र मुझ से ले अपने अधीन करके मुझ को इस लोक से रक्षा करेगा । इस हेतु उचित पुत्र को “लोक्य” (पितृलोकादितकारी) कहते हैं इस हेतु इसको शिक्षा देते हैं ॥ १७ ॥ (क)

पदार्थ—पुत्र से विशेष क्या उपकार होता है इसके बहने के लिये अग्रिम ग्रन्थ आरम्भ करते हैं । संन्यासी होने के समय अथवा मरणकाल में पिता अपने सकल कर्त्तव्य को पुत्र के ऊपर रखता है अर्थात् अवतक मैं अमुक २ कर्म करता था अब से तुम करना, इस प्रकार अपना कर्त्तव्य-भार पुत्र के ऊपर रखता है । वसी कर्म का नाम “सम्प्रति” है । सम्प्रति=सम्प्रदान=देना । इस सम्प्रति कर्म के द्वारा पुत्र का उपकार दियेलाते हैं—पूर्व में कहा गया है कि “मनुष्य-लोक” पुत्र से जीता जा सकता है । यहा सन्देह होता है कि अन्य के कर्म से अन्य का उपकार नहीं देना गया । यह सन्देह उचित नहीं, क्योंकि पुत्र के उपा-र्जित धन से पिता उपरूत होता यह प्रत्यक्ष है । पुनः पुत्र से क्या उपकार होता इसको दियेलाते के लिये इसका आरम्भ करना व्यर्थ है । इस पर कहते हैं—हा सत्य है । परन्तु असंदिग्ध अर्थ रहने पर भी कहीं २ विस्पष्टार्थ भी भाषण होता है और यहां उससे कुछ विशेष का निर्णय किया जाता है (अथ) तीन लोगों के कथन के अनन्तर पुत्र का उपकार लोक में अधिक विस्पष्ट होवे (अतः) इस हेतु (सम्प्रति ;) सम्प्रदान=समर्पण नाम विधि को कहते हैं । यह “सम्प्रति” किम समय करनी चाहिये सो आगे कहते हैं—(यदा) जब कोई वृद्ध पुरुष (ग्रेयवन्+मन्यते) समझे कि अब मुझे गृह त्याग कर संन्यासी होना चाहिये । अथवा मेरा मरण निकट है अब मैं इस संसार के कोई कर्म नहीं कर सकता (अथ) उस समय (पुत्रम्+आह) प्रथम सुशिक्षित पुत्र को बुलाकर पिता कहता है कि हे पुत्र ! (त्वम्+ब्रह्म) तू वेद है (त्वम्+यज्ञः) तू यज्ञ है (त्वम्+लोकः) तू लोक है (इति) इस प्रकार पिता पुत्र से कहकर चुप होने पर (सः+पुत्रः+प्रत्याह) वह पुत्र पिता के उत्तर में कहता है कि (अहम्+ब्रह्म) मैं वेद हूं (अहम्+यज्ञः) मैं यज्ञ हूं (अहम्+लोकः) मैं लोक हूं (इति) इसका तात्पर्य स्वयं अवि कहते हैं (ये) निश्चय (यन्+किञ्च) जो कुछ (अनूक्तम्) अनु+उक्तम्=अधीत पदा हुआ अधीन जिसको मैंने अभी तक नहीं पढ़ा (तस्य+सर्वस्य) उस सब का (ब्रह्म+इति+एकता) ब्रह्म इस पद में एकता है । तात्पर्य इसका यह है कि पिता पुत्र से कहता है कि तू “ब्रह्म” अर्थात् तू वेद है यहां “ब्रह्म” पद अध्ययन से तात्पर्य रखता है । हे पुत्र ! मैं अभी तक जो कुछ अध्ययन किया उसना तू अध्ययन कर । यह भार अब मैं तेरे ऊपर समर्पित करता हूं । तू इसको

निवाहना। आगे भी ऐसा ही आशय समझता (ये+नै+ने+च+यज्ञा) हे पुत्र। जो पुत्र यज्ञ मुक्त से किये गये अथवा नहीं किये गये (तेषाम्+सर्वेषाम्) उन सब यज्ञों का (यज्ञ+इति+एकता) यज्ञ पर मैं एकता है। ऐसा तू समझ अर्थात् तू यज्ञ है। इतने कहने से जितने यज्ञ कर्तव्य हैं वे सब तू अब से कर और जो मुक्त से अनुष्ठित अभी तक नहीं हुए हैं उनका भी तू अनुष्ठान कर। इसी प्रकार (ये+नै+के+च+ने+का) और जो कोई लोक मुक्त से जित हुआ है अथवा अभी तक अजित ही है (तेषाम्+सर्वेषाम्) उन सबों का (लोक+इति+एकता+इति) लोकपद में एकता है ऐसा समझ। अर्थात् मुक्त से जितना विजय हुआ उतना किया आगे तू कर। ये ही तीन प्रतिज्ञाएँ पुत्र से करपाई जाती हैं। आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि (एतावद्+ये+इदम्+सर्वम्) यह सब इतना ही है। इन तीन कर्मों से अधिक कर्म नहीं हैं इनके ही अन्तर्गत सब अवशिष्ट आगये। आगे पुनः पुत्र की प्रशंसा कहते हैं— (एतत्+सर्वम्) यह सब अर्थात् अध्ययन यजन और लोकविजय ये तीनों मेरे अतीत अब तक रहते हुए मुक्त से अनुष्ठित होते रहे। अथ (अथम्) यह मेरा सुशिक्षित पुत्र मेरा भार अपने पर लेकर (इतः) इस कर्त्तव्य बन्धन से (मा+सम्+अमुजन्) मुक्त हो अच्छे प्रकार चलेगा अर्थात् इस बन्धन से छुड़ावेगा (इति) ऐसी आशा पिता पुत्र से करता है (तस्मान्) इसी हेतु (अनुशिष्टम्+पुत्रम्) सुशिक्षित पुत्र को (लोभ्यम्) लोक्य=पितृलोक हितकारी (आहुः) विद्वान् लोग कहते हैं। और (तस्मान्) इसी हेतु (एनम्) इस पुत्र को (अनुशासति) सिखलाते हैं। इन तीनों कर्मों का अन्धे प्रकार प्रतिपालन करे जिससे ऐहिक पारलौकिक दोनों लोक सुधरें। इति ॥ १७ ॥ (क)।

भाष्यम्—पुत्रेण विशेषोपकृतिं विवक्षुरुत्तरं ग्रन्थमारभते। सम्प्रतिः सम्प्रदानम् समर्पणम्। पुत्रे हि पिता तत्त्वम् अप्रकरणे स्वकर्तव्यतामारसम्प्रदानं करोति। तेन सम्प्राप्तिसङ्गमिदं कर्म। तथा सम्प्रत्या पुत्रोपकृतिं दर्शयति। यस्मात्पुत्रेणैव मनुष्यलोको जय्य इत्युक्तं तत्र सन्देहोऽस्ति। नहि अन्यस्य कर्मणाऽप्यस्योपकारो दृष्ट इति। ननु पुत्रोपार्जितेन पितोपक्रियत एवात्र कः सन्देहविषयः। तदेवं व्यर्थमेवोपक्रमः। सत्यम्। अत्रान्दिग्धेऽप्यर्थे, भवति विस्पष्टार्था काचिदुक्तिः। तत्र कश्चिद्विशेषोऽपि निर्णीयते। पुत्रोपकृतिः

लोकैष्यधिका विस्पष्टार्था मन्तु । अतोऽस्मान्कारणात् । सम्प्रतिः सम्प्रदानं
 पुत्रे सर्वस्वकर्तव्यमारसमर्पणं नाम कर्म कथ्यते । कदेदं कर्म भवतीत्यत आह ।
 यदा यस्मिन् काले कश्चिद् बृद्धो मुमुर्षुर्वा । प्रेष्यन् सर्वं विहाय चतुर्थाश्रमं
 प्रकर्षेण एष्यन् ब्रजिष्यन् मरिष्यन् वा मन्यते । अपूर्वकस्येतेस्तदर्थत्वात् । इदानीं
 न जीविष्यामि । अथवा चतुर्थाश्रमोग्राह्य इति यदा स आत्मानं मन्यते तदेवं
 करोति । अयं अनुशिष्टं पुत्रमाह्वय आह हे पुत्र ! अहमिदानीं मत्रजिष्यन्
 मरिष्यन्वास्मि । अतस्त्वयि स्वरूपव्यतां समर्पयामि तदर्थस्त्वं सावधानो
 भव । इत्यवहितं पुत्रं पिता ब्रवीति । हे पुत्र ! त्वं ब्रह्म । त्वं यज्ञः । त्वं
 लोकः । इति पित्रोक्तः स पुत्रः पितरं मत्याह—हे पितः ! अहं ब्रह्म । अहं
 यज्ञः । अहं लोकः । इमानि त्रीणि वाक्यानि मन्ति । अग्रे ब्रह्मादिबचनानां
 विरोधितार्थं मत्वा श्रुतिस्तद्व्याकरोति । यद्वै किञ्चानूक्तं यद्वै किञ्चिदवशि-
 ष्टमधीतमनधीतञ्च तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येतस्मिन्पदे एकता एकत्वम् । अपमाशयः ।
 ब्रह्मशब्दो वेदपरकः । हे पुत्र ! योऽध्ययनव्यापारो मम कर्तव्य आसीदेतावन्तं
 कालं वेदविषयः । स इत ऊर्ध्वं त्वं ब्रह्म त्वयाकर्तव्योऽस्त्विति वाक्यार्थः ।
 त्वं ब्रह्मेति कथनेन अध्ययनभागस्त्वयि निधीयत इति विज्ञायते । आशैशवाद्
 यदधीतं मया यच्चाप्येतुमवशिष्यते तत्सर्वं त्वया सम्प्रति पूरयितव्यमित्याशां
 करोमीति फलितार्थः । तथा ये वै के च यज्ञा अनुष्ठेयाः सन्तो मयाऽनुष्ठिता
 अननुष्ठिताश्च तेषां सर्वेषां यज्ञानाम् । यज्ञ इत्येतस्मिन् पदे एकतैरुत्वमेकार्थ-
 त्वमिति यावत् । ये वै के च लोका मया जेतव्याः सन्तो जिता अजिताश्च
 तेषां सर्वेषाम् । लोक इत्येतस्मिन्पदे एकता । अपमाशयः । एतावन्तं कालं ये
 यज्ञा वा लोका ममानुष्ठेया जेतव्याश्च सन्तोऽनुष्ठिता न वा अनुष्ठिता जिता न वा
 जिताः । ते इत ऊर्ध्वं त्वयि समर्पिता भवन्तु । तानि तानि सर्वाणि कर्तव्यानि
 त्वया यथाविधि यथाशक्ति चानुष्ठेयानीति यावत् । न कर्मभ्यः कदापि त्वया
 प्रमादितव्यम् । इदमेव पुत्रस्य प्रयोजनम् । एवं पितृपुत्रयोः समाप्ते सम्प्रादे श्रुति-
 राह—एतावद्वा इदं सर्वम् । गृहस्थैरेतत्परिमाणमेव कर्तव्यमस्ति । अतोऽधिकं
 सर्वेषामेतेषु त्रिष्वेवान्तर्गतत्वात् । सम्प्रत्यतः सुशिक्षितं पुत्रं प्रशंसितुमारभते ।
 एतद् वेदाध्ययन-यज्ञानुष्ठान-लोकजयलक्षणकर्मत्रयमेतत्सर्वं मदीनिमम् ।
 मया यथाशक्ति अनुष्ठितम् । अतः परम् । अयं मम पुत्रो मयः सकाशाद्

गृहीत्वा स्वस्मिन् स्थापयित्वा । इतोऽस्माद् बन्धहेतु भूलोकाद् । मा मासु ।
अधुनजब् मोक्षयति पालयिष्यति । लृडर्थे लट् । बन्धसि कालनियमाभावात् ।
तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं सुशिक्षितं लोक्यं पितृलोकहितमाहुर्महात्माः । तस्मादुक्ते-
तोरेवाद्यतना अपि पुत्रवन्त एनं स्वपुत्रमनुशासति । लोकोऽयमस्माकं स्वादिति
मन्वाना इत्यर्थः । यस्मात् सुशिक्षितः पुत्रो वशापरम्पराऽमतेदं कर्तव्यताप्रति-
पालने समर्थो भवितुमाशास्यते । अतो मा वंशकर्तव्यता विलोपोऽभूदिति
पुत्रोऽनुशिष्यः ॥ १७ ॥

स यदैवं विदस्माल्लोकात्प्रैत्यथेभिरेव प्राणैः सह पुत्रमा-
विशति । स यद्यनेन किञ्चिदक्षण्याऽकृतं भवति तस्मादेनं
सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तरमात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवासिँल्लोके
प्रतितिष्ठत्यथैनमेते देवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥

(ख) *

* अयातः पितापुत्रीयं सम्प्रदानमिति चाचक्षते पिता पुत्रं प्रेष्यन्माह्वयति
नवैस्तृणैरगारं संस्तीर्याग्निपुपसमाघायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वामसा
सम्प्रच्छन्नः पिता शैत एष्य पुत्र उपरिष्टादभिनिपद्यत इन्द्रियैरिन्द्रियाणि
संस्पृश्यापि यास्मा आसीनायाभिमुख्यैव सम्प्रदद्याद्यास्मै सम्प्रयच्छति वाचं
मे त्वयि दधानीति पिता वाचं ते मयि दध इति पुत्रः प्राणं मे त्वयि दधानीति
पिता प्राणं ते मयि दध इति पुत्रश्चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता चक्षुस्ते मयि दध
इति पुत्रः श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रोऽन्तरसा-
न्मे त्वयि दधानीति पितान्तरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः कर्माणि मे त्वयि
दधानीति पिता कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति
पिता सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्र आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति
पुत्र इत्यां मे त्वयि दधानीति पितेत्यां ते मयि दध इति पुत्रो मनो मे त्वयि
दधानीति पिता मनस्ते मयि दध इति पुत्रः प्रज्ञां मे त्वयि दधानीति पिता प्रज्ञां
ते मयि दध इति पुत्रो यद्यु वा उषामिगदः स्यात् समासेनैव ह्ययात्प्राणान्मे
त्वयि दधानीति पिता प्राणांस्ते मयि दध इति पुत्रोऽथ दाक्षिणावृदुपनिष्कामति

अनुवाद—सो यह एवंविद् पिता जब इस लोक से प्रयाण करता है । तब इन प्राणों के साथ पुत्र में प्रविष्ट होता है यदि इस पिता से किसी कारणवश कर्त्तव्यकर्म भी न किये गये हों, तथापि उस सब से वह पुत्र इस पिता को छुड़ा देता है । इसी हेतु पुत्र का नाम “पुत्र” है । इस प्रकार वह पिता पुत्ररूप से मानो इस लोक में विद्यमान ही है । अब इस पिता में ये प्राण दैव और अमृत होकर प्रविष्ट करते हैं । सो आगे कहेंगे ॥ १७ ॥ (२)

पदार्थ—(सः) वह अर्थात् जिसने अपने कर्त्तव्य को सुयोग्य पुत्र के रूप रक्षकर स्वस्थ कृतकृत्य और शान्तमनवाला हुआ है सो यह पिता (एवंविद्) यह पुत्र मेरे अनुष्ठेय कर्म को अवश्य करेगा मुझे इसमें अब चिन्ता नहीं करनी चाहिये इस प्रकार जाननेहारा अर्थात् अपने पुत्र पर पूर्ण विश्वासी होकर (यदा) जब (अस्मात्+लोकात्) इस उपात्तलोक से (प्रैति) प्रयाण (यात्रा) करता है (अय) तब (एभिः+प्राणैः) इन बाणी मन और प्राणों के (सह) साथ (पुत्रम्+आविशति) पुत्र में प्रविष्ट होता है अर्थात् पिता के कर्त्तव्य को पालन करते हुए पुत्र को देखकर लोक कहते हैं कि क्या वही यह है इसमें कोई न्यूनता नहीं दीखती है । इसके कर्मों के अनुष्ठान देखने से हम लोगों को प्रतीत होता है कि इसका पिता है ही । इस प्रकार लोकानुभव सिद्धि के कारण कहा गया है कि “पुत्र में पिता प्रवेश करता है” वास्तव में नहीं । अब आगे “पुत्र” शब्द का अर्थ कहते हैं—(यदि) यदि (अनेन) इस पिता से (अदृश्या) किसी विघ्न से वा किसी कारणवश (विश्रित्+अकृतम्+भवति) कुछ कर्म जो करना था सो न किया गया हो तो (सः+पुत्रः) वह शिचित्त पुत्र (सस्मात्+सर्वस्मात्) उस सब अकृत से (एनम्) इस पिता को (मुञ्चति) छुड़ा

तं पितानुमन्यते यशो ब्रह्मवर्चसं कीर्तिस्त्वा जुपतामित्यथेतरः सन्यमन्त्रं सम-
भ्यवेक्षते पाणिनान्तर्द्राय वसुनान्तेन मञ्छाद्य स्वर्गान् लोकान् कामान्प्लुहीति
स यद्यगदः स्यात्पुत्रस्यैव्ये पिता वसेत् परि वा व्रजेद्यद्युर्वं प्रेयाचैवैनं समा-
पयेयुर्यथा समापयितव्यो भवति यथा समापयितव्यो भवति । काँपी० ब्रा०
च० २ । १५ ॥

देता है (तस्मात्+पुत्रः+नाम) इस हेतु पुत्र का नाम "पुत्र" होता है अर्थात् पिता यदि धारों वेद वेदाङ्ग न पढ़ सका हो तो योग्य पुत्र उसको पूरा कर पिता के कर्म को भी जाने । इस प्रकार (सः) वह पिता मानो (पुत्रेण) पुत्ररूप से (अस्मिन्+लोके) इस लोक में (प्रतितिष्ठति+एव) रहता ही है । अत्र आगे पिता को इससे क्या लाभ होता है सो कहते हैं—(अथ) पुत्रसम्बन्धी वर्णन के अनन्तर पितृसम्बन्धी वर्णन के निमित्त "अथ" शब्द का प्रयोग है (एतम्) इस शान्तचित्त कृतकृत्य पिता में (एते+प्राणाः) ये वागादि प्राण (देवाः) देव-शक्ति सम्पन्न और (अमृताः) अमरणधर्मी हो (आविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ॥ १७ ॥ (ख)

भाष्यम्—स इति । निहितपुत्रभारः स्वस्थः कृतकृत्यः शान्तमनाः स पिता । एषावेद मम कर्तव्यतामयमवरयं पालयिष्यति नात्र खेदितव्यमित्येवं-वित् विश्वासी सन् । यदा अस्मिन् काले । अस्मादुपात्तात् लोकात् । प्रैति आश्रमान्तरं व्रजति म्रियते इ वा । अथ तथा । एमिः प्राणैर्वाह्मनः प्राणैः सह । पुत्रमाविशति पुत्रमाविशतीत्यर्थः । पितृकर्तव्यतां प्रतिपालयन्त पुत्रमवलोक्य लोके जनाः कथयन्ति किं स्मिन् स एवायं न कापि न्यूनता दृश्यते । अस्मिन् कमोनुष्ठानावलोकनेनास्य पितास्त्वयेत्यस्माकं प्रतीतिरिति लोकानुभवसिद्ध्या पुत्र पिताऽऽविशतीति मन्यन्ते । न वस्तुगत्या पिता पुत्रं अविशतीत्यवधार्यम् । सम्प्रति पुत्रशब्दनिर्वचनमाह—स यदीति । अनेन पिता यदि किञ्चिदनुष्ठेयं सदपि । अक्षय्या कोणद्विद्रवः । अकृतं भवति नानुष्ठितं केनापि कारणेन । तेन तस्य पितुर्दानिः । तस्मादकृतात्सर्वस्मात् । एनं पितरम् । स पुत्रोऽनुशिष्टः । सुञ्चति मोचयति । तस्मात्कारणात्पुत्रोनाम पुत्र इति नामधेयम् । पितुरिद्व-द्रूपेण पितरं त्रायत इति पुत्रः । पितुः पुत्रतादात्म्येनैतल्लोकावस्थानमुक्तं निगमयति । यः पिता प्रेतोऽपि सन् । एवम् । अस्मिन् लोके पुत्रेणैव पुत्ररूपेण प्रतितिष्ठत्येव वर्तते एव । इति प्रतीयते । एवं सम्प्रत्या पुत्रकर्तव्यतां निरूप्य तेन पितुः फोलामोऽस्तीत्यपि दर्शयति । अथ पुत्रप्रकरणविच्छेदार्थोऽयं शब्दः । एनं स्वस्य शिवितपुत्रकमनुष्ठितमनुप्यपितृदेवकर्माणम् । पितरम् । एते प्राणावागादयः । देवाः देवशक्तिसम्पन्नाः । अमृता अमरणधर्माणश्च भूत्वा

आविशन्ति प्रविशन्ति । स मृनःमन् दैव्या शक्त्या सम्पन्नो भूत्वा मुक्तिमुखं
बहुकालं भुनक्तोत्यर्थः । वक्ष्यत्यग्रे दैवीशक्तिप्रवेशः ॥ १७ ॥ (ख)

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी
वाग्यया यद्यद्वच वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

अनुवाद—पृथिवी और अग्नि से दैवी वाग् इस (पुरुष) में प्रविष्ट होती
है । निश्चय वही दैवी वाणी है जिससे जो २ कहता है वह २ होता है ॥ १८ ॥

पदार्थ—वाग् आदि प्राण के प्रवेश के प्रकार को आगे कहते हैं— पृथिव्यै+
च) पृथिवी से और (अग्नेः+च) अग्नि से (दैवी+वाग्) देवशक्तियुक्ता वाणी
(एनम्) इस कृतकृत्य पुरुष में (आविशति) प्रविष्ट होती है । दैवी वाणी
कौन है सो कहते हैं—(वै) निश्चय (मा+दैवी+वाग्) वही दैवी वाणी है (यच)
जिसे वाणी से (यद्+यद्+एव) जो जो (वदति) कहता है (तत्+तत्+भवति)
वह वह होता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—पृथिव्यै इति । प्राणाऽऽवेशप्रकारमाह—पृथिव्यै पृथिव्याः
पञ्चभ्यां चतुर्थी । अग्नेश्च सकाशात् । एनं कृतसम्प्रचितं पितरम् । दैवी वाग् ।
आविशति प्रविशति । कीदृशी दैवी वाग् । यथा वाचा । यद् यद् वदति ।
तत्तद् भवति । पुरस्तादुक्तम् “तस्यै वाचः पृथिवी शरीरम् । ज्योतीरूपमयम-
ग्निः” इति । एतेन विज्ञायते । इयं वाग् पार्थिनाग्नेय शोक्त्रभ्यां संयुक्ताऽस्ति ।
अथ यदा तत्प्रवित्पुरुषः पृथिव्यऽन्योस्तत्त्वं सम्यगधीते अधीत्य च विनिर्गोहं
च शक्नोति तदा पार्थिवी आग्नेयी च शक्तिं स्नाधीनां कर्तुमपि शक्नोति । तौ
च पृथिव्यग्नी देवसंज्ञौ स्तः । आभ्यां सकाशात् स शक्तिमादते । अत उक्तं
दैवी वागाविशतीति । स च दैव्या वाचाऽऽविष्टः पुरुषोऽनृतादिदोषरहित-
त्वाद् । यद् यद् विचार्य ब्रवीति तद् तद् भवति । यद्-भवितव्यमस्ति ।
तत्तदेव स वदतीति विज्ञेयम् । अग्रेष्वेवमेव वेदितव्यम् ॥ १८ ॥

भाष्याशय—पूर्व में कहा है कि वाणी का शिर पृथिवी है और प्रकाशात्मक
रूप यह अग्नि है । इससे विदित होता है कि यह वाणी पार्थिव और आग्नेय

शक्ति से संयुक्त है पार्थिव अन्न के भोजन से इसकी वृद्धि होती है और जहां २ आग्नेय शक्ति होगी वहां वहां अवश्य शब्द होगा इसमें सन्देह ही नहीं । अब यह जानना चाहिये कि जब तत्त्ववित् पुरुष पृथिवी और अग्नि के तत्त्व का अध्ययन करता है और अध्ययन करके उस तत्त्व को कार्य में भी ला सकता है । तब वह पृथिवी और अग्निसम्बन्धी शक्ति को अपने अधीन भी कर सकता है । ये पृथिवी और अग्निदेव बड़लाते हैं इन दोनों से उस शक्ति को अपने में वह धारण करता है । इस हेतु कहा है कि दैवी वाणी इसमें प्रविष्ट होती है । वह दैवी वाणी से आविष्ट पुरुष अनृतादि दोषों से रहित होने से विचारपूर्वक जो जो कहता है सो सो होजाता है । भाव यह कि जो जो हंनेहारण है उसी उसी को वह कहता है ऐसा समझना चाहिये । आगे भी ऐसा ही भाव जानना ॥ १८ ॥

दिवश्चैनमादित्याश्च दैवं मन आविशति तद्वै देवं मनो येनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १९ ॥

अनुवाद—शुलोक और आदित्य से दैव मन इस (पुरुष) में प्रविष्ट होता है । निश्चय, यही दैव मन है । जिससे वह मदा आनन्दी ही बना रहता है और कदापि शोक नहीं करता ॥ १९ ॥

पदार्थ—(दिवः+च) शुलोक से और (आदित्यात्+च) आदित्य=सूर्य से (दैवम्+मनः) दैव मन (एनम्) इस विज्ञानी स्वस्थ कृतकृत्य पुरुष में (आविशति) प्रविष्ट होता है । दैव मन कौन है सो आगे कहते हैं—(वै) निश्चय (तद्+दैवम्+मनः) वही दैव मन है (येन) जिस मन से युक्त होकर उपासक सदा (आनन्दी+एव+भवति) आनन्द ही आनन्द रहता है । अर्थात् (अथो) कदापि भी (न+शोचति) शोक नहीं करता है ॥ १९ ॥

भाष्यम्—दिव इति । दिवश्चादित्याश्च सकाशात् । दैवं मनः । एनं कृत-सम्प्रतिकं स्वस्य कृतकृत्यं पुरुषम् । आविशति । दैवं मनो विशिनष्टि तदिति । तद्वै देवं मनः । येन मनसा संयुक्तः स पुरुषः आनन्दी एव भवति । सर्वदाऽऽनन्दमेवानुभवंस्तिष्ठति । अथो न शोचति कदापि ॥ १९ ॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च देवः प्राण आविशति स वै
देवः प्राणो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथतेऽथो न
रिप्यति ॥ २० ॥ (क)

अनुवाद—इसमें जल में और चन्द्रमा से देव प्राण प्रविष्ट होता है । वही
देव प्राण है जो चलता हुआ अथवा न चलता हुआ व्यथित नहीं होता और न
विनष्ट होता है ॥ २० ॥ (क)

पदार्थ—(एनम्) इस पुरुष में (अद्भ्यः+च) जल से और (चन्द्रमसः+
च) चन्द्रमा से (देवः+प्राणः) देव प्राण (आविशति) प्रविष्ट होता है । देव
प्राण कौन है ? इसको दिखलाते हैं—(सः+वै+देवः+प्राणः) वही देव प्राण है
(यः) जो (सञ्चरन्+च) चलता हुआ (असञ्चरन्+च) न चलता हुआ (न+
व्यथते) कभी व्यथित नहीं होता (अथो) और (न) न (रिप्यति) नष्ट
ही होता है । इसे देव प्राण कहते हैं ॥ २० ॥ (क)

माष्यम्—अद्भ्य इति । अद्भ्यश्च चन्द्रमसश्च सकाशात् । देवः प्राणः
एनं निवृत्तसर्वकर्माणं पुरुषम् । आविशति । कोऽसौ देवः प्राण इत्यत
आह—स इति । स वै देव प्राणः । यः प्राणः सञ्चरन् सम्यग् गच्छन् ।
अथवा असञ्चरन्गच्छन् सन् । न व्यथते । अथो अपि वा न रिप्यति
न विनश्यति । ईदृक् प्राणस्तमाविशतीत्यर्थः ॥ २० ॥ (क)

स एवंवित् सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथेपा देव-
तैवं स यथेतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हेवंविदं
सर्वाणि भूतान्यवन्ति । यदु किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमै-
वाऽऽसां तद्भवति पुण्यमेवासुं गच्छति न ह वै देवान् पापं
गच्छति ॥ २० ॥ (ख)

अनुवाद—सो यह एवंवित् पुरुष सब प्राणियों का आत्मा होता है । जैसा
यह प्राण देवता (सर्वत्र प्रसिद्ध और प्रिय) है वैसा ही वह होता है । जैसे इस

प्राणदेवता को सब प्राणी पालते हैं । वैसे ही एवंविद् पुरुष को भी सब प्राणी पालते हैं । ये प्रजाएँ जो कुछ शोक करती हैं वह शोकजनित दुःख इनके आत्म के साथ ही संयुक्त होता है इसको पुण्य ही प्राप्त होता है । निश्चय देवों को पाप नहीं प्राप्त होता है ॥ २० ॥ (ख)

पदार्थ—जो उपासक इस प्रकार जानता है । उसके गुण का वर्णन करते हैं (एवमित्) जो इस प्रकार जानता है (सः) वह प्राणवित् पुरुष (सर्वपाप्म+भूतानाम्+आत्मा) सकल प्राणियों का आत्मवत् प्रिय और रक्षणीय होता है (यथा+एवा+देवता) जैसे यह देवता जगत् में सुप्रसिद्ध और परमप्रिय है (एवम्+सः) वैसे ही वह भी होता है (यथा) जैसे (एताम्+देवताम्) इस प्राणदेवता को (सर्वाणि+भूतानि) सब प्राणी (अवन्ति) पालते हैं (एवम्+ह) वैसे ही (एवमित्) ऐसे जागनेहारे पुरुष की भी (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (अवन्ति) रक्षा करते हैं । अब एक शका होती है कि यदि यह तत्त्ववित् पुरुष प्रजाओं का प्रिय है तो प्रजाओं के सुख दुःख से भी सम्बन्ध रखता होगा । प्रजा के दुःखित होने से दुःखित और सुखी होने से सुखी, ऐसा सर्वसाधारण में भी होता है फिर इसमें दैवीशक्ति के प्रवेश से क्या लाभ है । इस शका के निवारण के लिये कहते हैं—(इमाः+प्रजाः) यह प्रजाएँ (यद्+उ+किञ्च) जो कुछ (शोचन्ति) शोक करती हैं अर्थात् प्रजाओं में जो कुछ दुःखसमाम होता है (सत्) वह शोकजनित दुःख (आसाम्) इन प्रजाओं के (अमा+एव) निज आत्मा के साथ ही (भवति) संयुक्त होता है अर्थात् प्रजाओं के दुःख को स्वयं प्रजाएँ भोगती हैं (असुम्) इस तत्त्ववित् पुरुष को (पुण्यम्+एव) पुण्यजनित सुख ही (गच्छति) प्राप्त होता है (ह) क्योंकि (वे) निश्चय (देवान्) देवों को (पापम्+न+गच्छति) पाप नहीं प्राप्त होता है ॥ २० ॥ (ख)

भाष्यम्—स इति । एवंविदः फलं भवति । य उपासको वागादिदेवतानां तत्त्वं विजानाति । ॥ एवंविदपुरुषः । सर्वेषां भूतानां प्राणिनामात्मा भवति स्वात्मवत्प्रियः पालनीयो भवति । यथा यादृशी एषा प्राणशक्तिर्यो देवतास्ति सुप्रसिद्धा सर्वत्र । तादृशः सोऽपि सुप्रसिद्धः प्राण इवोपकर्ता च । यथा येन प्रकारेण । एतां प्राणात्मिका देवताम् । सर्वाणि भूतानि अवन्ति पालयन्ति ।

तथैवतमपि । अथ यदि स सर्वेषां भूतानामात्मा भवति । तर्हि सुखदुःखौभयाभ्यामपि संयुक्तः स्यात् । तानि भूतानि सुखितानि दृष्ट्वा सुखी दुःखितानि च दृष्ट्वा दुःखी सम्पद्येत । अथ तर्हि किं तथा दैव्या शक्त्या इत्यत आह—यदुकिञ्च यत्किञ्च । इमाः प्रजाः शोचन्ति शोकं कुर्वन्ति । तच्चोक्तनिमित्तं दुःखम् । आसां प्रजानाम् । अमैव स्वात्मभिः सहैव संयुक्तं भवति । प्रजाः स्वगतं दुःखं स्वात्मनैवोपभुञ्जन्ति । इति । अमुञ्च तत्त्वविदं पुरुषम् । प्रजानां पुण्यमेव आनन्द एव गच्छति प्राप्नोति । न ह्येवं नैव इ स्फुटं देवान् । पापं पापफलं दुःखम् । गच्छतीति विषयः । तत्त्ववित्पुरुषः प्रजानां मध्ये दुःखमवलोक्यापिनान्तःकरणेन शोचति । किन्तु तस्य प्रतीकारं भटिति विदधाति । यदि सोऽपि शोचेत् । तर्हि क्रमः प्रतिकुर्यात् । शोकाकुलस्य बुद्धिभ्रंशत्वात् । बुद्धिभ्रंशो व्यामोहः । व्यामोहे विनाशः । अतस्तत्त्ववित् सर्वं विचार्य शोकं त्यक्त्वा प्रतीकाराय यतते । अतस्तं पुण्यफलं सुखमेव न च पापफलं दुःखमागच्छति । ईदृक् पुरुष एव मनुष्येषु देव उच्यते । अन्ये सूर्यादयस्तु जडा देवाः सन्ति । न तत्र पापस्य पुण्यस्य वा कापि चर्चा भवितुमर्हति ॥ २० ॥ (ख)

भाष्याशयः—भाव यह है कि तत्त्ववित् पुरुष प्रजाओं के बीच दुरसी होकर भी अन्तःकरण से शोक नहीं करते । किन्तु इस दुःख के प्रतीकार को भट से करते । यदि वह तत्त्ववित् पुरुष भी सोचे तो उसका प्रतीकार कौन करे । क्योंकि शोकाकुल पुरुष की बुद्धि भ्रष्ट होजाती । बुद्धि भ्रंश होने से व्यामोह होता, व्यामोह होने से विनाश होता है इस हेतु तत्त्ववित् सब विचार शोक को त्याग प्रतीकार के लिये यत्न करते हैं । इस हेतु इनको पुण्य का फल जो सुख है वही आता है । पाप फल दुःख नहीं । ऐसे पुरुष ही मनुष्यों में देव कहलाते हैं । अन्य सूर्यादि देव तो जड हैं । वहा पाप पुण्य की कोई चर्चा नहीं हो सकती । इति ॥ २० ॥ (ख)

अथातो ब्रह्ममीमांसा प्रजापतिर्ह कर्माणि सृष्टजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रव्याभ्यहमिति चक्षुः श्रोण्याभ्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि

यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा
मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्रा-
म्यति श्रोत्रम् ॥ २१ ॥ (क)

अनुवाद—अब इस हेतु व्रतमीमांसा आरम्भ करते हैं, प्रजापति ने कर्मों
(कर्म करनेहारे इन्द्रियों) की सृष्टि रची यह सर्वत्र प्रसिद्ध है । वे सृष्ट इन्द्रिय
परस्पर स्पर्धा करने लगे (अर्थात् अपने २ व्यापार में एक दूसरे से आगे बढ़ने
का प्रयत्न करने लगे) बाणी ने यह व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूंगी । नेत्र ने
व्रत किया कि मैं देखता ही रहूंगा । श्रोत्र ने व्रत किया कि मैं सुनता ही रहूंगा । इसी
प्रकार अन्योन्य कर्मों (कर्म करनेहारे इन्द्रियों) ने भी अपने २ कर्म के अनुसार
व्रत किया । तत्परचात् मृत्यु ने श्रम (यत्कष्ट) रूपी हाँकर इनको पकड़ा । उनको
अपने वश में किया और वश में उनको करके अपने २ कर्म से रोक दिया इस-
लिये बाणी थक ही जाती है । चक्षु थक ही जाता है । श्रोत्र थक ही जाता है
॥ २१ ॥ (क)

पदार्थ—अब प्राण की श्रेष्ठता के निर्णय के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ
करते हैं—(अध) उपासना के व्याख्यान के अनन्तर जिस हेतु यह एक जिज्ञासा
अवशिष्ट रह गई कि इन वागादिकों में मुख्यतया किस प्राण का अध्ययन करना
चाहिये । किस एक के अध्ययन से सब का विज्ञान सहजतया हो सकता है
(अतः) इस जिज्ञासा के निर्णय के लिये (व्रतमीमांसा) व्रतमीमांसा आरम्भ
करते हैं । व्रत=कर्तव्य । मीमांसा=अच्छा विचार । क्या हम लोगों का व्रत है
किसका प्रपाततया प्रथम अध्ययन करना चाहिये, इसका निर्णय करते हैं ।
इसके निर्णय के लिये आख्यायिका कहते हैं । यह वर्णन की परिपाटी अति प्राचीन
और सुप्रसिद्ध है । क्योंकि आख्यायिका के द्वारा यज्ञों का भी अद्भुत बोध होता है
(इ) यह प्रसिद्ध है कि (प्रजापतिः) प्रजाओं का स्वामी प्रतिपालक ईश्वर ने
(कर्माणि+ममृजे) कर्म=इन्द्रियों को उत्पन्न किया (तानि+सृष्टानि) जब ये सब
इन्द्रिय रचे गये तो वे सृष्ट इन्द्रिय (अन्योन्येन) एक दूसरे से (अस्पर्धन्त)
स्पर्धा करने लगे अर्थात् अपने अपने भाषणादि व्यापार में एक दूसरे को दबाने

के लिये बट चढ़कर कार्य करने लगे । आगे जिसने किस व्रत का ग्रहण किया सो कहते हैं—(अहम्) मैं (वदिष्यामि+एव) सदा बोलती ही रहूंगी । भाषण-रूपी व्रत से मैं कदापि नहीं गिरूंगी । (इति) ऐसा व्रत (वाग्+दधे) वाणी ने धारण किया (अहम्) मैं (द्रक्ष्यामि) देखता ही रहूंगा (इति+चक्षुः) ऐसा व्रत नेत्र ने धारण किया (अहम्+श्रोष्यामि) मैं सुनता ही रहूंगा (इति+श्रोत्रम्) ऐसा व्रत श्रोत्र ने धारण किया (एवम्) इसी प्रकार (अन्यानि+कर्माणि) अन्यान्य घ्राणादि इन्द्रियो ने भी (यथाकर्म) अपने अपने कार्य के अनुसार व्रत किया तब (मृत्युः) पदार्थ विनाशक गुण विशेष मानो (श्रमः+भूत्वा) श्रम= थकावट का रूप हो (तानि+उपयेमे) उन वाणी आदि इन्द्रियों को पकड़ लिया अर्थात् अपने २ व्यापार से उनको श्रम के द्वारा गिरा दिया । कैसे पकड़ा सो कहते हैं—उन श्रमरूपी मृत्यु ने प्रथम (तानि+आप्नोत्) उनके निकट प्राप्त हुआ (तानि+आप्त्वा) तब इनके निकट जाकर (मृत्युः) उस श्रमरूपी मृत्यु ने (अ-धारुन्ध) रोक दिया जिस हेतु मृत्यु ने इन इन्द्रियों को (श्रम) थकावट से विद्ध कर दिया अर्थात् इन में थकावटरूप मृत्यु विद्यमान है (तस्मात्) इस हेतु (वाक्) वाणी (आन्यति+एव) थक ही जाती है (चक्षुः+आन्यति) नयन थक ही जाता है (श्रोत्रम्+आन्यति) श्रोत्र थक ही जाता है । इस प्रकार इस शरीर में जितने कर्म करने वाले इन्द्रिय हैं वे थक जाते हैं । यह प्रत्यक्ष है ही ॥ २१ (क)

भाष्यम्—अथेति । प्राणश्रैष्ठ्यनिर्णयायोत्तरग्रन्थारम्भः । अयोपामना व्याख्यानान्तरं यतः । वागादीनां मध्ये । मुख्यतया कः प्राणोऽध्येतव्यः । कस्यै-कस्याऽध्ययनेन सर्वेषां विज्ञानमित्येवंविधा विज्ञासाऽवशिष्यतएव । अत इदानीं व्रतमीमांसाऽऽरम्भते । मीमांसापूजितो विचारः । व्रतस्य मीमांसा व्रतमीमांसा । आम्निन् विषये आख्यायिकां विचारयति । इ किल । प्रजानां पतिरीश्वरः । कर्माणि वागादिकरणानि दर्शनादिकर्मसम्पादकानि इन्द्रियाणि । समृजे जनयामास । तानि सृष्टानि प्रजापतिना । अन्योन्येन परस्परं । अस्पर्धन्त अन्योन्यमभिभवितुमैहन्त । स्पर्धाप्रकारमाह । अहं वदिष्याम्येव स्वव्यापाराद्-दनादनुपरतैव भविष्यामीति व्रतं वाग्देवी धृतवती । अहं द्रक्ष्यामीति व्रतं चक्षुर्दधे । अहं श्रोष्यामीति व्रतं श्रोत्रेन्द्रियं धृतवत् । अन्यान्यपि कर्माणि

अवशिष्टानि घ्राणादीनि । यथा कर्म यस्य यस्य यादृशं कर्म तत्तत् स्वीयव्या-
पारमनुसृत्य व्रतं दधिरे । ततः मृत्युर्मारुतः । अमोभूत्वा अमरूपी भूत्वा । नानि
धृतव्रतानि वागादीनि कुर्यानि । उपयेमे संजग्राह । स्वस्वव्यापाराद् वदनादेः
प्रचाव्य श्रेमेण योजितवान् । कथमित्यपेक्षायामाह—तानीति । मृत्युः
अमस्तानि वागादीनि । आप्नोत् । स्वात्मानं दर्शयामास । ततः । तानि आ-
प्त्वा प्राप्य गृहीत्वा अग्राह्यं अवरोधिनवान् । स्वव्यापारेभ्यः प्रत्यावर्तनं
कृतवानित्यर्थः । अत्र कार्यगतश्रमालिङ्गक प्रमाणमाह—यस्माद् वागादीनी-
न्द्रियाणि मृत्युना अमवेद्धानि कृतानि । तस्माद्धेतोः । वाग् आभ्यस्येव ।
स्वव्यापारे वदने प्रवृत्ता सती वाग आन्ता भवत्येव । दृश्यते लोके । एव-
मेव चक्षुः आभ्यति । श्रोत्रञ्च आभ्यति । एवमन्यान्यपि घ्राणादीनि कर्माणि
आभ्यन्त्येव । यतः श्रेमेण सर्वाणि संयुक्तानि सन्ति ॥ २१ ॥ (क)

भाष्याशयः—यद्य यह नहीं समझना चाहिये कि यथार्थ में कोई मृत्यु मूर्ति
पदार्थ है किन्तु हम वेधते हैं कि प्रत्येक पदार्थ उपचय (वृद्धि) अपचय (क्षय) को
प्राप्त होता है । ये ही दो शक्ति पदार्थों में हैं । अपचय शक्ति का नाम “मृत्यु” है ।
और इसी को “अमुर” भी कहा है । और यह “अमुर” प्रजापति का पुत्र है
यह भी निर्णय हो चुका है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ का मृत्यु भी स्वा-
भाविक गुण है । इन इन्द्रियों में स्वभाव से ही “अम” (यकावट) विद्यमान है
अतः जिसमें स्वभावतः यकावट न होवे वह इन यकावट वालों से भेष्ट अवश्य
होगा । अतः इसी को आगे कहते हैं ॥ २१ ॥ (क)

अथेसमेव नाऽऽप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं
दधिरे । अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरश्चासंचरश्च न व्यथतेऽ-
थो न रिप्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति । त एतस्यैव
सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेन एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राण इति तेन ह
वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ
हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्य-
ध्यात्मम् ॥ २१ ॥ (ख)

अनुवाद—और इसी को वह (अमरूपी मृत्यु) नहीं प्राप्त हुआ जो यह मध्यम प्राण है । उन्हीं (बागादिक इन्द्रियों) ने उस प्राण को जानने के लिये मन किया । निश्चय, हम लोगों में यह श्रेष्ठ है । जो चलता हुआ अथवा न चलता हुआ कदापि भी स्थापित नहीं होता है और न नष्ट ही होता है । यदि सबकी अनुमति हो तो हम इसके रूप को प्राप्त होजाय । ऐसा निश्चय करके ये सब ही इसी (प्राण) के रूप हो गये इसलिये ये “बागादिक इन्द्रिय” इसी प्राण के नाम से प्रसिद्ध हैं ये सब ही “प्राण” कहे जाते हैं । आगे फल कहने हैं—जो ऐसा जानता है वह जिस कुल में उत्पन्न होता है वह कुल उसी के नाम से प्रसिद्ध होता है । और जो कोई एवविद् के साथ स्पर्धा करता है वह सूर्य जाता है और सूर्यकर अन्त में मरजाता है । इसमें सन्देह नहीं । इस प्रकार अध्यात्मोपासना समाप्त हुई ॥ २१ ॥ (ख)

पदार्थ—(अथ) बागादि इन्द्रिय भग्नव्रत हुए । अब जो अभग्नव्रत है उसको कहते हैं—(इमम्+एव) इस प्राण को ही (न+आप्नोन्) मृत्यु न पासका (यः+अवम्) जो यह (मध्यमः+प्राणः) मध्यम प्राण है । जो सब इन्द्रियों के मध्य विचरण करता है । उस मध्यम प्राण को अमरूपी मृत्यु नहीं पासका । प्राण की ऐसी श्रेष्ठता देख (तानि) वे बागादि इन्द्रिय (ज्ञातुम्+दधिरे) जानने के लिये मन करने लगे । वह प्राण वैसा है जिसको अमरूप मृत्यु कदापि प्राप्त नहीं होता है । जब इन्होंने जान लिया तब वे इन्द्रिय परस्पर कहते हैं कि (वै) निश्चय (अयम्) यह प्राण ही (नः) हम लोगों में (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ है क्योंकि (यः) जो (सञ्चरन्+च) जङ्गम जन्तुओं में रात्रिन्दिवा चलता हुआ और (असञ्चरन्) स्थावर आदि पदार्थों में न चलता हुआ सा प्रतीत होता हुआ (न+व्यथते) कदापि यकता नहीं (अयो) और (न+रिष्यति) न कदापि नष्ट ही होता है । इस हेतु हम लोगों में वह प्राण ही श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ है तो क्या ? पुनः इन्द्रिय विचार करते हैं कि यदि वह श्रेष्ठ है (हन्त) और हम सबों की एक सम्मति हो तो (सर्वे) हम सब (अस्य+एव) इसी प्राण के (रूपम्+आसाम+इति) रूप को प्राप्त होवें अर्थात् प्राण के ही रूप को स्वीकार करे । क्योंकि हम लोगों के व्रत मृत्यु के निवारण के लिये समर्थ नहीं हैं (इति) इस प्रकार निश्चय कर (ते+

सर्वे) वे वागादि इन्द्रिय सत्त्व (एतस्य+रूपम्) इसी प्राण के रूप (अभवन्) हो गये । अर्थात् अपनी सत्ता को प्राण के ही अधीन कर दिया । इस प्रकार इन्द्रिय सत्त्व प्राणस्वरूप हो गये । यह वह प्राण के नाम से ही ये सत्त्व पुकारे जाते हैं सो कहते हैं—(तस्मात्) जिस हेतु यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि इन्द्रिय अपने विषयों को प्रकाशित करते हैं और इनका व्यापार गतिविशिष्ट प्रतीत होता है । परन्तु गतिविशिष्ट वो प्राण ही है (तस्मात्) इस हेतु (एते) वागादिक इन्द्रिय (एतेन) इस प्राण के नाम से ही (प्राणा+इति) प्राण ऐसा (आत्मा-यन्ते) कहलाते हैं अर्थात् मन इन्द्रिय “एक प्राण” नाम से पुकारे जाते हैं । अब आगे प्राणवित् पुरुष का फल कहा जाता है—(यः+एवम्+वेद) जो कोई इस प्रकार प्राण की श्रेष्ठता आदि को अच्छे प्रकार जानता है वह प्राणवित् पुरुष (यस्मिन्+कुले) जिस कुल में उत्पन्न (भवति) होता है (तत्+कुलम्) उस कुल को (तेन+ह+दाय) निश्चय उमी के नाम से सत्त्व कोई (आचक्षते) कहते हैं । जैसे रघुराजा के नाम से रघुकुल । कुरु राजा के नाम से कुरुवंशी, यदुवंशी, पुरुवंशी इत्यादि । और (यः+उ) जो कोई (ह+एवविदा) इस प्रसिद्ध विज्ञानी के साथ (स्वर्धते) स्पर्धा करता है अर्थात् इसका शत्रु धनकर इससे दाने के लिये यत्न करता है (अनुशुष्यति) वह सूख जाता है अर्थात् इस पुरुष से प्रजाण स्वयं विरुद्ध हो जाती हैं । प्रजाओं के विरोध के कारण इस शत्रु को बहुत पश्चात्ताप होता है कि मैंने क्या किया । क्यों इसके साथ विरोध किया । इत्यादि । और (अनुशुष्य) अपने शरीर में ही सूखकर (ह+एव) निश्चय ही (अन्ततः) अन्त में (म्रियते) मर जाता है ॥ २१ ॥ इत्यध्यात्मम् ॥ (य)

भाष्यम्—अथेति । वागादीनि कर्माणि भग्नव्रतानि बभूवुः । अथाभग्न-व्रतं दर्शयति । इमं प्राणमेव ॥ मृत्युः श्रमो भूत्वा नाऽऽप्नोत् । कोऽयम् । कोऽयं मध्यमा प्राणः मध्येमरो मध्यमः । सर्वेषां मध्ये विचरणशीलो योऽयं महाप्राणोऽस्ति । तं मृत्युर्नाऽऽप्नोदित्यर्थः । अद्यननप्रज्ञागतप्राणे श्रमाऽदर्शनात् । ततः किमित्यपेक्षायामाख्यायिकामेवानुसृत्याह—तानीति । तानि वागादीनि कर्माणि प्राणस्य व्यापार “कीदृशं वर्तते यो मृत्युना श्रमेण नाऽऽप्यते” इत्ये-
षलक्षणकं ज्ञातुं निष्ठासितुं दधिरे मनोदधुः । कथम् ? । नोऽस्माकं मध्ये ।

अयं मध्यमः प्राणः श्रेष्ठोऽस्ति । कथमस्य श्रेष्ठ्यं ज्ञायते । प्राणः सञ्चरन्
जङ्गमेषु सम्पगं गच्छन्नपि अमंचरन्नपि स्थावरेषु स्थिरमावमाणा इवापि सन् ।
न व्यथते । अथो अपि न रिध्यति न च विनश्यति । एतेनायमस्माकं मध्ये
श्रेष्ठ इति सिध्यति । तेन किम् । हन्तेदानीं सर्वे वयमपि । अस्यैवरूपम् । अस्यैव
प्राणस्य रूपं स्वरूपम् । असामप्रतिपद्येमहि इति । एवं निश्चित्य ते सर्वे वागादयः
एतस्यैव प्राणस्य । रूपमभवन् प्राणरूपमेवाऽऽन्मत्वेन प्रतिपन्नाः सन्तः प्राण-
व्रतमेव दधिरेऽस्माकं व्रतानि न मृत्योर्वारणाय पर्याप्तानित्यभिप्रायेण । एवमि-
न्द्रियाणां प्राणस्वरूपत्वमुक्त्वैतेषां प्राणनामत्वं ब्रवीति । तस्मादिति । यस्मात्प्र-
काशात्मकानि करणानि चलनव्यापारपूर्वका एषेव स्वव्यापारेषु लक्ष्यन्ते ।
चलनात्मकरच प्राणः । तस्मादेते वागादयः । एतेन प्राणेन प्राणानाम्नैव ।
आख्यायन्ते कथ्यन्ते । वागादयोऽपि प्राणानाम्नैव सर्वत्राभिधीयन्ते । सम्प्रति
फलमाह—ये एनं सर्वेन्द्रियाणां प्राणात्मतां सच्छब्दमभिधेयताञ्च वेद । स
विद्वान् यस्मिन् कुले जातो भवति । तत्कुलं तेन ह वाक् तेनैव विदुषा तन्नाम्ना चा-
ऽऽचक्षते लौकिका अमुष्येदं कुलमिति कथयन्ति । किञ्च यः कश्चिदुहैवंविदा
प्राणात्मदार्शिनासह स्पर्धते प्रतिपन्नी सन् अभिमवितुमिच्छति । स प्रतिस्पर्धी
अनुशुष्यति यथात्तापेन शरीरशोषं प्राप्नोति । तथाचानुशुष्य दीर्घकालं शोषं
प्राप्यैव ह किलान्ततोऽन्ते म्रियते । एवञ्च प्राणदर्शनमुपसंहरति । इतीति ।
इत्थेवं प्रदर्शितमध्यात्मात्मित्यर्थः ॥ २१ ॥ (ख)

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्याग्निर्दध्रे तप्स्याम्यह-
मित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथा-
दैवतं स यथेयां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां
वायुर्निःलोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता
देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

अनुवाद—अब अधिदैवत कहते हैं—आग्नि ने यह व्रत लिया कि “मैं
जलता ही रहूंगा” । सूर्य ने व्रत लिया कि “मैं तपता ही रहूंगा” । चन्द्रमा ने व्रत
लिया कि “मैं चमकता ही रहूंगा” । इस प्रकार अन्य देवताओं ने भी अपने अ-

पने दैवत कर्म के अनुसार व्रत लिया । सो जैसे इन प्राणों (वागादि इन्द्रियों) के मध्य मध्यम प्राण नहीं सकता है । वैसे ही इन देवताओं के मध्य वायु है क्योंकि अन्य देवताएँ अस्त होती हैं, परन्तु वायु नहीं । सो यह देवता अनस्तमिता देवता है जो यह वायु है ॥ २२ ॥

पदार्थ— (अथ) अध्यात्म वर्णन के अनन्तर (अधिदैवतम्) अधिदैवत वर्णन आरम्भ करते हैं (अहम्) मैं (ज्वलिष्यामि+एव) जलता ही रहूँगा (इति+अग्नि+वध्रे) यह व्रत अग्नि ने धारण किया (अहम्) मैं (तप्स्यामि+इति+आदित्य.) मैं तपता ही रहूँगा यह व्रत आदित्य ने ग्रहण किया (अहम्) मैं (भास्यामि+इति+चन्द्रमाः) चमकता ही रहूँगा यह व्रत चन्द्रमा ने लिया (एवम्) इसी प्रकार (अन्या+देवताः) अन्य देवताओं ने भी (यथादैवतम्) जिस देवता का जो कार्य है उसके अनुसार व्रत ग्रहण किया (स.) यहाँ दृष्टान्त कहा जाता है—(यथा) जैसे (ग्णाम्+प्राणानाम्) इन प्राणों (इन्द्रियों) के मध्य (मध्यम.+प्राण.) सत्र के मध्य में विचरण करनेहारा प्राण है (एवम्) वैसे ही (एतां साम्+देवतानाम्) इन अन्यादि देवताओं में (वायु.) वायु मत्र में विचरण करनेहारा प्रबान है (हि) क्योंकि (अन्या+देवता.) अन्य सूर्यादि देव (निस्तोचन्ति) अस्त हो जाते हैं (न+वायुः) परन्तु वायु देवता नहीं क्योंकि (मा+एषा) सो यह (देवता+अनस्तमिता) देवता कभी अस्त होनेहारा नहीं (यद्+वायु.) जो वायु देवता है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथाध्यात्ममहत्त्वाऽधिदैवतमारभ्यते । अधिदैवतं देवता-विषयदर्शनं । अहं ज्वलिष्याम्येतेत्यग्निव्रतं दध्रे दधौ । तप्स्यापाराजुश्मलनाशकदापि निवृत्तो भविष्यामीति स्वकृतव्यपालनरूपं व्रतं धृतवानिस्मर्यते । एवमग्रेऽपि । अहं तप्स्याम्येतेति आदित्यो व्रतं गृहीतवान् । अहं भास्याम्येवेति चन्द्रः । एवं यथाऽन्यादयो व्रतं जपद्गुह्यतथैवान्धा अपि पृथिवी-पिण्डादयो देवता यथादैवतम् यस्या देवताया यथाकर्मास्ति तथाकर्म धृतवत्यः । परमेताः सर्वा देवताः अग्रेण मृत्युना आप्ता न चाधुरित्यग्रे दर्शयति । सशब्दो दृष्टान्तवाची । अत्र वक्ष्यमाणो दृष्टान्त उच्यते । एषां प्राणानां वागादीन्द्रियाणां मध्ये । यथा यादृशः । मध्यमः प्राणः । सर्वेषां मध्ये विचरणशीलः

प्राणो मृत्युनाऽनशतः शुद्धोऽस्ति । एवम् ईदृगेव । एतासामग्न्यादीनां देवता-
नां मध्ये वायुरस्ति । स्वयं हेतुमुपन्यस्यति । हि यतः । अन्या देवता निम्नो-
चन्ति अस्तं यन्ति । न वायुर्निम्नोचतीति शेषः । यद्वायुर्योऽयं वायुः । सा एषा
देवता अनस्तमिता न अस्तमनस्तम् अनस्तम् इता प्राप्ता अविनाशितव्रतेत्यर्थः ।
अतः प्रतीयते एता देवतास्तमसा मृत्युना गृहीता अतोऽस्तमिता अशुद्धाश्च ।
अगृहीतः खलु वायुरनो न कदाप्यस्त याति । अतः स शुद्धः । एतेन देव-
तानां मध्ये वायोव्रत चरितव्यमिति निर्णयिते यथा वायुरश्रान्तः स्वव्यापार-
मनुतिष्ठति । तथैव सर्वे स्वं स्व व्यापारमनुतिष्ठन्तिविति शिक्षा ॥ २२ ॥

भाष्याशय—जहां जहां अध्यात्म वर्णन करते हैं । वहां वहां अधिदैवत
वर्णन भी अवश्य ही रहता है । इन्द्रियों में जैसे प्राण वायु सदा चला करता है ।
सब को सहायता पहुंचाता रहता है और अपनी सत्ता भी कदापि प्रकाशित नहीं
करता । वैसे ही अग्नि, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, मेघ, विद्युत् आदि देवताओं
में वायु है । अग्नि अस्त हो जाता, एव सूर्य आदि भी अस्त हो जाते,
परन्तु वायु सदा चला ही करना है इस हेतु इसका “सदागति” नाम है । इस
आख्यायिका से यह फलित हुआ कि इन्द्रियों के मध्य प्राण के समान और देव-
ताओं में वायु के समान व्रत ग्रहण करना चाहिये । इति ॥ २२ ॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च
गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे
धर्मं स एवाय स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यधियन्त तदे-
वाप्यव्य कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राणयाच्चैवापान्याच्च
नेन्मा पाप्मा मृत्युगप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिपेत्तेनो
एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति ॥ २३ ॥

अनुवाद—अब इस विषय में यह श्लोक होता है “जहां से सूर्य उदित होता
और जहां अस्त हो जाता है” इति । निश्चय, प्राण में ही यह उदित होता है और
प्राण में ही अस्त हो जाता है । “देव (विद्वान्) लोग उसी धर्म को करते रहे
वही आज है और वही कल रहेगा” इति । निश्चय, इन विद्वान् लोगों ने उस समय

जिस व्रत को धारण किया उसी को आज भी करते हैं इसलिये एक ही व्रत का आचरण करे । सास को बाहर छोड़े और सास को भीतर लेवे । ऐसा न हो कि पौर्णस्ये मृत्यु सुप्तको प्राप्त होवे । और यदि व्रत करे तो उसको समाप्त करने की भी इच्छा रखे तब निश्चय उससे वह इसी देवता के सायुज्य और सलोकता को पाता है ॥ २३ ॥

पदार्थ—जो पूर्व में कहा गया है उसी को दृढ़ करने के लिये यह श्लोक कहते हैं—(अथ) और इस विषय में (एष+श्लोकः+भवति) यह वक्ष्यमाण श्लोक होता है (यत्, +च) जहां से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदित होता है (यत्+च) और जहां (अस्तम्) अस्त को (गच्छति+इति) प्राप्त होता है इतना भाग श्लोकार्थ है । इसका उत्तर प्रथम देते हैं—(यं) निश्चय (एषः+प्राणाद्+उदेति) यह प्राण से उदित होता है (प्राणे+अस्तम्+इति) और प्राण में ही अस्त को प्राप्त होता । अब आगे श्लोक के उत्तरार्थ को कहते हैं—(देवाः) विद्वद्गण भी अभ्यन्तरी प्राण और वायु को देव (तम्+धर्मम्) प्राण और वायु के समान ही व्रत को (चरिरे) करने लगे । उन विद्वानों में (स+एव+अथ) वही व्रत आज है और (स+उ) वही (यः) कल भी रहेगा । अब संक्षेप से श्लोकार्थ का व्याख्यान स्वयं श्रुति करती है (अमुहिं) उस गतकाल में (एते) इन विद्वान् लोगों ने (यद्+यै) जिसी व्रत को (अभियन्त) धारण किया (तद्+एव+अपि) उसी को (अद्य+कुर्वन्ति) आज भी करते हैं । अब आगे फलित कहते हैं कि (तस्मात्) इस हेतु (एकम्+एव+व्रतम्+चरेत्) एक ही व्रत को करे । किस एक व्रत को करे ? (प्राण्यात्+च) प्राणव्यापार करे अर्थात् अभ्यन्तर से बाहर श्वास लेवे और (अपान्यात्+च) बाहर से अभ्यन्तर में श्वास लींचे । इन दोनों वाक्यों का आशय यह है जैसे श्वास प्रश्वास धरावर चलता है वैसा ही निरन्तर अपने कार्य में लगा रहे । इस प्राणव्रत को न करने से दोष कहते हैं—(नेत्) ऐसा न हो कि (पाप्मा+मृत्युः) पापस्वरूप मृत्यु (माम्+आप्नुवन्+इति) मुक्त को प्राप्त होवे (यदि+उ+चरेत्) यदि प्राण और वायु के समान व्रत धारण करे तो (समापिष्येत्) उसको समाप्त करने की भी इच्छा करे (तेन+उ) निश्चय उससे (एतस्यै+देवतायै) इस प्राण और वायु देवता के (सायुज्यम्) सायुज्य को और (सलोकताम्) सलोकता को (जयति) पाता है ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यन् प्राणस्य वायोऽथ व्रतं प्रदर्शितं तदेव द्रढयितुं ग्रन्थान्तरा-
 त्प्रमाणं दर्शयति । अथास्मिन् विषये एष श्लोकः प्रमाणं भवति । अयं
 सूर्यः सर्वेषां देवानां प्रधानो देवोऽपि सन् । यतो यस्मात् प्राणाद् उदेति ।
 यस्य प्राणस्यैष सामर्थ्येन सूर्य उदेति । यत्र च प्राणे । अस्तं गच्छति । इति-
 शब्दः श्लोकार्थपूरणः । उक्तांशश्लोकस्य यच्छब्दार्थमाह । यत उदेति-
 कस्मादुदेति । इति शङ्का । प्राणाद्वै एष उदेतीति समाधानम् । अस्तं यत्र गच्छति
 कुत्रास्तं गच्छतीति शङ्का प्राणेऽस्तमेतीति समाधानम् । श्लोकार्थं पठति—तमि-
 त्यादि । अस्यार्थः । जगति आध्यात्मिकस्य प्राणस्य आधिदैविकस्य वायोश्च
 निरन्तरमभग्नव्रतमवलोक्य प्रकृतेरनुसारिणः । देवा विद्वांसो जनाः । तं धर्मं
 प्राणायामसमानम् । चक्रे कर्तुमारेभिरे । देवेषु स एव धर्मोऽद्यापि वर्तत एव
 नोच्छिन्नः । एवं स एव धर्मः श्वोऽपि आगामिन्यपि समये विद्वत्सु स्या-
 स्यति । इति शब्दः श्लोकपूर्यर्थः । श्लोकार्थमेव ब्राह्मणभागो विस्पष्टयति ।
 एते विद्वांसः अमुर्हि अमुष्मिन् व्यतीते काले यद्वै यदेव व्रतम् । अधियन्त धृ-
 तवन्तः । तदेव व्रतम् । अद्यापि कुर्वन्ति । न विदुषां मध्ये व्रतभंगो भवति
 कदापि । अग्रे फलितमाह—तस्माद्धेतोः सर्वोऽपि साधकः । एकमेव व्रतम् ।
 प्राणस्य वायोश्चैव व्रतम् । नान्येषां देवानां मृत्पुनाऽऽप्तानामित्यर्थः । चरेद्
 कुर्यात् । व्रतं विशिनाष्टे । प्राण्याच्चैव । प्राणनव्यापार कुर्यात् । अपान्याच्च ।
 अपाननव्यापारश्च कुर्यात् । यथा प्रतिक्षणं श्वासप्रश्वासौ बाह्यमायातोऽभ्यन्तरश्च
 प्रत्यायातः । तथैव सर्वदा कार्ये सन्नद्धो भवेत् । एतत्प्राणव्रताकरणे वाघ-
 कमाह । नेति परिश्रवे । मा मां पाप्मा पापस्वरूपो मृत्युः । आप्नुवदिति प्राप्नु-
 यादिति मय मा भूदित्यर्थः । यद्यहं प्राणव्रतं न करिष्यामि तर्हि पापं मां ग्रही-
 ष्यति । तत्पापं मां मां ग्रहीदिति तद्व्रतं कर्तव्यमित्यर्थः । यद्यु यदि उ व्रतं चरेत् ।
 यदि व्रतस्य चिचरिषा स्यात्तर्हि यद् यद् व्रतं चरेत् । तत्तत् समापिष्येत् ।
 समापयितुमपि कामयेत । प्रारभ्य विघ्नभयाच्च त्यजेदित्यर्थः । तेनो तेन उत्तेन
 व्रताऽऽचरणेन । एतस्यै देवतायै एतस्या देवतायाः । सायुज्यं सयुग्मावम् ।
 सलोकताश्च समानलोकताश्च । जयति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ पष्ठं ब्राह्मणम् ॥

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदे-
षामुक्त्यमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि
सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि
विभर्ति ॥ १ ॥

अनुवाद—इस जगत् में नाम, रूप और कर्म ये ही तीन हैं, उनमें से
इन नामों का “वाणी” उक्त (उपादानकारण) है, क्योंकि इसीसे सब नाम उत्पन्न
होते हैं। इन नामों का यह (वाणी) ही साम है क्योंकि यही सब नामों के
साथ तुल्य है। इन नामों का यह (वाणी) ही ब्रह्म है क्योंकि सब नामों को
यही धारण करता है ॥ १ ॥

पदार्थ—इस जगत् में (नाम) इसका देवदत्त वा यज्ञदत्त वा वृत्त वा जल
नाम है (रूपम्) यह शुद्ध ब्राह्मण है। यह कृष्ण गौ है। यह पीत पुष्प है। इस
प्रकार रूप और (कर्म) यह बालक पदता है। यह ओषधि सञ्जीवनी है। यह
पुष्प मेरे मन को हरण करता है। वायु चलता है। सूर्य प्रकाशता है। इत्यादि
कर्म देखते हैं। इससे प्रतीत होता है कि (नाम+रूपम्+कर्म) नाम, रूप और
कर्म, इदम्+ये+त्रयम्) यही तीन प्रधानता से हैं। इन ही तीनों के अन्तर्गत अन्य
भी हैं (तेषाम्) उन नामरूप कर्म के मध्य (एषाम्) इन देवदत्तादि नामों
का (वाग्+इति) वाणी ही (एतद्+उक्त्यम्) यह उक्त्य है (हि) क्योंकि (अतः)
इस वाणीरूप शब्द से (सर्वाणि+नामानि) सब घट पट आदिरु नाम (उत्तिष्ठन्ति)
उत्पन्न होने हैं। इस हेतु वाणी उक्त्य (उपादानकारण) है। (एषाम्) इन
नामों का (एतन्+साम) यह वाणीरूप शब्द ही साम है। (हि) क्योंकि
(एतत्) यह वाणी ही (सर्वै +नामभिः) सब नामों के साथ (समम्) तुल्य
है (एषाम्) इन नामों का (एतद्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्)
यही (सर्वाणि+नामानि) सब नामों को (विभर्ति) धारण करता है। वेदों

के मन्त्र में उक्थ, साम और ब्रह्म आदि शब्द ऋचा आदि के अर्थ में आता है । परन्तु यहां रूढार्थ न लेकर यौगिकार्थ का ग्रहण किया है । जिससे उत्पन्न हो उसे उक्थ (यहां उन्+स्था से “उस्य” बनाया है) जो सम हो वह साम (यहां सम और साम एकार्यक माना) जो सत्र को धारण करे वह ब्रह्म (यहां “भृ” धातु से ब्रह्म माना) है । अर्थात् जैसे वैदिक क्रिया में उक्थ साम और ब्रह्म होते हैं वैसे ही नाम में भी सब हैं । इस हेतु नाम ही एक मुख्य पदार्थ जगत् में है अर्थात् नाममय जगत् है ॥ १ ॥

भाष्यम्—जगति अस्य देवदत्तो वा यज्ञदत्तो वा वृक्षो वा जलं वा नाम-
धेयम् । अयं शुक्रो ब्राह्मणः । इयं कृष्ण गौः । इदं पीतं कुसुमामिति रूपम् ।
अयं बटुः पठति । इयमोपधिः सजीवयति । इदं पुष्पं मम मनोहरति । वायुर्ग-
च्छति । सूर्यः प्रकाशते इत्यादि कर्म भवति । अतो नाम च रूपञ्च कर्म चेदं
त्रयं वै वर्तते । अन्यदप्यास्मिन् त्रयेऽन्तर्गतमिति वै शब्दो द्योतयति । सम्प्रति
नामादीनामुक्थ साम तथा ब्रह्मतत्त्वयमिति दर्शयते । वेदेषूक्ता उक्थादयो मन्त्रा
कर्मणि कर्मणि विनियुज्यन्ते । इहेतेषामुक्थादीनामर्थान्तरमादायातिदिश्य-
ते नामादिषु । तेषां नामादीनां मध्ये । एषां नाम्नाम् वागिति उक्थमस्ति ।
अतो हि अस्या वाचो हि । सर्वाणि देवदत्तादीनि नामानि । उत्तिष्ठन्ति उत्पद्य-
न्ते । इदमेवोक्थत्व वाचः । एषा नाम्नाम् । एतत्साम् । वागेव साम । कथमिति ।
एतद् वाग्रूपं शब्दसामान्यम् । सर्वैर्नामभिः समं तुल्यम् । नहि वाक् स्वयं
क्वचित् स्वल्पमात्मानं क्वचिदधिकञ्च दर्शयति । किन्तु सर्वत्रैव समानत्वेन
साऽऽत्मानं दर्शयति । अतो वाचः सामत्वम् । तुल्यार्थवाची सामशब्द इतर-
स्मिन्पक्षे । एषां नाम्नाम् । एतत् वाग्रूपं ब्रह्म । कथम् ? एतद्वाग्रूपं शब्दसामान्यं
सर्वाणि नामानि । विभर्ति धारयति विभर्तीति ब्रह्मेति पदार्थः ॥ १ ॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि
रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामेतद्धि सर्वे रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मे-
तद्धि सर्वाणि रूपाणि विभर्ति ॥ २ ॥

अनुवाद—और इन रूपों का चक्षु ही उन्मथ है, क्योंकि इसमें ही सन रूप उपजते हैं । इनका यह (चक्षु) साम है, क्योंकि यही सन रूपों के साथ सम है । इनका यह (चक्षु) ब्रह्म है, क्योंकि सब रूपों को यही धारण करता है ॥ २ ॥

पदार्थ—(अथ) नाम के अनन्तर रूप के विषय में कहते हैं—(एषाम्+रूपाणां) इन शुक्ल पीत आदि रूपों का (एतत्+चक्षु +इति) यह चक्षु ही (उच्यते) उपादानकारण है (हि) क्योंकि (अतः) इस चक्षु से (सर्वाणि) सन (रूपाणि) रूप (उत्तिष्ठन्ति) उत्पन्न होते हैं (एषाम्) इन रूपों का (एतत्+साम) यह चक्षु साम है (हि) क्योंकि (एतत्) यह चक्षु (सर्वे) सन (रूपैः) रूपों के साथ (समम्) सम है (एषाम्) इन रूपों का (एतत्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्) यह चक्षु (सर्वाणि) सब (रूपाणि) रूपों को (विभर्ति) धारण करता है ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथ शुक्लादिविशेषाणामेषां रूपाणाम् । चक्षुरित्येतदुच्यते उपादानकारणम् । कथम् । अतः हि चक्षुषः सर्वाणि रूपाणि । उत्तिष्ठन्ति जायन्ते । एषा रूपाणाम् । एतच्चक्षुः साम । कथम् । एतच्चक्षुः सर्वैः रूपैः सम तुल्यम् । एतदेवं ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि रूपाणि विभर्ति ॥ २ ॥

अथ कर्मणामात्मैत्येतदेषामुत्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेवां सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेवां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि विभर्ति ॥ ३ ॥ (क)

अनुवाद—और इन कर्मों का शरीर ही उन्मथ है, क्योंकि इसी से सब कर्म उत्पन्न होते हैं । इन कर्मों का यह (आत्मा) साम है, क्योंकि यह (आत्मा) सन कर्मों के साथ सम है । इन कर्मों का यह (आत्मा) ही ब्रह्म (हि) क्योंकि यही सब कर्मों का धारण करता है ॥ ३ ॥ (क)

पदार्थ—(अथ) रूप के अनन्तर कर्म का वर्णन करते हैं—(एषाम्) इन श्रवण मनन चला आदि (कर्मणाम्) कर्मों का (आत्मा+इति+एतत्+

उक्तम्) आत्मा (शरीर) ही उक्त है (हि) क्योंकि (अतः-) इसी आत्मा से (सर्वाणि+कर्माणि) सब कर्म (उत्तिष्ठन्ति) उपजते हैं - (एषाम्) इन कर्मों का (एतत्) यह शरीर स्वरूप (साम) साम है (हि) क्योंकि (एतत्) यह देहस्वरूप साम ही (सर्वैः+कर्मभिः) सब कर्मों से (समम्) सम=तुल्य है और (एषाम्) इन कर्मों का (एतत्) यह देहस्वरूप ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्) यह देहस्वरूप ब्रह्म ही (सर्वाणि) सब (कर्माणि) कर्मों को (विभर्ति) धारण करता है ॥ ३ ॥ (क)

भाष्यम्—स्पष्टम् ॥ ३ ॥ (क)

तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदे-
तदमृतं सत्येन छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्या-
मयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥ (ख)

अनुवाद—सो यह तीन होने पर भी एक है । जो यह आत्मा है । आत्मा ही एक होने पर भी ये तीनों हैं । वह यह अमृत । सत्य से आच्छादित है । प्राण-विशिष्ट आत्मा ही अमृत है । नाम और रूप सत्य है । उन दोनों से प्राण आच्छन्न है ॥ ३ ॥ (ख)

पदार्थ—(तत्+एतत्+नयम्) सो ये नाम रूप और कर्म (सत्) पृथक् २ तीन होने पर भी (एकम्) एक ही है । वह एक कौन है सो कहते हैं—(अयम्+आत्मा) यह जीवात्मा है । अर्थात् नाम, रूप और कर्म इन तीनों का अन्तर्भाव एक जीवात्मा में ही है अर्थात् जीवात्मा के रहने पर ही ये नाम, रूप कर्म भा-सित होते हैं । इस हेतु तीनों का एकही जीवात्मा समझो । पुनः इसी को व्यत्यय से कहते हैं—(आत्मा+उ+एक +सत्) आत्मा ही एक होता हुआ (एतत्+त्रयम्) ये तीनों हैं (एतद्+अमृतम्) यह जीवात्मा अमृत=आनन्दस्वरूप है । और (सत्येन+छन्नम्) सत्य से ढका हुआ है (प्राणः+नै+अमृतम्) प्राण (लिङ्ग-शरीर) सहित जीवात्मा ही अमृत है (नामरूपे+सत्यम्) नाम और रूप सत्य है (ताभ्याम्) उस नाम रूपात्मक सत्य से (अयम्+प्राणः) यह लिङ्गशरीरविशिष्ट जीवात्मा (छन्नः) आच्छन्न, आच्छादित है ॥ ३ ॥ (ख)

भाष्यम्—तदिति । इदं जगन्नामरूपकर्मभेदात्त्रिधाति व्यवस्थितम् । तदपि त्रयमेकस्मिन्नात्मनि उपपत्तिरिति । यथा—तदेतन्नाम रूपं कर्मेति त्रयं सदापि । एकमेवास्तीति विज्ञेयम् । किं तदेकमित्याह—अयमात्मेति । आत्मनि जीवात्मन्येव त्रिकस्यान्तर्गतत्वात् । सत्येवात्मनि तत्त्रयं भासते । अतोऽनुमीयते । आत्मातिगिक्रं नान्यद्वास्तिवाति । इदमेव व्युत्पयेनाह—आत्मो आत्मा+उ । आत्मैव । एकः सन् । एतत्त्रयं भवति । तदेतदमृतं । सत्येन छन्नं । सत्यमेवर्षिर्वाक्यं विवृणोति । प्राणो वा अमृतम् । अमृतशब्दवाच्यः प्राणः । प्राणविशिष्ट आ-
त्मेत्यर्थः । नामरूपे सत्यम् । सत्यपदवाच्ये नामरूपे स्तः । ताभ्यां नामरूपा-
भ्याम् । अयं प्राणः प्राणविशिष्टजीवात्मा । छन्नो गुप्तोऽप्रकाशितः ॥२॥ (ख)

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये शिवशङ्करकृते प्रथमाध्यायस्य
भाष्य समाप्तम् ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायारम्भः

उपासना-विचार आरभ्यते ॥

मनुष्यो वा आजन्म-वासरादेव कामयते किमपि ज्ञातुम् । यद्यपि अमना निरिन्द्रियश्चैव तिष्ठति कतिपयेषु दिवसेषु । चक्षुरादीनि करणानि कनीयांसि दुर्बलीयांसि च स्वाविषयेषु । श्रोत्रेण स्वल्पं शृणोति । उच्चैराह्वयमानोऽपि नामिष्वृत्तीभवनाय चेष्टते । एवमेव सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिः प्रतीयते । न दृश्यते कोऽपि मनोव्यापारः । अतः समनस्केषु इन्द्रियेषु सन्स्वपि निरिन्द्रिय इव स भवति । तथापि प्रकृत्यैव चक्षुर्धावति सृतिरूपादृश्येषु वस्तुषु । पुनः क्षणेन ततोऽपसरति । क्षणं निमिषति । पुनरपि क्षणेन उन्मिषति न शनोति बोद्धुन्तु किमपि । किमपि लक्ष्यकृत्य रीति । ईषत्स्मयति । स्तन्यं पिपासति । ततः क्षणममनास्तिष्ठति । इत्थं यान्ति कतिपयानि दिवसानि शिशोः । भवति च पानादिषु जिज्ञासाऽस्यामपि दशायाम् । अतोऽस्त्यन्तःकरणे जिज्ञासेति प्रतीयते । ततः कियता अनेहसा समना इव परितो निरीक्षते । न बोद्धुं शक्नोति । न नयमेव सर्वमवलोक्य नयनं विस्फारयति । न बोद्धुं शक्नोति । अप्रादिस्मया हस्तमुक्षीलयति । अप्राप्य आकुञ्चति । क्षणेन विस्मृत्य सर्पं क्रन्दति । हसति । पिपासति । किन्त्विदानीं जिज्ञासुरिव नूतने वस्तुनि चिरकालं नयनमासज्जते । शब्दे कर्णं ददाति । आकारमनुभवति । कियद्विरेवाक्षोभिः परिचिनोति । प्रतिकूलाद् विमेति । अनुकूलनं हृष्यति मोदते, परन्तु न बोद्धुं शक्नोति । यतने तु बोधाय । यथा यथेन्द्रियाणि बलवान्तं जायन्ते तथा तथा सोऽपि ज्ञानेन विवर्धते । शिशुना, सह यदा कोऽपि बहिर्गच्छति स कियद् दुर्नोति स्वसं-

गिनम् । किमिदं किमिदमिति भूयो भूयां नूतनं नूतनं वस्तु माप्य पृच्छति । पृच्छाया न स कदापि विधास्याति । स पृच्छन्नेव याति । यदा प्रतिबचनं ददता पित्रादिना निवार्यते कुप्यते भर्त्स्यते । तदा कंचिदेव कालं तृष्णिमास्ते । आगते च कस्मिंश्चिन्नरोने अन्तःकरणेन कोपमगणय्य पुनः पृच्छत्येव । रात्रौ च मातुरुत्सङ्गमध्यास्य उपरि चन्द्रनक्षत्रमण्डलमवलोक्य किमिदमिति पृच्छति । माता च यथास्वमति समादधाति । तदा स प्रसीदति । एतद्वा अन्तःकरणे महती जिज्ञासास्तीति सूचयति । यदि सावधानतया शिशुः शिक्षितः स्यात्तर्हि अचिरेणकालेन बहुज्ञः संपद्यते । यथा यथा सहेन्द्रियैर्वर्धत तथा तथा सापि जिज्ञासा वर्धते पग्नित्वदानीं समाजानुरूपा कचिद् बहु वर्धते कचिद् क्षीयते ॥

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य जन्मदिन से ही कुछ जानना चाहता है । यद्यपि कुछ दिन तक मन और इन्द्रियों से रहित ही सा रह रहा है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रिय बहुत छोट और अपन विषय ग्रहण में दुर्बल रहते हैं । श्रोत्र से बहुत थोड़ा सुनता, उच्चस्वर से पुकारने पर भी वह अभिमुख होने के लिये चेष्टा नहीं करता । प्रायः ऐसी ही सब इन्द्रियों की गति रहती है । मन का व्यापार कोई नहीं दीप्तता मन सहित इन्द्रिय रहने पर भी वह शिशु एक प्रकार से निरिन्द्रिय ही है तथापि स्वभावानुसार ही इसकी आत्मा सूक्तिकागृहस्थ वस्तुओं के ऊपर दौड़नी फिर एक ही क्षण में वहा से हट जाती चण्येक वन्द हो जाती । पुनः क्षण में खुल जाती परन्तु वह कुछ समझता नहीं । किसी वस्तु को लक्ष्य करके रोता इसता है दूध पीना चाहता तब फिर चण्यमात्र अमनस्क रहता है । इस प्रकार कुछ दिन बीतते हैं । परन्तु इस अवस्था में भी जीव को दुग्धपानादिकों की जिज्ञासा बनी रहती है अन्तःकरण में जिज्ञासा शक्ति है यह प्रतीत होता है । इस प्रकार कुछ समय में मनवाला सा होकर चारों तरफ निहारता, परन्तु कुछ जान नहीं सकता । तब २ । ही सन वस्तु को देख आत्मा फारता है परन्तु ज्ञान में असमर्थ रहता है । पदार्थों के ग्रहण करने की इच्छा से हाथ उठाता परन्तु न पाकर समेट लेता । चण्यमात्र में सन भूल के रोने लगता, हंसने लगता, पीने की इच्छा करता परन्तु इस अवस्था में जिज्ञासा के समान नूतन २ वस्तु के ऊपर देरतक आत्मा ठहराए रहता । शब्द के ऊपर ध्यान करता । आकार का अनुभव करता । इस प्रकार कुछ दिनों में सब वस्तु को

पहिचानने लगता, प्रतिकूल वस्तु से डरता. अनुकूल से हृष्ट और मुग्ध होना, परन्तु पदार्थ जान नहीं सकता। जानने के लिये प्रयत्न करता है। ज्यों २ इन्द्रिय प्रबल होते जाते त्यों त्यों वह ज्ञान में बढ़ता जाता। किसी बालक के साथ जब कोई बाहर निकलता तब वह अपने साथी को कितना दिक्क करता. नवीन २ वस्तु को देख. "यह क्या यह क्या" ऐसा बारम्बार पूछता रहता। पूछने से वह कभी भी नहीं थकता। वह पूछता ही जायगा। जब उत्तर देते हुए पिता आदिक दिक्क होकर उसको निवारण करते, उस पर क्रोध करते, उसे डांटते तब वह कुछ देर चुप हो जाता। परन्तु पुनः कोई नवीन वस्तु आने पर अन्तःकरण में उस कोप को नगिन कर फिर पूछने लगता है। रात को माता की गोद में बैठकर ऊपर चन्द्रमा और नक्षत्र को देख यह क्या है, ऐसा पूछा करता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह व्यापार सूचित करता है कि अन्तःकरण में महीती जिज्ञासा बनी हुई है यदि सावधानता से शिशु शिचित्त होवे तो थोड़े ही बाल में वह बहुवेत्ता हो सकता है। ज्यों २-इन्द्रियों के साथ २ वह बढ़ता जाता है त्यों २ वह जिज्ञासा बढ़ती जाती है परन्तु अब वह जिज्ञासा समाज के मर्यादा होती। तदनुसार वहीं वह बहुत बढ़ जाती है कहीं बहुत कम हो जाती है।

अदृष्टे पारलौकिके निषये तु प्राप्ते पञ्चमे षष्ठे वा संवत्सरे यथा यथा पश्यति मातापितृप्रभृतीनामाचरणं तथैवानुसरति। वंश्यवत् कौतूहलेन पुपूजयिषति। आरिग्राभयिषति। दिध्यासति। पारायणमनुवर्चयते। स्नाति। आचामति। इत्थं सर्वमेवानुकरोति। किमिदं कथं कुर्वन्ति कथं करणीयमिति न वेत्ति। नचेदानीं सत्यासत्यं निर्णेतुं मनस्येव किमपि विस्फुर्यते। आपचावापतन्त्या वंश्या यथा ईश्वरमीश्वरमुच्चारयन्ति। अनुतिष्ठन्ति। वपन्ति। पूजयन्ति। पाचन्ते। प्रार्थयन्ते। तथैव सर्वं सोऽपि निदधाति। परं न विचारयति। अनुकरोत्येव भोजनादिकृत्यानीव आमुष्मिकान्यपि कर्माणि। परन्तिवदानीमिदं ज्ञातुमारभते-मातापितृप्रातृप्रभृतिभ्यः कश्चिदन्योऽपि रचितास्तीति कुलदेवतायामन्यस्यामपि वा ततोऽप्यधिकवत्तायां देवतायामनुगृहो भवति।

पञ्चम वा षष्ठ वत्सर प्राप्त होने पर माता पिता आदिकों का जैसा २ आचरण देखता है वैसा ही अनुसरण करता है, उसके गोत्र वाले जैसा करते हैं वैसा ही वह

पूजा, आराधना और ध्यान चाहता है । तदनुसार ही पारायण करने को बैठता, स्नान करता, आचमन करता इस प्रकार अनुसरण करता रहता है । परन्तु यह क्या है, क्यों करते हैं, क्यों करना चाहिये इत्यादि नहीं जानता । और न अभी सत्यासत्य के निर्णय करने के लिये मन में ही कुछ स्फुरण होता, आपत्ति आने पर शोक घाले जैसा “ईश्वर, ईश्वर” उच्चारण, अनुष्ठान, जप, पूजा, याचना, प्रार्थना करते हैं । वैसा ही वह भी सब कुछ करता रहता है । परन्तु अब तक भी विचारता नहीं, भोजनादि कृत्य के समान पारलौकिक कर्मों का भी अनुकरण ही करता रहता । परन्तु इस समय में इतना जानने लगता है कि माता पिता भ्राता आदिकों के अतिरिक्त अन्य भी मेरा कोई रक्षक है वह समझ बुल देवता में अथवा अन्य किसी प्रबल देवता में अनुराग करने लगता ।

प्रथमं बाहुन्येनापत्तिरेव जनमीश्वरमभिनयति । स श्रयने रुग्णस्तिष्ठति । श्वरश्चालया दंदद्यते । परितो बान्धवा उपासते । भैषज्यं ददति । शान्तिकर-
धचनैः सान्त्वयन्ति । परं न स शाम्यति । क्रूरेण रोगेण बाधितो न किञ्चिदपि
विश्रामं लभते । अत्र प्रतीकारे सर्पान्धमाग्निरीक्ष्य उदास्ते । तत ईश्वरमुपधा-
वति । जानाति च नैते मां परित उपासीना विशाल्यं कर्तुं क्षमन्त इति । अन्यच्च—
महता रहसा नादेन च सह वज्रमाकाशात्पतन्तं घातुकं भयङ्करं निरीक्ष्य स्था-
श्शर्जन्तुमिरक्ष्यमाणमात्मानं विदित्वा किमपि बाधमनमाभ्यामगोचरं रक्षित्र-
नुसन्धाय त्राहि त्राहीति उच्चैःशब्दयति । काले काले च जीघान्तकं देवं कोपं
महादुर्मिहजनकमवर्षणं महामारिं वा दर्शं दर्शं मोहं प्राप्य प्राप्य “पाहि-
पाहीति” किमपि महोऽनुलदीकृत्य धोषयति । इत्यमापत्तिरेव प्रथममीश्वरमभि-
मुखीकरणे कारणं विज्ञायते । ततो ज्ञानम् । ततो बाधमागच्छति । आचार्येण
स्वयमर्थैः कविभिश्चैस्त्वावचैर्मनुष्यैश्च संगच्छते । कुशलरचेन्नाना पश्यति,
जलं पृथोति, जलालुप्यति । जलं वितर्कते । परितो बहुनुपास्यान् पश्यति ।
कुलरीतिमर्यादापुरःसरं सर्वान् पानयति । नेमस्यति । मपर्यति । विचारच-
ञ्चुरचेत् मंथेते । स्वभवने स्थापिता मूर्तिममापमाणां स्थाणुवत् स्थिताम्
अस्मादगौरेव निर्मितां पालितां भोजनादिभिर्याभिरुपचर्यमाणां स्वयमशङ्कां
दृष्ट्वा “स्वयमशङ्का कथमन्यान् रक्षिष्यति” इति संशयं तिरस्करोति ।

ततोऽन्यां वलीयसीं पृथिव्यमेजोवाय्वाकाशविशशिग्रहर्त्तगिरिनदीवृक्षगज-
सिंहाद्यात्मिकां देवतामनुधावति । कदाचित् स्वस्वतेजोमिराद्व्यामसरूपै-
र्गुणैर्बुधाऽबुधजनमनांसि स्वामिमुखीकुर्वन्तीं देदीप्यमानां महतीं कांचिदेवतां
स्ववंश्यैरितरैश्च पूज्यमाना सहस्रशः स्तवस्तोत्रपाठैः स्तूयमानाञ्च दृष्ट्वा पूज्ये-
ष्वन्या अपूजयेति न भटिति निश्चिनोति । ततः प्रेक्षावान् स परीक्षको भूत्वा तु
स्वधर्मपुस्तकानि प्रतिगच्छति । प्रथमं तावच्छतशोऽधर्मपुस्तकानि धर्मपुस्तकानि
मन्यन्ते जनैः । कानिचित्सन्ति तु धर्मपुस्तकानि व्याख्याकृतां स्वाहङ्कारैः
स्वमनोरथैराच्छादितानि च स्वात्मानं न प्रकाशयन्ति जिज्ञासुभ्यः । न सूर्या-
दीनां चेतनत्वम् । चेन्नाः खलु स्वार्तज्येण स्थानात्स्थानं गच्छन्ति । कुत्रापि
चेतनावती पिरीलिका स्वतन्त्रा सती यथाकामं गिहर्तुं शक्नोति । परन्तु नैते
सूर्यादयः । अत एते अचेतना एव । न ते विश्राम्यन्ति न क्लाम्यन्ति न
स्वस्थानं त्यक्तुं मनुष्यादिवत् शक्नुवन्ति । अतोऽचेतना एवेमे सूर्यादयो जग-
न्नियोगमनुष्ठातुं मृषाः । अचेतनानि तु गृहादीनि सदैव कार्यांचितानि कर्तुं
यथास्थानं स्थापयितुं च कोऽपि यथा चेतनो भवति तथैव महान्तमचेतनं जग-
त्समूहं नियन्तुं कयाऽपि चेतनया शक्त्या भवितव्यम् । तदेव ब्रह्म स एव सर्वे-
श्वरः स एव सर्वाधिपतिः स एव स्तुत्यः पूज्य उपास्यश्च । न तस्यापि कोऽपि
शासक इत्यध्ययसेयम् । कुतः । तर्हि तस्यापि कोऽपि शासकस्तस्यापि तस्या-
पि इत्यनवस्थापरम्परया कुत्रापि निरतिशये पुरुषेऽवश्यमेव स्पेयम् । यत्रैव
निरतिशयत्वम् तदेव ब्रह्मेति निश्चीयते ॥

इसमें सन्देह नहीं कि बहुधा करके प्रथम आपत्ति ही मनुष्य को ईश्वर की
ओर ले जाती है । जब रुग्ण हो शय्या के ऊपर पड़ा है और अरज्वाला से दग्ध
होता रहता दान्धव चारों तरफ बैठे रहते । दवाई देते, शान्तिप्रद वचनों से
सांत्वना करते । परन्तु वह शान्त नहीं होता कठोर रोग से बाधित हो वह किञ्चित्
भी विश्राम नहीं पाता । यहां प्रतीकार में सब को असमर्थ देख उदासोन हो जाता,
तब ईश्वर की ओर दौड़ता और जानलेता कि ये मेरे चारों ओर बैठे हुए पुरुष मुझको
दुःखरहित नहीं कर सकते । और भी बड़े वेग और नाद के साथ आकाश में गिरते
हुए पातुके और मयङ्कर वज्र को देख अपने समान जन्तुओं से आत्मरक्षा न

जान किमी चाणी, मन से अगम्य रक्तक को अनुसन्धान करने वह स्वयं से 'प्राहि, प्राहि' करने लगता है। और भी समय २ पर जीवों का नाश करनेद्वारा महादुर्भिक्ष-जनक अर्पणरूप महादेव को देव २ मोह को पाकर किसी अचिन्त्य तेज को लक्ष्य करके "प्राहि प्राहि" चिल्लाने लगता है। इस प्रकार आपत्ति ही प्रथम ईश्वर के अभिमुख करने में कारण होती ऐसा विदित होता है। तब ज्ञान इसको दिखलाते हैं। जब वह बाह्य-जगत् से आघातमग्न करता। आचार्य निज क्षीय विद्वान् मूर्त सप्त प्रकार के छोटे बड़े मनुष्यों से मग्न करता, यदि वह कुछ कुराल रहता है तो नाना वस्तुओं को देखता, सुनता, अनुभव करता, तर्क करना आरम्भ करता, चारों ओर बहुत उपास्थ देवों को देखता, कुल की रीति मर्यादा के अनुसार सवों को मानता नमस्कार करता पूजता यदि वह विचार करने में निरुण रहता है तो मशय करना आरम्भ करता है। निज भवन में स्थापित मूर्ति को न धोखती हुई और स्तम्भ के समान स्थित देख तर्क करने लगता है कि यह मूर्ति हम ही लोगों के सदृश आदमियों से निर्मित हुई है, पाली जाती है, भोजनादिक क्रियाओं से सेव्यमान है और यह स्वयं अशक्त है "जो स्वयं अशक्त है वह दूसरों की रक्षा क्या करेगा" इस प्रकार उसमें मशय कर उस मूर्ति को तिरस्कार करना आरम्भ करता है। तब इसमें भी बलिष्ठ समर्थ, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, गिरि, नदी, वृक्ष, गज, सिंहादिरूप देवता की ओर दीक्षता है, कभी अपने २ तंजों से पूर्ण और असंख्य गुणों से ज्ञानी अज्ञानी दोनों के मन को अपनी ओर करती हुई देदीप्यमान महती अन्यान्य देवता को अपने पराज और अन्यो से पूजती हुई सहस्रशः स्तम्भ, स्तम्भ, पाठादियों से मनुष्य-माना होती हुई देखकर "यह पूज्य व अपूज्य है" यह भट से निश्चय नहीं करता। परन्तु प्रेक्षावान् यह जिज्ञासु परीक्षक होके स्वधर्म पुस्तक की ओर जाता है, परन्तु यह स्मरणीय बात है कि प्रथम तो हजारों अधर्मपुस्तक धर्मपुस्तक नाम से प्रसिद्ध हैं। जो कुछ धर्म पुस्तक हैं तो भी वे व्याख्याकारों के अहङ्कारों से और मनोरथों से आन्ध्रान्वित हैं। इस हेतु वे जिज्ञासुओं के लिये अपने आत्मा को प्रकाशित नहीं करती। सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि पदार्थ चेतन नहीं हैं क्योंकि चेतन पदार्थ इन्द्रानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान जाते आते रहते हैं। सुद्र चेतन भी विपरीतिका स्वतन्त्र है और स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी इन्द्रानुसार विहार

कर सकता परन्तु सूर्यादिक पदार्थ नहीं इस हेतु ये चेतन नहीं हैं । अचेतन ही न तो विग्राम लेते और न यकते और न बिना चेतनक्रिया के मनुष्यादिक के समान एक स्थान से दूसरे स्थान में जा सकते हैं । इस हेतु अचेतन ये सूर्यादि जगत्कार्यों के निर्वाहार्थ सृष्ट हुए हैं । परन्तु जैसे अचेतन गृहादिकों को सदैव कार्याचित रखने के लिये कोई चेतन रहता । वैसा ही महान् अचेतन जगत्समूह को नियत करने के लिये कोई महती चेतनशक्ति होनी चाहिये, जो महती शक्ति है वही ब्रह्म, वही सर्वेश्वर, वही सर्वाधिपति, वही स्तुत्य, पूज्य, उपास्य है । उसका भी कोई शासक है ऐसा विचार करना उचित नहीं क्योंकि तब उसका भी कोई शासक होना चाहिये । फिर उसकी भी इस प्रकार अनवस्था होगी । इस हेतु परम्परा से किसी निरतिशय पुरुष में अवश्यमेव ठहरना होगा । जहा ही निरतिशय है वह भी ब्रह्म है ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

अथ केचिद्वेदान्तिभिरुक्तं । कुक्कुरोऽपि ब्रह्मास्ति । आखुरपि ब्रह्मास्ति । सिंहः शृगालश्चापि । अग्निर्जलं चापि । मसूरिकाऽपि ब्रह्मास्ति । तथा सुषुप्तः शबरदेहोऽपि ब्रह्मास्ति । पुस्तकमपि । तथा तेन कृतबुद्धिः श्रोत्रियोऽपि ब्रह्मास्ति । प्रकाशकप्रकाश्यौ प्रदीपघटाश्चापि । एवं ब्रह्मैव खायं खादकञ्च । भोज्यं भोक्तृ च द्रष्टृ दृश्यञ्च । स्त्री पुरुषश्च । जीवोऽपि ब्रह्म । यत्र जीवो वसति स देहोऽपि ब्रह्म । येन दुःखमनुभवति स रोगादिरपि ब्रह्म । येन सुखमनुभवति तदित्तादिकमपि ब्रह्म । अहो कयमिदं सम्पत्स्पर्ते । ते च जल्पन्ति । ब्रह्म शुद्धं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं शान्तं विह्व नामरूपाऽऽधारकमित्येवंगुणकं वर्तते । तद्वै किमपि न करोति । न सृजति । न रक्षति । न नाशयति । किन्तु एका कापि ब्रह्मणोऽपि बलीयसी अनिर्वचनीया मायानाम्नी स्त्री कुतोऽप्यागत्य ब्रह्मणि आक्रामति । या ब्रह्मण्यप्याक्रामति तयावश्यमेव बलीयस्या भवितव्यम् । माया आक्रामति मा कथन्न ब्रह्मणो बलीयसी भवेत् ।

यहां 'पर कई अधम वेदान्ती कहते हैं कि कुत्ता भी ब्रह्म, मूषक भी ब्रह्म, सिंह शृगाल भी, अग्नि जल भी, मसूरिका भी ब्रह्म है और उससे सुषुप्त शबर का देह भी ब्रह्म है, पुस्तक भी ब्रह्म और उससे दृत्तबुद्धि श्रोत्रिय भी ब्रह्म, प्रकाशक

और प्रकाश को प्रदीप और घट ये दोनों ही ब्रह्म हैं, इस प्रकार साय सादक, भोग भोक्ता, दृष्टा दृश्य, स्त्री पुरुष सब ब्रह्म है। जीव भी ब्रह्म है और जीव जिस शरीर में रहता है वह भी ब्रह्म है, जिससे वह दुःख पाता है वह रोगादि भी ब्रह्म और जिससे सुख पाता है वह विष्ठादिक भी ब्रह्म। आश्चर्य की बात है। यह कैसे हो सकता है ये लोग वक्तें हैं कि ब्रह्म शुद्ध नित्य निष्क्रिय निर्गुण शान्त विभु नामरूपाधार इत्यादि गुण स्वरूप है। निश्चय वह कुछ नहीं करता न सृष्टि करता, न रक्षा, न नाश। किन्तु एक कोई माया नाम वाली स्त्री जो ब्रह्म से भी क्लिष्ट और अनिर्वचनीया है वह वहाँ से आकर ब्रह्म के ऊपर आक्रमण (चढ़ाई) करती है। जो ब्रह्म से भी बली होगी वह तो ब्रह्म के ऊपर आक्रमण करेगी। माया उसके ऊपर आक्रमण करती इस हेतु माया ब्रह्म से भी अधिक बलवती है यह अनुमान होता है ॥

तदा ब्रह्म भीतं भयति । भ्रष्टिस्त्वेव रयेनो वर्तिकामिव भीतं तद्ब्रह्माक्रम्य तस्योपरि सोपविशति आच्छाद्य स्वायत्तीकरोति । तदा भीतं सत्तदेव ब्रह्म-स्वरूपं विभृत्य शक्रः पुरुष इव ईश्वरो भूत्वा तया सह क्रीडति । स एव ईश्वरः रज्जुसर्पवद् विवर्तते । तदिदं सर्पं विवर्ते एव । स एव ईश्वरः सूर्यत्वेन चन्द्रत्वेन श्येनत्वेन पिपीलिक्तात्वेन अश्वत्थेन पानीयत्वेन जीवत्वेन इत्थं दृष्टादृष्टसर्वत्रेण च विवर्तते । सर्वो विवर्तएव यदो वैमत्यं वेदान्तिब्रूयाणाम् । सा माया कुतः समायाता । इतः पर क्वासीत् यया ब्रह्म बध्ना ईश्वर-वनपर्वतमोक्षिकाप्रभृतीकृतमिति पृच्छयमानान्ते किमपि न ब्रूयन्ति । वाचा न किमपि कथयितुं शक्नुम इति साधीयसीमात्मरवित्रीं परिपार्श्वीं स्वीकृतवन्तः । यदि एतेषां सिद्धान्तान् माया दूरमपसार्येत । न कथमपि स सिद्धान्तः स्थापितो भवेत् । यद्वैतभया-ज्जीवो वा प्रकृतिर्वा भिद्यत्वेन न तैः स्वीकृता । तदेव द्वैतमनादिमायां मन्वा-नामेतेषां मस्तर्कं प्राविशत् ।

तब शुद्ध ब्रह्म डर जाता है इसमें सन्देह नहीं कि जो दयाया जायगा वह अवश्य दरेगा। चूंकि माया इससे दयाती है इस हेतु ब्रह्म अवश्य डर जाता है ऐसा प्रतीति होता है तब जैसे रथेन पत्नी वर्चिका को जैसे ही वह माया मूढ से उस ब्रह्म का आक्रमण करके उसके ऊपर बैठ जाती है। और दाऊवर उसको

अपने वेश में कर लेती है । तब डरता हुआ वही ब्रह्म अपने रूप को भूल रागी पुरुष के समान ईश्वर बन उसके साथ ब्रीडा करता है । वही ईश्वर माया के साथ रज्जुसर्पवन् विवर्तित * होता है । यह सब ही विवर्त है वही ईश्वर सूर्य चन्द्र श्येन विपीलिका अन्न पानी जीव आदि दृष्ट वा अदृष्ट जितने पदार्थ हैं सब ही मालूम होता है । परन्तु यथार्थ में यह सब कुछ नहीं है वेदान्तियों की यह भैसी दुर्मति है । यदि उनसे पूछो कि वह माया कहां से आई इसके पहले कहां रहती थी । जिसने ब्रह्म को यांचकर ईश्वर, बन, पर्वत, मक्षिका, तन्तु आदि बना दिया । इसके उत्तर के लिये एक अच्छी परिपाटी आत्मरक्षा करनेदारी निकाली है कि वह माया अनिर्वचनीया अर्थात् कहने योग्य नहीं है । यदि इनके सिद्धान्त से माया दूर करदी जाय तो इनका सिद्धान्त कभी स्थापित नहीं हो सकना, जिस द्वैत के भय से इन्होंने जीव वा प्रकृति को श्रृंखला स्वीकार नहीं किया वही द्वैत इनके शिर पर मबार होगया ।

अस्य सिद्धान्तस्य मिथ्याभूता मायैव मूलम् । यस्य मूलमेव मिथ्या । तस्य कुतः सिद्धान्तो वा मतम्वा सम्प्रदायो वाग्रे तथ्यो भवितुमर्हति । यथा मिथ्याकल्पनयाऽऽकाशे एका नवीनामृष्टिर्विरच्यताम् । सप्तमेन ऐडवर्डीख्येनेव सत्या राज्ञापि भूयताम् । प्रजासु निग्रहानुग्रहौ क्रियेताम् । किमेनया कल्पनया प्रेक्षावोस्त्वं कदाचिदपि सुखी भविष्यसि । तथैव आधुनिकानां वेदान्तकल्पनास्तीति मन्यताम् । यो ह वै चेतनाऽचेतनविवेकाक्षमोऽनर्थातमृष्टिविद्यस्तर्कविवेकादृष्टब्रह्मविभूतिरश्रूयितब्रह्मिष्ठचरणोऽमन्ताबोद्धाऽकृतमतिः शिशुरिवानवहितो मद्यप इवापगतचेष्टो जगति मारभूतो मनुष्योऽस्ति । एवं येन अधीतापि स्वर्णीयसी स्वविद्या न तु सम्यग् निवारिता यस्य शैशवत्प्रभृति विविधकुसंस्कारैर्बुद्धिः मलिनीकृतास्ति । यो हि लोकगतिकानुगोऽस्ति । यो हि कोऽहं कोन्वात्मा किं ब्रह्म कश्चधर्मः किमनुष्ठेयं किमननुष्ठेयमित्यादिरुम् अजर्न स्थानमध्यास्य निश्चिन्तेनेकाग्र्येण मनसा न कदापि भीमासितवान् । स यत्किमपि

* जैसे रज्जु में सर्प भासित होता है यथार्थ में सर्प वहां नहीं है वैसे ही ब्रह्म में ही जगन् भासता है, परन्तु सर्पवन् जगन् कोई वस्तु नहीं । इसी का नाम विवर्त है । जो विवर्त को प्राप्त हो उसे विवर्तित कहते हैं ॥

परयति यत्किमपि शृणोति यत्किमपि लिपिनिबद्धं पठति यत्किमपि मनुष्याणां
 कुर्यातां निरीक्षते तदेवानुक्रोते । ईष्टं पुरुषः पशुमपि विर्पालिकामपि घास-
 मपि वृष्यमपि काष्ठमपि स्वम्बमपि “एतत्सर्वं दुःखसागरादुद्धरिष्यति सेवित-
 मिति बुद्ध्या” अत्रेव पूजयति । यस्तु कश्चिदधिकः स खलु कुलधर्मं ग्रामधर्मं
 देशधर्ममनुनिष्ठति सामिमानं सादरं तच्च द्विधिपूर्वकञ्च । कुलग्रामदेशधर्माः
 शिवन्ते सायन्नापञ्चम्यां विषमरोर्जप पूज्यः पूजितः सन्नापं दशति हस्तार्कं
 नवज्जरीटदर्शनपूजनाभिगादनादिभिः सुखिनो भवन्ति । गृहस्पर्शस्मिन् कोणे
 समचतुष्कोणं वस्त्रं गृहञ्च दातुं लभ्य परम्परागत्कुलदेवः कोऽपि मृतपुरुषोऽह-
 रहरुगसनीयः । ग्रामस्य बहिर्देशस्थे कस्मिंश्चिदरवत्ये वा बटे वा उदुम्बरं वा
 वंशे वा कर्कशौ वा पादपे वा स भूत भूत्या तिष्ठति । स सर्वाभ्य आपद्भ्यो
 ग्रामं सुरक्षति । अतः स त्रिधिना पूजनीयः । ब्राह्मणभोजनाद्यनुष्ठानैस्तर्प-
 णीयः । अमुकस्मिन् ग्रामे सात्वान् लिंगरूपेण श्रीमहादेवस्तिष्ठति । तत्र महा-
 काली वर्तते । सा पशुभिः श्रिता वरं प्रयच्छति तस्यै ब्रह्मादयो ब्रह्मणो दात-
 व्याः । तत्र कङ्काली रुधिरं प्रसीदति । इत्येवंविधा अतिनिकृष्टा अपि पैशा-
 चा अपि कुलग्रामदेशधर्मा अनुष्ठीयन्ते मूढमतिमिविवेकैरपुच्छन्मूर्खैरपशुभिः ।
 अहो न कदापि ते स्त्रीयां बुद्धिमुपधावन्ति । न चालयन्ति न पृच्छन्ति ।
 ततोऽपि केचिदाधिकाः क्षमादीनां शक्तिमिर्विमोहिताः सन्त इमानेव ब्रह्म जा-
 नन्तः पूजयन्ति । एते सर्वे मूढा मन्दमतयोऽविवेकिन एवेति स्वयमेवोपनिष-
 दीषिष्यत्यस्मिन्नध्याये ॥

इस सिद्धान्त का मिथ्याभूत गाया ही मूल कारण है । जिसका मूल ही
 मिथ्या है उसका सिद्धान्त वा मत वा सम्प्रदाय आगे कैसे सत्य हो सकता है । जैसे
 मिथ्या कल्पना से आकाश में एक नवीन सृष्टि रची और सप्तम एडवर्ड के समान
 उसका राजा भी तुम बन जाओ । प्रजाओं पर निम्ह अनुग्रह भी करने लगे ।
 इस प्रकार राज्य वा सन व्यवहार करो । क्या इस कल्पना से प्रेक्षावान् तुम कदा-
 पि सुखी हो सकते हो ? ऐसी ही आधुनिक वेदान्तियों की कल्पना है । ऐसा सम-
 मो जो आदमी चेतन और अचेतन के विवेक करने में असमर्थ है । जिसने सृष्टि-
 विप्राओं का अध्ययन नहीं किया है । जिसने तर्क और विवेक से ब्रह्मनिभूति
 नहीं देखी है । जिसने भगवानादियों के चरणों की श्रद्धा नहीं की है जो असन्ता, अयोद्धा

अमृतमति, शिष्य के समान अनवहित, मद्य के समान चेष्टारहित, जगत् में भार-भूत मनुष्य है । और वैसा ही जिसने थोड़ी सी अपनी विद्या सीखी है परन्तु उस विद्या का अच्छी तरह से विचार नहीं किया । जिसकी बाल्यावस्था से ही विविध कुसंस्कारों से बुद्धि मलीन की गई है । जो लोकानुसार चलने हारा है । और जिसने "मैं कौन हूँ, आत्मा कौन है, ब्रह्म कौन है, धर्म कौन है, क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये" इत्यादि बातों को पश्चान्त म्यान में बैठकर लिखित्व हों एकाग्र मन से नहीं विचारा है । वैसा आदमी जो कुछ देखता, जो कुछ सुनता, जो कुछ लिपिनिबद्ध पढ़ता, जो कुछ मनुष्यों को करते हुए देखता । वैसा ही अनुकरण करता है वह अपनी बुद्धि से कुछ भी काम नहीं लेता । वैसा पुरुष पशु को भी, पिपीलिका को भी, घास-पात को भी, दृष्ट काष्ठ को भी, स्तम्भ को भी पूजता है । और जो उससे निश्चित अधिक बुद्धिमान् हैं । वह बड़े अभिमान के साथ आदर और उस २ विधि के अनुसार कुल, ग्राम और देशधर्म का अनुष्ठान करता । परन्तु इसको कुल ग्राम और देश धर्म क्या मिललाने हैं—नागपञ्चमी में सर्प भी पूज्य है क्योंकि यह पूजित होने से नहीं काटेगा । इस्तार्क में पञ्चरीट के दर्शन, पूजन, अभिवादन आदि से सुखी होते हैं । गृह के किसी एक कोने में सप्त चतुष्कोण वस्त्र घर के छप्पर में टांगकर कोई मृत कुलदेव पुरुष प्रतिदिन उपासनीय है ग्राम के वहिर्देशस्थ किसी अश्वत्थ वा वट वा उडुम्बर वा वरा वा बेर वृक्ष के ऊपर वह अमुकनामा पुरुष भूत होकर रहता है । वह सब आपात्ति से ग्राम की रक्षा करता है । इस हेतु वह विधिपूर्वक पूज्य है । ब्राह्मणभोजनादिक अनुष्ठान से वह प्रसन्न करने योग्य है अमुक ग्राम में साक्षात् लिङ्गरूप से श्रीमहादेव रहते हैं और वहाँ काली है । वह पशुओं से प्रसन्न होकर घर देती है । उसे द्वाग्धादि बलि देना चाहिये । उस ग्राम में ककाली देवी रुधिर से प्रसन्न होती है इस प्रकार से अति निष्ठुर पेशाच कुलग्राम देशधर्मों को मूढमति अविवेकी पुच्छशृङ्गारहित नरपशु लोग मानते हैं । आश्चर्य की बात है कि ये लोग अपनी बुद्धि के निकट कभी भी नहीं जाते । न उसे चलाते न उसको पूछते हैं और न उससे कोई काम लेते हैं । जो अधिक बुद्धिमान् होते हैं वे सूर्यादिक की शक्ति से विमोहित हो इनको ही ब्रह्म जानते हुए पूजते मानते हैं, किन्तु ये सब ही मूढ, मन्दमति, अविवेकी ही हैं स्वयं उपनिषद् इस विषय को इस अध्याय में दितरलावेगी ॥

अथ प्रथमं ब्राह्मणम् * ॥

दसबालाकिर्हानूचानोगार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं
काश्यं ब्रह्म ते व्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां
वाचि दद्वो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१॥ †

* शतपथ ब्राह्मण चतुर्दशाध्याय के चतुर्थ प्रपाठक से इस आर्यायिका का आरम्भ होता है, शतपथ में माध्यान्दिन शास्त्रानुसार पाठ है और उपनिषद् में काण्व शास्त्रानुसार । परन्तु दोनों में कहीं २ किञ्चित् ही पाठभेद हैं ॥

† यह आर्यायिका कौपीतकि-ब्राह्मणोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में भी आई है पाठ में किञ्चित् भेद है । दोनों आर्यायिकाओं से लोग लाभ उठावें इस हेतु कौपीतकि के पाठ को भी अर्थसहित लिखता जाऊगा “अथ ह वै गार्ग्यो बालाकि-
रनूचानः सम्पष्ट आस सोऽवसदुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदे-
हेध्विति स हाजातशत्रु काश्यमात्रज्योवाच ब्रह्म ते व्रवाणीति ॥ होवाचाजातशत्रुः
सहस्र दद्व इत्येतस्या वाचि जनको जनक इति वा ज जना धावन्तीति ॥ १ ॥”
(अथ+इ+थै) किसी एक समय की बात है कि (गार्ग्यः+गालाकिः) गार्गो-
त्रीय “बालाकि” नामक एक (सम्पष्टः) प्रसिद्ध (अनूचान) वेदपाठी
(आम) हुए (सः) वे बालाकि (उशीनरेषु) “उशीनर” नाम के देश में
(अवसन्) वास करते थे और अपनी कीर्तिस्थापनार्थ वे (मत्स्येषु) “मत्स्य”
नाम के देश में (कुरुपञ्चालेषु) “कुरुपञ्चाल” देश में और (काशिविदेहेषु+
इति) “काशी” देश और “विदेह=मिथिला” देश में भी (सः+वसन्) वास
करते हुए विचरण करते रहे इसी अपनी यात्रा में (सः) वे बालाकि (अजात-
शत्रुम्+काश्यम्+ह) काशी देशाधिप प्रसिद्ध अजातशत्रु नाम के राजा के निकट
(आत्रय) आकर (उवाच) बोले क्या बोले सो आगे कहते हैं—हे अजात-
शत्रु ! यदि आपकी अनुमति हो तो (ते) आप से (ब्रह्म) ब्रह्मविषयक ज्ञान
+ (व्रवाणि+इति) उपदेश करू (न+ह+अजातशत्रु+उवाच) यह वचन सुन
प्रसन्न हो अजातशत्रु उनसे बोले कि (एतस्याम्+वाचि) इस वचन के निमित्त

अनुवाद—(किसी समय और स्थान में) गर्गगोत्रोत्पन्न ' दत्तवालाकि ' नाम के अनूचान (वेदप्रवक्ता) रहते थे वे काशीदेशाधिपति "अजातशत्रु" नाम के राजा से बोले कि यदि आपकी समति हो तो आप को ब्रह्म वतलाऊ तब उस "अजातशत्रु" ने कहा कि इस वचन के निमित्त सहस्र गायें देता हूँ । क्योंकि "जनक जनक" ऐसा कहकर लोग दौड़ रहे हैं ॥ १ ॥

पदार्थ—(ह) यह इतिहाससूचक शब्द है । यहाँ पर एक इतिहास अब कहते हैं । किसी समय और किसी देश में (गार्ग्यः) गर्गगोत्र के (दत्तवालाकि) दत्तवालाकि नामक (अनूचानः) वेदवक्ता (आम) रहते थे (सः+ह) वे (काश्यम्) काशी देशाधिपति (अजातशत्रुम्) अजातशत्रु नाम के राजा से (उवाच) बोले कि (ते) आप से । ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान का वा ब्रह्म की उपासना का (ब्रवाणि+इति) उपदेश करूँ । इस वाणी को सुन (सः+ह) वे प्रसिद्ध (अजातशत्रुः) अजातशत्रु (उवाच) बोले कि (एतस्याम्+याचि) इस वचन के निमित्त (सहस्रम्) एक सहस्र गायें (ददाः) देते हैं क्योंकि (जनकः+जनकः+इति) जगत् में मिथिलादेशाधिप जनक महाराज ही हम लोगों के पिता अर्थात् दाता पालक बोद्धा जिज्ञासु जो कुछ हैं सो जनक ही हैं ऐसा मानकर उनके ही निकट (वे) निश्चय करके (जनाः) सब मनुष्य (धावन्ति) दौड़ रहे हैं (इति) इस हेतु आप को मैं सहस्र गायें देता हूँ कि मेरे निकट भी ब्रह्मवादी लोग आवें मुझे भी ब्रह्मोपदेश का अधिकारी समझें ॥ १ ॥

माध्यम्—दत्तवालाकिरिति । इतिहाससूचको हकारः किलार्थेऽस्य भूयामः प्रयोगाः । तेनात्र प्रसिद्धाऽऽख्यायिका आरभ्यत इति द्योतयति । तथाहि—कदा-

(सहस्रम्+ददाः) एकसहस्र गायें देता हूँ । हे वालाकि ! आश्चर्य की बात है कि यद्यपि मैं ब्रह्मज्ञान के लिये बहुत दान देनेहारा हूँ तथापि मेरे निकट न आकर के (जनकः+जनकः+इति) जनक जनक ऐसा कहकर (वृ+उ) वे प्रसिद्ध जिज्ञासु (धावन्ति+इति) जन के निकट दौड़ते हैं अर्थात् मिथिलेश्वर जनक महाराज ही दाता और ब्रह्मज्ञानी हैं ऐसा मान सब कोई मिथिला देश की ओर दौड़ रहे हैं । मेरे निकट कोई नहीं आये ॥

चित् कस्मिंश्चिद्देशे अनूचान आचार्यं वदन्तमनु पदचाद् ब्रवीति यः सोऽनूचानः ।
 अधीतवेदो वेदप्रश्नेत्यर्थः । यद्वा वेदस्यानुचनं कृतवाननूचानः । “उपेयितान-
 नारवाननूचानरच” ३ । २ । १०६ ॥ इति निपातः । गार्ग्यो गर्गस्य गोत्रापत्यं
 गर्गगोत्रियः । दत्तबालाकिर्दत्तवत्ताकिनामा कोऽपि पुरुषः । आस बभूव ।
 बलाकाश अपत्यं बालाकिः “बाह्यादिभ्यश्च” ४ । १ । ६६ ॥ इतीष् प्रत्ययः
 यद्वा बलारुस्यापत्यं बालाकिः । “अत्त इष्” ४ । १ । ६५ ॥ दसो गर्वितः
 “दृष हर्षमोहनयोः । मोहनं गर्वः” दत्तश्चासौ बालाकिर्दत्तबालाकिः । अत्र
 बालाकिगार्ग्यशब्दौ निन्दाद्योतकौ तथाहि बलाका बरुजातिः तस्या अपत्यम् ।
 विद्वद्भ्यस्यापत्यं न तु मनुष्यस्येति निन्दा । यथा विद्वद्भ्यो ज्ञानं बहुमसमर्थमस्त्ये-
 वायमित्यर्थः । मतो बृथैव गर्वितः । पुनः “पुनश्च कुत्सायां गोत्रमंशेति वा-
 च्यम्” इत्यनेन गार्ग्य इत्यत्र संभवति च कुत्सा । सह बालाकिः कदाचि-
 त्परिभ्राम्यन् काशिदेशाधिपं प्राप । प्राप्य च महं कार्यमजातशत्रु “ब्रह्म ते
 ब्रवाणि” इत्युवाच “काशिदेशस्माधिपतिः कार्यस्तम् । न जात उत्पन्नः
 शत्रुर्यस्येत्यजातशत्रुः” हे अजातरात्रो राजन् ! यदि मम तोऽनुज्ञा स्यात्तर्हि ।
 ते तुभ्यम् । ब्रह्म विज्ञानं ब्रह्मोपासनम्वा अग्रे तथैव दर्शनात् । ब्रवाणि वदानि ।
 इति गार्ग्यवचनं श्रुत्वा । सह प्रसिद्धोऽजातशत्रुस्त्वं बालाकिमुवाच । हे भगवन्
 मुने ! एतस्यां वाचि “ब्रह्म ते ब्रवाणि” इति यदुक्तं भगवता तद्वचननिमित्तम् ।
 न तु ब्रह्मज्ञानोपदेशार्थम् । यतो न ब्रह्मवादी ब्रह्मविज्ञानं विक्रीणाति । सहस्रं
 गवामिति शेषः । गवां सहस्रम् दद्याः सपर्यामस्तुभ्यम् । कथं सहस्रं गवां त्वम-
 श्रुत्वैवोपदेशं मह्यं ददासि ? हे अनूचान ! यतः । सर्वे नै प्रसिद्धा ब्रह्मवादिनो
 जनाः “जनको जनक” इति धावन्ति । इति हेतोः । मिथिलेदरो जनकोनाम
 राज्ञाऽऽस्माकं जनकः पिता दाता पालको वोदेति मत्या यस्मात्कारणात् ज-
 नकं प्रति जना धावन्ति । हे बालाके ! अहमपि दातास्मि ब्रह्मजिज्ञासुरास्मि
 आदरयितास्मि । तथापि मम सन्निधिं कोऽपि नागच्छति । मयानेनैकाकी कु-
 तोऽपि समायातः । ब्रह्मचोपदेष्टुं मयं कथयसि । अत ईदृशे भगवते वचननि-
 मित्तमेव गवां सहस्रं ददामि यदा तु ब्रह्म विज्ञापयिष्यसि तदाहन्तु एभी
 राश्वोपकरणैः सार्धं दासो गविष्यामीति धन्यते ॥ १० ॥

भाष्याशय—कौपीतिके ब्राह्मणोपनिषद् में केवल “बालाकि” पद है “हम्” नहीं बलाक वा बलाक के पुत्र को “बालाकि” कहते हैं इनके माता पिता के नाम बलाका और बलाक थे । यहां प्रतीत होता है कि निन्दार्थ में इसका प्रयोग हुआ है । क्योंकि “बलाक” वक (बगुला) पक्षी का नाम है यह एक पक्षी का पुत्र है मनुष्य का नहीं ऐसी निन्दा सूचित होती है वह पक्षी कुटिलगति प्रसिद्ध है आज भी वक्रवृत्ति, बगुलाभक्ति आदि शब्द निन्दा में आते हैं वैसे ही यह भी है यह ध्वनि निकलती है और त्रिकाल में भी पक्षी ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकता सदात् केवल इनका ब्रह्मज्ञान का आहम्बरमात्र है यथार्थ में ब्रह्मज्ञानी नहीं । हम्=गर्वित अहंकारी । मेरे समान ब्रह्मज्ञानी कोई नहीं है इस अभिप्राय से यह विविध देश में भ्रमण कर रहे थे । इस हेतु ‘हम्’ कहा है एक राजा से पराजय और पीछे, उनसे विधा सीसना आदि दिसलाया गया है । अनूचान=अनु उचान दो पद हैं । आचार्य के अनु=पीछे २ जो बोले उसे “अनूचान” कहते हैं । किन्हीं की सम्मति है कि पूर्व समय में अध्यापन की विधि यह थी कि प्रथम आचार्य एक २ पद को बोलते जाते थे और उनके चुप हो जाने पर पीछे २ सब शिष्य उसी पद को पुनः बोला करते थे । इसी हेतु “अनूचान” नाम विद्यार्थी का था । पश्चात् धीरे २ वेदवक्ता अर्थ में प्रयुक्त होने लगा । परन्तु पाणिनिव्याकरण के अनुसार जो अनुवचन अनुपठन (पीछे २ पढ़ना) कर चुका है उसे अनूचान कहना चाहिये । भूतार्थ में प्रत्यय हो सकता है अर्थात् जो वेद का अनुवचन वर्तमान में नहीं कर रहा है किन्तु कर चुका है अनुवचन का अर्थ “पश्चात् वचन” ही है । अनुवाक आदि शब्द भी यही भाव दिसलाते हैं । “न हायनैर्न पलितैर्न विचेन न बन्धुभिः । ऋषयश्चक्रे चर्म योऽनूचानः स नो महान्” यह श्लोक संस्कारविधि वेदारम्भ प्रकरण में श्रीस्वामीजी ने लिखा है । “अनूचान” को धर्म-निर्णायकों में श्रेष्ठ माना है । गार्ग्य=अति प्राचीनकाल में अति प्रसिद्ध एक गुरु अपि हुए हैं उनके नाम से वरापरम्परा चली है यहा गार्ग्य नाम भी निन्दार्थ में आया है । “सहस्रम्” ऐसे स्थलों में “गो” शब्द शेष रहता है । पूर्वकाल में दानार्थ गायें बहुत दी जाती थीं । अतः सहस्र गाय अर्थ किया जाता सहस्र सिके रुपये आदिक नहीं । एतस्मां वाचि=इस वचन के निमित्त । आप जो मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश देंगे उसकी दक्षिणा में मैं सहस्र गौ नहीं देता हूं, किन्तु आपने

आका जो मुक्त से कहा कि तुमको ब्रह्मज्ञान का उपदेश दूंगा इनने वचन के लिये ही भी गोदान है, क्योंकि ब्रह्मिन् लोग अपनी ब्रह्मविद्या को नहीं बेचते हैं ऐसा मैं जानता हूँ, जनकः=उस समय मिथिलादेश के राज्य के जो २ अधिकारी होते थे उन्हें जनक की पदवी मिलती थी। ये जनक प्रायः बड़े ज्ञानी ध्यानी उदार दाता होते थे इस हेतु प्रायः विद्वान् लोग उसी राजा के निकट जाया करने थे। अजातशत्रु ने इस अद्भुत व्यापार को देख अपने यह भी व्यवस्था पांथी कि जो ब्रह्मज्ञानी मेरे निकट आवेंगे उन्हें मैं पूर्ण दान दूंगा। परन्तु तब भी इस राजा के निकट लोग नहीं आते थे। अकस्मात् “हस्तनालाफि” वहाँ पहुँच गये। इस हेतु अजातशत्रु कहते हैं कि मुक्त ऐसे दानी को छोड़कर जनक जनक कहकर क्यों लोग मिथिला को दौड़ रहे हैं, जनक-इस शब्द का अर्थ वास्तव में “उत्पादक पिता है” “जनक जनक” दो बार कथन से यह अभिप्राय है कि इसको केवल जनक ऐसी पदवी मात्र ही नहीं है किन्तु यथार्थ में पिता पुत्र का सम्बन्ध भी प्रजा के साथ रहता है और जैसे पिता निज पुत्र के अध्ययन के लिये पूर्ण प्रयत्न करता है और जब पढ़ करके पुत्र गृह पर आता है उसकी विद्या की परीक्षा करके यथोचित सत्कार भी करना है इसी प्रकार यह राजा विद्याध्ययन में सहायक भी होता और ब्रह्मज्ञानी से विद्या सुनकर उनका पुरस्कार भी करता है। यद्यपि यह राजा प्रतिदिन नवीन नवीन विद्या का जनक आविष्कर्ता है, क्योंकि इसकी बुद्धि या प्रतिभा ऐसी तीक्ष्ण है कि यह प्रतिदिन कुछ न कुछ नवीन ही बात सोचता विचारता है। इस आशय को दिखलाने को जनक जनक दो बार शब्द आया है। यदि यह कहो कि अजातशत्रु तो ईर्ष्यावश होकर निन्दार्थ में “जनक जनक” कहता है फिर आप स्तुत्यर्थ में जनक शब्द क्यों लेते हैं। उत्तर-“अजातशत्रु” यह नाम ही सूचित करता है कि इसके हृदय में शत्रुता का गन्ध भी नहीं है इस हेतु लोकोक्ति को ही इसने अनुवाद किया है। इति ॥ १ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं
 ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादिषा
 अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धा राजेति वा अहमेतमुपास

इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति * ॥ २ ॥

अनुवाद—वे गार्ग्य बोले कि आदित्य मे ही जो यह पुरुष है इसी को मैं ब्रह्म (मानकर) उपासता हूँ (वह वचन सुन) उस अजातशत्रु ने कहा कि

* त होवाच बालाकियं एवैप आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मैतस्मिन् संवादयिष्ठा वृहत्पाण्डुरासा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति ॥ ३ ॥ कौ० प्रा० अ० ४ ॥ अर्थ—(सः+ह+बालाकिः) वह बालाकि (उवाच) बोले कि हे राजन् अजातशत्रो ! (य+एव) जो ही (एव) यह (आदित्ये) सूर्य मे (पुरुषः) पुरुष=शक्ति है (तम्+एव) वही सूर्यपुरुष को, अन्यको नहीं (अहम्+उपासे) मैं उपासता हूँ (इति) बालाकि के इस वचन को, सुनकर (अजातशत्रुः+तम्+ह+उवाच) अजातशत्रु उससे बोले कि (एतस्मिन्) सूर्यपुरुष के निमित्त (मा+मा) नहीं २ (संवादयिष्ठाः) सम्वाद=विचार करवाओ । यह सूर्यपुरुष ब्रह्मन् उपास्य है या नहीं इस विषय मे शास्त्रार्थ मत करवाओ, क्योंकि आपको मैंने गुरु माना है । मैं आपका शिष्य हूँ परन्तु यह सूर्यपुरुष उपास्य नहीं है । हे राजन्! हो सकता है कि आप इसको जानते हों परन्तु इसके गुण और उपासना के फल को न जानते हो अतः इसकी उपासना कीजिये । इस आशङ्का के ऊपर राजा सूर्य के गुण और उपासना-फल आगे दिखलाते हैं—हे बालाके ! (वृहन्) यह सूर्य बहुत बड़ा है अर्थात् इस पृथिव्यादि मे कहीं बढकर है और (पाण्डुरासा.) मानो शुक्लवस्त्रधारी है । पुनः (अतिष्ठाः) अपने तेज से सबों को अतिक्रमण करके वर्तमान है । पुनः (सर्वेषाम्+भूतानाम्+मूर्धा) सब प्राणियों का मस्तक है । ऐसा मानकर (अहम्) मैं अजातशत्रु (वे) निश्चिन्नरूप से (एतम्) इस सूर्यपुरुष के (उपासे) गुणों का अध्ययन करता हूँ (इति) (सः+यः+ह) सो जो कोई (एतम्+एवम्) इस सूर्य पुरुष को ऐसा ही जानकर, न कि ब्रह्म जानकर (उपास्ते) उपासता है वह भी (अतिष्ठाः) अपने गुणों से सब का अतिक्रमण करने वाला होता है और (सर्वेषाम्+भूतानाम्+मूर्धा+भवति) सब प्राणियों का मूर्धा होता है ॥ ३ ॥

नहीं २ इसमें ब्रह्ममंशद् मत कीजिये । यद्वा इसके निमित्त सगद् मत कीजिये । यह ब्रह्म नहीं है । यह अतिक्रमण करनेवाले सन भूतों का मूर्धा और राजा है ऐसा मान निश्चय मैं इसकी उपासना करता हूँ । सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासना करता है वह अतिक्रमणशाली सन भूतों का मूर्धा तथा राजा होता है ॥२॥

पदार्थ—(सः+ह्+गार्ग्य+उवाच) वह प्रसिद्ध गार्ग्यश्रोतृपुत्र दृष्टवाला कि बोले (आदित्ये+एष) सूर्य में ही (यः+असौ+पुरयः) जो यह पुरुष 'शक्ति' है (एतम्+एत) इसी को (अहम्) मैं (ब्रह्म+उपासे+इति) ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ । इतना वचन सुन (सः+ह्+अजातशत्रुः) वो अजातशत्रु (उवाच) बोले हे अनुचान ! ऐसा मत कहिये (एतस्मिन्) इस आदित्यपुरुष के निमित्त (मा+मा+मवदिष्ठा) ब्रह्मसगद्=ब्रह्मचर्चा मत कीजिये यह ब्रह्म है या नहीं और यह ब्रह्मवत् उपास्य है या नहीं इत्यादि विषयक अभी शास्त्र्य मत कीजिये । परन्तु न यह आदित्य ही ब्रह्म है और न आदित्यगत शक्ति ही ब्रह्म है । तब यह क्या है और इसकी उपासना का क्या फल है ? जानते हों तो आप ही कहिये जिससे मुझे ज्ञात हो कि आप तत्त्ववित् हैं । इस अभिप्राय से आगे राजा बहते हैं— (अतिष्ठाः) यह आदित्य अपने तेज ने सन भूतों को अतिक्रमण करके रहता है और (सर्वेषाम्+भूतानाम्+मूर्धा) सन भूतों का यह मूर्धा है । और (राजा+इति) सब में यह प्रकाशवान् है ऐसा मानकर (वे) निश्चितरूप से (अहम्) मैं (एतम्) इस आदित्यगतशक्तिविशेष को (उपासे+इति) उपासता हूँ (स+य) सो जा कोई (एतम्) इसको (एषम्) ऐसा ही जान (उपास्ते) उपासना करता है वह (अविष्ठा) सन को अतिक्रमण करके स्थित रहता है और (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब भूतों के मध्य (मूर्धा) श्रेष्ठ तथा (राजा+भयति) राजा होता है * ॥ २ ॥

* इसी प्रकार का सम्वाद और उपासना की चर्चा छान्दोग्योपनिषद् पञ्चम प्रपाठक के एकादश खण्ड से आरम्भ हुई है । प्राचीनशाल, औपमन्यव प्रभृति छान्दोग्य विद्वान् वैश्व अथपति के निरुक्त वैद्यानर सम्प्रन्धी विद्या के विषय में शिक्षा प्रहण करने के लिये गये हैं राजा ने एक २ से उपास्यदेव की जिज्ञासा की है यथा—
“अथ होवाच—सत्ययज्ञं पौत्रुषिम् । प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपासत इत्या-

भाष्यम्—ब्रह्मप्रवचनार्थं यद्यपि राज्ञः साक्षादनुभूतिर्नोपलभ्यते । तथापि सहस्रगोदानप्रतिज्ञया ब्रह्मश्रवणे सम्राडतिशयित उत्कण्ठितोऽस्तीति प्रतीयते अतोऽनूचानो बालाकिर्नृपस्योन्मुक्ततामवधार्य स्वायप्रतिज्ञातविषयमारभते । अस्मिन् जगति सर्वप्राधान्यात् परमार्तजसत्वात् सर्वप्रथमाखिलजनमानसाऽऽकर्षकत्वात् सूर्यशक्रयुपासना दर्शयति । तथाहि-स इ प्रसिद्धः किल गार्ग्यो गर्गा-न्वयो बालाकिः राजानं प्रति वक्ष्यमाणं वचनमुवाच । हे सम्राट् ! आदित्ये भास्करे । य एवामौ प्रत्यक्षीभूतः पुरुषोऽस्ति न सूर्यपुरुषान्यः । अहम् । एत-मेव पुरुषम् सूर्यस्यमेव पुरुषम् । ब्रह्म ब्रह्मेति मत्वा उपासे भावयामि । इति । पुरुषः शक्तिविशेषः पुरि शरीरे शेत इति पुरुषः । सा च शक्तिर्न सूर्याद् वि-भिन्ना शक्तिशक्तिमतेरभेदान्वात् । तेन सूर्यमुपास इति प्रतिफलति । तृतीये ब्राह्मणे तपैव वक्ष्यमाणत्वात् । यद्वा यथा सर्वस्मिन् वस्तुनि ब्रह्माख्यः पुरु-

दित्यमेव भगवोराजमिति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरोऽयं त्वमात्मान-मुपास्ते । तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥” अनुवाद—अनन्तर वे प्रसिद्ध राजा पौलुपि सत्ययज्ञ नाम विद्वान् से बोले कि हे प्राचीनयोग्य ! आप किलक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं यद्वा किस शक्ति वा आत्मा का अध्य-यन करते हैं । उन्होंने उत्तर दिया कि हे ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! मैं आदित्य का ही अध्ययन करता हूँ (राजा) निश्चय यह वैश्वानर सन्बन्धी विश्वरूप नामक अंश समान अंश वा शक्ति है जिस अंश का आप अध्ययन कर रहे हैं । इस कारण आपके कुल में बहुत विश्वरूप होमोपकरण दीर्घ पड़ते हैं ॥ १ ॥ प्रवृत्तोऽश्चतरी-रथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यामि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रिय भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेव नात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । चक्षुष्वेन दाग्न्येन इति होवाचान्वयोऽ-भविष्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥ अनुवाद—(इसी कारण) आप के निकट अन्नतरीयुक्त रथ और दासीसहितमाला विद्यमान हैं और भोग्य भोगते हैं, प्रिय देखते हैं । सो जो कोई वैश्वानर सन्बन्धी इसी अंश वा शक्तिस्वरूप का अध्ययन करता है वह भी भोग्य भोगता है, प्रिय देखता है, इसके कुल में ब्रह्मतेज होता है । परन्तु यह व्यापक वैश्वानर का नेत्र समान है । इतना वह वे फिर बोले कि यदि मेरे निकट आप न आते तो आप अन्धे हो जाते ॥ २ ॥

पोऽनुगतोऽस्मि । तथैव । अमुष्मिन्नादित्येऽपि स एव पुरुषोऽन्यायकोऽस्ति । एत-
 मेव पुरुषं ब्रह्मेति मत्तोपास इत्याशयोऽपि ध्वन्यते । यतोऽहं ब्रह्मणादी एतमेव-
 पुरुषं ब्रह्म विजानामि । अतस्त्वमपि एतद्ब्रह्म विजानीहि छात्वां पास्व च ।
 इति तस्य वचनं श्रुत्वा हस्तेन निवारयन् सहाजातशत्रुर्याच मा मा न न ।
 हे बालाकं ! नेदं ब्रह्मास्ति । यत्तद्वृषादिशामि । हे अनूचान ! एतस्मिन् सूर्य
 पुरुषे मा मा न न सवदिष्टाः ब्रह्मसंवादं मा कार्षीः यद्वा एतस्मिन्नेतन्निमित्तम् ।
 मा मा संवदिष्टाः । सम्वादं मा कुरु । अयं सूर्यपुरुषो ब्रह्मास्ति न वा तत्राप्यु-
 पास्योऽस्ति न वा । इत्यादि सम्वादं शास्त्रविचारं मया सार्धं मा कार्षीः ।
 यतस्त्वमधुना गुरुरसि । अहं तव शिष्यो भूत्वा श्रोतास्मि । अतो विचाराव-
 काशं मा दाः । ब्रह्मत्वेन नायमुपास्योऽस्तीति निश्चयः । नासायादित्यो न च
 तत्तस्या शक्तिर्ब्रह्मास्ति । अतोऽमुष्मिन् यः पुरुषोऽस्ति तदेव ब्रह्मास्तीति तमेवो-
 पास्वेत्पादि मावद् मानद् इताऽधिकं यदि त्वं जानासि तर्हि तत्त्वं मद्यं ब्रूहीति
 मायः । मामेति द्विर्वचनं सर्वतोभावेन सूर्यादिदृश्यपदार्थानां ब्रह्मत्वं विनिवार-
 यति । यदि त्वमेतं जानासि राजन् ! तर्हि कोऽयमस्ति । उपासनफलञ्च
 किमिति वदेत्यभिप्रायमत्रलोक्य राजा पुनः कथयति हे अनूचान ! असावा-
 दित्यः । अतिष्ठाः सर्वेऽपि भूतानि अतीत्य अतिक्रम्य तिष्ठति यः सोऽतिष्ठाः
 चास्यादिनिखिलदेवानतीत्यायं वर्तते इति । पुनः सर्वेषां भूतानां मूर्ध्नास्ति ।
 कुतः । उपरिस्थितत्वात् । यद्वा यथा मूर्ध्ना स्वस्वशरीरस्य प्रकाशो दृश्यते ।
 तथैराऽऽदित्येन सर्वेषां प्रकाश इत्यभिप्रायेण मूर्ध्नेति विशेषणम् । अत एव स
 राजाम्नि राजतं दीप्यते प्रकाशत इति राजा । हे अनूचान ! अहं एतमादि-
 त्यम् । “अतिष्ठाः, सर्वेऽपि भूतानां मूर्ध्ना, राजा” च मत्वा । उपासे विचार-
 यामि । किन्त्वहं । नेदं ब्रह्म वदिष्यामि । न च ब्रह्मत्वेनोपासे । उपासनफलञ्च
 ब्रवीमि । तच्छृणु स यः कश्चित्तत्त्वविद् । एतमादित्यगतं पुरुषम् । एवं
 पूर्वोक्तविशेषणत्रयसहितम् । विदित्वा उपास्ते । सोऽपि । अतिष्ठाः सर्वान्
 वधून्, स्वजातीन् सुहृदादीन्, सर्वेऽपि भूतानि च अतीत्य तिष्ठति । पुनः
 सर्वेषां भूतानां मध्ये मूर्ध्ना श्रेष्ठो भवति । पुनः सर्वेषां भूतानां मध्ये स राजापि
 भवति । इत्युपासनस्य फलमस्ति । यद्यत्र काऽपि मम विज्ञाने न्यूनतास्ति तर्हि
 ममयान् ब्रवीतु । यदि चेदमेव तत्त्वम् । तर्हिदमेव स्वीकरीष्यति ममवानपि अतो

ब्रह्मबुध्याऽनुपास्यताऽस्य सिध्यति । अतो “ब्रह्म ते ब्रवाण्यति” प्रतिज्ञा न पूर्तिमगमत् । अतो यदि न्वं ब्रह्म विजानासि तर्हि तदुपादिश ब्रह्म इत्याशयः । अग्रेऽप्येवमेव विज्ञातव्यम् । ये केचन बालबुद्धयोऽज्ञातमूर्धगुणा जडमतयः “अयं सुप्रमत्तो भूत्वाऽभीष्टं प्रयच्छति उपासकस्य गृहं गृहं पूजां ब्रवीतुं सौम्यगूर्तिर्मनुष्ठाकृतिर्भूत्वाऽऽगच्छतीति उपस्थानजलप्रदानाद्युपचारैर्गादिन्य चेतनं मत्वा पूजयन्ति । ते न ब्रह्मविदः । तथा नायं सूर्यः कदापि ब्रह्मदुपासनीय इति शिष्यते ॥ २ ॥

भाष्याशय—यद्यपि ब्रह्मविषय में उपदेश के लिये राजा की मात्ता अनुमति नहीं पाई जाती है । तथापि “तुम्हको मैं ब्रह्म का उपदेश करूँगा” कथल इतने वचन के लिये राजा की सहस्र गोदान की प्रतिज्ञा से प्रतीत होता है कि राजा ब्रह्मज्ञानश्रवणार्थ अतिशय उत्सुक है । अतः अनुचान बालाकि ने नृप की उत्सुकता निर्धारितकर स्वकीय प्रतिज्ञात विषय का आरम्भ करते हैं और इस जगत् में सूर्य ही सर्वप्रधान, परमतेजस, सर्व प्रथम सबो के मानस के आकर्षण करनेवाला है इस हेतु सूर्यशक्ति की उपासना दियलाते हैं । पुरुष=शक्तिविशेष का नाम यहा पुरुष है । सूर्य में जो शक्ति है वह सूर्य से भिन्न नहीं । क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् यथार्थ में एक ही वस्तु है । आगे तृतीय ब्राह्मण में दियलाया जायगा कि पुरुष नाम शक्ति का है । अतः इस वाक्य का यह अर्थ फलित होता है कि सूर्य की उपासना मैं ब्रह्मवादी होकर करता हूँ । सो तुम भी इसकी उपासना करो । परन्तु यह सिद्धान्तविरुद्ध बात है अतः आगे राजा ने “मा मा एतस्मिन् संवदिष्टाः” इस वाक्य से सूर्य का वा सूर्य की शक्ति का ब्रह्म होने से निषेध किया है अर्थात् (एतस्मिन्) यह निमित्त में सप्तमी है और ‘संवदिष्टाः’ का अर्थ सन्नाद विचार करना है । अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्म है या नहीं और ब्रह्मवत् उपासनीय है या नहीं इत्यादि विषय के निमित्त अभी मेरे साथ शास्त्रार्थ मत करें क्योंकि इस समय आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका शिष्य हूँ । इस हेतु तुम्हको विचार करने का अवकाश मत दीजिये । परन्तु यह ब्रह्मवत् उपास्य नहीं है इसमें सन्देह नहीं । न यह आदित्य ही ब्रह्म है और न इसरी शक्ति ही ब्रह्म है अतः इस आदित्य में जो पुरुष है वही ब्रह्म है उसी को ब्रह्म मान के उपासना

करो इत्यादि विषय मत कहिये इसमें अधिक यदि आप जानते हैं तो उसी का उपदेश मुझे कीजिये ।

मा मा, दो बार इस अभिप्राय से कहा है कि सूर्यादि जब पदार्थों में कदापि भी ब्रह्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये । अतिष्ठाः=“अति+स्था” अथ राजा सूर्य के गुण कहते हैं—सूर्य के ही तेज से सब पदार्थ तेजस्वी हो रहा है इससे बढ़कर कोई भी अन्य वायु आदि नहीं है । इस हेतु सब वायु आदि पदार्थों को लापकर वर्तता है । अतः यह आदित्य “अतिष्ठाः” कहलाता है “सर्वेषां भूतानां मूर्धा” जैसे सब प्राणियों का प्रसार अपने मस्तक से होता है । अर्थात् मकल ज्ञान के प्रवाह का स्थान मस्तक है । मस्तक के ही गिरावने से मनुष्य जन्मन्त (पागल) हो जाता है मस्तक के ठीक रहने से आदमी आदमी कहलाता है । तद्वत् यदि इस जगत् में सूर्य न होवे तो इसकी व्यवस्था कदापि ठीक नहीं रह सकती । पृथिवी वायु अन्न आदि सब ही नष्ट होजायें । सूर्य ही अपनी आकर्षणशक्ति से और प्रकाश देकर इस सौर जगत् को धारण रिये हुए है । इस हेतु यह सूर्य मूर्धा कहा गया है । अथवा प्राणियों का जो यह मूर्धा बना हुआ है इसका कारण सूर्य ही है । अतएव (राजा) इस जगत् का यथार्थ में यही राजा बनाया गया है परन्तु हे बलाके ! इतने गुण रहने पर भी यह ब्रह्म नहीं हो सकता । ऐसे स्त्रियों अनन्तों सूर्यों को जिसने रचा है वही ब्रह्म उपास्य है । यह सूर्य जड़ पदार्थ है । चेतन पदार्थों को लाभ पहुँचाने के लिये भगवान् ने इसको रचा है । फल—इसमें सन्देह नहीं कि जो विज्ञानी सूर्य के गुणों को जानेगा वह अवश्य इस जगत् में तेजस्वी होगा, देखो आजकल पारचात्य विद्वान् इन पदार्थों के गुणों को जानकर कैसे २ महान् होते जाँ हैं, वैसी २ अद्भुत नियाए आविष्कृत हुई हैं, कैसे २ इन्होंने पदार्थविद्या में प्रवेश लाभ लिया । हे भारतवासियो ! तुम भी इसको जड़ मान् इसके गुणों का अध्ययन करो । ईश्वर मानकर इसे कदापि मत पूजो । इस सवाद से यह फलित हुआ कि जो बालबुद्धि जड़मति हैं, जिन्होंने सूर्य के गुणों को नहीं जाना है वे समझते हैं कि यह सूर्य प्रसन्न हो मनुष्यों को अभीष्ट घर देता उपासक के घर घर में पूजा प्रदण के लिये अच्छी मूर्ति और मनुष्य की आहृति बनाकर आता है इस कारण उपस्थान और जलादि प्रदान से आदित्य को एक

चेतन पदार्थ मान पूजते हैं वे अज्ञानी और मन्दमति हैं । यह सूर्य कदापि ब्रह्मण् पूज्य नहीं ॥ २ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्टा
घृहत्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स
य एतमेवमुपास्ते ह॒हर्ह सुतः प्रसुतो भवति नाभ्यान्नं
क्षीयते ॥ ३ ॥

अनुवाद—उस प्रसिद्ध गार्ग्य ने कहा कि चन्द्र में ही जो यह पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म (मानकर) उपासता हूँ । (इतना बचन सुन) उस अजातशत्रु ने कहा कि न न इसके निमित्त आप ब्रह्मसम्वाद न करें वा न करवायें । यह बृहत्-चेत-वस्त्रधारी सोम और राजा है ऐसा मान मैं इसकी उपासना करता हूँ और सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासना करता है उसको प्रतिदिन सोमाख्य-जला सुख प्रसुत होती है और इसके गृह में अन्न की क्षीणता नहीं होती ॥ ३ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे गार्ग्य (उवाच) बोले कि हे राजन् ! (चन्द्रे) चन्द्रमा में (एव) ही (यः+असौ+पुरुषः) जो यह पुरुष अर्थात् शक्ति है (एतम्+एव) इसी को (अहम्) मैं (ब्रह्म+उपासे+इति) ब्रह्म मानकर उपासता

॥ स होवाच बालाकिर्य एवंप चन्द्रमसि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं
होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा (सोमो राजा) अन्नस्यात्मेति वा
अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति ॥ ४ ॥ कौ० ब्रा०
अध्याय ४ ॥ अर्थ—उस बालाकि ने कहा कि जो चन्द्रमा में शक्ति है उसी की
उपासना मैं करता हूँ । यह सुन राजा अजातशत्रु ने कहा कि न न । इसके निमित्त
विचार मत करवाओ । यह ब्रह्म नहीं है । यह चन्द्र (अन्नस्य आत्मा) अन्न का
जीवनप्रद है ऐसा ही मानकर मैं इसके गुण का अध्ययन करता हूँ और जो
कोई इसको ऐसा ही जानकर उपासता है वह भी अन्न का आत्मा, उत्पन्न करने
वाला होता है ॥ ४ ॥

ह इमं वचनं को सुन (स + ह + अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु सम्राट् बोले कि (एतस्मिन्) इस चन्द्रपुरुष के निमित्त (मा + मा + सम्बदिष्टाः) मत सम्बन्ध धीर्ये अर्थात् यह चन्द्रपुरुष ब्रह्म है या नहीं ऐसा यह उपास्य है या नहीं ऐसा विना मत करो और बरखाओ । यह ब्रह्म नहीं है इसमें अशुभात् भी सन्देह नहीं । अर्थात् न तो यह चन्द्रमा और न चन्द्रगत शक्ति ब्रह्म है । यह तो (बृहत्पाण्डुरधाम्ना) ब्रह्म श्वेत वस्त्रधारी है । और (सोम०) सोम है और (राजा) दीव्यमान है (इति) ऐसा मान (वै) निश्चितरूप से (एतम्) इस चन्द्रगत-पुरुष की (उपामेन इति) उपासना करता हूँ । आगे फल कहते हैं—(स + य०) सो जो कोई तत्त्वविद् पुरुष (एतम्) इसको (एवम्) वैसा मान (उपास्ते) उपासता है उसके गृह में (ह) निश्चितरूप से (अह + अह०) प्रतिदिन लतानिः-सृत सोमरस सरा (सुत + प्रसुत०) सुन और प्रसुत (भवति) होता है और (अम्य) इस उपासक का (अन्नम्) राद्य पदार्थ (न + क्षीयते) क्षीय नहीं होता ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सूर्याग्न्यनश्चन्द्रोऽस्ति । यथाऽऽदित्यो दिनस्याधिपतिस्तथैव चन्द्रो रात्र्याः । बालबुद्धीनामविदितचन्द्रगुणानां पुरुषाणां मनासि द्वितीय-श्चन्द्र एवाऽऽकल्पति । अनो बालाकिश्चन्द्र उपास्यगुर्द्धि स्थापयति । राजा तु खण्डयति । इत्थं नायं चन्द्रो ब्रह्ममत्योपासनीय इति सम्रादप्रमर्शेन विस्फोटयति । तथाहि—आदित्यस्थिते पुरुषे राजा निराकृते सति उपासनान्तरं नृपाय ब्रते गार्ग्यः । तथाहि—स ह गार्ग्यो राजानं प्रत्युवाच । हे सम्राट् ! च द्रे चन्द्रमसि । य एवामो पुरुषः शक्तिविशेषोऽस्ति । अहम् एतमेव चन्द्रे विद्यमानं पुरुषमेव नान्यम् । ब्रह्म त्रिदित्वा उपासे, इति । इदमेव ब्रह्म विजानामि । त्वमपि एतमेव पुरुषं ब्रह्म ज्ञात्वोपास्येति मावः । अजातशत्रुस्तु राजा वचनं श्रुत्वा पूर्ववद्वस्तेन निवास्यन् । उवाच—मा मा एव मा वद, एवं मा वद । एतस्मिन् चन्द्रपुरुषे चन्द्रपुरुषनिमित्त मा मा सम्बदिष्टाः सम्रादधिष्टाः । नायं चन्द्रो वा तस्यः पुरुषो वा ब्रह्मास्ति । तर्हि कोऽयमास्ति किंवाऽस्योपासनस्य फलमिति त्वमेव वदेत्याशयं विदित्वाऽजातशत्रुर्ब्रवीति । अयं चन्द्रः बृहत्पाण्डुरधाम्नाऽनृद्धमहत् पाण्डुर श्वेतवामो धर्म्म यस्य स बृहत्पाण्डुरवासाः । यथा पुरुषो वस्त्रेण वेष्टितो भवति तथैव धर्मकिरणैरेव श्वेतैर्वस्त्रैः स चन्द्र आवेष्टितोऽस्ति ।

पुना सोमः । पुना राजा राजते दीप्यते च, इति । एतैर्विशेषणैः समन्वित-
मेतं चन्द्रं मत्वाहमप्युपासे न तु ब्रह्ममत्वेति भावः । उपामनाफलं निर्वक्ति । स
यस्तत्त्ववित्पुरुषः । एत चन्द्रं एवं ज्ञात्वा उपास्ते । तस्योपासकस्य । अहरहः
प्रतिदिनं । इ निश्चयेन लताख्यः सोमः सुतः प्रसुतश्च भवति । तथाऽस्य
अन्नं न क्षीयते न क्षीयं भवति । हे अनूचान' इदं शरचन्द्रोऽस्ति । इदं आस्यो-
पासनं फलमस्ति । अतो भगवान् यदीमं ब्रह्म ब्रवीति तन्न समीचीनं नाहञ्च
कदापि एतद् ब्रह्म वदिष्यामि अतः परं यदि ब्रह्म भगवान् जानाति तर्हि
तदेव ब्रवीतु मद्यम् । चन्द्रं चेतनं मत्वा ये केचनोपासते तेऽनभिज्ञा बाला इति
शिक्षते ॥ ३ ॥

भाष्याशय—इमं जगत् में सूर्य से न्यून चन्द्र ही दीयता है, क्योंकि जैसे
सूर्य दिन का अभिषिक्त है, धेने ही चन्द्रमा रात्रि का । सूर्य के अनन्तर चन्द्रमा ही
बालबुद्धि और अविदितचन्द्रगुण पुरुषों के मन को आकृष्ट करता है । इस हेतु
अज्ञानियों को चन्द्र में ब्रह्मन् पूज्यबुद्धि होजाती है । इस हेतु बालाकि वो चन्द्रमा
में उपास्यबुद्धि स्थापित करता है और अज्ञातशत्रु उमरा खण्डन करता है । इस
प्रकार यह चन्द्रमा ब्रह्मबुद्ध्या उपामनीय नहीं है, यह विषय इस संवादरूप प्रमत्त
से विस्मृत होता है । अतः चन्द्र को चेतन मान जो उपासना करते हैं वे अज्ञ
और बालक ही हैं । यह शिक्षा ऋषि देते हैं ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्टास्ते-
जस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी
ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति * ॥ ४ ॥

* स होवाच बालाकिर्य एवैष विद्युति पुरुषस्तमेवाहं ब्रह्म इति तं होवा-
चाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादविष्टाः सत्य(तेज)स्यात्मेति वा अहमेत-
मुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते सत्य(तेज)स्यान्मा भवति ॥ ५ ॥ कौ०
प्रा० अ० ४ ॥ अर्थ—उस बालाकि ने कहा कि विद्युत् में जो ही यह पुरुष है ।
उसी की उपासना मैं करता हूँ, इस वचन को सुन राजा अज्ञातशत्रु ने कहा कि

अनुवाद—ये प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि विद्युत् में ही जो यह पुरुष है इसी को ब्रह्म मान में उपासता हूँ, तब वे अजातशत्रु बोले नहीं नहीं ऐसा नहीं कहिये । इसमें ब्रह्म का सम्वाद मत कीजिये । हाँ इसको “तेजस्वी” ऐसा मानकर मैं भी इसकी उपासना करता हूँ । और सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासता है वह निश्चय तेजस्वी होता है और इसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्य.) ये प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट् ! (विद्युति) विद्युत् में (एव) ही (यः) जो (अमौ) यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है (एतम्+एष) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूँ । आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें । इतना प्रचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) ये अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा+मा) नहीं २ ऐसा मत कहें, ऐसा मत कहें (मा+एतस्मिन्+सन्निदिष्टाः) इस विद्युद्गत पुरुष में ब्रह्मसंवाद मुझ से मत कहें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं । तो यह क्या है ? सो तुम ही कहो ऐसा समझ अजातशत्रु पुनः कहते हैं—(तेजस्वी+इति) यह एक तेजस्वी तेजोयुक्त पदार्थ है और (ये) निश्चित रूप से (एनम्) इसको तेजस्वी मान (उपासे+इति) उपासता हूँ । अब आगे फल कहते हैं—(सः+यः) सो जो कोई तत्त्वविद् उपासक (एतम्+एवम्) इस पुरुष को ऐसा जान (उपास्ते) उपासना करते हैं वह (तेजस्वी+ह+भवति) तेजस्वी होता है और (अस्य+ह) इस उपासक की (प्रजा) सन्तति (तेजस्विनी+भवति) तेजस्विनी होती है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—चन्द्रस्थे पुरुषे उपास्यत्वेन मत्याख्याने सति अन्यद् ब्रह्म प्रदर्शयितुं यतते गार्ग्यः । तथाहि—हे सम्राट् ! विद्युति=विद्योतते या सा विद्यु-
श्चपत्ता तस्याम् । य एवासी पुरुषोऽस्ति । एतमेव पुरुषं विद्युति धर्तमानम् ।
अक्ष ब्रह्मेति मत्या । अहमुपास इति । त्वमपि हे राजन् ! तथैव कुरु । पूर्ववादिदं
वचनं श्रुत्वा सहाजातशत्रुरुवाच मा मा एतस्मिन् संवादिष्टाः । विद्युति योज्यं

न न एतन्निमित्त विवाद मत कर्त्ताव्ये । यह ब्रह्म नहीं है, यह तो तेज का कारण है । ऐसा मानकर मैं भी इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ । सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासता है वह भी तेज का कारण होता है ॥ ५ ॥

पुरुषोऽस्ति स तेजस्वी वर्तते । अहं वै “तेजस्वीति” मत्वा एतं विद्युत्पुरुषमुपासे
इति । फलं व्रणीति—स यः । एतं पुरुषम् । एवं ज्ञान्वा उपास्ते । सह तेजस्वी
भवति । अस्योपासकस्य प्रजा तेजस्विनी भवति । सर्वेषां पदार्थानां मध्ये आ-
ग्नेयीशक्तिरस्ति सैव कारणवशेन पदार्थाद् बहिः निःसृत्य महतारवेण विद्यो-
तते सैव विद्युदुच्यते । सा च स्वयं पदार्थानां गुणभूतास्ति । तस्यामपि एका-
शक्तिरस्ति । सा च पदार्थस्वरूपत्वात् न ब्रह्म भवितुमर्हा । अतोऽन्यथादि
जानासि तर्हि तदेव ब्रह्म वद ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादिष्टाः
पूर्णमप्रवर्त्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते
पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माह्लोकात्प्रजोद्वर्तते * ॥ ५ ॥

* स होवाच बालाकिर्य एवैष आकाशे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं
होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादिष्टाः पूर्णमप्रवर्त्तीति वृत्ति ब्रह्मेति वा
अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिः (नो एव स्वयं
प्रजा पुरा कालात्प्रवर्तते) यशसा ब्रह्मवर्चमेन स्वर्गेण लोकेन सर्वमायुरेति
॥ ८ ॥ कौ० अ० ४ ॥ अर्थे—उस बालाकि ने कहा कि आकाश में ही जो यह
शक्ति है उसी की उपासना मैं करता हूँ । इसको सुन अजातशत्रु ने उनसे कहा कि
यह ब्रह्म नहीं है और न इस निमित्त सम्वाद करवाओ । यह आकाशपुरुष (पूर्णम्)
सर्वत्र परिपूर्ण (अप्रवर्त्ति) क्रियाशून्य और (ब्रह्म) बृहत् सब से बड़ा है ऐसा
मानकर मैं भी इसके गुणों पर अध्ययन करता हूँ । सो जो कोई इसको ऐसा ही
मानकर उपासता है वह (प्रजया) सन्तति से (पशुभिः) पशुओं से (यशसा)
यश से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (स्वर्गेण+लोकेन) सुखमय जीव से (पूर्यते)
पूर्ण होता है और (सर्वम्+आयुः) सम्पूर्ण आयु (एति) पाता है । दूसरे पाठ
का अर्थ—(नो+एवम्+स्वयम्) न वह स्वयं उपासक और (न+अस्य+प्रजा)
न इसकी प्रजा (पुराकालात्) काल से पहले (प्रवर्त्तते) मरने के लिये प्रवृत्त
होता है ॥

अनुवाद—उस गार्ग्य ने कहा कि आकाश में ही जो यह शक्ति है उसी को ब्रह्म मानकर मैं उपासता हूँ, यह वचन सुन अजातशत्रु ने कहा नहीं २, इसमें ब्रह्म मत चतुर्लाखें । यद्वा इसके निमित्त सवाद मत कीजिये । यह ब्रह्म नहीं है । यह पूर्ण और अप्रवर्त्ति है ऐसा मानकर निश्चय मैं इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासता है, वह प्रजा से, पशुओं से पूर्ण होता है, और इसकी प्रजा इस लोक से काल से पहिले ऊपर नहीं जाती है । यद्वा इस लोक से विच्छिन्न नहीं होती ॥ ५ ॥

पदार्थ—(स+ह+गार्ग्य) ये प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट् (आकाश) आकाश में (एष) ही (य) जो (असौ) यह (पुरुष) पुरुषशक्ति विशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूँ आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें । इतना वचन सुन (स+ह+अजातशत्रु) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा) नहीं २ ऐसा मत कहें, ऐसा मत कहें (मा+एतस्मिन्+संवदिष्ठा) इस आकाशगत पुरुष में ब्रह्म-सवाद मुझ से मत कहें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं । यह तो (पूर्णम्) सर्वत्र परिपूर्ण है पुनः (अप्रवर्त्ति) प्रवर्त्तनशील नहीं । अर्थात् क्रियाशून्य है । ये आकाश के दो गुण हैं । हे अनूचान ! इन दो गुणों से युक्त मानकर (एतम्) इस आकाशस्थ शक्ति को (वै) निश्चय ही (उपासे) उपासता हूँ, अर्थात् इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ । आगे फल कहते हैं । प्रथम आकाश के पूर्ण गुण को जानने वाले का फल कहने हैं—(स+यः) सो जो कोई (एतम्) इस आकाशपुरुष को (एषम्) पूर्वोक्त गुणद्वय सहित (उपास्ते) उपासता है, वह (प्रजया) पुत्र पौत्रादि सन्तति से और (पशुभिः) गाय, घोड़ा, हाथी, अज और मेघ आदि पशुओं से (पूर्यते) सदा पूर्ण रहता है । आगे अप्रवर्त्ति गुणोपासक का फल कहते हैं—(अस्य) इस उपासक की (प्रजा) पुत्र पौत्रादि सन्तति (अहम्मात्+लोमात्) इस लोक से (न+उद्धर्तते) उच्छिन्न=विनष्ट नहीं होती । यद्वा इस लोक से उसकी प्रजा काल के पहिले ही ऊपर नहीं जाती अर्थात् नहीं मरती ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सहोराचेत्यादि । मा मैतस्मिन् संवदिष्ठा इत्यन्तो ग्रन्थः पूर्ववद्

व्याख्येयः । कथंभूतमाकाशमिति राजा ब्रवीति । पूर्णं सर्वत्र परिपूर्णम् । पुनः कथंभूतम्, अप्रवर्त्ति न प्रवर्त्तितु शीलमस्येति क्रियाशून्यमित्यर्थः । हे अनूचान ! अहम् । एतमाकाशपुरुषम् । पूर्णम् । अप्रवर्त्ति । इति गुह्यद्वयविशिष्टं मत्वा वै निश्चयेन उपासे । अस्य गुणान् अधीये न तु ब्रह्मतं मन्ये, न च मंस्ये । न च ब्रह्मबुद्ध्या एतं कदापि पूजयिष्यामि । अतो नेदं ब्रह्मास्तीति सूचयति । अग्रे उपामना फलं ब्रवीति राजा । प्रथमं पूर्णगुणोपासनफलमाह—स यः कश्चिदेतद्रहस्यादित् । एतमाकाशपुरुषम् । एतं पूर्वोक्तगुणसहितम् विदित्वा उपास्ते । तस्य गुणान् अधीते । सः प्रजया पुत्रपौत्रादिसन्तत्या । पशुभिर्गवाश्च गजानां विप्रभृतिभिः । पूर्यते पूर्णो भवति । अप्रवर्त्तिगुणोपासनफलं वक्ति । तथा अस्योपासकस्य । प्रजा पुत्रपौत्रादिसन्ततिः । अस्मात् लोकात् । नोद्वर्त्तते नोच्छ्रियते । न कदापि प्रजाविच्छेदोभवतीत्यर्थः । यद्वा अस्यप्रजा । अस्मात्लोकात् नोद्वर्त्तते । शनसम्प्रतस्तगात्कालात्पूर्वं न स्वयमुपासको न च तस्य प्रजा उद्वर्त्तते ऊर्ध्वं वर्त्तते प्रमीयत इत्यर्थः ॥ ५ कौपीतकिपाठानुक्रमेण व्याख्येयम् । “अयमाकाशः खलु सर्वाणि भूतानि विनिवेशयति । पृथिवी वायुः सूर्यश्चन्द्रो नक्षत्राणि सर्वमाकाशे प्रतिष्ठति । सत्येवाकाशे सर्वेषां गतिक्रियोत्पादोरक्षा विनाशः सम्भवति । अत आकाशोऽपि कश्चित्तनपुरुषोऽस्ति । महत्त्वाच्चोपासनीयश्चेति केचिदज्ञा मेनिरे मन्यन्ते मंस्यन्ते वा । अतोऽज्ञानाद्वा भ्रमाद्वा केनाप्यन्येन कारणेन वा मा एतमाकाशं चेतनं मत्वा ब्रह्मबुद्ध्या केचित्पूजयति अस्माकं कल्याणमार्गप्रदर्शको महर्षिः शिदते ॥ ५ ॥

भाष्याशय—यह आकाश, निश्चय सब भूतों को अपने उदर में निवेशित किये हुए हैं । पृथिवी, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र सब ही आकाश में प्रतिष्ठित हैं, आकाश के रहने से ही सब की गतिक्रिया, उत्पत्ति, रक्षा और विनाश होता रहता है । अतः आकाश भी कोई चेतन पुरुष है और महान् होने के कारण उपास्य है ऐसा कोई अज्ञपुरुष मानते हैं वा मानलें वा मानेंगे । अतः अज्ञान से वा भ्रम से वा अन्य किसी कारण से इस आकाश को न कोई चेतन माने और न कोई ब्रह्मबुद्धि से इसकी पूजा उपासना करे । यह हम लोगों के कल्याणमार्गप्रदर्शक महर्षि शिदा देते हैं ॥ ५ ॥

स होवाच गाग्र्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति सहोवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादिष्टा इन्द्रो-
वैकुण्ठो पराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एत-
मेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी * ॥ ६ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गाग्र्य बोले कि वायु में ही जो यह पुरुष है । इसी को
मैं “ब्रह्म” मान उपासता हूँ । तब वे अजातशत्रु बोले नहीं नहीं । इसमें ब्रह्म-
संवाद मत कीजिये, यह तो इन्द्र वैकुण्ठ और अपराजिता सेना है । ऐसा मानकर
मैं इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ । सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासता है ।
वह प्रसिद्ध जयशील, अपराजिष्णु और शत्रुओं का विजयशील होता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गाग्र्यः) वे प्रसिद्ध गाग्र्य बालाकि (उवाच) बोले कि
हे सखाद ! (वायौ) वायु में (एव) ही (य) जो (असौ) यह (पुरुष)
शक्तिनिरोध है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+
इति) मैं उपासना करता हूँ आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें । इतना
वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा) नहीं
नहीं ऐसा मत कहें (मा+एतस्मिन्+सम्वादिष्टाः) इस वायु गत पुरुष में ब्रह्म-संवाद
मुक्त से मत कहें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं । वायुके गुण कहते हैं—(इन्द्रः) परमै-

* स होवाच बालाकिर्य एवैष वायौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवा-
चाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादिष्टा इन्द्रो वैकुण्ठोपराजिता सेनेति वा अह-
मेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते जिष्णुर्ह वा अपराजिष्णुरन्यतस्त्यजायी
भवति ॥ ७ ॥ कौ० अ० ४ ॥ अर्थ—उस बालाकि ने कहा कि जो वायु में पुरुष
है उसको उपासना मैं करता हूँ । यह वचन सुन उस अजातशत्रु ने कहा कि नहीं
नहीं, इस वायुपुरुष में मुझको ब्रह्म मत मतलावें । यह इन्द्र वैकुण्ठ और अपरा-
जिता सेना है ऐसा मानकर इसके गुणों का अध्ययन मैं करता हूँ । सो जो कोई
इसको ऐसा मान उपासता है । वह निश्चय जिष्णु अपराजिष्णु और अन्यों का
जय करने वाला होता है ॥ ७ ॥

अथर्वसम्पन्न । पुनः (वैकुण्ठः) जिसको निवारण अन्य कोई नहीं कर सकता । पुनः (अपराजिता-सेना) यह एक ईश्वरीय सेना है । हे अनुचान ! (एतम्) इस वायु पुरुष को इन तीन गुणसहित मानकर (वै) निश्चय (अहम्-उपासे) मैं इसके गुणों का अध्ययन करता रहता हूँ । आगे उपासना का फल कहते हैं । मुख्य तीन गुण हैं । अतः तीन ही फल भी कहे जाते हैं । वायु इन्द्र है, इसको जो जानता है वह (इ) सुप्रसिद्ध (जिष्णुः) सर्वत्र जयशील होता है । वायु वैकुण्ठ है इसको जो मानता है वह (अपराजिष्णुः) अपराजिष्णु होता है । जिसको दूसरे कोई जीन नहीं सकते । वायु ईश्वर की अपराजिता सेना है इसको जो जानता है वह (अन्यतस्त्यजायी) सम्पूर्ण शत्रुओं को जीतने वाला होता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—सरेति । इन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नः । वायुरेवेन्द्रोस्ति । इतोऽन्यो न कश्चिदिन्द्रः स्वर्गाधिपतिर्देवस्वामी पुराणगाथाकल्पित इति भावः । पुनः । वैकुण्ठः विगता कुण्ठा परेण निवारणा यस्मात्स विकुण्ठः विकुण्ठ एव वैकुण्ठः । अपराजिता सेना न परैः पराजिता सेना अपराजिता सेना । एतद्-गुणत्रयविशिष्टमेतं वायुपुरुषं मत्प्रोपासे । इन्द्रगुणफलमाह—सहोपासकः । जिष्णुर्मवति जयनशीलो भवति । इ प्रसिद्धौ । वैकुण्ठगुणफलमाह—अपराजिष्णुर्मवति । परैर्जेतुमशक्यशीलः । अपराजिनसेनागुणफलमाह—अन्यतस्त्यजायी भवति अन्यतोभवोऽन्यतस्त्यः शत्रुः । तं जेतुं शीलमस्येति अन्यतस्त्यजायी ॥ ६ ॥

भाष्याशय—(इन्द्रः) वहाँ वायु को इन्द्र कहा है । पुराण में ४६ वायु और इन्द्र की कथा देखो । वहाँ इन्द्र शब्द सूर्य वा मुख्य प्राणवाचक है । “इदि परमैश्वर्ये” परम ऐश्वर्य अर्थ में “इदि” धातु है । उससे इन्द्र बनता । इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । स्वर्ग का अधिपति देवों का स्वामी पुराण कल्पित इन्द्र कोई देहधारी देव नहीं । वैकुण्ठ=आजकल एक कल्पित विष्णु के स्थान का नाम “वैकुण्ठ” मान रखता, सो ठीक नहीं । अनिवारित स्थान का नाम “वैकुण्ठ” है । वायु एक ऐसा पदार्थ है, इसी से जीवों का चाह्य जीवन है । अन्यतस्त्यजायी=“अन्यतः त्यजायी” ये तीन शब्द हैं अन्व शब्द से अन्यतः इससे “अन्यत-

स्य” । अन्य=पर=शत्रु । शत्रुपक्षावलम्बी को “अन्यतस्य” कहते हैं । और “जायी” जीतने वाला ॥ ६ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमनौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मो-
पास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मेतस्मिन्संवदिष्ठा विपास-
हिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेव मुपास्ते विपा-
सहिर्ह भवति विपासहिर्हास्य प्रजा भवति * ॥ ७ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे सम्राट् ! अग्नि में ही जो वह पुरुष (शक्ति) है । इसी को “ब्रह्म” जान उपासता हू (यह मुन) उस राजा ने कहा । नहीं नहीं, इसमें ब्रह्मसंवाद मत करे । यह विपासहि है । मैं निश्चय इसको “विपासहि” जान उपासता हू । सो जो कोई इसका ऐसा ही मान उपासता है वह सुप्रसिद्ध विपासहि होता है । और इससे प्रजा भी विपासहि होती है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ७ ॥

पदार्थ—(स+ह+गार्ग्य.) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट् ! (अग्नौ) अग्नि में (एव) ही (यः) जो (असौ) यह (पुरुषः) शक्ति विशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हू आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें । इतना

* सहोवाच बालाकिर्य एवोपासनी पुरुषस्तमेवाहमुपास इति स होवाचा-
जातशत्रुर्मा मेतस्मिन् संवादिष्ठा विपासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो
एतमेवमुपास्ते विपासहि (हैवान्वेष) हिंवा अन्येषु भवति ॥ ६ ॥ यौ० ४ ॥
अर्थ—वे बालाकि बोले कि जो अग्नि में पुरुष है उसकी उपासना मैं करता हू,
यह वचन मुन उस अजातशत्रु ने कहा कि नहीं नहीं इस अग्नि पुरुष में मुझ को
ब्रह्मसंवाद मत करवाओ, हे अनूचान ! (विपासहि+इति) यह अग्नि सन कुछ
सहनेवाला है वा अन्य इससे नहीं सह सकते हैं, मैं “विपासहि” इसे मान इसके
गुण का अध्ययन करता हू, जो ऐसा मान इसके गुण का अध्ययन करता है, वह
भी (अन्येषु) दूसरों में (विपासहि) अतिशय सदनशील होता है ॥ ६ ॥

वचन सुन (सः+इ+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा+मा) नहीं नहीं ऐसा मत कहें ऐसा मत कहें (मा+एतस्मिन्+मंवदिष्टाः) इस आग्निगत पुरुष में ब्रह्मसंवाद मुझ से मत कहें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं । हे अनूचान ! यह अग्नि (विपासहिः) सब कुछ सहने वाला है । अथवा इसको अन्य कोई नहीं सह सकता (अहम्+चै) मैं इसको “विपासहि” जान इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ (सः+य) सो जो कोई इसको ऐसा ही मान उपासता है वह भी (ह) सुप्रसिद्ध (विपासहिः+भवति) सब दु.खों का सहने वाला होता है । और (अस्य+प्रजा) इसकी सन्तति और प्रजा (विपासहिः+इ+भवति) सुप्रसिद्ध सहनशील होता है अथवा अन्य कोई इसको नहीं सह सकता ॥ ॥ ॥

माष्यम्—अयमग्निविपासहिरस्ति विशेषेण सहनशीलः दुःसहोवाऽग्नयः । यद्विबिंष्यते चिप्यते तत्सर्वं मस्मीकरणेन सहते । उपासकोऽपि यथोपास्ते तथैव भवति । अतः ह प्रसिद्ध उपासकः । तथाऽस्य प्रजा । विपासहिर्भवति । शेष पूर्ववत् ॥ ७ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्टाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपं हवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते*॥८॥

* स होवाच बालाकिर्य एवैपोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्टा (नाम्नस्यात्मेति) स्तेजस-आत्मेति वा अहमेतमुपास इति ॥ यो हैतमेवमुपास्ते (नाम्नस्यात्मा) तेजस आत्मा भवतीत्यधिदैवतमयाध्यात्मम् ॥१०॥ कौ० ४ ॥ अर्थ—वे प्रसिद्ध बालाकि बोले कि हे राजन् ! जल में ही जो यह पुरुष है उर्मी की उपामना में करता हूँ । यह सुन अजातशत्रु बोले कि न न इसके निमित्त संवाद मत करवायें । यह तेजस आत्मा है ऐसा मान मैं इसकी उपासना करता हूँ । सो जो कोई इसको ऐसा उपासता है वह भी तेजस्वी आत्मा होता है । अधिदैवतोपासना समाप्त हुई । आगे अध्यात्म उपासना कहेंगे ॥ १० ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे राजन ! जल में ही जो यह पुरुष है उसी को "ब्रह्म" जान उपासता हूँ, यह सुन अजातशत्रु बोले—नहीं नहीं, इसमें ब्रह्मसंवाद मत कीजिये । यह प्रतिरूप है । ऐसा जानकर मैं निश्चय इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ, सो जो कोई इसको ऐसा मानकर उपासता है । उसको प्रतिरूप ही वस्तु प्राप्त होती है अप्रतिरूप वस्तु नहीं । और इससे मन कुछ प्रदिरूप ही उपजता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य वाक्ताकि (ववाच) बोले कि हे मन्नाद ! (अप्सु) जल में (एव) ही (य.) जो (असौ) यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है (एनम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूँ आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें । इतना बचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (ववाच) बोले (मा+मा०) नहीं २ ऐसा मत कहें ऐसा मत कहें, क्योंकि यह ब्रह्म नहीं । हे अनूचान ! यह जलशक्ति (प्रतिरूपः) अनुकूल है । इसमें अनुकूलत्व गुण है । जल प्राणिमात्र का अनुकूल है (अहम्) मैं निश्चय इसको प्रतिरूप जान इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ (सः+यः) सो जो कोई इसको ऐसा ही मानकर जानते हैं (एनम्) इस उपासक को (प्रतिरूपम्) अनुकूल (ह+एव) ही पदार्थ (उपगच्छति) प्राप्त होता है (अप्रतिरूपम्+न) प्रतिकूल=विपरीत वस्तु उसको प्राप्त नहीं होती (अथो) और (प्रतिरूपः) अनुकूल ही पुत्र पौत्रादि गो मदिपादि सन पदार्थ (अस्मात्) इस साधक से (जायते) उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सहेति । अप्सु जले । प्रतिरूपः-अनुकूलः । जलं सर्वस्यानुकूलमस्ति । फलमपितादृशमेव । एनमुपासक प्रति । प्रतिरूपं वस्तु हैव । ना-

कौपीतक्युरनिषद् के अधिदैवत उपासना में एक कण्डिका अधिक है, यह यह है—

स होवाच वाक्ताकिर्य एवैस्तनयित्नी पुरुषस्त्वमेनाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा भैतस्मिन् संवादयिष्ठाः शब्दस्यास्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेतमुपास्ते शब्दस्यात्मा भवति ॥ ६ ॥

स्तनयितु=नाम मेघमण्डल का है अन्य पद स्पष्ट ही हैं ।

न्यत् । उपगच्छति प्राप्नोति । अप्रतिरूपं प्रतिकूलं विपरीतं तन्नागच्छति ।
अथो तथा । अस्मादुपासकान् । प्रतिरूप एवानुकूल एवमुपासार्थनादित्य सर्वः
पदार्थ उपजायते । शेषं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शो पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्टा
रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते
रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हस्यप्रजा भवत्यथो यैः सन्निग-
च्छति सर्वास्तानतिरोचते * ॥ ९ ॥

। अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे राजन् । आदर्श में ही जो यह पुरुष
है उसी को “ब्रह्म” जान उपासना में करता हूँ । यह सुन अजातशत्रु बोले—नहीं
नहीं, इसमें ब्रह्मसंवाद मत कीजिये । यह वो रोचिष्णु है । ऐसा मैं मानकर इसके
गुणों का अध्ययन करता हूँ । सो जो कोई इसको ऐसा मान इसको उपासता है
वह निश्चय रोचिष्णु (दीप्तिमान्) होता है । इसकी प्रजा रोचिष्णु होती है ।
और वह जिनके साथ सद्ग करता है उन सबों को रोचिष्णु बना देता है ॥ ९ ॥

पदार्थ—(स+होवाच+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि (आदर्श) आत्मी
(एव+योऽयं+पुरुषः) ही जो यह पुरुष है (एतम्) इसी को ब्रह्म मानकर मैं
उपासना करता हूँ (स+होवाचाजात०) इस वचन को सुनकर सब अजातशत्रु
ने कहा कि नहीं यह ब्रह्म नहीं है । इस आदर्श पुरुष में ब्रह्म का आरोप मत
करो और न इसके लिये विवाद ही ब्रह्मको यह ब्रह्म नहीं है । हे अनूवात । यह

* स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शो पुरुषस्तमेवादमुपास इति तं
होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास
इति स यो एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपोर्हवास्य प्रजा यामाजायते नाप्र-
तिरूपः ॥ ११ ॥ कौ० अ० ४ ॥ इसका अर्थ सरल और प्रायः सब पद
पूर्ववत् ही हैं ॥

तो (रोचिष्णु) प्रकाशवान् छायाग्राही वस्तु है (अहम्+पतम्) ऐसा इसको मैं भी मानता हूँ और (स +य ०) जो कोई इसको ऐसा मानता है (रोचिष्णु+ह०) वह दीप्तिमान् होता है और (अस्य+प्रजा) इसकी प्रजा सन्तति (रोचिष्णु +ह) दीप्तिमती होती है (अथो) और वह उपासक (यै०) जिन २ अन्य पुरुषों के साथ (सन्निगच्छति) सगम किया करता है (तान्+सर्वान्) उन सर्वों को भी (अतिरोचत) दाप्तिमान् सुरोभायुक्त बनाता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—सहेति । अधिदैवतविषये विभिन्नोपासनाः प्रदर्शिताः । तच्चद्गुणाश्चोक्ताः । नेदं ब्रह्मेति विशदीकृतम् । वैचित्र्याद्वा जगद्धिहायास्मिन् शरीरस्थे प्राणादौ ब्रह्माऽऽरोप्य प्राणादिकमेव ब्रह्म वा मन्त्रोपासते । तदुपासनमपि प्रसङ्गेन स्वयद्वयसि । आदर्शे । आदर्शवन्ते प्रतिरूपाणि यस्मिन् स आदर्शः । प्रसादस्वभावम् मुकुटम् । स्फटिकम् । खड्गम् । इत्यादि । पुरुषः याज्ञिकः । गुणमाह—रोचिष्णुरिति । दीप्तिस्वभाव आदर्शोऽस्ति । इदं अनुचान् । दीप्तिस्वभावमेतं मन्त्राऽहमपि उपासे । उपासनाफलमाह—स होपामकः । इदं प्रसिद्धं । रोचिष्णुर्दीप्तिमान् भवति । तथास्य प्रजापि रोचिष्णुर्भवति । तथा च स उपासकः यैः पुरुषैः सार्वभौमः । सन्निगच्छति सन्निधिं सगमं कुरुते तान् सर्वान् अतिरोचते । दीपयति रोचिष्णुन् करोति । ६ ॥

भाष्याशयः—अधिदैवतविषय में भिन्न २ उपासनाएँ दिखलाई गईं उस उस उपासना के गुण भी कहे गये यह ब्रह्म नहीं है एसा भी विशद किया गया । अब कोई २ वाहनगत् को त्याग इसी शरीरस्थ प्राणदिक म ब्रह्म का आरोप कर अथवा प्राणादिक को ही ब्रह्म मान उपासत हैं । इस उपासना का भी प्रसङ्ग से स्पष्टन करते हैं । आदर्श—प्रतिरूप=प्रतिछाया जिसमें दीप्ति पड़े उसे आदर्श कहते हैं । आदर्श नाम आरसी दर्पण मुकुट का है, परन्तु आदर्श समान जो स्फटिक पद्म आदि पदार्थ हैं जिसमें प्रतिछाया दीप्त पड़ती है उस सन का महण है जो जैसी उपासना करता है उसको वैसा ही फल भी प्राप्त होता है, अतः दर्पण और दर्पण समान अन्य वस्तुओं के भी गुणों का जो जानता है वह अपने में भी रोचिष्णु गुण धारण करने के लिये सदा प्रयत्न करता है अतः वह स्वयं और इसकी प्रजा सन्तति आदि भी वैसी ही होती है ॥ ६ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्ये-
तमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संव-
दिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते
सर्वं ह्येवास्मिँल्लोक आयुरेतिनैनं पुरा कालात् प्राणो
जहाति * ॥ १० ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे सम्राट् ! गमन करते हुए प्राणी के पीछे जो शब्द उत्पन्न होता है उसी को “ब्रह्म” मान मैं उपासना करता हूँ । यह सुन अजातशत्रु बोले कि नहीं नहीं इसमें ब्रह्मसंवाद आप मत कीजिये । यह तो “असु” है । ऐसा मान मैं निश्चय इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ, सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासता है, वह इस लोक में निश्चय सब आयु को पाता है । काल से पहिले इसको प्राण नहीं त्यागता ॥ १० ॥

पदार्थ—(स+ह०) वे गार्ग्य बोले कि (यन्तम्) गमन करते प्राणी के (पश्चात्) पीछे २ (यः+अयम्) जो यह (शब्दः) शब्द (अनूदेति) उदित होता है अर्थात् चलते हुए के पीछे २ जो प्रतिध्वनि होती है (तम्+एव०) इत्यादि पूर्ववत् । हे अनुचान ! यह प्रतिध्वनि तो (असुः+इति) वायु है । यद्वा

* स होवाच बालाकिर्य एवैपप्रतिश्रुतकायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा असुरिति वा (द्वितीयोऽनपग इति) अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते (विन्दते द्वितीयान् द्वितीयवान् भवति) न पुराकालात् सम्मोहमेति ॥ १३ ॥ अ० ४ ॥ इसके साथ मैं इस कण्डिका का भी वहीं २ पाठ है, वह यह है स होवाच बालाकिर्य एवैपशब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठाः । असुरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य भजा पुराका-
लात् सम्मोहमेति ॥ दोनों के अर्थ विस्पष्ट हैं (प्रतिश्रुतकायाम्) दिशाएं (अन-
पगः) गमन शून्य (शब्दः+पुरुषम्+अन्वेति) जो शब्द पुरुष के चलने के पीछे उदित होता है, (नो) नहीं (सम्मोहम्) भ्रमण (-एति) पाता है ॥

चलते समय जो वायु का प्रक्षेप=इधर उधर गमन होता है। उस कारण से यह प्रतिध्वनि होती है न कि वह कोई उपास्य वस्तु है, (अहम्) मैं (एतम्) इस प्रतिध्वनि को “अमु” मानकर (ये) निश्चय ही (उपास्ये) उपासना करता हूँ (सः+य+०) मो जो कोई इसको ऐसा मानकर उपासता है, वह (अस्मिन्+लोके) इस लोक में (सर्वम्+ह+एव) सब ही (आयुः) आयु (एति) पाता है और (कालात्+पुरा) मरणकाल के पूर्व ज्वरादि रोगों से पीड़ित होने पर भी (एनम्) इसको (न+प्राण+जहाति) प्राण त्यागता नहीं अर्थात् वह पूर्णायु को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

भाष्यम्—सहेति । यन्तम् । गच्छन्तं पुरुषम् । पश्चात् यः शब्दः । अनू-
देति अनूत्पद्यते । हे अनूचान । अयं पश्चादुत्पन्नः शब्दः । अमुरिति वायु-
रिति । अमुरिति प्राणवचनः । वायुहेतुः स शब्दो भवति । नहि तत्र किमपि
चेतनगुणजातम् । यद्वा अमुः प्रक्षेपः । गमनेन यो वायोः प्रक्षेप इतस्तत-
श्चालनं भवति । तेन हेतुना स शब्दो जायते । उपासनाफलमाह—अस्मिन्
लोके । सर्वं पूर्णम् । आयुरेति प्राप्नोति । पुराकालात् कालात् प्रथमम् ।
एनमुपासक रोगादिभिः पीड्यमानमपि प्राणो न जहाति न त्यजति । वैदिक-
शतवर्षमायुः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १० ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवदिष्टा
द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमु-
पास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद्वर्णश्छिद्यते * ॥ ११ ॥

* कौपीतिक में दिखा पुरुष का वर्णन नहीं है। दशम कण्डिका के ऊपर
जो प्रथम टिप्पणी दी गई है वह इसके तुल्य हो सकती है, परन्तु उसमें केवल
“प्रतिश्रुत्वा” शब्दमात्र की समानता प्रतीत होती है, अन्य की नहीं। कौपीतिक
ब्राह्मणोपनिषद् का जो आदर्श मेरे पास है। उसमें पाठभेद बहुत है और स्पष्ट
नहीं है। वहीं २ ऐसा प्रतीत होता है कि उल्टा पाठ होगया है, यह सब लेकर
का दोष है, परन्तु मुझे जैसा पाठ मिला है वैसा ही रखा है ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले हे राजन् ! दिशाओं में ही जो यह पुरुष है, उसी को ब्रह्म जान उपासना करता हूँ, यह सुन अजातशत्रु बोले कि नहीं नहीं, इसमें ब्रह्मसंवाद मत कीजिये । यह तो द्वितीय और अनपग है ऐसा मान में निश्चय इसके गुणों का अध्ययन करता हू, सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासता है वह निश्चय द्वितीयवान् होता है और इससे गण का विच्छेद कदापि भी नहीं होता है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट् ! (दिक्षु) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्वा दिशाओं में (यः+एव) जो ही (अयम्) यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूँ, आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें । इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा+मा) नहीं नहीं ऐसा मत कहें (मा+एतस्मिन्+सवदिष्टाः) इस दिशागत पुरुष में ब्रह्मसंवाद मुझ से मत कहें क्योंकि वह ब्रह्म नहीं है । हे अनूचान ! यह दिशागत पुरुष (द्वितीयः) द्वितीय (अनुपगः) न कभी त्यागने वाला (वै) निश्चय (एतम्) इसको (उपासे+इति), उपासता हूँ । आगे फल कहते हैं—(सः+यः) सो जो कोई उत्त्ययिन् उपासक (एतम्+एव) इस पुरुष को ऐसा जान (उपास्ते) उपासना करता है वह (द्वितीयवान्+ह+भवति) द्वितीयवान् होता है, और इस उपासक के (गणः+न+द्विष्टते) पुत्रादियों और गवादियों का समूह वियुक्त कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सहेति । दिक्षु प्राचीदक्षिणामेतीत्युदीची ध्रुवोर्ध्वसु दिक्षु । हे अनूचान ! अयं दिक्पुरुषः । द्वितीयः । तथा अनुपगः नापगमोगमनं यस्य सोऽनपगोऽवियुक्तः । उपासनफलमाह—स उपासकः द्वितीयवान् भवति । तथा च—अस्मादुपासकात् । गणः पुत्रादीनां गवादीनान्ध समूहः । न कदापि द्विष्टते विच्छिन्नो भवति ॥ ११ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं ज्ञायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्टा

मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं
हैवास्मिल्लोक आयुरेति नैनं पुराकालान्मृत्युरागच्छति*॥१२॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले हे राजन् । छाया में ही जो यह पुरुष है
समको "ब्रह्म" जान उपासना करता हूँ । यह सुन अजातशत्रु बोले नहीं २ इसमें
ब्रह्मसंवाद आप मन कीजिये । यह तो "मृत्यु" है । ऐसा मान निश्चय में इसके
गुण का अध्ययन करता हूँ । सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासता है वह
इस लोक में सर्व आयु को पाता है । और काल से पूर्व इसको मृत्यु नहीं
आता है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) ते प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि
हे सन्नाडू । (छायाभयः) बाहरी अन्धकार में (यः+एव) जो ही (असौ) यह
(पुरुषः) शक्तिविशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अह-
म्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूँ । आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना
करें । इतना बचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातरानु (उवाच) बोले
(मा+मा) नहीं २ ऐसा मत कहें, ऐसा मत कहें, (मा+एतस्मिन्+सद्यदिष्टाः)
इस अन्धकारगत पुरुष में ब्रह्मसंवाद मुझ से मत कहें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं । हे
अनूचान । (मृत्युः) अन्धकार होने के कारण भयजनक है और (वै) निश्चय
(एतम्) इसी ऐसा मान (उपासे+इति) उपासता हूँ (सः+यः) सो जो कोई
वस्तुविद् उपासक (एतम्+एवम्) इस पुरुष को ऐसा जान (उपास्ते) उपासना
करता है, वह (अस्मिन्+लौके) इस लोक में (सर्वम्+आयुः+एति) सम्पूर्ण आयु
को पाता है, (पुनः+कालात्) काल से पहिले (पुनम्) इस उपासक को (मृत्युः+
न+भागश्चति) मृत्यु नहीं आता है ॥ १२ ॥

* स होवाच बालाकिर्य एवैष छायायां पुरुषस्तमेवाहुमुपास इति तं होवा-
चाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा (मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स यो
हैतमेवमुपास्ते नो एव सत्यं नास्य प्रज्ञा पुराकालात्प्रसीयते) द्वितीयोऽनपग
इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते निन्दते द्वितीयाद् द्वितीयवान्
हि मनति ॥ १२ ॥ कौ० अ० ४ ॥

भाष्यम्—सहेति । छायायामयः छायाप्रधानः । बाह्यतमश्चाया । छाया-
पुरुषविशेषणमाह मृत्युरिति अज्ञानान्वकारत्वाद् भयजनकः । फलमाह—
अस्मिन् लोके । सर्वमायुरेति । पुराकालात्कालात्पूर्वम् । मृत्युः । नैनमुपा-
सकमागच्छति ॥ १२ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं
ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादिष्टा
आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त
आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह
तूष्णीमास गार्ग्यः * ॥ १३ ॥

* कौपीतिके में यद्यपि आत्मपुरुष का वर्णन नहीं है तथा कई एक अर्थों के
पुरुषों का वर्णन आया है । यथा—

स होवाच बालाकिर्य एवैष तत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नया चरति तमेवाहमुपास
इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्टा यमो राजेति वा अहमेतमुपास
इति स यो हैतमेवमुपास्ते सर्व हास्मा इदं श्रेष्ठाय यम्यते ॥ १५ ॥ स होवाच
बालाकिर्य एवैष शरीरे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्
संवादयिष्टाः प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते
प्रजया पशुभिर्घशसा ब्रह्मवर्चसेन स्वर्गेण लोकेन सर्वमायुरेति ॥ १६ ॥ स
होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजात-
शत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्टा वाच आत्माग्नेरात्मा, ज्योतिष आत्मेति वा अहमेत-
मुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥ १७ ॥ स
होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येऽक्षिणि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजात-
शत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्टाः सत्यस्यात्मा, विद्युत् आत्मा, तेजस आत्मेति वा
अहमेतमुपास इति ॥ यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामान्मा भवति ॥ १८ ॥
कौ० उ० अ० ४ ॥ अर्थ—जो यह सुत्र पुरुष स्वप्नों को देखा करता है (यमो+
राजा) जो नियम में रखनेवाला और दीप्तिमान् है । (अस्मी) इस उपासक

अनुवाद—ये प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे राजन् ! आत्मा में ही जो यह पुरुष है, इसी को 'ब्रह्म' जानकर मैं उपासना करता हूँ । यह वचन सुन वे अज्ञातशत्रु बोले नहीं नहीं इसमें ब्रह्मसवाद आप न करें, यह आत्मवान् है । ऐसा मानकर निश्चय मैं इसके गुण का अध्ययन करता हू । सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासता है । वह यहा आत्मवान् होता है और इसकी प्रजा भी आत्मवती होती है । इतनी बात सुनकर वे गार्ग्य चुप हो बैठे ॥ १३ ॥

पदार्थ—(स होवा०) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले । हे राजन् अज्ञातशत्रो ! अन्तिम मेरी बात सुनो (आत्मानि) जीवात्मा में (एव) ही (यः) जो (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुषशक्ति है (एतत्+एव+अहम्) इसी को मैं (ब्रह्म+उपासे+इति) ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ, तू भी इसी की ब्रह्मबुद्धि से उपासना कर । इस असमजस और शास्त्रविरुद्ध वचन को सुन (सः+उ+अज्ञातशत्रुः) वे सुप्रसिद्ध अज्ञातशत्रु बोले हे अनूचान गार्ग्य घालाके ! (मा) नहीं नहीं (एतस्मिन्) यह ब्रह्म है या नहीं इसके निमित्त (मा+सवदिष्टाः) सवाद मत कीजिये, यह निश्चय ही ब्रह्म नहीं है । अथवा (एतस्मिन्+मा+सवदिष्टाः) इस आत्मपुरुष में ब्रह्मसवाद मत करो । अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म नहीं है । हे राजन् ! यदि यह ब्रह्म नहीं है तो यह क्या है ? और इसकी उपासना का फल क्या है ? सो आप ही कहें । इस पर राजा कहते हैं । हे अनूचान ! (आत्मन्यी+इति) यह जीवात्मा आत्मावाला

के लिये (इवम्+श्रेष्ठयाय) यह जगन् की श्रेष्ठता (यन्मते) प्राप्त होती है ॥ १५ ॥ जो यह शरीर में पुरुष है (प्रजापतिः) प्राणादिक प्रजा का पालक (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (वशा) यश से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मवर्च से (इरगेष+लोकेन) मुसी लोक से (प्रजायते) जगन् में प्रख्यात होता है । अर्थात् प्रजा प्रभुत्वियों की वृद्ध होती है और (मर्म+आयुः+एति) पूर्ण आयु को पाता है ॥ १६ ॥ जो यह वक्षिण नेत्र में पुरुष है (वाचः) नाम वाणी का (आत्मा) कारण है (अने) अग्नि का (आत्मा) स्वभाव है । और (ज्योतिष+आत्मा) ज्योति का स्वभाव है ॥ १७ ॥ जो यह वामनेत्र में पुरुष है (मत्स्य+आत्मा) मत्स्य का कारण है (बिभु+आत्मा) बिभु का स्वभाव है (तेजस+आत्मा) तेज का कारण है ॥ अन्य पद सुगम और पूर्व में व्याख्यात हैं ॥ १८ ॥

हैं । अर्थात् इस जीवात्मा का सहायक कोई अन्य पुरुष है । यह स्वतन्त्र नहीं । जो स्वतन्त्र नहीं वह ब्रह्म नहीं । अतः इससे कोई अन्य ब्रह्म है इसमें सन्देह नहीं । हे अनुचान ! मैं इसको आत्मवान् मान जानकर (वै) निश्चय ही इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ । आगे फल कहते हैं—(सः+यः+एतम्+एवम्+उपास्ते) सो जो कोई इसको ऐसा जानकर उपासता है, वह इस समार या जीवन में (आत्मन्वी+ह) प्रशस्त आ मावाला होता है । अर्थात् इस साधक का जीवात्मा अच्छा शुद्ध गुणप्राप्ति मर्वगुणसंपन्न हो जाता है । इतना ही नहीं किन्तु यहाँ (अस्य+प्रजा) इसके पुत्र पौत्र अथवा प्रजा भी (आत्मन्विनी+ह+भवति) अच्छे आत्मावाली होती है । अर्थात् इसके सन्तान की भी आत्मा शुद्ध होती है । यही इसका फल है । राजा के इस परम विज्ञान को सुन यह मुक्त से भी बढ़कर विज्ञानी और ब्रह्म-चेता है यह ज्ञान (स+ह+गार्ग्यः) वे गार्ग्य (तूष्णीम्+आस) चुप होगये ॥१३॥

भाष्यम्—सहेति । केचिदिमं जीवात्मानं ब्रह्म मत्वोपासते । तदपि निरा-
करोति । केचिदात्मपदं बुद्धिदेन व्याचक्षते । बुद्धिर्ज्ञानम् । ज्ञानाद्वा विज्ञा-
नाद्वातिरिक्तं वस्तु नास्तीति केचिन्मत्वा विज्ञानमेवोपासते । तदप्य साधिति
दर्शयति । अयमात्मा आत्मन्वी । आत्मवान् । अत्रार्थोविनि ग्रन्थः । आत्मा
परमात्मा द्वितीयोऽयास्तीति आत्मन्वी । नायं जीवात्मा ब्रह्म । अस्य ॥ अन्यः
सहायकः कोप्यस्तीति । आत्मन्वीति । विशेषणान्न विशदयति । बुद्धि पक्षे ।
इयं बुद्धिः आत्मन्विनी जीवात्मसहायिका । फलमाह—स उपासकः इह जगति
जीवने वा आत्मन्वी भवति प्रशस्तात्मा भवति । तथाऽस्य प्रजा आत्मन्विनी
भवति । इति राज्ञोऽज्ञानशत्रोर्विज्ञानं श्रुत्वा विचार्य च अयं राजा मत्वोऽपि
विज्ञानितर ब्रह्मेश्वतरश्चेति मत्वा स ह गार्ग्यो नूष्णीमपास । अग्रे ब्रह्मज्ञानोप-
देशाद्विरराम ॥ १३ ॥

भाष्याशय—कोई २ पुरुष इसी जीवात्मा को ही ब्रह्म मान उपासना करते
हैं । इसका भी खण्डन करते हैं । कोई ठीकाकार आत्मशब्द का अर्थ बुद्धि करते
हैं । बुद्धि नाम ज्ञान का है । ज्ञान वा विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं
ऐसा कोई मानकर विज्ञान की ही उपासना करते हैं । वह भी ठीक नहीं ऐसा
दिखलाते हैं (आत्मन्वी) आत्मन् शब्द से “विनि” प्रत्यय होकर “आत्मन्वी”

शब्द बनता है । आत्मवान् और अत्मन्वी का एक ही तात्पर्य है । प्रत्यय का भेद है, अर्थ का नहीं । जैसे धनवान्, धनी, ज्ञानवान्, ज्ञानी इत्यादि ॥ जैसे-यशस्वी, तेजस्वी, मेधावी आदि शब्द बनते हैं । और जैसे जिसका अन्धा यश हो उसे यशस्वी, अन्धा तेज हो उसे तेजस्वी, अच्छी मेधा हो उसे मेधावी कहते हैं वैसे ही जिसका आत्मा अच्छा हो उसे “आत्मन्वी” कहते हैं । यह जीवात्मा “आत्मन्वी” है इसका तात्पर्य यह है कि इस जीवात्मा का अन्य कोई आत्म सहायक है । अतः यह आत्मा भी आत्मवान् है । और बुद्धिपक्ष में जीवात्मा जिसका सहायक है । ऐसा अर्थ करना चाहिये ॥ १३ ॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावच्छीति नैतावता विदितं भवतीति न होवाच गार्ग्य उप स्वा यानीति ॥१४॥

अनुवाद—वे अजातशत्रु बोले कि क्या इतना ही ? हा इतना ही “ऐसा गार्ग्य ने उत्तर दिया” तब पुनः अजातशत्रु बोले कि इतने से वह विदित नहीं होता । तब गार्ग्य बोले कि तब आप के निकट मैं शिष्यवत् प्राप्त हूँ ॥ १४ ॥

पदार्थ—अनुमान गार्ग्य को ब्रह्मज्ञान में अपूर्ण देख (स+इ+अजातशत्रुः)

॥ तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास तं होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू बालाका ३ इत्येतावदिति होवाच बालाकिस्तं होवाचाजातशत्रुर्मुपा वै खलु मा संवादयिष्या ब्रह्म ते ब्रह्माणीति यो वै बालाकि एतेषा पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्य इति तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचरम उपायानीति ॥१५॥

(क) कौ० अ० ४ ॥ अर्थ—तब ही वह बालाकि चुप होगया । तब अजातशत्रु उससे बोले । हे बालाकि ! क्या इतना ही । तब बालाकि ने कहा हा इतना ही । तब अजातशत्रु ने कहा कि हे बालाकि आपने मुझे व्यर्थ ही कहा कि “आप से मैं ब्रह्म कहूँगा” हे बालाकि ! जो परमात्मा इन सूर्य पुरुषादिकों का कर्त्ता है । जिसका यह सब ब्रह्म है वही वेदितव्य है । राजा की यह बाणी सुन बालाकि समित्पाणि हो राजा के निकट शिष्यवत् उपस्थित हुए । और राजा से निवेदन किया कि मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ ॥

वे अज्ञातशत्रु (उवाच) बोले कि हे गार्ग्य ! (नु) क्या (एतावत्+इति) इतना ही । अर्थात् उस ब्रह्म के विषय में क्या आप इतना ही जानते हैं ? तब गार्ग्य कहते हैं कि (एतावन्+हि+इति) हा इतना ही । मैं इतना ही जानता हूँ और इसी को ब्रह्म समझता हूँ । इतना बचन सुन पुनः राजा बोले कि (एतावता) इतने ज्ञान से (न+विदितम्+भवति+इति) वह ब्रह्म विदित नहीं होता । अर्थात् आपको ब्रह्म सम्बन्धी जितना ज्ञान है, वह अपूर्ण है इससे भी अधिक ब्रह्म है, जिसको आप नहीं जानते हैं । परन्तु वह भी आप को जानना चाहिये । यह सुन (सः+ह+गार्ग्यः+उवाच) वह गार्ग्य बोले कि यदि ऐसा है और इससे भी अधिक ब्रह्म है तो (त्वा) आपके (उपयानि+इति) निकट शिष्य होकर मैं प्राप्त होऊँ । यदि आपकी आज्ञा हो और ब्रह्म यदि मुझे अविदित ही है तो आपके निकट उस विद्या के लिये मैं शिष्य बनता हूँ । आप कृपया उसकी शिक्षा मुझे दें, यही आप से सविनय प्रार्थना है ॥ १४ ॥

भाष्यम्—गार्ग्यस्य दत्तबालाकेः परिमितं ब्रह्म निरीक्ष्य नायं ब्रह्मविदिति सम्वादेन निश्चित्य च सहाज्ञातशत्रुर्वक्ष्यमाणं वचनमुवाच । हे अनूचान ! ननु । एतावत् एतावदेव ब्रह्म भगवान् वेत्ति । आहोस्विदित अधिकमपीति प्रश्नः । बालाकिः कथयति । एतावद् हि इति । हे राजन् ! अहमेतावद् ब्रह्म वेद्मि । हि निश्चयेन । इतोऽधिकमपि ब्रह्मास्तीति । न मम विज्ञातमस्तीति भावः । इति श्रुत्वा राजोवाच एतावता विज्ञानेन । नैव ब्रह्म विदितं भवति । हे अनूचान ! इतोऽप्यधिकं ब्रह्मास्ति । तद्भगवताऽविदितमेवास्ति तत्पुनरपि मीमांस्यमेव । इत्यज्ञातशत्रोर्वचनं श्रुत्वा स ह गार्ग्यो बालाकिरुवाच । हे अज्ञात-शत्रो ! अवशिष्टब्रह्मविद्याविज्ञानाय । त्वा त्वाम् । उपयानि उपगच्छानीति । यथा जिज्ञासुः शिष्यो विगार्य गुरुमुपगच्छति तथैवाहमपि त्वामुपयानि यदि भगवतामनुमतिर्मवेत् । मां शिष्यवद् ब्रह्मविज्ञानं भगवान् शास्त्विति प्रार्थये । उपत्वायानीति व्यवहित उपसर्गः । वन्दसि परेऽपि ॥ १ । ४ । ८१ ॥ व्यव-हिताश्च १ । ४ । ८२ ॥ इति नियमात् ॥ १४ ॥

स होवाचाज्ञातशत्रुः प्रतिलोभं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रिय-मुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं

पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभि-
रामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ
तं पाणिनाऽऽपेयं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

अनुवाद—ये अजातशत्रु बोले कि यह विपरीत बात है कि ब्राह्मण एक
क्षत्रिय के निकट जाय इस आशा से कि “यह क्षत्रिय मुझ ब्राह्मण को ब्रह्म
कहेगा” परन्तु आपको मैं ब्रह्म का ज्ञान अवरण करवाऊंगा । इसना वह उस
गार्ग्य का हाथ पकड़ वहाँ से राजा उठे । और वे दोनों किसी एक “सुप्त” पुरुष
के निकट आये । उनको इन नामों से राजा पुकारने लगे । हे बृहन् ! हे
पाण्डरवास ! हे सोम ! हे राजन् ! परन्तु वह नहीं उठा । तब उसको हाथ से
मल मल कर जगाया । तब वह उठ खड़ा हुआ ॥ १५ ॥

पदार्थ—(म.+इ+अजातशत्रु) वे अजातशत्रु बोले । हे गार्ग्य ! (एतन्)
यह बात (प्रतिलोमञ्च) विपरीत है । कौन विपरीत है ? सो आगे कहते हैं—
क्षत्रिय (मे) मुझ ब्राह्मण को (ब्रह्म+ब्रूयति) ब्रह्म का उपदेश करेगा (इति)
इस आशा में (ब्राह्मण) ब्राह्मण (क्षत्रियम्) क्षत्रिय के (अपेयात्) निकट-
जाय । यह बात विपरीत है । तथापि आप मेरे गृह पर कुछ बाल ठहरे (स्था)
आपको (विज्ञपयिष्यामि+एव) निश्चय मैं ब्रह्म जवाऊंगा (इति) इसना वह
(तम्) उस गार्ग्य को (पाणिना+आदाय) हाथ पकड़ वे (उत्तरायौ) वहाँ से
उठे (च) और (तौ) वे दोनों (सुप्त+पुरुषम्) किसी सुप्त पुरुष के (आज-
ग्मतुः) समीप आए । और (तम्) उस सुप्त पुरुष को (एतैः) इन वक्ष्यमाण
(नामभिः) नामों से (आमन्त्रयाञ्चक्रे) जगाने के लिये पुकारने लगे । तिन
नामों से सो आगे कहते हैं—(बृहन्) हे बृहन् ! वडे (पाण्डरवासः) हे शुक्ल
वन्धारी ! (सोम) हे सोम ! (राजन्) हे राजन् ! जागो, नहीं उठते हो ।
परन्तु (स) वह सुप्त पुरुष (न+उत्तस्थौ) नहीं उठा । जब इन नामों से
पुकारने पर भी वह नहीं जागा तब (तम्) उसको (पाणिना) हाथ से
(आपेयम्) मल मल कर (बोधयाञ्चकार) उठाया (स.+इ+उत्तरायौ) तब वह
उठ खड़ा हुआ ॥ १५ ॥

भाष्यम्—प्रकृष्टविनय विनिवृत्ताभिमानं समम्बुदितौदार्यं प्रदर्शितविज्ञान-
संग्रहलालसं गार्ग्यस्य वचनमाकर्ण्य सहाजानशत्रुरवाच । हे गार्ग्य ! एतच्च तव
वचनं प्रतिजोमं विपरीतं मे भाति । किन्तत्प्रतिलोमं तदाह । यद् एष क्षत्रियो
मे मयम् । धृष्ट ब्रह्मज्ञानम् । वक्ष्यति उपदेक्ष्यति । इत्यागया । ब्राह्मणः ।
क्षत्रियं राजन्यम् । उभेयाद् उपगच्छेद् इति यद् वर्तने । तत्प्रतिलोमं । विधान-
शास्त्र निषेधः । तद् यतः । आचार्यो ब्राह्मणः । अनाचार्यः क्षत्रियः । ब्रह्मविदेव
ब्राह्मण उच्यते नाब्रह्मवित् । यः कश्चिद्ब्रह्मवित् । स एवोपदेष्टुमर्हति । क्षत्रियः
स्वल्बु शूरो वीरो साग्रामिको भवति । सग्रामकलासु कुशलस्तामेव विधां शिवितुं
समर्थः । न ब्रह्मविशाम् । दृश्यते च ब्राह्मण एव ब्रह्मविद्याप्रगासको न
क्षत्रियः । अतो ब्रह्मविद्याप्राप्त्यै ब्राह्मणस्य क्षत्रियममीपममनं विपरीतमेव ।
परन्तु नायं सार्वत्रिको नियमः । कश्चित् क्षत्रियेऽप्याचार्य्ययते जनकादिवत् ।
अन्यच्च मननादिव्यापाराधीनत्वाद्विधाया यः कश्चिन्मननादिषु कालं यापयति
सोऽतिशिष्यते । अतोऽजातशत्रुस्तस्मिन् काले क्षत्रियाणां मध्ये ब्रह्मविदा वरिष्ठः
संवृत्त इति नाश्चर्यम् । अतः सम्यग् विचार्य्य पुनरपि सहाजातशत्रुर्ब्रवीति । यद्य-
प्येतद् विपरीतं तथापि हे गार्ग्य ! अहम् । त्वा त्वाम् । विज्ञपयिष्यामि एव ।
व्यवहितेन विना क्रियासम्बन्धः । त्वमत्र कश्चित् कालं तिष्ठ । अहं तुभ्यं ब्रह्म
ज्ञपयिष्याम्येव । न तु आचार्य्यत्वेन ब्रह्मविज्ञानशास्त्रमध्यापयिष्यामि किन्तु येन
तव ब्रह्मविषये बोधोदयः स्यात्तं यत्नं करिष्यामि । इति कथयित्वा तं गार्ग्यं ।
पाणौ हस्ते आदाय । हस्तावच्छेदेन तं गार्ग्यं गृहीत्वा । राजा उत्तस्थौ उत्थि-
तवान् । उत्थाय च । तौ ह द्वौ । कश्चित् सुप्त शयितं गाद्विद्रायां पतितम्
आज्जग्मतुरागतवन्तौ । तथा च । तं सुप्तं पुरुषम् । एतैर्वक्ष्यमाणैर्नामभिः ।
आमन्त्रयाञ्चक्रे बोधयितुमाह्वयामास । हे बृहन् ! हे पाण्डुरवासः ! हे सोम !
हे राजन् ! उत्तिष्ठ, इमानि चत्वारि चन्द्रमसोनामधेयानि । इति शब्दः प्रकारे ।
तेनैवम् । अतिष्ठा, मूर्धा, तेजस्वी-पूर्णम्-इन्द्रो, वैकुण्ठः, विषासहिरित्यादीनि
सूर्यादीनां नामान्यपि अभिप्रेतानि । सर्वेषां सूर्यादीनां नामभिरित्यर्थः । तमा-
मन्त्रयाञ्चक्रे इत्यमामन्त्रयमानोऽपि स नोत्तस्थौ नोत्थितवान् । ततस्तं सुप्तम-
प्रतिबुध्यमानं पाणिना हस्तेनापेपम् आपिष्यापिष्य । हस्तं पीडयित्वा पीडयि-

त्वा बोधयान्चकार जागरयापास । इत्थं पाणिना पीडितः स ह । उत्तस्थौ
उत्थितवान् ॥ १५ ॥

माप्याशय—प्रतिलोम=विपरीत इस हेतु है कि मन्वादि धर्मशास्त्र में लिखा
है । अभ्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानाम-
वत्पयत् मनु० १ । ८८ ॥ स्वयं पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना, दूसरों
को यज्ञ करवाना, दान देना और दान लेना, ये छ आधिकार ब्राह्मणों को दिये
गये हैं । और क्षत्रिय के लिये स्वयं यज्ञ करना, दान देना और अध्ययन करना
ये तीन कर्म ब्राह्मण के समान ही कहे गये हैं । परन्तु यज्ञ को करवाना, बिद्या पढ़ाना
और प्रतिग्रह लेना ये तीन कर्म क्षत्रिय के लिये कहीं कहे नहीं गये हैं । क्योंकि—
प्रजानां रक्षणे दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रमत्तिश्च क्षत्रियस्य समा-
सतः ॥ म० १ । ८६ ॥ इस मनुश्लोक में दान, इज्या, अध्ययन ये तीन ही कर्म
क्षत्रिय के लिये उल्लिखित हुए हैं । इस अभिप्राय को लेकर राजा ने “प्रतिलोम”
कहा है ॥ शृङ्गा—इससे तो निश्चय होता है कि जैसे पशुओं में गौ, महिष, बट्ट,
गज, मृग आदि भिन्न २ जानिया हैं वैसे ही मनुष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,
शूद्र चार जातिया भी स्वाभाविक हैं ॥ समाधान—देवों पशुओं में भिन्नता प्रत्यक्ष
है । एकदूसरे से स्वभाव, गुण, भोजन, बैठना, उठना, जन्म, आकृति आदि सब
ही भिन्न हैं । भैंस को यदि छोड़ दो तो दिन भर पानी में बैठना पसन्द करेगी,
परन्तु गाय नहीं । बट्ट कण्टक खाता है । परन्तु हाथी नहीं, किसी की उन्नति तान
महीने में जैसे फुत्तों की, किसी की बारह महीने में जैसे गाय आदि की । इस प्रकार
लोकन्यवहार में देखो । गाय के शृङ्ग, शरीर के अध्ययन, ध्यान, आकृति सब ही
भैंस में भिन्न हैं, गाय के जैसा शृङ्ग है वैसा भैंस के नहीं । गाय की जैसी
आकृति है । भैंस की वैसी नहीं । गाय की जैसी भाषण की ध्वनि है वैसी भैंस
की नहीं । दोनों के स्वभाव में भेद है । भैंस पानों को आधेक पसन्द करती है,
गाय नहीं, यदि दोनों पशुओं को एकत्रित करदेगें तो प्रत्यक्ष ही भिन्नता प्रतीत होगी ।
इसी प्रकार हाथी घोड़े आदि में भिन्नता प्रतीत होती है इस हेतु वे भिन्न कहे जाते
हैं । परन्तु मनुष्य में यह भिन्नता कदापि नहीं । यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र
सब एक स्वातन्त्र्य में रह कर दिये जायें तो क्या भिन्नता प्रतीत होगी ? कुछ भी

नहीं । देखो लोकव्यवहार में जब तुम किसी मनुष्य से पूछते हो कि आप किम जाति के हैं जब वह उत्तर देता है तब तुमसे ज्ञात होता है कि यह अमुक जाति का है । पशुओं में ऐसा नहीं । हाथी बैल को देखकर तत्काल ही बोध हो जायगा कि यह हाथी है और यह बैल है । देखो पशुओं में आकृति की भिन्नता बहुत होती गई है । हाथी इतना लम्बा चौड़ा और कुत्ता कितना छोटा इत्यादि । मनुष्य में ऐसा नहीं है ॥

ब्राह्म—मनुष्य में भी देखने से मालूम होता है कि यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, यह वैश्य, यह शूद्र है । जैसे ललाट में चन्दन, हाथ में पञ्चाङ्ग, गले में माला आदि चिह्न देखते हैं तो समझते हैं कि यह ब्राह्मण है । और कटि में लटकता हुआ खड्ग, हाथ में बन्दूक माला बर्छी आदि देखते हैं तब यह क्षत्रिय है ऐसा बोध होता है, वैश्य, शूद्र आदि में भी वैसा ही जानता । समाधान—यह सब कृत्रिम चिह्न हैं । कृत्रिम चिह्न जातिभेदक नहीं होसकता । यदि कोई क्षत्रिय भी वैसे ही चन्दन आदि धारण करले और ब्राह्मण वैसे ही खड्ग आदि बांधले तब तुम कैसे पहिचानोगे ? देखो आजकल की प्रयानुसार दरभङ्गानरेश ब्राह्मण हैं । खड्ग धारण करते हैं । क्षत्रियवन् ही रहते हैं । कोई भेद प्रतीत नहीं होता । इङ्गलिश पलटन में सब जाति के लोग भरती होते हैं । यूनिकार्म के समय कोई भेद प्रतीत नहीं होता, परन्तु अब पशुओं में देखो यदि हाथी और कुत्ते दोनों को एक प्रकार के ही वेपों से भूषित करो क्या तब भी एक समान ही प्रतीत होंगे कदापि नहीं । कभी कुत्ता हाथी हो सकता है या हाथी कुत्ता हो सकता है ? कदापि नहीं । परन्तु मनुष्य यदि एक वेप से भूषित हो तो एक ही समान प्रतीत होंगे । अतः मनुष्य में जातीय भिन्नता नहीं । एक बात यह भी देखो । क्या ब्राह्मणादि वर्ण की उत्पत्ति भारतवर्ष ही में हुई है, अथवा अन्य देश में भी ? यदि कहो कि ईश्वर का नियम सर्वत्र एकसा है तब जहां मनुष्य होंगे वहीं चार वर्ण होने चाहियें । अन्य देश में नहीं देखते, अतः मनुष्य में भिन्न जाति नहीं ॥

शास्त्र के सिद्धान्त देखो । पूर्वकाल में क्षत्रिय की कन्या से ब्राह्मण का विवाह हुआ है । मनुजी भी कहते हैं । ब्राह्मण का विवाह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों में हो सकना । इसी प्रकार क्षत्रिय का वैश्य शूद्र वर्ण में भी विवाह हो

सकता है । कहो यदि यह भिन्न जाति होती तो विवाह के लिये मनुजी आज्ञा कैसे देते ? क्या सम्भव है कि हाथी का सयोग घोड़ी से ही वा घोड़े का सयोग हथिनी से हो ? कदापि नहीं । ब्राह्मण की कन्या से भी क्षत्रिय का विवाह हुआ है । जैसे शुक्राचार्य की कन्या से राजा ययाति का विवाह हुआ है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदिक कन्या से यजन का विवाह हुआ है । और उससे बालक उत्पन्न हुए हैं आज भी ऐसे हजारों उदाहरण हैं । ब्राह्मण जो निस्तान हो गये हैं निस्तान में ही विवाह करते हैं । इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण शुद्ध महाचाण्डाल तक हो सकता है, परन्तु क्या किसी अवस्था में हाथी को कोई घोड़ा घना सकता है ? कदापि नहीं । अतः मनुष्य में जाति नहीं ॥

यदि कहो कि गौर वर्ण ब्राह्मण, रक्तवर्ण क्षत्रिय, पीतवर्ण वैश्य और कृष्ण वर्ण शूद्र हैं । ऐसा नियम मानो तो आजकल की प्रथातुसार हजारों ब्राह्मण शुद्ध बन जायेंगे । जिस देश में कृष्ण वर्ण के मनुष्य होते ही नहीं वहा क्या करोगे ? इस नियम को किसी अल्पज्ञ पुरुष ने कहा है । यह नियम मेरे सिद्धान्त को किसी प्रकार पुष्ट करता है, मेरे सिद्धान्त को नहीं । यहा भेत रक्त आदि शब्द गुण-साचक हैं और लक्षणा पृति द्वारा किन्हीं अन्य ही लक्ष्यों को कहते हैं । अर्थात् सात्विगुण का सूचक श्वेत । धार्मिक वीरतामूचक रक्त । व्योपारमूचक पीत । अधर्मसूचक कृष्ण शब्द यहा है । लोगों ने इस भाष को न समझ केवल रंग अर्थ मानलिया ॥

शङ्का—वेद में मुस से ब्राह्मण, वाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और पैर से शूद्रों की उत्पत्ति मानी है सो कैसे ?

समाधान—उस मन्त्र का अर्थ यह नहीं है । जत्र जातिप्रथा देश में चल गई थी उस समय इस मन्त्र का अर्थ लोगों ने वैसा ही कर लिया । यह अलङ्कार-रूप से जगन् का वर्णन है । इसका व्याख्यान नातिनिर्णय में बहुत भिन्नार से कहा हुआ है, वहा देखो । यहा केवल इतना जानलो कि इसके पूर्व मन्त्र में प्रश्न है । इसका मुग्य कौन है ? वाहु कौन है ? ऊरु कौन है ? और पैर कौन है ? अब विचार करो कि जैसा प्रश्न होता है वैसा ही उत्तर होना चाहिये । उत्पत्ति का तो

यहाँ प्रश्न ही नहीं । फिर उत्पत्ति यहाँ कैसे कही जासकती ? एवमस्तु यह सुनो । जैसे आधुनिक संस्कृत ग्रन्थों में मुख्य आस्योद्भव आदि शब्द ब्राह्मण के लिये । बाहुज करज आदि शब्द क्षत्रिय के लिये । ऊरुज आदि शब्द वैश्य के लिये अन्त्यज जघन्यज पादज आदि शब्द शूद्र के लिये आए हैं, वैसे शब्द वेद और वैदिक समय के ग्रन्थों में नहीं आए हैं । इससे विस्पष्ट होता है कि मुखादिक से ब्राह्मणादिक की उत्पत्ति रूप वर्णन आधुनिक कल्पना है । फिर देखो पुराणादिक के ऊपर भी दृष्टि डालो । पुराण में कहा हुआ है कि ब्रह्म के अङ्गों से कश्यप, दक्ष, अत्रि, भृगु, षसिष्ठ, नारद आदि ऋषि उत्पन्न हुए हैं और इनसे ही सारी सृष्टि हुई है । अब विचार करो, कश्यप से तो सारी सृष्टि हुई । लोकव्यवहार में भी इस प्रजा का नाम कश्यप है । और कश्यप की कोई जाति नहीं कही गई है फिर आदि में जाति नहीं बनी यह सिद्ध हुआ । और कश्यपादि की उत्पत्ति में यह कहीं नहीं कहा हुआ है कि इतने ऋषि मुख से, इतने बाहु से, इतने ऊरु से और इतने चरण से हुए । यदि यह वर्णन रहता तो पुराण का सिद्धान्त वैसा समझा जाता सो पुराण में भी वैसा वर्णन नहीं । जब इन्हीं कश्यपादि से सारी सृष्टि हुई तो फिर ब्रह्मा को कौनसा अवसर मिला जिस काल में मुखादिक से ब्राह्मणादिक उत्पन्न किये । क्या ब्रह्मा के मुख्यादिक से और कश्यपादिक से जो सृष्टि हुई, वे दोनों दो हैं ? पुराण दो नहीं मानता । फिर पुराण के अनुसार भी यदि विचार करो तो मुखादिक से सृष्टि मिथ्या ही प्रतीत होगी । बात तो यह है कि पुराण लिखनेवाले को इस का अभिप्राय कुछ विदित नहीं हुआ । सारी सृष्टि तो कश्यपादि से रच दिया । घबरा कर अन्त में यह भी लिख दिया की मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और पाद से शूद्र । पुनः विचारो । ब्राह्मण वहीं मानाजाय जो मुख से हुआ इसी प्रकार क्षत्रिय वैश्यादि । तो ऐसे मानने में भी पुराणवादियों की बड़ी आपत्ति आवेगी, क्योंकि पुराण के मत के अनुसार पशुओं में कोई पशु ब्राह्मण, कोई पशु क्षत्रिय, कोई पशु वैश्य, एवं कोई पशु शूद्र । इसी प्रकार वनस्पति आदिकों में भी पुराणों ने जातिविभाग किया है । रवि, सोम, मंगल, बुध आदिक ग्रहों में भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जाति मानी है, परन्तु इन सबों की उत्पत्ति मुखादिक से कहीं नहीं कही हुई है । तब मुखादिक से जो उत्पन्न वहीं ब्राह्मणादि वर्ण यह नियम जाता रहा । यहाँ पर मेरा ही सिद्धान्त पुष्ट होगा क्योंकि गुण के अनुसार

इनमें जाति मानी गई है । जब बालक उत्पन्न होता है तब नक्षत्रानुसार उसकी जाति ज्योतिःशास्त्र में मानी गई है । इत्यादि अनेक प्रमाणसिद्ध करते हैं कि मनुष्य में विविध जाति नहीं । जिस समय वसिष्ठ, विश्वामित्र, धृतिमान्, कश्चिदान्, अद्रिग, अथर्वा, दध्यङ्, वामदेव, अत्रि आदि ऋषि वेद का प्रचार कर रहे थे उस समय आर्यावर्त देश में भिन्न २ जाति नहीं मानी जाती थी । अच्छे लोगों को आर्य्य और दुष्ट, चोर, डाकू आदि को दस्यु कहते थे । धीरे २ व्यापार के अनुसार जाति बन गई । कोई भी बुद्धिमान् इस जाती प्रथा को युक्तिमत् कदापि नहीं मान सकता । ऐसी प्रथा केवल इसी भग्यहीन भारत में है । जाति निर्णय ग्रन्थ में इस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है देखो ॥

शङ्का—यदि जातिप्रथा नहीं थी तो पुनः राजाने बालाकि से “यह प्रतिलोम” है ऐसा क्यों कहा । समाधान—जिसने जो अधिकार होता है, वही काम वह कर सकता है । मानलो कि एक पाठशाला में एक केवल बैयाकरण, एक केवल ज्योतिषी, एक केवल नैयायिक और एक केवल मीमांसक हैं । कोई चाहे कि मीमांसा का निर्णय बैयाकरण से करवावे तो कदापि ठीक नहीं होगा । इसी प्रकार व्याकरण का निर्णय मीमांसक से करवावे सो भी उचित नहीं होगा, परन्तु यदि एक आदमी व्याकरण, न्याय, मीमांसा, तीनों जानता हो तो वह तीनों का निर्णय करेगा । परन्तु जिसमें उसकी अधिक योग्यता होगी उसी में उसकी प्रधानता मानी जायगी । इसी प्रकार किन्हीं ने धार्मिक पुस्तक वा ग्रन्थों में अधिक समय लगाना आरम्भ किया और अपने सन्तानों को भी वही शिक्षा देना आरम्भ किया और किन्हीं ने वीरता देश की रक्षा में, किन्हीं ने व्यापार में । और जो लोग भिलकुल मूर्ख रहे उन्हें काम भी मूर्ख के योग्य ही दिये गये । इन ही में इनकी योग्यता भी बढ़ती गई । अजितशत्रु के वंश वालों ने वीरता का ही भार अपने ऊपर लिया था और गार्ग के वंश वालों ने धार्मिक शिक्षा का । वीरता शिक्षक के निकट जानर, धार्मिक शिक्षा शिक्षा की आशा करें यह उचित नहीं हो सकता । आज कल कोई प्रिंसिपल पुलिस के कर्मचारी के निकट पिलामफी के अध्ययन के लिये जाय तो यह हास्यकर ही माना जायगा । परन्तु सम्भव है कि कोई पुलिस के कर्मचारी भी अपने परिश्रम द्वारा फ़िलासोफी के बड़े बड़े ग्रन्थों को भी अध्ययन किये हों आश्चर्य की बात

नहीं । परन्तु सर्वदा यह संयोग नहीं होता और यह भी नहीं हो सकता कि जो रात्रिन्दिवा किलामोफी पढ़ रहा है उसे यह पुलिस कर्मचारी, जिसको विविध काम हैं, कभी पढ़ जाय । यही दशा यहां वालाकि और अजातशत्रु की है । अजातशत्रु राज्याधिकारी होने से सामारिक नाना अजालों से और प्रज-पालन के बोझ से दूबा हुआ है । इन्हें उतना अवकाश कहां जो ब्रह्मविद्या के विषय को विचार करें । और वालाकि के शिरपर जगन् का कोई भार नहीं । आध्यात्मिक मनन के ही लिये ये स्वतन्त्र किये गये हैं । अतः इनमें ब्रह्मज्ञान की योग्यता की संभावना अधिक है, परन्तु बुद्धि सबकी भिन्न २ है । इस अवस्था में रहकर भी वालाकि ब्रह्मज्ञान से राहित रहे और राजा ब्रह्मज्ञानी हुए । यह केवल बुद्धि की विलक्षणता है । इत्यादि ऊहापोह करना ॥ १५ ॥

परमात्मनि विप्रापयितव्ये सुप्तपुरुषमभिधिगमनं बृहत्पाण्डुरवासः सोम-
रात्रिन्दिवासम्बोधनपदाभिमन्त्रणञ्च कमभिप्रायं सूचयतः । इत्याशङ्कायां
ग्रहः । कः पुनरुपायोऽभ्युपगन्तव्यो ब्रह्म बोधयितुम् । नद्येतत् किञ्चिन्मूर्तं
वस्तु यस्याणावाद्याऽऽमलकवन्ताधकस्य प्रत्यक्षविषयतां नयेत्कोऽऽप्याचार्यः ।
तार्किकशतैरप्यनुमानयुक्तैरसङ्गैरपि बोध्यमानो जनो न मनमि श्रद्धाति ।
यतो हि न केनापि कदाचिदपि कस्यामप्यवस्थायां प्रत्यक्षीकृत्योदीरितम्, यदि-
दमेव ब्रह्म एतत्स्वरूपमेतन्नवमीदृशमिति । समाधौ यदि कश्चिद् भाग्यवशा-
दनुभवत्यपि तदीयप्रकाशलाभम् । तथापि न स तस्मिन् किमपि वाक्ते । पृच्छध-
मानोऽपि मौनमेवावलम्बते ॥

यह शङ्का होती है कि यहां ब्रह्म का निजान करवाना है, तब सुप्तपुरुष के निकट जाता और बृहन् पाण्डुरवास आदि सम्बोधन पद से पुकारना किस अभि-
प्राय को सूचित करता है । इस शङ्का के ऊपर कहते हैं—ब्रह्म को जानने के लिये
कौनसा उपाय स्वीकार करना चाहिये ? यह कोई मूर्ख वस्तु नहीं कि जिसको
आमल के समान हाथ में लेकर कोई आचार्य साधक को प्रत्यक्ष करवा देवे ।
हजारों अनुमानों और युक्तियों से भी, हजारों तार्किकों से भी समझाने पर भी
मनुष्य श्रद्धा नहीं करता है । क्योंकि जिस हेतु किसी अवस्था में कभी भी किसी
ने भी प्रत्यक्षतया नहीं कहा है कि यही ब्रह्म है । इसका यह रूप, यह लक्षण है ।

समाधि अरुथा में यदि कोई भाग्यशाली उसके प्रकाश के किञ्चित् अंश को अनुभव भी करता है तथापि वह उसके विषय में कुछ भी नहीं कहता है, बारम्बार पूछे जाने पर भी वह मौन ही माध लेता है ।

अथ चोक्तम्—समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते । मैत्र्युपनिषदि । ६ । ३४ ॥ गीतायापि । ६ । २०, २१ ॥ यत्रोऽपरमने चित्तं निरुद्धं योगसेनया । यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमनीन्द्रियम् । वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितधलति तन्नातः ॥ अपामापोऽग्निरग्नौ वाव्योऽग्निं व्योम न लक्षयेत् । एवमन्तर्गतं यस्य मनः स परिमुच्यते ॥ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासाङ्गि मोक्षे निर्धिष्यं स्मृतम् ॥ मैत्र्युपनिषदि ६ । ३४ ॥ एव नहि कश्चिदाप्तः परेत्यागत्यालुशास्ति वास्तवमस्य स्वरूपम् । अहो पूर्वस्मिन् जन्मनि सिद्धा अपि पुनरपि जननीगर्भाग्निःसृज्य भगवल्लीलया प्रथमं तावत् पञ्चमे वर्षे क्रीडनरूपरा अत ऊर्ध्वं त्रिस्मृतसर्गभावा अप्रतिपुन्ये न स्मरन्स्विक्रिये प्राक्तनज-मदृशम् । यत्र चानुमानं प्रवर्त्तते तद् वास्तु कदापि प्रत्यक्षमागत्य स्थूलानीन्द्रियाण्यपि ग्रीणयति । न परं ब्रह्माभिधेयं वास्तु न कदापि कमपि कृतिर्न जीवन्मुक्तनामक निर्धूतमकलपाप्मानमागत्य महतापुण्यं घेनापि सुखयेत् । जीवन्मुक्तालुद्दिश्य मण्यन्तोपि न मण्यन्ति, हसन्तो न हसन्ति, हस्तेन विधाः सन्ति प्रवादाः । अयं कथं तर्हि ब्रह्मोपदेशसम्मतोऽस्ति ? तथा च श्रुतय एवमनुशासति ॥

यह कहा भी गया है । जिसने अपने चित्त को समाधि द्वारा शुद्ध करके परमात्मा में लगाया है उसने जो सुख प्राप्त होता है उसका वर्णन वचनसे नहीं हो सकता । उसको अन्तःकरण द्वारा ग्रहण कर सकता है, परन्तु बाहर नहीं कह सकता । गीता में भी कहा है जहाँ पर चित्त बाह्य कार्य से मिलजुल अलग होजाता है, जहाँ आत्मा से आत्मा को देखता हुआ आत्मा में ही लुप्त रहता है । इस आत्यन्तिक सुख को कोई इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकता, केवल बुद्धि से इसका ग्रहण होता है । इस अवस्था को प्राप्त पर पुनः विचलित नहीं होता । जैसे जल में जल का, अग्नि में अग्नि का, आकाश में, आकाश का

भेद नहीं प्रतीत होता । इसी प्रकार जिम का मन उसमें लीन हो जाता है, भेद प्रतीत नहीं होता वही मुक्त होता है ॥ २ ॥ मन ही चन्ध और मोक्ष का कारण है । विषयामेगी मन चन्धका और निर्विषय मोक्ष का कारण है । इसी प्रकार न कोई भी आप्त पुरुष मरकर वा वहां जा पुनः यहां आ इसके वास्तव रूप को सिखलाता ही है । आश्चर्य की बात है कि पूर्वजन्म के सिद्ध पुरुष फिर भी जब जननी के गर्भ से निकलते हैं तब प्रथम तो पांच छः वर्ष क्रीड़ा में ही लगे रहते हैं, इसके बाद उन्हें कुछ भी पूर्व जन्म की बात स्मृत नहीं होती और जहां पर अनुमान की प्रशस्ति है वह वस्तु कभी प्रत्यक्ष होकर स्थूल इन्द्रिय को भी प्रमत्त करती है । परन्तु परब्रह्माभिधेय जो वस्तु है, वह कदापि भी निर्धूत-सकलपाप कृति जीवनमुक्त पुरुष को भी बहुत पुण्य के कारण से भी आकर सुखी नहीं करता । जीवनमुक्तों के विषय में बहुत से बाद विषाद सुनने में आते हैं । लोग कहते हैं कि बोलते हुए भी वे नहीं बोलते, हमते हुए भी वह नहीं हसते, इत्यादि । फिर वे कैसे उपदेश कर सकते हैं । और श्रुतिया ऐसे कहती हैं ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ २२ ॥ नाविरतो दुश्चरिता-
आशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २३ ॥
कठे ॥ मरत्वेवं तर्हि मस्य विज्ञाने एव न प्रवर्तितव्यमिति । किं प्रयोजनम-
धेच्य तद्विज्ञातव्यम् विजिज्ञामनीयम् । इत्यादिषु ब्रूमः—प्रयोजनन्तु दर्श-
यन्ति साक्षात्कृतधर्माणो महात्मानः—अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेऽवस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

यह आत्मा केवल शास्त्रों के विविध व्याख्यान से लभ्य नहीं होता, अथवा मेधा से, अथवा बहुत श्रम से, यह आत्मा प्राप्त नहीं होता । इस आत्मा का जिसके ऊपर अनुग्रह होता है वही भक्तपुरुष उसको पा सकता है । उसी भक्तपुरुष को वह परमात्मा अपना प्रकाश प्रकट करता है । इसको दुष्टाचार में आसक्त, अशान्त, असमाहित, अशान्तमानसपुरुष कदापि प्राप्त नहीं कर सकने । प्रकृष्ट ज्ञान से ही इसे पा सकते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि यह प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है । शङ्का—जब ऐसा है तो इसके ज्ञान के लिये यत्न

करना ही उचित नहीं, किस प्रयोजन के लिये इसको जानना चाहिये, अथवा इस की जिज्ञासा करनी चाहिये ? ॥ उत्तर—साक्षात्कृतधर्मा महात्मा लोग इसके प्रयोजन को रखलाने हैं । वह सब शरीरमें व्याप्त है परन्तु वह शरीर रहित है, वह विनश्वर पदार्थ में भी स्थित है परन्तु स्वयं अविनश्वर है, वह महान् व्यापक आत्मा है, इस की मनन कर विद्वान् शोकरहित हो जाते हैं ।

अतः परमात्माऽशोकाय प्रत्यक्षीकर्मण्य एव । विरतेन, सुचरितेन, समाहितेन, जीवात्मना मनसाऽकरणेनै सत्त्वमात्मनः । अशीकृते मनसि च आत्मभावाः प्रमीदन्ति । प्रसन्नेषु आत्मभावेषु परमात्मा लक्ष्यते । परन्त्वात्मन्येव विप्रतिपद्यन्ते जनाः । अतः प्रथमं जीवात्मा साक्षात्कर्मण्यः । ततः परमात्मा । तस्माल्लक्षयितुं जीवात्मानं बालार्कं राजा प्रथमं सुपुत्रं पुरुषं नयति । यथा शास्त्रमागरे प्रवेशाय प्रथमं बालकमचरं ग्राहयति । कथमिहात्माप्रबोधः ? अत्रायं प्रकारो द्रष्टव्यः । यदि शरीरं चेतनं भवेत्तर्हि कथमाहृतं न जयीति, न पश्यतीत्यादि । शरीरमिहास्येव । अतः शरीरं न चेतनम् । यदि इन्द्रियाणि चेतनानि । तर्हि अस्यामप्ययम्याया तानीन्द्रियाणि विद्यन्ते एव । पूर्ववत् कर्णौ अपिहिते नामिके आञ्ज्जादिते स्वगनादृता । केवले नयने पुटाम्बा निबद्धे । तर्हि जागरण इव सुषुप्तापि कथञ्च स्वरूपविषय विषिण्यन्ति । अत इन्द्रियाणि न चेतनानि, प्राणोऽपि न चेतनः । एष हि मदा जागर्ति । सुप्तावपि व्यापारोऽस्य लक्ष्यते एव तर्हि आहृतः कथञ्च शृणोति ? अनोऽस्यापि न चेतनत्वम् । एतेभ्यो मित्रोऽस्ति कश्चिद् यो ब्रह्मा भोता स एवात्मा । ननु स कथञ्च शृणोति ? स तु इदानीं सर्वं सहस्य मिथाम्यति । स्वात्मन्येव लीनः । अतः अत्रणादिकं न विदधाति । पुनः पुनराहृतः सन् समाधिपुरुष इव विश्राम परिन्य-व्याप्तहितो भूत्वा अत्रणादिकं करोति । इमां विलचणां लीलाप्रनुगमयितुं सुपुत्रस्थामनयनम् । बृहन्नित्यादिनामभिधानस्यैतत्प्रयोजनम्-बृहन्नित्यादीनि चन्द्रादीनां नामधेयानि । चन्द्रादयस्तु अचेतनाः । आहूयन्तां जडाः कैश्चिदप्यभिधानैः । न ते कदापि संमुखीना भवन्ति । न च भोतुं कर्णौ च ददति । एवमेव सशरीरा इमे प्राणाः कामिचित्मंद्वाभिरामन्यन्ताम् न तैर्भोत्स्यते जडत्वात् । एतेन प्राणादीनां जडत्वं सूचितम् । यद्वा सूर्यो नेत्ररूपेणेत्यं सर्वं

देवा इह शरीरेऽपि वर्तन्त एवं यदि ते चेतनाः कथन्नास्माकं वचांसि शृणुयुः ।
अतस्तेषां न चेतनत्वम् ॥

इस हेतु अशोक के लिये परमात्मा अवश्य प्रत्यक्ष करने योग्य है । परन्तु विस्त, सुचरित, समाहित, आत्मा को मन से उसकी प्राप्ति होती है, अर्थात् इसकी प्राप्ति में मन कारण है । जब मन बस होता है तो आत्मा के सब भाव प्रसन्न होते हैं और तब प्रसन्न आत्मभाव में परमात्मा लक्षित होता है, परन्तु प्रथम आत्मा के विषय में ही बहुत लोग सन्देह करते हैं । इस हेतु प्रथम जीवात्मा ही साक्षात् कर्त्तव्य है, तदनन्तर परमात्मा । इस कारण प्रथम जीवात्मा को लक्षित करने के लिये बालाकि को अजातशत्रु राजा सुप्त पुरुष के निकट ले जाते हैं । जैसे शास्त्रमागर में प्रवेश के लिये बालकों को अक्षर ग्रहण कराते हैं ॥ शङ्का-सुप्त पुरुष के समीप जाने से आत्मा का बोध कैसे होगा ? । उत्तर—यहाँ यह प्रकार है । यदि शरीर चेतन हो, तो पुकारने पर उसे घोलना चाहिये । देखना चाहिये इत्यादि । क्योंकि यहाँ शरीर है अतः शरीर-चेतन नहीं है । यदि कहो कि इन्द्रिय चेतन हैं, तो इस अवस्था में भी इन्द्रिय सब हैं ही । पूर्ववत् कान खुले हुए हैं । नासिका अना-च्छादित ही है । त्वचा भी अनावृत है । केवल नयन दोनों पुटों से टका हुआ है । तब जागरणावस्था के समान सुषुप्ति में भी अपने अपने विषय को इन्द्रिय क्यों नहीं ग्रहण करते हैं ? इस हेतु इन्द्रिय चेतन नहीं । प्राण भी चेतन नहीं है । यह सदा जागना है, सुषुप्ति में भी इसका व्यापार लक्षित होना है, तो आहत होने पर क्यों नहीं सुनता है ? अतः यह भी चेतन नहीं है इन सबों से भिन्न कोई है तो द्रष्टा होता है । वही आत्मा है ॥ शङ्का-फिर आत्मा ही क्यों नहीं सुनता है ? ॥ उत्तर—बह इस अवस्था में अपनी सारी लीला को समेट कर विग्राम ले रहा है । अपने में ही लीन है । इस हेतु श्रवणादिक नहीं करता है । पुनः पुनः आहत होने पर समाधिस्थ पुरुष के समान विग्राम को त्याग अवहित हो श्रवणादिक करता है । इस विलक्षण लीला को जनवाने के लिये सुप्त पुरुष के निकट जाने का प्रयोजन था । क्योंकि विषय यहाँ अच्छे प्रकार समझ में आता है । वृहत्साल-वाता इत्यादि नामों से पुकारने का तात्पर्य यह है । वृहन् इत्यादि नाम चन्द्रमा आदिक देवों का है, परन्तु चन्द्र आदि अचेतन हैं । इन जड़ पदार्थों को किन्हीं

नामों से पुकारे थे कदापि भी अभिमुख नहीं होंगे और न सुनने के लिये जान ही धरेंगे । इसी प्रकार शरीर सहित ये प्राण किन्हीं नामों से पुकारे जायें परन्तु ये समझेंगे नहीं, क्योंकि ये जड़ हैं । इससे प्राणादि की भी जड़ता सूचित हुई । इस शरीर में नेत्ररूप से सूर्य, मनरूप से चन्द्रमा, कर्णरूप से वायु, घ्राणरूप से धृषिबी इस प्रकार सन ही देव वर्तमान हैं । यदि पूर्वोक्त देव चेतन हैं तो हम लोगों के बचन को क्यों नहीं सुनते हैं ? इस हेतु ये चेतन नहीं हैं ॥ १५ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्नैव एतत्सुप्तोऽमृद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः केष तदाऽमृत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥ १६ ॥

अनुवाद—ये अजातशत्रु बोले जिस काल मैं यह शयन कर रहा था । जो विज्ञानमय और पुरुष है उस समय यह (जीवात्मा) कहा था और पुनः कहाँ से इसने आगमन किया ? गार्ग्य ने निश्चय इसको नहीं समझा ॥ १६ ॥

* त होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोभरूपमेव तन्मन्ये यत् क्षत्रियो ब्राह्मणमुप-
नयेतैहि श्वेष त्नाह्वयविध्वामीति तं ह पाण्डुरभिपथ प्रववान् तौ ह सुप्तं पुरुष-
माजगमतुस्तं राजातशत्रुरामन्त्र्याचक्रे बृहन्पाण्डुरवासः सोमराजमिति स उ ह
शिरथ एव तत उ है न यष्टया विचिक्षेप स तत एव समुत्तस्थौ तं होवाचाजा-
तशत्रुः केष एतद्बालाके पुरुषोऽमृत्कुत एतदागादिति तत उ ह बा-
लाकिर्न विजज्ञे ॥ कौ० अ० ४ । १६ ॥ **अर्थ—**उन से अजातशत्रु बोले । मैं
उस को विपरीत समझता हूँ कि क्षत्रिय होकर ब्राह्मण को ब्रह्म विद्या के लिये
दीक्षित करे, एवमस्तु । आप यहाँ आँवें मैं आपको अवश्य ही ब्रह्म का बोध कर-
वाऊंगा । बालाकि के हाथ पकड़कर वे दोनों वहाँ सोए हुए पुरुष के निकट
आए । उस सोए हुए पुरुष को हे बृहन् । हे पाण्डुरवासा । हे सोम । हे
राजन् । इत्यादि नामों से राजा ने पुकारा । वह सोया हुआ ही रह गया । तब
इसको यष्टि (लकड़ी) से मारा । तब वह उठ खड़ा हुआ । तब अजातशत्रु ने
बालाकि से पूछा कि हे बालाके । कहा यह पुरुष सोया हुआ था और कहा था ?
और कहा से आया ? परन्तु बालाकि ने इसको नहीं जाना ॥

पदार्थ—(सः+ह+अजातशत्रु+उवाच), वे प्रसिद्ध अजातशत्रु बोले । हे अनूचान !
 (यत्र+एषः) जिस काल में यह प्रसिद्धवत् भासमान जीवात्मा (एतत्+मुप्तः+
 अभूत्) जब सुपुत्रावस्था में सो रहा था (यः+एष+विज्ञानमय+पुरुषः) जो यह
 ज्ञानमय पुरुष है । (तदा+एषः) तब यह (कः+अभूत्) कहाँ था (कुतः) पुनः
 पेयण करने से (एतद्+आगान्) इसने कहाँ से आगमन किया । कौन सोने और
 जागने द्वारा है और कौन उठया गयापेसी शङ्का स्वतः होती है (यः+एषः) जो यह
 (विज्ञानमयः) अतिशय ज्ञान है और जो (पुरुषः) विविध कर्मों को सीता
 रहता है अर्थान् उत्पन्न करता रहता है अथवा सन शरीर में जो रहनेद्वारा है वह
 जीवात्मा कहाँ था ? और कहाँ से आया ? ये मेरे दो प्रश्न हैं क्या आप जानते हैं ?
 प्रथम शिष्य से प्रश्न पूछना, तब उत्तर देना, यह रीति अजातशत्रु महाराज की बहुत
 अच्छी है, क्योंकि इसमें विचारने का अवसर मिलता और यदि शिष्य जानता ही
 हो । अपना परिश्रम बचता है यदि उसमें झुटि हो तो बतने ही अंश के कथन से
 शिष्य को भी शीघ्र बोध हो जाता (गार्ग्यः) गार्ग्य ने (तत्+उ+ह) इस विषय
 को निश्चय (न+मेने) न समझा । गार्ग्य के समझ में यह बात नहीं आई ॥ ६॥

भाष्यम्—यदेति । आत्मनः स्वामारिकं स्वरूपं प्रथमं दर्शयति—सुपुत्रे
 उत्थिते च तस्मिन् पुरुषे । स ह अजातशत्रुः पुनरपि बालार्कं प्रत्युवाच । हे
 अनूचान ! यत्र यस्मिन् काले एष प्रसिद्धो जीवात्मा कर्त्ता भोक्ता । एतत्
 शयनमिति शेषः । एतच्छयनं यथास्यात्तथा । मुप्तः शयितः अभूत् । तदा
 तस्मिन् काले । एष जीवात्मा कः कुत्र कस्मिन् स्वामाव्ये कीदृग्विधे स्वरूपे स्थि-
 तः अभूत् । कुतः कस्मात्स्थानात् कीदृग्विधात्स्वरूपात् प्रच्युतः सन् एतदाग-
 मनं यथास्यात्तथा । आगात् आगमत् आगतवान् । इति मम प्रश्नो स्तः । कः
 मुप्तः क उद्बोधितः कथजागरित इत्यत्र आह—य एष विज्ञानमयः विशिष्टं
 ज्ञानं विज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् अन्तःकरणधर्मविशेषः । लोके बुद्धिर्मतिरु-
 पलङ्घिरितपादयस्तत्पर्यायाः सन्ति । प्रचुरं विज्ञानमस्तीति विज्ञानमयः । यः
 कश्चित् प्रचुरविज्ञानवान् वर्त्तते स स्वपिति, जागर्ति, करोति, मुञ्चे, आनन्दति,
 इत्येयंक्रियां करोति । पुनः पुरुषः यः कश्चित् पुरुषेण बहूनि कर्माणि सीव्य-
 तीति सः । यद्वा पुनः शरीरे भेदे । स विज्ञानमयः पुरुषः कःसीत् ? कुतश्चा-

गमत् ? एवं पृष्टो गार्ग्यः किमुक्तयानित्यत आह—तदुह । तद्विज्ञानमयम्य
पुरुषस्य स्वापसवेशनस्थाने न मेने न युमुधे ॥ १६ ॥

भाष्याशय—यह आत्मा की स्वाभाविक अवस्था कहते हैं। जो सोता जागता है वह आत्मा है। क्या केवल सोने जागनेहारा ही आत्मा है ? इस पर कहते हैं “विज्ञानमय” यह आत्मा ज्ञानमय है अर्थात् इसमें सब ज्ञान पूर्ण है। यदि ज्ञानमय है तो सब कुछ क्यों नहीं जानता ? इस हेतु कहते हैं कि “पुरुष” है (पुरु+ष) पुरु=ग्रहृत । स=सीनेवाला अर्थात् बहुत सीनेदार अर्थात् बहुत कर्म करनेदार । यह आत्मा बहुत व्यापार में फसा-हुआ है। अतः भव बुद्ध नहीं जानता । यदि एकाग्र हो तो बहुत ज्ञान इसमें भासित हो । अथवा “पुरुष” शब्द का अर्थ शरीर में शयन करनेहार का है, जिस हेतु यह आत्मा शयन अर्थात् असावधानता में रहता है। अतः उतना नहीं जानता “विज्ञानमय” शब्द यद्यपि ब्रह्म के लिये ही आता है तथापि आत्मा में भी बहुत ज्ञान होने के कारण विज्ञानमय कहा जाता । अथ इस उपनिषद् के अनुसार दो और कौपीतिके के अनुसार तीन प्रश्न होते हैं । यह विज्ञानमय भोक्ता किस देश में स्थित होकर शयन करता था ? १—शयन का आधार कौन है ? २—और किस देश से उठकर जाग्रत अवस्था में आया ? ३—लोक में देखते हैं कि कोई पुरुष बैठा हुआ ही सो जाता है और कभी वही पुरुष शय्या पर भी सोता है इस हेतु शयनकर्त्ता पुरुष का आधार का नियम नहीं ॥ श्रद्धा—शयनकर्त्ता पुरुष के आधार का जो प्रथम प्रश्न है यद्यपि उमरा सभ्य है तथापि शयन का आधार कौन है । इस दूसरे प्रश्न का सम्भव नहीं । क्योंकि शयनकर्त्ता का जो आधार होता है, वही शयन का भी आधार होता है ॥ समाधान—जो शयनकर्त्ता पुरुष का आधार होता है वही शयन का आधार होता है, यह लोक में नियम नहीं । वही तो शयनकर्त्ता पुरुष का तथा शयन का एक ही आधार होता है, जैसे एक ही मचा शयनकर्त्ता और दोनों का आधार है । और वही भिन्न २ आधार होता है, जैसे शयनकर्त्ता का पुरुष आधार तो मचादिक है और मच के उपरिस्थ जो तृत्तादिक हों, वह उसके शयन का आधार है । इस प्रकार शयनकर्त्ता पुरुष के आधार को और शयन के आधार को लोक में भिन्न २ मानते हैं । इस हेतु प्रथम प्रश्न करके दूसरा प्रश्न चरितार्थ

नहीं किन्तु भिन्न भी दूसरा प्रश्न समभव है । शङ्का—द्वितीय प्रश्न का प्रथम प्रश्न से भिन्न होना समभव भी है । परन्तु द्वितीय प्रश्न से तृतीय प्रश्न का भिन्न होना समभव नहीं, क्योंकि जो शयनकर्त्ता का आधार होता है वही उसके आगमन की अवधि है, शयन के आधार का जब ही निश्चय होगा तब ही शयनकर्त्ता पुरुष के आगमन की अवधि का भी निश्चय हो जायगा । इस हेतु तृतीय प्रश्न व्यर्थ है ॥ समाधान—जो शयन का आधार हो वही शयनकर्त्ता पुरुष के आगमन की भी अवधि हो यह नियम नहीं । क्योंकि लोह में शयन के आधार से भिन्न भी आगमन की अवधि कहीं २ देखते हैं । जैसे मञ्चक के ऊपर मोया हुआ पुरुष प्रथम मचक से उठ कर बाहर आता है । इस प्रकार कोई नहीं कहता किन्तु मचक से उठकर, गृह में स्थित होकर गृह में बाहर आया है इस प्रकार लोग कहते हैं । इस प्रकार लोह-व्यवहार में शयन के आधार मञ्चक से आगमन की अवधि गृह भिन्न ही प्रतीत होती है, इस हेतु द्वितीय प्रश्न करके तृतीय प्रश्न चरितार्थ नहीं किन्तु तृतीय प्रश्न की भी संभावना है । इस प्रकार अज्ञानरात्रु रात्रा बालाकि के प्रति शयनकर्त्ता विज्ञानमय मोक्षा के स्वरूप के बोधन के लिये तथा स्वप्न सुषुप्ति रूप दो प्रकार के शयन के स्वरूप बोध के निमित्त तथा दो प्रकार के शयन के आधार के बोधार्थ तथा शयनकर्त्ता विज्ञानमय मोक्षा के आगमन की अवधि के बोधन के वास्ते तीन प्रश्न करते हैं ॥ १६ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैव एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेपां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्नर्हृदय-आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषं स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतश्चक्षुर्गृहीतंश्रोत्रं गृहीतं मनः ॥ १७ ॥

- अनुवाद—वे अज्ञातशत्रु बोले कि जिस काल में इस आत्मा ने शयन किया था । जो यह विज्ञानमय और पुरुष है । उस समय यह आत्मा सब इन्द्रियों के बोध को अपनी कुरालता से ले हृदय के मध्य में जो आकाश है, उसमें सोजाता है । जन सब इन्द्रियों को वह अपने घर में कर लेता है अब इस पुरुष का 'स्व-

यिति' ऐसा नाम होता है । उस समय माण बद्ध रहता, वाणी बद्ध रहती, चक्षु बद्ध रहता, श्रोत्र बद्ध रहता, मन बद्ध रहता है ॥ १७ ॥

पदार्थ—(त् + इ + अजातशत्रुः + उवाच) वे अजातशत्रु बोले । हे बालाके ! (यत्र) जिन काल में (एष.) यह जीवात्मा (एतत्) इस शयन को (सुप्तः + अभूत्) कर रहा था (य. + एष.) जो यह (विज्ञानमयः) अधिक ज्ञानमान है । और (पुरुष.) विविधकर्म करनेहारा है । ऐसा जीवात्मा जब शयन करता है (तद्) उस समय (एषाम् + प्राणानाम्) इन सकल इन्द्रियों के (विज्ञानम्) स्वस्वविषय ग्रहण सामर्थ्य को (विज्ञानेन) निज-विज्ञान-कुशलता से (आदाय) लेकर (तस्मिन् + योते) उस आराश में सों जाता है । (य. + एषः + आकाश.) जो यह आकाश (अन्तर्हृदये) हृदय के मध्य में है कैसे समझते हैं कि वह सोंता है ? इस हेतु जीवात्मा का योगिक नाम कहते हैं (यदा) जब (तानि) सकल इन्द्रियों को (गृहीति) अपने घर में आत्मा ले आता है (अधः + पुरुषः) तब यह पुरुष (स्वयिति + नाम) “स्वयिति” ऐसे नाम को धारण करता है अर्थात् जीवात्मा का नाम ही दिग्गताता है कि यह सोता है, जब सोता है तब इन्द्रियों की क्या दशा होती है ? सो आगे कहते हैं—(तत्) उस समय (प्राण.) प्राणोन्मित्र (गृहीतः + एष.) बद्ध ही (भवति) रहता है । अपने व्यापार से निवृत्त ही रहता है । इसी प्रकार (वाग् + गृहीता) वाणी का व्यापार भी बन्द रहता है (चक्षुः + गृहीतम्) जयन भी व्यापारशून्य होजाता (श्रोत्रम्) श्रवणोन्मित्र भी बन्द ही रहता है (मनः + गृहीतम्) मननक्रिया भी बन्द रहती है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—स हेने । यदा गात्राणि वै “कैष तदाभूत् ? कुत एतदागादिति” न विभेद तदाऽजातशत्रुः स्वयमेव शरीरप्रभमनुबद्धं जीवस्य शयनाधारं दर्शयति । हे बालाके ! य एष विज्ञानमयः पुरुषोऽस्ति । स एष यत्र यस्मिन् काले । एतच्छयनं यथास्यात्तया सुप्तोऽभूत् । तदा तस्मिन्शयनकाले प्राणानां सप्राणानां सर्वेन्द्रियाणां “एनस्यैव सर्वे रूपमभवत् तस्मादेत एतेन आख्यायन्ते प्राणा इति” बहुश उक्तत्वात्प्राणवन्देन सर्वाणीन्द्रियाणि उच्यन्ते । विज्ञानं विशेषणं ज्ञान इन्द्रियाणां स्वस्वविषयग्रहणाधिक्रियामर्थमित्यर्थः । “सुपुस्तारपि किञ्चिज्ज्ञानमशिष्यत एवातो विज्ञानमित्पुरुष” विज्ञानेन निज-

कौशलेन करणेन रज्ज्वा हयानिव आदाय गृहीत्वा संहृत्य इन्द्रियव्यापारान्
समाहृत्येत्यर्थः । तदा तस्मिन्नाकाशे शेते । जागरितदर्शनस्वप्नमृत्युयासनासुप्त-
वनिवृत्तौ भूत्वा स्वात्मस्थो भवतीत्यर्थः । कस्मिन्नाकाशे शेते इत्यत आह—
अन्तर्हृदये हृदयस्य मध्ये । य एष योगादिशास्त्रैः प्रदर्शितोऽध्यानावस्थितर्हृद-
आकाशोऽस्ति । तत्र शेते इत्यन्वयः । एष विज्ञानमयः पुरुषः सर्वेषां प्राणानां
विज्ञानमादाय आकाशे शेते इति कथमवगम्यते ? एतज्जीवात्मनो नामधेयमेव
दर्शयति । तथाहि—यदा तानि सर्वाणीन्द्रियाणि गृह्णाति वर्गीकरोति । अथ
तदा पुरुषोविज्ञानमयो जीवात्मा एतत्स्वपिति नाम विभर्ति इति शेषः । इमाम-
वस्थां प्राप्तस्य जीवात्मनो “स्वपितीति” नामधेयं भवति । यतोऽयं सर्वं संह-
ृत्य अहरहः स्वपिति शेते । अतः शयनव्यापारप्राप्तिर्यात् “स्वपिति” इत्येव
शब्दानुकरणेन आत्मनो नामकरणं कृतवन्तस्तत्स्वप्नः । यदा यदाऽयं स्व-
पिति तदा स्वस्मिन्नेव संकुचस्तिष्ठति । स्व निजम् । “अपीति” गच्छति, प्राप्तो
भवतीति व्युत्पत्त्या स्वपिति नाम “पृषोदरादीनि यथोपदिष्टमिति” साधु ।
“स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते” इति श्रुत्यन्तरे स्वयमेव नाम-
निर्वचनसामर्थ्यात् । स्वापकाले सर्वेन्द्रियव्यापारामावो भवतीति पुनरपि विस्फ-
टयति । तत्तदा । प्राणो घ्राणेन्द्रियं गृहीतो निगृहीतः संहृत एव भवति ।
एवं वाग् गृहीता भवति । चक्षुर्गृहीत, श्रोत्रं गृहीतं मनो गृहीतम् । एवमुक्ते-
भ्योऽन्यदपि सर्वं गृहीतं भवति । अतो हे बालाके ! आत्मनः शयनाधारा-
ऽन्तर्हृदयमाकाशोऽस्ति । इति प्रथमप्रश्नस्य समाधानम् । अस्मादेवस्थानादु-
त्थाय पुनरपि जाग्रदवस्थां प्राप्नोतीति द्वितीयस्यापि प्रश्नस्य समाधानं वेदित-
व्यम् । श्रुतिपिण्डा कचिदप्यनुकृत्वात् ॥ १७ ॥

भाष्याशय—यह आत्मा कहाँ था ? और कहाँसे आया ? इस प्रश्न को जब
गर्भ ने नहीं समझा, तब अजातरात्रु राजा अपने प्रश्न का अनुवाद करते हुए जीव
के शयनाधार को दर्शाते हैं । आकाश=यहाँ आकाश शब्द का अर्थ आकाश ही
लेना उचित है, किन्हीं ने ब्रह्म अर्थ किया है सो ठीक नहीं । वेदान्ती लोग मानते
हैं कि प्रतिदिन आत्मा सुषुप्ति में ब्रह्म होता है, क्योंकि इस अवस्था में अविद्यारूपी
अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है । इस हेतु उनके पक्ष में आकाश का अर्थ ब्रह्म

करना ठीक है, परन्तु उपनिषद् का यह मिथ्यान्त नहीं । शेषे—जामद्व्यवस्था में जो विविध वाद्य पदार्थों का दर्शन और स्वप्न में उनकी स्मृति और स्मृति के कारण और वासना का अनुभव, इस सबों में निवृत्त होना ही शयन है । यहाँ हृदय के मध्य जो आशय वह शयन का आधार कहा गया है । यह प्रथम प्रश्न का समाधान है । और इसीसे द्वितीय प्रश्न का भी समाधान जानना । जो शयनाधार है वहा से फिर आत्मा जाग्रत अवस्था में आता है । यदि ते स्वयं द्वितीय प्रश्न, का समाधान नहीं किया है, परन्तु इसी से समझ लेना ॥ १७ ॥

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भषत्युतेव महाराज्येण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथा कामं परिवर्त्तते तत्रैवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथा कामं परिवर्त्तते ॥ १८ ॥

अनुवाद—जब वह निजानमय पुरुष स्वप्न की द्रष्टा से विचरण करता है । तब इसके वेही प्रसिद्ध लोक होते हैं । उस समय कभी वह महाराज के समान होता है । अथवा कभी वधस्वरूप को कभी नीच स्वरूपों को धारण करता है । और जैसे महाराज अपने राज्य सन्त्यर्धी विविध प्रकार के भृत्यादिकों को लेकर अपने राज्य में स्वेच्छानुसार घूमें, वैसे ही कभी वह आत्मा इन्द्रियों को लेकर अपने शरीर में ही स्वेच्छानुसार घूमता है ॥ १८ ॥

पदार्थ—यह प्रथम निजानमय जीवात्मा की स्वप्नावस्था के व्यापार को दर्शाने के हेतु उत्तरप्रश्न का आरम्भ करते हैं (यत्र+स.) जिस काल में वह जीवात्मा (स्वप्न्यया) स्वप्नलीला के द्वारा (एतत्+आचरति) इस स्वप्नव्यापार-रूप नाटक को करना आरम्भ करता है तो उस समय (अयम्) इस जीवात्मा के (ते+ह) के प्रसिद्ध नाडीरूप (लोकाः) स्थान होते हैं । भाव यह है कि जैसे नगों के लीला के लिये विविध नगर प्रामाणिक स्थान होते हैं । वैसे ही इस आत्मा की लीला करने के लिये शरीरस्थ विविध नाडिया ही स्थान होती हैं । अथवा

जैसे नटों की लीला देखने वाले बहुत से मनुष्य होते हैं, वैसे ही इस जीवात्मा की लीला देखनेहारे इन्द्रिय सब ही होते हैं । इस पक्ष में “लोका” शब्द का अर्थ देखनेहारे इन्द्रिय हैं । और जैसे लीला के समय में विविध रूपों को नट बनाते हैं, वैसे ही (तद्) उस समय (उत) कभी तो (महाराज +इव+भवति) महाराज के समान होता है (उत) अथवा कभी (महाप्राक्षणः+इव+भवति) महाप्राक्षण के समान होता है (उत) अथवा कभी (उच्चावचम्) उच्च=मेष्ठ महाराजादि के उच्चस्वरूप को । अवच=नीच चाण्डालादि नीचस्वरूप को, इस प्रकार ऊच नीच विविधरूपों को (निगच्छति) विशेष प्रकार से प्राप्त करता है । भाव यह है कि कदाचित् राज्य को प्राप्त करके महाराज्यन् निर्ग्रह अनुग्रह करने के लिये चेष्टा करता है । कभी सब विशा को प्राप्त महाप्राक्षण समान धर्माधर्म के निर्णय में प्रवृत्त होता है । कदाचिन् चाण्डालादिवन् अपने को मलीन मानता है । कभी हंसता है, रोता है, द्रष्ट हो सोंचता है, मारता है, मारा जाता है । इत्यादि स्वप्न व्यापार को नीच पुरुष भी प्रतिदिन अनुभव करते हैं । आगे एक दृष्टान्त से महाराज की समानता को कहते हैं । इसी प्रकार अन्य दृष्टान्त के साथ में भी यथायोग्य योजना करलनी चाहिये (यथा) जैसे (महाराजः) महाराज मनुष्यों की दशा देखने की इच्छा से अथवा मनोविनोदार्थ भ्रमण की इच्छा से (जानपदान्) अपने राज्यमन्वन्धी मंत्र कार्य में चतुर और राज्य के उस उस स्थानों को जाननेवाले अनेक भृत्यादिकों को (गृहीत्वा) लेकर (स्वे जनपदे) अपने भुजोपार्जित राज्य में (यथाकामम्) अपनी इच्छानुसार (परिवर्त्तेन) भ्रमण करे (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के समान (एषः) यह जीवात्मा (प्राणान्) इन्द्रियों को (गृहीत्वा) लेकर (स्वे+शरीरे) अपने शरीर में ही (परिवर्त्तेन) भ्रमण करता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—स इति । अथ प्रथमं विज्ञानमयस्य पुरुषस्य स्वप्नस्याव्यापारं दर्शयन्नुत्तरग्रन्थमारभते । यत्र यस्मिन् काले । स विज्ञानमयः पुरुषः । स्वप्न-या एतत्स्वप्नव्यापाररूपलीलाम् आचरति कर्तुमारभते । स्वप्नेनोपेता स्वप्न्या स्वप्नवृत्तिः स्वप्नव्यापारः स्वप्नमभिलितलीलेत्यर्थः । यदा स्वप्नलीलां चिकीर्षति तदा नटस्य बाह्यनगरादिस्थानानीव । अथ जीवात्मनः । ते ह सुप्रसिद्धा

नाड्याख्या लोकाः स्थानानि भवन्ति । यदा नटस्थ यथा लोलादर्शका विविधाः पुरुषा भवन्ति । तथैव अस्यापि । ते इन्द्रियाख्याः प्रसिद्धा लोका अवलोकनकर्तारो भवन्ति । यथा लोलाममये विविधानि रूपाणि रूपयन्ति नटाः । तथैवायमपि । ततदा कदाचित् महाराज इव भवति । उतायवा । कदाचित् महाब्राह्मण इव भवति । उतायवा । उच्चावचं निगच्छति । उच्चावचं यथास्या-त्तथा प्राप्नोति । उचं महाराजस्वरूपं महाब्राह्मणादिस्वरूपं च । अयम् नीचं चाण्डालादिस्वरूपं च । इत्यमुद्यानि नीचानि विविधानि रूपाणि । निगच्छति नितरां प्राप्नोति । कदाचिद्वाज्यं प्राप्य निग्रहानुग्रहं कर्तुं चेष्टते महाराजपदम् । कदाचित् मर्त्रा विद्यापुत्रस्य धर्मो र्म्मर्निर्णेतु प्रवर्तते महाब्राह्मणपदम् । कदाचिच्चाण्डाल इव मल्लीनमात्मानं मन्यते । कदाचित् हसति, रोदति, हृष्यति, शोचति, हन्ति, हन्यते । इत्यदिस्वप्न-वापाराः पामरेत्यहर्दिव मनुभूयन्ते । स्वप्ने व्यापारानेव पुनरपि सदृष्टान्तानाचष्टे । यथा जनदशा अगलुलोकपिपूर्वा मनोविनोदाय विभ्रमिपूर्वा कवि-महाराजः । जानपदान् जनपदमन्वन्धिततत्प्रदेशविशेषता-ऽभिज्ञान् भूत्यादीन् बहून् गणान् गृहीत्वा । यथाकाम स्वेच्छानुसारम् । स्वज नपदे स्वभुजोपार्जिते निरुपद्रवे राज्ये परिवर्त्तत भ्रमेत् । एवमेवैष विज्ञानमयः पुरुषः । प्राणान् सर्वाणीन्द्रियाणि समनस्कानि गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकाम परिवर्त्तते भ्रमति एतदिति क्रियाविशेषणम् । एनां विविधा लीला करोतीत्यर्थः । केचिदज्ञाः स्वप्ने स्वशरीराणि सत्यं बाह्यप्रदेशमभ्ययमात्मा ब्रजत्येव मन्यन्ते । तन्निरासाय स्वे शरीर इति पदं प्रयुज्यम् ॥ १८ ॥

अथ यदा सुपुत्रो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वाप्तमतिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृष्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नी मानन्दस्य गत्वा शयीतेवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

अनुवाद—अनन्तर जब यह आत्मा सुपुत्र होता (गाढ़ निद्रा में रहता) है और जब किसी पदार्थ के विषय में कुछ नहीं जानता उस समय जो हिता (हित

करनेहारी) ७२ महन् नाडियां हृदय देश से लेकर सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं । उनके द्वारा इधर उधर जा अन्त में इन्द्रियों को समेट शरीर में सोता है । सो जैसे कुमार अथवा महाराज अथवा महाब्राह्मण आनन्द की पराकाष्ठा पर पहुँच कर सोवे । इसी प्रकार वह यह आत्मा सो जाता है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अथ) अनन्तर (यदा) जब यह जीवात्मा (सुपुप्तः+भवति) अच्छे प्रकार सो जाता है अर्थात् आत्मा को जब सुपुप्ति अवस्था प्राप्त होती है । (यदा) जब (कस्यचन) किसी पदार्थ के विषय में (न+वेद्) कुछ नहीं जानता है तब उसका नाम सुपुप्त्यवस्था है और उस समय आत्मा “सुपुप्त” कहलाता है । इस अवस्था में आत्मा कहाँ रहता है सो आगे कहते हैं—(हृदयात्) हृदय देश से (हिताः) हित=सुख देनेहारी (द्वास्ततिः) ७२ वहत्तर (सह-स्राणि) सहस्र (नाड्यः) नाडिया (पुरीतम्) सम्पूर्ण शरीर में (अभिप्रतिष्ठन्ते) फैली हुई हैं (नाम) यह बात प्रसिद्ध है तो फिर इससे क्या हुआ (ताभिः) उन ७२ सहस्र नाडियों के द्वारा खूब भ्रमण कर पीछे सब इन्द्रियों को अपने में सिमिट (पुरीतम्) शरीर में ही (रोते) सो जाता है । आगे दृष्टान्त देते हैं (यथा) जैसे (कुमारः) अत्यन्त बालक (वा) अथवा (महाराजः) महाराजा (वा) अथवा (महाब्राह्मणः) परिपक्व विद्यासम्पन्न पूर्ण वेत्ता महाब्राह्मण (आनन्दस्य) आनन्द की (अतिघ्नीम्) परमाकाष्ठा अन्तिम सीमातक (गत्वा) जाकर (शयीत) सो जायं (एवम्+एव) इन्हीं दृष्टान्तों के अनुसार (सः) वह (एषः) यह आत्मा (एतत्+रोते) इस सुपुप्ति अवस्था में शयन करता है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अथेति । सुपुप्त्यवस्थां लक्षयति । अथ पुनर्जाग्रत्स्वप्नयोर्व्यतिरेकवृद्धिकथनानन्तरम् । यदा यस्मिन् काले । अथमात्मा । सुपुप्तो भवति शोभनं सुप्तः सुपुप्तः । विशेषज्ञानविवेकाभावेन संप्रसन्नोऽपेक्षासनाविरहित इत्यर्थः । कदा सुपुप्तो भवतीति—यदा यस्मिन् काले । अथमात्मा । कस्यचन कस्यचिद्गतुनः सम्बन्धे किमपि । न वेद विजानाति । तदास्य सुपुप्त्यवस्था । अस्यामवस्थायां क्व म तिष्ठति ? अतोऽग्रे पठति हृदयादिति—हृदयं नामोदरवत्तः प्रदेशयोर्मध्यस्थितः पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः । तस्मात्स्थानात् । हिता-

हिनकारिण्यः । सर्वाः क्रिया नाडीद्वारा भवन्ति । अतोद्दिताः । दासमतिः सहस्राणि । द्वाभ्या मदस्त्राभ्यामधिका मत्ततिद्विगमतिः सहस्राणि नाड्यो देहस्य शिराः । पुरीततममिप्रानेष्टन्ते । हृदयस्य वेष्टनं पुरीतदिस्फुच्यते । इह पुनस्तदुपलक्षितं शरीरं पुरीतः सृज्यते । तं पुरीततममितो व्याप्य वर्तन्ते । द्वाभ्यामतिः सहस्राणि नाड्यो हृदयदेशाग्निः सृत्य सम्पूर्णं शरीरं व्याप्य वर्तन्ते । तत्रा क्रिमित्याह—ताभिर्नाडीभिर्द्वारा प्रत्यक्सृष्ट्य सर्वत्र नितरां चरित्वाऽवमाने सर्वाणिन्द्रियाणि संहरन् । पुरीतति । हृदयदेशे । शेते स्वपिनि । अत्र दृष्टान्तमाह—स यथा । कुमारोवाऽत्यन्तं क्रीडनशीलो बालः । महाभागो वा यशप्रकृतिको महान् राजा वा । महाशक्त्यः परिपक्वविद्याविनयसम्पन्नो ब्रह्मवेदनतया निखिलद्वन्द्वसङ्गपरिहितो वा पुरुषः । अतिघ्नीम् अतिशयेन दुःखं हन्तीति अतिघ्नीं ताम् । आनन्दस्य सुखस्यावस्थाम् । गत्वा प्राप्य शयीत । दुःखाननुविद्धसुखमभ्याभावेऽवतिष्ठेत् । एवमेव । दृष्टान्तत्रयतुल्यमेव । एष जीवात्मा । एतद्वदनं यथास्यानया । शेते सुषुप्त्यवस्थाया तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

स यथोर्णानाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुब्धा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वे सत्यं तेषामेव सत्यम् ॥ २० ॥

अनुवाद—जैसे ऊर्णनाभि (मकरा) नाम कीट अपने तन्तु के द्वारा विचरण करता है और जैसे अग्नि से छोटे २ विस्फुलिङ्ग निकलते हैं । यह विषय प्रसिद्ध है । ऐसे ही मन प्राण, मन लोक, मन देव, मन भूत इसी आत्मा से प्रसृजित वा उद्गृत होते हैं । उसका उपनिषद् नाम “सत्य वा सत्य” है । निश्चय प्राण ही सत्य है उनके मध्य यह सत्य है ॥ २० ॥

पदार्थ—अन जीवात्मा की स्वाभाविक स्वप्न और सुषुप्ति दो अवस्थाओं का व्याख्यान कर उमर्छा महिमा प्रवट करते हैं । (यथा) जैसे (स. + ऊर्णनाभिः) मकरी (तन्तुना) निजनिर्मित जाले में (उच्चरेत्) विचरण करती है अर्थात्

ऊपर मे नीचे, नीचे से ऊपर स्वच्छन्दतया उमके द्वारा ब्रीडा करती है उमी जाले के 'प्राश्रित उमकी शयना' क्रिया भी होती है । और (यथा) जैसे (अग्नेः) अग्नि से निकल कर (धुद्राः) छोटे २ (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारिया (व्युच्चरन्ति) इधर उधर ऊपर नीचे उड़ती हैं (एवम्+एव) वैसे ही (आत्मान्) इस (आत्मनः) जीवात्मा की सहायता से अर्थात् इममे प्रतिविम्बित तथा उज्ज्वलित होकर (सर्वे+प्राणाः) सब वागादि इन्द्रिय (सर्वे+लोकाः) शरीरस्थ भुस वणादि प्रदेश (सर्वे+देवाः) चक्षुगादि द्वारा प्रविष्ट सब सूर्यादि देव (सर्वाणि+भूतानि) शरीर में सम्मिलित सब पृथिवी अप् तेज आदि महाभूत (व्युच्चरन्ति) विविध प्रकार से अपनी अपनी मत्ता के लाभ में काम कर रहे हैं (तस्य) उस जीवात्मा का (उपनिषद्) नाम (सत्यस्य+मन्यम्) सत्य का सत्य है (इति) इस प्रकार आगे 'सत्यस्य' का अर्थ स्वयं 'अपि' करते हैं—(प्राणाः+वै+मन्यम्) प्राण=ममस्त इन्द्रियों का एक नाम प्राण है । निश्चय इन्द्रिय ही सत्यपदवाच्य है अर्थात् यहां सत्व पद से समस्त चक्षु आदि इन्द्रियों का ग्रहण है (तेषाम्) उन इन्द्रियों के मध्य में भी (एषः+मन्यम्) यह आत्मा ही सत्य है अथवा जीवात्मा की अवस्था के उपदेस से इसके प्रात्यक्षिक और सब लोगों के समझने के योग्य स्वरूप को दिखा अब ब्राह्मण की समाप्ति में किञ्चिन्मात्र ब्राह्म के तटस्थ स्वरूप का प्रस्ताव करते हैं । जैसे ऊर्ण नाम कीट निज निर्मित तन्तु के द्वारा विचरता है तद्वत् ब्रह्म भी निज सृष्ट जगत् के द्वारा आविर्बल्लणशील भी विचरता हुआ प्रतीत होता है । और जैसे वह कीट अपने जाले के आधार पर ही बराबर रहता है । तद्वत् निज निर्मित जगत् रूप आधार पर गिराधार होने पर भी रहता है । इत्यादि भाव जानना । एव जैसे अग्नि से छोटी २ चिनगारियां निकलती हैं (तस्मान्+आत्मनः) इस प्रत्यक्षवत् आसमान आत्मा की अवलक्षण से (सर्वे+प्राणाः) सारे बाह्य अथवा आन्तरिक प्राण (सर्वे+लोकाः) सब भूरादि लोक (सर्वे+देवाः) सब सूर्यादि देव (सर्वाणि+भूतानि) पृथिवी जल तेज आदि सब महाभूत (व्युच्चरन्ति) आविर्भूत होते हैं । वसका (उपनिषद्) नाम (सत्यस्य+सत्यम्) सत्य का सत्य है (प्राणाः+वै+मन्यम्) निश्चय सब प्राण लोक, देव, भूत ही सत्य है (तेषाम्) उन सबों में भी (एषः) यह परमात्मा (सत्यम्) सत्य है ॥ २० ॥

१ * ऐम ऐमे स्थलों में "म" शब्द प्रनिद्धार्थक होता है । -

माप्यम्—स यथेति । जीवात्मनः स्वामाधिक्यौ स्वप्रपुत्रौ व्याख्याय
माहिमानं प्रकटयति । तथाहि—ऊर्णनाभिः तन्तुपाषाण्यकीटः सुप्रसिद्धो लोके
“लूता स्त्री तन्तुपायोर्णनाममर्कटकाः समा” ऊर्णं तन्तुर्नामौ यस्य स ऊर्ण-
नाभिः । तन्तुना स्वनिर्मितेन तन्तुममूढेन । उच्येत ऊर्णमघस्तिर्यगितस्ततः
स्वच्छन्दतया विहरेत् । तथा च । अग्नेः सकाशात् । यथा जुद्राः स्वव्याः
स्वल्पा विस्फुलिङ्गा अक्षराः । व्युच्चरन्ति निभ्रमन्ति परितः प्रसर्पन्ति । स इति
प्रमिद्वार्थकः । यथेयौ दृष्टान्तौ सुप्रसिद्धौ वर्तन्ते । एवमेव । अमादात्मनः ।
जागरणस्य प्रमुखावस्थात्रयप्रतिशतं पूर्वोक्ताजीवात्मनः । अर्थात्तेन प्रति-
बिम्बिताः प्रोज्ज्वलिताश्च सन्तः । सर्वे प्राणा वागादयः । सर्वे लोकाः शरीर-
स्या मुखरुणादयः प्रदेशाः । सर्वे देवाश्चतुर्गादिद्वारा भविष्य सूर्यादयः ।
सर्वाणि भूतानि । व्युच्चरन्ति शरीरक्रियाऽनुष्ठाने विशेषेण प्रमर्पन्ति । सर्वे स्वं
स्वं नियोगमनुतिष्ठन्तो वर्तन्त इत्यर्थः ॥ द्वितीयोऽर्थः । अथवा । जीवात्मनो-
ऽवस्थोपदेशेन तन्मातृषट्कसर्वलोकसुबोधस्वरूपं दर्शयित्वा । ब्राह्मणस्योप-
संहारे किञ्चिन्मात्रं प्रद्वष्टव्यस्तद्वत्त्वत्त्वं प्रस्तुयते । यथा ऊर्णनाभो निजनि-
र्मितेन तन्तुना व्युच्चरति । तथैव स्वमृष्टेन जगता सह सोऽपि परमात्मा कीड-
ति । यथाग्नेः सकाशात् जुद्रा विस्फुलिङ्गा उत्पतन्ति तथैवैवरा वेदव्याद्व
विविधाः सृष्टयो जायन्ते । इत्थं सर्वे वाङ्मा आत्म्यन्तराश्च प्राणाः । सर्वे भूत-
दयो लोकाः । सर्वे सूर्यादयो देवाः । सर्वाणि आकाशादीनि महाभूतानि
व्युच्चरन्ति निर्गच्छन्ति । योऽप्यपीदृशोऽस्ति स केन नाम्नाऽभिधीयत इति
जिज्ञासायां तस्योपनिषदित्यादि प्रारभते—तस्य जीवात्मनः परमात्मनो वा ।
उपनिषन्नामधेयम् । उपममीषं नि नितरं सादयति गमयति या सा उपनिषद् ।
काऽसावुपनिषदित्याह—सत्यस्य सत्यमिति । किं पुनः सत्य किम्मा सत्यस्य
सत्यमिष्यत आह—प्राणा इति । प्राणा वागादयः । सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि
भूतानि च । वै निश्चयेन सत्यम् सत्यपदाभिधेयाः । तेषामपि प्राणादीनां
मध्ये । एव जीवात्मा परमात्मा वा सत्यम् । अविनश्वरं तत्त्वमित्यर्थः ॥ २० ॥

भाष्याशय—यह दो दृष्टान्त बड़े सचे हैं । एक ऊर्णनाभि और दूसरा अ-
ग्निविस्फुलित । ऊर्णनाभि (मर्कटी) नामक कीट के ये व्यापार हैं—निज देह से

तन्तुओं को निकाल एक उत्तम और दुर्गोपम जाला बना उसमें विविध कीट पतङ्ग मक्षिकाओं को फंसा उन वद्ध हतभाग्य जीवों से दिन यापन करता हुआ सतत क्रीडासक्त रहता है । उन जालीय तन्तुओं पर बहुत शीघ्र गति से दौड़ता है । कभी एक ही तन्तु को दो सिरे पर लगाकर उससे चढ़ता उतरता रहता है । आश्चर्य यह है कि यदि कीट को हाथ में लेकर कुछ जोर से पटक तो वह नीचे नहीं गिरेगा किन्तु वह उसी क्षण अविबुद्धिमत्ता के साथ पेट से तन्तु उत्पन्न कर आप के हाथ में लगा लटका हुआ रहेगा । अधिक ज़ोंक देने से नीचे गिरेगा । अन्यथा लटका ही हुआ रहेगा । अर्थात् इसमें तत्क्षण तन्तु उत्पन्न करने की ईश्वर ने महती शक्ति दी है ।

इसी प्रकार यह जीवात्मा विविध वासनास्वरूप तन्तुओं को उत्पन्न कर उनमें आसक्त हो उन वासनाओं से प्रेरित न जा कर्मों में प्रवृत्त हो तज्जनित भोगरूप कीर्तों को ले क्रीडा करता रहता है । जैसे ऊर्णनाभ तत्काल तन्तुओं को उत्पन्न कर निज मनोरथ साधता है वैसे ही यह वासनारूप तन्तुओं को कैला निज अभीष्ट का अनुसरण करता रहता है । जैसे ऊर्णनाभ और तन्तु दो वस्तुएं हैं वैसे ही आत्मा और वासना भी दो पदार्थ हैं । दूसरे दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि अग्नि से निकल कर जैसे चिनगारिया पृथक् २ होती हैं और अपने को प्रकाशित कर कुछ देर में उपशान्त होती हैं । तद्वन् आत्मा से मानो विविध ज्ञानरूप विस्फुलिङ्ग निकलकर इन्द्रिय लोकादिक के तत्त्वरूप प्रकाश को प्रकाशित कर शान्त होते हैं । यहां “व्युच्चरन्ति” यह क्रिया प्राणों के माय मुख्यार्थ द्योतक है और अन्य पदों के साथ गौणार्थ प्रकाशक है । आत्मा की सहायता से ही प्राण (सव इन्द्रिय) “व्युच्चरन्ति” विविध विषयों के ऊपर दौड़ते हैं यह मुख्यार्थ है । और इसी आत्मा से सव लोक (व्युच्चरन्ति) होते हैं, इसका भी भाव यह है कि आत्मा के विज्ञान की सहायता से ही ये सारे लोक अग्नि आदि देव ये सारे जीवधारी जाते जाते हैं । यदि विज्ञान न होवे तो एक तुच्छ से तुच्छ वस्तु का भी ज्ञान कदापि नहीं हो सकता । इससे यह सिद्ध होता है कि सव पदार्थों का बोध आत्मा से ही होता है । अतः इसको त्याग अन्यत्र भ्रमण करना केवल शेष क्रीडामात्र है ॥ २० ॥

इति प्रथम ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

॥ अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

जीवात्मनः स्वरूपमस्ति त्वम्वा मदर्थितम् । स्वस्थादात्मन एव सर्वोऽपि
 ज्ञान नि जायन्त इत्यादि कथितम् । कदा जीवात्मा स्वस्था भवति ? चित्तवृत्तिनिरोधे
 सति । चित्त कदा निरुध्यते ? इन्द्रियाणां वृत्तिनिरोधे सति । इन्द्रियाणि
 कदा पश्यन्ते ? प्राणानां निरोधे । के च ते प्राणाः । किरूपाः । को व्या-
 पारः । के महायकाः । कथं वाच तेषामारोध इत्यादीनि विज्ञानानि अनन
 ब्राह्मणेनाऽऽरम्भेन । वृत्तीनां निरोधेन एकाग्रेण मनसा जीवात्मपरमात्मनोर्बोधः
 सम्भवति । अत इन्द्रियाणां वृत्त्यादर्शयितव्याः प्रथमम् । अतएव प्रथमब्राह्म-
 णान्ते प्राणा वै सत्यमित्यनेन प्राणानां सत्यत्वप्रतिपादनेन तेषां सत्ता
 सम्यक् कथिता । एव यथा वायवायुप्रकोपेन गृहवृक्षादीनामङ्गो दृश्यते । तथै-
 धान्तरिकप्राणानां चाञ्चल्येनाऽस्य देहस्य महान्निर्पर्यय उपतिष्ठते । अतः
 शनैः २ प्राणा वशं नेतव्याः । इमे एव प्राणास्तत्तदिन्द्रियं प्राप्य तत्तत्स्वरूपा
 भूया तत्तद्भागभिराक्यायन्ते । अथवा केचिन्मन्यन्ते । नहीन्द्रियाणि प्राणवा-
 योर्विभिन्नानि । अतः प्राणशब्देन इन्द्रियाण्येवोच्यन्ते उपनिषत्सु । इन्द्रिय-
 स्वरूपव्याख्यानाय तर्हि ब्राह्मणमिदमारज्यते ॥

सन्नेप से जीवात्मा का स्वरूप अथवा अस्तित्व दिखलाया । स्वस्थ आत्मा से
 ही सब ज्ञान होने हैं यह भी कहा, परन्तु कब जीवात्मा स्वस्थ होता है ? चित्त-
 वृत्तियों के निरोध होने पर । चित्त कब निरुद्ध रहता है ? इन्द्रियों की वृत्तियों
 के निरोध होने पर । इन्द्रिय कब बद्ध होते हैं ? प्राणों के निरोध होने पर । ये
 प्राण कौन हैं उनका स्वरूप क्या है, उनका व्यापार क्या है, उनके सहायक
 कौन हैं, किन प्रकार उनका अवरोध हो । इत्यादि विज्ञानों को इस ब्राह्मण में द्वारा
 आरम्भ करते हैं । जब वृत्तियां का निरोध होता है तब एकाग्र मन से जीवात्मा
 परमात्मा का बोध सम्भव होता है । इस हेतु इन्द्रियां की वृत्ति प्रथम दिखलानी
 चाहिये । अतएव प्रथम ब्राह्मण के अन्त में 'प्राणा वै सत्यम्' प्राणों के सत्यत्व
 प्रतिपादन में उनही सत्ता अर्थात् प्रकार कथित हुई । एव जैसे वायु वायु के प्रकोप
 में गृह वृक्षादि का भङ्ग होना देखा पटना है वैसे ही आन्तरिक प्राणों के चाञ्चल्य
 से इस शरीर में महान् निर्पर्यय अवस्थित होता है । और बद्धप्राण होना असंभव है

अतः धीरे २ प्राण वश मे लाने चाहिये । ये ही प्राण उस उस इन्द्रिय को प्राप्त हो तत्तत् रूप हो तत्तन् नाम से पुकारे जाने हैं । अथवा कोई कहते हैं कि प्राणप्रायु से भिन्न इन्द्रिय कोई पदार्थ नहीं । इस हेतु उपनिषदों में प्राण शब्द से इन्द्रिय ही कहे जाते हैं तब इन्द्रिय स्वरूप के ही व्याख्यान के लिये इस ब्राह्मण का आरम्भ है ऐसा मानना चाहिये । मनः सहित इन्द्रिय के ज्ञान बिना आत्म-ज्ञान नहीं । और आत्मज्ञान बिना परमात्मज्ञान नहीं ॥

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद
सत ह द्विपतो भ्रातृव्यानवरुणाद्धि अयं वाव शिशुर्योऽयं
मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं
दाम ॥ १ ॥

अनुवाद—आधानसहित, प्रत्याधानसहित, स्थूणासहित और दामसहित शिशु को जो जानता है वह द्वेप करनेहारि सात भ्रातृव्यों (शत्रु) को अपने वश में करता है । यही शिशु है जो यह मध्यम प्राण है । उस शिशु का यह (शरीर) ही आधान है । यह (शिर) ही प्रत्याधान है, बल ही स्थूणा है, अन्न दाम है ॥ १ ॥

पदार्थ—(साधानम्) आधानसहित । आधान आदिक शब्दों का अर्थ स्वयं उपनिषद् दिखतावेगी (सप्रत्याधानम्) प्रत्याधानसहित (सस्थूणम्) स्थूणा-सहित (सदामम्) दामसहित (शिशुम्) जो शिशु बालक है उसको (ह+वै) निश्चय करके (यः) जो (वेद) जानता है उसको यह बल प्राप्त होता है (ह) निश्चयरूप से वह शिशुविन् पुरुष (द्विपतः) द्वेप करनेहारि (सत) सात (भ्रातृव्यान्) भ्रातृव्य=शत्रुओं को (अवरुणाद्धि) अपने वश में करता है । अब आगे प्रत्येक शब्द का अर्थ दिखलाते हैं । पूर्व “शिशु” कहा है । लोक में छेदे बच्चे का नाम शिशु है । यहा शिशु कौन है ? इस शङ्का पर कहते हैं— (अयम्+वाव+शिशुः) इस शरीर में यही शिशु है (यः+अयम्) जो यह (म-ध्यमः) शरीर के मध्य में रहनेहारि (प्राणः) लिंगात्मा प्राण है । अर्थात् इस

स्थूल शरीर में लिङ्गात्मक शरीर ही शिशु है । क्योंकि यह अति सूक्ष्म रूप से शरीर के मध्य में सो रहा है । आगे आधान कहते हैं—जिसमें वस्तु स्थापित हो-सके उसे आधान कहते हैं । अधिष्ठान वा शरीर का नाम आधान है (वस्तु) उस प्राण का (इदम्) यह स्थूल शरीर (एव) ही (आधानम्) अधिष्ठान—रहने की जगह है । क्योंकि इस शरीर में ही प्राण रहता है । अब प्रत्याधान कहते हैं—जिस एक ही स्थान में अनेक अधिष्ठान हों उसे प्रत्याधान कहते हैं (इदम्+प्रत्याधानम्) यह शिर ही प्रत्याधान है । क्योंकि इस शिर में प्राण के रहने को अनेक स्थान हैं दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, एक रसना, इसके अतिरिक्त मानसिक शक्ति इस प्रकार शिर में अनेक आधान=अधिष्ठान हैं । अतः शिर का नाम प्रत्याधान है । अब स्थूणा कहते हैं—खूटे का नाम स्थूणा है (प्राणः+स्थूणाः) प्राण नाम वहाँ बल का है । बल ही स्थूणा है, क्योंकि शरीर में बल रहने से ही प्राण रहता है । आगे “दाम” शिरनाते हैं—खजु (जेवरी) का नाम दाम है वहाँ (अन्नम् दाम) विविध प्रकार के भोग्य पदार्थ ही दाम हैं । क्योंकि अन्न से ही यह प्राण बधा हुआ रहता है * ॥ १ ॥

भाष्यम्—यो हेति । साधानम् आधानम् शरीरम् अग्रे वक्ष्यमाणत्वात् तेन सह वर्तत इति साधानं सशरीरम् । म प्रत्याधानम् प्रत्याधानं शिरः तेन सह निरते सप्रत्याधानं सशिरस्कम् । सस्थूणं स्थूणाश्च बलं तथा सह विद्यत इति सस्थूणं स बलम् । सदाम दामान् तेन सह वर्तत इति सदामं सदानम् । ईदौर्विशोऽणौर्विशेषितं शिशुं शयनशीलमनासकं बालं यो ह साधको वेद जानाति । तस्येदं फलम्—स शिशुतत्त्ववित् । द्विपतः द्वेष्टुन् आहृष्यान् अवरुण-

* यहाँ एक उपमा के द्वारा प्राण का वर्णन किया है । मानो यह शरीर एक गोशाला है । और इस गोशाला में आँख, कान, नाक आदिक स्थान ही मानो विचरण करने की जगह धनी हुई हैं । इसमें मानो बल (शक्ति) ही खूटा है । और विविध प्रकार के खाने के पदार्थ ही मानो जेवरी है । और प्राण ही मानो वस्त्र है । अब इस प्राण के बश में लाने के लिये इसके आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और दाम सब जानने चाहियें । जो कोई प्रबल शत्रुको बरा करना चाहता है उसे चाहिये कि उसके दुर्ग=रहने की जगह, बल आदिक सब जाने । तद्वत् ।

दि वशीकरोति । “आतृव्यशब्दस्य द्विधावृत्तिः । आतृपत्यं आतृव्यः ।”
 “आतृव्यश्च ४ । १ । १४४ ॥ अस्त्येज्यं आतृव्यत् प्रत्ययः स्यात् । चा-
 च्छः । अणोपवादः आतृव्यः आत्रीयः” आतृव्यः शत्रावपि तथाहि व्यन्
 सपत्ने ४ । १ । १४५ ॥ आतृव्यन् स्यात् । प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन शत्रौ
 वाच्ये । आतृव्यः शत्रुः । आतृव्या आतृजद्विपौ इति कोशश्च । यः खलु शिशुं
 वेद स कान् आतृव्यान् अवरुणद्वीत्याशङ्कायां । द्विपतोऽत्रातृव्यानि । शत्रवो
 ये आतृव्याः सन्ति तान् नतु सहोदरजान् आतृव्यानि । भवस्ते प्रधानतया
 कति सन्ति ? सन्ति सप्तमख्याकाः । तान् सप्त शत्रून्वरुणद्वि इत्यन्वयः ॥ द्वे
 अविशी । द्वौ कर्णौ । द्वे नासिके । रसना च सप्तमी । इमे सप्तावशीभूताः
 शत्रवो भवन्ति । पुरुषं विषयं विषयं नीन्वाऽधोऽधः पातयन्ति । अतस्ते शत्र-
 वः “द्विपोऽमित्रे ३ । २ । १३१ ॥ अमित्रेऽर्थे द्विषः शत्रुप्रत्ययः” अग्रे एव-
 मेणोपनिषद् शिश्वादीनां पदार्थमाह—लोकेऽप्रमिद्वेः । अयं वायुः शिशुः ।
 अयमेव शिशुः । योऽयं मध्यमः प्राणः शरीरस्य मध्ये भवो मध्यमः । यो
 लिङ्गात्माख्यः प्राणः शरीरमध्ये तिष्ठति स शिशुशब्दवाच्यः । इतरैर्द्विषवत्का-
 र्याशक्तिविरहाच्छिशुः । आधानं दर्शयति—तस्येदमाधानम् । आधीयते आसम-
 न्ताद् धीयते निधीयते स्थाप्यते यत्र तदाऽऽधानं शरीरम् । शरीरे प्राणो
 निधीयते । प्रत्याधानमाह—इदं प्रत्याधानम् । इदं शिर एव प्रत्याधानम् ।
 आधानं निवासस्थानम् । शिरसि चक्षुरादीनां लघूनि २ अनेकानि निवाम-
 स्थानानि विद्यन्ते इत्यतः शिरः प्रत्याधानमुच्यते । प्रत्येकमाधीयते । इति
 व्युत्पत्तेः । स्थूणांमाह—प्राणः स्थूणा प्राणोऽवलम्बम् । स्थूणा गृहस्तम्भः श-
 ङ्कुः । शिशु पाण्डो च हरिणः स्थूणास्तम्भेऽपि वेश्मनः, इत्यमरः । यथा
 स्थूणासु गृहं तिष्ठति तथैवायं प्राणो वले तिष्ठति । यदाऽवलम्बो भवति । तदेदं
 शरीरं धारयितुं न शक्नोति । स यत्रायमात्माऽवलम्ब्येत्य सम्मोहमिव न्येति ।
 अथैनमेते प्राणा अभिममायन्ति इत्यादि विधानान् । दामाह—अन्नं भोज्यं वस्तु
 दाम । यथागृहं दाममिर्भवति । तथा प्राणोऽपि अन्नैर्व्यव्यते । अन्नामावात्प्राणा-
 ऽऽपत्तिः । अत्रेदमवधार्यम् । प्राणस्य निवासस्थानं शरीरं प्रथमं विज्ञानव्यम् ।
 आपुर्वेद शास्त्राञ्छरीरतत्त्वानि निश्चेतव्यानि । केन साधनेन केन प्रकारेण
 चेदं स्वस्य नीरुजं निरुपद्रवमभीष्टमाधनयोग्यमातिष्ठेत् । यो हि शरीरं तुच्छं

हेयं ज्ञात्वा तस्मिन्ननसृष्यां दर्शयति प्रत्यहं श्रातयति । ॥ सर्वसिन्धुं कर्मस्य-
समर्थः । सोऽन्तेऽसौदत्त्येन । अतो ब्रह्मचर्यादिद्वारा चतुर्गुणमाधनं शरीरमेव
प्रथमं सर्वथा द्रवयितव्यम् । अन्यानि च शरीरे जिज्ञास्थानि जिज्ञासितव्यानि ।
ततः प्रत्याधानं । प्रत्याधानं नाम शिरः । शिरमेव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं वस्तु विवे-
च्यते । शिरसा कानि कानि कर्माणि उयं कर्तुं समर्था इति सम्यग् न जानीमः
किञ्चिद् ज्ञातव्यम् । केनोपायेन शिरोविज्ञानं वर्धयितव्यं केनोपायेन सूक्ष्मतरं
वस्तु शिर आददीत । कथं शिरसि बहूनि वस्तूनि स्मरणार्थं निघातव्यानि ।
कथं कस्यापि तद्भूतांस्मि कर्माणि कुर्वदपि न व्यथते रुयं कौऽपि तस्य साहा-
य्येनापूर्वं वस्त्वाविष्करोति । इत्येवं विधानि सन्ति तु बहूनि वस्तूनि शिरसि
विज्ञातव्यानि । एवमेव बलेऽग्रे च सत्त्वान्यन्येऽव्यानि । एतद्वस्तुभिः सार्धम् ।
यः प्राणं धेति स कथमसौ सत्त्वान्तरुह्यात् ॥ १ ॥

भाष्याशय—यह देखना चाहिये । प्राण के निवासस्थान शरीर को प्रथम
अच्छी तरह जाने । आयुर्वेद शास्त्र में शरीर के तत्त्वों को अनस्य निश्चित करे ।
जिस साधन से, जिस प्रकार में यह शरीर नीरोग निरुपद्रव अभीष्टमाधन योग्य
सदा रह सक्ता है । जो कोई शरीर को तुच्छ देय मान उसके ऊपर अनावर प्रकट
करने हैं वे सब कार्य में अममर्थ होकर अन्त में दुःख के भागी होते हैं इस हेतु
ब्रह्मचर्यादि द्वारा चतुर्गुण साधन शरीर को प्रथम सर्वथा दृढ करे । और इसके
अतिरिक्त शरीर सम्बन्धी जो जिज्ञास्थ हों उन्हें जिज्ञासा करे जब इस प्रकार प्रथम
शरीर दृढ हांगा तब ही शिर भी कार्य में समक्ष होगा, अतः इसके
अनन्तर प्रत्याधान की जिज्ञासा करे । शिर से ही सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का
विवेक होता है । शिर में किन किन कार्यों के करने में हम लोग समर्थ हैं सो
नहीं जानते । किस उपाय में सूक्ष्मतरम वस्तु को शिर ग्रहण करता है । किस
प्रकार शिर में बहुत वस्तु स्मरणार्थ रखने चाहियें । कैसे किसी का शिर बहुत काम
करना हुआ भी व्ययित नहीं होता । कैसे कोई उसकी सहायता में अपूर्व वस्तु
का आविष्कार करता है । इत्यादि अनेक वस्तु शिर के सम्बन्ध में ज्ञातव्य हैं ।
जैसा ही बल और अन्न के विषय में भी तत्त्व का अन्वेषण करे । इन चार
विशयों के मद्दिन जो निद्राशरीर को जानता है वह क्यों नहीं अपने शत्रुओं को

वश में करेगा । शिशु—यहां से शिशुब्राह्मण आरम्भ होता है । लिङ्गात्मा शरीर का नाम शिशु है । “शीङ् स्वप्ने” धातु से शिशु शब्द बनता है जिस कारण छोटे बच्चे चलने फिरने में असमर्थ जहां सुला दिया जाता वहां ही सोया हुआ और वहां ही अपनी ढींढा में आसक्त रहता है । तद्वन् इमं लिङ्गशरीर को धर्माधर्म-रूप पुरुष जहां लेजाकर छोड़ देता है वहां ही अपने कर्मों के फल भोगता हुआ रहता है इस हेतु इसे “शिशु” कहते हैं । अथवा स्थूल शरीर की अपेक्षा “लिंग-शरीर” बहुत छोटा है इस हेतु भी इसे शिशु कह सकते हैं । भ्रातृव्य—आजकल दो अर्थों में यह “भ्रातृव्य” शब्द आता है भ्राता के पुत्र अर्थ में और शत्रु अर्थ में “शत्रु अर्थ” में ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इसके प्रयोग बहुत आये हुए हैं “भ्रातृ शब्द से भ्रातृव्य” बनता है । इसमें सन्देह नहीं क्योंकि शब्दतत्त्वविद् पाणिनि वैसा ही कहते हैं । यह “भ्रातृव्य” शब्द सूचित करता है कि निज परिवारों से ही अर्थात् निज भ्राता से ही शत्रुता का प्रथम जन्म हुआ है । देखते भी हैं कि निज सहोदर में बड़ी लड़ाई रहती है । जितना २ निःकटस्थ मन्वन्ध है उतना उतना युद्ध अधिक है । भारतवर्ष में जो भयङ्कर रोमहर्षण देवासुर नाम से संप्राम प्रसिद्ध हैं वह आपस की ही घोर लड़ाई है । तब ही से “शत्रु” अर्थ में “भ्रातृव्य” शब्द का अधिक प्रयोग होने लगा है । “भ्रातृव्य” का शब्दार्थ भ्रातृपुत्र अर्थ है । इस शरीर में चक्षु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रिय “भ्रातृव्य” हैं क्योंकि यह देह या लिंगशरीर जीवात्मा का भाई है । और इसी देह या लिंगशरीर के कारण ये सब इन्द्रिय हैं । अतः ये भाई के पुत्र हैं । परन्तु आत्मा के ये शत्रु भी हैं इस हेतु दोनों प्रकार से इन्द्रियगण आत्मा के भ्रातृव्य हैं । ऋषिभूत प्रयोगों का भाव लिए करके प्रकाशित करने में अतिशय कठिनता होती है ॥ १ ॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्
लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नाप-
स्ताभिः पर्जन्यो या कर्नानका तयाऽऽदित्यो यत्कृष्णं तेना-
ग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधर्येनंऽवर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्त-
रया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

अनुराद—उससे ये मात आह्वितया (प्रतनियां=स्वभावा) उपस्थित होती है, वहा जो ये नेत्र में आल रेखाएँ हैं उससे इनको रुद्र अनुगत है । और जो यह नेत्र में जल है उससे इसको पर्जन्य अनुगत है जो कनीनका है उससे इसको आदित्य अनुगत है । जो कृष्णमण्डल है उससे इसको अग्नि अनुगत है जो शुक्लमण्डल है उससे इसको इन्द्र अनुगत है नीचे की बर्तनि से इसको पृथिवी अनुगत है और ऊपर की बर्तनि से वाँ अनुगत है । इसका अन्न चीण नहीं होता है जो ऐसा जानता है ॥ २ ॥

पदार्थ—प्राण चशीर्स्तज्य है यह पूर्व में कहा गया । अब प्राण के वलिष्ठ सहायक कहते हैं क्योंकि सहायक ही शत्रु को वलिष्ठ बनाये रहते हैं (तथ्) पूर्वोक्त उस शिशु प्राण के निकट (एताः) ये (मत्त) मात (आहितयः) प्रतनियां अतिताम्रो के समान (उपनिष्ठन्ते) उपस्थित होती हैं । ये मातों अतिनिर्या कौन २ हैं सो आगे कहे हैं—(नत्) उनमें (या +इमाः) जो ये (अक्षन्) नेत्र में (लोहि-यः) लोहेन=लाल (राजयः) रेखाएँ हैं (ताभिः) उन लाल रेखाओं से (एनम्) इस मध्यम शिशु के निकट (रुद्रः) विष्णुशक्ते (अग्न्या-यत्तः) अनुगत है अर्थात् नेत्र में जो लाल रेखा है उसमें विष्णु शक्ति की अधि-कता है । विष्णु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है । परन्तु अंधावस्था में या विशेष उष्णता आदि अवस्था में जो नेत्र के ऊपर लालिमा छाजाती है उसका कारण विष्णु है । इस प्रकार नेत्र के ऊपर विष्णुशक्ति प्रकटमी मालूम होती है । (अथ) और (याः) जो ये (अक्षन्) नेत्र में (आपः) जल है (ताभिः) इस जल के द्वारा (पर्जन्यः) मेघशक्ति रम मध्यम प्राण के निकट उपस्थित होता है (या + कनीनका) जो यह नेत्र की सारा है (तथा) उसके द्वारा (आदित्यः) सूर्य शक्ति उपस्थित है (यत् + कृष्णम्) जो नेत्र में कृष्णमण्डल है (तेज + अग्निः) उसके द्वारा आग्नेयशक्ति इसके निकट उपस्थित होती है (यत् + शुक्लम्) जो श्वेतमण्डल है (तेज + इन्द्रः) उसके द्वारा वायु अनुगत है (अधरया) अधर=अधःस्थित (वर्तन्या) पदम नेत्र के नीचले पल के द्वारा (पृथिवी + अन्वायत्ता) पृथिवी अनुगत है और (उत्तरया) ऊपर के पदम में (वाँ) बुलोकशक्ति अनुगत है । अब आगे इस विज्ञान का फल करते हैं—(य + अग्रम + वेद) जो साधक ऐसा जानता है । (अग्न्य) इसका (अक्षम्) अन्न (न + चीयते) चीण नहीं होता ॥ २ ॥

माध्यम्—तस्मिन् । प्राणो वशीकर्तव्य इत्युक्तम् । सम्प्रति प्राणस्य
 धलिष्ठाः सहायकाः कथ्यन्ते । सहायका ह्येव शत्रुं दृढयन्ति । तं पूर्वप्रदर्शितं
 शिशुं प्राणम् । एता वक्ष्यमाणाः । मत्त मत्तमस्याकाः । अक्षिनयः क्षितिर्वि-
 नाशः, न क्षितियेषा तेऽक्षितय अधिनश्चगाः महजाः प्रकृतपो वनिता इव ।
 उपतिष्ठन्ते देवस्य शिशोः प्राणस्य गुणानुत्कीर्तयितुमिव सप्त अक्षितयो वनि-
 ता इव उपतिष्ठन्ते । ननु “उपान्मन्त्रकरणे १ । ३ । २५ ॥” इति मन्त्रकरणे
 आत्मनेपदाभिधानात् कथं तदिह स्यात् । सर्वे विधयश्चन्द्रसि वैकल्पिकाः ।
 आपं ह्यन्धोवन्मन्यते । यद्वा सप्तरुद्रादिदेवता नामानि मन्त्रवदवस्थितानि ।
 तैरेव मन्त्रस्थानीयैः शिशोः प्राणस्य उपामनानुग्रानानि क्रियन्ते तस्मादप्रा-
 त्मनेपदम् । ता अक्षितिराह । तत्तत्र । या इमाः प्रणिद्धाः । अक्षन् अक्षणि
 अक्षणि । “सुषा सु लुक् पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, डया, याच्,
 आलः ७ । १ । ३६ ॥ इति डेलुक्” लोहिन्धो लोहिना रक्ता इत्यर्थः ।
 “लोहितो रोहितो रक्तः । गोणः कोकनदञ्चविः” इत्यमरः । ‘वर्णादनुदाता-
 चोऽघातो नः ४ । १ । ३६ ॥ इति ङीप् तकारस्य नकारादेशश्च” राजयो
 लेखाः सन्ति । “वीथमालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी लेखास्तु राजयः” इत्यमरः ।
 तामिर्लोहितराजिमिः । रुद्रो विद्युच्छक्तिः । एनं मध्यमं प्राणम् । अन्वायचोऽ-
 नुगतः प्राप्तः उपनिष्ठते । नेत्रे या रक्ता रेखा उपलभ्यन्ते तत्र विद्युच्छक्तिर्वि-
 द्येया । अथ या इमाः । अक्षिअक्षणि । आपो जलावेन्दवो दृश्यन्ते । तामि-
 रद्विः । पर्जन्यो मेघशक्तिः । एनमन्वायचा । एतत्पदद्वयं सर्वत्र सम्बध्यते ।
 येयम् अक्षिणि, कनीनका कनीनिका (कनीनिका इत्येव सुपाठः) नेत्रस्य
 तारकास्ति । तया द्वारभूतया । आदित्य आदित्यशक्तिरेनमनुगत उपतिष्ठते ।
 कनीनिकायामादित्य शक्तिर्द्रष्टव्या । नेत्रे । यत्कृष्णं मण्डलं दृश्यते । तेन
 अग्निराग्निशक्तिरेनं मध्यमं प्राणमनुगत उपतिष्ठते । नेत्रे यत्कुल्लं मण्डलम-
 स्ति । तेनेन्द्र ऐश्वर्यशक्तिः । या च नेत्रे । अधरा अधोवर्त्तिनी वर्चनिर्नेत्रा-
 धारोऽस्ति । तयाऽधर्या वर्त्तन्या । एनं प्राणं पृथिवी अन्वायचाऽनुगता । या च
 उत्तरा उपरितनी वर्चनिः नेत्रावरणम् । तयोत्तरया वर्त्तन्या द्वारया । द्यौः ।
 अन्वायचा विज्ञानफलमाह—यः साधकः । एवं वेद जानाति । अस्यान्नं
 स्वाद्यं वस्तु न क्षीयते न क्षयं याति । एतैकोन्द्रियद्वारा सप्त सप्त सहायकाः

माणमुपनिष्ठते । इत्थं सप्तशत्रुद्वारा एतेनपञ्चाशच्छर्हि सर्वदा रात्रौ बलिष्ठा देव-
राव्दत्ताद्या उपनिष्ठन्ते । कथं तर्हि महतो बलिष्ठस्य माणस्य करीरुणारा ।
इह हि एकस्येन्द्रियस्य व्यापारप्रदर्शनेनेतोपामप्येवमेव ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

भाष्याशयः—अदिति=चित्ति=ज्ञेय, विनाश, भय, जो चित्ति न हो उसे
अदिति कहते हैं । यद्वा जिमकी चित्ति=ज्ञेय न हो उसे अदिति कहेंगे ।
वत्पुरुष और गृहीति दोनों समान हो सकते हैं । स्वभाव अज्ञेय वस्तु है इस हेतु
यद्वा स्वभाव का पर्याय अदिति है । नेत्र में लाल, काला, श्वेत ये तीन तो रंग
दीयते हैं और जल एक छोटासा पुरुष जिसको कनीनिका, तारा, पुत्तलिका आदि
संस्कृत में कहते हैं और दो ढकने एक ऊपर एक नीचे जिमको पद्म कहते हैं ये
सात पदार्थ । मानो इन मान पदार्थों के द्वारा मान देवताएँ प्राण के निकट पहुँच
उमकी स्तुति प्रार्थना करती हैं और इनको बल देती हैं जो बाह्य प्राण सूर्य है उस-
की जैसे मानो सात प्रकार की किरणरूप देवताएँ स्तुति करती हैं तद्वत् । अदिति-
नेत्र रूपात्मके के द्वारा सात द्रव्यों का गमन प्राण के निकट रहा गया है । इस
का भाव यह है कि पुरुष का सर्व आन्तरिक भाव नेत्र के विकार से विद्यित हो-
जाता है श्रोत्र या शान्ति, धार्मिकता वा अधार्मिकता, राग वा त्याग, कार्यपटुता
वा कार्यानभिज्ञता, दरिद्रता वा उदारता, मिद्वत्ता वा मूर्खता इत्यादि गुण नेत्र की
छत्रिसे विस्फट होते हैं । और नेत्र की चेष्टा के अनुसार सम्पूर्ण मुख कान्ति उस
उस रूप के अनुसार बदलती रहती है । (१) रुद्ध—जब मनुष्य शोभास्थान में
प्राप्त होता है तब उसके नेत्र पर रौद्रता, भयङ्करता छा जाती है । (२) पर्जन्य-
जब स्नेह वा प्रीति वा कोई असह्य दुःख प्राप्त होता है तब उसके नेत्र से अश्रु की
धारा बहने लगती है मानो मेघ बरस रहा है । (३) आदित्य—जब अत्यन्त
प्रसन्नता महाविजय आदि वो प्राप्त करता है तो उसके नेत्र बड़े प्रकाशित प्रफुल्लित
और तैजोमय दीयने लगने हैं । मानो सूर्य का प्रकाश इसके ऊपर साक्षात् पड़
रहा है । (४) अग्नि—जब महापापादि दुष्कर्म में पड़ जाता है तब जैसे सधूम
अग्नि हो तद्वत् उसके नेत्र हो जाते हैं । (५) इन्द्र—धन सम्पत्ति लक्ष्मी को प्राप्त
होता है तब उसके नेत्र भी शुद्ध दीयते हैं मानो ऐश्वर्य की मूर्ति छा रही है । इसी
प्रकार गम्भीरता, उदारतादि सूचन । (६) पृथिवी—शान्त है और उच्चतादि गुण

सूचक । (७) द्यौ-शब्द जानना । इस प्रकार ये महाबलिष्ठ सात देव एक नेत्र के द्वारा प्राण के निकट उपस्थित होते हैं । यहां केवल एक इन्द्रिय के व्यापार कहे गये हैं परन्तु इसी प्रकार अवशिष्ट अन्य छवों के भी व्यापार जानना चाहिये । इस प्रकार ७+७=४६ सहायक इसके होंगे जब ऐसे २ बलशाली ४६ शत्रु इस प्राण के निकट प्रतिक्षण सहायता करने के लिये उपस्थित रहते हैं । तब इमना धर्मीकरण अवश्य बहुत कठिन कार्य है । इसको दिखलाने को इस द्वितीय ऋडि-का का वर्णन किया गया है ॥ २ ॥

तदेव श्लोको भवति । अर्वाग्निलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्त-
स्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् तस्यासत ऋपयः सप्त तीरे
वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना इति * ॥ ३ ॥ (क)

अनुवाद—उसके विषय में यह श्लोक होता है—एक चमस है जिसका त्रिल नीचे है । और ऊपर मूल (जड़) है । उसमें विविध प्रकार का यश स्थापित है । उसके समीप सात ऋषि रहते हैं । और आठवीं बाणी रहती है जो वेद के साथ मानो सन्वाद कर रही है ॥ ३ ॥ (क)

पदार्थ—(तत्) उसके विषय में (एषः+स्तोकः) यह श्लोक (भवति) होता है । मो आगे कहते हैं—(चमसः) सोमस रस्ते के एक पात्र का नाम “चमस” है । हिन्दी में चमसा कहते हैं । वह चमस वैसा है उसका आगे अनेक

* ऐसा ही मन्त्र अथर्ववेद में है । किञ्चित्पाठ का भेद है, यथा—

तिर्यग्ग्निलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
अत्रासत ऋपयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥

इस मन्त्र का निरूपक देवतकार्ड ६ । ३८ में भी व्याख्यान आया है । यहां अधिदैवत और अध्यात्म भेद से दो अर्थ किये हैं । सूर्य और शरीर पर घटाया गया है । अथर्ववेद १० । ८ । ६ वां मन्त्र है “अत्रामत” की जगह “तदासत” पद आया है । अन्य सब समान हैं ।

विशेषणों से वर्णन करते हैं (अर्वाग्निलः) अर्वाग् अघःस्थित=नीचे को । विल=
छिद्र=मुख है जिसका उसे “अर्वाग्निल” कहते हैं । अर्थात् जिसका छेद नीचे
की ओर हो । पुनः (ऊर्ध्वबुध्न) ऊर्ध्व=ऊपर । बुध्न=मूल=जड़ है जिसका वह
ऊर्ध्वबुध्न जिसकी जड़ ऊपर हो पुनः (तस्मिन्) उस चमस में (त्रिवरूपम्)
सत्र रूपवाला (यशः) यश (निहितम्) रक्ता हुआ है । पुनः (तस्य) उस
चमस के (तीरे) समीप (सप्त+श्रपयः) सात श्रापे (आसते) रहते हैं और
(अष्टमी+वाग्) आठवीं वाणी (ब्राह्मणा) वेदज्ञान के साथ (सन्धिवाना)
मानो वार्त्तालाप करती हुई है (इति) ॥ ३ ॥ (क)

भाष्यम्—तदिति । “सप्त इ द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्वि” इत्यादि पूर्व
यदुक्तम् । तत्र के पुनः सप्त द्विषतो भ्रातृव्याः । क ते निवसन्ति । अन्यत्रापि
तेषां कचिद्व्याख्यानमस्ति उत त्वमेतापूर्वं किमपि वस्तु व्याचष्टे इत्यादि शङ्कां
निराकुर्वन्नाह—तदित्यादि । तत्तत्र तस्मिन्विषये । एष बक्ष्यमाणः श्लोकोऽपि
प्रमाणमस्ति कोऽसौ श्लोक इत्यत आह—अर्वाग्नित्यादि । अस्यार्थः । अर्वा-
गघःस्थित विलं विवरं छिद्रं यस्य सोऽर्वाग्निलः “नागलोकोऽथ कुहरं शुपिरं
निजर विलम् । छिद्रं निर्व्ययनं रोकं रन्ध्रं श्वभ्रं वषासुपि इत्यमरः । पुनः
कीदृशः ऊर्ध्वबुध्नः । ऊर्ध्वस्थितो बुध्नोमूलं यस्य सः । उपरि यस्य मूलम-
स्ति ॥ ऊर्ध्वबुध्न । उच्यते । “शिरोऽग्रं शिखरं वा ना मूलं बुध्नोऽग्निना-
मकः” इत्यमरः । ईदृक् कथमसोऽस्ति । चमसः पात्रविशेषः । तत्र सोम-
रसे निधीयते । कोऽग्नीदृक् चमसः । शिर एवात्र चमसपदेन प्रिचक्षते ।
तदेव चमसाकारम् । कथम् । विलरूपं मुखमस्याधः स्थितम् । उपरि च मूलं
दृश्यते । तस्मिन् चमसस्वरूपे शिरसि । विरत्ररूपम् विश्वानि प्रिप्रिधानि रू-
पाणि यस्य तद्विरत्ररूपम् । यशः यशःशब्दः प्राणानाह । अग्रे तथैव व्या-
ख्यानात् प्राणस्वरूपं । निहितं स्थापितं वर्तते । यथा चमसे पात्रे सोमो निहि-
तो भवति । तथैनास्मिन्द्विरसि प्राणस्वरूपं विविध यशोनिहितम् । प्राणाः
पुनरचक्षुरादीनि इन्द्रियाणि तस्य चमसस्य तीरे निकटे । सप्त सप्तसंख्याकाः
सर्पणशीलाः मत्तगमनशीलाः वा श्रपयः प्राणरूपाः आसते वर्तन्ते । श्रपि
शब्दोऽपि प्राणानेनाह यथा—सप्तहोतारश्रपयो यागे स्वस्वकार्यमनुतिष्ठन्ति तथैव

शीर्षण्यानि चक्षुरादीनि सप्तेन्द्रियाणि शिरसि स्थितानि स्वस्वकार्यं सम्पादयन्ति । अपि च । अष्टमी अष्टसंख्यापूरणी । एका तत्र । वाग् वागी वर्तते सा च वाणी । ब्रह्मणा वेदेन ब्रह्मज्ञानेन सह “वेदस्तत्त्वतपो ब्रह्म ब्रह्माविप्रः प्रजापतिः” इत्यमरः । सम्बिदाना सम्बादं कुर्वतीव विद्यते इति । विदि प्रक्षि स्वरतीनामुपसंख्यानम् । इत्यात्मनेपदम् । ततः शानच् । द्वे चक्षुषी, द्वे नासिके, द्वौ कर्णौ, एका रमना एते सप्त प्राणाः शिरसि सन्ति । अपि च शिरस्येव मुखे वागप्यष्टमी वर्तते । सैव वाग् तेषां साहाय्येन सर्गान् वेदमन्त्रानुधारयति । अन्ये श्रोत्रादिप्राणाः श्रोतार इव श्रुत्वा मोदन्ते । यथा ऋषयः प्राविभक्ष्य पदार्थान् निश्चिन्वन्ति निश्चित्य च प्राणिभ्यो ददति । तथैव इमे सप्त चक्षुरादयः प्राणा दीयमानं वस्तु विविच्य ययास्यानं नयन्तीव ॥ ३ ॥ (क)

माध्याशय—सात द्वेपी “भ्रातृव्यौ” को वह अपने वश करता है इत्यादि पूर्व में कहा है । वे सात द्वेपी शत्रु कौन हैं ? कहां रहते हैं ? किसी अन्य ग्रन्थ में भी इनका व्याख्यान है या नहीं ? अथवा यह आपकी अपूर्व कोई कल्पना है इत्यादि शङ्का को दूरीकरणार्थ इस कण्डिका का आरम्भ हुआ है । इसकी व्याख्या स्वयं ऋषि करते हैं ॥ ३ ॥ (क)

अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्व्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३ ॥ (ख)

अनुवाद—“नीचे जिसका विल है और ऊपर जिसकी जड़ है” ऐसा जो श्लोक में कहा है वह कौन पदार्थ है—इसके उत्तर में कहते हैं कि “शिर ही है” क्योंकि यही अर्वाग्विल और ऊर्ध्वबुध्न चमस है । पुनः “उसमें विविध प्रकार का यश निहित है” ऐसा जो पूर्व कहा है सो कौन यश है “प्राण ही विश्वरूप यश है” वे ही इसमें निहित हैं । यहा यश शब्द से प्राण का ही तात्पर्य है “पुनः

उमके निम्न सात ऋषि रहते हैं" ऐसा जो कहा है सो वे सात ऋषि कौन हैं सो कहते हैं "प्राण ही सात ऋषि हैं" ऋषि शब्द से प्राणों से ही तात्पर्य है पुनः "अष्टमी वाग् वेद के साथ सम्वाद करती हुई है" ऐसा जो कहा गया है । वह वाग् कौन है, इस पर कहते हैं—वाग् ही अष्टमी (आठवीं) है जो ब्रह्म-वेद के साथ सम्वाद करती है जैसे चमस शब्द से शिर यश और ऋषि शब्द से प्राण का ग्रहण हुआ है वैसा "वाग्" इस पद से अन्य पद का ग्रहण नहीं है किन्तु वाग् पद से वाग् का ही ग्रहण है ॥ ३ ॥ (२)

पदार्थ—पूर्व में जो श्लोक कहा है उसका अर्थ लोक में अप्रसिद्ध और कठिन है इस हेतु स्वयं ऋषि इसका अर्थ करते हैं । मूल में "अर्वाग्बिलयमस ऊर्ध्वबुध्नः" इतना जो कहा है इसका तात्पर्य क्या है, ऐसी शङ्का होती है इसके समाधान में कहते हैं—(वन+शिर+पय) वह "शिर" ही है (हि) क्योंकि (पयः) यही शिर ही (अर्वाग्बिल) अर्वाग्बिल अर्थात् इस शरीर के नीचे मुक्त जिममें छिद्र है उस छिद्र वाले मुक्त से यह शिर युक्त है (चमसः) चमसाकार है और (ऊर्ध्वबुध्नः) इसका मूल ऊपर मालूम होता ही है शिरोमटक ही मानो इसका मूल है फिर मूल में "तस्मिन् यशो निहतं विश्वरूपम्" यह जो कहा है इसका तात्पर्य क्या है इस पर कहते हैं—(प्राणान्+चै+यश+निहितं+विश्वरूपम्) इस चमसाकार शिर में निश्चय प्राणरूप ही यश निहित है इस हेतु (प्राणान्+यतत्+आह) विश्वरूप यश से प्राणों का ही तात्पर्य है । २ आर्त्त । २ कान । २ नासिका । १ रमना । मननशक्ति आदि यश इसमें स्थापित हैं । पुनः मूल में "तस्य आसत ऋषयः सप्त तीरे" जो कहा गया उसका क्या तात्पर्य है सो कहते हैं (प्राणान्+चै+ऋषयः) यहा सात ऋषियों से तात्पर्य प्राण ही का है । (प्राणान्+एव+आह) इस सात में ऋषि लोग प्राणों को ही यतलाते हैं । और मूल में "वागष्टमी ब्रह्मणा सविदाना" ऐसा जो कहा है उसका क्या अभिप्राय है सो आगे कहते हैं (वाग्+अष्टमी) यहा आठवीं वाग् में 'वाग्' का ही अभिप्राय है (दि) क्योंकि (ब्रह्मणा) वेद में (सवित्ते) सवाद करनेवाली अष्टमी वाणी ही है । इस प्रकार इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥ (२)

भाष्यम्—उद्धरलोकस्य दुरुहार्थतया स्वयमेव विनिष्पद्यितुमुत्तरव्याख्या-

नमारभते । “अर्वाग्विलश्रमस ऊर्ध्वबुध्न” इति यदुक्तं पूर्वश्लोके तत्र शङ्का भवति । कोऽसावीष्टक् चमसः ? । अत्राह—“इदं तच्छिर एव” शिर एव तद्वस्तु चमसाकारं खल्विदं शिर एव । हि यतः एषः । अर्वाग्विलः मुखस्याधः स्थितस्य विलरूपत्वात् । तथा ऊर्ध्वबुध्नः शिरोमण्डलस्य बुध्नत्वात् । पुनरपि यदुक्तं “तस्मिन् यशो निहित विश्वरूपमिति” तत्र किन्तत् यश इत्याशङ्काया-माह—“प्राणा वै यशः” यशः शब्देन प्राणा इन्द्रियाण्येव श्रपेक्ष्यन्ते । चतुर्नासिकादीनां भिन्नरूपत्वात् स्वस्वविषयाऽऽदानममयेऽनेकगुणवृत्तिमत्त्वाच्च प्राणा एव विश्वरूपाः । पुनरपि “तस्यासत् ऋषयः सप्त तीरे” इति यदुक्तम् । तत्र शङ्केते । के पुनरमी ऋषयः ? इहाऽऽह—“प्राणावा ऋषयः” प्राणानेतदाह । यथाग्निष्टोमे सप्त होतारः क्रियासम्पादका भवन्ति त एव ऋषय उच्यन्ते ऋषिगोत्रोत्तराद्ये । तथेहापि चक्षुरादयः ऋषयः सप्त शिरोऽध्यास्य स्वस्वविषय-सम्पादका भवन्ति । अतस्तेषां प्राणानामृषित्वम् । पुनरपि “वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना” इति यदुक्तं तत्र केयमष्टमी वागित्याशंका जायते । तत्राऽऽह—“वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संविचे” अत्र नान्याकापि कल्पना । हि यतः । अष्टमी वागेव वाग् वाक् पदेन वागेव गृह्यते सैव । ब्रह्मणा वेदेन सार्धं संविचे सम्बादं कुरुते । “वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्माविप्रः प्रजापतिः” इत्यमरः । “विदि प्रद्धि स्वरतीनामुपसंख्यानम्” इति संपूर्वात् वेत्तेरात्मने पदम् ॥ ३ ॥ (ख)

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज-
इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमद-
ग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवा-
त्रिर्वाचा ह्यन्नमयतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता
भवति सर्वमस्यान्न भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अनुवाद—ये ही (दोनों कर्ण) गोतम और भरद्वाज हैं, यह दक्षिण कर्ण
'गोतम' और यह वाम कर्ण 'भरद्वाज' है-ये ही (दोनों चक्षु), विश्वामित्र और
जमदग्नि हैं । यह 'दक्षिणचक्षु' । विश्वामित्र और यह 'वामचक्षु' जमदग्नि है ।
ये ही (दोनों नासिकाएँ) वसिष्ठ और कश्यप हैं-। यह 'दक्षिण नासिकापुट'

वसिष्ठ और यह 'वाम नासिकापुट' करण है और बाणी ही अत्रि ऋषि है । क्योंकि बाणी से अन्न पचाया जाता है । अति ऐसा ही इस बाणी का प्रसिद्ध नाम है जो यह अत्रि है । जो ऐसा जानता है वह सब का भोता होता है और सब घटु इसका अन्न होता है ॥ ४ ॥

पदार्थ—जैसे अग्निष्टोमादि याम में गोतम भरद्वाज आदि गोत्रोत्पन्न और गोतम भरद्वाज आदि नाम से ही प्रसिद्ध रात ऋषि ऋषिगू होते हैं । वैसा यहा कौन गोतम कौन भरद्वाज है इत्यादि विषय को विस्पष्ट करने के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ होता है । यहा यह भी जानना चाहिये कि अङ्गुलि के निर्देश से आचार्य शिष्यों को जिस प्रकार बतलाते हैं वा बतलाया करते थे वैसा ही यहा पर भी रख दिये गये हैं । प्रथम दोनों कानों को अङ्गुलि दिखलाकर कहते हैं कि (इमौ+एव) ये ही दोनों कान (गोतमभरद्वाजौ) गोतम और भरद्वाज ऋषि हैं । कौन कौन गोतम और कौन कौन भरद्वाज हैं ? इसका निर्णय ऋषि ने नहीं किया है । परन्तु दक्षिण अङ्ग की प्रथम उपस्थिति होती है यह प्राचीन आचार्यों का एक नियम है तदनुसार (अयम्+एव) यही दक्षिण कर्ण (गोतमः) गोतम और (अयम्) यह वाम कर्ण (भरद्वाजः) भरद्वाज है । कानों को कहकर अय चक्षुओं के ऊपर हाथ रखकर उपदेश देते हैं कि (इमौ+एव) यही दोनों नयन (विश्वामित्रजमदग्नी) विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि हैं (अयम्+एव) यह दक्षिण चक्षु (विश्वामित्रः) विश्वामित्र है और (अयम्+जमदग्निः) यह वाम नेत्र जमदग्नि ऋषि है । पुनः अर नासिकाओं पर हाथ रख कर उपदेश देते हैं कि (इमौ+एव) ये दोनों नासिकाएँ (वसिष्ठकरणौ) वसिष्ठ और करण ऋषि हैं (अयम्+एव) यह दक्षिण नासिका (वसिष्ठः) वसिष्ठ ऋषि है और (अयम्+करणः) यह वाम नासिका करण ऋषि है (वाग्+एव+अत्रिः) बाणी ही अत्रि ऋषि है (हि) क्योंकि (वाचा) बाणी की सहायता से (अन्नम्) अन्न (अद्यते) पचाया जाता है । इस बाणी का (अतिः) अति ऐसा (इ+वै) प्रसिद्ध (नाम) नाम है अति नाम होने से क्या हुआ । अत्रि तो इसका नाम नहीं है । किन्तु बाणी को अत्रि कैसे कहा गया है । इस पर कहते हैं—(एतत्) इसी अति शब्द को (यद्+अत्रिः) जिस कारण (अत्रिः+इति) अत्रि ऐसा

कहते हैं । आगे फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो साधक इस प्रकार इस विद्वान् को जानता है वह (सर्वस्य+अत्ता) सब वस्तु का अत्ता=भक्त अर्थात् तत्त्ववित् होता है । और (सर्वम्) सब वस्तु (अस्य) इस साधक को (अन्नम्) अन्न (भवति) होता है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यथाग्निष्टोमादौ गोतमभरद्वाजादिगोत्रोद्भवा गोतमभरद्वाजादि-
नाम्नैव प्रसिद्धाः सप्त ऋत्विजो भवन्ति । तथात्र को गोतमः को भरद्वाज
इत्यादिविस्पष्टयितुमुत्तरोग्रन्य आरभ्यते । अत्राहुर्गानिर्देशनाऽऽचार्यः शिष्यान्
यथोपदिशति । तथैव निबद्धानि पदान्यत्र सन्ति । प्रथमं कर्णौ निर्दिश्य
आह—इमौ कर्णौ एव गोतमभरद्वाजौ वेदितव्यौ । कः कर्णौ गोतमः कश्च
भरद्वाज इति शंका समुदेति । तत्र न निर्णयं कुर्वन्पृष्टिरयते । परन्तु दक्षिणस्य
प्रथमोपस्थितिं मन्यन्ते आचार्या इति साधारणनियमात् अयं दक्षिणः कर्णौ
गोतमः । अयं वामकर्णः भरद्वाजो ज्ञातव्यः । उत्तरत्राप्येवमेव योजयितव्यम् ।
चक्षुषीनिर्दिशन्नाह—इमावेव विधेयप्राधान्यात् पुंस्त्वम् । इमे चक्षुषी एव
विधामित्रजमदग्नी ऋषी वेदितव्यौ दक्षिणं चक्षुर्विश्वामित्रः । वामं जमदग्निः ।
नासिके दर्शयन्नाह । इमावेव इमे नासिके एव वभिष्ठकश्यपौ । दक्षिणा नासिका
वसिष्ठा । वामा नासिका कश्यपः । इति सप्तानामृषीणां योजना समाप्ता ।
अष्टमी वागेव शिष्यते । तत्राऽऽह—वागेवात्रिः । अष्टपृषिर्वाग् वर्तते । कथम् ।
अदन्क्रियायोगात् । तदेवविशदयति । हि यतः । वाचा वाग्द्वारया । अक्षम् ।
भूतैः । अद्यते भक्ष्यते । अतोवाचोऽर्चिर्ह वैनामप्रसिद्धं जगति वर्तते । भवतु
तावदतिरिति वाचोनामधेयम् । किन्तेन नहि अत्रिरिति तस्या नाम कथं तर्हि
अत्रिरित्युक्तमत्राह—एतद्यद् “आत्ति”रिति नामास्ति तदेव अत्रिरिति वेदित-
व्यम् । प्रत्यक्षद्विष इव देवाः परोक्षप्रिया एव भवन्ति । इति नियमात् ।
अत्रिरिति वक्तव्ये अत्रिरिति कथ्यते । फलमाह—य एवं वेद । स सर्वस्य
पदार्थस्य अत्ता भक्षयिता भवति । पुनः सर्वमस्यान्नं भवति ॥ ४ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

दृष्टवालाकिरादित्यचन्द्रविद्युत्पुरुषादीन् ब्रह्म मत्वोपास्ते स्म अजातशत्रु-
स्तु नाऽऽदित्यपुरुषादयो ब्रह्मेति मर्मतास्मिन् सम्प्रदिष्टा इत्यादिनिषेधवाक्यैः
स्वाशयं व्यक्तीकृतान् । तत्र नहि कारिचदपि हेतून् प्रमाणानि वा दर्शित-
वान् । सम्प्रति आदित्यपुरुषादीनामवद्यत्तानुपास्यत्वसाधनाय तार्तीयकं ब्राह्म-
णमिदमारभते । सर्वे पदार्था अन्तरतो बाह्यतरच दर्शनीयाः । बाह्यतः पदा-
र्थस्य शुक्लादिरूपं शरीरस्याकृतिपरिणाह, ह्रस्वतादीर्घताऽऽयाम्भ्रूलनेत्यादितद्वत
धर्मान् जानीमः । अन्तरतः मर्मान् गुणान् परिच्छेत्तुं न केऽपि शक्नुवन्ति ।
एकस्या दूर्वाया अपि गुणा नियन्त्रया निर्धारयितुं के समर्थाः । कथम् ? यतस्ते
गुणार अमूर्ताः सन्ति । अतः सर्वे पदार्था द्वाभ्यां धर्माभ्यां मूर्तामूर्तस्यरूपाभ्यां
संयुक्ताः सन्त्यत्र न सदेहः । इमावुभावपि धर्मो मूर्तामूर्तो प्रकृतिजौ । अतः
सर्वावच्छेदेन नेहक् पदार्थो ब्रह्म । पदार्थस्य यो हि भागोमूर्तः स प्रत्यक्षतया
दृश्यते या च शक्तिरमूर्ता सापि मूर्तभागस्यैव गुणीभूता अतो नैतयोर्भेदत्वम् ॥

दृष्टवालाकि “आदित्यरूप, चन्द्ररूप, विद्युत्पुरुष प्रभृतियों को ब्रह्म मान
उपासना किया करते थे । परन्तु अजातशत्रु “आदित्य पुरुषादि ब्रह्म नहीं हैं” इस
विषय को “इसमें ब्रह्म सगद् न करे” इत्यादि निषेध वाक्यों से अपना आशय
प्रकट करते गये । परन्तु वहां किन्हीं हेतुओं को वा प्रमाणों को नहीं दिएलाये
ये । सम्प्रति आदित्य पुरुषादिकों के अग्रहत्व और अनुपास्यत्व के साधन के
लिये इस तृतीय ब्राह्मण का आरम्भ करते हैं । सर्व पदार्थ बाहर और अन्तर से
देखने योग्य हैं, बाहर में पदार्थों का शुक्लादि रूप, आकृति, परिणाह, ह्रस्वता,
दीर्घता, आयाम, आयतन, स्थूलता इत्यादि तद्गत धर्मों को जानते हैं । परन्तु
अन्तर से पदार्थ के सन गुणों का ठीक ठीक पता कोई नहीं लगा सकता है ।
जिस हेतु वे गुण अमूर्त हैं । इसमें यह सिद्ध हुआ कि सन मूर्तामूर्तस्वरूप दो
धर्मों से युक्त हैं इसमें सन्देह नहीं । ये दोनों ही धर्म मूर्त या अमूर्त प्रकृतिज हैं ।
इस हेतु सर्वावच्छेद से कोई भी यह पदार्थ ब्रह्म नहीं । क्योंकि पदार्थ का जो भाग
मूर्त है । वह प्रत्यक्षतया दीप्तता है । जो पदार्थशक्ति अमूर्त है वह भी मूर्त भाग
का ही गुण है । इस हेतु इन दोनों का ब्रह्मत्व नहीं है । ये ही दो रूप सम्पूर्ण
जगत् के हैं । इस हेतु यह जगत् ब्रह्म नहीं । इसी को अतिसत्त्व से आगे ऋषि
वहते हैं ॥

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ।

द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च मर्त्यञ्चामृतञ्च
स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥

अनुवाद—निश्चय, ब्रह्म अर्थात् जगन् और शरीर के दो ही रूप हैं मूर्त्त और अमूर्त्त । मर्त्य और अमृत । स्थित और यन् । सन् (व्यक्त) और त्यन् (अव्यक्त) ॥ १ ॥

पदार्थ—(ब्राह्मणः) इमं जगन् और शरीर के (द्वे) दो (वाव) ही (रूपे) रूप हैं । वे दो रूप सौन हैं सो आगे कहते हैं—(मूर्त्तम्+च+एव) कोई रूप तो मूर्त्त ही है (च) और कोई (अमूर्त्तम्) अमूर्त्त है । मूर्त्तिमान्, व्यक्त, स्थूल, सूक्ष्मान्, प्रत्यक्ष, कठिन आदिक को मूर्त्त और इमके विपरीत को अमूर्त्त कहते हैं अर्थात् कोई वस्तु मूर्त्तिधारी है कोई वस्तु मूर्त्तिधारी नहीं है । अथ आगे “मूर्त्त” और “अमूर्त्त” इन दोनों के विशेषण कहते हैं (मर्त्यम्+च) वे दोनों कैसे हैं ? मर्त्य=मरने योग्य=विनश्वर (च) पुनः कैसे हैं (अमृतम्) नहीं मरने वाले (च) पुनः कैसे हैं (स्थितम्) स्थित रहनेवाले=स्थिर (च) पुनः कैसे हैं (यन्) चलने वाले (च) पुनः कैसे हैं (सन्) व्यक्त (च) पुनः कैसे हैं (त्यन्) अव्यक्त । अथवा यहा मूर्त्त अमूर्त्त के विशेषण न रखकर यो भी बर्णन कर सकते हैं कि जगन् और शरीर के दो रूप हैं मूर्त्त, अमूर्त्त अथवा मर्त्य, अमृत । अथवा स्थितिमन्, गतिमन् । अथवा व्यक्त, अव्यक्त ॥ १ ॥

भाष्यम्—अत्र ब्रह्मशब्दः समष्टिरूपेण जगतो वाचकः । व्यष्टिरूपेण शरीरस्य वाचकः । नात्र परमात्मनः । प्रकृशमिदमेवार्थं द्योतयति । ब्रह्मणो दृश्यमानस्यास्य जगतः शरीरस्य च इदं जगच्छरीरञ्च बृहन्वाद्ब्रह्मोच्यते । द्वे द्विसंख्याके । वावशब्दोऽप्युच्चारणार्थः । द्वे एव । न त्रीणि न चत्वारि इत्येवम् । रूपे वर्तते रूप्यते निरूप्यतेऽवधार्यतेऽनेन तद्रूपम् । कस्यापि वस्तुनो निरूपणं रूपेणैव भवितुमर्हति । अस्य जगतः शरीरस्य च निरूपणाय द्वे एव रूपे स्तः । के पुनस्ते रूपे । मूर्त्तञ्चैव मूर्त्तमेव चैवम् । अमूर्त्तञ्च अमूर्त्तमेवाद्विती-

यम् । मूर्ते मूर्तिमद्व्यक्ते स्थूलं दृश्यमानं प्रत्यक्षमित्यर्थः । अमूर्ते मूर्तिर्गहितम-
व्यक्तं सुषुप्तं इन्द्रियागोचरं केवलं प्रमाणगम्यमित्यर्थः । इदानीं मूर्तामूर्तयोर-
विभागेन विशेषणानि प्रदर्शयति । कथंभूतं मूर्तममूर्तञ्च मर्त्यञ्च मरणधर्मि
च । च पुनः कीदृशम् । अमृतञ्च अमरणधर्मि नित्यमित्यर्थः । च पुनः स्थितं
स्थितिमत्स्यात् । यदेकरूपेणैव तिष्ठति न कदापि परिवर्तते तत्स्थितम् ।
च पुनः । यत् स्थिताधिपरीतम् गतिमत् । एति गच्छतीति यत् । इतेः शत्रु
अत्ययान्त रूपम् । इणोऽयण् ६ । ४ । ८१ ॥ अत्रादौ प्रत्यये परे इति यण् ।
च पुनः । सत् अस्तीति सत् । “अस्तेः शत्रुप्रत्ययः । सदिति ध्यञ्जेथे । इन्द्रि-
यागोचरम् । च पुनः । त्यत् तत् । त्यत्तच्छब्दौ एकार्थकौ आप्रग्रन्थेभ्योऽयं
त्रेदानीं त्यदिति न व्यवहियते” त्यदिति परोक्षार्थमाह । अव्यक्तमित्यर्थः ॥

अत्रेदमवधार्यम् । मूर्च्छामोहममुच्छ्राययोः । इत्यस्मात् कप्रत्ययः । ततः
न घ्या, रूपा, पृ, मूर्च्छि, मदाम् ८ । २ । ५७ ॥ इति निष्ठा तस्य नत्तामावः ।
ततो मूर्ते शब्दसिद्धिः “कर्कशं कठिनं कूरं कुठारं निष्ठुरं दृढम् । जठरं मूर्तिमन्मू-
र्तमित्यमरः । तेन कठिनार्थे मूर्ते शब्दः । केचित्पदार्थाः कठिनाः सन्ति । यथा
पृथिव्यादयः । केचिदकठिनाः । यथा वात्वादयः । कठिनाः पदार्था दृष्टिमा-
रोढुमर्हन्ति । नाऽकठिनाः । अर्थदस्मिन्विशेषे सामान्यतया द्विविधं वस्तु
दृश्यते । स्थूला पृथिवी नयनमनुभवति तदीयान् गुणाश्च ग्रहीतुं न सम्यक्
शक्नोति । एवमेव सर्वेषां पदार्थानां दशास्ति । सर्वः पदार्थो मूर्तामूर्तधर्मद्व-
यविशिष्ट इति फलितम् । पुनः सर्वं वस्तु मर्त्यञ्चामृतञ्च । कार्यरूपा पृथिवी
मर्त्यास्ति । सैव परमाणुरूपा अमृतास्ति । नहि पृथिव्याः परमाणवः कदापि
त्रियन्ते । तेन सर्वः पदार्थो मर्त्यामृतधर्मद्वयावगाहीति फलितम् । पुनः सर्वः
पदार्थः स्थितो यातश्च । कथम् ? प्रलयावस्थायां स्थितः । सृष्ट्यावस्थायां
यातः । स्थितिमान् गतिमाश्वास्तीति लभ्यते । एवं सर्वः पदार्थः सन् व्यक्तः
स्यः अव्यक्तः कार्यावस्थायां व्यक्तः । कारणवस्थायमव्यक्तः, इत्थं व्यक्ताव्यक्त-
रूपवान् पदार्थोऽस्तीति सिध्यति । ननु “अमूर्ते वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्”
इत्यनेन अमूर्ते वायौचान्तरिक्षे अमृतत्वमेक एव धर्म आरोप्यते न मर्त्यत्व-
मिति । तर्हि सर्वः पदार्थो धर्मद्वयविशिष्ट इति कथमुच्यते । व्यावहारिकीय-

मुक्तिर्न पारमार्थिणी । वायुमपि द्विषिषोऽस्ति । नित्यवानित्यत्र । कार्यरूपोऽनित्यः परमाणुरूपोऽनित्यः । एवमाकाशोऽपि द्विषिषो भवितुमर्हति । पृथिव्यादीनामिव आकाशस्यापि उत्पत्तिः श्रूयते । “नस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः” इति तैत्तिरीया श्रुतिः । “धर्माचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवश्च पृथिवीञ्चान्तर्गुणयोः स्वः” इति सावाट्ठेय एवान्तरिक्षोत्पत्तिमामनति । उत्पत्तिशब्दो व्यक्तार्थव्योक्तकः । एतेन सिद्धायते । पूर्वमन्तरिक्षमव्यक्तमासीत् । पश्चाद्व्यक्तमभूत् । व्यक्तं वस्तु मरत्येव मर्त्यम् अतोऽन्तरिक्षमपि मर्त्यञ्चामृतञ्च स्थितमित्यर्थः । इत्थं सर्वत्र बोद्धव्यम् । आकाशे वयं स्वल्पं जानीमः । अतो न तत्परतः सर्वमव्यक्तमितुं शक्नुमः । श्रुत्यनुसारिव्याख्यातम् । ननु “जीवात्मा परमान्मात्रापि पदार्थोऽस्ति सोऽपि धर्मद्वयग्रन्थः मन् मवृतीमापात्तिं नेष्यति भवतानये” । अत्र जगतो वर्णनास्ति तौ तु न प्रमाणैर्नान्यैरुपायैर्वा निरूप्येयाताम् तयोर्निषेधे नेति नेति इत्यादेशो भवतीति स्वयमेव वक्ष्यामि । अतः प्रकृतेर्निवारः प्रारब्धः सा च द्विषा इत्येवस्थितम् ॥ १ ॥

भाष्याशय—प्रत्यक्ष=यहाँ प्रत्यक्षरूप समष्टिरूप में सम्पूर्ण जगत् का और व्यक्तिरूप में शरीर का वाचक है । परमान्मा वाचक नहीं । मूर्त्त, अमूर्त्त, मर्त्य, अमृत, स्थित, यत्, सन् और त्यत् ये आठ विशेषणवाचक शब्द हैं । प्रत्येक पदार्थ इन आठों विशेषणों में युक्त है । इनमें प्रथम सत्र पदार्थ के दो रूप मानने चाहिये । इतनी दोनों के अन्य ६ विशेषण जानने चाहिये । उदाहरण के लिये एक पृथिवी को लेंगे । प्रथम पृथिवी के सत्र अंश मूर्त्त हैं इसमें सन्देह नहीं । परन्तु पृथिवी के गुण सत्र नहीं दीप्तते इस हेतु बहुत गुण अमूर्त्त हैं । अथ जो भाग मूर्त्त है और जो भाग मूर्त्त नहीं है वे दोनों पुनः मर्त्य और अमृत हैं । क्योंकि स्थूलरूपा पृथिवी जो मूर्त्त है वह मर्त्य मरणवाला है । और स्थूलरूपा पृथिवी के जो अमूर्त्त गुण हैं वे भी मर्त्य मरणे वाले हैं इसी प्रकार परमाणुरूपा अमूर्त्ता पृथिवी अमृत सदा रहने वाली है और अमूर्त्ता परमाणु रूपा पृथिवी के अमूर्त्त गुण भी अमृत ही हैं इसी प्रकार प्रलयकाल में सब पदार्थ ही स्थित और सृष्टि अवस्था में “यत्” गतिमत् । पुनः सृष्टि अवस्था में “मन्” व्यक्त और प्रलय में “त्यत्” अव्यक्त । इस प्रकार समन्वय करना । इस प्रकार पदार्थमात्र मूर्त्तामूर्त्त दो धर्मों से और स्थितत्वादि गुणों से

से युक्त है। अब यहाँ शङ्का होती है कि मूल में कहा गया है कि वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं। इसमें सिद्ध हुआ कि वे मूर्त नहीं फिर सत्र ही पदार्थ मूर्तामूर्त हैं सो कैसे हो सकता ? समाधान—जगत् में कोई पदार्थ मूर्त कोई अमूर्त प्रतीत होता है। यह लौकिक दृष्टि से कहा जागा है। परन्तु व्यावहारिक पदार्थमात्र को परमार्थ दृष्टि से मूर्तामूर्त कह सकते हैं। जवत्त्वगिन्द्रिय द्वारा वायु की और शब्द द्वारा आकाश की प्रत्यक्षता मानी हुई है तब इन्हें अमूर्त कैसे कह सकते। यदि मूर्त शब्द का केवल फाठिन्य ही अर्थ लिया जाय तो तब आकाश और वायु को मूर्त नहीं कह सकते यदि मूर्त शब्द का अर्थ व्यक्त प्रत्यक्षविषयाभूत आदि किया जाय तो सत्र ही मूर्तामूर्त हैं इस हेतु लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि से यथा स्थान में व्याख्यान हो सकता है। क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि वायु भी दो प्रकार के हैं—एक नित्य और दूसरा अनित्य, फार्थ्यरूप वायु अनित्य और परमाणुरूप वायु नित्य इसी प्रकार आकाश भी हो सक्ता, क्योंकि उपनिषदों और धेदों में आकाश की भी उत्पत्ति कही जाती है उस दम आत्मा से आकाश व्यक्त हुआ और आकाश के अनन्तर वायु प्रगट हुआ। एवं “सूर्याचन्द्रमसौ” इत्यादि वर्णन में “अन्तरिक्ष” पद भी माना है। इस हेतु जन साक्षान् वेद ही आकाश की उत्पत्ति का उपदेश देता है तब हम लोग क्या कर सकते हैं, व्यक्त होना ही उत्पत्ति है। और व्यक्तिगत पदार्थ अवश्य मूर्त हैं यह सिद्ध होगा। हम लोग आकाश के विषय में बहुत कुछ कम जानते हैं। इस हेतु धृति के अनुसार ही व्याख्यान करना उचित है। पुनः शङ्का होती है कि इस प्रकार जीवात्मा परमात्मा भी तो पदार्थ हैं वे भी यदि दोनों धर्म से युक्त हों तो बड़ी अनिष्ट होगी। समाधान—यहाँ जीवात्मा और परमात्मा का प्रकरण नहीं। किन्हीं प्रमाणों से या किन्हीं उपायों से उनका निरूपण होना आवि कठिन है, इनके विषय में नेति नेति कह कर वर्णन किया जाता है यहाँ प्रकृति का विचार आरम्भ हुआ है वह अवश्य ही मूर्त और अमूर्त हैं।

यहाँ मानो पृथिवी एक पदार्थ है इस पृथिवी में गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समान्य, अभाव आदि जो धर्म हैं वे पृथक् मान करके व्याख्यात नहीं हुए हैं। क्योंकि ये सब मिल करके ही तो पृथिवी, पृथिवी है। इस हेतु निज गुण—कर्मादिकसहित पृथिवी एक पदार्थ, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना ॥ १ ॥

तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षं चैतन्मर्त्यं मेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

अनुवाद—वायु और अन्तरिक्ष को छोड़ अन्य जो यह है वह मूर्त्त है, यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह मन् है । इस मूर्त्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का और इस सत् का यह रस है जो यह तपता है, क्योंकि यह सत् का रस है ॥२॥

पदार्थ—इस परितोद्दृश्यमान जगत् और देह के मूर्त्त अमूर्त्त दो रूप कहकर, किन्ती वस्तु मूर्त्त और किन्ती वस्तु अमूर्त्त है इसको विभागपूर्वक आगे दिखलाते हैं । प्रथम मूर्त्त पदार्थ को कहते हैं क्योंकि इसकी प्रथम उपस्थिति है (वायोः+च) वायु से और (अन्तरिक्षात्+च) आकाश से (यद्+अन्यन्) जो अन्य पृथिवी जल और तेज ये तीन पदार्थ बाकी रहे, क्योंकि पृथिवी जल तेज वायु और आकाश ये पाच महाभूत माने गये हैं । इनमें वायु और आकाश को तो छोड़ ही दिया तब अवशिष्ट पृथिवी आदिक तीन ही रह गये, इस हेतु “अन्यन्” पद से पृथिव्यादि तीन भूतों का ग्रहण है (तद्+एतन्+मूर्त्तम्) ये ये तीनों मूर्त्त हैं व्यवहार दृष्टि से यह कहा गया है (एतन्+मर्त्यम्) ये तीनों मर्त्य=मरण धर्मवाले हैं (एतन्+स्थितम्) ये तीनों स्थितिवाले हैं (एतन्+सत्) ये तीनों अति स्थूलतया सुव्यक्त हैं । आगे इन पदार्थों की सार वस्तु को कहते हैं—(तस्य+एतस्य) उस इस (मूर्त्तम्) मूर्त्त का (एतस्य+मर्त्तस्य) इस मरण धर्मवाले का (एतस्य+स्थितस्य) इस स्थितिशील वाले पदार्थ का और (एतस्य+सतः) इस सुव्यक्त पदार्थ का (एषः+रसः) यह रस है । वह कौन रस है सो कहते हैं (यः) जो (एषः) यह मूर्त्य (तपति) तीनों लोकों को तपता है । तीनों लोकों को तपानेवाला सूर्य ही है । पुनः उक्त विषय को दृढ़ करते हैं (हि) क्योंकि (सतः) सत, स्थित, मर्त्य और मूर्त्त भूतत्रय का (रसः) रस (एषः) यह सूर्य है ॥ २ ॥

भाष्यम्—तदेतदिति । अस्य परितोद्दृश्यमानस्य जगतो देहस्य च मूर्त्ता-मूर्त्तं द्वे रूपे उपदिश्य कियद्वस्तु मूर्त्तं कियच्चा-मूर्त्तमिति प्रविमज्य निरूपयति ।

प्रथमोऽस्थितं मूर्त्तमाह—आधोर्मरुतः । अन्तरिक्षादाकाशाच्च यदन्यद् भूतपञ्चके
परिशिष्टं पृथिव्यादित्रयं वस्तु वर्तते । तदेतन्मूर्त्तं मूर्द्धितं स्थूलमित्यर्थः । पुन-
रपि एतद्भूतत्रयं मर्त्यं मर्तुं योग्यं विनश्वरम् । व्यवहारदृष्ट्या अव्यक्तत्वमामि ।
पुनरपि एतन् स्थितं स्थाय्यम् । न बाधुवत् कम्पनशीलम् । पुनः—एतत् सत्—
एतत् पृथिवीजलतेजस्त्रयमतिस्थूलतया सत् सुव्यक्तं दृश्यमानं चक्षुषानुभूयमा-
नञ्च । बाधुरपि सुव्यक्तेऽस्ति स्वगिन्द्रियेण चानुभूयते । तथापि नेत्राग्निपय-
त्वादव्यक्त इवामिधीयते । एतमाकाशञ्च । अग्रे भूतत्रयस्य सारमाह—तस्यैतस्य
मूर्त्तस्य, एतस्य मर्त्यस्य, एतस्य स्थितस्य, एतस्य सतः, एतच्चतुर्विंशेषणयुक्तस्य
पृथिव्यतेजस्त्रयस्य । एष मयम् । रसः । कौऽर्मा ? य एष सूक्ष्मस्तपति । हि
यतः । एष सतो रमः—सतो भूतत्रयस्य रमः—एतेन न सूर्यो ब्रह्म न रापोऽस
नीयश्चेति व्याख्यातम् । एवमेव चन्द्रे, वायौ, विद्युति, मेघे एवविधे सर्वस्मिन्
देवे विवेक्ष्यम् ॥ २ ॥

भाष्याशय—हे बालाके ! आप विचार कर देखो यह सूर्य इन ही मूर्त्त पदार्थों
का एक सार भाग है । ये मूर्त्त वस्तु भगण बाले हैं, परन्तु ब्रह्म भरनेवाला नहीं,
इम हेतु यह सूर्य न ब्रह्म है और न यह अपास्व ही है । इसी प्रकार हे बालाके !
चन्द्र, अग्नि, मेघ, जल आदि सब देवों के विषय में जानो, ये सब ही मूर्त्त पदार्थों
का सारभाज हैं अतः अपास्व नहीं ॥ २ ॥

अथामूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं चेतदमृतमेतच्चदेतत्स्येतस्येतस्या
मूर्त्तस्येतस्यामृतस्येतस्य यत एतस्य त्वस्येव रसो य एष
एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येव रस इत्यधिदैवतम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—अन अमूर्त्त कहते हैं । वायु और अन्तरिक्ष (अमूर्त्त हैं) ये
अमृत हैं । ये यन्-गमनशील हैं । ये त्वन् (अव्यक्त-स्वरूप) हैं उस इस अमूर्त्त
का, इस अमृत का, इस गमनशील का और इस अव्यक्त का यह रस है । जो
यह इस मण्डल में पुरुष है । क्योंकि यह अव्यक्त का रस है । यहा अधिदैवत
समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

पदार्थ—अब अमूर्त्त वस्तु का विभाग करते हैं (अथ+अमूर्त्तम्) अब आगे अमूर्त्त कौन महाभूत है सो कहते हैं—(वायु+अन्तरिक्षम्+च) जो वहनशील हो उसे वायु कहते हैं । और जो सब पदार्थों के मध्य में दौरे उसे अन्तरिक्ष कहते हैं ये दोनो वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त हैं । चकार शब्द से यह भी अर्थ ग्रहण करना कि वायु और अन्तरिक्ष के समान अन्य जितने पदार्थ हैं वे भी मानो अमूर्त्त हैं । आगे इनके विशेषण कहते हैं—(एतत्+अमृतम्) ये दोनों वायु और अन्तरिक्ष अमृत=अमरण धर्मवाले हैं । पुनः (एतद्+यत्) ये दोनों गमनशील हैं । पुनः (एतत्+त्यत्) अव्यक्त परोक्ष हैं । आगे इन दोनों भूतों के रस को कहते हैं—(तस्य+एतस्य+अमूर्त्तस्य) उस इस अमूर्त्त का (एतस्य+अमृतस्य) इस अमृत का (एतस्य+यतः) इस गमनशील का और (एतस्य+त्यस्य) इस अव्यक्त का (एषः+रसः) यह रस है । वह कौन रस है सो आगे कहते हैं—(अस्मिन्+मण्डले) इस सूर्यमण्डल में (यः+एषः) जो यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है वह उन दोनो भूतों का रस सार पदार्थ है (हि) क्योंकि (एषः) यह पुरुष (त्यस्य) अव्यक्त का (रसः) रस है (इति+अधिदैवतम्) यहां अधिदैवत विज्ञान समाप्त हुआ ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि हे वालाके ! यह आदित्य पुरुषादिक भी इन्हीं पाँचों भूतों का रस है । इस हेतु ये आदित्य पुरुष आदिक भी ब्रह्म नहीं हैं । इसको विस्पष्ट करके अजातशत्रु ने वालाके को समझाया । एवं ब्रह्म बुद्धि से जो आप इसकी उपासना करते हैं वह भी आप का भ्रम है और भ्रमात्मक होने से त्याग्य है, यह भी शिक्षा दी जाती है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथामूर्त्तं वस्तु विभाजयति । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । वायुर्वातीति समीरणो मरुत् । चकाराद्वायु सद्योऽपि पदार्थः । च पुनः । अन्तरिक्षमन्तर्मध्ये सर्ववस्तूनामीक्ष्यते दृश्यते यत्तदन्तरिक्षम् । एतद् भूतद्वयम् अमूर्त्तम् अमूर्त्तमवयवमिव । असंहतामिव । अधनीभूतमिवास्ति । पुनरपि एतद्वाय्वन्तरिक्षद्वयम् अमृतम् । व्यवहारदृष्ट्या अमरणधर्मि । पुनः । एतद्द्वयम् यत् एतियातीति यत् गमनशीलम् । यद्यपि वायुरेव गन्ता न चान्तरिक्षं गन्तुं कचिदभिहितम् तथापि यः कश्चिच्चन्द्रगुण आकाशो वर्णयते सोऽवश्य-

मेव गमनशीलो भवितुमर्हति गुणाधारन्यात् पदार्थत्वात् । सर्व एव पदार्थो
 ग तेति वेदितव्यम् पृथिव्यादयोपि गन्तारः । तथापि च योरपि तदगमनात्
 स्थितास्ते उच्यन्त इति निरुक्तः । पुनः एतद्वयम् त्यत् त्वदिति परोक्षाभिधाय-
 कम् यत्रापि वायुश्च तत्रा प्रत्यक्षोऽस्ति तस्य गतिरपि गात्रा प्रतिक्षणं वायुमनु-
 भवति प्राणी तथापि न चतुषा तस्य मूर्तिर्दृश्यानेतरैरिन्द्रियैर्ग्राह्या । अतः
 स्यादिति पदनाभिधीयते । एवमन्तरिक्षमपि । अग्रे एतद्भूतद्वयस्य सारमाह—
 एतस्य तस्यामूर्तस्य, एताभ्यामृतस्य, एतस्य यतः, एतस्य त्वस्य एव प्रत्यक्षो
 दृष्टिचरः । “अङ्गुल्यानिर्देगेन सूर्यपुरुष शिष्येभ्योदर्शयन्नाह याज्ञवल्क्यः
 एव इति” । रमः सारः । कोऽयं रमः ? एतस्मिन् दृष्टिचर । मण्डले सूर्यम-
 ण्डले । य एव पुरुषोऽस्ति स भूतद्वयस्य रमः । हि यत्रः तस्य एव रसोऽस्ति ।
 पुरुषशब्देन शक्तिरभिधीयते । पुरि सूर्यरूपे प्राप्ते यं शेते स पुरुषः । आदित्ये
 चा शक्तिः स वायोऽन्तरिक्षस्य च मागेऽस्ति । अन्ते तस्य स्विरोपणमितरान्यपि
 विष्णवणानि सञ्ज्नाति । एतेनादिन्यपुरुषादयो न ज्ञेयंति सम्यक् प्रदर्शितम् ।
 अतो हे वा नाह । ब्रह्मणुः या यत्रमादि यपुरुषादीनुपास्ते । स तत्र अत्र एव ।
 अत्रत्यादेवम् । इत्यधिदैवतम् । जगद्ब्रह्मविधम् । आविदैवतमायात्मञ्च । यस्मिन्
 पृथग्रीसूर्यचन्द्रनक्षत्रादि जड देवता जीवात्मशून्याः सन्ति तदधिदैवतम् ।
 यस्मिन् मनुष्यपशुपक्षि प्रभृति चेतनाः सजीवात्मानः सन्ति तदध्यात्मम् ।
 तदैवतविषयक यद्दर्शनं विज्ञानम्या तदधिदैवत समाप्तम् । अग्ने अध्यात्मोपा-
 सनमुपदेक्षति ॥ ३ ॥

भाष्याण्य—अमूर्त=अमूर्ति । आजकल जिसमें मुग, हस्त, पाद, चदर
 आदिक शरीर के अवयव विस्फुट देकर पड़े उसे मूर्ति कहते हैं । (मूर्त और
 मूर्ति में यह भेद है कि मूर्त शब्द विशेषण है और मूर्ति शब्द मज्ञावाचक है)
 परन्तु “मूर्त्ति” शब्द से जिसका अर्थ मोह और मगुञ्जाय है मूर्त और मूर्ति
 शब्द वतता है । कोश के अनुसार कठिन, कठोर, घन आदिक अर्थ होते हैं ।
 वायु अन्तरिक्ष कठिन (ठोस) पदार्थ नहीं है और न इनके मुग हस्त पाद आदि
 अवयव ही मनुष्य के समान बीसने हैं । अतः ये दोनों अमूर्त=अमूर्ति
 कहाते हैं ।

यहां शङ्का होती है कि पृथिवी, जल और तेज (अग्नि) के भी तो अवयव नहीं दीखते हैं । और जल और अग्नि ये दोनों पदार्थ कठिन वा कठोर (ठोस) भी नहीं हैं । फिर ये तीनों क्योंकर मूर्त्त कहलाते हैं । यदि कहो कि पृथिवी प्रभृति का एक प्रकार का आकार तो अवश्य दीख पड़ता है, परन्तु वायु तथा अन्तरिक्ष का कोई भी आकार नहीं देखते । यह कहना ठीक नहीं । क्या जिमको केवल नयनेन्द्रिय से ग्रहण होता है उसी को आप मूर्त्तिमान् वस्तु कहेंगे, परन्तु यदि ऐसा ही अर्थ लेंगे तो मूर्त्ति शब्द का अर्थ "कठिन" नहीं करने पावेंगे । परन्तु मूर्त्ति शब्द का कोरा द्वारा कठिनता, कठोरता (ठोस) अर्थ होता है । यदि मान भी लें कि नयनेन्द्रिय गोचरमात्र को मूर्त्त कहेंगे तो ऐसे अर्थ करने से आप का अभीष्ट ही क्या सिद्ध होगा । क्योंकि किसी इन्द्रिय से पृथिवी का ग्रहण होता है और किसी इन्द्रिय से वायु का ग्रहण होता है । सब इन्द्रियों में सब के ग्रहण होने का कोई नियम भी नहीं । अतः दोनों पृथिवी और वायु इन्द्रियग्राह्य होने से तुल्य ही हैं । फिर इन दोनों में विशेषता क्या रही । वायु चलता है, त्वगिन्द्रिय से इसका अच्छे प्रकार बोध होता है । अतः यह भी तेज के समान मूर्त्त वस्तु है, इस में सन्देह नहीं । इसका समाधान इतना ही है कि व्यवहार दृष्टि से यहां ऋषि वर्णन करते हैं—पृथिवी जल और अग्नि की मूर्त्ति आपाओं दीखती है, परन्तु वायु और अन्तरिक्ष की सावयव मूर्त्ति कोई नहीं दीखती, अतः वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त कहलाते हैं, वायु=(वा गतिगन्धनयोः) वा घातु गति और गन्धन अर्थ में आता है । जो सदा बहता रहे उसे वायु कहते हैं । यद्यपि जल और अग्नि भी बहते हुए दीखते हैं परन्तु वायु में बहनशक्ति की अधिकता के कारण वायु ही बहनशील कहलाता है अन्य नहीं । इसमें सन्देह नहीं कि तत्त्वदृष्टि से यदि देखें तो जल और वायु में बहुत समानता पावेंगे । सूर्य के कारण से ही दोनों गतिमान् हैं । प्रसरण से वायु अतिसूक्ष्म हो अति प्रबलशील होता है । तद्वत् जल भी सूर्य के किरणों से प्रसरणशील रहता है । यदि सूर्य की उष्णता जल में न प्रविष्ट हो तो जल भी पर्वत के समान एक घनीभूत ठोस पदार्थ बन जायगा । फिर यह जल है ऐसा भी विवेक रहना कठिन हो जायगा और आग्नेय शक्ति तो वायु के आधार पर ही स्थित है । जहां वायु न होगा वहां अग्नि कदापि प्रज्वलित नहीं होगा, परन्तु आग्नेय शक्ति में यह एक

बड़ी विलक्षणता है कि बहुव्यापक है । सत्र पदार्थ के मध्य में गूढरूप से रहता है । जब हम उस अग्नि से कोई काम लेना चाहते हैं तो जिसमें अग्नि गूढरूप से छिपा है उसको भस्म करके अग्नि को पाते हैं, इस अंश में भी अग्नि वायुवत् सर्वगत और अमूर्त है ऐसा कह सकते हैं, अग्नि के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अग्नि भी अमूर्त वस्तु है, क्योंकि अग्नि वायु में है परन्तु दीप्तता नहीं । और जो जलते समय ज्वाला दीखती है वह पदार्थ अग्नि नहीं क्योंकि वायुओं के बहुतसे परमाणुओं का समूह वह ज्वाला है । वायु से पृथक् होकर बहुतसे परमाणु समूह निकलते जाते हैं उसी को साधारण जन अग्निज्वाला कहते हैं यदि कहो कि तब वह इतना उष्ण क्यों है । उन परमाणुओं के अभ्यन्तर अग्नि बहुत ही जाग्रत और चञ्चल है, अतः वह उष्ण है । जैसे जब वायु बहुत प्रचण्ड रहता है तब वृक्षादि पदार्थ बहुत ही कम्पायमान दीखते हैं । तद्वत् एक बात यह भी देखो । अग्नि को पार्थिव परमाणु से पृथक् करके नहीं दिखला सकते हो । और जब अग्नि ज्वाला ऊपर को जाकर धूम के आकार में परिणत हो बिलीनसी हो जाती है तब ऊपर से सूक्ष्म परमाणु गिरते हैं श्वेतवस्तु पर गिरने से वे शीघ्र काले हो जाते हैं इससे विस्पष्टतया सिद्ध होता है कि जिसको अग्निज्वाला कहते हैं वे यथार्थ में प्रज्वलित परमाणुसमूह हैं, अग्नि उसके अन्तर्गत है और वही परमाणुसमूह अति सूक्ष्म और अति लघु के कारण वायु की सहायता से ऊपर को उठता है और वायु के ही दबाव से एक आकारधारी बनजाता है । अतः सिद्ध है कि अग्नि भी अमूर्त वस्तु है । बहुतों का यह सिद्धान्त है कि अग्नि को कैसे मूर्त कहा । इसका भी उत्तर वही है जो मैंने पूर्व में कहा है । अर्थात् व्यवहार में अग्नि प्रत्यक्ष आकार पाला प्रतीत होता है । वायु वैसा नहीं है । इति दिक् ॥

अमृत=यहा वायु और आकाश को अमृत कहा है । और पूर्व में पृथिवी जल और अग्नि को मर्त्य अर्थात् अमृत से विपरीत कहा है । सो कैसे ? । सृष्टि की आदि से पृथिवी आदिक पाचों महाभूत तुल्यरूप से चले आते हैं । और “अर्णाः क्षोदः अमृतम् । इन्दुः । हेम । खः । सर्गः ...इत्येकशतमुदकनामानि । निषण्ड १ । १२ ॥”

इस निषण्ड के तथा “पयः फीलालममृतं जीवनं भुवनं चनम्” इस अमर-

कोश के प्रमाण से जल का नाम ही अमृत है । और व्यवहार दृष्टि से भी देखते हैं तो जल यथार्थ में अमृत ही है । क्योंकि आप किसी पात्र में जल को रख कर चूल्हे के ऊपर चढ़ाओ और उसके नीचे बराबर अग्नि की आंच देते चले जाओ जतक वह पानी बिलकुल जल न जाय । तब मन में प्रश्न करो कि वह जल कहाँ गया । उत्तर—तुम देखते हो कि जल के जलने के समय बराबर वाष्प ऊपर को उठता गया है । तुम यह भी देखते हो कि ढकने की पेंदी में जल-बिन्दु बैठे हुए हैं इससे यह सिद्ध होता है कि जल वाष्परूप हो करके महा आकाश में जाकर कहीं जम जाता है वा अन्य आकार होकर फिर पृथिवी पर गिरता है उस जल में से एक अणु भी क्षय नहीं होता है । अतः प्राचीन ग्रन्थों में जल का नाम “अमृत” अमरणधर्मी नाम आता है । पुनः निघण्टु में ऋत, सत्य, सत्, अक्षर, अक्षित आदिक नाम आये हुए हैं । जो नाम सिद्ध करते हैं कि जल अमृत है “यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्” यह ऋग्वेद का प्रमाण है । तब उपनिषद् ने जल को कैसे अमृत नहीं कहा और वायु को कैसे अमृत कहा । उत्तर—व्यवहार में देखते हैं कि जो सरोवर वर्षाऋतु में पानी से भरा हुआ था । उतना ही ग्रीष्म में भी विद्यमान है । वायु से खाली वह सरोवर कभी नहीं हो सकता, अतः वायु तो अमृत है और जल नहीं । परन्तु परमार्थ दृष्टि से जल भी अमृत ही है । इति विक् ॥

पुरुष=प्रथम हम कह चुके हैं कि गुण वा शक्ति अमूर्त वस्तु है यहाँ वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त पदार्थ कहा गया है और इसी अमूर्त पदार्थ का सार वह सूर्य मण्डलस्थ पुरुष है इससे सिद्ध हुआ कि वह सूर्य मण्डलस्थपुरुष भी अमूर्त वस्तु है । जो नयन गोचर नहीं हो सकता । इसी कारण पुरुष शब्द का यहाँ अर्थ शक्ति है, शक्ति वा गुण अमूर्त वस्तु है इसमें सदेह नहीं ॥

द्वितीय तृतीय कण्डिका से यह भी सिद्ध होता है कि सूर्य पाँचों भूतों का समूह है अर्थात् इन पाँचों भूतों के योग से पृथिवी आदि जैसे बने हुए हैं तद्वत् सूर्य भी । यहाँ सूर्य क्योंकि सब भूतों का रस (सार) कहा गया और क्योंकि मूर्त और अमूर्त पदार्थों का वर्णन किया गया । इसका मुख्य तात्पर्य यह है—“अनूचान

हस्तवालाकिने इन्होंने पंचभूतों से रचित पदार्थों में जो पुरुष है उसी को “ब्रह्म” मान उपासता हुआ ऐसा कहा है ।” यहाँ पर राजा ने यह दिखलाया कि एक सानार सूर्य वस्तु है और दूसरा उसमें एक निराकार गुण वा शक्ति है जिसको पुरुष कहते हैं । वह अमूर्त निराकार पुरुष भी इन्होंने भूतों का रस है इससे यह सिद्ध हुआ कि सूर्य और सूर्य का पुरुष (शक्ति) दोनों ही पंचमहाभूतों के ही समूह हैं, ब्रह्म नहीं । जय पाचभूतों का सार पुरुष सहित सूर्य ही एक जड़ पदार्थ ठहरा तब पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, जल, भेज, विष्णु, चन्द्र, नक्षत्र, महाप्रह ये सब पदार्थ अपने अपने पुरुष के साथ तो निःसन्देह जड़ हैं । और इन्होंने पाँचों महाभूतों के समूह वा संयोग हैं यह सिद्ध हुआ । अतः पूर्वकथित आदित्य, चन्द्र, विष्णु, आकाश, वायु, अग्नि आदिक अपने अपने पुरुष (शक्ति) सहित पंचमहाभूतों के संयोग सिद्ध हुए हैं । और इसी हेतु यह सब ब्रह्म नहीं है, यह अर्थापत्त्या सिद्ध हुआ । यहाँ पर सूर्य की प्रधानता है । अतः सूर्य की ही रचना दिखलाई गई । अन्य वायु आदिक की नहीं । परन्तु यहाँ सूर्य की रचना का वर्णन उपलक्षणमात्र है वायु आदि का भी ऐसा ही जान लेना । इति दिक् ॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरा-
त्मनाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य
मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत् एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष
रसः ॥ ४ ॥

अनुवाद—अथ अध्यात्म (कहते हैं) शरीरस्थ प्राण (वायु) और शरी-
राभ्यन्तर स्थित आकाश इन दोनों को छोड़ कर जो अन्य तीन महाभूत (इस
शरीर में) हैं ये मूर्त हैं । ये मर्त्य हैं । ये स्थित हैं । ये व्यक्त हैं । उस इस मूर्त
का इस मर्त्य का इस स्थित का और इस सत् (व्यक्त) का यह रस है जो चक्षु
है । क्योंकि यह सत् का रस है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(अथ) अथ (अध्यात्मम्) अध्यात्म वर्णन कहते हैं । इस शरीर
, मे (प्राणात्+च) जो प्राण वायु है और प्राण के विचार जितने वायु हैं (च)

और (अन्तरात्मन्) शरीर के अभ्यन्तर (यः+अयम्+आकाशः) जो यह आकाश है । इन प्राण और आकाश दोनों को छोड़ कर (यद्+अन्यत्) जो अन्य पृथिवी, जल और अग्नि ये तीन महामूत हैं (इदम्+एव) ये ही सत्र (मूर्त्तम्) इस शरीर में मूर्त्त=मूर्त्तिमान् हैं (एतत्+मर्त्यम्) ये मर्त्य=विनश्वर हैं (एतन्+स्थितम्) ये स्थित=स्थिर हैं और (एतत्+सत्) ये सत् अर्थात् व्यक्त हैं । आगे इन मूर्त्तों का कार्य कहते हैं—(तस्य+एतस्य+मूर्त्तस्य) उस इस मूर्त्त (एतस्य+मर्त्यस्य) इस मर्त्य (एतस्य+स्थितस्य) इस स्थित और (एतस्य+सतः) इस व्यक्त तीनों अवशिष्ट भूतों का (एपः+रसः) यह रस सार है (यत्+चक्षुः) जो नयनेन्द्रिय है अर्थात् नयनेन्द्रिय इन मूर्त्तादि गुण युक्त तीनों भूतों का सार है । इसी को पुनः विस्पष्ट करते हैं—(सतः) व्यक्त, स्थित, मर्त्य और मूर्त्त जो तीनों पृथिवी, जल और अग्नि है इन का (एपः+रसः) यह चक्षुरिन्द्रिय रस=मार है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—“य एवायमादर्शो पुरुषः” “य एवायं छायापुरुषः” “य एवायमात्मनि पुरुषः” इत्यादिवर्णनेन शरीरस्य, शरीरस्थस्य पुरुषस्य (शक्तेः) ब्रह्मत्वेनोपास्यत्वं शिञ्चितम् । तदिह प्रधानस्य चक्षुषः चक्षुःपुरुषस्य च भौतिकत्वसाधनेन जडत्वं दर्शयित्वा अब्रह्मत्वमनुपास्यत्वं च सूचयिष्यति । प्रथमं मूर्त्तमाह । इदानीमध्यात्मविषये मूर्त्तमूर्त्तयोर्विभागं कण्डिका द्वयेनाऽऽरभते । अस्मिन् शरीरे यः प्राणोवायुरस्ति । चकारात् प्राणसदृशोऽन्योऽपि शरीरस्यः पदार्थः । पुनः । अन्तरात्मन् अन्तरात्मनि । आत्माऽत्रशरीरवचनः । आत्मा यत्नोद्धृतिर्बुद्धिः स्वभावोब्रह्म वर्ष्म च इत्यमरः । आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । चित्ते धृत्तौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि चेति धराणि । शरीरस्याऽभ्यन्तरे । यथायमाकाशोऽस्ति । एतत्प्राणशरीरस्याकाशद्वयं विहाय । शरीरे यदन्यत् परिशेषं भूतत्रयं वर्त्तते । तदित सर्वं मूर्त्तम् । पुनः । एतत् सत्यम् । पुनः । एतात्स्थितम् । पुनः । एतत् सत् । इमानि पूर्व व्याख्यातानि । तस्यैतस्य मूर्त्तस्य, एतस्य मर्त्यस्य, एतस्य स्थितस्य, एतस्य सतः । एष निकटस्यो दृश्यमानो रसः सारः । कोऽसौ रस इत्याह—यच्चक्षुः । यच्चक्षुरिन्द्रियं वर्त्तते तन्मूर्त्तादिचक्षुष्यविशेषणसहितस्य भूतत्रयस्य

सागमस्तीति वेदितव्यम् । हि यतः सतोभूतत्रयस्यैव रसः । विस्पष्टार्थमेतद्वचनम् ॥ ४ ॥

भाष्याशय—पूर्व में “जो ही यह आदर्श में पुरुष है” “जो ही यह छाया पुरुष है” । इत्यादि वर्णन से शरीर और शरीर के गुण को ब्रह्म कह कर उपासना की सिद्धि की थी । इस हेतु यहा शरीर में प्रधान चक्षु और चक्षु की शक्ति को भौतिक सिद्ध करके न यह ब्रह्म है और न यह उपास्य है ऐसा सूचित करने के लिये इन दो कण्डिकाओं का आरम्भ करते हैं । जैसे अधिदैवत जगत् में सूर्य की प्रधानता है इसी कारण सूर्य की भौतिक सृष्टि कही गई वैसे ही इस शरीर में चक्षु-रिन्द्रिय की प्रधानता के कारण इसकी उत्पत्ति कही गई है । जैसे अधिदैवत जगत् में सूर्य तैजस पदार्थ है वैसे अध्यात्म में चक्षु तैजस है । इत्यादि विज्ञान का परामर्श करना ।

अन्तरात्मन्—यहा आत्मा शब्द शरीरवाची है । इस में कोश का प्रमाण । जीव, यत्न, धृति धुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म और शरीर अर्थ में आत्मा शब्द । घरण भी यही कहता है । क्योंकि शरीर के अभ्यन्तर में आकाश है न कि जीवात्मा के भीतर । इस कारण यहा आत्मा शरीरवाचक है ॥ ४ ॥

अथामूर्त्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्पत् तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत् एतस्य त्स्यैव रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तस्य ह्येव रसः ॥५॥

अनुवाद—अब अमूर्त्त कहते हैं । प्राण वायु और प्राण वायु के विकार और जो यह शरीर के अभ्यन्तर आकाश और आकाश के भेद हैं वे दोनों अमूर्त्त हैं । ये अमृत हैं । ये गमनशील हैं । ये अव्यक्त=परोक्ष हैं । उस इस अमूर्त्त का, इस अमृत का, इस गमनशील का और अव्यक्त का यह रस है जो दक्षिण चक्षु में पुरुष (शक्ति) है । क्योंकि यह इस अव्यक्त का रस है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(अथ) अब (अमूर्त्तम्) अमूर्त्त वस्तु जो शरीर में है उसका उपदेश करते हैं (प्राण) प्राणवायु (च) और प्राण के जितने भेद हैं और

(अन्तरात्मन्) शरीर के अभ्यन्तर (यः+अयम्+आकशः) जो यह आकाश है (च) और आकाश के जितने भेद हैं । वे दोनों अपने भेदसहित (अमूर्तम्) अमूर्त हैं (एतद्+अमृतम्) यह अमृत है (एतद्+यद्) ये गमनशील हैं (एतद्+त्यद्) वे अव्यक्त अथवा परोक्ष हैं । अब आगे इनका कार्य कहते हैं—(तस्य+एतस्य+अमूर्तस्य०) उस इस अमूर्त, अमृत, गमनशील और अव्यक्त का (एषः+रसः) यह रस=सार है । कौन है सो आगे कहते हैं—(यः+अयम्) जो यह (दक्षिणे+अक्षन्) दक्षिण चक्षु में (पुरुषः) शक्ति है (हि) क्योंकि (तस्य) अव्यक्तत्वादि गुण सहित उन दोनों भूतों का (एषः+रसः) यह रस है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथाध्यात्ममूर्त्तवर्णनानन्तरम् । इदानीमध्यात्मामूर्त्तमाह किमेतदमूर्त्तम् ? अयं शरीरस्थः प्राणोवायुः । चकारात्तस्य विकारश्च । पुनः । अन्तरात्मन् अन्तरात्मनि अन्तः शरीरे “इहात्मनृगब्दः शरीरवाचीति पूर्वोक्तम्” “अन्तरात्मनित्यत्र सुपां सु-लुक् पूर्वसवर्णान्धेयाडाढयाजालः । ७ । १ । ३६ ॥ इतिङेलुक्” शरीरस्याभ्यन्तरे । योऽयमाकाशो महाभूतमस्ति । चकारात्तदभेदारश्च । एतत्प्राणाऽऽकाशद्वयम् । अमूर्त्तम् । एतदमृतम् । एतद्यद् । एतत् त्यद् । इदानीमेतस्य कार्यमाह—तस्य एतस्यामूर्त्तस्य । एतस्यामृतस्य । एतस्य यतः । एतस्य त्यस्य । एष रसोऽस्ति सारोऽस्ति । कः १ । योऽयं । दक्षिणे, अक्षन् अक्षिणि “सुपांसुलुगित्यनेनङेलुक् । पुरुषः शक्तिविशेषोऽस्ति । स तस्य सारः । पुनरपि विस्पष्टयति “त्यस्य द्येष रम” इति । इहेदं-विवेच्यम् । द्वे नयने स्तः । तत्र किमप्येकं नयनं लक्षणीयम् । एकस्यलक्षणे-नेतरस्यापि तदेव भविष्यति । तर्हि कतरल्लक्षणीयम् । उभयोर्मध्ये दक्षिणस्य प्रथमोपास्थितिरिति प्राचीनान् नियमाद्विषण इत्युक्तम् । शरीरे तावदिन्द्रियाणि प्रधानानि । तत्रापि ज्ञानेन्द्रियाणि । तत्रापि चक्षुषी । तत्रापि । दक्षिणं चक्षुः । एतच्चक्षुः स्वपुरुषसहितं पञ्चभूतैर्मूर्त्तामूर्त्तैरेव विनिर्मितम् । अतो जड़मचेतनम् । इदं जड़ं चेतनः कथमुपासीत । अध्यात्मविषये अज्ञानिनश्चाक्षुषपुरुषस्यैवोपास्यत्वं प्रधानतया दृग्न्त्यतः चाक्षुषोपासनानिषेधेन सर्वाध्यात्मकर्णाद्युपासना निवारितेति वेदितव्यम् ॥ ५ ॥

भाष्याशय—यहा यह जानना चाहिये कि नयनेन्द्रिय दो हैं । उन दोनों में से किसी एक का ही निरूपण करना चाहिये क्योंकि किसी एक के ही निरूपण से दूसरे का भी निरूपण हो जायगा । तब दोनों में से विसरा निरूपण होना चाहिये यह शङ्का होती है । दोनों में से दक्षिण अङ्ग की स्वभाव से ही प्रधानता के हतु प्रथम वपस्थिति होती है । यह प्राचीन नियम है । इससे अनुसार दक्षिण नयन के पुरुष का वर्णन है । अन्य किसी कारण विरोध से नहीं । अनोध जन ऐसी २ बातों पर बह्नुधा सविग्ध हो जाते हैं इस हेतु इसका तात्पर्य दितलाया गया है । अब इन दोनों षष्ठिशास्त्रों का फलितार्थ यह हुआ कि प्रथम इस शरीर में इन्द्रिय प्रधान हैं । उन में भी ज्ञानेन्द्रिय । उन में भी दोनों नयन । उन में भी दक्षिण नयन । यह नयनेन्द्रिय अपने पुरुष के साथ भूतार्त्तमूर्त पञ्चमहाभूतों से ही निर्मित है । अतः यह जड, अचेतन है । तब कैसे इस जड की चेतन जीवात्मा उपासना कर सकता है । अध्यात्म विषय में अज्ञानी जन चाक्षुष पुरुष की ही उपासना प्रधानतया करते हैं । अतः चाक्षुष पुरुष की उपासना के निषेध से तब अध्यात्म वर्णादि विषय की उपासना का निषेध होगया ऐसा जानना चाहिये । अतः अविदैवत और अध्यात्म इन दोनों जगत्तों में कोई वस्तु न हो ब्रह्म है और न उपास्य है यह सिद्ध हुआ ॥ ५ ॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा
 पाण्डुराविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽन्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा
 सकृद्विद्युत्वं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं
 वेद ॥ ६ ॥ (क)

अनुवाद—उस इस सुप्रसिद्ध पुरुष का यह रूप है जैसा कुसुम्भ फूल से रंगा हुआ वस्त्र होता है । जैसा मेघ का रोम घूसर होता है । जैसा इन्द्रगोप नाम का कीट होता है । जैसी अग्नि की ज्वाला होती है । जैसा श्वेत कमल होता है । जैसा एकबार ही विद्युत् का प्रकाश होता है । जो साधक ऐसा जानना है । निश्चय इसकी शोभा भी सकृत् विद्युत् के प्रकाश के समान होती है ॥ ६ ॥ (क)

पदार्थ—(तस्य+ह+एतस्य) उस इस प्रसिद्ध (पुरुषस्य) जीवात्मा के (रूपम्) नैमित्तिकरूप को कहते हैं । यहा अनेक उपमाओं के द्वारा आत्मा के तटस्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं कभी इस आत्मा का स्वरूप (यथा) जैसा (माहारजनम्+वासः) कुसुम्भ नाम के फूलों से रंगा हुआ वस्त्र हो वैसा होजाता है । कभी (यथा) जैसा (पाण्डु) किञ्चित् श्वेत (आविकम्) मेप लोम होता है (यथा+इन्द्रगोपः) जैसा अतिशयरक्त इन्द्रगोप नाम का कीट विशेष होता है (यथा+अग्न्यर्चिः) जैसी अग्नि की ज्वाला होती है (यथा+पुण्डरीकम्) जैसा श्वेत कमल होता है (यथा) जैसा (सकृन्) एकवार ही भट्ट (विद्युत्तम्) विद्युन् का प्रकाश होता है । इन उपमाओं के समान यह जीवात्मा विषय के संयोग से विविधरूप वाला हुआ करता है । आगे फल कहते हैं—(अस्य) इस रहस्य के जानने वाले पुरुष की (श्रीः) सम्पूर्ण सन्पत्ति (सकृन्+विद्युत्ता+इष+भयति) सकृन् विद्युन् प्रकाश के समान चमकने वाली होती है (ह+वँ) इस में सन्देह नहीं ॥ ६ ॥ (क)

भाष्यम्—आधिदैवनाध्यात्म वेवरणेनःचेतनायाः प्रकृतेस्तत्त्वं मन्त्रेपती दाशै-
तम् । ततो जीवात्मनोऽपि लक्षणं स्वरूपम्वा वाच्यम् । अतो जीवात्मनोनैमि-
त्तिकं तटस्थं रूपं दर्शयति । तत्स्वरूपन्तु दुर्वोधादकृतात्मभिरग्रहणार्थं न
लक्षयते इत्यतो न तन्निरूपणम् । तस्य ह प्रसिद्धस्य । एतस्य पुरुषस्य जीवा-
त्मनः । इदं वक्ष्यमाणंनैमित्तिकं रूपम् । किन्तु । यथा येन प्रकारेण माहा-
रजनं वासो भवति । माहारजनं कुसुम्भम् “स्यात्कुसुम्भ बाह्वि शिखं महारजन-
मित्यपि” इत्यमरः । तेन महारजनेन रक्तं वस्त्रमिति माहारजनम् । वासो
वस्त्रम् । तद्वदयं पुरुषः । कदाचिदयं जीवात्मा प्रियस्त्र्यादिविषयगृहीतो महा-
रजनरञ्जितं वस्त्रमिव रक्तो भवति । पुनः । यथा । आदिकं अवेर्मेपस्येदमि-
त्याविकम् । “अवयः शैलेमेपार्काः” इत्यमरः । “अविर्नाथे रवौ मेपे शैले
मूपिककम्बल इति मेदिनी” । आविकमूर्णादि । पाण्डु पाण्डुरम् । इह पाण्डु-
शब्द ईषत्पाण्डुवचनः । अग्रे पुण्डरीकशब्देन श्वेतप्रधानात् । यथा ईषत्पाण्डु-
मेपलोम भवति तथैव सात्त्विकभावं कञ्चिदुपलभ्य कदाचित् सात्त्विकराजसा-
भयभावमिश्रितो नयनेन धूसर इव लक्ष्यते । पुनः । यथा इन्द्रगोपः अत्यन्त-

रक्तः पीडनिशेष इन्द्रगोपः । कदाचिदात्मा अत्यन्तरक्तो भवति विषयेषु ।
 कदाचिद् यथान्यर्थः, अग्निज्वाला लेलायमाना भास्वरा भवति । तत्रैवा-
 त्मापि । कदाचिन् यथा पुण्डरीकं श्वेतं कमलं भवति । तथैवायं पुरुषः ।
 सर्वथा सात्त्विकभावमुपलभ्य श्वेतो भवति । कदाचिन् । यथा । सकृदेकवारं ।
 विद्युत्तम्—विद्युतो विद्योतन प्रकाशो भवति तथैवायमपि पुरुषः । ज्ञानं प्राप्य
 भवति प्रकाशते । स एन पुनः विद्युदिव प्रिनश्यति तद्रूपम् । अग्रे फलमाह—
 य एवं वेद । तस्यास्य श्रीः शोभा सकृद्विद्युत्तेन । सकृद्विद्योतनमिव भवति ।
 ह वा इत्यवधारणार्थं निपातौ ॥ ६ ॥ (क)

अथात आदेशो नेति नेति न होतस्मादिति नेत्यन्यत्पर-
 मस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव
 सत्यम् ॥ ६ ॥ (ख)

अनुवाद—अब इस कारण “ब्रह्म के विषय में” आदेश होता है । नेति २
 शब्द से उसका आदेश होता है क्योंकि इस आदेश से बढ़कर अन्य आदेश नहीं
 क्योंकि इससे परे कोई अन्य पदार्थ नहीं । अब उसका नाम कहते हैं “सत्य
 का सत्य” इसका नाम है, निश्चय प्राणों को सत्य कहते हैं उन प्राणों का यह
 (परमात्मा) ही सत्ता रखने वाला है ॥ ६ ॥ (ग)

पदार्थ—(अतः) इस कारण अर्थात् हे भालाके । जिस हेतु यदा मन्त्राख्य
 परमात्मा ने सत्यग्रह में उपदेश देना समुचित है परन्तु अभी तक प्रकृति जीव का
 ही वर्णन हुआ है इस कारण (अथ) अब (आदेश) उस परमात्मा के विषय
 में आदेश=उपदेश, शिक्षा प्रारम्भ करते हैं (नेति+नेति) उस परमात्मा का उप-
 देश नेति नेति शब्द से होता है (हि) क्योंकि (न) इससे बढ़कर कोई आदेश
 नहीं है । श्रुति कहते हैं कि इनमें क्या कारण है क्योंकि (अस्मात्+इति) इस
 परमात्मा से बढ़कर (अन्यत्+परम्) दूसरा उन्मृष्ट देव (नेति+अस्ति) नहीं है
 उस परमात्मा से बढ़कर कोई देव नहीं है वा उसके समान कोई नहीं है वा उसके
 वर्णन के लिये कोई सामग्री नहीं इस हेतु नेति नेति शब्द के द्वारा उसका आदेश
 होता है (अथ) अब (नामधेयम्) उस ब्रह्म का नाम कहते हैं—(सत्यस्य+

सत्यम्+इति) “सत्य का सत्य” उसका नाम है (प्राणाः+वै+सत्यम्) बाह्य और आभ्यन्तर प्राणों का नाम सत्य है (तेषाम्) उन प्राणों का भी (एषः) यह परमात्मा ही (सत्यम्) सत्ता रखने वाला त्रिकालावाध्य सच्चिदानन्दस्वरूप एक अद्वितीय है ॥ ६ ॥ (ख)

भाष्यम्—हे बालाके ! यतो ब्रह्माख्यः परमात्मोपदेशयत्वेनोपक्रान्तः । अतोऽस्मात्कारणात् । अथ प्रकृतिजीवात्मस्वभावविज्ञानानन्तरम् । अस्य परमात्मनः सम्बन्धे । आदेश उपदेशो व्याख्यानं प्रारभ्यते आदिश्यत उपदिश्यत अनेनादेशः । अगहिः संस्त्वं तच्छृणु । नेति नेति शब्देन तस्य व्याख्यानं भवति । कथम् । हि यस्मात् । एतस्मादादेशात् । अन्य आदेशो ब्रह्मव्याख्यानाय न भवति । हे बालाके ! यतः अस्माद् ब्रह्मणोऽन्यद्व्यतिरिक्तम् । परमुत्कृष्टं वस्तु । नेति नास्ति अतो नेति नेति शब्देन तस्यादेशः । अथ नामधेयं कथयामि । सत्यस्य सत्यमिति तस्य नामधेयम् । सत्यस्येत्यनेन कस्य ग्रहणम् ? प्राणा वै सत्यम् । बाह्याभ्यन्तरप्राणानां ग्रहणम् । तेषां प्राणानामपि । एष परमात्मैव सत्यम् । त्रिकालावाध्यः सच्चिदानन्दस्वरूप एकोऽद्वितीय इत्यर्थः ॥ ६ ॥ (ख)

आदेशोनेतिनेति ।

अत्रेदं विज्ञातव्यम्—यदि कोऽपि पृच्छेत् (१) ब्रह्म किं मनुष्यादिवन्-
मूर्तिमद्वर्त्तते ? । समाधानम्—न । (२) तद्ब्रह्म किं सूर्यादिवत् प्रकाशमानं
कचिदपि स्थितं सूर्यादेरपि महत्तमं वस्तु वर्त्तते ? । समाधानम्—न । (३)
भवतु चयं मनुष्यास्तन्मात्रलोकयितुं शक्नुमः किम् ? किं कचिदपि एकस्मिन्
स्थाने तस्य निवासस्थानं वर्त्तते ? एवं तत्र निकटस्थैर्जीवैः सूर्यादिगृह्यते ? ।
समाधानम्—न । (४) यथा राजा बहूनामात्यादीन् विचक्षणान् राज्यकार्या-
वेक्षणाय स्थापयति तथा सोऽपि परमात्मा विदधाति किम् ? । समाधानम्—
न । (५) किं स्मृष्टाभिः प्रजाभिधेतनाभिः सह कदाचिदपि तत्स्वयं ब्रह्म-
श्रीद्वयं आलापाय मापणाय दर्शनप्रदानाय निग्रहाय अनुग्रहाय एवमिधाय
कस्मैचिदपि प्रयोजनाय साययपदार्थजद् प्रत्यक्षं मयति ? । समाधानम्—न ।
(६) तत्पिपामति ? । समाधानम्—न । (७) अशिशिपति ? । समाधानम्—
न । (८) शेते ? । समाधानम्—न । (९) किमपि क्रीडां मनुष्यादिवत् करो-
ति ? । न । (१०) तत्किमिन्द्रियाणां त्रिषोऽस्ति ? । न । (११) मनसः ।
न । तथा चोक्तम्—न तत्र चक्षुर्गन्धति । न वाग्गच्छति । नो मनः । इत्यादि । यद्वा-
चानम्युदितम् । यन्मनसा न मनुते । इत्यादि । नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो
न चक्षुषा । इत्यादि (१२) नैवायिकाभिमतैः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालादि-
गात्ममनोभोगचित्तमस्ति किम् ? समाधानम्—न । (१३) शुक्लनीलपीतादिकं
तस्य रूपमस्ति ? । न । (१४) तस्मिन् गमनाऽऽगमनादिकं कर्मास्ति ? ।
न । (१५) आदिकपिरेव सदा किमपि ग्रन्थति ? । न । (१६) महाब्रा-
ह्मण इव महाराज इव वा स्वसहचरैः सह परिपदं रचयति ? । न । (१७)
स्थपतिरेव मामग्रीं संयोज्य मयनमिव निरवमिदं हस्तादिभिर्वा त्रिभिधयन्त्रै-
र्वा मृजति कश्चित् ? । न । (१८) माता यथाऽन्नपानादिभिः शिशुं कदा-
चित्स्तन्य पापयति । कदाचित् पर्यङ्के शाययति । कदाचित् वस्त्रं धापयति ।
कदाचित्कृपादी पन्नोन्मुखं बालं दृष्ट्वा पाणिना भट्टति विमर्त्ति । कदाचिद्
रुग्नायोपधीर्ददाति । तथैव यावन्तो जीवाः सन्ति तावन्ति रूपाणि विधाय

तत्तत्समीप्यमासाद्य प्रजाः पालयति कश्चित् । समाधत्ते-न । (१६) तर्हि किं व्याघ इव विहगान् जगन्ति संहरति न । तथा (२०) अस्ति कापि उपमा तस्य जगति ? । न ।

यहा यह जानना चाहिये । यदि कोई पूछे कि—(१) यह ब्रह्म क्या मनुष्या-दिवत् मूर्तिमान् है ? समाधान—नहीं । (२) यह ब्रह्म क्या सूर्यादिवत् प्रकाशमान, कहीं पर स्थित और सूर्यादि से बहुत ही बड़ा पदार्थ है ? । समाधान—नहीं । (३) अच्छा ऐसा हो । हम मनुष्य उसे देखने में असमर्थ होवें । किन्तु क्या कहीं भी एक स्थान में उसका निवासस्थान है ? और वहा निकटस्थ जीवों से सूर्यादिवन् देखा जाता है ? । समाधान—नहीं । (४) जैसे राजा बड़े २ विद्वान् अमात्यादिकों को राजकार्य देखने के लिये स्थापित करता है । वैसा ही वह परमात्मा भी करता है क्या ? । समाधान—नहीं । (५) क्या अपनी रची हुई चेतन प्रजाओं के साथ कभी वह स्वयं ब्रह्म क्रीडा, मापण, दर्शन देने के लिये निग्रह, अनुग्रह इम प्रकार के किसी प्रयोजन के लिये सावयव पदार्थ के समान प्रत्यक्ष होता है ? समाधान—नहीं । (६) वह पानी पीने की इच्छा करता है ? । नहीं । (७) वह खाने की इच्छा करता है ? । नहीं । (८) वह सोता है ? । नहीं । (९) मनुष्यादि के समान किसी प्रकार की क्रीडा वह-करता है ? । नहीं । (१०) क्या वह इन्द्रियों का विषय है ? । नहीं । (११) मन का विषय है ? । नहीं । कहा गया है वहा चक्षु नहीं जाता है । वाणी नहीं जाती है । मन नहीं पहुंचता । इत्यादि । जो वचन से उदित नहीं होता । जिसको मन से मनन नहीं कर सकता इत्यादि । जिसको वचन से मन से चक्षु से प्राप्त नहीं कर सकते इत्यादि । (१२) क्या नैयायिकाभिमत पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नवों द्रव्यों से बना हुआ है ? । समाधान—नहीं । (१३) उसका रूप शुक्ल नील पीत आदिक कुछ है ? । समाधान—नहीं । (१४) उसमें गमन आगमनादिक कर्म हैं ? । समाधान—नहीं । (१५) क्या कवि के समान कोई ग्रन्थ रचता रहता है ? । नहीं । (१६) क्या महाब्राह्मण वा महाराज के समान अपने सहचरों के साथ परिपद् की रचना कभी करता है ? । नहीं । (१७) स्वपति जैसे सामग्री सभ इकट्ठी कर भवन बनाता है वैसे ही क्या हस्तादिकों से वा विविध

यन्तां मे मृष्टि रचता है,। समाधान—नहीं, इस प्रकार नहीं। (१८) माता जैसे अपने बच्चे को कभी दूध पिलाती है। कभी पर्यङ्क के ऊपर सुला देती है। कभी बस्त्र पहना देती है। कभी कृत्रिम में गिरते हुए बच्चे को हाथ से फट पड़ जाती है, कदाचित् रोगी को ओषधि देती है। इसी प्रकार से जितने जीव हैं उतने रूप धारण उस वस्त्र तथा के निरुद्ध या प्रजाओं का पालन करता है क्या ?। समाधान—नहीं, इस प्रकार नहीं। (१९) तब क्या जैसे व्याध विहगों का ऐसे ही वह इन जगत्तों का सहार करता है। ऐसा नहीं। (२०) जगत् में उसकी उमा कोई वस्तु है ?। नहीं।

हे बालाके ! सहस्रंश्च ईद्वान् प्ररतान् पृच्छन् सर्वं प्रकार एव प्रतिनवनं । तेन किं विज्ञातं न शब्देन तस्यादेशः समप्रति । पुनरपि निरीक्ष्यताम् । (२१) तस्मात्किमपि भूयोऽस्ति ? । न । (२२) तस्मात्पृथिवीयं भूयसी ? । न । (२३) तस्मादाकाशोभूयान् ? । न । (२४) तस्मात्सर्वभूयसी ? । न । (२५) तस्मात्सर्वे लोकाः समवेता भून्वा भूयासः ? । न । (२६) तस्मात्सोऽपि ग्रीहिरणीयानस्ति ? । न । (२७) तस्मात् यतोऽणीयानस्ति ? । न । (२८) सर्पश्च श्यामाकश्च श्यामाकतण्डुलश्चाणीयोऽस्ति ? । न । (२९) तस्मात् कोऽपि विद्वत्सोऽस्ति ? । न । (३०) तस्मात् कोऽपि गतिमनरोऽस्ति ? । न ।

हे बालाके ! ऐसे २ सहस्रों प्रश्न पूछते चलो सर्वत्र नकारही उत्तर होगा । इससे आपने क्या समझा । न शब्द से ही उसका आदेश होता है । पुनरपि देखो । (२१) उससे क्या कोई वस्तु बड़ी है ? । नहीं । (२२) उससे क्या यह पृथिवी बड़ी है ? । नहीं । (२३) उससे क्या आकाश बड़ा है ? । नहीं । (२४) उससे क्या सुलोक बड़ा है ? । नहीं । (२५) उससे क्या सब लोक लोकान्तर मिलकर बड़े हैं ? । नहीं । (२६) उससे क्या कोई ग्रीहि छोटी है ? । नहीं । (२७) उससे क्या यव छोटा है ? । नहीं । (२८) सर्पों वा श्यामाक वा श्यामाक तण्डुल उससे क्या छोटा है ? । नहीं । (२९) उससे क्या विद्वान् है ? । नहीं । (३०) उससे कोई अधिक चलनेवाला है ? । नहीं ।

हे बालाके ! ईदृशेष्वपि विषयेषु नेतिशब्देनादेशो भवति । अतएव यदा-
रं सूर्यपुरुषं ब्रह्माभिप्रेषि तदा मया नेत्युक्तम् । इत्थं यत्किमपि मूर्त्तस्वाभूत्
वन्तु वर्त्तते तेन समं न ब्रह्मास्ति । ननु—हे राजन् ! अस्ति ओमित्येवंविधैः
पदैरपि तस्यादेशो भवितुमर्हति । कथं तर्हि नेतिनेत्यादेशस्तस्य । तथाहि—
(१) ब्रह्मणि विज्ञानं वर्त्तते ? । अस्ति । (२) सर्वेभ्यो व्येष्ट्वमस्ति तस्मि-
न् ? । अस्ति । (३) तस्मिन् जगन्कर्तृत्वात्पान्त्वमहर्तृत्वानि सन्ति ? । सन्ति ।
(४) अनवधिकत्वातिशयसुखित्वे वर्त्तते ? । स्तः । (५) क्लेशकर्मविपाकाश-
यैरपराभृष्टत्वं वर्त्तते ? । अस्ति । (६) स खलु परमात्मा सर्वेभ्यः कर्मफलं
ददाति कश्चित् । ओमिति । (७) तस्य ज्ञानेन केवलिनो भवन्ति जनाः क-
श्चित् ? । ओम् । (८) तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति ? । ओम् । (९)
अपि च स सर्वज्ञ अनन्तः शुद्ध अपापविद्धः । एवंविधैरनन्तविशेषणैर्गुणो-
पस्ति ? । ओमिति ।

हे बालाके इन विषयों में भी न शब्द से ही उसका आदेश होना है । इसी
हेतु जब आपने सूर्य पुरुष को ब्रह्म कहा था तब मैंने “न” ऐसा शब्द कहा था ।
इस प्रकार जो कुछ मूर्त्त वा अमूर्त्त वन्तु जगन् में है उसके समान ब्रह्म नहीं है ।
इतथात्ताकि शङ्का करते हैं कि हे राजन् ! “अस्ति” “ओम्” आदि पदों से भी
तो उसका आदेश हो सका है, फिर “नेति नेति” से ही उसका आदेश क्यों ? ।
यथा—(१) क्या ब्रह्म में विज्ञान है ? । है । (२) उसमें सब की अपेक्षा
व्येष्टत्व है ? । है । (३) उसमें जगन् कर्तृत्व, पान्त्व और संहर्तृत्व है ? । है ।
(४) अनवधिकत्व, अतिशय सुखित्व उसमें है ? । है । (५) क्लेश कर्म
विपाक और अपराध से अमेष्वद्वैत है ? । है । (६) क्या वह परमात्मा सब
को कर्मफल देता है ? । हा, देता है । (७) क्या उसके ज्ञान में मनुष्य युक्त
होते हैं ? । हां । (८) उसको जान लेने पर क्या सब विदित हो जाता है ? ।
हां । (९) क्या वह सर्वज्ञ, अनन्त, शुद्ध, अपापविद्ध इस प्रकार के अनेक
विशेषणों से युक्त है ? । हा ।

हे राजन् ! ईदृशेषु स्थलेषु अस्तिप्रभृतिशब्दैरपि तस्यादेशो संग्रहाति सति
नेतिशब्देन योऽप्यमादेशप्रक्रमः । स अवबोधान् जनान् संशयाव्यावेव पातयि-

प्यति । तस्यैव ब्रह्मणो नेतिनेति शब्दैर्भावं प्रहीष्यन्ति । ब्रह्म नास्ति यतो न दृश्यते न श्रूयते न स्पर्शते नानुभूयते न जायते न किमपि प्रयोजन तेन सिद्ध्यति, अतो न किमपि ब्रह्मना माख्यं वस्तु । इत्येवमर्थम् अबोधोद्वात्वा उदासीना भविष्यन्ति । अतो हे राजन् ! अस्ति प्रभृतिरेवादशोपरमिति कल्पामि ॥

हे राजन् ! ऐसे स्थलों में “अस्ति” “प्रभृति” शब्दों से भी उसका आदेश होना यदि सम्भव है तो नेति शब्द से जो यह आदेश का प्रक्रम किया है वह अबोध-जनों को सरायाधि में गिरावेगा । नेति नेति शब्द से उस ब्रह्म का ही अभाव प्रहण कर लेंगे । ब्रह्म नहीं है ब्रह्म नहीं है । जिस हेतु न यह दीखता है । न सुना जाता । न सूँघा जाता । न अनुभूत होता । न जाना जाता । न उससे कुछ प्रयोजन ही सिद्ध होना है, इस हेतु ब्रह्म नाम का कोई वस्तु नहीं है ऐसे ही अर्थ को अबोधजन मान, उदासीन हो जावेंगे, इस हेतु हे राजन्, अस्ति प्रभृति शब्दों से ही आदेश अच्छा है, ऐसा मैं समझता हूँ ।

पालाके ! साधुर्कं प्रतिभाति तत्र । तथापि इह हि प्रथमं जगद् द्विधा विभाजितम्—मूर्तञ्चामूर्तञ्च । तयोर्द्वयोर्ब्रह्मत्वप्रतिषेधाय द्वौ नकारौ प्रयुक्ता । यदिह मूर्तं वस्तु सत्तया प्रतीयते तदपि न ब्रह्म । यदमूर्तमनुमीयते प्रमाणा-न्तर्गताशुभ्यते तदपि न ब्रह्म । तदुभयविलक्षणं ब्रह्मेति । अथ चेह मूर्त्तामूर्तरेरपदार्थब्रह्मोपनीयते । अथवा एतस्य दृश्यमानस्य मूर्त्तस्यामूर्त्तस्य वा मम ब्रह्मास्तीति जानन्नि तन्निषेधार्थोक्तिः । परन्तु नेत्यादेशेन विपरीतप्राद्विष्यो जना भविष्यन्तीति भयत्ता संदिग्धं तद्वयं रूपानेन परिहरिष्यते । अन्यच्च—माकृता-कस्तुनो दूरसाधका नेतव्याः सन्ति । ततश्च ब्रह्म दर्शयितव्यमस्ति । कथं तर्हि अस्या दूयितया । केन सरलोन्वोपायेन । तदपि दर्शयितव्यमिति । पुनः पुनः मञ्जिबन्तमनेऽपि प्रकारान्तरमनवलोक्यमानाश्चिरन्तनाः कारुणिका मुनयः प्रथमं नेति नेत्यादेशेन महाभाषाविन्याः प्रस रितजालायाः प्रकृतेः इमामेव ब्रह्ममन्वोपासीनान् साधकान् दूरं गमयन्ति यत्र नितरामामन्निर्मिधभूता जयते-तमां नृणां तत्र पुनः पुनर्नैन्तर्ग्यैर्णोपादिष्टाः यदाचित्केऽपि तस्या विरमन्ति । अतोऽस्या प्रकृतेः सर्वतोभावेनानुपास्यत्वसिद्धये नेति नेति शब्देनोपादिशन्ति दयालवः । येन सर्वथा विश्वस्यानुभूय चेमां विहाय ब्रह्मामिमुत्तीना भवेयु-

रिति । तर्हि केन्द्रहेतिजिज्ञासायां श्रीमद्बुद्धयनाच र्यस्य वाक्यं संगृह्णानोऽहं प्रक-
रणमिदं समापयामि इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्ध बुद्धस्वभाव इ-
त्थं पानिपदाः । आदिबिद्वान् मिद्ध इति कापिलाः । क्लेशकर्त्रविषा काशयपरामृष्टो-
निर्माण कायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रयोजकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः । लोकवैवि-
रुद्धोऽपि निलेशः स्वान्तरचेति महापाशुपताः । शिव इति शैवाः । पुरुषोत्तम इति
वैष्णवाः । पितामह इति पौराणिकाः । यक्षपुरुष इति याज्ञिनाः । निरावरण
इति दिगम्बराः । उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः । यान्दुक्रोपपन्न इति नैया-
यिकाः । लोकाग्रहागसिद्ध इति चार्वाकाः । किं बहुना कार्वाण्यपि य विश्वकर्मे-
त्युपासते । तस्मिन्नेवं प्राप्तिद्वानुभवे भगवति भवे सन्देह एव कुतः । किं निरूप-
णीयम् । तथापि—

न्यायचर्चेषामीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।

उपासनं च क्रियते श्रवणान्तरागता ॥

श्रुतो हि भगवान् बहुराः श्रुतिस्मृतिरिहासपुराणेष्विदानीं मन्तव्यो
भवेति । “श्रोतव्यो मन्तव्यः” इति श्रुतेः—

आगमनेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरमेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् ब्रह्मां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति स्मृतेरव ॥

हे बालाके ! आप का कथन अच्छा प्रतीत होता है, तथापि यहाँ प्रथम जगत्
को दो भागों में विभक्त किया है । मूर्त्त और अमूर्त्त, उन दोनों का ब्रह्मत्व निषेध
के लिये दो नकार प्रयुक्त हुए हैं । यहाँ जो कुछ मूर्त्त वस्तु निज सत्ता से प्रतीत
होती है, वह भी ब्रह्म नहीं और जो अमूर्त्त आकाशदि वस्तु अनुभूत होता है
वा अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है उन दोनों से विलक्षण ब्रह्म है । और यहाँ
मूर्त्तामूर्त्त पदार्थों के द्वारा ही ब्रह्म की उपमा देते हैं अथवा इस दृश्यमान मूर्त्त वा
अमूर्त्त पदार्थ के ही समान ब्रह्म है ऐसा जानते हैं । इस निषेध के लिये यह वचन
है । परन्तु “नेति नेति” आदेश से विपरीतमाही लोग हो जायेंगे ऐसा जो आरने
सन्देह किया सो उसका व्याख्यान से परिहार हो जायगा । और भी देखो—प्राकृत
वस्तु से साधकों को दूर ले जाना चाहिये और तब ब्रह्म विरलज्ञाना चाहिये, परन्तु
कैसे इससे ये मनुष्य दूर लाए जा सकते हैं और सरल उपाय से वह ब्रह्म भी
विरलज्ञाना जा सकता है । इसके पुनः पुनः विचार करने पर भी उपायान्तर को न

देक्षते हुए विरन्तनं कान्तिकं मुनि प्रयत्नं नेति नेति आदेशं मे महामायावी, और निमित्ते वद मन्त्रं ज्ञानं पैला रक्षा है उस प्रकृति मे इसी प्रकृति को ब्रह्म मान कर उगमना करते हुए अश्विन जनों को दूर ले जाना चाहते हैं । जहां पर अतिशय निष्कामत्व आसक्ति मनुष्यों की हो जाती है, वहां पुनः पुनः लगातार वसतिष्ठ होने पर मनुष्य कदाचिन् कोई विरल ही उमंग विरल होते हैं । इस हेतु इस प्रकृति के मंत्रोक्तानाव से अनुगम्यत्व निदि के लिये दशानु श्रुति लोका नेति नेति शब्द मे उद्वेग करने हैं, निमित्त पूर्णतया विद्याम तथा अनुभव काके इसको त्याग परार्थ ब्रह्म की ओर जाएँ । तब ब्रह्म क्या है ऐसी निश्चयता होने पर भीमान् वदन्ताचार्य के वाक्य को मंत्र कहता हुआ मैं इस प्रकार को यहाँ समझ करता हूँ, वसतिष्ठान् पुरुष एतच्छे "शुद्धबुद्धमवाव" मानते हैं । चारिष (धर्मलक्षण्य-वागी) "आदिविज्ञान मिद्व" पादन्वित (योगशास्त्रवादी) इसको कलाशकर्म, विराट्शाय से रहित और स्वजात शरीर को धारण कर "सम्प्रदायप्रशोक्त" और "अनुपेक्ष" मानते हैं । महाराशुन (गैरवर्त्म के एक मन्त्रवादी) इसको लोक वेदविरुद्ध मंत्र और अग्नि धारण, शर वन द्विचक्र विषयतादि कर्मों से युक्त होने पर भी "निर्वेद और भवन्त्र" मानते हैं । शैव "गिर" वैष्णव "गुरुगोत्तम" पौरुषिक "विनामद्व" याज्ञिक "यत्पुरुष" विगन्वर "निरावरण" वैनामक "उद्वान्वेन" वैश्विक "नैगारिक" "पाददुःखोपरत्र" चाविक "लोकज्यव-हाणिविद्व" मानते हैं । बहुत क्या करें निम्न की उपासना कर लोग भी "विद्वत्कर्मा" कहकर करते हैं । इस ब्रह्म को संसार पर्यन्त जाति, गैर, प्रवर, चरण, बुद्ध, धामन्दिषों को जैसे कोई प्रत्यक्षतया अनुभव करता है तद्वत् अनुभूत भगवान् मे सन्देह ही नहीं हो सकता । फिर निम्न किस्म का । निमित्त सन्देह होता है उस पर निश्चय होता है परन्तु इसके आन्तर मे तो द्विब्रह्मात्र भी सन्देह नहीं । तथापि इस न्यायशास्त्र की चर्चा मे ईश्वर की उगमना ही की जाती है, क्योंकि चर्चा के द्वारा मनन होना और प्रवर के अनन्तर मनन ही होना चाहिये । श्रुति स्मृति शिवाय पुराण मे भगवान् बहुत मुने गये । अब वह मन्त्रत्व होने चाहिये । क्योंकि श्रुति कहती है कि प्रथम उसको सुनना चाहिये पश्चात् मानना चाहिये । स्मृति में क्या गता है कि जो "आगम से अनुमान मे और ध्यानाभ्यास के रस मे इन तीन प्रकार से अपनी बुद्धि को बढ़ाना है वद उत्तम योग को प्राप्त होता है ॥

अथ चतुर्थब्राह्मणम् ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन् वा अरेऽहम्-
स्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवा-
णीति ॥ १ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे मैत्रेयी ! इस स्थान से, निःसन्देह मैं
ऊपर को जाने वाला हूँ (अतः तुम दोनों की) अनुमति चाहता हूँ । और इस
कात्यायनी सहित अब तुम्हारे सम्बन्ध का अन्त (विच्छेद) करना चाहता हूँ ॥ १ ॥

पदार्थ—(मैत्रेयि+इति) हे प्रिये मैत्रेयी ऐसा सम्बोधन करके ('ह') सु-
प्रसिद्ध महर्षि (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य (उवाच) बोले । क्या बोले सो आगे
कहते हैं—(अरे) हे प्रिये मैत्रेयी ! (अहम्) मैं (अस्मात्+स्थानात्) इस गृहस्था-
श्रमरूप स्थान से (वै) निश्चय करके (उद्यास्यन्+अस्मि) उद्=ऊर्ध्व=ऊपर को,
यास्यत्=जाने वाला अस्मि=हूँ, अर्थान् इस आश्रम से ऊपर जो वानप्रस्थाश्रम उस-
को ग्रहण करने वाला हूँ । इस हेतु (हन्त) तुम दोनों से आज्ञा चाहता हूँ ।
क्यों आज्ञा चाहते हैं । क्या हम दोनों स्त्रियों को उस आश्रम में नहीं ले जायेंगे ।
इस शङ्का के निवारणार्थ आगे कहते हैं कि हे मैत्रेयी ! (अनया+कात्यायन्या)
इस उपस्थित कात्यायनी के सहित (ते) तुम्हारा (अन्तम्) विच्छेद वियोग,
अर्थान् तेरे सम्बन्ध की समाप्ति (करवाणि+इति) कर दूँ यदि तुम दोनों की स-
म्मति हो अर्थात् इतने काल पर्यन्त मुझ पति के साथ तुम दोनों का पतिपत्नी
भाव का जो एक विलक्षण लौकिक सम्बन्ध था उसका अन्त=समाप्ति करना चा-
हता हूँ और इस कार्य के लिये भी तुम दोनों की सम्मति चाहता हूँ (इससे सिद्ध
हुआ कि तुम दोनों को साथ लेजाना नहीं चाहता) इति ॥ १ ॥

माध्यम्—महर्षेर्पाञ्चवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये आस्ताम् । प्रथमा मैत्रेयी ।
द्वितीया कात्यायनी सामान्या स्त्री । इदानीं भगवान् याज्ञवल्क्यो द्वावाश्रमौ
समाप्य तृतीयमाश्रममाश्रीषते । चिरकालसम्बद्धयोः प्रेमास्पदयोः पत्न्यो-

रप्यनुमतिरत्रार्थे याचयितव्या । विनादनिगारणाय च चिरमधिचतधनमम्पत्तिरपि
तयोर्मध्ये विभाजयितव्यमिति प्रवित्रजिपुर्वाज्ञात्स्वयो वक्ष्यमाणोपक्रमं निगध्नाति ।
मैत्रेयीत्यादिम् । जनकस्य प्रधानाचार्येत्याद्वनमपि पुष्कलं सञ्चितम् । हे
मैत्रेयि ! इति सम्बाध्य याज्ञवल्क्यो होराव । प्रियत्वात् ज्योष्ठत्वात् मध्यमं मैत्रेयी
सम्बोधयते । शिष्टाचारानुगोधाच्च “मिास्यापत्य स्त्री मैत्रेयी” शुभ्रादिभ्यश्च
४ । १ । १८३ ॥ इति ढक् । यद्वा । मित्रमेव मैत्रः स्तार्यऽण् । मैत्रस्यापत्यं
मैत्रेयः । स्त्रीत्यादिच्चार्या मैत्रेयी यद्वा । मित्रस्य भागं मैत्रम् । मैत्रे मित्रतायां
साधुमैत्रेयी । यद्वा । मित्रपुरुषस्य स्त्री मैत्रेयी “मृष्ट्यादिभ्यश्च” ४ । १ ।
१८६ ॥ इति ढन् । ऊक्यमित्रयुगलगनायादेरियः ७ । ३ । २ ॥ इति इया-
देशं प्राप्ते । दाहिडनायन हान्तिनायन ६ । ४ । १७४ ॥ इति निग-
र्यते ॥ विमुखाचेत्यत्र आह उदाग्यन्नि-यादि । अरे इति सम्बोधनार्थम् । अरे
अयि मैत्रेयि ! प्रिये । अहम् । अस्मात्स्थानात् । अस्माद्गार्ह-ध्याश्रमरूपात्स्था-
नात् । वै निश्चयेन । उगाम्यन्नास्मि । उद् ऊर्-माश्रमं वानप्रस्थाखण्डमरणया-
यनम् । यास्यन् गमिष्यन्नस्मि । अतोऽहम् । इन्त तन कात्यायन्याश्चानुमतिं
याचे कथमाययोरनुमतिं भगवान् याचते । किमावां तमाश्रमं न नयतीति शङ्का-
नियारयन्ममै ब्रवीति । अनया समीपे उपस्थिताया । कात्यायन्या तव सपत्न्या
समेतया । ते तत्र । अन्त विच्छेदं सम्बन्धान्तम् नियोगं करवाणि ।
इति सम्मतिमत्राप्यर्थे याचे । अयं भागः । एतत्कालपर्यन्तं मया पत्यासार्धं
युगयोः पतिपत्नीभावात्मको मिलित्वो लौकिकोयः सम्बन्ध आसीत् तस्य
सम्बन्धस्यात्र ‘अन्तं’ समाप्तिं कर्तुमिच्छामि । यतो गार्हस्थ्यान्तोदारसम्बन्धः ।
सम्प्रत्यहमन्यभाश्रमं निगमिषामि । अतः पूर्वं धनादीनां विभागं भविष्यद्विवा-
दवाधाय कृत्वा ततः सम्बन्धान्तं करवाणीति वक्तुं पृच्छामि । संप्रश्ने लोद् ।
यद्यप्यत्र न धनसम्पत्तिविभागचर्चाऽस्ति तथाऽपि अग्रे मैत्रेयीप्रतिवचनेन धन-
विभागेष्वा याज्ञवल्क्यस्य लक्ष्यते । यदि युगयोः संमतिः स्यात्तर्हि धनसम्प-
त्तेर्यथास्य विभाग सम्पाद्य सम्बन्धान्तञ्च कृत्वा अहमरण्यमाश्रयेयमित्यर्थः ॥१॥

भाष्याशयः—महर्षि याज्ञवल्क्य की दो माय्याए थीं । प्रथम मैत्रेयी और
दूसरी कात्यायनी । उन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और विवेकवती थी और

कात्यायनी साधारण स्त्री के समान थी अब भगवान् याज्ञवल्क्य दो आश्रमों को समाप्त कर तृतीय आश्रम का आश्रय लेना चाहते हैं और सम्राट् जनक महाराज के प्रधान आचार्य भी ये ही थे इस हेतु महाराज से इनको धन भी बहुत उपलब्ध हुआ था इस हेतु अब चिरमाल से जिनके साथ मन्वन्व रहा है और जो प्रेम के आसन्न (स्थान) हैं ऐसी अपनी दोनों भार्याओं से भी इस अर्थ में सम्मति ले लेनी चाहिये और भविष्यद् विवाद के निवारण के हेतु उम चिर-संक्चित धन सम्पत्ति का भी विभाग पुत्र के न होने के कारण दोनों स्त्रियों में कर देना उचित है । इत्यादि विषय विचार गृहश्रम को त्याग अन्य आश्रम में जाने की इच्छा करने वाले भगवान् याज्ञवल्क्य वक्ष्यमाण वचन कहते हैं—मैत्रेयी इत्यादि ।

मैत्रेयी—प्रिय और ज्येष्ठ होने के कारण मैत्रेयी से ही वार्त्तालाप करना आरम्भ करते हैं, यह शिष्टाचार है मैत्रेयी शब्द की सिद्धि अनेक प्रकार से कही गई है (मित्रस्यापन्य स्त्री मैत्रेयी) मित्र की लड़की को मैत्रेयी कहते हैं । यद्वा—मित्रता का नाम मैत्र है । जो स्त्री अपने पति के साथ मित्रता के निर्वाह करने में सदा माध्वी हो उसे “मैत्रेयी” कहते हैं । यद्वा मित्रयु नाम के ऋषि की लड़की को “मैत्रेयी” कहते हैं । सम्भव है कि यह भार्या याज्ञवल्क्य महर्षि के परमप्रिया थी इस हेतु उसे “मैत्रेयी” कहने हों । अथवा मित्रयु नाम ऋषि की लड़की हो और इसमें याज्ञवल्क्य का पाणिग्रहण हुआ हो, इस हेतु “मैत्रेयी” कहते हों । माना पिता के नाम पर सन्तान का नाम हुआ करता था यह एक अति प्राचीन नियम चला आता है । इसमें द्वितीय अर्थ का ही ग्रहण करना समुचित भान होता है ।

याज्ञवल्क्य=यज्ञ=याग । वल्क=वृक्ष की त्वचा को वल्क और वल्कल कहते हैं । अतिप्राचीन समय में ऋषि लोग प्रायः भोजपत्र नाम के वल्कल को शरीर-च्छादन के लिये धारण किया करते थे । यहा यज्ञ करना करवाना ही, मानो जिमका वल्कल है उसे “यज्ञवल्क” कहते हैं और यज्ञवल्क का जो अपत्य (सन्तान) उसे “याज्ञवल्क्य” कहेंगे अर्थात् इनके पिता का नाम “यज्ञवल्क” था अतः इनका नाम याज्ञवल्क्य हुआ ऐसा मालूम होता है । इनके पिता का अन्य नाम “वाज-सनी” भी था अतः इनको वाजसनेय भी कहते हैं । यद्वा वाजसनेय और याज्ञ-वल्क्य ये दोनों पृथक् २ ऋषि हुए हों, ऐसा भी सम्भव है ॥

अरे—दोशमर हेमवन्त कहते हैं कि नीच मन्त्रोक्त में “अरे” शब्द आता है । यद्वा अरण्यशील गमनशील और कम्पनशील को अरि कहते हैं । ऋ पातु से “अरि” बनता है । अर्थान् “मैं ऊपर जाऊंगा” इतना ही सुनकर चलनेवाली अथवा डरनेवाली स्त्री यद्वा “उद्याम्यन्” पद है इसके दो अर्थ हो सकते हैं, मैं ऊपर को जानेवाला हूँ अर्थान् मैं अब शीघ्र मरनेवाला हूँ अथवा मैं अन्य आश्रम को जानवाला हूँ । इन दोनों अर्थों के कारण पवित्रता स्त्री अवश्य चलायमान होगी और वह अवश्य कहेगी कि मैं भी आप के साथ ही चरूगी और चलनेवाले को अरि कहते हैं क्योंकि गमनार्थक “ऋ” पातु में अरि बनना है और उसके सम्बोधन में “अरे” पद होना है । सम्भव है कि याज्ञवल्क्य के मुख से “उद्याम्यन्” इत्यर्थक पद निकलते ही मंत्रयो घमरा गई हो और घबराई हुई उसे देखा अन्यर्थ सम्बोधन याज्ञवल्क्य ने “अरे” ऐसा किया हो ।

अधुनन् पिप्पुपीमिन्नमूर्जं सप्तदीनारिः सूर्यस्य सप्तशिमभिः ॥ ऋ० वे० ८ । ७१ । १६ ॥

इस ऋग्वेद के मन्त्र में आए हुए “अरि” शब्द का अर्थ गमनशील (सतत चलनेवाला) वायु अर्थ किया है अतः यौगिकार्थ करने में कोई कठिनाई नहीं ।

हन्त—“हन्त हर्षेऽनुकम्पाया वाक्यारम्भविशदयोः” इस अमरकोश के प्रमाणानुसार हर्ष अनुकम्पा (दया) वाक्यारम्भ और विषाद इन चारों अर्थों में हन्त शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु श्रीराहुराचार्य महाराज “अनुमति” भी इस शब्द का अर्थ करते हैं ।

कात्यायनी—“कृतस्थापत्य स्त्री” “कृत” नामक ऋषि की लक्ष्मी को कात्यायनी कहते हैं । अग्निष्वाक्योक्त काल में सुप्रसिद्ध “कृत” नाम के एक ऋषि हुए हैं । इसी हेतु इनका नाम कात्यायनी था । कात्यायनी का भ्राता कत्यायन भी प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं ॥

अन्त—यद्वा अन्त शब्द समाप्तिवचक है । गृहस्थाश्रम पर्यन्त दास के साथ सम्बन्ध रहता है । याज्ञवल्क्य अब गृहाश्रम को त्यागते हैं और अन्य वानप्रस्था-

श्रम में जाना चाहते हैं । अतः पति और पत्नी का जो अबतक सम्बन्ध था उस का अन्त अर्थात् समाप्ति करना चाहता हूँ यह श्रुति का आशय है ॥

कारवाणि—यह संप्रश्न अर्थ में लोट् लकार है । याज्ञवल्क्य अपनी प्रिय स्त्रियों से पूछते हैं कि मैं अन्य आश्रम का ग्रहण करना चाहता हूँ । अतः आप लोगों से पूछता हूँ कि आप लोगों के साथ जो सम्बन्ध था उसकी समाप्ति करूँ या नहीं ॥ १ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी
वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच
याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं
स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति ॥ २ ॥

अनुवाद—वह मैत्रेयी बोली कि हे पूज्यपाद भगवन् ! यद्यपि धनपरिपूर्ण सम्पूर्ण यह पृथिवी मेरी ही होजाय (ऐसी मैं तर्कना करती हूँ) तथापि क्या किसी प्रकार से मैं अमृता (मोक्ष सुख के भोगने वाली) हो सकती हूँ * यह मैं आप से पूछती हूँ । कृपया आप कहे । याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं । धनसम्पत्ति-साधनवालों का जैसा ही जीवन होता है वैसा ही तुम्हारा भी जीवन होगा, किंतु धन से मोक्ष की आशा नहीं हो सकती ॥ २ ॥

पदार्थ—जब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से इस प्रकार पूछा तब वह मोक्षमार्ग की कामना करती हुई इस प्रकार अपने अभिप्राय को प्रकट किया । सो आगे कहा जाता है—(सा+इ) वह परमप्रसिद्धा (मैत्रेय+उवाच) मैत्रेयी बोली कि (भगः) हे—यूजनीय भगवन् स्वामिन् ! (यद्) यदि (वित्तेन+पूर्णा) धन धान्य दास दासी हिरण्य परिच्छद और विविध रत्नादियों से भरी हुई (इयम्)

* संस्कृत पदों का ठीक अनुवाद होना कठिन है । “स्याम्” यह किया सम्भावना अर्थ को सूचित करती हुई संप्रश्न अर्थ में आई है । मैं आप से पूछती हूँ कि अमृता होने की सम्भावना भी कर सकती हूँ ॥

यह (सर्वा+पृथिनी) सम्पूर्ण पृथिनी (मे) मेरी ही (स्यात्) होजय । अर्थात् यदि विविध प्रकार की धन सम्पत्तियों से परिपूर्ण इस सम्पूर्ण पृथिवी की मैं ही अधिकारिणी होजाऊं ऐसा मैं वितर्क करती हूं तथापि हे स्वामिन् । (वयम्) किसी प्रकार से (तेन) उस सम्पूर्ण पृथिवी के अधिकार के लाभ से भी (अमृता) अमरणधर्मवाली अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होने वाली (स्याम्) हो सकती हू या नहीं ऐसा मैं आप को पूछती हू आप कृपया कहें । यह वचन सुन (याज्ञवल्क्य+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य बोले कि (न+दति) नहीं सम्पूर्ण पृथिनी की प्राप्ति से भी तू अमृता नहीं हो सकनी । इसी को पुनः विस्तारपूर्वक कहते हैं—(उपकरण-वताम्) दास दासी गो महिष मेघ आदि पशु+हिरण्य रजत आदि धातु विविध वस्त्र विविध गोधूम, यव, शाली आदि धान्य इत्यादि सामग्री का नाम उपकरण है उत्तम उपकरण वालों का (यथैन) जैसा ही (जीवितम्) जीवन होता है सुख-पूर्वक सम्प्राप्त विविध भोग सम्पन्न जैसा एक महाधनाढ्य पुरुष का जीवन होता है (तथैव) वैसा ही (ते) तेरा भी (जीवितम्) जीवन (स्यात्) होगा (तु) परन्तु (तित्तेन) धन से (अमृतत्वस्य) मोक्ष की (आशा+न+दति) आशा नहीं हो सकती है ॥ २ ॥

भाष्यम्—सदेति । एतमुक्त्वा मैत्रेयी मोक्षमार्गं कामयमानाऽऽत्मनोऽभि-
प्राय प्रकटयति । सा पत्यानुमतिप्रदानार्थं पृष्टा मती । ह प्रमिद्धा मैत्रेयी उवाच—
चक्ष्यमाण वचनमब्रवीत् । भगोः हे पूज्यपाद भगवन् ! यद् यद्यपि नु नितर्कं
वितर्कः त्रियते । तित्तेन सम्प स्या । पूर्णा संकुला । इय सर्वा समस्ता पृथिनी
भूमिः मम स्यात् ममेव भवेत् नान्येषाम् । नानाविधं रत्नैः संकुलायाः सर्व-
स्याः पृथिव्या यद्यपि अहमेव राज्ञी भवेयम् तथापि कथं कथमपि कथञ्चन
क्षेपार्थः प्रश्नार्थो वा । तेन तित्त्तपूर्णपृथिव्या अधिकारलाभेन । अमृता अमर-
धर्मिणी मोक्षोपभाङ्गी स्याम् भवेयमिति भगवतोऽग्रे पृच्छामि । इति सपृष्टो
भगवान् याज्ञवल्क्योहोवाच नेति त्वममृता तु न भविष्यसि । इममेवार्थं पुनरपि
व्याकरोति । हे मित्रे मैत्रेयि ! उपकरणताम् उपकरणानि दासदासीपशुहिरण्य-
परिच्छदादीनि भोगमाधनानि मशप्तानि उपकरणानि विप्रन्ते एवामित्युपकर-
णवन्तस्तेषाम् । यथैव यादृशमेव । जीवितं जीवनेम् सुखेन विविधभोगमम्पन्नं

भवति । तर्ह्यन तादृशमेव । ते तवापि जीवितं जीवनं स्यात् । तु परन्तु ।
वित्तेन धनसम्पत्त्या । अमृतत्वस्य अपवर्गस्य आशा न नैवास्तीति ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन
कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥

अनुवाद—वह मैत्रेयी बोली कि जिससे मैं अमृता होने की सम्भावना नहीं
कर सकती हूँ । उससे मैं क्या करूंगी जिसी वस्तु को भगवान् जानते हैं उसी को
मुझ से उपदेश करें । यह मेरी आप से प्रार्थना है ॥ ३ ॥

पदार्थ—पति के उस वचन को सुन (सा+हं+मैत्रेयी+उवाच) वह मैत्रेयी
बोली कि हे भगवन् (येन) वित्तपरिपूर्ण, सम्पूर्ण पृथिवी के जिस अधिकार-लाभ
से भी (अहम्) आप की दासी मैं (अमृता) मोक्ष सुख के उपभोग करने
वाली (न+स्याम्) होने की सम्भावना भी नहीं कर सकती हूँ (तेन) उस धना-
दि के अधिकार से (अहम्) मोक्ष सुख चाहने वाली मैं आपकी दासी (किम्+
कुर्याम्) क्या करूंगी यह आप से पूछती हूँ, अतः उस वित्त से तो मुझ को कुछ
भी प्रयोजन नहीं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एवं प्रत्युक्ता सा होवाच मैत्रेयी—हे पूज्य स्वामिन् ! येन वित्त-
पूर्णायाः सर्वस्याः पृथिव्या अधिकारेणापि । अहं तव दासी अमृता मोक्षसुखो-
पभेक्षी न स्याम् न भवेयमिति भगवदुपदेशेन जानामि । तेनाधिकारलाभेन ।
अहं मोक्षकामा तव दासी किं कुर्याम् किं करिष्यामीति पृच्छामि । अतः
हे भगवन् वित्तेन न किमपि मम प्रयोजनम् । यस्मिन् कस्मिन् भगवान् तद्वित्त
विभाजयतु । मे मृहन्तु यदेव यदेव मोक्षोपयोगि वस्तु । भगवान् पूज्य* । वेद
जानाति । तदेव ब्रूहि उपदिशेति प्रार्थये । अनन्तशाश्वमुख ऐहिके कामे सर्व-
स्य जन्तोः स्वामाप्तिरूपी प्रवृत्तिरस्तीति चित्तवृत्त्यनुसंधितमवोमहात्मान उद्दि-
धीर्पितान् प्राणिनो महत्त्वशैलारोहायितृन् लौकिकान् सर्वजनमेवितान् मततप्र-
मोदप्रदान् आपाततो रमणीयानेव निषयान् प्रथमं दर्शयन्ति । यः कश्चिन्सा-
धको विवेकेन दृष्टलौकिकमोगमारः अस्यास्तुपु विद्युन्लीलायितेषु सुखेषु निर-

स्त्रियां प्रकटयति तामेवानुक्रम्य तत्प्रमनुशासति । येन विज्ञातेन चिरमुत्तिष्ठन्तो भवन्ति जन्तवः । यमाचार्यनचिकेतमोरूपाद्यानमिममेवार्थं लक्षयति । प्रवाहणोजैवलिः प्रथमं गौतमं “मानुषस्य भगवन् गौतमं चित्तस्य वरं वृणीथा” इत्युच्यते । तिरस्कृतमानुषचित्ताय गौतमाय पञ्चाग्निविद्यां पश्चादुपदिदेश । अश्वपतिर्यै कैकेय औपमन्यवादिभ्यः पद्भ्यां महाश्रोत्रिभ्यः प्रथमं “याव-
देकैकस्मै ऋत्रिजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि वमन्तु मे भग-
वन्त इति” इत्येवं लौकिकं प्रेषो दर्शयित्वा तद्विमुखेभ्योऽभीष्टं शिशिक्षे ।
इत्यादीनि सन्ति च भूयामि आरयानानि एवमेव भगवान् याज्ञवल्क्योऽपि
दुर्लभचित्तलोभं मैत्रेयै दर्शितवान् । विचक्षणैः ब्रह्मवादिना स्त्रीयेन पत्या
सह चित्तनिरासेन कृतपुद्गेमैत्रेयी प्रेषोऽकामयमाना योगवेगमेव धृतवती ॥ ३ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वतारे नः सती प्रियं
भाषत एह्यास्त्वं व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे
निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

अनुवाद—मे प्रसिद्ध भगवान् याज्ञवल्क्य बोले कि अरे मैत्रेयी ! तेरे ऊपर
मुझे दया आती है * । तू हमारी प्रिया होती हुई प्रिय भाषण करती है यद्वा
तू नि सन्नेह हमारी प्रिया है और प्रिय बोलती भी है । यद्वा तू प्रथम भी प्रिया
थी अब भी प्रियभाषण कर रही है । आ बैठ तेरे लिये मैं व्याख्यान करूँगा,
परन्तु व्याख्यान करते हुए मेरे “वचनों पर” निश्चय रूप से चिन्ता करने के लिये
इच्छा कर ॥ ४ ॥

* यत=येद (शोक) अनुकम्पा (दया) सन्तोष, विस्मय (अचम्भा)
आमन्त्रण (न्याता) इन पाँच अर्थों में वत शब्द का प्रयोग होता है । यद्वा
अनुकम्पा (दया) अर्थ में “यत” का प्रयोग है स्त्री जाति होकर इस प्रकार ब्रह्म
की ओर मुकी हुई है इस हेतु मुझे दया आती है, कि इसको मैं अवश्य ब्रह्मज्ञान
सिखलाऊँ । अनुवादक लोग प्रायः “वत” शब्द का अर्थ ठीक नहीं करते ।
वन्ति छोड़ देते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थ—जब मैत्रेयी ने विच में निरादर और अमृतत्व में आपह दिखलाया तब हमके साथ मेरा बहुत काल का परिश्रम आज फलवान् है । ऐसा विचार सन्तुष्ट हा (सः+इ+याज्ञवल्क्यः+उवाच) वे महर्षि याज्ञवल्क्य आत्मानुकूल इस वचन को बोले (अरे) यह सम्बोधनार्थक पद है अर्थात् हे मैत्रेयी प्रिये ! तेरे इस प्रियभाषण से (वत) तेरे ऊपर दया होती है । आज क्योंकि आपकी यह दया होती है क्या प्रथम आप मुझ पर दया नहीं करते थे । जो आज यह दया आप प्रकट करते हैं । सत्य है, तथापि आज मुझे अत्यन्त दया होती है क्योंकि (नः) हमारी (प्रिया+सती) प्रिया होकर (प्रिय+भापसे) प्रिय बोलती है । जैसा तू सप्ताद-दशा में मेरी परमप्रिया है वैसे ही आज पारलौकिक दशा में भी तू प्रियवचन ही भाषण करती है । इस कारण आज तेरे ऊपर विशेष दया उत्पन्न हुई है, जैसे तू पूर्व में प्रिया थी आज वियोगकाल में भी तू प्रिय ही भाषण करती है । अच्छा दया उत्पन्न हो करके क्या हुआ (एहि) आ मेरे साथ अन्य किसी एकान्त स्थान में चल, जहां निर्विघ्न निरुपद्रव ब्रह्मोपदेश में कर सकूंगा । इस कात्यायनी को ऐसे विषय में रुचि नहीं है इस कारण भी यहां से चल दूसरी जगह जाऊ । इस अर्थ की भी ध्वनि “एहि” पद से ज्ञात होती है (आत्म्य) । इस विजित स्थान में बैठ (ते) तेरे लिये (व्याख्यास्यामि) तेरे अभीष्ट अमृतत्व का व्याख्यान करूंगा (तु) परन्तु (व्याचक्षाणस्य+मे) व्याख्यान करते हुए मेरे वचनों पर (निरिध्यामस्व) पूर्ण विचार करने के लिये इच्छा कर अर्थात् सावधान होकर सुन अरण्यादौदन के समान मेरा व्याख्यान न होवे ॥ ४ ॥

भाष्यम्—पदा मैत्रेयी विचे निरादरम् अमृतत्वे चाग्रहं प्रकटितवती तदा “अनया सह बहुकालो मम परिश्रमोऽद्य फलवान् जात” इति विचार्य सन्तुष्टः सह महर्षिर्वाज्ञवल्क्य इदं वचनमात्मानुकूलमुवाच । अरे इति सम्बोधनार्थः । अयि मैत्रेयि ! तवानेन प्रियभाषणेन वत त्वयि ममानुकम्पां जायते । “स्वेदानुकम्पासन्तोपविस्मयामन्त्रये वत” इत्यमरः । कथमयं भवतामनुकम्पा ? किं पुरा भवतां मयि अनुकम्पा नासीद्यदियमद्यविशेषानुकम्पा प्रदर्श्यते । सत्यं पुरा नासीत् । अद्यतु सात्त्वं नोऽस्माकं । प्रिया सती मनोहारिणी स्वाचरणीः त्वं प्रियं भापसे । “अस्मदोद्दयोर्वच १ । २ । ५६ ॥” एतत्वे द्वित्वे च विव-

क्षितेऽग्रस्मदो बहुवचनं स्यात् इति “नः इत्यत्र बहुवचनम्” । त्वमग्नाय प्रिया
 सती प्रियं मनोद्वेगं स्व स्व मिरुचिप्रदं निजमौख्यकरञ्च वचनम् भाषसे कथयामि ।
 यद्वा त्वं पूर्वमपि नोऽस्माकं प्रिया मती आसीत् । इदानीमपि प्रिय भाषमे
 इत्यादिर्भावोऽनुमधेयः । अतः श्रद्धायुक्ते उपपन्नाय रिप्याय ब्रह्म वाच्यमिति
 नियमात् एहि आगच्छ अन्यत्र गच्छाप । यत्र निर्दिष्टं निरुपद्रवञ्च तृभ्यं
 ब्रह्मोपदिशेयम् । जननाया ब्रह्मदेवस्यानौचित्यात् । यद्वा कात्यायनीं वर्जयि-
 त्या इहागच्छ । नास्मिन्निपये हि कात्यायनी रुचि दधातीति एहि पदेन घृण्यते
 अथत्र गमनस्यान्यप्रयोजनानुलोकात् । आस्व-इहोपवेश । ते तुभ्यम् ।
 अहममृत-वोपदेशं तव भीष्टं व्याख्यास्यामि विशेषेण निरूपयिष्यामि । तु
 किन्तु व्याचक्षाणस्य व्याख्यानं कुर्वतः मे मम वचनानि । त्वं निदिध्यास्य
 निश्चयेन सार्थतो ध्यातुं चिन्तयितुमिच्छ । अग्रमत्तया त्वया मम व्याख्यान-
 श्रवणे भवितव्यम् अरण्यरोदनामिव मम व्याख्यानं माभूदित्यर्थः ॥ ४ ॥

स होवाच—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु
 कामाय पतिः प्रियो भवति ।
 न वा अरे जायाय कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु
 कामाय जाया प्रिया भवति ।
 न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु
 कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ।
 न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु
 कामाय वित्तं प्रियं भवति ।
 न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु
 कामाय ब्रह्म प्रियं भवति ।

न वा अरे क्षत्रस्य कामाय चत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु
 कामाय चत्रं प्रियं भवति ।
 न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु
 कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति ।
 न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु
 कामाय देवाः प्रिया भवन्ति ।
 न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु ।
 कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति ।
 न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्पात्मनस्तु
 कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
 आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
 मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं
 विदितम् ॥ ५ ॥

अनुवाद—महर्षि याज्ञवल्क्य इस प्रकार उपदेश देने लगे—

१—(क) अरे मैत्रेयि ! निश्चय पति की कामना के लिये (भार्याको) पति प्रिय नहीं होता किन्तु निज जीवात्मा की कामना के लिये (भार्या को) पति प्रिय होता है ।

२—यद्वा पति के भौतिक शरीर की कामना के लिये पति प्रिय नहीं होता किन्तु जीवात्मा की कामना के लिये पति का भौतिक शरीर प्रिय होता है ।

३—यद्वा ब्रह्मवादिनी स्त्री को पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं होता किन्तु परमात्मा की कामना के लिये पति प्रिय होता है ।

४ यद्वा ब्रह्मवादिनी स्त्री को पति की कामना के लिये पति प्रिय न होना चाहिये, किन्तु परमात्मा की इच्छानूर्ति के लिये पति प्रिय होना चाहिये ।

(ग) अरे मैत्रेयि ! निश्चय (ब्रह्मवादी पुरुष को) भार्या की कामना के लिये भार्या प्रिया नहीं होती, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये (ब्रह्मवादी पुरुष को) भार्या प्रिया होती है ।

(ग) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, ब्रह्मवादी माता पिता को, पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये पुत्र प्रिय होता है ।

(घ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, ब्रह्मवादी पुरुष को वित्त की कामना के लिये वित्त प्रिय नहीं होता, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये (ब्रह्मवादी को) वित्त प्रिय होता है ।

(ङ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी को) ब्राह्मण की कामना के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है ।

(च) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी को) क्षत्रिय की कामना के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है ।

(छ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय (ब्रह्मवादी को) लोकों की कामना के लिये लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये लोक प्रिय होते हैं ।

(ज) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी को) देवों की कामना के लिये देव प्रिय नहीं होते किन्तु परमात्मा की कामना के लिये देव प्रिय होते हैं ।

(ऋ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, ब्रह्मवादी को भूतों की कामना के लिये भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये भूत प्रिय होते हैं ।

(न) अरे मैत्रेयि ! निश्चय ब्रह्मवादी को सन की कामना के लिये सन प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये सन प्रिय होते हैं ।

(ट) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिष्यसितव्य है । अयि मैत्रेयि ! निश्चय आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विज्ञान से यह सन विदित होता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(स +ह+उवाच) वे याज्ञवल्क्य इस प्रकार शिक्षा देने लगे—
(अरे) हे प्रिये मैत्रेये (वै) हम विषय को निश्चय करके जानों कि (पत्युः+
कामाय) पति की कामना के लिये स्त्री को (पतिः+प्रियः+न+भवति) पति प्रिय
नहीं होता है । (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) निज जीवत्मा की कामना के
लिये स्त्री को (पतिः+प्रियः+न+भवति) पति प्रिय होता है । अर्थान् पति प्रसन्न हो
इस हेतु स्त्री पति को प्यार नहीं करती, किन्तु पति के द्वारा मेरा आत्मा प्रसन्न हो
इस हेतु स्त्री पति को प्यार करती है ॥

२—यद्वा (पतिः) स्थूल भौतिक शरीर का नाम यहां पति है और
“आत्मा” स्थूल शरीर के अभ्यन्तर निवासी जीवात्मा का नाम आत्मा है । तब
यह अर्थ होगा कि (पत्युः+कामाय) पति के भौतिक शरीर की कामना के लिये
(पतिः+प्रियः+न+भवति) स्त्री को पति प्रिय नहीं होता है (तु) किन्तु (आत्मनः+
कामाय) पतिशरीरस्थ जीवात्मा की कामना के लिये (पतिः+प्रियः+भवति)
पति का भौतिक शरीर प्रिय होता है अर्थान् पति प्रिय इस हेतु है कि पतिशरी-
रस्थ जीवात्मा मिष्टमान है, वह प्रसन्न होवे क्योंकि यदि केवल पतिशरीर प्रिय
होता तो मरने पर भी वह प्रिय होना चाहिये, परन्तु सो होता नहीं । इस हेतु
पतिशरीरस्थ जीवात्मा के मनोरथ के लिये पति का भौतिक शरीर प्रिय है ।

३—यद्वा आत्मशब्द का अर्थ परमात्मा होता है । तब यह अर्थ करना
चाहिये कि (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छा के लिये (पतिः+प्रियः+
भवति) पति प्यारा है केवल (पत्युः+कामाय) पति की कामना के लिये नहीं
अर्थान् सब को उचित है कि परमात्मा (ब्रह्म) की इच्छा की पूर्ति के लिये ही
सब काम करे अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये नहीं । इसका भी भाव यह है कि
यह सृष्टि ईश्वर की रची हुई है यह सर्वसिद्धान्त है । किसी अभिप्राय से ही सृष्टि
रची होगी क्योंकि मन्दजन भी निष्प्रयोजन किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते ।
इस हेतु यह सृष्टि ईश्वर के अभिप्राय के अनुकूल है इसके लिये जो नियम स्थिर
किये हैं उनके ही अनुसार सब मनुष्यों को वर्तना चाहिये जैसे राजकृत-वाटिका
में राजनियम का अनुसरण करना पड़ता है । ईश्वर रचित नियम वेद हैं । इस हेतु
प्रतीत होता है वेद जैसा वह वैसा करने से जो ईश्वर की इच्छा की पूर्ति होती है

अन्यथा नहीं । इस हेतु ब्रह्मवल्क्य कहते हैं कि मैत्रेयि ! (आत्मनस्तु+कामाय) ब्रह्मवादिनी स्त्री को परमात्मा की इच्छा की पूर्ति के लिये पति प्रिय होता है केवल पति की कामना के लिये नहीं ।

४—अथवा (भवति) का “होना चाहिये” ऐसा अर्थ करना चाहिये तब ब्रह्मवादिनी स्त्री को (पत्युः+कामाय) पति की कामना के लिये (पतिः+प्रियः+न+भवति) स्त्री को पति प्रिय न होना चाहिये (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा की (कामाय) इच्छा-पूर्ति के लिये (पतिः+प्रियो+भवति) पति प्रिय होना चाहिये । मैंने ये ४ (चार) पक्ष किये हैं । और आगे भी ये ही चार पक्ष जानना ।

(अरे) अरे मैत्रेयि ! (वै) निश्चय हाँ ब्रह्मवादी पुरुष को (जायार्यं+कामाय) स्त्री की कामना के लिये (जाया+प्रिया+न+भवति) स्त्री प्रिया नहीं होती है (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की कामना के लिये (जाया+प्रिया+भवति) जाया प्रिया होती है । अन्य तीन पक्ष का अर्थ पूर्ववत् जानना ॥

(अरे) हे मैत्रेयि ! (पुत्राणाम्+कामाय) पुत्रों की कामना के लिये ब्रह्मवादी माता पुरुष को (पुत्रा+प्रिया+न+भवति) पुत्र प्रिय नहीं होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (पुत्रा+प्रिया+भवति) पुत्र प्रिय होते हैं (अरे) हे मैत्रेयि ! (वै) निश्चय (विनश्य+कामाय) वित्त की कामना के लिये ब्रह्मवादी पुरुषों को (वित्तम्+प्रियम्+न+भवति) वित्त प्रिय नहीं होता है (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की कामना के लिये (वित्तम्+प्रियम्+भवति) वित्त प्रिय होता है (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि ! (ब्रह्मण+कामाय) ब्रह्मवेत्ता की कामना के लिये (ब्रह्म+प्रियं+न+भवति) ब्रह्मवेत्ता प्रिय नहीं होता (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की कामना के लिये (ब्रह्म+प्रिय+भवति) ब्रह्मवेत्ता प्रिय होता है (वै) निश्चय (अरे) मैत्रेयि ! (क्षत्रस्य+कामाय) क्षीर पुरुष की कामना के लिये ब्रह्मवादी पुरुषों को (क्षत्रम्+प्रियं+न+भवति) क्षत्रिय प्रिय नहीं होते (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (क्षत्र+प्रिय+भवति) क्षत्रिय प्रिय होते हैं (वै)

निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि (लोकानाम्) पृथिवी अन्तरिक्ष ब्रह्मलोकदिव्यो की कामना के लिये (लोकाः+प्रिया+न+भवन्ति) पृथिवी आदिक लोक प्रिय नहीं होते (तु) किन्तु (आत्मन+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (लोकाः+प्रियाः+भवन्ति) लोक प्रिय होते हैं (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि (देवानाम्+कामाय) सूर्यादि तथा चक्षुगारि देवों की कामना के लिये (देवाः+प्रियाः+न+भवन्ति) सूर्यादि देव प्रिय नहीं होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (देवाः+प्रिया+भवन्ति) देव प्रिय होते हैं । (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि (भूतानाम्+कामाय) सकल प्राणियों के निमित्त (भूतानि+प्रियाणि+न+भवन्ति) सकल प्राणी प्रिय नहीं होते हैं (तु) किन्तु (आत्मन+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (भूतानि+प्रियाणि+भवन्ति) सकल प्राणी प्रिय होते हैं (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि । (सर्वस्य+कामाय) सब की कामना के लिये (सर्वम्+प्रियम्+न+भवति) सब वस्तु प्रिय नहीं होती हैं (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (सर्व+प्रिये+भवति) वस्तु प्रिय होती हैं (वै) निश्चय करके (अरे) हे मैत्रेयि (आत्मा) जिस आत्मा के लिये सब ही प्रिय होता है वही जीवात्मा वा परमात्मा (इष्टव्यः) देखने योग्य है (श्रोतव्यः) सुनने योग्य है (मन्तव्यः) मनन करने योग्य है (निदिध्यासितव्यः) अतिशय ध्यान योग्य है । अर्थात् पुनः २ मनन का विषय है । इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से क्या होता है सो आगे कहते हैं— (अरे+मैत्रेयि) हे मैत्रेयि (आत्मनः) जीवात्मा वा परमात्मा के (दर्शनेन) दर्शन से (श्रवणेन) श्रवण से (मत्या) मनन से (विज्ञानेन) पूर्ण विज्ञान से (इदम्+सर्वम्) जो आप पूछ रही हैं वह सब ही (विदितम्) ज्ञात हो जाता है ॥५॥

भाष्यम्—स हेति । प्रथमममृतत्वोपलब्धये परमरैगाभयमुपदिशति याज्ञवल्क्यः स्वप्रियाय मैत्रेय्यै । अरे मैत्रेयि ! अहं तव पतिरस्मि । त्वं च मम पत्नी । कथं त्वं मह्यं स्पृहयसि । कथं त्वं मयि स्निह्यसि कथं मम मुक्त्वा प्रेम्णा पिबामि । किं ते तस्य कारणं जानासि । त्वं न वेत्सि । अस्मिन् शरीरे कर्ता, मोक्षा, द्रष्टा, स्पर्श, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, विज्ञानात्मा, पुरुषारूपो जीवात्मा वर्तते । तस्यैव कामनायै । मैत्रेयि ! सर्वो जीवः प्रयतते । यदा आ-

त्मनः कामनायै स्वयमात्मा प्रयतते । स एवात्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अस्मादन्यद्वेयमेवेत्यहुं विषयं प्रपञ्चयति-न वा अरे इत्यादिना ।

(१) अरे आग्नि मैत्रेयि ! इति सम्बोधनपदं सर्वत्रापि प्रयोक्तव्यम् । वै निश्चयेन । पत्युः कामाय इच्छायै । भार्यायाः पतिः प्रियो मनोहो न भवति । तु परन्तु आत्मनो निमजीवात्मनस्तु कामाय माय्यायाः पतिः प्रियो भवति ।

(२) यद्वा पतिशब्देन पतिभौतिकशरीरप्रदणम् । आत्मशब्देन तदन्तर्गो जीवात्मा । ततः पतिभौतिकशरीरकामाय पतिः प्रियो न भवति । किन्तु तदन्तर्गस्य जीवात्मनः कामाय पतिप्रियो भवति । यदि पतिशरीरमेव प्रियं भवेत्तर्हि मृतदेहेऽपि प्रीत्या भाग्यम् ॥

(३) यद्वा आत्मशब्दो ब्रह्मपरकः । निरीहस्य ब्रह्मणः कामपूर्वै पति प्रियो भवति न वै पत्युः कामायेत्यर्थः अयमाशयः । ब्रह्मणः कृतिरियं वि-
मृष्टिरित्यत्र सर्वेषामैकमत्यम् । मन्दोऽपि प्रयोजनमनुसन्धायैव कृतौ प्रवर्तते इति न्यायेन किमपि प्रयोजनं लब्धकृत्यैव ब्रह्मणा सृष्टमिदमिति निश्चीयते । अत इदं विश्वं ब्रह्माभिप्रायानुकूलमित्यत्र न सन्देहः । अत एतदर्थं ब्रह्मणा ये ये नियमा निर्धारितास्तदनुकूलैरेव सर्वैर्भाव्यम् । तन्निषेधा खलु वेदाः । अतो वेदानुसरथैर्नैवेश्वरेच्छापूर्तिर्नान्यथेति प्रतीतिः । अतो महात्मा याज्ञवल्क्यो-
ऽनुशास्ति । हे मैत्रेयि ! ब्रह्मणः प्रीत्यर्थं ब्रह्मणादिन्या जायायाः पतिः प्रियो भवन्ति । केवलं पत्युः कामाय पतिः प्रियो न भवति । एवमेव ब्रह्मणादिनो गुरुरप्येव ब्रह्मप्रीत्यर्थमेव जाया प्रिया भवति । न तु जायायाः कामाय जाया प्रिया भवति ।

(४) यद्वा भवेदित्यर्थे भवतीत्यस्य प्रयोगो वेदितव्यः । तर्हि पत्युः कामाय पतिना प्रियेण भवितव्यमित्यर्थो ग्राह्यः । इत्थं चत्वारः पक्षा अप्रेयि वादव्याः ।

जायायै अत्र पष्ठमर्थे चतुर्थी । अस्याष्टपनिषट् प्रियः पष्ठमर्थे चतुर्थी विधीयते ।

न वा अरे पुत्राणां कामाय ।

न वा अरे वित्तस्य कामाय । वित्तं धनम् ।

न वा अरे ब्रह्मणः कामाय । ब्रह्म ब्राह्मणो ब्रह्मविद् ।

न वा अरे क्षत्रस्य कामाय । क्षत्रं क्षत्रियो योद्धा इति यावत् ।

न वा अरे लोकानां कामाय । लोकाः सामान्येन पुत्रपौत्रमित्रबन्धुपृथि-
व्यन्तरिवादयो लोका वा ज्ञातिप्रभृतयः ।

न वा अरे देवानां कामाय । देवा इन्द्रियाणि ध्यादयश्च ।

न वा अरे भूतानां कामाय । उद्भेभ्योऽन्ये सर्वे जीवाः ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय । किं बहुना वर्णनेन । सर्वं वस्तु आत्मनः
कामायैव प्रियं भवति । अतोऽरे मैत्रेयि ।

स एवात्मा । वै विशेषतः । द्रष्टव्यो दर्शनीयः । श्रोतव्यः श्रवणीयः । म-
न्तव्यो मननीयः । निदिध्यासितव्यः निश्चयेन ध्यातुं कमनीयः । जीवात्मनो
दर्शनादिभिः किं भविष्यतीत्यत आह—अरे । आत्मनो वै दर्शनेन श्रवणेन
मत्या मननेन विज्ञानेन इदमन्यत्सर्वं विदितं विज्ञानं भवति यत्त्वं पृच्छसि
तत्सर्वमात्मविज्ञानेन विदितं भविष्यतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

भाष्याशय—यह प्रकरण परमात्मा परब्रह्म में भी किसी प्रकार घटित हो
सकता है, परन्तु हम पक्ष में प्रत्यक्षानुभव विरुद्ध व्याख्यान होगा, क्योंकि
प्रत्यक्ष में देखते हैं कि मनुष्य निज कामना के लिये ही स्त्री पुत्र मित्र बन्धु गौ
पशु हिरण्य सन्नाति आदि को प्रिय मानता है न कि ईश्वर की कामना के लिये ।
परमात्मा प्रसन्न हो इस हेतु कोई भी पुरुष स्त्री को प्यार नहीं करता । हा जीवात्मा
प्रसन्न हो इस हेतु तो अवश्य स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री प्रिय होती है ।
परन्तु जो परमज्ञानी आत्मतत्त्वदर्शी हैं वे अवश्य ईश्वर की प्रसन्नता के लिये ही
सब काम करते हैं इसमें मन्देह नहीं । परन्तु व्याख्यान सामान्य रीति की अपेक्षा
से होता है विशेष की अपेक्षा से नहीं । सर्वसाधारण में देखा जाता है कि जीवा-
त्मा की प्रसन्नता के लिये पति स्त्री को प्रिय मानती है । पुनः “आत्मनः कामाय”

इस पद का यदि “परमात्मा ब्रह्म की कामना के लिये” ऐसा ही अर्थ किया जाय तो प्रथम यह शङ्का होगी कि ब्रह्म को कोई कामना ही नहीं और प्रायः “काम” शब्द का प्रयोग नीच अर्थ में अधिकतर आता है जैसे—कामान्ध, कामोन्मत्त कामी पुरुष इत्यादि । इसी कारण आजकल की संस्कृतभाषा में भन्मथ वा नाम ही “काम” रक्ता है । अतः “काम” शब्द का प्रयोग करना भी उचित नहीं था । इस हेतु परमात्मा के विषय में इस प्रकरण को लगाना उचित नहीं प्रतीत होता ।

परन्तु इसी पञ्चम खण्डिका के अन्त में “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यमितव्य,” इत्यादि पद आए हैं जो परमात्मा के ही वर्णन हो सकते हैं । इन पदों को प्रायः सब ही आचार्य और भाष्यकर्त्ताओं ने निज निज ग्रन्थों में उद्धृत किया है और प्रायः परमात्मा में ही घटाया है और उपक्रम उप-संहार दोनों समान होना चाहिये । यदि अन्तिम भाग ईश्वरपरक है तो आद्य भाग भी ईश्वरपरक होना चाहिये, यह असमञ्जस उपस्थित होता है । इसका समाधान मेरे पक्ष में तो यों होता है कि यहाँ पर राजवत्स्य जीवात्मस्वरूप का वर्णन क ते हैं जो जीवात्मा को जानेगा वही परमात्मा को जान सकता है । अर्थात् परमात्मा के जानने का साधन जीवात्मा है । यदि जीवात्मा अल्पज्ञ वा बहुज्ञ हुआ तो सर्वज्ञ परमात्मा को कैसे जान सकता है । जैसे बालक की बुद्धि ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है त्यों त्यों बड़े से बड़े ग्रन्थों को समझना आरम्भ करता है । यह सब विद्वानों का अनुभव मित्र है कि कठिन ग्रन्थ वा पदार्थ को समझने के लिये जिज्ञासु को कितने विचार, कितने निदिध्यासन, कितने मनन, कितने एकान्त सेवन करने पड़ते हैं । प्रायः देना गया है कि पाठ्य पुस्तकों में कभी २ ऐसा कठिन स्थल आगया है कि बड़ी विलक्षण और तीक्ष्ण बुद्धि के विद्यार्थी को भी कई दिनों तक यह विषय समझ में नहीं आया । वास्तविक मनन करने पर वही विषय समझ में आगया । इसका कारण क्या है ? इसमें सन्देह नहीं कि मननादे द्वारा अंतर्भी ही जीवात्मा की शक्ति बढ़नी जायगी उसने ही सूक्ष्म में सूक्ष्म वस्तु जीवात्मा सम-झता जायगा । बड़े बड़े विद्वानों के जीवन में यह व्यापार देखा जाता है । सारी विद्याएँ जीवात्मा के द्वारा प्रकाशित हुई हैं । कोटियों मनुष्य जिस पदार्थ को न समझ सके उसकी किसी एक विद्वान् ने समझ लिया और औरों को समझाया ।

इस हेतु प्रथम जीवात्मा ही प्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य तथा निदिध्यामितव्य है, इस आत्मा के दर्शनादि व्यापार से सब विदित होता है । ऐसी सगति जीवात्म पक्ष में लग सकती है और परमात्मपक्ष में पूर्वोक्त दोष आते हैं । शङ्का—यदि जीवात्मा कोई भिन्न वस्तु है, और वह ज्ञानी है तो अपने आप को वह जानता ही है । जीवात्मा को जाने यह उपदेश ही निरर्थक और तुच्छ होगा, क्योंकि जीवात्मा को कौन जानेगा ? जीवात्मा ही जानेगा अपने को ही आप जाने इस उपदेश का तो कोई अर्थ ही नहीं । क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय दो वस्तु भिन्न २ होनी चाहियें । और ज्ञाता उसी को कहेंगे जिसमें ज्ञान हो । अतः ज्ञाता जो जीवात्मा है उसके ज्ञान के लिये कोई अन्य वस्तु होनी चाहिये । जीवात्मा से भिन्न परमात्मा वा प्रकृति है । अतः परमात्मा वा प्रकृति को जीवात्मा जाने यह उपदेश तो उचित प्रतीत होगा । जीवात्मा जीवात्मा को जाने यह उपदेश सर्वथा अर्थ रहित होगा । अतः जीवात्मा पक्ष में न लगाकर परमात्मपक्ष में ही इस प्रकरण को घटाना चाहिये ।

समाधान—जीवात्मा एक आवरणशक्तिरूप वस्त्र से ढका हुआ है । इस हेतु अपने स्वरूप को नहीं जानता । शङ्का—क्या कोई भी पुरुष अपने शरीर को वस्त्रादिक से ढक्केने पर अपने गौरादि रूप को भूल जाता है । तब आत्मा के ऊपर यदि कोई आवरण पड़ा हुआ है तो अपने को जीवात्मा क्योंकर भूलेगा । हाँ इतना हो सकता कि वह अपने को दूसरे के समीप प्रकाशित न करमके । **समाधान—**जीवात्मा के ऊपर जो आवरण है सो देवदत्तवस्तुवत् संयोगसम्बन्ध से नहीं है किन्तु समवायसम्बन्ध से है । जैसे गृह का श्वेतादिरूप समवायसम्बन्ध से । **प्रश्न—**यदि अज्ञानरूप आवरण जीवात्मा में समवायसम्बन्ध से है तब त्रिकाल में भी यह रहेगा, कभी इससे छूट नहीं सकता । पुनः तब मुक्ति के लिये प्रयत्न करना ही व्यर्थ होगा ।

इस अवस्था में ज्ञानान्मुक्तिवाद जो आपका सिद्धान्त है वह भी नष्ट होजायगा । **समाधान—**सुनो ज्ञान वा अज्ञान चेतन का गुण है । इस शरीर में चेतन आत्मा है । यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है कि जीवात्मा कभी तो विद्वान् और कभी अविद्वान् बनता है । कोल भील अभी तक बड़े अज्ञानी हैं । कई एक शतक तक “अग्नि में विषवा वालिका को भस्म करदेना चाहिये” इसी अज्ञान को कोटियों

जीव यथायं ज्ञान मानते रहै । इस प्रकार के कोटियों उदाहरण देश में विद्यमान हैं जो सूचित करते हैं कि आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से अज्ञानता भी विद्यमान है । यदि सो न माना जाय तो सब आत्मा के एक समान ही गुण होने चाहिये । क्योंकि जाति से सब आत्मा समान हैं । यदि कहो कि मेघ का जल समान है, परन्तु ऊपर भूमि और समुद्र में मिलकर चार, कहीं मीठा और कहीं अत्यन्त कटु होजाता इसी प्रकार यह जीवात्मा जैसे जैसे गृह में आता है तदनुकूल होजाता है । यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जल में तो उसके परमाणु मिल जाते हैं इस हेतु मीठा वा तिक्ताचार आदि सब होजाता है । जैसे दूध में चीनी पड़ने से मीठा निम्ब पड़ने से तिक्त होजाना है, परन्तु एक अत्यन्त बड़ोर पदार्थ को जिस में अन्य पदार्थ के अश प्रवेश न कर सकें किसी दूध में वा निम्ब के अर्क में रस वा कभी उसका स्वाद नहीं बदलेगा । आत्मा एक अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है इस हेतु इसमें अन्य पदार्थ प्रविष्ट हो नहीं सकते हैं । इस हेतु आत्मा में नैमित्तिक गुण नहीं आसकते, अतः मानना पड़ता है कि अज्ञानता भी आत्मा का स्वभाव है । क्यों ज्यों ज्ञान गुण की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों अज्ञान गुण दबते जाते हैं वा दग्ध होते जाते हैं । ज्ञान के परमोदय होने से अज्ञान बिलकुल सूक्ष्म होकर विद्यमान रहते हैं । यदि ऐसा न माना जाय तो सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की व्यवस्था भी ठीक नहीं हो सकती । अनादि काल से जीवात्मा के साथ ज्ञान और अज्ञान क्या आता है इस अज्ञानता के कारण जीवात्मा अपने को ही नहीं जानता है कि आज से दश वर्ष में मैं कितने कार्य करलगा, कोई नहीं जानता । जब बालक पढ़ने लगता है वह नहीं जानता कि कभी मैं बड़ा आचार्य भी बन जाऊंगा । यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि यह आत्मा नहीं जानता है कि मैं किनना काम कर सकता हूँ । जिस जीवात्मा ने ज्ञान को प्राप्त कर लिया है और इतिहासादि द्वारा विदित होगया है कि यह जीवात्मा बहुत कुछ कार्य कर सकता है । ऐसे ज्ञानी जीवात्मा अज्ञानी जीवात्मा को जन समझता है तो वह भी ज्ञान घनता हुआ अपने आचार्य के तुल्य होता है । यदि पञ्चान्त मन्त्रादि में अधिक परिश्रम करता है तब वह आचार्य से बढ जाता है । यह जीवात्मा का स्वभाव है । इस हेतु यह प्रकरण जीवात्मा में अच्छे प्रकार घट सकता है । इस हेतु चतुर्थ ब्राह्मण से जीवात्मा का और पञ्चम ब्राह्मण से परमात्मा का उपदेश है यह मित्र होता है और

ऐसे मानने में न कोई इति और न कोई दोष उपस्थित होता है । परन्तु सन्यास के समय महर्षि याज्ञवल्क्य विदुषी मैत्रेयी से उपदेश करते हैं । इस हेतु यह संभव होता है कि यह ब्राह्मण भी परमात्म परक हो । इस पक्ष में ब्रह्मवादी पुरुष और ब्रह्मवादिनी स्त्री का सम्बन्ध सर्वत्र जोड़ दिया जाय तो कोई भी दोष नहीं आवेगा । अर्थात् ब्रह्मवादी पुरुष स्त्री की प्रसन्नता के लिये स्त्री को प्यार नहीं करते, किन्तु परमात्मा के नियम के प्रतिपालन के लिये स्त्री को प्यार करते । इसी प्रकार पुत्र पुन आदिक में भी योजना करनी । एवं ब्रह्मवादिनी स्त्री पति की प्रसन्नता के लिये पति को प्यार नहीं करती, किन्तु परमात्मा के नियम प्रतिपालन के लिये पति को प्यार करती है, इत्यादि ऊहा करनी चाहिये अज्ञामिति विसरेण ॥ ५ ॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परा-
दाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽ-
त्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद
भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद सर्वं तं
परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं चत्रमिमे लोका इमे
देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

अनुवाद—ब्रह्मत्व उसको त्याग देता है जो आत्मा के अन्यत्र ब्रह्मत्व को जानता है । क्षत्रियत्व उसको त्याग देता है जो आत्मा के अन्यत्र क्षत्रियत्व को जानता है । लोकज्ञान उसको त्याग देते हैं जो आत्मा के अन्यत्र लोकज्ञान को जानता है देव शक्तियां उसको त्याग देती हैं जो आत्मा के अन्यत्र देवशक्तियों को जानना है । प्राणी उसको त्याग देते हैं जो आत्मा के अन्यत्र प्राणियों को जानता है । सब ही उसको त्याग देते हैं जो आत्मा के अन्यत्र प्राणियों को जानता है । यह ब्रह्मत्व, यह क्षत्रत्व, ये लोकशक्तिएं, ये देवशक्तिएं, ये प्राणीमात्र, यह सब जो शुद्ध दीक्षता है, वह सब यह आत्मा है ॥ ६ ॥

पदार्थ—जीवात्मा ही में सब शक्तियां हैं, इसका संक्षेप से व्याख्यान करते हैं । अरे मैत्रेयि ! (ब्रह्म) ब्रह्मबेत्तृत्व शक्ति ने (तम्) उस पुरुष को (परादाद्य्)

त्याग कर दिया है अर्थात् ब्रह्मभेद शक्ति उस पुरुष को त्याग देती है (आगे भी ऐसा ही समझना पदार्थ में लेकर के अनुसार अर्थ दिखाया है) (य.) जो पुरुष (आत्मनः+अन्यत्र) आत्म से जीवात्मा से भिन्न अन्य वस्तु में (ब्रह्म+वेद) ब्रह्मज्ञान शक्ति को जानता है, क्योंकि जीवात्मा ही में ब्रह्मज्ञातृत्वशक्ति विद्यमान है इस हेतु जीवात्मा ने उस शक्ति का अन्वेष्टण करे । यद्वा (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में (ब्रह्म) ब्रह्मवेत्तृत्व शक्ति को (यः) जो (वेद) जानता है । (त+ब्रह्म+परादात्) उस अज्ञानी को ब्रह्मवेत्तृत्व शक्ति छोड़ देती है अर्थात् सब शक्ति परमात्मा में ही प्राप्त होती हैं क्योंकि उसके आश्रय बिना कोई पदार्थज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । आगे भी “आत्मा” शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों समझना । इसी प्रकार (क्षत्रम्) युद्ध करने की शक्ति ने (तम्) उस पुरुष को (परादात्) त्याग दिया है (यः+अन्यत्र+आत्मनः) जो पुरुष आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में (क्षत्रम्+वेद) युद्ध करने की शक्ति को जानता है । इसी प्रकार (लोकाः) गोलोक, अन्तरिक्ष लोक, पृथिवीलोक आदि अनन्त लोकों की ज्ञानशक्तियों ने (तम्) उसको (परादुः) त्याग दिया है (य.) जो आत्मा में अन्य वस्तु में लोकज्ञानशक्तियों को जानता है । इसी प्रकार (देवाः) सूर्य चन्द्र पृथिवी आदियों के ज्ञानशक्तियों ने (तम्+परादुः) उसको त्याग दिया है (य.) जो आत्मा से अन्य वस्तु में देवों को जानता है (भूतानि) सकल प्राणियों के ज्ञानने (तम्+परादुः) उसको त्याग दिया है (य.) जो आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में प्राणीज्ञान को जानता है । हे मैत्रेयि बहुत क्या हैं (सर्वम्) सर्व ज्ञानशक्ति वा सब ही ने (तम्+परादुः) उसको त्याग दिया है (य.+अन्यत्र) जो आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में सर्वज्ञानशक्ति को जानता है । पुनः २ दृढ करने के लिये उसी वस्तु को पुनः कहते हैं । अरे मैत्रेयि ! (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म ज्ञानशक्ति (इदम्+क्षत्रम्) यह युद्ध करने की शक्ति (इमे+लोकाः) ये लोक विज्ञान शक्तियाँ (इमे+देवाः) ये देव (इमानि+भूतानि) ये सब प्राणी (इदम्+सर्वम्) यह सब ही (यद्) जो कुछ है सो सब ही (अयम्+आत्मा) यह आत्मा है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—जीवान्मनि सर्वा शक्तिरस्तीति संचिप्य व्याकरोति । अरे मैत्रेयि !

ब्रह्म ब्रह्मत्वं ब्रह्मवेत्तृत्वं तं पुरुषम् । परादात् परादध्यात् पराकुर्यात्
 त्यजेदित्यर्थः । कं पुरुषं ब्रह्म परादात् ? । यः आत्मनो जीवात्मनः । अन्यत्र
 अन्यस्मिन् स्थाने नत्वात्मनि । ब्रह्म ब्रह्मवेत्तृत्वं । वेद जानाति । ईदृशमात्म-
 शक्ति गतिविज्ञानविरहित पुरुषं ब्रह्मत्वं त्यजति । आत्मन्येव ब्रह्मवेत्तृत्वशक्ति-
 रस्ति नान्यत्रेत्यर्थः । यद्वा । आत्मनः परमात्मनोऽन्यत्र यो ब्रह्म वेदं तं पुरुषं
 ब्रह्मनिराकराति । परमात्मकाशादेव सर्वाः शक्तयो जायन्ते अनः परम्परया
 परमात्मन्येव सर्वाः शक्तयः सन्तीति वेदितव्यम् । अन्येष्वपि पर्यायेष्वयमर्थो
 घटयितव्यः । एतमेव तं पुरुषम् चतुरं वीर्यं परादात् त्यजेत् । यः पुरुषः
 आत्मनोऽन्यत्र जीवात्मनोऽन्यस्मिन् चतुरं योद्धृत्वं वेद । तं पुरुषम् लोकाः
 सामान्येन पुत्रलोकादिविज्ञानानि परादुः त्यजेयुः । योऽन्यत्रात्मनः लोकान्
 पुत्रलोकादिविज्ञानानि वेद । तं देवाः स्वर्गादिपरिज्ञान शक्तयः परादुः । योन्य-
 त्रेत्यादि पूर्ववत् । भूतानि भूतविद्याज्ञानशक्तयः । हे मंत्रेयि ! किं बहुधाक्तेन ।
 सर्वं सर्ववस्तुपरिज्ञानं तं पुरुषम् परादात् परित्यजेत् । योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद ।
 दृढीकरणाय पुनस्तदेव वस्तु अभ्यस्यति । अरे मंत्रेयि ! इदं ब्रह्म । इदं
 चतुरम् । इमे लोकाः । इमे देवाः । इमानि भूतानि । इदं सर्वम् यद्वस्तु किमाप
 दृश्यते । म सर्वोऽयमात्मास्ति । अमेदविवक्षया इयमुक्तिः ॥ ६ ॥

आशय—यह जीवात्मा का वर्णन होता आता है । पञ्चम कण्डिका में
 कहा गया है कि आत्मा के ही जानने में मर जाना जाता है । आत्मा का जानना
 क्या है ? हमारा आत्मा क्या २ कर सकता है । इसमें काम करने की किननी
 शक्ति है । इसी आत्मा से लोगों ने क्या २ अद्भुत काम किये हैं और किस
 प्रकार में द्विपी हुई आत्मा की शक्ति को लोगों ने बढ़ाया है । आत्मसम्बन्धी वस्तु
 का जानना ही आत्मज्ञान है ।

1

१—किसी के गृह में एक लक्ष १००००० रुपये हैं परन्तु वह जानता नहीं
 इस हेतु वह उस रुपये से कोई व्यापार नहीं कर सकता । इसी प्रकार इस आत्मा
 में सब वस्तु के ज्ञान की शक्ति है, परन्तु जो नहीं जानता है वह इस आत्मा से
 क्या काम ले सकता है ।

२—जैसे कोई चतुर बुद्धिमान् आदमी अपने पैत्रिक १००० रुपये को थोड़े

दिनों में एक लक्ष दो लक्ष बनाकर दिसलाता है परन्तु कोई विषयलम्पट उसी १०००) मुद्रा को थोड़े ही दिन में खर्च कर महामूर्ख बन जाता है। द्वार २ भिक्षा मागता फिरता है, तद्वत् कोई चतुर ज्ञानी आज्ञा के गुणरूप रूप्यों को बहुत बढ़ाकर स्वयं सुखी हो अन्य को भी सुखी करता है। और दूसरा उसी आत्मगुणरूप मुद्रा को दुष्ट कार्य में खर्च कर महामूर्ख बन अगाध अन्धकार में सदा के लिये गिर जाता है।

३-जैसे पृथिवीस्थ जल को खोदकर निवालते हैं तब उस जल से अपना और ससार का बहुत कार्य सिद्ध होता है। वैसे ही आत्मरूप पृथिवी के अभ्यन्तर गुणस्वरूप जल भरे हुए हैं, भवण मनन निदिध्यासन रूप खनन द्वारा उससे उन गुणों की धारा बहने लगती है, जिससे स्वयं सुखी होता है। पश्चात् अन्य को भी सुखी करता है।

४-जितनी ही गहिरी खोदाई होगी उतना ही अधिक जल निकलेगा। जितना ही मनन करेगा उतना ही गुण निकलेगा। जो मर-वेरा है वहाँ भी जल पृथिवी से निकलता है, परन्तु अधिक गभीर खनन से। इसी प्रकार मूर्ख से मूर्ख आत्मा से गुणरूप जल निवाल सकता है यदि परिपूर्ण परिश्रम के साथ गननादि व्यापार किया जाय।

५-जिस प्रकार पेषक में सूत्र लिपटा रहता है खींचने से निकलता जाता तद्वत् इस आत्मा में सबल गुणरूप सूत्र लगे हुए हैं खींचने वाला उसे खींचकर काम करता है।

६-परन्तु आश्चर्य यह है कि पेषक से ताग शीघ्र समाप्त हो जाता है, परन्तु आत्मा से जितने गुण निकालो उतना ही और दिन दिन अधिक होता जाता है।

७-आत्मा से ही व्याकरण न्याय सांख्यादि ज्ञान निकलता है, इसमें अणु-मात्र भी सन्देह नहीं। जिससे सब निकलता है उसको प्रथम जानने की बड़ी आवश्यकता है।

यहां पर एक शङ्का उपस्थित होती है कि आत्मा को विज्ञान के लिये बाह्य पदार्थ की अपेक्षा है या नहीं। इसका एक उत्तर नहीं हो सकता। किसी शङ्का का एक ही उत्तर होता है, किसी के दो उत्तर होते हैं। जैसे-जिसने जन्म लिया है वह मरेगा या नहीं इस शङ्का का एक ही उत्तर है कि वह अवश्य मरेगा। परन्तु मनुष्य मोक्ष पावेगा या नहीं। इसके दो उत्तर होंगे—धर्मात्मा ज्ञानी मोक्ष पावेगा, पापात्मा अज्ञानी मोक्ष को नहीं पावेगा। इसी प्रकार किसी विज्ञान के लिये आत्मा को बाह्य वस्तु की अपेक्षा होती है। यथा—इस पृथिवी के ऊपर मनुष्य वा पशु वा पक्षी वा जल जन्तु कितने और कितने प्रकार के हैं इस ज्ञान के लिये नाना देश का भ्रमण करना होगा, नाना पशु पक्षियों को देखना होगा अतः यहां तो बाह्यवस्तु की अपेक्षा है। परन्तु सब वस्तु मुझे स्मरण रहे जो कुछ मैं देखता हूं, जो कुछ मैं सुनता हूं, जो कुछ मैं पढ़ता हूं, इत्यादि। इस ज्ञान के लिये बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है किन्तु पुनः पुनः एकान्त सेवनादि क्रिया से वह स्मरणादि शक्ति आत्मा में प्रकट होती है। किसी सूक्ष्म वस्तु के विचार के लिये बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है। यथा गणित सम्बन्धी कोई कूट प्रश्न है उसके सोचने के लिये आन्तरिक पदार्थ की सहायता लेनी होगी। यद्यपि प्रथम तो बाह्य सहायता ली गई है तथापि इस समय आन्तरिक सहायता की ही अपेक्षा है। किसी एक वस्तु को तुमने पढ़ा है उसके तत्त्व के विचार के लिये आन्तरिक पदार्थ की आवश्यकता होगी। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि एक आत्मा के ज्ञान से सब वस्तु का ज्ञान होता है।

ब्रह्म—आत्मा ही में सब ज्ञान है इसको संज्ञेन से कहते हैं। संस्कृत भाषा में कहीं गुण शब्द के स्थान में गुणी शब्द का प्रयोग होता है कहीं इसके विपरीत। यथा श्वेतो धावति=स्वेत दौड़ता है। श्वेत घोड़ा वा श्वेत गुणयुक्त जो पदार्थ वह दौड़ता यह अर्थ होता है यहां गुणी की जगह में गुण वाचक श्वेत शब्द का प्रयोग हुआ “द्वयैक्योर्द्विवचनैक्यवचने” यहां द्वित्व एकत्व अर्थ में द्वि और एक शब्द का प्रयोग है इत्यादि अनेक प्रयोग संस्कृत में होते हैं, अतः यहां ब्रह्मशब्द का अर्थ ब्रह्मत्व=ब्रह्मपना, ब्रह्मज्ञानशक्ति और ब्रह्म शब्द का “ब्रह्मज्ञेता” अर्थ है। सब अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म जानने की मनुष्य में जो एक शक्ति है वह कहा है।

वह यथार्थ में जीवामा में है । आत्मा में ही ब्रह्म जानने की शक्ति है अन्यत्र नहीं । अज्ञानी लोग किसी पुस्तक में वा किसी तीर्थादि भ्रमण करने में ब्रह्मज्ञान शक्ति मानते हैं अर्थात् असुर पुस्तक पढ़ने से ब्रह्मज्ञान होगा अन्यथा नहीं होगा, ऐसा बहुत अज्ञानी मानते हैं । परन्तु यह सत्य नहीं । यदि ऐसा होवे तो उसको पढ़कर सन कोई ब्रह्मज्ञानी बनजाय, सो नहीं होता । अतः पुस्तक के पढ़ने से ब्रह्मज्ञान नहीं होता, किन्तु वह मनन करने से ही होता है । मनन आत्म का गुण है । यदि कहो कि तब मन आत्मा को वह गुण क्यों नहीं प्राप्त होता है तो इसमें इतना कहना होगा कि जिसने मनन किया उसमें वह ज्ञान प्राप्त हुआ जिसने नहीं किया उसमें वह ज्ञान नहीं आया । पुस्तकादि केवल सहायक है ।

अन्य टीकाकार “ब्रह्म” शब्द का अर्थ ब्राह्मण जाति करते हैं सो बिल्कुल ठीक नहीं, क्योंकि इस समय मनुष्य में जाति का विभाग नहीं वा और आत्मा में कोई जाति नहीं । आत्मा न तो ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न पशु, न पक्षी, न ओषधि और न कुट्ट । अतः ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मण जाति अर्थ करना ठीक नहीं, किन्तु वह ब्रह्मज्ञानी अर्थ ही ठीक है । यहाँ (आत्मनः) शब्द का अर्थ परमात्मा भी होता है । दोनों पक्षों में अर्थ सचदित होते हैं, क्योंकि परमात्मा के आश्रय बिना अल्पसार अल्पज्ञ मनुष्य क्या कर सकता है ॥ ६ ॥

यस्मादात्मनः सर्वा विद्याः प्रकाशन्ते स आत्मा प्रथमं ग्रहीतव्यः । कथं स ग्राह्यितव्यः । किं तस्मात् प्रकाशितानां विद्यानामध्ययनेन ? उत तं ग्रहीतुं कश्चिदन्य उपायोस्ति । विद्यानामानभ्यादध्ययनेन तानां समाप्तेः दुःसाधक प्रथमम् । किं भोः । तर्हि विद्याभ्ययनं प्रतिषिध्यते । इन्तः । अष्टाचत्वारिंशद्भिर्ब्रह्मचर्यं विधिना प्राप्तमधुना सर्वथा घातितम् ।

भाषा—जिस आत्मा से सब विद्याएं प्रकाशित होती हैं वह आत्मा प्रथम ग्रहण करने योग्य है । वह कैसे ग्रहणीय हो सकता । क्या उससे प्रकाशित विद्याओं के अध्ययन से अथवा उसके ग्रहण के लिये कोई अन्य उपाय है । इस पर कहते हैं कि विद्याएं अनन्त हैं (क्योंकि भिन्न २ देशों में भिन्न २ भाषाएं और विविध काव्यादिक होने से) इस हेतु अध्ययन से उन सब विद्याओं की समाप्ति

होनी एक जीवन में दुःसाध्य काम है । इस हेतु प्रथम पक्ष नहीं । इस पर एक शङ्का होती है । तब क्या आप विद्याध्ययन का प्रतिषेध करते हैं । शोक है कि तब विविध प्राप्त अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचर्य को आपने अब सर्वथा विनाश किया ॥

शृणु । आरुणेयः श्वेतकेतुर्द्वादश वर्षाणि गुरौ ब्रह्मचर्यमुवाच । तथापि न किञ्चिदप्यात्मनो वेद ।

सुनो, अरुणेय श्वेतकेतु द्वादशवर्ष गुरु के निकट विद्याध्ययनार्थ ब्रह्मचर्य करता रहा, तथापि उसने आत्मा के विषय में कुछ नहीं जान पाया ।

नारदः खलु-ऋग्वेदं, यजुर्वेदं, सामवेदमार्यवेदं चतुर्थं, इतिहासै-
पुराणं पञ्चमं, वेदानां वेद, पित्र्यं, राशिं, दैवं, 'निधिं, बांकोवाक्यं, मेकायनं,
देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्वदेवजन-
विधाम् इमा अष्टादश विद्या अधिजगे तथापि नात्मविद् बभूव । स्वयमेव
स कथयति "सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविद् इति" औपमन्यवादयः
पण् महाशाला महाश्रोत्रियाः सन्तोऽपि "कोनु आत्मा किं ब्रह्मेति" अत्र न
निर्णयं प्रापुः । बालाकिरनूचानोऽपि ब्रह्मविद्यायामज्ञ एव बभूव । ईदृशानि
सन्ति अन्यान्यपि भूरीणि निदर्शनानि । यानि केवलमध्ययनेन नात्मतत्त्व-
प्राप्तिरिति सूचयन्ति ।

नारद ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहासपुराण, व्याकरण,
पित्र्य, राशि, दैव, निधि, बांकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या,
क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्वदेवजनविद्या इन अष्टादश विद्याओं को पढ़ा तथापि
आत्मवित् नहीं हुए, स्वयं नारद कहते हैं कि हे भगवन् सनत्कुमार ! सो मैं केवल
मन्त्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं । औपमन्यवादि छ. आचार्य महाशाल और महा-
श्रोत्रिय होने पर भी "आत्मा" क्या है, "ब्रह्म" क्या है, इस विषय में निर्णय
नहीं कर सके । बालाकि वेदवित् होने पर भी ब्रह्मज्ञान में अज्ञ ही रहे । ऐसे २
अन्यान्य बहुत उदाहरण हैं जो सूचित करते हैं कि केवल अध्ययन से "आत्म-
तत्त्व की प्राप्ति" नहीं होती ॥

अतएव बृहदारण्यके उक्तम् “तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानु यायाद्ब्रह्म शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।”

अतएव बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि विज्ञानी ब्राह्मण उसी को
ज्ञानकर अपनी बुद्धि को बढ़ावे । बहुत शब्दों की चिन्ता में न रहे, क्योंकि यह
वचन का मलीन करने वाला है ॥

योगशास्त्रे चित्तवृत्तिनिरोधेन आत्मनः सर्वमावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्चो-
पपादितम् । अन्यच्च—सर्वस्य शास्त्रम्यैकैकः प्रथम आचार्यो बभूव । तत्तस्मा-
त्पूर्वं तत्तच्छास्त्रं नासीदिति विज्ञायते अहोवत् तर्हि के ग्रन्थास्तस्य तस्य आचि-
त्कर्तुः सहायका अभूवन् । आत्मश्रवणमननवृत्तेर्व्यतिरेको न कोऽपि सहायको
बभूव । सैत्र शास्त्रप्रणयने द्वितीया सहकारिणी जायेवाजायत । अतः स्वस्या-
दात्मन एव तास्ता विद्याः प्रकाशन्ते । किं तत्र विद्याध्ययनं सर्वथा विहाय
केवलमात्मश्रवणमनननिदिध्यासनविज्ञानादिषु प्रयतितव्यमित्याशयो ध्वन्यते
भगवद्भिः । समादधाति—विद्याः सर्वा यथाशक्ति यथावसरमधिगन्तव्याः ।
मननद्वारा तु आलोचयितव्या विस्तारयितव्याश्च । तासु शुद्धिचेत्पूरयितव्या ।
जगत्पनन्ता विद्याः सुलीना वर्तन्ते । कुनमतिस्ताः पश्यति । दृष्ट्याचोद्गाव-
यति प्रकटयति च सर्वत्र । इदमेव अपेक्ष्येतिरम् । एवं पूर्णप्रकटिता विद्या
अपि बहुव्यंशेषु सहकारिण्यो भवन्ति । इत्थं पूर्वं आचार्या उत्तराणामाचार्याणां
बाहुल्येन पथप्रदर्शका भवन्त्यत्र तु न सन्देहः । उत्तरे च तेषां ग्रन्थेभ्यो ग्रह-
णीय वस्तूनि आदाय तानि स्मृतनाविष्कारैः प्रपूरयन्ति । कचिदुत्तरे सर्वथैव
नवीनामेव काञ्चिद्विद्यां पश्यन्ति । शतशो नवीना आविष्कारा अभवन् ।
भवन्ति भविष्यन्ति च तैर्जगदुपकुर्वन्ति । अत आत्मानि गुणा अन्वेष्टव्याः ।
इति दिक् ॥

यहा “बहु शब्द” यह पद विविध शास्त्रसूचक है । योगशास्त्र में कहा गया
है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध से आत्मा सर्व पदार्थ का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ
अर्थात् बहुत हो सकता है । इस बात को अच्छी तरह से हम लोग जानते हैं
कि सत्र शास्त्र के एक एक आचार्य आविष्कर्ता हुए हैं । उस उस आविष्कर्ता के

पूर्व वह वह शास्त्र नहीं था ऐसा प्रतीत होता है, तब बड़ा आश्चर्य है कि उस समय कौन २ ग्रन्थ उस उस आविष्कर्ता के सहायक हुए । हम कह सकते हैं कि आत्मा के श्रवण मननरूप वृत्ति के अतिरिक्त कोई भी सहायक नहीं हुआ । वही वृत्ति शास्त्रों के बनाने में द्वितीया सहकारिणी जाया के समान हुई । पुनः शङ्का होती है कि क्या तब विद्याध्ययन सर्वथा छोड़ केवल आत्मा के श्रवण, मनन, नि-
दिध्यासन और विज्ञान आदि में प्रयत्न करना चाहिये ऐसा आशय आपका है । इसका उत्तर देते हैं—विद्याएं सब ही पढ़नी चाहिये, परन्तु मननादि व्यापार द्वारा उनकी समालोचना करनी चाहिये । और पठित पाठ का विस्तार करना चाहिये । सति के अनुसार नवीन विद्या का आविष्कार करना चाहिये । जगत् में अनन्त विद्याएं छिपी हुई हैं । बुद्धिमान् उनको देखते हैं । देख करके उनको ऊपर लाते हैं और सर्वत्र प्रकाशित करते हैं । यही ऋषि का ऋषित्व है । इस प्रकार पूर्व प्रकटित विद्याएं भी बहुत अशों में सहायक होती हैं इस प्रकार पूर्व आचार्य उत्तर आचार्यों के बहुत प्रकार से पथप्रदर्शक होते हैं, इसमें सन्देह नहीं । और उत्तर आचार्य उनके ग्रन्थों से ग्रहणीय वस्तुओं को लेकर उनको निज नवीन आविष्कारों से पूर्ण करते हैं । कहीं २ यह भी देखा गया है कि उत्तर आचार्य किसी नवीन ही विद्या को देखते हैं । सैकड़ों नवीन आविष्कार हो गये होते हैं और होते रहेंगे । उससे जगत् का उपकार करते हैं । इस हेतु आत्मा में जो गुण हैं उनका अन्वेषण करना चाहिये । इति सन्निपतः ॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छब्दनु-
याद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो-
गृहीतः ॥ ७ ॥

अनुवाद—अरे मैत्रेयि ! जैसे हन्यमान दुन्दुभि के बाह्य (बाहर निकले हुए) शब्दों को ग्रहण करने के लिये कोई समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु दुन्दुभि के ग्रहण करने से अथवा दुन्दुभि के वजानेवाले के ग्रहण करने से शब्द का ग्रहण हो जाता है । वैसे ही वह आत्मा गृहीत होता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—अरे मैत्रेयि ! (हन्यमानस्य) वजाये जाते हुए (दुन्दुभेः)

दुन्दुभि नाम के वाजा से (बाह्यान) बाहर निकलते हुए (शब्दान) शब्दों को (ग्रहणाय) पकड़ने के लिये (यथा) जैसे (न-शक्नुयान्) कोई समर्थ नहीं होता । अर्थात् जब दुन्दुभि वाजे को कोई पुरुष पकड़ा रहा है तब उससे जो शब्द निकलते जाते हैं, उन शब्दों को कोई चाहे कि पकड़ रखें तो उनका पकड़ना जैसे असम्भव है । हे मैत्रेयि ! (स०) वैसे ही आत्मा को कोई बाहर से पकड़ना चाहे तो वैसा ही असम्भव है तब फिर आत्मा कैसे पकड़ा जा सकता है । इनमें दृष्टान्त से कहते हैं—(तु) परन्तु (दुन्दुभे) दुन्दुभि के (ग्रहणेन) पकड़ने से (शब्द-प्रहीतः) शब्द पकड़ा जाना है (वा) अथवा (दुन्दुभ्याघातस्य) दुन्दुभि के बजाने वाले के पकड़ने से वह शब्द पकड़ा जाता है । तद्वन् अरे मैत्रेयि ! आत्मा के ही साक्षात् ग्रहण करने से आत्मा गृहीत होता है अथवा आत्मा के संचालक जो इन्द्रिय समूह हैं वा प्राण हैं उन के ग्रहण करने से आत्मा गृहीत होता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—स यथेति । अरे मैत्रेयि ! यथा कोऽपि पुरुषः हन्यमानस्य आभ्यायानस्य दुन्दुभेः मज्जाशत् । बाह्यान् बहिर्निर्गन्त्रतः बहिर्निर्गतान् शब्दान् । ग्रहणाय गृहीतुम् । न शक्नुयान् शक्नो भवति । तथा स आत्मा बाह्यतो गृहीतुम् । न शक्यते । नहि कथं स गृहीतुं शक्यत इत्यतो दृष्टान्तेन। दुन्दुभेः इतदिना ग्रहणेन यथा स शब्दो गृहीतः भवति । सा अथवा दुन्दुभ्याघातस्य दुन्दुभेः आघातः आघातः । आघात्यनेनेन आघातः । तस्य ग्रहणेन शब्दो गृहीतः भवति । तथैव आत्मनो ग्रहणेन आत्मनो गुणा गृहीता भवन्ति । अथवा आत्मन आघातकस्य इन्द्रियसमूहस्य प्राणस्य वा ग्रहणेन स आत्मा गृहीतः भवति ॥ ७ ॥

भाष्याशयः—यह शङ्का होती है कि आत्मा का ग्रहण कैसे हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों से यह दृश्य नहीं होता । यदि कहो कि आत्मा से निकली हुई विविध विद्याओं के अध्ययन से आत्मा का ग्रहण होगा तो कहते हैं कि सो नहीं हो सकता । जैसे दुन्दुभि से निकलते हुए वा निकले हुए शब्दों का ग्रहण करना कठिन है । तद्वन् आत्मप्रकाशिन विद्याओं से आत्मग्रहण कठिन है । परन्तु जैसे उसी दुन्दुभि को पकड़ लाने से अथवा दुन्दुभि के उजानेवाले को पकड़ने से वह शब्द वही पकड़ा जाना है । तद्वन् इस आत्मा को पकड़ना चाहिये । अथवा आत्मा

का यदि कठिन प्रतीत हो तो आत्मा के चञ्चल करने वाले जो इन्द्रिय हैं उनको पकड़ो, क्योंकि इनको तो पकड़ सकते हो । जब इन्द्रिय समूह को अपने वश में ले आओगे तो आत्मा स्वतः स्थिर हो जायगा और इसी शरीर में इस को पकड़ लोगे । ऐसे ही यहाँ अनेक दृष्टान्त आगे कहेंगे उनका भी ऐसा ही आशय है ।

शब्दान्—इसी एक कण्ठिका में बहुवचन और एक वचन "शब्द" का प्रयोग हमलिये है कि जब शब्द बाहर निकलता है तो फैल कर बहुत हो जाता है, परन्तु वस्तुगत शब्द एक ही रहता है ॥ ७ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याच्छब्दाच्छब्दनु-
याद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्वस्य वा शब्दो
गृहीतः ॥ ८ ॥

अनुवाद—जैसे ध्मायमान (बजाये जाते हुए) शङ्ख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने के लिये कोई समर्थ नहीं होता परन्तु शङ्ख के ग्रहण से अथवा शङ्खध्व (शङ्ख के बजाने वाले) के ग्रहण से वह शब्द गृहीत होता है—वैसे वह आत्मा गृहीत होता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—अन्य दृष्टान्त कहते हैं (सः) वह आत्मा वक्ष्यमाण दृष्टान्त के समान गृहीत हो सकता । (यथा) जैसे (ध्मायमानस्य) बजाये जाते हुए (शङ्खस्य) शङ्ख के (बाह्यान्) बाहर निकले हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) ग्रहण के लिये (न+शक्नुयान्) कोई भी समर्थ नहीं होता (तु) परन्तु (शङ्खस्य) शङ्ख के (ग्रहणेन) ग्रहण से (वा) अथवा (शङ्खध्वस्य) शङ्ख के बजाने वाले के ग्रहण से (स+शब्दः) वह शब्द (गृहीतः) गृहीत होता है । वैसे ही इस आत्मा से निकले विविध शाखों के द्वारा इसका ग्रहण असम्भव है, किन्तु स्वयं इसी के ग्रहण वा इसके चञ्चल करने वाले इन्द्रियों के ग्रहण ॥ उन आत्मा का भी ग्रहण हो सकता है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—स इति । दृष्टान्तरं व्याकरोति । ध्मायमानस्य आह्वयमानस्य शङ्खस्य सकाशात् निर्गन्धतो निर्गतान्वा बाह्यान् शब्दान् ग्रहणाय प्रीतिं न

कोपि पुरुषः शक्नुयात् । तथैव स आत्मापि बाह्यतो ग्रहणाय न शक्यते ।
अपि तु शब्दस्य ग्रहणेन स शब्दो गृहीता भवति । वा अथवा शब्दमय
शब्दं धमति यः स शब्दानः तस्य ग्रहणेन स शब्दो गृहीता भवति । तथैव
साक्षादात्मनो ग्रहणेन वा इन्द्रियाणां वृत्तीनां ग्रहणेन वा स आत्मा गृहीतो
भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

स यथा वीणार्यै वाद्यमानार्यै न बाह्याऽशब्दाऽच्छक्नु-
याद् ग्रहणाय वीणार्यै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो
गृहीतः ॥ ९ ॥

अनुवाद—जैसे वाद्यमान वीणा के बाह्य शब्दों के ग्रहण करने में कोई समर्थ
नहीं हो सकता, परन्तु वीणा के ग्रहण से अथवा वीणावाद के ग्रहण से वह शब्द
गृहीत होता है । वैसे ही वह आत्मा भी अन्तर से गृहीत होता है बाहर से
नहीं ॥ ९ ॥

पदार्थ—(स) वह आत्मा वाद्यमाण दृष्टान्त के अनुसार गृहीत होता है
(यथा) जैसे (वाद्यमानार्यै) बजाई जाती हुई (वीणार्यै) वीणा के (बाह्यान्)
बाहर निकलते हुए (शब्दान्) शब्दों को (न+ग्रहणाय+शक्नुयात्) ग्रहण करने
को कोई समर्थ नहीं हो सकता (तु) परन्तु (वीणार्यै) वीणा के (ग्रहणेन)
ग्रहण से (वा) अथवा (वीणावादस्य) वीणा के वजानेवाले के ग्रहण से (स +
शब्द + गृहीत) वह शब्द गृहीत होता है । वदत् आत्मा भी गृहीत होता है सो
जानना ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स यथेति । अन्यं दृष्टान्तं दर्शयति । वीणार्यै इत्यत्र प्रत्यये
चतुर्थी । वाद्यमानायाः वीणायाः वीणावादस्य । वीणां वादयति यः स वी-
णावादः । चक्रमन्यत् ॥ ९ ॥

स यथाऽऽर्द्धधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्भूमा विनिश्चरन्त्येवं वा
अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्चसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः

सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः
श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि
सर्वाणि निश्चसितानि ॥ १० ॥

अनुवाद—यह आत्मा ऐसा है। जैसे परितः व्यापित आर्द्र समिधाओं की
अग्नि से पृथक् पृथक् धूमावली चारों तरफ निकलती है। वैसे ही निश्चय, अरे
मैत्रेयी इस महान् भूतात्मा (जीवात्मा) का निःश्वसित यह सब है। जो यह
ऋचाओं का ज्ञान, यजुर्गण मन्त्रों का ज्ञान, साम गान का ज्ञान, अथर्व मन्त्रों का
प्रधान माधुर्य, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और
व्याख्यान हैं। हे मैत्रेयी ! निश्चय, इसी जीवात्मा के ये सब निश्वास हैं ॥ १० ॥

पदार्थ —(सः) वह जीवात्मा ईदृग् गुणवाला है, दृष्टान्त के साथ इसका
वर्णन करते हैं (यथा) जेम (अभ्याहितात्) लकड़ियों पर चारों तरफ से स्या-
पित (अस्तैर्यानेः) आर्द्र=गीली। एव=समिधा, गीली समिधाओं से जलती हुई
अग्नि से (पृथक्) पृथक् २ (धूमाः) धूमावली (विनिरचरन्ति) चारों तरफ
फैलती है (एवं) इसी दृष्टान्त के अनुसार (अरे) अरे मैत्रेयी (वै) निश्चय
करके तू जान कि (महतः) गुणों से महान् और स्वरूप से अतिसूक्ष्म (अस्य)
इस (भूतस्य) जीवात्मा के (एतन्) यह वदयमाण सब विज्ञानशास्त्र (निःश्व-
सितम्) स्वाम प्रधासवन् है अर्थात् प्रयत्न के बिना ही आत्मा से निकले हुए हैं।
यह विज्ञान कौन है सो कहते हैं—(यद्) जो यह (ऋग्वेदः) ऋचाओं का ज्ञान
है (यजुर्वेदः) यजुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान है (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद सम्बन्धी
(आङ्गिरसः) अङ्गी=प्रधान, मुख्य। रस=माधुर्य, अर्थात् अथर्ववेद सम्बन्धी जो
प्रधान रस है, इसी प्रकार (इतिहासः) इतिहास (पुराणम्) पुराण (विद्याः)
पशुविद्या आदि (उपनिषदः) अभ्यात्मविद्या (श्लोकाः) श्लोकचक्रकाव्य (सूत्राणि)
अवि संचित साध्यायनादिकृत सूत्र (अनुव्याख्यानानि) अनुव्याख्यान और
(व्याख्यानानि) व्याख्यान इस प्रकार के जितने शास्त्र नाम से प्रसिद्ध विज्ञान हैं
(एतानि+सर्वाणि) ये सब (अस्यैव) इसी जीवात्मा का (निःश्वसितानि) निः-
श्वास हैं अर्थात् प्रयत्न बिना ही निकले हुए हैं। ऐसा यह जीवात्मा है ॥ १० ॥

भाष्यम्—आत्मनः प्रकाशिता विद्याः सवेपेण महत्प्रदर्शिताय गणय-
ति । स जीवात्म ईदृग्गुणोस्मि । यस्य निःश्वसितानि सर्वाणि शास्त्रात्मकानि
विज्ञानानि सन्ति । तथाहि अभ्यासितात् पाष्ठादिषु अभितः परितः मरतः
स्थापितात् प्रञ्जलितात् । आर्द्रधाग्नेः । एधः इन्धनम् । “काष्ठं दार्विन्धन-
त्वेधः” इत्यमरः । आर्द्राः सजला एषा इन्धनानि इति आर्द्रधाः । एधश-
ब्दोऽकारान्तः पुल्लिङ्गः । यदा सान्तस्तदा “आर्द्रधोग्नि”रिति पाठः । तदा
आर्द्राणि एधांसि इन्धनानि आर्द्रधांसि । आर्द्रधोभिः समिद्धोग्निः आर्द्र-
धोग्निः । तस्मात् । तस्मादग्नेः सकाशात् । यथा धूमाः पृथक् विनिश्चरन्ति
निःसरन्ति निर्गच्छन्ति । अरे मैत्रेयि ! एवम् अस्य दृष्टान्तेन तुल्यमेव । अस्य
प्रसिद्धत्वेन निदिष्टस्य महतो भूतस्य शुण्णमहतो जीवात्मनः सकाशात् । एतद्व-
च्यमाणं वस्तु निःश्वसितम् । निःश्वसप्रश्वासवत् सहजतया विनिर्गतम् ।
किन्तु यद्वेदोऽथर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः । एतेषां व्याख्यानमनुपदमेव
दृष्टव्यम् । इतिहासो वासिष्ठादीनां जन्मादिवृत्तम् । पुराणानां बहूनामेवेतिहा-
सानामेकत्रनिवेशनं तज्जातीयोपयोगिसर्ववस्तुमग्रहश्च यत्र विधत्ते तत्पुराणम् ।
विद्याः विविधानि ज्ञानानि मनुष्यविद्या, पशुविद्या, जलचरविद्या, सुवर्णादि-
धातुविद्या, भूगर्भविद्या, भूगोलविद्या, खगोलविद्या, मन्त्रविद्या, धनुर्विद्या,
संगीतविद्या, इत्येवं विद्याः सहस्रशो विद्या आचमिः प्रकाशिताः । उपनिषदः
केवलमध्यात्मविद्याः । श्लोकाः मनोहरैश्छन्दोभिर्भवादीनां सम्राजां महात्म-
नाञ्च यशोवर्धनपरकाः पद्यात्मका ग्रन्थाः । सम्प्रति यथा बान्मीकिराचितं रामा-
यणं महाकाव्यं विद्यते । तथा रघुवंशादि । सूत्राणि अतिसूक्ष्मरूपेण पाणिन्यानि
नालकाभ्यासार्यानि शाण्डिल्यलार्थ्यायनादीनि । सम्प्रति यथा पाणिनीयसूत्रा-
दीनि । अनुव्याख्यानानि ग्रन्थस्याशयद्योतकानि संक्षिप्तानि वृत्तिस्वरूपाणि ।
व्याख्यानानि विस्तरेण ग्रन्थार्थप्रकाशकानि महाभाष्यस्वरूपाणि । यथा सम्प्रति
पाणिनीय व्याकरणमुद्दिश्य पतञ्जलिकृतं महाभाष्यम् । वेदान्तसूत्राणां शाङ्क-
रभाष्यमित्येवं विधानि ।

एतानि सर्वाणि विज्ञानानि अस्यैव जीवात्मनो निःश्वसितानि । अप्रय-
त्नोपपादितानि । ईदृग्भात्मानं प्रथमं विजानीहि मैत्रेयि ।

। अत्र वेदशब्दो ज्ञानार्थकः विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः । अत्रां वेदो ज्ञानम् । यजुर्वेदो यजुषां ज्ञानम् । सामवेदः साम्नां ज्ञानम् । अथर्वाङ्गिरसः अथर्वणां मन्त्राणां । अङ्गिरसः अङ्गीचामसौ रसोङ्गिरसः । अङ्गी प्रधानः । रसो माधुर्यम् । अथर्वा न विद्यते यर्वा विनाशो यस्य सः अथर्वाऽविनश्वरो जगद्दीशः । तत्प्रतिपादको वेदोपि अथर्वा । यथा परमात्मनि वेदे च ब्रह्मशब्दः । अथर्वणां मन्त्राणां प्रधानमाधुर्यमिति अथर्वाङ्गिरसः । ब्रह्मणा प्रदत्तानां तेषां वेदानां ज्ञानं जीवात्मनः सकाशादेव निःसृतमिति प्रशंसा जीवात्मनाम् । तथाहि—महतो विदुषोऽभिप्रायं विविधशास्त्रसम्बन्धनिगन्धगूढीकृतं यदि कोपि लोकोत्तरः शिशुरनायामेन प्रकटयितुं समर्थो भवेत्तर्हि सोऽप्यतिशयितः प्रशंसनीयः । यदि पाणिनेरष्टस्य रेखागणितस्य वा सर्वार्थं धारयेत्कोपि शिशुस्तर्हि स कथमिव न जगतां वन्द्यो भवेत् । तथैव सर्वज्ञस्य परमात्मनो महद्ब्रह्मज्ञानं निखिलार्थप्रतिपादकं वेदनामधेयं यदि सम्यग धारयितुं बोधुश्च शक्नुयाज्जीवात्मा तर्हि सोपि ब्रह्माद्यतरएव । अहो ईदृशस्य ऋगादिलक्षणस्य वेदस्यापि अनायासप्रचारको जीवात्मनेति प्रशंसार्थमिदं वचनम् । ऋचादयो जीवात्मना प्रकाशिता इत्यभिप्रायेण एषोक्तिः । ऋचादीनां चतुर्णामिन्द्रोक्तत्वामिति सर्वैरेकमत्या मिद्वान्तितत्वात् । ननु आत्मशब्देन परमात्मापि गृह्यते । तद् ग्रहणेन सर्वमसमज्जस परिहृतं भवतीति कथमस्थाने बहुलप्रयासः । न । न परिहृतं भवति । तथाहि—नदीतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि परमात्मना प्रकाशितानि । इमानि तु काले काले ऋषिभिराचार्यैर्कविभिश्च प्रणीयन्ते । ननु ऋगादिष्वेवाऽलङ्कारेण सूर्यादिदेवविवाहादिविवरणरूप इतिहासः । सृष्टिविसृष्ट्युत्पत्तिवर्णनरूपं पुराणम् । ब्रह्मविद्या, युद्धविद्या, कृषिविद्या, मधुविद्या इत्यादयो विविधा विद्याः । ईशावास्यादय उपनिषदः । ब्रह्मपञ्चप्रतिपादकमन्त्ररूपः श्लोकः । परस्परसर्ववेदमम्बन्धात्मकानि सूत्राणि । क्वचित्संक्षेपेणार्थं कथयित्वा पुनस्तमेवार्थं विस्तरेण व्याचक्षते मन्त्राः । तान्येव संक्षिप्तानि अनुव्याख्यानानि विस्तृतानि च व्याख्यानानि । इत्येवमाशयेन कथं न भवितव्यम् । समाधत्ते । इह हि कतिपयश्लोकसूत्रादयः संज्ञा अर्वाचीनैराचार्यैः परिभाषिताः । तथा च—प्रकरणमपि जीवात्मानमेव लक्षयति ॥ १० ॥

स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वेकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रूपाणाञ्चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां सङ्कल्पानां मन एकायनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

अनुवाद—यह आत्मा ऐसा है। जैसे सब जलों का समुद्र एकायन है (मुख्य आश्रय) एवम् सब स्पर्शों का त्वचा एकायन है। एवम् सब रसों का जिह्वा एकायन है। एवम् सब गन्धों का नासिका एकायन है। एवम् सब रूपों का चक्षु एकायन है। एवम् सब शब्दों का श्रोत्र एकायन है। एवम् सब सङ्कल्पों का मन एकायन है। एवम् सब विद्या का हृदय एकायन है। एवम् सब कर्मों का हाथ एकायन है। एवम् सब आनन्दों का उपस्थ एकायन है। एवम् सब विसर्गों का पायु एकायन है। एवम् सब सागों का चरण एकायन है। एवम् सब वेदों का वाणी एकायन है। जिस प्रकार के ये सब दृष्टान्त हैं वैसा ही सब ज्ञान का आत्मा एकायन है ॥ ११ ॥

पदार्थ—मत्र विद्याओं का आधार एक जीवात्मा ही है इसको अनेक दृष्टान्त में यहाँ कहते हैं। हे मैत्रेयि ! (मः) इस जीवात्मा को इस प्रकार जानो (यथा) जैसे (सर्वासाम्) सब (अपाम्) नदी, सरोवर, पत्थल, बाढ़ी, कूप, तड़ाग आदि जलारायस्थ जलों का (समुद्रः) समुद्र (एकायनम्) प्रधान आश्रय है। "एक अयन=एक प्रधान मुख्य। अयन=अश्रय रहने की जगह जैसे इस पृथिवी पर सकल जलों का एक आश्रय समुद्र है। समुद्र से वाष्परूप हो मेघ बन इतस्ततः पानी बरसता है। पुनः वे सब जल नदी द्वारा समुद्र में गिरते हैं। तद्वत् सकल शास्त्र वा विज्ञान का एक आश्रय यह जीवात्मा है। इसी जीवात्मा से सारी विद्याएं

निकली हैं और पुनः उन सब विद्याओं को यही आत्मा ग्रहण करता है । आगे भी ऐसा ही आशय समझना (एवम्) इसी दृष्टान्त के समान इस जीवात्मा का भी जानो । हे मैत्रेयि ! (सर्वेषाम्+स्पर्शानाम्) सब कोमल, कठोर, रुद्र, चिक्क आदि स्पर्शों का (त्वग्+एकायनम्) त्वचा ही एक मुख्य आश्रय है । त्वगिन्द्रिय से ही स्पर्श का बोध होता है । एवम् ऐसा ही इस आत्मा को ज्ञानो और (सर्वेषां+रसानाम्) सब कषाय, मधुर, तवण, कटु, तिक्त, अम्लादिक रसों का (जिह्वा+एकायनम्) जिह्वा=जीभ एक आश्रय है (एवम्) वैसे ही (सर्वेषाम्+गन्धानाम्) सब सुगन्ध और दुर्गन्धों का (नासिके) दोनों नासिकाएं (एकायनम्) मुख्यआश्रय हैं (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषाम्+रूपाणाम्) श्वेत, पीत, हरित, लोहितादिक रूपों का (चक्षुः+एकायनम्) नयनेन्द्रिय एकायन है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्+शब्दानाम्) तार, गम्भीर, मन्द्र, शब्दात्मक ध्वन्यात्मक आदि सब शब्दों का (श्रोत्रम्+एकायनम्) श्रोत्र एक अयन है (एवम्) एवम् (सर्वेषाम्+सङ्कल्पानाम्) सब सङ्कल्प विकल्पों का (मन+एकायनम्) मन प्रधानाश्रय है (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषाम्+विद्यानाम्) सम्पूर्ण शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि विद्याओं का (हृदयम्+एकायनम्) हृदय एकायन है (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषाम्+कर्मणाम्) मग उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) अवक्षेपण (नीचे फेंकना) संप्रसारण (फैलाना) संकोचन (समेटना) आदि जितने कर्म हैं उनका (हस्तौ+एकायनम्) हस्त ही एकायन है (सर्वेषाम्+आनन्दानाम्) सब आनन्दों का (उपस्थ+एकायनम्) उपस्थेन्द्रिय एकायन है (सर्वेषाम्+विसर्गानाम्) उदरस्थ मल त्याग का (पायुः+एकायनम्) मलत्यागेन्द्रिय एकायन है (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषां+अध्वनाम्) सब मार्गों का (पादौ+एकायनम्) दोनों पैर एकाश्रय हैं क्योंकि पैरों से ही पथ छोड़े जाते हैं (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषाम्+वेदानाम्) सकल विज्ञान शास्त्रों का वा श्रुगादि वेदों का (वाग्+एकायनम्) घ्राणी एकायन है । जैसे ये दृष्टान्त वैसे ही आत्मा के विषय में भी जानो यही आत्मा सब शास्त्रों का मुख्यआश्रय है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सर्वासां विद्यानां जीवात्मैवाऽऽधारोऽस्तीति बहुमिर्दृष्टान्तैर्व्याचष्टे । यथा येन प्रकारेण सर्वासां नदीसरःपञ्चलवापीकूपतडागादिगतानाम्

अथा जलानाम् सद्युद्रः जलनिधिः एकायनम् । एकं प्रधानं मुख्यम् “एके-
 भुरयान्पञ्चैरलाः” इत्यमरः । अथर्न स्थानमाश्रयः यन्ति गन्धन्ति योत्ययनम् ।
 यथा सर्वेषां जलानामेकाश्रयः सद्युद्रोऽस्ति । एवमेव अयं दृष्टान्तो यथा वर्धते
 तथैश्वर्यात्मा सर्वेषां ज्ञानानामाधारोऽस्ति । पुनः सर्वेषां कामलयठोररुचि-
 वरुणादीनाम् स्पर्शानाम् यथा येन प्रसारेण त्वम् त्वगिन्द्रियम् एकायनम्
 सुरयाश्रयः । सर्वे स्पर्शा त्वगिन्द्रियेण गृह्यन्ते । एवम् सर्वेषां कषायमधुर-
 लवणकटुतिक्ताम्लादीनाम् रसानाम् जिह्वा रसना एकायनम् । एवम् सर्वेषां
 गन्धानां सुगन्धगुर्गन्धादीनां । यथा—नासिके द्वे नासिके । इन्द्रियम् एकायनम् ।
 एवम् सर्वेषां रूपाणाम् चेतपीतहरितलोहितादीनाम् । यथा चक्षुरिन्द्रियमेका-
 यनम् । एवं सर्वेषां शब्दानाम् श्रोत्रमेकायनम् । वमूष सर्वेषां सङ्कल्पादीनाम्
 मन एकायनम् । एवम् सर्वाणाम् व्याकरणन्यायादीनाम् विद्यानाम् हृदयम्
 एकायनम् द्वियन्ते स्थाप्यन्ते पदार्था अस्मिन्निति हृदयम् एकायनम् । सर्वेषां
 कर्मणां हस्तौ एकायनम् । एवम् सर्वेषामानन्दानाम् उपस्थः एकायनम् । सर्वेषां
 विसर्गाणां मलत्यागानाम् पायुः एकायनम् । एवम् सर्वेषामध्वनाम् पादौ
 एकायनम् । सर्वेषां वेदानां वेदशब्दानाम् समुच्चारणे वाग् वाणी एकायनम् ।
 एवम् यथा इमे दृष्टान्ताः सन्ति । तथैव अयमात्मा सर्वेषां ज्ञानानामेकायनं
 वर्धते ॥ ११ ॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत
 न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात् । यतो यतस्त्वाददीतः लवणमेवैवं
 वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो
 भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती-
 त्यरे ब्रवीमीति होवाच व्याज्ञत्रत्यः ॥ १२ ॥

अनुवाद—इन तीन कष्टिकाओं का भाव भूमिका में विस्तार से वर्णित है ।
 अतः यहाँ मक्षेप से लिखना हुआ ॥ १२ ॥

पदार्थ—(स+यथा) यहाँ पुनः दृष्टान्त दत्त हैं—जैसे (उदके+प्रास्तः+

सैन्धवसिल्यः) जल में फेंका हुआ निमक का टोला (उदकम्+एव+अनु+विलीयेत) जल में ही सर्वथा विलीन अर्थात् मिल जाता है (अस्य+न+त+उद्ग्रहणाय+इव+स्यात्) मानो पूर्ववत् अब उसके ग्रहण के लिये उपाय नहीं हो सकता (यतः+यतः+तु+आदद्रीत) जल दो जहां २ से लगे वहां २ (लवणम्+एव) लवण ही प्रवीत होगा (अरे) अरे मैत्रेयि ! (एवम्+चै) इसी दृष्टान्त के समान (इदम्+महद्भूतम्) यह महान् भूत अर्थात् महान् आत्मा (अनन्तम्+अपारम्) अनन्त और अपार है (विज्ञानघनः+एवम्) वह विज्ञानमय ही है । अरे मैत्रेयि ! (एतेभ्यः+भूतेभ्यः+समुत्थाय) यह इन महाभूतों से ही उठकर (तानि+एव+अनु+विनश्यति) इसी में विनष्ट हो जाता है (न+प्रेत्य+सज्ञा+अस्ति) मरकर इसका ज्ञान वा नाम नहीं रहता (इति+अरे+अवीमि+इति+होवाच+याज्ञवल्क्यः) अरे मैत्रेयि ! ऐसा मैं कहता हूँ, इस प्रकार याज्ञवल्क्य बोले ॥ १२ ॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव सा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञा-
ऽस्तीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर-
इदं विज्ञानाय ॥ १३ ॥

अनुवाद—वह मैत्रेयी बोली कि “मरकर पृथक् संज्ञा नहीं है” यहाँ ही श्रीमान् ने मुझे मोहित किया है । तब वह याज्ञवल्क्य बोले कि अरे मैत्रेयि ! मैं मोहवश नहीं कहता हूँ । निश्चय अरे ! विज्ञान के लिये यही पथ है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(सा+ह+उवाच+मैत्रेयी) वह मैत्रेयी बोली (अत्रैव+मा+भगवान्+अमूमुहन्) श्रीमान् ने यहाँ ही मुझे मोहित किया है । कहा पर मोहित किया सो कहते हैं—(न+प्रेत्य+सज्ञा+अस्ति) मर करके कोई पृथक् संज्ञा नहीं रहती, यह जो आपने कहा है यहाँ ही मुझे बड़ा मोह हो रहा है । यदि मरण के पश्चात् जीव का अस्तित्व न रहेगा तो इसमें यह फलित होगा कि इस संचात शरीर से भिन्न जीव नाम का कोई वस्तु नहीं अतः हे स्वामिन् ! आपके वचन से मैं कम्पायमान हो रही हूँ (स+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः) तब वह याज्ञवल्क्य बोले (न+चै+अरे+अहम्+मोहम्+अवीमि) अरे मैत्रेयि ! मैं मोहवश यह नहीं कहता हूँ किन्तु निश्चय

ऐसी ही बात है । (अलम्+वै+अरे+इदम्+विज्ञानाय) अरे मैत्रेयि ! निश्चय विज्ञान के लिये यही पर्याप्त अर्थान् पूर्ण है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—सैयं प्रचोषिता मैत्रेयी होवाचात्रैवैकस्मिन्नेव वस्तुनि ब्रह्मात्मनि पूर्वं विज्ञानघन एवेति प्रतिज्ञाय पुनर्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति विरुद्धं च दन्मगवान्पू-
जावाग्मा माममुमुहन्मोहितवानित्युक्तः सः याज्ञवल्क्यो ह प्रतिवचनमुवाच ।
अरे मैत्रेय्यह मोहं मोहनवाक्यं नैव ब्रवीमि न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति तु विशेषणा-
नामावस्यैवोक्तत्वादत अरे मैत्रेयीदं शृणु यन्महद्भूतमनन्तमपारं ब्रह्मानघनस्वरूपं
यथाव्याख्यातमिदमेव विज्ञानाय विज्ञातुमलं युक्तं स्वप्रकाशत्वादिति याज्ञवल्क्य
उक्तवानित्यर्थः ॥ १३ ॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर
इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति
तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य
सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणु-
यात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानी-
यात् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे
केन विजानीयादिति ॥ १४ ॥

पदार्थ—(यत्र+हि+द्वैतम्+इव+भवति) अरे मैत्रेयि ! इसको निश्चय जानो
कि जहा द्वैत के समान भाव होना है (तत्) वहा (इतर+इतरम्+पश्यति)
इतर इतर को देखता है अर्थात् अपने से भिन्न अन्य को देखता है (तत्+इतरः+
इतरम्+जिघ्रति) वहा इतर इतर को सूँघता है (तत्+इतरः+इतरम्+शृणोति)
वहा इतर इतर को सुनता है (तत्+इतरः+इतरम्+अभिवदति) वहां इतर इतर
को कहता है (तत्+इतर+इतरम्+मनुते) वहा इतर इतर को मानता है (तत्+
इतर+इतरम्+विजानाति) वहां इतर इतर को जानता है परन्तु (यत्र+वै+अस्य+
सर्वम्+आत्मा+एव+अभूत्) निश्चय जहा इस ब्रह्मचित् पुरुष का सब ही आत्मा

होगया है (तत्+केन+कम्+परयेत्) वहाँ किससे किसको कौन देखेगा (तत्+केन+कम्+जिघ्रेत्) वहाँ किससे किसको कौन संधेगा (तत्+केन+तम्+शृणुयात्) यहाँ किससे किसको कौन सुनेगा (तत्+नेन+कम्+आभिवदेत्) वहाँ किससे किसको कौन बहेगा (तत्+केन+कम्+मन्वीत्) वहाँ किससे किसको कौन मानेगा (तत्+केन+कम्+विजानीयात्) वहाँ किमसे किसको कौन जानेगा (येन+इदम्+सर्वम्+विजानाति) जिससे इस सब को जानता है (तम्+केन+विजानीयात्) इसको किससे जानेगा (विज्ञातारम्+अरे+केन+जानीयाद्+इति) अरे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किलमे जानेगा ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अथैवमुक्तं विशेषविज्ञानाभावमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकुर्वन्नाह—यत्र यस्मिन्नविद्याविलासकाले हि प्रसिद्धं द्वैतमिवैरुस्मिन्नेराऽऽत्मनि भासमानं भवति तत्तत्र तस्मिन्काल इतरो प्राप्तेवरं गन्धं घ्राणेन जिघ्रति तद्विशेषविज्ञानेन संबध्यते । एवमेव तदितर इतरं पश्यतीत्यादौ योजनीयम् । एतावतैतेभ्यो भूतेभ्य इत्यत्र सूचितो भूताविद्योपाधिरुः संसारो व्याख्यातः । इदानीं महद्भूतमनन्तमपारमित्यादिसूचितं ब्रह्मात्मदर्शनं व्याख्यास्यन्भूतोपाध्यभावेन विशेषविज्ञानलक्षणसंसारभाव इति व्यतिरेकमाह—यत्र वा इति । यत्र यस्यां विद्यावस्थायामस्य ब्रह्मविदः सर्वं कर्तृकर्मक्रियाफलादिकं प्रत्यग्यायात्म्यविज्ञानाविलापितं सदात्मैवाभूत्तत्र तस्यामवस्थायां केन करणेन कः कं विपर्यं जिघ्रेन्नकोऽपि केनापि किमपि जिघ्रेत्कारणाभावात् । तथा तत्केन कं पश्येदित्यादि । एवं केवल्यावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतिपाद्य तत्रैव कैमुतिकन्यायं दर्शयितुमविद्यावस्थायामपि साक्षिणो ज्ञानानिपयत्वमाह—येनेति । यत्राप्यविद्यावस्थायामन्योन्यं जानाति तत्रापि येन कूटस्थबोधेन व्याप्तो लोकः सर्वं जानाति तं साक्षिणं केन करणेन को वा विज्ञाता विजानीयाश्च केनापि चक्षुरादेर्विषयग्रहण एवोपचीणत्वात् । किं पुनर्वक्तव्यं विद्यावस्थस्यासंसारिण आत्मनो ज्ञानानिपयत्वमित्याह—विज्ञातारमिति । अरे मैत्रेयि यः पुनः केवलतोऽद्वयो विद्यावस्यो विज्ञातैव वर्तते तं विज्ञातारं केन विजानीयान्न केनापीत्यर्थः ॥ १४ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

षाष्ठे संसारे पृथिवीं, वायुं, बलारकं, सूर्यं, नक्षत्रं, पर्वतं, नदीं, समुद्रं, विविधान् पशुपक्षिणो वनस्पतिमोषविम् तथाऽसंख्येषान् लघून् कीटान् पतङ्गान् सरीसृगान् एषविधान्यन्यानि वस्तूनि, आन्तरिके, चक्षुः नासिकां, श्रवणं, जिह्वां, हस्तमुदरं, पायुमुपस्थं, धीर्यं, रक्तं, मांसमस्थि च यदा त्व समीक्षते तदा त्वं किमपि वैचिन्त्यमन्योन्याश्रयं च सुनिपुणतया अद्वयसि । द्वित्रीणि क्षणानि यदि वायुरस्मात् क्वाप्यन्यत्र पराक्रियेत तदाः किं प्राण्युः केचि प्राणिनः । एतेन त्वं किमध्यवसास्यसि । वायुर्जीवनमस्तीति । ग्रीष्मर्तौ नृपिता जीवा यथेकं दिवा पानीयं नाऽऽप्तादयेयुस्तर्हि ते किं प्राणान् धारयिष्यन्ति ? न । एतेन त्वं किमेनुमास्यसि । जलं जीवनमस्तीति । यदि त्वं विंशतिं वासराणि सूर्योनीरूक् सन्नुपमसेः तदा त्वं किं भविष्यसि ? न । ओषधयो जीवनमस्तीति तेन दृष्टान्तेन कदाचित्त्वं निर्धारयिष्यसि । अन्यच्च यदि परमो धारि तेजश्च न स्यात्तर्हि कथं वसुन्धरा जनयेत । यदि दिवाकरो न भवेत्तर्हि कथं समीरो भवेत् । कुत उष्णता । उष्णतां विना कुतो जलस्य वाष्परूपेण परिणामः । तद्भावे मेघाभावः । मेघाभावे जलामावः । जलामावे ओषध्याभावे । ओषधीनामाभावे प्राणिनामभावः । यथा ग्रामाय कृत्रिमं गृहम्, कूपः, तद्वागः, अन्नोत्पादनम्, परवादिरक्षणम् । तथा यस्मादि, उपानहादि । एवं तत्तत्पदार्थानां कर्तारो विभिन्ना मनुष्या अपेक्षिताः सन्ति । यथेदं सर्वं परस्परं साहाय्यरुतां व्रजति । एवमेवास्मै जगते सूर्यवाग्नि-प्रभृति सर्वमाकाङ्क्षितमन्योन्यसहायकञ्च । यथा गृहकूपरामादि ग्रामस्य रामेष्वाधिकृता जनेयति तथैव सूर्याद्यपि जगतः । पृथिवी च कया शक्त्या धृता आत्मानं धारयेत् । अन्यच्च-घातजगदेव सर्वं भाति सूर्याभावे न परयानि वायवभावे न स्पृशति । जलाभावे न रसयति । पृथिव्यभावे न जिघ्रति । यदि इमानि भूतानि न स्युः । तर्हि सत्र जीवनं किं स्यात् । शरीरस्य का दशा भवेत् । सम्प्रति त्वं वितर्कस्व त्वं कोऽसि । कैः यदर्थं रचितोऽसि । अहो बाह्यं जगद्विना त्वं क्षणमपि जीवितुं न पारयसि । एतेन वायवजगद्रूप एवाहमस्मीति कदाचित्त्वं निर्वर्ण्यसि । परं न तथास्मिन् । दृश्यतामिह पृथिवी जडास्ति । चेतनं विना कथमुष्णप्रदो भवेत् ।

इत्थमस्ति कोपि महान् चेतनोयश्चेतयति सर्वमित्यनुमीयते । कीदृक् स चेतनोऽस्तीति न प्रतीयते । यदि स सर्वव्यापी चेत् कोपि ज्ञानी बोद्धुं तं न शक्नुयात् । कथमिति-व्यापी सन् किं करोति । यदि तच्चच्छक्तिं प्रवच्छति तर्हि कथमनावृष्टिः । कथं दुर्बलबाधा । कथं विष्वङ् व्याधयः । अन्यच्च चेतनोऽऽनुभवतीति सर्वसाद्वन्ततया सूर्यत्रिरणैः संतप्तः कथं न दह्येत कथं न दुःखमनुभवेद्वा । कथं नासंख्येयैः पदार्थै राहितश्चूर्णो भवेत् । कथं न अनुचितायाः प्रवृत्तेर्जीवान् अवबुध्यताम् । यदि व्यापी भूत्वापि स किमपि न करोति । तर्हि मृधा तस्य व्यापकता । कथं न सुखं शेते सर्वं सप्ताहृत्यैकस्मिन्स्थाने इत्याद्य-सदनुमानं भवति ।

जब बाह्य संसार में पृथिवी, वायु, जलाहक, सूर्य, नक्षत्र तथा पर्वत, नदी, समुद्र, विविधपशुपक्षी वनस्पति तथा ओषधि अन्य असंख्य लघु २ फीट पतङ्ग मरीचूरादि वस्तुओं को देखते हैं और आन्तरिक संसार में चक्षु, नासिका, कर्ण, जिह्वा, हस्त, उदर, पायु, उपस्थ, वीर्य, रक्त, मांस, अस्थि आदि देखते हैं । क्या तुम घड़ी निपुणता के साथ इन सबों में विचित्रता और परस्परभय को भी कुछ निहारते हो ? देखो, यों तीन क्षण यदि वायु यहां से कहीं अन्यत्र-हटा दिया जाय तब कोई भी प्राणी जीसकते हैं ? इससे तुम क्या निश्चय करोगे ? वायु ही जीवन है ऐसा मैं निश्चय करूंगा । ग्रीष्मऋतु में जलनृपित जीव यदि एक दिन पानी न पावें तब क्या वे प्राण रह सकते हैं ? नहीं इससे तुम अनुमान करोगे कि जल ही जीवन है । यदि तुम स्वस्थतया निरोग रहने पर २० दिन उपवास करो तो क्या तेरी सत्ता रहेगी ? कदापि नहीं । ओषधियां ही जीवन हैं कदाचित् तुम उस दृष्टान्त से निर्धारण करोगे । और भी देखो, यदि वायु, जल और तेज न होवें तो पृथिवी कैसे उत्पन्न कर सकती है । यदि दिवाकर न होवे तो वायु कैसे बढ़ सकता है, उष्णता कहां से आ सकती है । उष्णता के बिना जल कैसे वाष्प-रूप में आ सकता है । उसके बिना मेघ का अभाव, मेघ के बिना जलाभाव, जलाभाव से ओषधियों का अभाव, ओषधियों के बिना प्राणियों का अभाव हो जायगा । देखो ईश्वर का कैसा प्रबन्ध है । जैसे ग्राम के लिये कुत्रिस गृह, कूप, तड़ाग, अन्नोत्पादन, पश्यादिरक्षण तथा वस्त्र, उपानह, एवं-भिन्न २-उपानहादि

सम्पादक मनुष्य की आवश्यकता है । और ये परस्पर सहायक होते हैं । तद्वत् इस जगत् के परस्पर सहायक सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी, जल, मेघ आदि पदार्थ हैं । जैसे गृह, धूप, आरामादि मिलकर ग्राम की शोभा बढ़ती है तद्वत् सूर्यादि पदार्थ मिलकर जगत् की शोभा तथा अस्तित्व है । पृथिवी किस शक्ति से धृत होकर अपने को धारण कर सकती है । और भी देखो । जब सूर्य नहीं रहता तब कोई भी नहीं देख सकता । पृथिवी के अभाव में सूख नहीं सकता । जलाभाव में स्वाद नहीं ले सकता यदि ये महाभूत न हों तो तुम्हारा जीवन क्या होजाय । शरीर की दशा क्या हो । सम्प्रति तुम्हें तर्क करना चाहिये । तुम कौन हो किन पदार्थों में रचित हो । आश्चर्य है बाह्य जगत् बिना क्षण भी तुम जीवित नहीं रह-सकते हो इससे कदाचित् बाह्य जगद्रूप ही मैं हूँ ऐसा निश्चय करोगे । परन्तु ऐसा नहीं है । यहाँ देखो ! पृथिवी जड़ है । चेतन बिना कैसे उत्पन्न कर सकती । सूर्य जड़ है । चेतन बिना कैसे उष्णप्रद हो सकता इस प्रकार अवश्य कोई महान् चेतन है । जो सब को चेतनयत् बना रहा है ऐसा अनुमान होता है । इति ।

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्ये पृथिव्यै सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं शरीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १ ॥

अनुवाद—यह पृथिवी सब (आकाशादि) भूतों का मधु (कार्य) है । और ये आकाशादि महाभूत भी पृथिवी के मधु (कार्य) हैं । यद्वा “यह पृथिवी सकल जीवों को मधुयत् प्रिय है और ये सब प्राणी पृथिवी के मधुयत् प्रिय हैं” । और जो यह पृथिवी में तेजोमय, अमृतमयपुरुष है और जो यह अध्यात्म-सम्बन्धी शारीर तेजोमय, अमृत पुरुष है वह दोनों का मधुयत् प्रियतम है और ये दोनों इसके प्रिय हैं । वह यही है जो यह आत्मा है । यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ १ ॥ ❀

❀ इसी प्रकार आगे सर्वत्र अनुवाद समझना ।

पदार्थ—(इयम्) यह (पृथिवी) पृथिवी (सर्वेषाम्+भूतानाम्) मय आ-
 कारा, वायु, तेज, जल इन महाभूतों का (मधु) मधु=कार्य है अर्थात् संयोग है
 और (सर्वाणि+भूतानि) सब आकाशादि महाभूत (अस्वै+पृथिव्यै) इस पृथिवी
 का (मधु) मधु=कार्य संयोग है (इयं+पृथिवी) यह पृथिवी (सर्वेषाम्+भूतानाम्)
 सकल प्राणियों का (मधु) मधु के समान प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) सब
 प्राणी जीव (अस्वै+पृथिव्यै) इस पृथिवी के (मधु) मधुगन् प्रिय है अर्थात्
 परस्पर एक दूसरे के प्रिय हैं । (च) और (अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) मधु-
 मयी पृथिवी में (य.+अयम्) जो यह (तेजोमय) अत्यन्त तेजस्वी तथा (अमृत-
 मयः) सर्वदा अमृतमय एक रस अविनश्यर (पुरुष) पुरुष है वह तो मधुतम है ।
 क्योंकि यह मधुओं का भी मधु है (च) और इसी प्रकार (अध्यात्मम्) इस
 व्याप्ति शरीर में (य.+अयम्) जो यह (शरीरः) स्थूलशरीर व्यापी (तेजोमयः)
 तेजोमय=अति तेजस्वी (अमृतमयः) अविनश्यर (पुरुषः) पुरुष है वह भी
 मधुतम अर्थात् अतिशय मधु है । ये अपिदैवत और अध्यात्म दोनों एक
 ही हैं । यहां दोनों में व्यापकता दिखलाने के लिये ऐसा वर्णन है (सः)
 वह मधुमय पुरुष (अयमेव) यही है (य.+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्व-
 व्यापी है (इदम्+अमृतम्) अमृत अविनश्यर सदा एक रस रहने वाला है
 (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सब है ॥ १ ॥

भाष्यम्—इयमिति इयं दृश्यमाना पृथिवीतरैर्जलादिभूतैः संयुक्ता सत्येव
 पृथिवीशब्दवाच्या भवति । अत इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां यद्वा प्राणिनाम् ।
 अग्नेजोवाय्वाकाशनाम् मध्वस्ति—सारो वा कार्यम्वस्ति । न स्वतन्त्रेत्यर्थः ।
 यद्वा मध्विव प्रियास्ति । सर्वेषां भूतानामियं पृथिवी मध्विव प्रियास्ति । तथा
 निपरीतेन सर्वाणि भूतानि पृथिव्याः मध्विव प्रियाणि सन्ति । एवमेव अस्यां
 पृथिव्यां योज्यं तेजोमयोऽमृतमयो पुरुषोऽस्ति स एवं पृथिवी विकारे शरीरेपि
 तस्य सत्त्वात् विकारेऽपि व्यापकतां दर्शयन्नध्यात्ममारभते । अयाध्यात्मम् ।
 शरीरः पार्थिवे शरीरे भवः शरीरोऽमृतमयः पुरुषोऽस्ति । स मधुतमम् । अग्रे
 विस्पष्टम् । यथा विविधपदार्थानां भिन्नप्रकृतीनां भिन्नरूपाणां भिन्नाऽऽकृतीनां
 रसानां समूहा मध्वास्ति । तदपि मधुमक्षिकाभिरेव स्वादित्वं विनिर्मितञ्च मधु

भवेन्नान्यैः । एवमेव भिन्नप्रकृत्वादीनामितरेषां भूतानां समूह एषा पृथिवी वर्तते । ईश्वरेण रचिता मत्स्येव नान्यैरिति मधु शब्देन व्यज्यते । विपरीतञ्च दर्शयति । इमानि चेतराणि भूतानि अस्य पृथिव्यै अस्याः पृथिव्याः मध्वास्ति सारोऽस्ति । पृथिव्यांशानां सर्वत्र सत्त्वात् । यद्वा प्रियाणि सन्ति मध्विव । यद्वा सर्वेषां जीवानां निवासस्थानादियं पृथिवी प्रियास्ति मध्विव । एवमेव-स्रोत्पादितैर्विनिधैरन्नजीवानि या पालयत्यतस्तस्या अपि सर्वाणि भूतानि प्रियाणि सन्ति । यद्वा उदारपुरुषस्य कोऽपि दीपमानमपि धनं नाऽऽददीत् तदा तस्योदारताऽप्रकटीभूता दुःस्वायैव भवति । अतो यं पृथिव्याः सकाशात् यद् गृह्णामः स तस्या उपकार इव । यथा मधु सर्वेषां स्पृहणीयं ग्रहणीयं भवति । यदि किमपि मधुनामपि मधुस्यात्तर्हि तत्स्पृहणीयतमं ग्रहणीयतमञ्च भवेत् । ब्रह्म खलु मधुनोऽपि मधु वर्तते इति अग्रे व्याकरोति । अस्यां पृथिव्यां मधु मय्यं पृथिव्यामित्यर्थः । यश्चापम् तेजोमयः । प्रजुरजावी । तेजो विनश्वरं दृश्यते । अत उच्यते । अमृतमयः । अविनश्वरः । न कदापि म्रियते इत्यर्थः । ईदम् पुरुषः पुरुषेषु सर्वेषु पदार्थेषु लीनो यो भाति ॥ मधुतमोऽस्तीत्यर्थः । मधुतमशब्दस्यप्रयोगो गुप्तोऽस्ति । परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विपः । तथा च अध्यात्मम् । अध्यात्मं निरूप्यते । अस्मिन् व्यतिशरीरे योज्यं शारीरः । शरीरव्यापी स्थूलमधुमयः । पृथिव्यंशाधिक्यात् शारीर इत्युक्तिः । तेजोमयः अमृतमयः पुरुषोऽस्ति । सोऽपि मधुतमः । उभयत्रैक्यात् । सोऽयमेव । योयमात्मा । योऽयं परमात्मा । अतति व्याप्नोति सर्वत्रात्मा । इदमेवामृतम् । इदमेव ब्रह्म । इदं ब्रह्मैव सर्वम् सर्वेषु पदार्थेषु । ईश्वरस्यैव प्रधानता । अतः सर्वपदेन व्यवह्रियते । यथा कुशलः परोपकारी ग्रामणीः सर्वो निगद्यते ॥ १ ॥

भाष्याशयः—पृथिवी=प्रथम ईश्वर की व्यापकता पृथिवी में दित्तत्वात् है । क्योंकि पृथिवी बहुत स्थूल और अति समीपी है । अति स्थूल होने से ही 'पृथिवी' ऐसा नाम होता है । यह पृथिवी क्या है ? नि सन्देह सन आकाश वायु आदि भूतों का समूह है । स्वतः एकत्व पृथिवी नहीं है, किन्तु अनेक वस्तुओं के संयोग से बनी हुई है अतः मधु कार्य कहा गया है ।

१ मधु=भिन्नस्वरूपवाले भिन्न आकृति वाले भिन्न २ स्वभाव वाले जो पदार्थ हैं

उन भिन्न रसों का समूह एक रस और एक स्वादवाला मधु होता है अर्थात् तिक्त (तीव्र) कटु (कटुआ) मधुर (मीठा) अम्ल (खट्टा) इत्यादि जितने प्रकार के वृक्ष हैं । उन सब वृक्षों से मधुमक्खियां रस लेती हैं । इस हेतु भिन्न २ प्रकार के हुए । परन्तु सब रसों को चूसकर जब मधुमक्खियां उसको बनाती हैं तो वह एक प्रकार का और एक स्वाद वाला होजाता है फिर भिन्न २ स्वाद नहीं मालूम होता । और जब मधुमक्खियां ही बनानी हैं तब ही मधु होता है अन्य पतलों में वह नहीं होगा । इसी प्रकार यह पृथिवी भिन्न २ स्वभाव वाले पदार्थों से बनी हुई है । परन्तु यहा भिन्नता कोई नहीं मालूम होती । महा एकरूपा पृथिवी ही पृथिवी मालूम होती है । और जैसे मच्छिकाओं के बनाने से ही मधु बनता है अन्य किसी प्रकार से नहीं होता । वैसे ही ईश्वर के बनाने से ही यह पृथिवी बन जाती है अन्य के बनाने से नहीं । पृथिवी बनी हुई है यह सयोगज है । इसका कर्ता ईश्वर है । यह धर्मि “मधु” शब्द से होती है । दूसरा भाव यहां यह भी ग्रहण करना चाहिये । मनुष्य पशु पक्षी आदि जितने जीव हैं उन सबों को पृथिवी प्रिया है क्योंकि इन पर रहते हैं और उनसे उत्पन्न अन्नों को ग्रहण करते हैं और इसी प्रकार पृथिवी को भी ये सब जीव प्रिय हैं । यदि ये जीव पृथिवी को प्रिय नहीं होते तो पृथिवी क्योंकर इतने पदार्थ अपने से उत्पन्न कर इन जीवों को देती है । अथवा पृथिवी का अस्तित्व इन जीवों के लिये है और ये जीव पृथिवी के लिये हैं । इत्यादि भाव का अनुमन्धान करना । भूत और मधु शब्द दो दो अर्थों के द्योतक हैं ।

भूत=आकाशादि महाभूत तथा प्राणी ।

मधु=सयोगज पदार्थ तथा मधुन प्रिय ।

और जैसे मधु सर्वप्रिय और ग्रहणीय होता है, परन्तु मधुओं का भी यदि कोई रस हो तो वह कैसे प्रिय और ग्रहणीय होगा नहीं कह सकते । ईश्वर इन मधुओं को भी अकर्ष्य मधु है अतः सर्वथा ग्रहणीय है । इस भाव को भी मधु शब्द द्योतित करता है । और यही भाव व्यापकता के साथ २ दिखलाया जाता है । “इमानि भूतानि मधु” पृथिवी के मधु ये भूत हैं क्योंकि पृथिवी के भी अंश इन भूतों में हैं । इस प्रकार सब पदार्थ एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं । सूर्य चन्द्र

नक्षत्र ये सय पार्थिव पदार्थ हैं पृथिवी में जो घातु हैं वे वे उनमें भी हैं । अब यदि सूर्यरूप पृथिवी न हो तो वायु आदि किसी की स्थिति नहीं हो सकती अतः मालूम हुआ कि पृथिवी के मधु (सयोग) सत्र ही प्राणी हैं ।

अथवा—“सय भूत” शब्द से सकल प्राणी का ग्रहण है यह पृथिवी सब भूतों का मधु है और इस पृथिवी का मधु सय भूत हैं । यह एक अद्भुत रहस्य है । यह सिद्धान्त है कि जितने जीव उत्पन्न हुए हैं वे सय ही पृथिवी, अप्, तेज, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिक कारणों से बने हुए हैं, परन्तु पृथिवी ही जीव धारण करने वाली है । अर्थात् जैसे गोधूम आदि के बीज पृथिवी से निकलते हैं । तद्वत् सम्पूर्ण जीव पृथिवी से निकले हुए हैं । और जैसे वायु आकाश सूर्य प्रकाश जल आदिक पदार्थों के रहने से ही पृथिवी से बीज निकल सकता है, अन्यथा नहीं, तद्वत् अप्, तेज, आदिक भी जीव की उत्पत्ति में सहायक है अर्थात् जैसे सृष्टि की आदि में सय स्थावर पृष्ठ आदि पृथिवी से उत्पन्न हुए हैं । वैसे ही कीट पतङ्ग से लेकर मनुष्य पर्यन्त जीव पृथिवी से बत्पन्न हुए हैं । ऐसा किसी का सिद्धान्त है ।

शरीर—यहा ब्रह्म की व्यापकता सर्वत्र दिखलाना है जगत् वो प्रकार के हैं हमने प्रथम कहा है एक अधिदैवत दूसरा अध्यात्म, अब अधिदैवत जगत् में जहा २ व्यापकता दिखलावेगे उनके अश से इस शरीर में जो भाग बना हुआ है उसमें भी वह व्यापकता दिखलाई जावेगी । यहा पृथिवी में व्यापकता कही गई है और शरीर में स्थूल भाग पार्थिव है अतः इसमें भी ईश्वर की व्यापकता कही जाती है । इसी कारण “शरीर” पद आया है ।

तेजोमय—इस पृथिवी में कौन तेज देखते हैं ? यद्यपि इसमें अग्नि के समान तो तेज नहीं दीखता, परन्तु इसमें एक अदृश्य महान् तेज है जो पृथिवी के अभ्यन्तर कार्य कर रहा है ।

अमृतमय—लोक में तेज को नष्ट होते हुए देखते हैं तो क्या वह भी वैसा तेज है इस शङ्का की निरासि के लिये अमृत पद आया है, यह कभी नहीं मरता है ॥ १ ॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चा-
यमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽय-
मात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ २ ॥

अनुवाद—यह जल सब भूतों का मधु है और इस जल का सब भूत मधु
है । जल में जो यह तेजोमय अमृत पुरुष है और शरीर में जो यह रैतस तेजो-
मय अमृत पुरुष है ये दोनों (अत्यन्त मधु, हैं) और वह यही है जो यह आत्मा
है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ २ ॥

पदार्थ—(इमाः+आपः) यह जल (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब भूतों का यद्वा
प्राणियों का (मधु) मधु=संयोग वा कार्य है वा प्रिय है । और इसके विपरीत
(आसाम्+अपाम्) इस जल का (सर्वाणि+भूतानि) सब भूत (मधु) मधु है
(च) और (अप्सु) जल में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः)
तेजोमय और अमृतमय (पुरुषः) पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) इस
व्यष्टि शरीर के मध्य (यः+अयम्) जो यह (रैतसः) जलन्यापक (तेजोमयः+
अमृतमयः) तेजोमय और अमृतमय (पुरुषः) पुरुष है वह तो अतिशय मधु-
सम है और (अयम्+एव+सः) वह यही है (यः+अयम्+आत्मा) जो यह
आत्मा व्यापक परमात्मा है (इदम्+अमृतम्) यह अमृत है (इदम्+ब्रह्म) यह
ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सब है ॥ २ ॥

भाष्यम्—इमा इति, रैतसः रैतसि जलाधिक्यात् । अन्यत् समानम् ॥२॥

अयमाग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि
मधु यश्चायमास्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायम-
ध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽ-
यमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—यह अग्नि सप्त भूतों (पृथिवी, जल, वायु और आकाश) का मधु (कार्य) और ये सप्त पृथिव्यादि भूत अग्नि के मधु (कार्य) हैं । यद्वा “यह अग्नि सब जीवों के मधुयत् प्रिय है” । और जो यह अग्नि में तेजोमय अमृतमय पुरुष है । और जो यह अध्यात्म सम्बन्धी वाङ्मय तेजोमय अमृतमय पुरुष है । यह दोनों अतिशय मधुतम हैं और इसको यह दोनों मधुतम हैं । यह यही है जो यह आत्मा है । यह असृज है । यह ब्रह्म है । यह सत् है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (सर्वेषां+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि भूतों के (मधु) कार्य हैं (सर्वाणि+भूतानि) और ये पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+अग्नेः) इस अग्नि के (मधु) कार्य हैं । यद्वा यह अग्नि (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सप्त जीवों का (मधु) मधुयत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) और ये सप्त जीव (अस्य+अग्नेः) इस अग्नि का (अग्नेः) मधुयत् प्रिय है (च) और (अस्मिन्) इस मधुमय (अग्नी) अग्नि में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः) तेजोमय अमृतमय (पुरुषः) व्यापक पुरुष है । यह अग्नि का और सर्व प्राणियों का आदेशय मधुयत् प्रियतम है । और उसको ये सप्त प्रिय है इस प्रकार परस्पर मधुयत् प्रियता है । अध्यात्म रहते हैं । इस शरीर के अन्तर घाणी में अग्नि का अधिष्ठान माना गया है । इस हेतु आगे कहते हैं—(च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म सम्बन्धी (यः+अयम्) जो यह (वाङ्मयः) वचन व्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः) तेजोमय और अमृतमय (पुरुषः) पुरुष है यह भी सत् का प्रिय है । और उस के सप्त प्रिय हैं । वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यही वह है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) यह अमृत है (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सत् ही है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अयमाग्निरिति । क्रमप्राप्तवर्गो व्यापकतां दर्शयति । एवमन्योऽन्योपकार्योपकारमाचञ्च । अस्मिञ्छरीरे वाचि प्रतिष्ठिताग्निः । तत्राप्यस्य व्यापकतेति वाङ्मय इति विशेषणम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि

भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयो मृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स
योयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ४ ॥

अनुवाद—यह वायु सब पृथिव्यादि भूतों का मधु (कार्य) है और ये सब पृथिव्यादिभूत इस वायु के कार्य हैं । यद्वा यह वायु इन सब जीवों को मधुवत् प्रिय है और ये सब जीव इस वायु के मधुवत् प्रिय हैं । और इस (मधुमय) वायु में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सम्बन्धी प्राण-व्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (यह वायु और सब प्राणी को प्रिय है और उसको ये सब प्रिय हैं) यही वह है जो वह आत्मा है । अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(अयम्+वायुः) यह वायु (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है । और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अत्यन्त+वायोः) इस वायु के (मधु) कार्य हैं । अथवा यह वायु (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुज्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है । और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अत्यन्त+वायोः) इस वायु के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+वायो) इस वायु में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (प्राणः) प्राणेन्द्रियव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है । और इसको वे सब प्रिय हैं । वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ ४ ॥

माण्यम्—अयं वायुरिति । क्रमप्राप्तां वायौ व्यापकतां दर्शयति । प्राणो प्राणेन्द्रियम् । प्राणे वायुः प्रतिष्ठित इति भावः ॥ ४ ॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ५ ॥

अनुवाद—यह आदित्य सन पृथिव्यादि महाभूतों का मधु (कार्य) है और
ये सन पृथिव्यादि भूत इस आदित्य के मधु (कार्य) हैं। अथवा यह आदित्य
सब (मनुष्यादि) जीवों का मधुवत् प्रिय है। और ये सब जीव इस आदित्य
के मधुवत् प्रिय हैं। और इस मधुमय आदित्य में जो यह तेजोमय अमृत पुरुष
है और जो यह अध्यात्मसम्बन्धी चाक्षुष्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह सबों
का मधुवत् प्रियतम है और ये सब प्राणी इसके मधुवत् प्रियतम हैं) यह वही है
जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सत्य है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(अयम्) यह (आदित्यः) सूर्य (सर्वेषाम्) सब (भूतानाम्)
पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सन पृथि-
व्यादि महाभूत (अस्य+आदित्यस्य) इस आदित्य का (मधु) कार्य है अथवा
यह सूर्य (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय
है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+आदित्यस्य) इस सूर्य
के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+आदित्ये) इस आदित्य ॥
(य+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय
पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (चाक्षुषः) चाक्षुष्यापी
(तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत्
प्रियतम है और इसके वे सब प्रिय हैं। वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह
वही है (य.+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो
यह अमृतमय है (इदम्+ब्रह्म) जो महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सत्य
ही है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अयमादित्य इति । अन्तरिक्षस्थवायोरनन्तरमादित्यः प्राप्यते ।
चाक्षुषादित्यः प्रतिष्ठितोऽस्तीत्यत आह—चाक्षुष इति ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो-
ऽयमेव स योऽयमात्मेदं ममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—यह दिशाएँ सब मनुष्यादि जीवों के मधुवत् प्रिय हैं और ये
मनुष्यादि जीव इन दिशाओं के मधुवत् प्रिय हैं । और इन दिशाओं में जो यह
तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सन्वन्धी जो यह श्रुति (कर्ण) व्यापी,
प्रतिश्रुत्क (प्रतिश्रवणव्यापी) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह इन सबों का
मधुवत् प्रियतम है और उसको ये सब मधुवत् प्रिय हैं) यह वही है जो यह
आत्मा है । जो यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(इमा+दिशः) ये पूर्व पश्चिमादिक दिशाएँ (सर्वेषाम्+भूतानाम्)
सकल मनुष्यादि प्राणियों के (मधु) मधु सदृश प्रिय हैं (सर्वाणि+भूतानि) और
ये सब मनुष्यादि प्राणी (आसाम्+दिशाम्) इन दिशाओं के (मधु) मधुवत्
प्रिय हैं (च) और (आसु+दिशु) इन दिशाओं में (यः+अयम्) जो वह (तेजो-
मयः+अमृतमयः) तेजोमय अमृतमय (पुरुषः) पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्)
अध्यात्म सन्वन्धी (श्रौत्रः) श्रुति=कर्णव्यापी (प्रातिश्रुत्कः) प्रतिश्रवणव्यापी
(तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है । यह सबों का
मधुवत् प्रियतम है और उसके ये सब प्रिय हैं (अयम्+एव+सः) यह वही है
(यः+अयम्+आत्मा) जो यह सर्वव्यापी है (इदम्+अमृतम्) यह अमृत है
(इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सब है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—इमा दिश इति । दिक्स्थेषु पदार्थेषु व्यापकतां दर्शयित्वा
दिक्षु दर्शयति । कर्णेदिशः प्रातिष्ठिताः । अत आह—श्रौत्र इति । श्रुत्योः
कर्णयोर्मवः श्रौत्रः । तथा प्रातिश्रुत्कः प्रातिश्रुत्कायां प्रातिश्रवणवेलायां भवः
प्रातिश्रुत्कः । यद्यपिदिशां श्रौत्रमध्यात्मं तथापि प्रातिश्रवणवेलायां विशेषतः
संनिहितो भवतीति प्रातिश्रुत्कविशेषणम् ॥ ६ ॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ७ ॥

अनुवाद—यह चन्द्र सब मनुष्यादि जीवों का मधुवत् प्रिय है और ये मनु-
ष्यादि जीव इस चन्द्र के मधुवत् प्रिय हैं और इस चन्द्रमा में जो यह तेजोमय
अमृतमय पुरुष है और अध्यात्मसम्बन्धी जो मनसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष
है (यह सबों का मधुवत् प्रिय है । और ये सब इसके प्रिय हैं) यही वह है
जो यह आत्मा है । यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(अयम्+चन्द्रः) यह चन्द्र (सर्वेषां+भूतानाम्) सब मनुष्यादि
प्राणियों के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (सर्वाणि+भूतानि) और ये सब प्राणी
(अस्य+चन्द्रस्य) इस चन्द्र के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+
चन्द्रे) इस चन्द्र में (य+अयम्) जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च)
और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (य+अयम्) जो यह (मानसः) मनो-
व्यापी (तेजोमय+अमृतमय+पुरुष) तेजोमय अमृतमय पुरुष है । यह सबों
का मधुवत् प्रियतम है और उसके ये सब प्रिय हैं (अयम्+एव+सः) यह यही
है (य+अयम्+आत्मा) जो यह सर्वव्यापी है (इदम्+अमृतम्) यह अमृत है
(इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सर्व है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—यथा बभ्रुवि सूर्यः तथा मनासि चन्द्रः । अन्यत् पूर्ववत् ॥७॥

इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ८ ॥

अनुवाद—यह विद्युन् मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और सब मनुष्यादि जीव इस विद्युत् के मधुवत् प्रिय हैं । इस विद्युन् में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सन्धन्वी जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है (यह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रिय हैं) यही वह है जो यह आत्मा है । यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(इयम्+विद्युन्) यह विद्युन् (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महामूर्तों का (मधु) कार्य है । और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महामूर्त (अस्य+विद्युतः) इस विद्युन् का (मधु) कार्य है । अथवा यह विद्युन् (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+विद्युन्) इस विद्युन् के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्याम्+विद्युति) इस विद्युन् में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमय+अमृतमय+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) यह अध्यात्मसन्धन्वी (तैजसः) तेजोव्यापी (तेजोमय+अमृतमय+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है । वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे प्रिय हैं । वह कौन है ? (अयम्+एतन्+नः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इयम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो सब ही है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—इयं विद्युदिनि । शरीरस्योष्णता कारणं विद्युदिति तैजम विशेषणम् ॥ ८ ॥

अयं स्तनयित्तुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्तोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् स्तनयित्तो तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ९ ॥

अनुवाद—यह गर्जनशील मेघ मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है ।

और मनुष्यादि जीव इम मेघ के मधुवत् प्रिय हैं । इस मेघ में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह शब्दव्यापी तथा स्वरव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है । (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है । और सब जीव इसके प्रियतम हैं) वही वह है जो यह आत्मा है । यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सन है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(अयम्+स्तनयित्नुः) यह नाद करनेवाला मेघ (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सन पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) काप्य है । और (सर्वाणि+भूतानि) ये सन पृथिव्यादि महाभूत (अस्थ+स्तनयित्नों) इस मेघ का (मधु) कार्य हैं । अथवा यह मेघ (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सन मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सन मनुष्यादि प्राणी (अस्थ+स्तनयित्नों) इस मेघ के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+स्तनयित्नों) इस मेघ में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (शाब्दः) शब्दव्यापी उसमें भी (सौवरः) स्वरव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसका वे सब प्रिय हैं । वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (य+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ ६ ॥

माध्यम्—स्तनयित्नुर्बलाहको गर्जनशीलो मेघः । अयं स्तनयित्नुरिति । शब्दे भवः शाब्दः । स्वरे भवः सौवरः । नादः स्वरे प्रतिष्ठितः । अतः सौवरः ॥ ६ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाऽऽशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १० ॥

अनुवाद—यह आकाश मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस आकाश के प्रिय हैं । इस आकाश में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है अध्यात्म सम्बन्धी जो यह हृदय व्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है । और सब जीव इसके प्रियतम हैं) यही वह है जो यह आत्मा है । यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ १० ॥

पदार्थ—(अयम्) जो यह (आकाशः) आकाश (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है । और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+आकाशस्य) इस आकाश का (मधु) कार्य है । अथवा यह आकाश (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+आकाशस्य) इस आकाश का (मधु) मधुवत् प्रिय है (च) और (अस्मिन्+आकाशे) इस आकाश में (य+अयम्) जो यह (तेजोमय+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (हृदि+आकाशः) हृदयव्यापी (तेजोमयः+अमृतमय+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है । वह इन का मधुवत् प्रियतम है । और इसके वे सब प्रिय हैं । वह कौन है ? (अयम्+यव+नः) यह वही है (य+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ १० ॥

साध्यम्—अयमाकाश इति । इवाकाशः प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धर्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स-योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ११ ॥

अनुवाद—यह धर्म मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस धर्म के मधुवत् प्रिय हैं । इस धर्म में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है

और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह धर्मव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (यह सर्वों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) यही वह है। जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(अयम्+धर्मः) यह धर्म (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है। और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+धर्मस्य) इस धर्म का (मधु) कार्य है। अथवा यह धर्म (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+धर्मस्य) इस धर्म के (मधु), मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+धर्मे) इस धर्म में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म सम्बन्धी (धर्मः) धर्मव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है उनका मधुवत् प्रियतम है। और इसका ये सब प्रिय हैं। वह कौन है? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सर्वं पूर्ववत् ॥ ११ ॥

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म सत्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं सर्वम् ॥ १२ ॥

अनुवाद—यह सत्य मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस सत्य को मधुवत् प्रिय हैं। इस सत्य में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह सत्यव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (यह सर्वों का मधुवत् प्रियतम है। और सब जीव इसके प्रियतम हैं) यही वह है। जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(इदम्+सत्यम्) यह सत्य (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है । और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+सत्यस्य) इस सत्य का (मधु) कार्य हैं । अथवा यह सत्य (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवन् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+सत्यस्य) इस सत्य के (मधु) मधुवन् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+सत्ये) इस सत्य में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमय+अमृतमय+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अप्यात्मम्) अप्यात्म सन्ध्या (सात्यः) सत्यव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है । वह उनका मधुवन् प्रियतम है और इसके ये सब प्रिय हैं । वह कौन है ? (अयम्+एय+सः) यह वही है (य+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—सर्वं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमप्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १३ ॥

अनुवाद—यह मानुष सब जीवों का मधुवन् प्रियतम है और सब जीव इस मानुष के मधुवन् प्रिय हैं । इस मानुष में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अप्यात्म सन्ध्या जो यह मानुषव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह सबों का मधुवन् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) यही वह है । जो आत्मा है । वह अमृत है यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(इदम्+मानुषम्) यह मानुष (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है । और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि

महामूत (अस्य+मानुषस्य) इस मानुष के (मधु) कार्य हैं । अथवा यह मानुष (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब प्राणी (अस्य+मानुषस्य) इस मानुष के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+मानुषे) इस मानुष में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमय+अमृतमय+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (मानुषः) मानुषव्यापी (तेजोमय+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे सब प्रिय हैं । यह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—भाष्यं पूर्ववत् ॥ १३ ॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १४ ॥

अनुवाद—यह आत्मा मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस आत्मा के प्रिय हैं । इस आत्मा में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्मसम्बन्धी जो यह आत्मव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है । (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) यही वह है । जो यह आत्मा है । यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ १४ ॥

पदार्थ—(अयम्+आत्मा) यह आत्मा (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महामूर्तों का (मधु) कार्य है । और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महामूत (अस्य+आत्मनः) इस आत्मा के (मधु) कार्य हैं । अथवा यह आत्मा (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+आत्मनः) इस आत्मा के

(मधु) मधुवत् प्रिय हैं । (च) और (अस्मिन्+आत्मानि) इस आत्मा में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (आत्मा) आत्मव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे सब प्रिय हैं । वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्गम्) जो यह सब ही है ॥ १४ ॥

भाष्यम्—विस्पष्टार्था ॥ १४ ॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मानि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह आत्मा सकल पृथिव्यादि और मनुष्यादि भूतों का अधिपति है और सकल भूतों के मध्य राजा (प्रकाश देने वाला) है सो जैसे रथ के नाभि में तथा रथ की नेमि (धारा) में सब अर समर्पित रहते हैं इसी प्रकार इस आत्मा में सब पृथिव्यादि महाभूत सब सूर्यादि देव सब भूरादि लोक सब चतुरादि प्राण सब ये जीवात्मा समर्पित हैं ॥ १५ ॥

पदार्थ—क्या यह आत्मा केवल व्यापक और अमृतमय ही है वा अन्य कुछ भी, इस पर उपसंहार में कहते हैं (वै) निश्चय (सः+अयम्+आत्मा) सो यह सर्वव्यापी परमात्मा (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिवी आदि एवं मनुष्यादि भूत कहे जाते हैं उन सबों का (अधिपतिः) सन्त्यक् प्रकार से पालन करनेवाला अधिष्ठाता और रक्षक है । क्योंकि उसके बिना जगन् की स्थिति आदि नहीं हो सकती है । वह आत्मा केवल अधिपति ही नहीं है, किन्तु (सर्वेषाम्+भूतानाम्+राजा) सब भूतों के मध्य में वही तेज देने वाला है क्योंकि “राजृ दीप्ति” धातु से राजा बनता है । उसी की दीप्ति से अन्य सब पदार्थ दीप्तिमान् होते हैं । जैसे

उद्भूत आग्नेय पदार्थ के अभाव से सन पदार्थ अन्धकारवृत्त होते हैं । वैसे ही यदि ब्राह्मी दीप्ति न हो तो कोई भी पदार्थ अपने २ सत्ता को प्राप्त नहीं हो सकता कैसे उस ब्रह्मसे सन भूत दीप्तिमान् और अधिक्रियमाण होते हैं । इनको दृष्टान्त से कहते हैं—(तद्+यथा) सो जैसे (रथनाभौ+च) रथ की नाभि में (रथनेमौ+च) रथ की नेमि में । च शब्द से इस प्रकार के अन्य सय दृष्टान्त ग्रहण करने चाहियें (सर्वे+अर+समर्पिताः) सब अर समर्पित हैं (एवम+एव) इसी दृष्टान्त के समान (अस्मिन्+आत्मनि) इस महान् आत्मा में (सर्वाणि+भूतानि) सन पृथिवी मनुष्यादिभूत (सर्वे+देवाः) सकल सूर्यादि देव (सर्वे+लोकाः) सकल भूलोक भुवर्लोक आदि (सर्वे+प्राणा) सकल चक्षु आदि प्राण (सर्वे+एते) सब ये (आत्मानः) जीवात्मा (समर्पिताः) स्थापित हैं अर्थात् जैसे रथ की नाभि में मलग्न होकर ही परितस्थित छोटी छोटी अर (वीलें) कार्य साधक होते हैं इसी प्रकार इसी आत्मा से सम्बन्ध रखते हुए ही सन पदार्थ कार्यसाधक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

भाष्यम्—म वा इति । स आत्मा किं व्यापकोऽमृतमयश्चैव केनलोऽस्ति अन्यद्वा किमपि । तत्र वक्ति वै इति निवृण्वं द्योतयति निश्चयेन अयमात्मा परमात्मा सर्वेषां पृथिवीधूर्यादीना मनुष्यादीनाञ्च भूतानाम् अधिपतिः अधिकृतः पतिः पालयिता अधिष्ठाता रक्षकः । तस्माद्वे जगतः स्थित्याय भावात् न केवलमधिपतिरेव किन्तु सर्वेषां भूतानां मध्ये स एवात्मा राजा दीप्तिरुतः प्रकाशकः । राज्ञ दीप्तौ । तस्यैव भासा सर्वाणि भूतानि भासितानि सन्ति । यथा-द्रुतानेय पदार्थाभावे सर्वे अन्धकारावृता भवन्ति । तथैव यदि ब्राह्मी दीप्तिर्न स्यात्तर्हि न किमपि लब्धस्वस्वसच्चाकं भवेत् । कथमिव ब्रह्मणात्मना सर्वेषां भूतानां दीप्तिमन्त्रमधिक्रियमाणत्वञ्च । अत्र दृष्टान्ते नाह-तत्तत्र । यथा येन प्रकारेण रथनाभौ च रथचक्रपिण्डकायां चादीदृशमन्यच्चिदर्शनमपि ग्राह्यम् । रथनेमौ च बलयभूतानां सर्वे अरः समर्पिताः स्थापिताः संलग्नाः सन्त एव तिष्ठन्ति तदैव कार्योपयोगिनोऽपि भवन्ति । एवमेव । यथाय दृष्टान्तोऽस्तीति तथैव अस्मिन् ब्रह्माख्ये आत्मनि सर्वाणि पृथिव्यादीनि भूतानि सर्वे सूर्यादयः देवाः सर्वे भूरादयः लोकाः वसे चक्षुरादयः प्राणाः तथा सर्वे एते आत्मानो

जीवात्मानः आत्म बहुतावचनम् समर्पिताः स्थापिताः सन्ति । एवमत्रैव संलग्नाः सन्त एव कार्यकरणे समर्था भवन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्घ्राथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेत-
हपिः पश्यन्नवोचत् । “तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणो-
मि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य
शीर्ष्णां प्र यदीमुवाच” इति ॥ १६ ॥ *

अनुवाद—निश्चय, इस प्रसिद्ध मधुविद्या को आवर्ण दध्यङ् ने अश्वियों से कहा । इस विषय में मधु विद्या को दिताते हुए स्वयं मन्त्र कहता है—

हे सर्वव्यवहार के नेता अहोरात्ररूप ब्रह्मचारियो ! जैसे विशुद्ध वर्षा की सूचक होती है तद्वन् मैं आप दोनों के उस वस कर्म को प्रकट करता हूँ । वह यह है कि आप दोनों को आधर्ण दध्यङ् ने अश्व के शिर से ही (आरकी योग्यता के अनुसार ही) मधुविद्या का उपदेश दिया है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(वै) सुप्रसिद्ध (इदम्+तद्) उस पूर्वोक्त इस (मधु) मधुविद्या को (आधर्णः) परमात्ममक्त (दध्यङ्) ध्यानरत ज्ञानीजन (अश्विभ्याम्) दिन और रात्रिरूप ब्रह्मचारियों को (उवाच) उपदेश देते हैं (तन्) इस विषय में (अपिः) वेदमन्त्र (एतन्) इस वार्ता को (पश्यन्) देखते हुए (अवोचन्) कहते हैं ॥

(नरा) हे सर्वव्यवहार के नायक अहोरात्र ! जिस हेतु आप आचार्य के अनुग्रह से परमज्ञान को प्राप्त हुए हैं (तन्) उम कारण से (वाम्) आप दोनों के (इदम्+उग्रम्) इस उग्र (दसम्) कर्म को अर्थान् विद्याध्ययनसम्बन्धी जीव-नचरितरूप उग्र कर्म को (सनये) जगन् के लाभ के लिये (आविष्कृणोमि) प्रकाश करता हूँ । इसमें दृष्टान्त देते हैं—(न) जैसे (तन्यतुः) विद्युत् (विजुती)

“अश्विनौ” दिन और रात्रि का नाम है । समीक्षा में विचार से दिखलाया है । अथवा पुण्यकृत=रमां मा राजा और राजी का नाम है । समीक्षा देखो । यहा मानो दिन और रात्रि ही ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी हैं ॥

(आर्थः) अर्धः ॥ अर्ध=हिमा विनाश, जो विनाश से रहित हो उसे “अर्धो” कहते हैं । अर्धो=परमेश्वर ही पूज्यदेव है जिसको वह आर्धवर्ण कहता है । जैसे वैष्णव शेष आदि पद होते हैं । विष्णु के भक्त को वैष्णव और शिव के भक्त को शैव ॥

दध्यह्न=ध्यानरत परमहानी पुरुष का नाम है । यहा “आर्धवर्ण दध्यह्न” पद से अन्य टीकाकारों ने जो अर्थों का पुत्र दध्यह्न छपि अर्थ किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि वेद में किसी मनुष्य का इतिहास नहीं है । यह सर्व शास्त्र का सिद्धान्त है ।

अश्वस्य=यहा अश्व शब्द का अर्थ घोडा नहीं है “अश्व” नाम सूर्य का है और अश्वस्य जो क्षण, पल, प्रहर, अहोरात्रि, पक्ष, मासादि एक महाकाल है उसका नाम अश्व है । उम महाकाल (Time) का व्यवहारार्थ क्षण, पल, दिन, रात्रि आदि विभाग माना गया है । यह भाग सूर्य के कारण से होता है । इस हेतु इस प्रकार इस काल का जनक सूर्य है । इस हेतु मुट्यार्थ अश्वशब्द का सूर्य है । गौणार्थ कात है । अतिव्यापनशील वस्तु का नाम अश्व होता है । सूर्य अपने किरणद्वारा शीघ्र सर्वात्र व्याप्त होता है और काल व्यापक ही है । अतः ये दोनों अश्व कहलाते हैं । वैदिक इतिहासार्थ निर्णय देखो, मानो उम महाकाल के क्षण, पल, प्रहर, दिन, रात्रि आदि एक एक बन्धे हैं । इनमें दिन और रात्रि बड़े लड़के प्रतीत होते हैं । क्योंकि दिन के पश्चात् रात्रि रात्रि के पश्चात् दिन बराबर लगा रहता है । जैसे पिता के संग प्रायः प्रियपुत्र सदा रहता है । अश्व (काल)

पत्य को “अश्वी” कहते हैं “अश्वस्य अपत्यम्” दिन रात्रि दो पदार्थ प्रतीत पत द्विवचन में “अश्वे” शब्द आता है । अब विचार करो—अश्व के के ही गिर से पढ़ाना बचित होगा अर्थात् जैसा जिसका शिर हो पदना आदिये । महा शरीर का अर्थ योग्यता है । जैसी जिमकी

योग्यता हो तदनुसार आचार्य को पदना उचित होगा । इस हेतु यहां “अश्वस्य शीघ्रणी” पद आया है । जिस हेतु आजकल “अश्व” शब्द का अर्थ घोडा हो होता है । इस हेतु वेद के तात्पर्य को न समझ लोगों ने “घोडे का शिर” अर्थ कर दिया है । इस पर अनेक आख्यायिकाएं भी गढ़ती हैं ।

शिक्षा (१) अनादि काल से विद्वान् शिक्षा का प्रचार करते आए हैं । बना ही सबों को करना चाहिये ।

(२) जत्र विद्वान् होकर ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी गृह लौट आये तो इन के घर को प्रकाशित कर देना चाहिये । यदि ये अध्यात्म विद्या में अधिक परिश्रम किये हों और आचार्य ने बड़ी प्रशंसा की हो तो इनकी संचित जीवनी मुद्रित करवाकर प्रकाशित करनी चाहिये ।

(३) जिस आचार्य ने इन्होंने विद्या प्राप्त की हो उनकी कीर्ति भी प्रकाशित होनी चाहिये ।

(४) नवीन आविष्कारकर्त्ता आचार्यों के नाम से ही उस विद्या का प्रचार होना चाहिये । और उस आचार्य के नाम पर बड़े पुरस्कार देने चाहियें, इत्यादि ।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्गाथर्वणाऽश्विभ्यामुवाच तदेत-
वृषिः पश्यन्नबोचत् । “आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः
प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रबोचद्वतायन्त्वाष्ट्रं यदस्त्रावपि
कक्ष्यं वाम्” इति ॥ १७ ॥ *

अनुवाद—निश्चय, आथर्वण दध्यङ् ने अहोरात्ररूप ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी से उस इम मधु विद्या का उपदेश किया । इस मधु विद्या के विषय में स्वयं मन्त्र कहता है, मन्त्र का अर्थ—(दक्षा) हे सत्त्वप्राणियों के आयु के क्षय करने वाले ! (अश्विना) हे दिन और रात्रिरूप ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी ! आप दोनों ने (आथर्वणाया+दधीचे) ब्रह्मपरायण ध्यानरत गुरु के लिये (अश्व्यम्)

महाकाल सम्मन्त्री (शिरःप्रति) शिर के प्रति (ऐरयत्तम्) प्रेरणा की । अर्थात् हे गुरु ! आप जो पढ़ाते हैं उसे हम दोनों नहीं समझते हैं । हम हेतु हमारी योग्यता के अनुकूल आप पढ़ावें । इस वचन को सुन करके आपके गुरु ने भी ऐसा किया, ब्रह्मपरायण होने पर भी आप के लिये इन्होंने जो प्रेरणा किया वह आप की ही प्रशंसा है । जिस कारण अभी अश्व के पुत्र हैं इस हेतु अभियों ने अपने योग्य अश्व के शिर को धारण के लिये अपने गुरु से कहा अर्थात् जैसे विद्यार्थी हो तदनुसार गुरु पढ़ाये । यदि न समझता हो तो अपने आचार्य से नम्रतापूर्वक निवेदन करें कि मेरी योग्यता के अनुसार आप कृपया पढ़ावें । शिष्य के शिर के अनुसार गुरु का पढ़ाना ही मानो अन्य का शिर धारण करना है, हे अग्निर्नाम प्रजापति आपके वचन को स्वीकार करके (मः) ब्रह्मपरायण भी आर्षर्षण वृष्यह् ने (वाम) आप दोनों में (मधु+प्रयोच्चा) मधुविद्या का उपदेश किया । जिस प्रयोग के लिये ? (ऋतायन) सत्य की पालना की इच्छा करते हुए अर्थात् सत्य गिया जो मधुविद्या है सो अध्यापन जिना वशावि बिनष्ट न होजाय इस हेतु आप दोनों को शिष्य बनाकर हम गिया की पालन की इच्छा में पढ़ाया । केवल आप दोनों को मधुविद्या का ही उपदेश नहीं किया (अपि) किन्तु (त्वाम्) चिरिस्माशास्त्रमन्मन्धी (कश्यप) गोप्यविज्ञान (यत्) जो है उसको भी (त्वाम्) आप दोनों से रहा । इत्यादि आपके जो वर हैं उनको मैं प्रकाशित करना चाहता हू ॥ १७ ॥

पदार्थ—अनुवाद के अन्तर्गत ही पदार्थ है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—पुनस्तमेवार्थं प्रक्रान्तरेण प्रीति । इदमित्याद्यरोचदन्तं पद-
मुहमेव । मशार्थस्तयम् । हे अरिवना अरिर्ना ! अरयस्य अरयइस्य वणा-
धात्मकस्य कालस्य अपत्ये इति अरिवर्ना । अहोरात्ररूपो पुत्रो । महाकाल-
स्याहोरात्रः पुत्रत्वेनाधारोपितः । पुनः पुनः कथंभूतां दत्तां अरिरुप्राप्ति-
नामप्युप उपवपितारौ । अहोरात्रस्यैव गतागर्तजीविनं चीयते । ईदृशी पुनाम्
आयरेणाय अथर्षद्वयनाय ब्रह्मपरायणाय दधीचे आनस्ताय सगुरवे । अश्वम्
अश्वस्येदमश्वम् । शिरः प्रति ऐरयत्तम् प्रेरितवन्तौ । अर्थात् हे गुरु ! यत्त्वं
पाठयसि न तदावा सम्पत्तिदः । अतोऽस्मदनुकूलया योग्यतया पाठय ।

इति युवयोर्वचनं श्रुत्वा तथैव सोऽपि कृतवान् । युष्मदर्थं तादृशोऽपि विद्वान्
युष्मदानुकूल्यमाचरिष्यति यत्तयुवयोरेव माहात्म्यम् । अन्यथा तादृशो महा-
त्मा कथमिदं कुर्यात् । ततो युवयोर्वचनानुकूल्यं स आथर्वणो दध्यद् वां युवा-
भ्याम् मधु मधुवन्मधुरं मोक्षशास्त्रं प्रवोचत् प्रवोचत् । ब्रान्दसोऽडागमाभावं ।
किं कुर्वन् अन्तापन्-अन्तं सत्यं प्रतिपालयितुमिच्छन् अन्तं मोक्षशास्त्रम् । अध्या-
पनमन्तरा मा विनष्टं भूदित्यर्थं तच्छास्त्रं परिपालयितुमिच्छन् स दध्यद्
युवाभ्यां मधुरास्त्रमवोचत् । अपि च-किन्तु त्वाष्ट्रं त्वष्टुरिदं त्वाष्ट्रम् ।
त्वद् तनूकरणे । त्वष्टा चिकित्सको मिषक् तत्सम्बन्धि । कश्यप् कक्षेभवः
कश्यपं गोप्यम् । यथा कक्षस्थलोमादि गुप्ताभावेन तिष्ठति । शब्दानामन्यत्सृ-
चिनिमित्तम् । अन्यच्च प्रकृतिमस्ययनिमित्तम् । यथा कुशलः कुशं लातीति ।
गोप्यन्विकित्साशास्त्रं तदपि युवाभ्यामवोचत् । अत्र चिकित्साशास्त्रं पदार्थ-
विधायी उपलक्षकम् । अहोरात्र एव चिकित्सक इत्यपि वेदितव्यम् ॥ १७ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यद्भ्यार्थवणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेत-
दपिः पश्यन्नवोचत् । “पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशद्” इति । स वा
अयं पुरुषः सर्वासु पूर्णं पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन
किञ्चनसंवृतम् ॥ १८ ॥

पदार्थ—(इदम्+वै०) यह वह मधुविज्ञान है जिसको आथर्वण दध्यद्
अश्विद्वय से कहा करते हैं । इस विषय को वेदमन्त्र भी कहता है । आगे मन्त्रार्थ
यह है—(पुरः+चक्रे) वह परमात्मा पृथिवी, सूर्य, नक्षत्र आदि अनेक अनन्त
असंख्येय ग्राम बनाया करता है (द्विपदः) दो पैरों से युक्त मनुष्य पक्षी आदिकों
को बनाता है (पुरः+चतुष्पदः+चक्रे) चार पैरों से युक्त हाथी, घोड़ा, बैल, सिंह,
व्याघ्र आदिस्वरूप शरीरों को बनाता है । (स +पक्षी+भूत्वा) वह व्यापक होके
(पुरः+पुरः) सब शरीर में सब लोक लोकान्तर में (आविशन्) ओतप्रोत भाव
से प्रविष्ट होता है अतः वह (-पुरुषः) पुरुष कहाता है (इति) इति शब्द मन्त्र

समाप्तिमुचक है । आगे पुरुष शब्द का अर्थ कहते हुए व्यापकता दिया जाता है (सः+वै+अयम्+पुरुषः) निश्चय, सो यह पुरुष (सर्वासु+पुरुं) सम्पूर्ण शरीरों में व्यापक है अतः (पुरिशयः) वह पुरिशय कहा जाता है जो सब पुरी में विराजमान हो वस्तुको पुरिशय वा पुरुष कहते हैं “पुरि शेते स पुरिशयः पुरुषो वा” (एतेन+न+किञ्चन+अनामृतम्) इससे कोई पदार्थ अनाच्छादित नहीं है किन्तु सब ही आच्छादित ही हैं (न+एतेन+विज्ञान+असमृतम्) इससे कोई पदार्थ अननुप्रवेशित नहीं है, किन्तु सब ही प्रवेशित हैं इसका आशय भूमिका में देखो ॥ १८ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्घ्राथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेत-
द्विषिः पश्यन्नवोचत् । “रूपं रूपं प्रतिरूपो धभूव तदस्य
रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता
ह्यस्य हरयः शतादश” इति । अयं वै हरयोऽयं वै दश च
सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च तदेतद् ब्रह्मापूर्वमन-
परमनन्तरमाद्याहमायमारिमा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशास-
नम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(इदम्+धे०) निश्चय उस इस मधुतान का आधर्षेण दध्यङ्घ्रि अ-
श्विद्वय से कहते हैं । यह विषय मन्त्र में भी दृष्ट है, यथा—(प्रतिरूपः) जिस
शरीर में जाता है उसी के अनुदूल इस जीवात्मा का भी रूप प्रतीक होता है अतः
यह जीवात्मा प्रतिरूप कहाता है । सो यह प्रतिरूप जीवात्मा (रूपम्+रूपम्+नभूव)
प्रत्येक लाल, पीला आदि रंग को प्राप्त होता है । “भू प्राप्ता” यहा भू धातु प्राप्ति
अर्थ में है (अस्य+रूपम्+प्रतिचक्षणाय+तत्) इस परमात्मा के स्वरूप को जगत्
में प्रख्यात करने के लिये जीवात्मा का यह कर्म हुआ करता है (इन्द्रः) इन्द्र
नाम भी जीवात्मा का ही है वह (मायाभिः) विविध ज्ञानों से समुक्त होने के
कारण (माया नाम मेधा का है) (पुरुरूप ईयते) बहुरूपधारी प्रतीत होता है
(द्वि) क्योंकि (अस्य) इस जीवात्मा के शरीररूप रथ में (युक्ताः) युक्त
(शता+दश+हरयः) १०० और १० इन्द्रियरूप घोड़े हैं (वै+अयम्+दश्यः)

वान्त्व में इन्द्रिय घोड़े नहीं हैं किन्तु यह जीवात्मा ही हरि अर्थात् हरण करनेहारें
घोड़े हैं (अयम्+दश+च+सहस्राणि+वह्नि+च) यही जीवात्मा दश है । यही सहस्र
है । यही बहुत है (अनन्तानि+च) यही अनन्त है (तद्+एतन्+ब्रह्म) सो यह
महान् जीवात्मा (अपूर्वम्) अपूर्व है अर्थात् इसका पूर्वकारण कोई नहीं (अनपरम्)
और न अपरकारण कोई है (अनन्तरम्) मध्य में भी कोई नहीं है (अबाध्यम्)
जिससे कोई बाह्य पदार्थ नहीं है (अचम्+आत्मा) यही आत्मा (ब्रह्म) महान्
है (सर्वानुभूः) सर्व पदार्थ का अनुभव करनेहार है (इति+अनुशासनम्) यह
याज्ञवल्क्य की शिक्षा है । इति ॥ १६ ॥

दध्यद् और अधिद्वय और इन्द्र आदिकों की कथा वास्तविकरूप और कथा
का आशय इत्यादि अनेक बातें वैदिक-इतिहासार्थनिर्णय में देखिये ॥

समीक्षा ॥

दध्यद्दायर्वणः ॥

आथर्वणः+दध्यद् (दधीचिः) *

दध्यद् ऋषि के सन्बन्ध में प्रथम कतिपय वेदमन्त्रों को सायणादिकृत अर्थ-
महित प्रकाशित करता हूँ । पश्चात् इस पर सुमीमांसा करूंगा ।

तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् ।

दध्यद् ह यन्मध्वार्यवणो वामरवस्य शीर्ष्णां प्र यदीमुवाच ॥ (क)

अर्थ—(नरानरो) हे नर शूरीर आश्विकुमारो ! (न) जैसे (तन्यतुः)
विजुली (वृष्टिम्) वर्षा का प्रकाश करती है अर्थात् जैसे बिजुल्न वर्षा की सूचक
होती है वैसे ही मैं (वाम्) आप दोनों के (तन्) उम (उग्रम्) भयङ्कर
(दंसः) कर्म को (सनये) लाभ के लिये (आविष्कृणोमि) प्रकाशित करता
हूँ । वह कर्म यह है (ह) सुप्रसिद्ध (आथर्वणः) अथर्वों के पुत्र (दध्यद्)
दध्यद् नाम ऋषि ने (अथर्व+शीर्ष्णां) अथर्व के शिर से (वाम्) आप दोनों

* पुराणादि में कहीं २ दध्यद् को दधीचि नाम से कहा है ।

को (ईम्) निश्चय (यत्+मधु) जो मधु, मधु विद्या को (प्र+उवाच) कहा । कोई पुरुष अश्विकुमारों की स्तुति करता है कि जैसे विद्युत् वर्षासूचक होती है, तद्वत् मैं आप के यश को प्रकाशित करूँगा । वे आप ही हैं जिनके लिये आथर्वण दध्यङ् ऋषि ने अश्व के शिर धारण कर मधु विद्या का उपदेश किया । (क)

अथर्वणायाश्विना दधीचेऽऽज्यं शिरः प्रत्यैरयतम् स वां मधु प्रयोच
दत्तायन्त्याप्तं यदस्त्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ (ख)

अर्थ—(अश्विना) हे अश्विकुमारो । आपने (आथर्वणाय+दधीचे) आ-
थर्वण दध्यङ् ऋषि के लिये (अरन्यम्+शिरः) अश्व सम्बन्धी शिर को (प्रत्यै-
रयतम्) प्रन्यर्पित किया और इसके बदले (दत्तायन्) सत्य से भरे हुए (स०)
उस ऋषि ने (वाम्) आप दोनों को (मधु+प्रयोचत्) मधुविद्या कहा (दत्तो)
हे अद्भुत कर्म करनेवाले अश्विकुमारो । (त्वाष्ट्रम्) ब्रह्मसम्बन्धी (अपि+कक्ष्यम्)
ज्ञान को भी (वाम्) आप दोनों से कहा ॥ (ख)

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कृतः । जघान नवतीर्नव ॥ (ग)

अर्थ—(अप्रतिष्कृतः) शत्रुओं से प्रतिकूल शत्रु रहित (इन्द्रः) इन्द्र ने
(दधीचः) दध्यङ् के (अस्थभिः) हड्डियों से (नव+नवती०) ९+९०=९९
नित्यानवधे (घृत्राणि) आवरण करने वाले असुरों का (जघान) हनन करता है ॥ (ग)

यामथर्वा मनुष्यिता दध्यङ् धियमस्ततः । तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था
समगमतार्चन्ननु स्नाराज्यम् ॥ अत्रवेदः १ । ८० । १६ ॥ (घ)

अर्थ—(पूर्वथा) पूर्वकाल में जैसे (अथर्वा) अथर्वा ऋषि (पिता+मनुः)
सब प्रजाओं का पिता मनु ऋषि और (दध्यङ्) दध्यङ् ऋषि जिस इन्द्र के
निमित्त (याम्+धियम्) जिस स्तोत्रादिक की (अल्लभ) किया (तस्मिन्+इन्द्रे)
उस इन्द्र के निमित्त (पूर्वथा) पूर्ववत् (ब्रह्माणि) हम लोगों से किये हुए ब्रह्म
नामक स्तोत्र (उक्था) उक्थ नामक स्तोत्र (समगमत) सगत=प्राप्त होते हैं ।
यह इन्द्र वैसा (स्नाराज्यम्) अपने सुखस्वरूप राज्य को (अनु+अर्चन्) प्रका-
शित करता हुआ ॥ (घ)

तमुत्वा दध्यह् ऋषिः पुत्रर्षे अथर्वणः । वृत्रहणं पुरन्दरम् ।

यजु० ११ । ३३१ ॥ (ङ)

अर्थ—हे अग्ने ! (अथर्वणः) अथर्वा ऋषि के (पुत्रः) पुत्र (दध्यह्-
ऋषिः) दध्यह् नाम के ऋषि (त्वाम्) आप को (च) ही (र्षे) प्रज्वलित
करते हैं । हे अग्ने ! आप कैसे हैं ? (वृत्रहणम्) पाप के नाश करनेवाले, पुनः
आप कैसे हैं ? (पुरन्दरम्) रुद्ररूप से प्रामो को नाश करनेवाले । वेदों के ये चार
मन्त्र मैंने यहा प्रथम कहे हैं । अब अन्य प्रमाण सुनिये ।

“तद्वां नरा” इस मन्त्र के ऊपर सायण लिखते हैं—

इन्द्रो दधीचे प्रवर्ग्यविद्यां मधुविद्याञ्चोपदिश्य यदीमामन्यस्मै वक्ष्यसि
शिरश्चेत्स्यामीति तज्ज्ञात्वा ऋषिनौ दधीचः शिरः प्रच्छिद्यान्यत्र निधाय तत्रा-
दध्यं शिरः प्रत्यधत्ताम् । तेन दध्यह् ऋचः सामानि यजुंषि च प्रवर्ग्यविपयाणि
मधुविद्याप्रतिपादकं ब्राह्मणञ्चाश्विनावध्यापयामास । तदिन्द्रोद्वात्वा वज्रेण
तच्छिरोऽच्छिनत् । तथाश्विनौ तस्य स्वकीयं मानुषं शिरः प्रत्यधत्तामिति
शाठ्यायनवाजसनेययोः प्रपञ्चेनोक्तम् ॥

अर्थ—इन्द्र ने दध्यह् ऋषि को प्रवर्ग्यविद्या और मधुविद्या का उपदेश देकर
कहा कि यदि इस विद्या को किसी अन्य से आप कहेंगे तो आप का शिर काट
ढालूंगा तब अश्वियों ने अश्व के शिर को काट दध्यह् के शिर को भी काट उमे
अन्यत्र रख अश्व के शिर को दध्यह् के शिर के स्थान में जोड़ दिया । उस शिर
से दध्यह् ने ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा मधुविद्याप्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों
अश्वि कुमारों को पढ़ाया, इस व्यापार को इन्द्र ने जान वज्र से उसके शिर को काट
लिया, तब अश्वियों ने दध्यह् के निज मानुष शिर को फिर आन यथास्थान में
संयोजित किया । यह आख्यायिका शाठ्यायन और वाजसनेय में विस्तारपूर्वक
वर्णन है । इस कथा में सायण की एक बात ठीक नहीं है । दध्यह् ऋषि ने इन्द्र
को विद्या पढ़ाई थी, ऐसा भी कोई कहते हैं, परन्तु सायण कहते हैं कि इन्द्र ने ही
दध्यह् को विद्या पढ़ाई । यह बात उलटी पुलटी पाई जाती है । “इन्द्रो दधीचः”
इस मन्त्र पर सायण यह लिखते हैं ॥

(अत्र शाठ्यायिनिन इतिहासमाचक्षते) आथर्वणस्य दधीचोऽजीवनोदर्शनेन असुराः परावभूयुः । अथ तस्मिन् स्वर्गते असुरैः पूर्णा पृथिव्यभूतत् । अथेन्द्रस्तेरसुरैः सह योद्धुमशक्तुस्तमृषिमन्त्रिच्छन् स्वर्गं गत इति शुभ्राव । अथ पप्रच्छ तत्रत्यान् नेह केमस्य किञ्चित्परिशिष्टमङ्गमस्ति ? इति । तस्मा अवाचन् । अस्त्येतदाद्यं शीर्षम् येन शिरसा अश्विभ्यां मधुविद्यां मात्रवीत् । तच्च न विद्मः । यत्रामवद् इति । पुनरिन्द्रोऽब्रवीत् । तदन्विच्छत इति । तद्वान्नेपिपुः तच्छर्यणावत्यनुविद्याऽऽजहृः । शर्यणावद्वै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनार्धसरः । स्पन्दते । तस्य शिरसीऽस्थिमिरिन्द्रोऽमुरान् जघान इति ॥

अर्थ—शाठ्यायिनी लोग इस विषय में इतिहास कहते हैं, जन आथर्वण (अथर्वा ऋषि के पुत्र) दध्यङ् जीवित थे तब इनके दर्शनमान से असुर परास्त होजाते थे । जन यह ऋषि स्वर्ग को चले गये तब यह सम्पूर्ण पृथिवी असुरों से पूर्ण होगई । और इन्द्र राजा उन असुरों से युद्ध करने में असमर्थ होकर उस ऋषि को लोजने लगे तो उन्हें सुन पडा कि वह स्वर्ग को चले गये । वहा के लोगों से पूछा कि क्या इनका कोई अङ्ग बचा हुआ है ? उन्होंने इनसे कहा कि हा यह अश्वन्मध्वन्धी शिर है जिम शिर से अश्वियों को मधुविद्या सिरलताई थी, परन्तु वह शिर कहा है सो मालूम नहीं । तब इन्द्र ने कहा कि आप लोग उसे लोज बीजिये उन्होंने उसका अन्वेपण किया । शर्यणावान् में उसे पाकर ले आए । कुरुक्षेत्र के निकट में शर्यणावन नाम का एक सर है, उस सिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों का संहार किया । महाभारत धनपर्व अध्याय १०० में दध्यङ् की कथा ।

आसन् कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः ।

कालक्रेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः ॥

ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाग्रहणोद्यताः ।

समन्तात्पर्यधावन्त महेन्द्रप्रशुष्यान् सुसन् ॥ इत्यादि ।

कृतयुग में बड़े २ योद्धा दानव थे । “कालक्रेय” नाम से प्रसिद्ध थे और इन का स्वामी वृत्र था ये लोग ऐसे दारुण और योद्धा थे कि इन्द्रादि सत्र देव हार अपने अपने अधिकार छोड़ श्वर बधर भाग परम व्याकुल हुए । एष ब्रह्म के निकट जा सब प्रत्तान्त सुनाये । तब ब्रह्मा ने मन में विचार यह कहा ।

तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ ।
 दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ॥
 तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत ।
 स वो यास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥

उस उपाय को कहूंगा जिससे आप लोग वृत्र को मार सकेंगे । हे इन्द्र ! सुनो एक दधीच नाम परम उदार ऋषि हैं उनसे सब कोई मिलकर वर मागो । वे रमात्मा ऋषि अवश्य ही आप लोगों को प्रसन्न चित्त से वर देवेंगे । वर क्या मागना सो आगे कहते हैं:—

स वाच्यः सहितैः सर्वैर्मवद्विर्जयकाक्षिभिः ।
 स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै ॥
 स शरीरं समुन्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति ।
 तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं सं क्रियतां दृढम् ॥

हे इन्द्र ! तब आप सब मिलकर उनसे वर मागना कि आप अपनी हड्डिएं शीजिये । क्योंकि इनसे तीनों लोकों का उपकार होगा । वह महात्मा शरीर को त्याग अपनी अस्थियों को अवश्य देवेंगे, ब्रह्मा के इस वचन को सुन वे लोग जहां ऋषि दधीच रहते थे वहां गये और वे ऋषि भी प्रसन्न होकर शरीर त्याग सुसं-
 धाम को चले गये । यथा—

ततो दधीचः परमः प्रतीतः सुगोचर्मास्तानिदमभ्युवाच ।
 करोमि यद्वोहितमद्य देवाः स्वश्चापि देवं स्वयमुत्सृजामि ॥
 स एव मुक्तो द्विषदां वरिष्ठः प्राणान् वशीं स्वान् सहसोत्सर्ज ।
 ततः सुरास्ते जगद्गुः परसोरस्थीनि तस्याय यथोपदेशम् ॥

तब दधीच ऋषि परम विश्वस्त हो उन देवताओं से बोले कि हे देवो ! आप लोगों का जो हित होगा सो आज मैं का करूंगा । निज शरीर का भी परित्याग करूंगा । इस प्रकार कहकर सर्वश्रेष्ठ और वशी पञ्चत्व को प्राप्त हुए । तब इन्द्रादि देवों ने इनकी हड्डियों का अस्त्र शस्त्र बना वृत्र को हत किया । इत्यादि कथा महाभारत में देखो ।

मघरन् यात मद्रं वो दध्यञ्चमृपेत्तमम् ।
 विद्याव्रततपःसार गात्रं याचत माचिरम् ॥ ५१ ॥
 स वा अधिगतो दध्यट् अश्विभ्यां ब्रह्मनिष्कलम् ।
 यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥ ५२ ॥
 भागवत ६ स्कन्ध अध्याय ६ ॥

इन्द्र ने नारायण कहते हैं कि देवेन्द्र ! आपका कल्याण हो, आप शीघ्र ऋषि सत्तम दध्यङ् ऋषि के निकट जाइये । और विद्या तप व्रत से पुष्ट उनके शरीर को मागिये । जिस दध्यङ् ने स्वयं ब्रह्मविद्या को प्राप्त होकर अधिबुमारों को दिया । जिस हेतु अश्वशिर से उस विद्या को उपदेश किया था इस हेतु उसका अश्व शिर हुआ । जिसने उन दोनों अधिबुमारों को अमर बनाया ।

एवं व्यवसितो दध्यद्वाथर्षणस्तनुम् ।
 परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सं नयन् जहौ ॥१॥ भागवत ६ ॥ १० ॥

जब इन्द्रादि देवों ने इनसे हड़िया मागी तब परोपकार समझ आथर्वण दध्यङ् ऋषि ने परब्रह्म में मन को लगाकर इस शरीर को त्याग दिया । तब इनकी हड़ियों से अस्त्र बनाकर वृत्र को मारा, इत्यादि कथा देखो ॥

यह आर्यायिका आथर्वण दध्यङ्, इन्द्र तथा अश्वी इन तीन से सम्बन्ध रखती है, अश्वियों ने दध्यङ् से मधुविद्या का ग्रहण किया और अश्व के शिर को दध्यङ् के शिर के स्थान में लगाया । और इन्द्र ने दध्यङ् ऋषि की हड़ियों से वृत्रों का हनन किया इतना सार है, इस पर भीमासा कर्तव्य है । अश्वी कौन है ?

तत्कावश्विनौ धावापृथिव्यावित्येके । अहोरात्रावित्येके । सूर्याचन्द्रगता-
 वित्येके । राजानौ पुण्यकृता रित्यतिहासिकाः ॥ जि० द० ६ । १ ॥

अर्थ—अश्वी कौन है ? ऐसी शङ्का कर उत्तर देते हैं कि कोई आचार्य्य “धावापृथिवी” को अश्वी कहते हैं । कोई आचार्य्य “अहोरात्र” को अश्वी कहते हैं । कोई “सूर्य चन्द्र” को । और ऐतिहासिक पुण्यकृत “राज्ञी” और “राजा” को अश्वी कहते हैं, ये चार पक्ष हैं । दध्यङ् कौन है ?

प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा । प्रत्यक्प्रमस्मिन् ध्यानमिति वा ॥ निरुक्त दैवत् ०
६ । ३३ ॥

अर्थ—ध्यान में जो परम आसक्त हो उसे दध्यद् कहते हैं । अथवा जिममें ध्यान लगा हो । दोनों का एकसा अर्थ है । अर्थात् परमध्यानी ज्ञानी तत्त्वविद् का नाम दध्यद् है ॥

देवराज यन्वाजी निघण्टु के “निर्वचन नामक” टीका में लिखते हैं कि—

ध्यानं ज्ञानं लोकाकृत्याकृत्य विषयं लोकपालत्वात् । ध्यानं प्रतिगतः
प्रत्यक्प्रमस्मिन् ध्यानमिति वा । ध्यानशब्दोपपदाञ्चतेः किनिवृपोदरादित्नाद्
ध्यानशब्दस्य दधिभावः । विचन् प्रत्ययस्य कुः । ८ । २ । ६२ ॥

अर्थ—“ध्यान” पूर्वक अञ्च घातु से दध्यद् शब्द की सिद्धि देवराज यन्वा-
जीने मानी है और निरुक्त का भी यही पक्ष है । अन्य कोशकार कहते हैं “दधि
धारकमञ्चतीति” इसके अनुसार दधि अञ्च से दध्यद् सिद्ध होता है । और इस
“दध्यच्” से स्वार्थ में अण् और इष् प्रत्यय होने से और वृषोदरादि के कारण
वृद्धि न होने से “दधीच” और “दधीचि” शब्द भी सिद्ध होते हैं । इत्यादि ॥

अर्थ—यह इतना और भी जानना चाहिये कि “अञ्च” यह शब्द सूर्य के
अर्थ में वेदों में बहुधा प्रयुक्त हुआ है ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो बहति सप्तनामा ॥

अर्थ—“अश्व” शब्द सूर्य के किरण अर्थ में आया है । जो अपने किरण
द्वारा बहुत प्रदेश में व्यापक हो वह अश्व है । अश्व के सम्वन्ध से अश्वि शब्द
बना है । यह सिद्ध हुआ है कि किन्हीं खास दो मनुष्य व्यक्तियों का नाम अश्वी
नहीं । अश्वी दिन रात का नाम है । दिन और रात्रि ने मिलकर दध्यद् ऋषि से
विद्या अध्ययन किया इसका तात्पर्य क्या होगा । यह आलङ्कारिक वर्णन है । इस-
में सन्देह नहीं कि यह विद्वानों का वर्णनमात्र है । जो तत्त्ववित् परोपकारी महात्मा
पुरुष होते हैं वे क्या दिन क्या रात्रि सर्वदा विद्यादान करते ही रहते हैं वे दिन

रात बैठते नहीं । और वे दिन रात्रि भी धन्य हैं जिन में विद्वान् लोग ब्रह्मविद्या की चर्चा रखते हैं ।

विद्वान् लोग विद्या किम रीति से पढ़ाते हैं—जो बालक आज अक्षरारम्भ करता है उसको अक्षर का ही बोध कराना होगा । यदि इसके व्याकरण के सूत्र समझने लगे तो बिलकुल ही व्यर्थ होगा । और इसके विपरीत जिसकी पाणिनी अष्टाध्यायी समाप्त होगई है उसे यदि अक्षर सिखलावें तो यह भी व्यर्थ है, क्योंकि यह अक्षर पहले से ही जानता है । इसका भाव यह है कि शिष्य का शिर जैसा हो उसी के अनुसार विद्या देनी चाहिये । अर्थात् जहातक शिष्य को समझने की शक्ति की दौड़ हो वहांतक ही विद्या देनी चाहिये । और धीरे २ क्रम से अपने शिर के समान शिष्य को बढ़ादेना आचार्य का धर्म है । मानो एक शिशु घड़े भापी अनूचान के निष्ठ विद्याध्ययन को आया है । अब इसे किस रीति से विद्या देनी चाहिये । प्रथम यह क्पाय अवश्य ग्रहण करना होगा कि अपना शिर (योग्यता) तो अलग रखो और शिष्य का शिर देखो । यह कैसे किस प्रकार से विद्याग्रहण कर सकता है उसकी रचि जिस में अधिक है इत्यादि । इस प्रकार उम शिशु शिष्य के शिर (योग्यता) के अनुसार गुरु वा आचार्य को घर्तना पड़ेगा उमको विद्या आमकती है । इस प्रकार पढ़ाते पढ़ाते अपने शिरतक वसे ले जाना होगा । जब तक शिष्य आचार्य के शिरतक नहीं पहुंचता है तबतक मानो आचार्य का शिर कहीं अन्यत्र ही है और जब शिष्य यहां तक पहुंचा तब मानो आचार्य का पुनः इसके कन्धे पर आ गया । भाव यह है कि जबतक आचार्य अपने शिष्य को प्रौढ दृढ और बौद्धा नहीं बना लेता है, तबतक यह अपने शिर को पृथक् ही रखता है और पृथक् रखने का कारण शिष्य है । और जब शिष्य प्रौढ होता जाता है तब मानो आचार्य का शिर पुनः आजाता है और आने का भी कारण शिष्य ही है । आजकल की शिक्षाप्रणाली देखो विद्याम्यरूप पर्वत की जड़ से शिष्य को आचार्य धीरे धीरे ऊपर लेजाता आरम्भ करता है । जब वह शिष्य त्रिगुरूप पर्वत के शिखर पर चढ़ जाता है तब उसको वहां ही छोड़ पुनः आचार्य नीचे आता है और दूसरे शिष्य को बढ़ाना आरम्भ करता है पुनः उमको शिखर पर चढ़ाकर पुनः आचार्य नीचे आता है अर्थात् आचार्य को सर्वदा नीचे ऊपर होना पड़ता है ॥

दध्यद् और अश्विद्वय के विषय में वही अलङ्कार है । जय अधिर्यो को दध्यद् पढाने लगे तब अपना शिर तो अलग करना पड़ा और अभिद्वय के शिर के समान ही शिर धारण करना पड़ा । और जब अधि पूर्ण बोधवाले हुए तो मानो दध्यद् ने पुनः अपने शिर को धारण किया । वेद में कोई मानवीय कथा नहीं है परन्तु मनुष्य के लिये ही वेद है । इस हेतु मनुष्योपयोगी सब विषय वेद में आजाने चाहियें । अब यहां विद्या के विषय में मनुष्यों के निमित्त शिक्षा देनी है । इस हेतु कल्पना करो कि दिन, रात्रि ही दो विद्यार्थी हैं । ये दोनों अधि कहलाते हैं । और एक परमतत्त्वविद् आचार्य है । इसके निकट ये दोनों जाते हैं । अब इन दोनों की जैसी बुद्धि होगी तदनुसार ही शिक्षा दातव्य होगी । इस हेतु मानो दध्यद् ने अपने शिर को अलग कर रक्खा और अधिर्यो का जैसा शिर था वैसा ही धारण किया जब आचार्य के सिद्धान्त तक ये दोनों पहुँचे तो मानो आचार्य ने अपने शिर को पुनः धारण किया ।

यहां इतना विचार रखना चाहिये कि आचार्य के शिर के पृथक् और योग करने में कारण शिष्य ही है । शिष्य के लिये अपने शिर को पृथक् करता है और शिष्य के शिर के अनुसार कुछ दिन चलना पड़ता है पुनः जब शिष्य प्रौढ़ होता है तब उसी शिष्य के कारण पुनः अपना शिर धारण करता है । यदि शिष्य विद्या में निपुण नहीं हुआ तो उसके लिये आचार्य का शिर अलग ही है । यदि आचार्य के शिर तक वह पहुँच गया तो मानो उसने पुनः आचार्य के शिर को योग कर दिया । यहां शिर शब्द का लक्ष्यार्थ ज्ञान योग्यता आदि है ।

प्रश्न—अधिर्यो को अश्व के शिर से ही क्यों विद्या पढ़ाई ।

उत्तर—प्रथम ही कह चुके हैं कि जैसा शिष्य होता है वैसा ही आचार्य को शिर धारण करना पड़ता है । यहा अश्वगानि के अपत्य अश्वी हैं अतः अश्व का शिर धारण करना उचित है । यहां केवल सादृश्यद्योतक शिरः शब्द है अर्थात् यहा यह दिखलाना है कि जैसा शिष्य हो तदनुसार ही पढ़ाना चाहिये । जिस हेतु अश्व ही शिष्य है । अतः अश्वशिर धारण करना पड़ा ।

प्रश्न—मनुष्य का उदाहरण क्यों नहीं दिया । ऐसे २ उदाहरण से अस्मदादिकों को वदा मन्देह हो जाता है ।

उत्तर—मनुष्य का उदाहरण इस हेतु योग्य नहीं होता कि मनुष्य के शिर से मनुष्य को पढ़ाना यह कथन न्यर्थ होता । क्योंकि मनुष्य को मनुष्य के शिर से पढ़ाना चाहिये ही । यहां कुछ विपरीतता दिखलानी है । यदि कही कि दध्यङ् ऋषि अपने शिर को अलग कर शिशु के शिर को धारण कर शिष्य को पढ़ाते हैं या पढ़ाया, ऐसा यदि कहते तो इतना सन्देह नहीं होना । यह भी कहना ठीक नहीं । क्योंकि ऐसी २ बातें प्रायः गूढार्थ में कही जाती हैं । और कहीं बहुत ही सहजार्थ में कही जाती हैं दोनों अवस्था में व्याख्यान से ही कार्य सिद्ध होता है । “बालक के शिर से पढ़ाया” इसमें भी व्याख्यान की ही आवश्यकता थी । “अथ” शब्द के प्रयोग से यह एक गूढ़ तात्पर्य है कि तीव्र सवेग से आचार्य शिष्य को पढ़ावे । क्योंकि अथ शब्द का लक्ष्यार्थ तीव्र सवेग है । जैसे अथ बड़े वेग से दौड़ता है तद्वत् ।

प्रश्न—यहां दिन रात्रि को शिष्य क्योंकर माना, क्या इसमें भी कोई विशेष तात्पर्य है ? ।

उत्तर—हा, हमसे भी विशेष तात्पर्य है जैसे दिन के अनन्तर रात्रि और रात्रि के अनन्तर दिन आते जाते रहते हैं । तद्वत् आचार्य के निकट एक पढ़ कर गया दूसरा आया । ब्रह्मचारियों का आना जाना बराबर लगातार लगा रहता है इस अर्थ को द्योतित करने के लिये दिन रात्रि वाचक अथि शब्द का प्रयोग हुआ है । और रूपक के द्वारा दिवस में पुरुषत्व और रात्रि में स्त्रीत्व का अभ्यारोप होता है । ऐसा संस्कृत का नियम है, इससे यह सूचित हुआ कि बालक बालिका दोनों विद्याध्ययन करें । रात्रि दिन शब्द में रात्रिस्थ और दिनस्थ पुरुषों का भी ग्रहण हो सकता है, विद्वान् लोग दिन में और रात्रि में पढ़ने वालों को रात्रि में पढ़ावें । इतर दो पक्षों में भी अभ्यारोप से यह व्याख्यायिका घटती है और राजा राज्ञी में तो सर्वथा घट सकती है ।

इन्द्र और दध्यङ्—अब इन्द्र ने दधीचि की आस्थियों से मृत्रों का हनन किया इस पर भीमासा करनी है । यहां एक भूल मालूम होती है । वेद के मन्त्र में “अस्थभिः” पाठ है । “अस्थन्” शब्द से “अस्थभिः” रूप होगा । संस्कृत में

एक “अस्थि” शब्द है जिसका अर्थ हड्डी होता है, परन्तु टीकाकार वा भाष्यकारों ने “अस्थभिः” का अर्थ “अस्थिभिः” किया है सो उचित प्रतीत नहीं होना । यहां “अस्थभिः” का अर्थ “अस्त्र” करते तो सभ सुसंगत हो जाता है । अर्थात् इन्द्र जो देशरक्षक प्रजापालक राजा है वह विद्वानों से आविष्कृत विविध (अस्थभिः) अस्त्रों से (वृत्राणि) प्रजा की बुद्धियों के आवरण करने वाले पापों को अथवा उग्रद्वों को (जघान) नाश किया करें । अथवा राजाओं को उचित है कि यह विद्वानों का अधिकतर आदर करें । इस विषय को सूचित करने के लिये ईश्वर शिक्षा देते हैं कि हे मनुष्यो ! विद्वानों की हड्डियां भी मरने के बाद काम करती हैं । केवल ये विद्वान् लोग जीते जागते ही काम नहीं करते हैं किन्तु मर जाने पर भी वे कार्य करते रहते हैं । उनके पढाये हुए विद्यार्थी गण, उनके विरचित अस्त्र शस्त्र, उनके बनाये हुए विविध ग्रन्थ, उनके शिक्षित राजपुरुषादि गण इनके मरने के पीछे बराबर कार्य करते रहते हैं, इस हेतु इन विद्वानों का आदर तुम अधिक करो । देखो इन्द्र ने दर्पाची के छोड़े हुए ग्रन्थादि स्वरूप अस्थियों से कार्य लिया इस पक्ष में अस्थि शब्द से ही “अस्थभिः” ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि वेगों में वैसा भी होता है ।

नवतीर्नव—संस्कृत में संख्याद्योतक नौ अङ्क होते हैं । जैसे—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ इसके अनन्तर एक अङ्क पर शून्य देने से १०, एक पर एक ११, एक पर दो १२ इस प्रकार नौ ही अङ्क हैं । और ९ के बाद शून्य है । जैसे ९ के बाद १०, १९ के बाद २०, २९ के बाद ३०, इसी प्रकार ३९ के ४०, ४९ के ५० के ५९, ६० इत्यादि । इससे यह सिद्ध हुआ कि नौ के बाद कोई अङ्क नहीं । इस हेतु नवम अङ्क “सर्वार्थक, समस्तार्थ” है । अर्थात् नौ का अर्थ सब विलकुल, समस्त आदि है । और ९ पर एक ही शून्य देने से ९० नवति, नव्वे होता है । शून्य शब्द का अर्थ क्या है ?, कुछ नहीं ।

तब वेद मन्त्र का भाव यह हुआ कि नौ अर्थात् सकल विघ्नों को नाश करना है और जब मकल विघ्नों का नाश होगया तो उन विघ्नों की शून्यता होगई । देश विघ्नों से शून्य=रहित होगया । इस भाव को ९० दिखलाता है । इस पर वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय में भी देखो । इसके अन्यान्य भी अर्थ किये गए हैं ।

मन्त्र—१, २, ३ आदि शब्दों को तो ऋषियों ने वा मनुष्यों ने बनाया है, और वेद ईश्वरीय हैं। उस समय अङ्क नहीं थे फिर आपका अर्थ कैसे पट सकता है।

उत्तर—वेद के अभिप्राय से ही ऋषियों ने सत्र विद्याएँ निकाली हैं। “न द्वितीयो न तृतीयो” इत्यादि वेद के मन्त्र में नव अङ्क के ही मङ्केन प्रतीत होते हैं इस हेतु ऋषियों ने वेद के सङ्केत के अनुसार नौ ही अङ्क रखे हैं।

प्रश्न—तमुत्वा दध्यङ्पिः पुत्र ईधे अयर्षणः वृत्रहणं पुरन्दरम् ॥

इस मन्त्र में तो साक्षात् अथर्वा का पुत्र दध्यङ् ऋषि कहे गये हैं। हमसे यह सिद्ध है कि अथर्वा के बाद ही वेद बना है और इसमें मनुष्य का इतिहास है।

उत्तर—यहां अथर्ष नाम ईश्वर का है और पुत्र नाम अधिकारी का है जो विद्वान् है वह ईश्वरीय धन का अधिकारी है, यह इसका भाव है। यहा अथर्वा या दध्यङ्, मनु आदि जो वेद में शब्द आये हैं वे किसी मनुष्य याचक शब्द नहीं हैं। ‘वैदिक इतिहासार्थ निर्णय’ में इसकी भीमासा देखो।

अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ वंशः—

पौतिमाध्यः—गौपवनात् ।	गौपवनः—पौतिमाध्यात् ।
पौतिमाध्यः—गौपवनात् ।	गौपवनः—कौशिकात् ।
कौशिकः—कौण्डिन्यात् ।	कौण्डिन्यः—शाण्डिन्यात् ।
शाण्डिल्यः—कौशिकाच्च गौतमाच्च ।	— गौतमः—(१)
— —आग्निवेश्यात् ।	आग्निवेश्यः—शाण्डिल्याच्च अनभि- म्लाताच्च ।
अनभिम्लातः—आनभिम्लातात् ।	आनभिम्लातः—आनभिम्लातात् ।
अनभिम्लातः—गौतमात् ।	गौतमः—सैतव प्राचीनयोगाम्नाम् ।
सैतव प्राचीनयोग्यौ—पाराशर्यात् ।	पाराशर्यः—भारद्वाजात् ।
भारद्वाजः—भारद्वाजाच्च, गौतमाच्च ।	गौतमः—भारद्वाजात् ।
भारद्वाजः—पाराशर्यात् ।	पाराशर्यः—वैजवापायनात् ।

पौतिमाध्य ने गौपवन से विद्या प्राप्त की । गौपवन ने पौतिमाध्य से विद्या प्राप्त की ।
 पौतिमाध्य ने गौपवन से " " । गौपवन ने कौशिक से " " ।
 कौशिक ने कौण्डिन्य से " " । कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से " " ।
 शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम, " " । गौतम ने (१) " " ।
 — आग्निवेश्य से " " । आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और अनभिम्लात
 से विद्या प्राप्त की ।
 अनभिम्लात ने आनभिम्लात से " " । आनभिम्लात ने आनभिम्लात से विद्या प्राप्त की ।
 आनभिम्लात ने गौतम से, " " । गौतम ने सैतव और प्राचीन योग्य से
 विद्या प्राप्त की ।
 सैतव और प्राचीन योग्य ने पाराशर्य से । पाराशर्य ने भारद्वाज से विद्या प्राप्त की ।
 भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम से । गौतम ने भारद्वाज से विद्या प्राप्त की ।
 भारद्वाज ने पाराशर्य से विद्या प्राप्त की । पाराशर्य ने वैजवापायन से विद्या प्राप्त की ।

वैजयापायनः—कौशिकायनेः ।	कौशिकायनिः—(२)
— घृतकौशिकात् ।	घृतकौशिकः—पाराशर्यायणात् ।
पाराशर्यायणः—पाराशर्यात् ।	पाराशर्यः—जातूकर्ण्यत् ।
जातूकर्ण्यः—आसुरायणाच्च यास्कश्च ।	आसुरायणः—त्रैवणेः ।
त्रैवणिः—औपजन्धनेः ।	औपजन्धनिः—आसुरेः ।
आसुरिः—भारद्वाजात् ।	भारद्वाजः—आत्रेयात् ।
आत्रेयः—माण्डेः ।	माण्डिः—गौतमात् ।
गौतमः—गौतमात् ।	गौतमः—वात्स्यात् ।
वात्स्यः—शाण्डिल्यात् ।	शाण्डिल्यः—कैशोर्यकाप्यात् ।
कैशोर्यकाप्यः—कुमारहारीतात् ।	कुमारहारीतः—गालवात् ।
गालवः—विदर्भिकौण्डिन्यात् ।	विदर्भिकौण्डिन्यः—वत्सनपातोवाभ्रवात् ।
वत्सनपाद्वाभ्रवः—पन्यासौभरात् ।	पन्याः सौभरः—आयास्यादाङ्गिरसात् ।

वैजयापायनने कौशिकायनि से विद्या प्राप्त की । कौशिकायनि ने (२) ।

— घृतकौशिक से	” ”	। घृतकौशिकने पाराशर्यायण से,, ।
पाराशर्यायणने पाराशर्य से	” ”	। पाराशर्यने जातूकर्ण्य से,, ।
जातूकर्ण्यने आसुरायण और यास्क से,,	” ”	। आसुरायण और यास्कने त्रैवणि से विद्या प्राप्त की ।
त्रैवणि ने औपजन्धनि से	” ”	। औपजन्धनि ने आसुरि से ” ।
आसुरि ने भारद्वाज से	” ”	। भारद्वाज ने आत्रेय से ” ” ।
आत्रेय ने माण्डि से	” ”	। माण्डिने गौतमसे विद्या प्राप्त की ।
गौतम ने गौतम से	” ”	। गौतम ने वात्स्य से विद्या प्राप्त की
वात्स्य ने शाण्डिल्य से	” ”	। शाण्डिल्य ने कैशोर्यकाप्य से,, ।
कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारीत से	” ”	। कुमारहारीत ने गालव से विद्या प्राप्त की ।
गालव ने विदर्भि कौण्डिन्य से	” ”	। विदर्भि कौण्डिन्य ने वत्सनपातवा- भ्रव से विद्या प्राप्त की ।
वत्सनपातवाभ्रवने पन्यासौभर से	” ”	। पन्यासौभर ने आयास्य आङ्गिरस से विद्या प्राप्त की ।

आयास्य आङ्गिरसः—आभूतेः त्वाष्ट्रत् । आभूतिस्त्वाष्ट्रः—विश्वरूपात्त्वाष्ट्रत् ।
 विश्वरूपाः त्वाष्ट्रः—अग्निभ्याम् । अग्निनौ—दधीच आधर्वणात् ।
 दध्यङ् दध्यर्वाणः—अथर्वाणो दैवात् । अथर्वा दैवः—मृत्योः प्राध्वंसनात् ।
 मृत्युः प्राध्वंसनः—प्रध्वंसनात् । प्रध्वंसनः—एकर्षेः ।
 एकर्षिः—विप्रचित्तेः । विप्रचित्तिः—व्यष्टेः ।
 व्यष्टिः—सनातः । सनातः—सनातनात् ।
 सनातनः—सनगात् । सनगः—परमेष्ठिनः ।
 परमेष्ठी—ब्रह्मणः । ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

आयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से विद्या प्राप्त की । आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप
 त्वाष्ट्र से विद्या प्राप्त की ।
 विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अग्निद्वय से विद्या प्राप्त की । अग्नी ने दध्यङ् आधर्वण से
 विद्या प्राप्त की ।
 दध्यङ् आधर्वण ने अथर्वा दैव से ,, ,, । अथर्वा दैव ने मृत्यु प्राध्वंसन से ,, ,, ।
 मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से ,, ,, । प्रध्वंसन ने एकर्षि से ,, ,, ।
 एकर्षि ने विप्रचित्ति से ,, ,, । विप्रचित्ति ने व्यष्टि से ,, ,, ।
 व्यष्टि ने सनात से ,, ,, । सनात ने सनातन से ,, ,, ।
 सनातन ने सनग से ,, ,, । सनग ने परमेष्ठी से ,, ,, ।
 परमेष्ठी ने ब्रह्म से ,, ,, । ब्रह्म स्वयंभु है उस ब्रह्म को नमस्कार ॥ ३ ॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

मृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायः

समाप्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयाध्यायारम्भः ॥

अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

जनको ह वेदेहो बहुदक्षिणेन चक्षेत्रे तत्र ह कुरुप-
ञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता वभूवुस्तस्य ह जनकस्य
वेदेहस्य विजिज्ञासा वभूव कः सिद्धेयां ब्राह्मणानामनूचा-
नतम इति स ह गवां सहस्रमवरुोध दश दश पादा-
एकेकस्याः शृङ्गयोरावद्धा वभूवुः ॥ १ ॥

अनुवाद—वैदेह जनक महाराज ने (किमी एक समय) बहुदक्षिण * ना-
मक यज्ञ द्वारा यज्ञ किया । यहां कुरु और पञ्चाल देश के ब्राह्मण एकत्रिन हुए
(तत्पञ्चान्) उम वैदेह जनक महाराज को विशेष रूप से जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि
इन ब्राह्मणों में “अनूचानतम” † कौन है । इस हेतु उन प्रसिद्ध राजा ने एक
सहस्र गायें (गोशाला में) रोक़ीं । और एक २ गाय के दोनों सींगों में दश दश
पाद ‡ बांधे गये ॥ १ ॥

* बहु दक्षिण=राक्षसचार्य कहते हैं कि अश्वमेध यज्ञ का नाम बहुदक्षिण
है ऐसा किमी शाखा में है । जिसमें बहुत दक्षिणा दी जाय उमे बहुदक्षिण कह
सकते हैं । अश्वमेध में बहुत दक्षिणा होती है इस हेतु उमे बहु दक्षिण कहते हैं ।
अथवा जिस किमी यज्ञ में बहुत दक्षिणा दी जाय उम सब को बहुदक्षिण कह
सकते हैं । राजन्यादि यज्ञ में भी बहुत दक्षिणा होती है ॥

† अनूचान=वेद जाननेवाले । जो अतिशय विद्वान् हों उन्हें अनूचानतम
कहते हैं । भाष्याशय देखो ॥

‡ पाद=मोने के एक पल के चतुर्य भाग को पाद कहते हैं ॥

पदार्थ—किम्भी समय में (वैदेहः) वैदेह (जनकः+ह) सुप्रसिद्ध जनक नाम के राजा हुए । उन्होंने (यदुदक्षिणेन) बहुत दक्षिणा वाले (यज्ञेन) यज्ञ में (ईजे) यज्ञ किया अर्थात् बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ को किया (तत्र) उस यज्ञ में (ह) परम प्रसिद्ध (बृहस्पत्यालानाम्) कुरु और पञ्चाल देश के (प्रा-
 ह्वणाः) ब्रह्मवित् पुरुष (अभिसमेताः+यभूयुः) इकट्ठे हुए क्योंकि महाराजों के यज्ञ केवल अपने पुरोहितादियों से ही नहीं होते किन्तु उस समय के द्वीप द्वीपान्तर में प्रसिद्ध विद्वान् जितने होते वे सब ही बुलाये जाते हैं । यहाँ ब्रह्म विष्ठा का प्रसंग है अतः केवल दो एक प्रसिद्ध देश का नाम कह दिया है । परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इन्हीं दो देशों के ब्राह्मण आये थे अब ऐसे विद्वानों का संगम केवल दक्षिणा मात्र के लिये ही नहीं होता किन्तु ऐसे समय पर बहुत सूक्ष्म विषय का विचार भी होता था । अतः आगे प्रस्तावना की जाती है ।
 (तस्य+ह+जनकस्य+वैदेहस्य) उन प्रसिद्ध वैदेह जनक महाराज को (विभिज्ञासा+यभूय) विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हुई सो आगे कहते हैं—(एषाम्+ब्राह्मणानाम्) इन माननीय ब्राह्मणों के मध्य (कः+स्वित्) कौन (अनूचानतमः) अतिशय अनूचान=वैदित् हैं । यद्यपि ये सब ही अनूचान हैं इसमें सन्देह नहीं किन्तु सारगम्य सर्वत्र रहता है इस हेतु इनमें सब से बढ़ कर अनूचान कौन हैं (इति) ऐसी जिज्ञासा जनक महाराज को उत्पन्न हुई । इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये राजा ने क्या उपाय किया सो आगे कहते हैं—(सः+ह) उन राजा ने (गयाम्+महस्रम्) गायों का एक सहस्र अर्थात् एक सहस्र नवीन दुग्धवती गायों को (हरोष) किसी एक स्थान में रोका अर्थात् भृत्यादिकों के द्वारा एक सहस्र गायें भगवाई और (एकैकस्याः) एक २ गाय के (शृङ्गयोः) दोनों सींगों में (दश+दश+पाद) दश दश पाद सोने (एक पल के चतुर्थ भाग का नाम पाद है) (आनद्धा+यभूयुः) बांधे गये । अर्थात् उन सहस्रों गायों के एक एक सींग में सोने के पाच पाच पाद बांधे गये । बांध कर क्या किया सो आगे कहेंगे ॥१॥

भाष्यम्—जनक इति । विदेहाः क्षत्रियास्तेषां निवासा जनपदास्तेपि विदेहाः । विदेहानां क्षत्रियाणां जनपदान्तर्वा राजा वैदेहः । “जनपदे लुप् ४ । २ । ८१ ॥” “लुपिपुङ्गवद्व्याक्रिवचने १ । २ । ५१ ॥” इति नियमात् ।

जनपदो ग्राममुदायः । यद्वा । विगतोदेहोऽभिमानादिदेहधर्मो यस्य सः विदेहः
 कश्चिद्राजा तस्यापत्यं पुमान् वैदेहः । निदेहं प्रति पुराणानि इतिहासाश्च बहु-
 वादिनो दृश्यन्ते । प्रथमं “मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः ।
 रागद्वेषाधिकाराच्चमूयेर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति । दोषैः प्रयुक्तः शरी-
 रेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिसिद्धमैधुनान्याचरति । वाचाऽनृत परुषसूचनासम्ब-
 डानि । मनसा परद्रोहं परद्रव्यामीप्सां नास्तिवयञ्चेति ।” इति वात्स्यायनमु-
 निना स्वन्यायमाप्ये प्रतिपादितम् । इमे एव शरीरधर्माः पापाय भवन्ति । अतो
 रागद्वेषरहित इति सूचितम् । रागद्वेषरहित एव पुरुषः मज्जानां जनको भवितुम-
 र्हति । अतः स जनक इति नाम्ना विरुधातो बभूव । स ह वैदेहो जनकः
 सम्राट् कदाचित् बहुदक्षिणेन बह्व्यो दक्षिणा ऋतिजांसत्काररूपाणि दानानि
 यस्मिन् स बहुदक्षिणस्तेन राजमूयेन यज्ञेन क्रतुना । “शाखान्तरप्रसिद्धो
 बहुदक्षिणो नाम यज्ञोऽश्वमेधो वा दक्षिणाचाहुन्याद् बहुदक्षिण उच्यते इति”
 शङ्करः ईजे अयजत । क्रियाफलस्य यजमानगामित्वादात्मनेपदम् । नहि
 सम्राजो यज्ञः स्वैरेव पुणोहितादिभिः सम्पाद्येत । किं तर्हि सत्कालीनाः सर्वे
 द्वेष्टा विद्वांसः समभियन्ति । अतोऽग्रे तत्सामयिकान् आगतान् प्रधानाननूचा-
 नान् देशनाम्ना उत्कीर्तयति तत्र ह तस्मिन् सुविख्याते यज्ञे कुरूपञ्चालानाम् ।
 कुरवश्च पञ्चालाश्चेति कुरूपञ्चाला देशविशेषास्तेषाम् ब्राह्मणा ब्रह्मविद्यायां
 निपुणाः अभिसमेताः अभितः परितः समेताः संगता बभूवुः । ते च यथा-
 योग्यं नृपेण विधिना पूजिता बभूवुः । नहीदृशानामनूचानतमानां संगमः केवलं
 कर्मणामार्तिव्रीनानां विधानाय भवति किन्तु सूक्ष्मतमानामितरपुरुषैरमीमां-
 स्यानां तत्त्वानां परस्परसम्बादैरवधारणायाऽवस्तदर्थं प्रस्तूयते तस्य ह जनकस्य
 वैदेहस्य रिजिज्ञासा बभूव शतुमिच्छा जिज्ञासा विशेषाजिज्ञासा विजिज्ञासा ।
 यतः सा ब्रह्मविषयिणी वर्त्तते । अतः स निशेषास्ति । सा का विजिज्ञासा-
 एषामभिसमेतानाम् ब्राह्मणानां मध्ये कः स्वित् कः खलु अनूचान्तमः अति-
 शयेन अनूचानोऽनूचान्तमः अतिशयने तमविष्टनौ ५ । ३ । ५५ ॥ आचा-
 र्यमुखान्निःसृतानि वचनानि योऽनुब्रवीति पश्चाद्ब्रवीति सोऽनूचानः । वेदस्या-
 नुवचनं कृतवानित्यर्थः । उपेयिननाश्चाननूचानश्च ३ । २ । १०६ ॥ एते
 निमात्यन्ते । यद्यप्यत्र समवेता ब्राह्मणा सर्व एव अनूचानाः सन्ति । तथापि

तारतम्यं भवत्येव । अतोतिशयितोऽनूचानः कोऽस्तीति विजिज्ञासा बभूव ।
 भनतु नावद्विजिज्ञासा । तदर्थं तेन किंकृतमित्याह—तद्विषय जिज्ञासुः स मन्नाद्
 तद्विज्ञानोपायार्थम् गन्ताम् होमादिसम्पादकत्वेन प्रियत्वात् प्रथमवयसां धेनूनाम्
 सहस्रमेकमहस्रम् अवरुरोष । तत्रैकस्मिन् स्थानेऽवरोधनं कारयामास । तथा
 च एकैकस्थाः तस्या गोः शृङ्गयोः उभयोः शृङ्गयोर्मध्ये दश दश पादाः आ-
 बद्धानि बद्धा बभूवुः । सुवर्णस्य पलचतुर्थभागः पादो निगद्यते । अतः सुव-
 र्णस्य पञ्च पञ्च पादाः सर्वासां गवामेकैकस्मिन् शृङ्गे निबद्धा कारिता इत्यर्थः ।
 ईदृशं गवां सहस्रमवरुरोष । अवरुष्य किं कृतवानिति वक्ष्यत्यग्रे ॥ १ ॥

भाष्याशय—जनक=पिता (जनयति उत्पादयति जनक) जो उत्पन्न करे ।
 शिजन्ते जन वातु से बनता है, परन्तु मिथिला जिसको आजकल तिरहुत कहते
 हैं जिसने मुजफ्फरपुर, दरभंगा, सीतामढ़ी, समस्तीपुर आदि राह्र प्रसिद्ध हैं वस
 देश के राजा का नाम भी जनक था यह बात एक बालक भी आज कल जानता
 है, परन्तु विचारणीय यह है कि क्या किसी एक ही राजा का नाम जनक था वा
 औरों का भी । मालूम पड़ता है कि उस राज्य के अधिकारी जो जो राजा होता था
 वह सन ही “जनक” कहा जाता था । उन राजाओं की “जनक” एक पदवी थी
 ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि सन युग में “जनक” यह नाम पाया जाता है । काण्व
 वा वाजसनेय शास्त्र के जितने ब्राह्मण हैं प्रायः उनमें जनक राजा का नाम बराबर
 आता है । ये ग्रन्थ सन अति प्राचीन हैं । त्रेता में रामचन्द्र के खसुर भी जनक
 कहे जाते हैं । पुनः कलियुग के प्रारम्भ में व्यासपुत्र शनार्थ ने भी मिथिला-
 धिपति जनक महाराज के निकट जाकर शिक्षा ली है ऐसी आख्यायिका भी आती
 है । इतनी आयु एक ही राजा की होनी मर्यादा असम्भव है । अतः प्रतीत होता
 है कि वंशपरंपरा की “जनक” यह पदवी थी । जैसे आजकल द्विवेदी, उपाध्याय,
 मोत्रिय आदि अनेक पदवियाँ हैं ॥

जदा से “जनक” यह पदवी चली है, वहा ऐसा कारण मालूम होता है कि
 यह राजा बहुत दयालु बहुत ही प्रजारक्षक बहुत ही प्रसिद्ध हुआ होगा । अतः
 सब प्रजाएँ जनक जनक (पिता, पिता) कहकर उसे पुकारती होंगी, इस हेतु

उस राजा का नाम जनक हुआ होगा । पीछे उस वंश के सब ही राजा जनक नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे । कर्मणैवहिंसिद्धिमास्थिता जनकादयः । गीता ३ । २० ॥” कर्म से ही जनकादि महाराज सिद्धि को प्राप्त हुए । “अथ हैनं जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसेमेत्योवाच भगवन् सन्यासे ब्रूहीति” जाबालोपनिषद् ॥ ४ ॥ महाभारतादि में इनकी बहुत ही आर्यायिका आई हैं ।

वैदेह—विदेहशब्द से “वैदेह” बनता है “विदेह” शब्द का अर्थ सामान्य रीति से देशरहित अर्थ करते हैं । “वि” यह उपसर्ग है । विशेष, वैरूप्य, नवर्त्य, गति और दान इतने अर्थ में यह आता है । यहां नवर्त्य का ग्रहण है । जैसे विजातीय, विधर्मा, विनिद्र (निद्रारहित), विशोक (शोकरहित), विजन (जनरहित), विकल (कल व्यक्त ध्वनि या कलारहित), विकल (दुराध काल) आदि शब्द में और जैसे मनुस्मृति में (पातण्डिनो विकर्मस्थाः) यहां, विकर्मशब्द का अर्थ विरुद्धाचरण होता है । विरुद्धाचरण में जो रहे उसे विकर्मस्थ कहते हैं । और जैसे पाणिनिसूत्र (२ । १ । ६) में “व्यूद्धि” शब्द आया है “विगता व्युद्धि” विगतव्यूद्धि को “व्यूद्धि” कहा है इस प्रकार के बहुत उदाहरण हैं । परन्तु विशेष अर्थ में इनके बहुत प्रयोग आते हैं । जैसे नश्वर और विनश्वर, जय और विजय, घातक विघातक, नारा और विनारा, रयात और विख्यात, नय और विनय, शुत् और विद्युत्, कारा और विकाश इस प्रकार के सहस्रों शब्द संस्कृत में भरे पड़े हुए हैं । तब इसके अनुसार “विदेह” शब्द के दो अर्थ होंगे एक तो देशरहित और दूसरा विशेष देहवाला स्थूलशरीर वाला (विशेषः स्थूलो देहो यस्य । यद्वा विशेषेण देग्धि उपचिनोति वर्धते यः स) जिसका वि=विशेष अर्थात् स्थूल देह हो । यद्वा जो विशेषरूप से बढ़े अर्थात् जो बहुत बढ़े उसे विदेह कहना चाहिये इत्यादि अर्थ इसका होगा । मालूम पड़ता है कि “विदेह” यह नाम देशवाचक था क्योंकि देश की लम्बाई चौड़ाई ही देह है और जिसकी लम्बाई चौड़ाई अधिक हो वह विदेह । संस्कृत का यह एक नियम है कि देश और उस देश के रहनेवाले एक ही नाम से पुकारे जाते हैं । जैसे कुरु, पञ्चाल, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग सब शब्द देश और वहा के मनुष्य दोनों को जनाते हैं । उस विदेह देश वा मनुष्यों का जो राजा सो वैदेह कहलाता होगा ऐसा प्रतीत होता है । यद्वा “विदेह” शब्द का

यह भी अर्थ हो सकता है कि जिसका देह न हो अर्थात् अभिमान आदिक जो देहधर्म सो जिसको न हो अर्थात् अभिमान आदिक दुर्गुणों से रहित ॥

न्यायभाष्य में वात्स्यायन अपि कहते हैं कि भ्रुण्यों को मिध्याज्ञान के कारण अनुकूल वस्तुओं में राग और प्रतिकूल वस्तुओं में द्वेष उत्पन्न होता है । और राग द्वेष के कारण असूया, ईर्ष्या, माया, लोभादि दोष उत्पन्न होते हैं । तब दोषप्रसू होकर शरीर से हिंसा, चोरी, प्रतिविद्ध मैथुन, वचन से मिध्याभाषण, कठोरता, विधुनता, मन से परद्रोह, पर धनेन्द्रा, नास्तिक्य आदि दुराचार करता है ये सब जो शरीर के धर्म हैं वे पाप के लिये होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि जनक महाराज रागद्वेष रहित थे । अतः प्रजाओं के “जनक” पिता भी बड़े जा सकते हैं ।

विदेह-शब्द को लेकर पुराणादिकों में अनेक प्रकार की आख्यायिकाएँ बनाई गई हैं । वाल्मीकिरामायण में भी लिखा है कि इक्ष्वाकु राजा के पुत्र निमि थे । इन्होंने यज्ञ करने की इच्छा से गुरु वसिष्ठ को यज्ञ करवाने के लिये प्रार्थना की परन्तु किसी कारण से वसिष्ठजी यज्ञ नहीं करवा सके । तब निमि राजा ने दूसरे से यज्ञ करवाया इस व्यापार को देख वसिष्ठ क्रुद्ध होकर निमि को शाप दिया कि तूने देह रहित होजाओ, वे ऐसे ही होगये । ऋषियों ने निमि के शरीर का मथन किया । उससे एक बालक उत्पन्न हुआ । मथन से उत्पन्न हुआ इस हेतु “मिथि” और देह रहित हुआ अतः “विदेह” और जनन से उत्पन्न हुआ इस हेतु “जनक” कहलाया । और उसके वंश के जितने राजा होते गये वे भी विदेह कहलाते गये ।

कुरु-यह एक देशवाचक शब्द है । वर्तमान दिल्ली के समीप देश को कुरु कहते हैं ।

पञ्चाल-वर्तमान वनोज्जसहित समीपस्थ देश को पञ्चाल । ये दोनों देश अविप्रसिद्ध थे ॥ १ ॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्राह्मिष्ठः स एता
गा उदजतामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषु रथ हं याज्ञवल्क्यः

स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति
ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुकुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो
ब्रवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो वभूव सहैनं
पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स
होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म
इति तं ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥ २ ॥

अनुवाद—उनसे महाराज जनक बोले कि हे भगवान् ब्राह्मणों ! आप लोगों
में जो ब्रह्मिष्ठ हों वे इन गौवों को लेजायं । परन्तु उन ब्राह्मणों ने धृष्टता नहीं की
तब याज्ञवल्क्य ने अपने ही ब्रह्मचारी से कहा कि हे सोम्य ! सामश्रवा ! इन गायों
को ले जाओ । तब वह उन गौवों को ले गया । तब वे ब्राह्मण क्रुद्ध होगये कि
यह कैसे, हम लोगों के मध्य में भी अपने को ब्रह्मिष्ठ कह सकता है । इसके अनन्तर
वैदेह जनक के अश्वल नामक एक होता ऋत्विज थे उमने इस याज्ञवल्क्य से पूछा
कि हे याज्ञवल्क्य ! क्या हम लोगों के मध्य आप ही ब्रह्मिष्ठ हैं । वे बोले ब्रह्मिष्ठ
पुरुष को मैं नमस्कार करता हूँ मैं गौवों की कामना करनेवाला हूँ । तब इसी कारण
होता अश्वल ने उनसे पूछना आरम्भ किया ॥ २ ॥

पदार्थ—(तान्+ह्+उवाच) जनकजी उन ब्राह्मणों से बोले कि (ब्राह्मणाः+
भगवन्तः) हे पूज्य माननीय ब्राह्मणों ! (यः+वः+ब्रह्मिष्ठः) जो कोई आप
लोगों के मध्य अतिशय श्रेष्ठ ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मविन् पुरुष हों (सः+एताः+गाः+
उदजताम्+इति) वे इन गौवों को अपने गृह लेजाय इतना कह के चुप हो गए ।
(ते+ह्+ब्राह्मणाः+न+दध्रुः) वे सुप्रसिद्ध ब्राह्मण प्रगल्भ नहीं हुए । अर्थात् गौ
लेने की उन्होंने धृष्टता प्रकट नहीं की (अथ+ह्+याज्ञवल्क्य) तब याज्ञवल्क्य
ने (स्वम्+एव+ब्रह्मचारिणम्+उवाच) निज ही ब्रह्मचारी से कहा कि (सोम्य+
सामश्रवाः+उ+इति) हे प्रिय ! हे सामवेदयशस्विन् ! (एताः+उदजः) तुम इन
गौवों को लेजाओ (इति+ताः+ह्+उदाचकार) गुरु का वचन सुन वह उन गौवों
को वहा से ले गया । तब (ते+ह्+ब्राह्मणाः+चुकुधुः) वे समस्त ब्राह्मण क्रुद्ध

हो गए । और धोले कि (वयम्+नः+ब्राह्मिणः+ब्रवीत) यह याज्ञवल्क्य हम लोगों के बीच में अपने को कैसे ब्राह्मिण अर्थात् सर्वोत्तम ब्रह्मवित् कह सकता । (अयं+ह+जनकस्य+वैदेहस्य+होता+अश्वलः+धभूय) पश्चात् जनक वैदेह के होता अश्वल नाम के थे (स+ह+एनम्+पप्रच्छ) उन होता ने इन याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछना आरम्भ किया (याज्ञवल्क्यः+नः+न्वम्+जु+तनु+ब्रह्मिणः+असि३+इति) हे याज्ञवल्क्य ! हम ब्राह्मणों में निश्चय क्या आप ही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हैं ? (सः+ह+उवाच+वयम्+ब्राह्मिणाय+नमः+कुर्मः) हे होता अश्वल ! हम सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुष को नमस्कार करते हैं हम ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं, किन्तु (गोत्रामाः+एव+वयम्+स्मः+इति) हम तो केवल गौर्वों की कामना करनेहारि ही हैं । (ततः+एव+होता+अश्वलः+तम्+ह+प्रष्टुम्+दधे) तब इसी कारण होता अश्वल ने उन याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछना आरम्भ किया ॥ २ ॥

भाष्यम्—तानिति । दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गपोरावद्धा बभूवुरित्युक्तम् । यथा च किं कृतवानित्याह—स ह जनको वैदेहः तान् अभिसमेतान् ब्राह्मणान् होवाच । हे भगवन्तः पूजनीयाः परममाननीया ब्राह्मणाः ब्रह्मतत्त्वविदः वो युष्माकं मध्ये यो ब्राह्मणः ब्राह्मिणः अतिशयेन ब्रह्मा ब्रह्मिणः । अतिशायने तमबिष्टनौ ५ । ३ । ५५ ॥ यद्यपि सर्वे यूयं ब्राह्मणाः तथापि युष्माकं मध्ये यः कथिदतिशयितो ब्रह्मास्ति ब्रह्मविदस्ति । स एताः पुरतस्थिताः गाः । एकसहस्र संख्याका गा । उदजतामिति प्रार्थये । स्वगृहं प्रति उदजताम् जयतु । न कोऽप्याऽस्मान् ब्रह्मिण मन्थेतेत्यतः ते ह सुमसिद्धाः ब्राह्मणाः न दष्टपुः । ता गा नेतुं न केपि ब्राह्मणाः प्रगल्भा बभूवुः । घृष प्रागन्म्ये । स्त्रीणां दृष्टां न केऽपि दर्शयामासुरित्यर्थः । तूष्णींभूतार्या परिपदि अनादित्त्वं सर्वानवलोक्य अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणं स्वान्तेवासिनमुवाच । ते सोम्य प्रियपुत्र ! हे सामभवा ! सामवेदे अबो यशो यस्य तत्संवेधने । हे सामवेदवित् ! एता गा उदज मम गृहं प्रति त्वं नय । इत्याचार्यस्त्याहां लब्ध्वा ता ह गा उदाचकार निनायेत्यर्थः । याज्ञवल्क्यस्य घृष्टतामिमां दृष्ट्वा ते ह ब्राह्मणाः चुक्रुधुः क्रुद्धा बभूवुः । क्रोधस्य कारणमाह—कथमयं याज्ञवल्क्यः । सोऽस्माक मध्ये अहं ब्रह्मिणोऽस्तीति ह्रवीत कथयेद्

अर्थात् केन प्रकारेणायं स्वात्मानं ब्रह्मिष्ठं कथयति । किं वयमस्मान्पूनाः किं मयं ब्रह्मणि अस्मदधिकं वेत्ति । केनाभिमानेन गा उद्गमयाञ्चकारेत्यादिभिर्हेतुभिः सर्वे ते चुकुरुः । अयं ब्राह्मणानां क्रोधानन्तरम् जनकस्य वैदेहस्य सप्राजः कश्चिदश्वलो नाम होता बभूव आसीत् । अध्याः प्रशस्ताः सन्त्यस्य अश्वलः । जुहोतीति होता ऋत्विक् । सदाश्वलोह एनं याज्ञवल्क्यं प्रति पप्रच्छ पृष्टवान् । हे याज्ञवल्क्य ! किं त्वं नु खलु नोऽन्माकं मध्ये ब्रह्मिष्ठोसीति मन्स-नार्थः प्लुतः । अनादरं दर्शयन्तुस्यैः स्वरेण स पृष्टवानित्यर्थः । इत्यमश्वलेन भर्तिसतः पृष्टश्च स ह याज्ञवल्क्य उवाच । हे अश्वल ! ब्रह्मिष्ठाय सर्वोत्तमाय ब्रह्मणे वयं नमस्कृमः । ब्रह्मविचनं पुरुषन्तु अहं नमस्करोमि । नाहं ब्रह्मिष्ठोऽस्मि “अस्मदो द्वयोश्च १ । २ । ५६ ॥ इति वयमित्यत्र बहुवचनम्” । यदि त्वं न ब्रह्मिष्ठोऽसि तर्हि ब्रह्मिष्ठपणभृता गाः कथमग्रहीः अभ्राह-वयं सम्प्रति गोकामा एव स्मः । नो पुं कामो येषामिति गोकामाः । इति त्रार्थं गवामावश्य-कर्ता भवति । अत्रोहं गाः प्रत्यग्रहीषम् । इति व्यङ्गेनोवाच याज्ञवल्क्यः । होताश्वलः तत एव येन हेतुना गावो नीतास्तस्मादेवकारणात् ब्रह्मिष्ठपणस्वी-कारादित्यर्थः । तं ह याज्ञवल्क्यम् प्रष्टुं दध्रे प्रभ्रान् प्रष्टुं मनो दधे ॥ २ ॥

व्याख्या—ब्रह्मिष्ठ=ब्रह्मन् शब्द से इष्टन् प्रत्यय होके ब्रह्मिष्ठ बनता है । ब्रह्मा, ब्राह्मण ये दोनों एकारिक हैं । सनाभवाः=सामनेद को जो सुना करे अर्थात् पडे । यहा सामनेद के कारण जिसकी बहुत कीर्ति है । सामभवाः ३ ब्रह्मिष्ठो-ऽसी ३ । इन दोनों पदों के आगे जो ३ तीन का अङ्क लिखा गया है वह प्लुत का सूचक है जब किसी शब्द पर जोर देना हो तो निरादर करना डांटना आदि अर्थ हो तो अन्तिम स्वर को प्लुत करके बोलते हैं । यथा—अरे सनिचरा ३ इधर आ । अरे घसुदेवा ३ तू कहां जाता है ? अश्वल जिसके चंचल घोड़े हों वह अश्वल कहाता है नयन, कर्ण, जिह्वा आदि इन्द्रिय ही घोड़े हैं । जनक महाराज के होता अतिचंचल चपल थे अतः इनको यहाँ अश्वल नाम से पुकारा है और चूंकि जनक के समीप वह होता का कार्य किया करते थे । याज्ञवल्क्य भी वहा ही रहते थे “अतिपरिचया दवज्ञा” इस हेतु होता अश्वल को सब से प्रथम प्रश्न पूछने का साहस हुआ । जिस कारण होत्रिस्म में ये निपुण थे अतः एतत्सम्बन्धी प्रश्न भी पूछेंगे ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्युनाऽऽतं सर्वं
मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योरातिमतिमुच्यत इति
होत्रस्विजाऽग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सो-
ऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽति मुक्तिः ॥ ३ ॥

अनुवाद—ये होता अश्वत्थ बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! यह सर्व वस्तु मृत्यु
से प्राप्त है । सन ही मृत्यु से गृहीत हैं तब किमसे यजमान मृत्यु की प्राप्ति से बच
सकता है । (याज्ञवल्क्य ने इसके उत्तर में कहा कि) होतारूप ऋत्विक् से ।
जो अग्नि है । जो वाणी है । वाग् ही यज्ञ का होता है । वह जो यह वाग् है
वह यह अग्नि है । वह (अग्नि) होता है । यह (होता) मुक्ति है । वह
(मुक्ति) अतिमुक्ति है ॥ ३ ॥

पदार्थ—पूर्व प्रकरण में कहा गया है कि वाग्, ओन, घ्राण, रसना आदि
सन ही यज्ञ के अयोग्य हैं क्योंकि इनमें स्वार्थ है । जब ये स्वार्थ को त्याग केवल
परार्थ की ही चिन्ता में लगते हैं तब ही ये यज्ञ के योग्य होते हैं और उनहीं शुद्ध
इन्द्रियो से यजमान भी अभीष्ट फल को प्राप्त हो सकता है । होता अश्वत्थ वस्तु-
मान को इस प्रकार अशुद्ध जान मुक्ति का मार्ग न देकर अपने जानने में बठिन प्रश्न
पूछना आरम्भ करते हैं (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) प्रथम हे याज्ञवल्क्य !
ऐसा सम्बोधन करके वह बोले अर्थात् हे याज्ञवल्क्य ! यदि आपसी सम्मति हो
तो मैं प्रश्न पूछू इस शिष्टता को दिखाने के हेतु प्रथम हे “याज्ञवल्क्य !” ऐसा
सम्बोधन पद आया है (यद्+इदम्+सर्वम्+मृत्युना+आतिम्) हे याज्ञवल्क्य ! यज्ञ में
जो कुछ वस्तु देयता है वह सन ही मृत्यु से प्राप्त है । केवल प्राप्त ही नहीं किन्तु
(मृत्युना+सर्वम्+अभिपन्नम्) मृत्यु से सन ही प्रस्त है । उस अवस्था में (केन+य-
जमान +मृत्यो +आतिम्+अतिमुच्यत+इति) किस वाग् के द्वारा यजमान मृत्यु की
प्राप्ति से अतिमुक्ति को प्राप्त करता है । इस प्रकार प्रश्न करके होता चुप हो गये
आगे समाधान हे (होता+ऋत्विजा) हे अश्वत्थ ! होता नाम वा जो ऋत्विक् है
इसी सहायता से यजमान अतिमुक्ति को पाता है । वह होता मनुष्य नहीं किन्तु
(अग्निना) अग्निरूप जो होता है । यह भौतिक अग्नि नहीं किन्तु (वाचा)

वचनरूप जो अग्नि है अर्थात् शुद्ध वाणीरूप होता वही सहायता से ही यजमान अतिमुक्ति को पासकता है । इसी को आगे विस्पष्ट करते हैं । हे अश्वत्थ ! (वाग्+ध्व+यज्ञस्य+होता) वचन ही यज्ञ का होता है (वत्+या+इयम्+वाग्+सः+अयम्+अग्निः) उस यज्ञ में जो यह वाग् है वही यह अग्नि है (सः+होता) वह अग्नि ही होता है (सः+मुक्तिः) वह मुक्ति है (सा+अतिमुक्तिः) वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है । इसका आशय आगे देखो ॥ ३ ॥

भाष्यम्—होतारश्चल इदानीं स्वाभीष्टान् प्रश्नान् प्रच्छति । स्वाभिमुखी-
कणापानुमतिप्रहणाय प्रथमं सम्बोधयति याज्ञवल्क्येति । यदि प्रश्नजिह्वासा-
यां तवानुमतिः स्यात्तर्हि प्रच्छामीति याज्ञवल्क्य इति सम्बोधयति । ततस्तस्या-
नुमतिं प्राप्य पृच्छतीति शिष्टव्यवहारः सूचितः । हे याज्ञवल्क्य ! यज्ञे यदिदं
वस्तु दृश्यते तत्सर्वं मृत्युना मरणधर्मेण विनाशेन आप्तम् व्याप्तम् । न
केवलमाप्तमेव किन्तु तत्सर्वं मृत्युना अभिपन्नम् अभितः परितः सम्यग्गृहीतं
घट्टम् । ईदृश्यामवस्थायां यजमानः केन वस्तुना मृत्योः आप्तिं व्याप्ति-
मभिपत्तिञ्च अतिमुच्यते अतिकृन्म गृहो भवति । इति होतुः प्रश्नः ।
अत्र याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—होत्राणां त्विजा अग्निना वाचा च । यजमानो मृत्यो-
राप्तिमतिमुच्यते । स्वयंक्यार्थं विशदयति वाग्यै याज्ञस्य होतव्यादिना । हे होतः !
यद्यपि सर्वं मृत्युना व्याप्तमस्ति तथापि यजमानस्य मुक्तेरुपाया सन्ति ।
यादृशं यज्ञं त्वं सम्पादयसि प्रतिदिनम् । तेन न कोऽपि विशेषलाभः । वाग् हि
अशुद्धा । मनश्चाशुद्धम् । द्रव्याण्यपि तादृशान्येव । यज्ञे शुद्धा पवित्रीभूता
वागेव होताऽस्ति । नान्यः कश्चिन्मनुष्यरूपः । सैव वाग् अग्निः नान्योऽग्निः
कल्पनीयः । स होता प्रवायूषोऽग्निरेव होता स होतैव मुक्तिः सा मुक्तिरेव अति-
मुक्तिः । यस्य वाणी असुरैरविद्धास्ति । स तथा वाण्या मृत्योरतिव्याप्तिमुल्ल-
ङ्घ्य व्रजति ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तं
सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमति-
मुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्या-

अध्वर्युस्तथादिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः
सातिमुक्तिः ॥ ४ ॥

अनुवाद—ये (होता अथल) बोलें कि हे याज्ञवल्क्य ! यह सब वस्तु
अहोरात्र से प्राप्त है । सब ही अहोरात्र से गृहीत है तब किस (उपाय) में
यजमान अहोरात्र की प्राप्ति से अतिमुक्त होता है । (यह मुन याज्ञवल्क्य कहते
हैं) अध्वर्यु नाम के ऋत्विक् से । जो चक्षु है । जो आदित्य है । चक्षु ही यह
का अध्वर्यु है अतः जो यह चक्षु है यह यह आदित्य है वह (आदित्य) अध्वर्यु
है वह (अध्वर्यु) मुक्ति है वह (मुक्ति) अतिमुक्ति है ॥ ४ ॥

पदार्थ—प्रथम यज्ञ में होता नाम का ऋत्विक् याग है यह कहा गया है ।
अन क्रमप्राप्त चक्षु का विषय लेते हैं । प्रथम प्रश्न के समाधान से सन्तुष्ट होता
अथल पुनः पूछना आरम्भ करते हैं—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उपाय) “हे
याज्ञवल्क्य !” ऐसा सम्बोधन करके वह होता बोलें (यद्+इदम्+सर्वम्+अहो-
रात्राभ्याम्+प्राप्तम्) इस यज्ञक्षेत्र में अथवा इस संसार में जो यह सब वस्तु है
वह दिन और रात्रि से प्राप्त है अर्थात् (अहोरात्राभ्याम्+अभिपन्नम्) दिन और
रात्रि से गृहीत है ऐसी अवस्थामें (केन+यजमान +अहोरात्रयोः) किस उपाय से
यजमान अहोरात्र की (प्राप्तिम्) प्राप्ति को (अतिमुच्यते) उल्लङ्घन करके मुक्त
हो सकता है (इति) यह मेरा प्रश्न है । इसमें उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि
हे होता अथल ! (अध्वर्युणा+ऋत्विजा) अध्वर्यु नाम का जो ऋत्विक् है उसी
की सहायता से यजमान अतिमुक्त हो सकता है, परन्तु वह अध्वर्यु मनुष्य नहीं
निन्तु (चक्षुषा) नेत्ररूप जो अध्वर्यु है । नेत्र भी यह नहीं निन्तु (आदित्येन)
आदित्यरूप जो चक्षु है । अर्थात् शुद्ध पवित्र नयनरूप अध्वर्यु ही मुख्यसाधन है ।
(चक्षुः+वै+यज्ञस्य+अध्वर्यु) है होता । यह शुद्ध चक्षु ही यज्ञ का अध्वर्यु है
(तत्+यद्+इदम्+चक्षुः) सो जो यह चक्षु है (स+असी+आदित्यः) वह यह
आदित्य आकाश में दृश्यमान आदित्य है (सः+अध्वर्युः) वह आदित्य अध्वर्यु
है (सः+मुक्तिः) वह अध्वर्यु मुक्ति है (सा+अतिमुक्तिः) वह मुक्ति ही
अतिमुक्ति है ॥ ४ ॥

आशय—यह है कि मानुष अध्वर्यु से कोई विशेष लाभ नहीं किन्तु इम शरीर-स्थ जो यह नयन हैं वही यथार्थ में अध्वर्यु हैं क्योंकि इमके बिना किसी यज्ञका सम्पादन नहीं हो सकता है । परन्तु चक्षु भी तो स्वार्थप्रसू है यज्ञ में इसका भी पराजय हो चुका है तब चक्षु मे कैसे यजमान अतिमुक्ति को प्राप्त होता है । इस पर कहते हैं कि (आदित्येन) आदित्यरूप चक्षु अर्थात् परमपवित्र चक्षु क्योंकि पूर्ण में कहा गया है । “अथ ह चक्षुरत्यवहत् तद्यदा मृत्युमतिमुच्यत स आदित्योऽभवत् सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति” कि जय यह चक्षु स्वार्थरूप मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है तब यही आदित्य होता है अर्थात् जैसे चक्षु का कारणस्वरूप आदित्य में किंचिन् भी स्वार्थ नहीं तद्वत् यह भी चक्षु हो जाता है । यही चक्षु का आदित्य होना है । इतिदिक् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति किमेकमेव वागीन्द्रियं शोधयितव्यमन्यानि वा । इदं दर्शयितुं द्वितीयप्रश्नव्याजेन कण्डिकामारभते । प्रथमं प्रश्नस्य मतिवचनं स्वसन्तोषजनकं दृष्ट्वा प्रश्नान्तरं प्रष्टुमनुमतिं प्राप्तये पुनरपि संबोधयति याज्ञवल्क्येति । हे याज्ञवल्क्य ! यदि त्वानुज्ञास्यात्तर्हि द्वितीयं प्रश्नं यज्ञसम्बन्धिनमेव पृच्छेयमिति होतास्रल उवाच । स्वप्रश्नमुद्घाटयति । यदिदं यज्ञस्य व्याप्तं वस्तु प्रसारितं दृश्यते । अयना जगति यत्किमपि वस्तु वर्तते तत्सर्वम् अहोरात्राभ्यामन्धारात्प्राच आप्तम् व्याप्तम् । अहश्चरात्रिश्च अहोरात्रः साम्याम् । न केवलं साम्यामाप्तमेव किन्तर्हि रात्राभ्यामिदं सर्वं अभिपन्नं प्रसितम् निगलितम् । ईदृश्यामन्नस्थायाम् हे याज्ञवल्क्य ! यजमानो यज्ञफलमोक्षा केन साधनेन अहोरात्रयो आप्तिं व्याप्तिं अभिपत्तिञ्च अतिमुच्यते अतिक्रम्य मुक्तो भवेत् । अहोरात्रयो व्याप्तिमतिक्रम्य मुक्तो भवेतीति प्रश्नः । समाधत्ते—अध्वर्युना अस्त्रिजा, चक्षुषा, आदित्येन एतैस्त्रिभिः साधनैर्यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यते । किमेते त्रयो भिन्नत्वेन अभिप्रेता सन् एकत्वेन । तत्र स्वार्थं प्रकाशयति । हे अक्षल ! यज्ञस्य अध्वर्युश्चक्षुरेव । न कोऽप्यन्योऽनुष्यः । तत्तत्र यदिदं चक्षुर्वर्तते सोऽसौ दूरस्थो दृश्यमानो जगत्प्रकाशक आदित्यः । न हि साक्षादित्यश्चक्षुरस्ति । आदित्येनानुगृहीतं वर्तते । सोऽध्वर्युरेवमुक्तिः । सा मुक्तिरेव अतिमुक्तिः ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्या-
माप्तं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्व-
पक्षापरपक्षयोरप्राप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रत्विजा वायुना प्राणेन
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तयोऽयं प्राणः स वायुः स
उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ५ ॥

अनुवाद—वह होता अश्वत्थ पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! यह सब पूर्वपक्ष
और अपरपक्ष से व्याप्त है अर्थात् मन ही वस्तु पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से गृहीत
है तब किम उपाय ने यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की प्राप्ति से अतिमुक्ति
को प्राप्त हो (यह प्रश्न सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं) उद्गाता नाम के ऋत्विक्
से, जो प्राण वायु है । जो प्राण है । निश्चय, प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है इम-
लिये जो यह प्राण है वह वायु है । वह उद्गाता है । वह मुक्ति है । वह अति-
मुक्ति है ॥ ५ ॥

पदार्थ—अब प्रमप्राप्त प्राणैन्द्रिय के उद्देश से आगे प्रश्न करते हैं—(याज्ञ-
वल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा कहके वह होता अश्वत्थ पुनः बोले
(यदि+इदम्+सर्वम्+पूर्वपक्षानपरपक्षाभ्याम्+आप्तम्) यह सब पदार्थ पूर्वपक्ष अर्थात्
कृष्णपक्ष और अपरपक्ष अर्थात् शुक्लपक्ष इन दोनों पक्षों से व्याप्त है अर्थात् (मनम्+
पूर्वपक्षापरपक्षाभ्याम्+अभिपन्नम्) तब पदार्थ पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से गृहीत हैं ।
(केन+यजमान +पूर्वपक्षापरपक्षयो.+प्राप्तिम्+अतिमुच्यते+इति) इस अवस्था में हे
याज्ञवल्क्य ! किम उपाय से यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति से अतिमुक्ति
प्राप्त होता है यह मेरा प्रश्न है (उद्गात्रा+ऋत्विजा) याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे
अश्वत्थ उद्गात्र नाम का जो ऋत्विक् है उसी की सहायता से यजमान कृष्ण पा-

* पूर्व समय में शुक्लपक्ष से मास आरम्भ माना जाता था और अमा-
वास्या को मास की समाप्ति मानी जाती थी । उसके अनुसार पूर्वपक्ष “शुक्लपक्ष”
और अपरपक्ष “कृष्णपक्ष” अर्थ होगा, परन्तु आजकल कृष्णपक्ष से मास आरम्भ
कर शुक्लपक्ष में समाप्ति मानी गई है । अब मैंने ऐसा ही अर्थ कर दिया है ॥

सन्ता है । परन्तु मानव उद्गाता नहीं किन्तु (वायुना) घ्राणवायुरूप जो उद्गाता है उससे । यह घ्राण भी नहीं किन्तु (घ्राणेन) वाह्यवायुरूप जो घ्राण है । अर्थात् शुद्ध पवित्र घ्राण यदि हो तो यजमान का कन्याण है । हे अश्वत्थ ! (घ्राण + वै + यज्ञस्य + उद्गाता) निश्चय यह घ्राण ही यज्ञ का उद्गाता है । (तद् + य. + अयम् + घ्राणः) इसलिये जो यह घ्राण अर्थात् घ्राणेन्द्रिय वायु है (सः + वायुः) वही यह वाह्यवायु है (सः + उद्गाता) वही वायु उद्गाता है (सः + मुक्तिः + सा + अतिमुक्तिः) वह उद्गाता ही मुक्ति है और वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है । अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय को शुद्ध करना और उसी से कार्य लेना परमसाधन है । अज्ञ अज्ञानीजन यज्ञ में मानव उद्गाता को बैठाकर और उससे वेद गयाकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं, परन्तु इस शरीरस्थ उद्गाता की खबर ही नहीं । अतः हे अश्वत्थ ! इस वेद में यह घ्राणरूप महा उद्गाता है, प्रथम इसको शुद्ध करो । इससे आत्मरूप यजमान को कन्याण प्राप्त होगा । श्वितिरिक् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति । सम्मति क्रमप्राप्तं घ्राणेन्द्रियमुद्दिश्य कण्डिका-
मारभते । यज्ञे घ्राणमपि शोभनीयम् । शुद्धेन घ्राणेन युक्तस्यैव यजमानस्य
कन्याणम् । कण्डिका विस्पष्टार्थो ॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्भणमिव
केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मण-
र्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः
सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा
अथ सम्पदः ॥ ६ ॥

अनुवाद—(पुनः वह होता अश्वत्थ) बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! यह अन्तरिक्ष
आत्मन्वन रोहित प्रतीत होता है अर्थात् इस अन्तरिक्ष में कोठे के समान सिङ्घडियां
लगी हुई नहीं दीखती हैं तब किस आक्रमण (सिङ्घडी) से यजमान स्वर्गलोक
की ओर आक्रमण करता है (यह मेरा प्रश्न है), (इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं)
ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् से । जो मन है । जो चन्द्र है । मन ही यज्ञ का ब्रह्मा

है इसलिये जो यह मन है सो यह चन्द्र है वह ब्रह्मा वह मुक्ति है वह अति-
मुक्ति है इसी प्रकार पुरुष अतिमोक्ष होते हैं अर्थात् आत्यन्तिक सुख को प्राप्त
होते हैं । अब आगे सम्पत्तियां कही जायी हैं ॥ ६ ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्य+इति+हन्+उवाच+यद्) हे याज्ञवल्क्य ऐसा कहके वे
अथर्वल बोले कि (इहम्+अन्तरिक्षम्+अनारम्भणम्+इव) यह अन्तरिक्ष अर्थात्
यह जो आकाश है वह निरालम्बसा प्रतीत होता है तब (केन+आक्रमणेन)
किम आक्रमण मे अर्थात् किस सिद्धी की सहायता से (यजमानः+स्वर्गम्+
लोकम्+आक्रमते) यजमान स्वर्गलोक की ओर आक्रमण करता है (इति) यह
मेरा प्रश्न है । इस पर याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं कि हं अथर्वल ! (ब्रह्मणा+
ऋत्विजा) ब्रह्मा नाम का जो ऋत्विक् है उसी की सहायता से यजमान स्वर्ग-
लोक को चढ़ सकता है । वह ब्रह्मा क्या मानरूप है ? नहीं । (मनसा) मनो-
रूप जो ब्रह्मा है उससे (चन्द्रेण) मन भी यह मन नहीं किन्तु (चन्द्रेण)
चन्द्ररूप जो मन है अर्थात् शुद्ध पवित्र मन से यजमान का कर्त्तव्य हो सकता
है । हं अथर्वल ! (मनः+धै+यज्ञस्य+ब्रह्मा) मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है (तद्+यद्+
इहम्+मनः+धै+अमो+चन्द्रः) इस कारण जो यह मन है वह यह चन्द्रमा है
(स+ब्रह्मा) वह चन्द्र ही ब्रह्मा है (स+मुक्तिः) वह चन्द्र ही मुक्ति है (स+
अनिमुक्तिः) वह मुक्ति ही अति मुक्ति है (इति+अतिमोक्षाः) इस प्रकार मनुष्य
अतिमोक्ष होते हैं अर्थात् अत्यन्त सुखभोगी होते हैं । इतनी सामग्री कही (अथ+
सम्पदः) अब आगे यज्ञ की सम्पत्तियां कही जायेंगी ॥ ६ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति । मनोऽपि शोधयितव्यम् । यज्ञे मन एव ब्रह्मा-
ऽस्ति । अज्ञः खलु यजमानो मानव ब्राह्मणं धृत्वाऽऽत्मानं कृतकृत्यं मन्यते ।
मनोपद्यशुद्धं चपलं तर्हि अनुष्ठेयन्तां बहवः । क्रतवो न तैः किमपि प्रयोजनं
सेत्स्यतीति । अतिमोक्षाः अतिमोक्षो विद्यते येषां त इत्यतिमोक्षाः ॥ ६ ॥

आशय—द्रव्यमय यज्ञ में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा चार ऋत्विक्
होते हैं और पञ्चम एक यजमान । अब याज्ञवल्क्य कहते हैं कि द्रव्यमय यज्ञ
से उनका लाभ नहीं, अप्यात्म यज्ञ ही यथार्थ में यज्ञ है । इस शरीर में वाग्, चक्षु,

प्राण और मन ये जो चार कार्यकर्त्ता हैं वे ही अध्यात्म यज्ञ में होता आदिक चार ऋत्विक् हैं । ये चार शुद्ध पवित्र रहने पर क्रमशः अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्र नाम से पुकारे जाते हैं । यदि ये चार शुद्ध हों तो मुक्ति प्राप्त करने में कोई भी विघ्न प्राप्त नहीं हो सकता है । मृत्यु, अहोरात्र, पूर्वपक्षपरपक्ष और अनाश्रय अन्नरिक्त इत्यादि अज्ञानी पुरुष के बन्धन होते हैं, ज्ञानी के नहीं । इस प्रकार यज्ञमन्त्रधी होता आदि का वर्णन करके अब यज्ञ की सम्पत्ति अर्थात् सामग्रियों का निरूपण करेंगे ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमयग्निर्भहोताऽस्मिन् यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिल इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किञ्चेदं प्राणमृदिति ॥ ७ ॥

अनुवाद—हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा कह वे अश्वल बोले कि यह होता आज हम यज्ञ में कितनी ऋचाओं से (अपने कार्य को) करेगा । तीन से । कौनसी वे तीन हैं ? पुरोऽनुवाक्या याज्या और शस्या ही तिसरी है । इनसे (यजमान) किमका जय करेगा है । जो कुछ यह सब प्राणधारी है ॥ ७ ॥

पदार्थ—अब सन्धानियां कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+इति+होवाच) पूर्ववत् याज्ञवल्क्य से अश्वल पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! (अद्य+अयम्+होता) आज यह होता (अस्मिन्+यज्ञे) इस प्रस्तुत यज्ञ में (कतिभिः+ऋग्भिः) कितनी ऋचाओं से (करिष्यति+इति) शंमनरूप निज कार्य को करेगा, यह मेरा प्रश्न है । इस के समाधान में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि (तिमृभिः+इति) तीन ऋचाओं से यह होता आज कार्य सम्पादन करेगा । (कतमा+नितम्+इति) वे तीन प्रकार की ऋचाएं कौन २ मी हैं । हे याज्ञवल्क्य ! इसको कहो (पुरोनुवाक्या+च) पहिली पुरोऽनुवाक्या है दूसरी (याज्या+च) याज्या है (तृतीया+शस्या+एव) तीसरी शस्या ही है । १—जो ऋचाएं कार्यारम्भ के प्रथम ही पढ़ी जाती हैं वे पुरोनुवाक्या पुरःप्रथम, अनुवाक्या=अनुवचन जैसे स्वन्निवाचन पहले पढ़ा

दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलो-
कमेवताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अतिशेरते
मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यथ इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

अनुवाद—अश्वल पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! यह अध्वर्यु आज इस यज्ञ में कितनी आहुतियाँ देवेगा ? तीन । ये तीन कौनसी हैं ? जो दत्त आहुतियाँ ऊपर को प्रज्वलित होती हैं जो दत्त आहुतियाँ अत्यन्त नादयुक्त होती हैं जो दत्त आहुतियाँ नीचे को बैठ जाती हैं । उनसे (यह यजमान) किसका लाभ करता है ? जो आहुतियाँ उज्ज्वलित होती हैं उनसे देवलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि देवलोक मानो दीप्त हो रहा है । जो आहुतियाँ अति नादयुक्त होती हैं उनसे पितृलोक को ही प्राप्त करता है, क्योंकि अत्यन्त कोलाहल युक्त के समान ही पितृलोक है । जो आहुतियाँ नीचे को बैठ जाती हैं उनसे मनुष्यलोक को ही प्राप्त करता है, क्योंकि अधःस्थित ही मानो मनुष्यलोक है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्येति+होवाच) पुनः अश्वल पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! (अद्य+अयम्+अध्वर्युः+अस्मिन्+यज्ञे) आज यह अध्वर्यु इस यज्ञ में (कति+आहुतीः+क्षोप्यति+इति) कितनी आहुतियों को देगा यह मेरा प्रश्न है । इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि (तिस्रः+इति) तीन आहुतियाँ । पुनः पूछते हैं (कतमाः+ताः+तिस्रः+इति) कि ये तीन आहुतियाँ कौनसी हैं । समाधान करते हैं (चा+हुताः+उज्ज्वलन्ति) जो आहुतियाँ कुण्ड में प्रक्षिप्त होने पर ऊपर को प्रज्वलित होती हैं (याः+हुताः+अतिनेदन्ते) जो आहुतियाँ कुण्ड में प्रक्षिप्त होने पर अत्यन्त नाद करती हैं । (याः+हुताः+अतिशेरते) जो आहुतियाँ प्रक्षिप्त होने पर नीचे को बैठ जाती हैं । ये ही तीन प्रकार की ऋचाएँ हैं । पुनः अश्वल पूछते हैं (ताभिः+किम्+जयन्ति+इति) हे याज्ञवल्क्य ! उन आहुतियों से यजमान किस वस्तु को प्राप्त करता है इस पर समाधान करते हैं कि (याः+हुताः+उज्ज्वलन्ति) जो आहुतियाँ उज्ज्वलित होती हैं (ताभिः+देवलोकम्+एव+जयति) उन आहुतियों से देवलोक को ही जय करता है (दीप्यते+इव+हि+देवलोकः), क्योंकि देवलोक दीप्तिमान् सा है अतः उज्ज्वलित आहुतियों से देवलोक की प्राप्ति कही,

गई है । (याः+हुताः+अतिनेदन्ते) जो आहुतियां अति नाद करती हैं (तामिः+पितृलोकम्+जयति) उनसे पितृलोक का जय करता है (अति+इव+हि+पितृलोकः) क्योंकि यह पितृलोक अति कोलाहल से युक्त है (याः+हुताः+अधिशेरते) जो आहुतियां नीचे को बैठ जाती हैं (तामिः+मनुष्यलोकम्+एव+जयति) उनसे मनुष्यलोक का ही जय करता है (अध+इव+हि+मनुष्यलोकः) यह मनुष्यलोक अध स्थित ही के समान है अर्थात् मनुष्यलोक नीचे स्थित है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्वम् । हे याज्ञवल्क्य ! अयमध्वर्युः “ध्वरो हिंसा न विद्यते ध्वरो हिमा यस्मिन् सोऽध्वरो यागः अध्वरं याति स-म्पादयतीति अध्वर्युर्गन्तुर्वेदविद्वत्पितृक् ।” अत्रास्मिन्दिने कति का संख्या यातां ताः कति क्रियती आहुतिः देवतोद्देशेनाग्नौ द्रव्याणां प्रक्षेप आहुतिस्ताः अस्मिन् यज्ञे होष्यति करिष्यतीत्यर्थ इति प्रश्नः । याज्ञवल्क्यः समाधत्ते-तिस्म इति । तिस्र आहुतीरास्मिन्यज्ञे होता होष्यतीति योजना । पृच्छति । तास्तिस्रः कतमाः सन्ति । समाधत्ते-या आहुतयः । हुता अग्नौ प्रक्षिप्ताः सत्यः उज्ज्वलन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्त्यः प्रज्वलन्ति ईदृशी आहुतीनामेकाविधा । या हुता अग्नौ प्रक्षिप्ताः सत्यः । अतिनेदन्ते अतिशयं नादं कुर्वन्ति । इति द्वितीया विधा । या हुताः । अधिशेरते नांज्ज्वलन्ति न चातिनेदन्ते किन्तु अधिशेरते अधिशयिता अधः-स्थिता एवं भवन्ति । इति तृतीया विधा । इमास्तिस्रः आहुतयः सन्ति । पुनः पृच्छति-यजमानः तामिराहुतिभिः साधनेन किं जयति । समाधत्ते-या आहुतयो हुताः सत्य उज्ज्वलन्ति । तामिर्देवलोकं देवलोकस्य तत्त्वं देवा एव लोका देवलोकाः । सूर्याद्यग्निप्रभृतयो वा सत्यभाषणादिब्रह्मोपेता मनुष्या वा देवा उच्यन्ते । सूर्यादीनां तत्त्वं मनुष्यादीनां स्वभावश्च प्राप्नोति । कथं तामिर्देवलोकस्य प्राप्तिः ? हि यतः देवलोकः दीप्यते इव देदीप्यमानः प्रकाशमान इवास्ति । या आहुतयो हुताः सत्योतिनेदन्ते । तामिः पितृलोकमेव जयति । पितर एव लोकः पितृलोकः । अग्निष्वात्ता अग्निदग्धा नवग्रा अयर्ग्राः सुकालिन इत्यादयः पितरः तं पितृलोकमेव जयति वशीकरोति । हि यतः पितृलोकः । अतीव वर्चते कोलाहलपुत्रोऽस्ति । या आहुतयो हुताः सत्य अधिशेरते तामिः मनुष्यलोकमेव जयति । हि यतः मनुष्यलोकः । अध इवास्ति । अध स्थितोऽस्ति ॥ ८ ॥

भाष्याशय—तीन ही प्रकार के मव पदार्थ होते हैं। पुनः इन तीन में अनेक अवान्तर भेद हुआ करते हैं। उत्तम, मध्यम, अधम। ऊपर, मध्य, नीचे। इसी प्रकार आहुतिया भी ऊपर को जानेवाली, अतिनाद करनेवाली अर्थात् मध्य में रहनेवाली और नीचे को जानेवाली इन भेद से तीन प्रकार की हैं। याज्ञवल्क्य जो कुछ वर्णन करते हैं वे अध्यात्म हैं बाह्य जगत् का वर्णन नहीं। यह शिर ही देवलोक है क्योंकि इसी में सब देव बैठे हुए हैं और मध्य शरीर ही पितृलोक है इसी में कोलाहल होते रहते हैं। पटि से नीचे मनुष्यलोक है जो अधःस्थित है ही। बाहरी जगत् में भी यह जो मध्यलोक है जहां मेघ वायु आदि हैं वे पितृलोक कहते हैं और वे कोलाहलयुक्त हैं। पूर्व में यह भी कहा है कि “देवाः पितरो मनुष्याः एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः” वाग् ही देव है। मन ही पितर है। प्राण ही मनुष्य है। इत्यादि अनुसन्धान करना, इति ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ६ ॥

अनुवाद—होता अश्वल बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! आज यह ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् दक्षिण दिशा में आसन पर बैठ कितने देवताओं से यज्ञ की रक्षा करेगा। एक ही देवता से। वह एक कौनसा देवता है ?, मन ही है। निश्चय मन अनन्त है। विश्वेदेव अनन्त है वह (यजमान) उससे लोक को जीनता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा कह वह होता अश्वल बोले (अद्य+अयम्+ब्रह्मा) आज यह ब्रह्मा (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा में बैठ (कतिभिः+देवताभिः+यज्ञं+गोपायति) कितने देवताओं से यज्ञ की रक्षा करेगा (इति) इस प्रकार पूछने पर समाधान करते हैं कि (एक्या+इति) एक ही देवता से (सा+एषा+कतमा+इति) वह एक कौनसा देवता है ?।
संस्थान—(मन+एव+इति) वह एक देवता मन ही है। (वै+मन+अनन्तम्)

निधय मन अनन्त है (विश्वेदेवाः+अनन्ताः) ये विश्वेदेवता भी अनन्त हैं (स+
तेन+अनन्तम्+एव+लोकं+जयति) यह यजमान उस मन से अनन्त लोक को ही
जीतता है । ६ ॥

भाष्यम्—अभिमुखीकरण्यायानुमतिग्रहणाय च पुनः संघोधयति याज्ञ-
वल्क्येति । हे याज्ञवल्क्य ! अध्यापं ब्रह्मा नामस्त्विह । दक्षिणतः यज्ञस्य दक्षिणे
भागे ब्रह्मा उपविशति । अत आह—दक्षिणत इति । दक्षिणस्या दिशि
आसने उपविश्य कतिभिर्देवताभिः । कति सदस्यभिर्देवतानिः यज्ञं गोपा-
यति रक्षति । इति मम ग्रन्थः । समाधत्ते—हे अश्वत्थ ! एकमेति एकया
देवतया ब्रह्मा दक्षिणतो यज्ञं रक्षतीति । पुनः पृच्छति—सा एका देवता कतमा-
स्ति । उत्तरम्—मन एव । सा एका देवता मन एव । कथमेकया मनोरूपया
देवतया ब्रह्मणा देवतानां रक्षा संभवति । तत्र हेतुमाह—यै निधयेन मनः
अनन्तम् नान्त विधत्ते यस्य तदनन्तम् । मनस्येव नानावृत्तय उत्पद्यन्ते अतो
मनसोऽनन्तत्वम् । तथा च विश्वेदेवा अपि अनन्ताः सन्ति । अतोऽनन्तेन मन-
सा करणेन । अनन्तानां विश्वेषां देवानां रक्षा संभवतीत्यर्थः । फलं धृते-
तेन मनसा स यजमानोऽपि अनन्तमेव लोकं जयति । यज्ञस्वरूपं लोकं
प्राप्नोति ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमव्योद्भाताऽस्मिन्यज्ञे रतो-
त्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरो-
नुवाक्या च याज्या च शस्येव तृतीया कतमास्ता या अध्या-
त्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या
किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्त-
रिच्छलोकं याज्यया शुलोकं शस्यया ततो ह होताऽश्वत्थ उप-
रराम ॥ १० ॥

अनुवाद—यह होगा अश्वत्थ पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! आज यज्ञ

में यह उद्गाता कितने स्तोत्र पढ़ेंगे । तीन । वे तीन कौन हैं । पुरोनुवाक्या । याज्या और तीसरी शस्या ही है । वे तीनों ऋचाएं कौन हैं जो अध्यात्म से सम्बन्ध रखती हैं । प्राण ही पुरोनुवाक्या है । अपान याज्या है । व्यान ही शस्या है । उनसे (वह यजमान) क्या जीतता है ? पुरोनुवाक्य से पृथिवी लोक को ही जीतता है । याज्या से अन्तरिक्ष लोक को । शस्या से द्युलोक को जीतता है । तब वह होता अश्वल चुप होगये ॥ १० ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) वह अश्वल पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! (अथ) आज (आस्मिन्+यज्ञे) इस यज्ञ में (अयम्+उद्गाता) यह उद्गाता नामक ऋत्विक् (कति+स्तोत्रियाः) कितने स्तोत्र (स्तोप्यति+इति) करेंगे यह मेरा प्रश्न है । (तिस्रः+इति) याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं कि तीन स्तोत्र । पुनः अश्वल पूछते हैं (कतमाः+तिस्रः+इति) वे तीनों ऋचाएं कौनसी हैं । उत्तर—(पुरोनुवाक्या) प्रथम पुरोनुवाक्या नाम की ऋचा (च) और दूसरी (याज्या) याज्या नाम की ऋचा (च) और (तृतीया) तीसरी (शस्या+एष) शस्या नाम की ऋचा ही । (कतमाः+ताः+इति) वे तीनों ऋचाएं कौनसी हैं (याः+अध्यात्मम्) जो अध्यात्म विद्या से सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् आपका तात्पर्य तो अध्यात्म विद्या से ही रहता है सो हे याज्ञवल्क्य ! पुरोनुवाक्या आदि से आप कौनसा तात्पर्य लेते हैं, क्या जो पुरोनुवाक्या आदि नाम से ऋग्वेद की ऋचा प्रसिद्ध है उसी को आप लेते हैं या कुछ अन्य ही अभिप्राय आपका है । इस हेतु पुनः अश्वल ने प्रश्न पूछा, इसका उत्तर देते हैं—(प्राण+एव+पुरोनुवाक्या) प्राण-वायु ही यहां पुरोनुवाक्या है (अपानः+याज्या) अपानवायु ही यहां याज्या है (व्यानः+शस्या) व्यानवायु ही यहां शस्या है । पुनः अश्वल पूछते हैं (किम्+ताभिः+जयति+इति) यदि इन तीनों में यज्ञ करें तो उनसे क्या प्राप्त करेगा ? । उत्तर—(पुरोनुवाक्यया) पुरोनुवाक्या से (पृथिवीलोकम्+एव+यजति) पृथिवी-लोक को ही जीतता है पृथिवीलोक के तत्त्व को प्राप्त करता है (याज्यया+अन्तरिक्षलोकम्) याज्या से अन्तरिक्षलोक के तत्त्व को प्राप्त करता है (शस्यया+द्युलोकम्) शस्या से द्युलोक के तत्त्व को पाता है (एव+ह+होता+अश्वलः) तब होता अश्वल (उपराम) चुप रह गये ॥ १० ॥

भाष्यम्—पुनरपि याज्ञान्त्येति आमन्त्र्य होताऽश्वलो होताच । हे याज्ञ-
 वल्क्य ! अद्यास्मिन् दिने अस्मिन् यज्ञे । अयमुद्गाता । कति स्तोत्रियाः
 कतिस्तोत्राणि तोष्यतीति मम अश्वः । कतिपयानामृचां समुदायः स्तोत्रियाः
 स्तोम शस्त्रादि नामभिरपि कथ्यन्ते । समाधत्ते—तिस्र इति । स्तोत्रिया वा शस्या
 वा पुरोनुवाक्या वा या काश्चन ऋचः सन्ति ता इह सर्वाः तिस्र एव नाधिका
 न न्युनाः । कतमास्तास्तिस्र इति पुनः होता पृच्छति । समाधत्ते—पुरोनुवाक्या
 च याज्या च तृतीया शस्या एव इमा एव तिस्रः स्तोत्रिया अद्येद्गाता
 स्तोष्यतीति । ऋग्वेदस्य काचिद्वगेव पुरोवाक्यादिपदेनाभिधीयते । किं
 त्वमपि त्वामेव लक्षयसि । अन्यत्किमपि वा ? सर्वत्रयाध्यात्ममर्थमवोचः ।
 अत्रापि किमप्यध्यात्मं वर्त्तते नवा इति शङ्कां मनसि चद्भाव्य पुनर्होता
 पृच्छति । ता ऋचः कतमाः या अध्यात्मम् अध्यात्मविषये ताः कतमा
 ऋचो गृह्यन्ते भवता । समाधत्ते—पुरोनुवाक्या प्राण एव पुरोनुवाक्यापदेनात्र
 प्राणः गृह्यते । अनुवाक्यापानः । अनुवाक्याशब्देन अपानो वायुर्गृह्यते ।
 व्यानः शस्या । शस्यापदेन व्यान उच्यते । अस्मिन् शरीरे य एते प्राणा-
 पानव्यानाः सन्ति । त एव पुरोनुवाक्यादि पदवाच्याः । नान्या कापि
 ऋगित्यर्थः । अग्रे फलाय जिज्ञासते । किं ताभिर्जयतीति । समाधत्ते—पुरो-
 नुवाक्या पृथिवीलोकं जयति । पृथिवीलोकस्य तत्त्वं प्राप्नोति । एवमेव याज्या
 अन्तरिक्षलोकं जयति अन्तरिक्षलोकस्य तत्त्वं प्राप्नोति जानातीत्यर्थः ।
 शस्या घुलोकम् जयति घुलोकस्य तत्त्वं जानाति । इत्थं स्वाभिमतमु-
 च्चरं प्राप्य ततो ह तदनन्तम् होताश्वल उपरराम प्रश्नादुपरतिं प्राप तूष्णीं
 बभूवेत्यर्थः ॥ १० ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
होवाच कति ग्रहाः कत्यातिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावति-
ग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १ ॥

अनुवाद—अनन्तर जारत्कारव आर्तभाग नामक अनूचान ने इस याज्ञवल्क्य
से पूछना आरम्भ किया और इस प्रकार बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! कितने ग्रह और
कितने अतिग्रह हैं ? । आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं । ये कौन हैं ? ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) अश्वल के चुप होजाने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्)
इम याज्ञवल्क्य से (जारत्कारव) जारत्कार के पुत्र (आर्तभागः) आर्तभाग ना
मक ऋषि अनूचान ने (पप्रच्छ) पूछना आरम्भ किया, इतना कथन ग्रन्थकार का है ।
किम प्रकार पूछना आरम्भ किया सो आगे कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच)
अभिमुखीकरण अर्थात् अपनी ओर करने के लिये और आज्ञा मागने के लिये हे
याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार जोर से पुकार कर वह आर्तभाग बोले अर्थान् प्रश्न किया ।
आगे प्रश्न कहते हैं—(कतिग्रहाः) ग्रह । कितने हैं और (अतिग्रहाः+कति) अतिग्रह
कितने हैं (इति) ये मेरे प्रश्न हैं इनका उत्तर आप देवें । याज्ञवल्क्य उत्तर देते
हैं—(अष्टौ+ग्रहाः) आठ ग्रह हैं (अष्टौ+अतिग्रहाः) और आठ अतिग्रह हैं ।
पुनः आर्तभाग पूछते हैं (ये) जो (ते) वे (अष्टौ+ग्रहाः) आठ ग्रह हैं और
(अष्टौ+अतिग्रहाः) आठ अतिग्रह हैं (वे+कतमे) वे कौन कौन से हैं । (इति)
यह प्रश्न है ॥ १ ॥

भाष्यम्—हकारः प्रसिद्धार्थः । अयाश्वलस्य होतुरुपरत्यनन्तरम् । इ
सुप्रसिद्धम् एनं याज्ञवल्क्यं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ वक्ष्यमाणं प्रश्नं
पृष्टवानित्यर्थः । जारत्कारवः करोतीति कारुः कर्ता यज्ञानुष्ठानकर्ता । यद्वा
कारुः सिन्धी । “कारुः शिल्पी संहतैस्त्वैर्द्वयोः श्रेणिः सजानिभिः” इत्यमरः ।
जरन् स्यविरो वृद्धः “प्रवया स्यविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरापि” इत्यमरः ।

जीर्षतेस्तृन् ॥ ३ । २ । १०४ ॥ इति तृन् प्रत्ययः । जरन्धासौ कार्जस्तकारः
 कस्यापि अपिनामधेयम् । यद्वा । वृद्धशिन्पी । जरत्कारोरपत्यं जारत्कार्यः
 १०५ "तस्यापत्यम् ॥ ४ । १ । ६२ ॥ इत्यण् आर्तभागः आर्तान् दुःखितान्
 जनान् उपकारादिन्यापारैर्यो भजते सेवते स आर्तभागः । यो जरत्कारोः पुत्रोस्ति
 स प्रकृत्यैव दुःखार्तान् उद्धर्तुं सर्वयैव प्रयतते स प्रश्नमापि सादृशमेव प्रचयति ।
 त्रिवेकदृष्ट्यावलोकनेनेन्द्रियाण्येन जीवान् दुःखन्ति अतः तद्विषयकं प्रश्नं
 पृच्छति । अमिमुस्वीकरणायाज्ञाग्रहणाद्यं च याज्ञवल्क्येति आमन्त्रयति । हे
 याज्ञवल्क्य कतिग्रहाः सन्ति ? कति च अतिग्रहाः सन्तीति मम प्रश्नः । तान्
 मां ब्रूहि । याज्ञवल्क्यः प्रतिश्रुते । अष्टौ अष्टसंख्याकाः ग्रहाः सन्ति । अष्टौ
 अष्टसंख्याकाः एव अतिग्रहा अपि सन्ति । पुनः पृच्छति—ये त्वया अष्टौ ग्रहा
 अष्टारतिगृहाश्चोच्यन्ते ते कतमे सन्ति इति ॥ १ ॥

भाष्याशय—जारत्कार्य=जरत्कार से जारत्कार्य घनता है "जरत्+कार्" ये दो शब्द हैं । वृद्ध ब्यधिर बुद्ध को जरत् कहते हैं । "करोतीति कारः कर्ता" करनेवाले को कारक अर्थात् वेदविहित जो शुभकर्म उनके यथाविधि जो करनेवाला वह "कार" और वृद्ध जो कार से जरत्कार । यद्वा शिल्प काम करनेवाले को भी कार कहते हैं । जिसको आजकल घड़ई वा एतनी कहते हैं । संभव है कि शिल्पकारी के काम करने और वृद्ध होने से वे जरत्कार कहलें हों ।

आर्तभाग=(आर्तान् दुःखितान् भजते सेवते) दुःखित पुरुषों की जो सदा सेवा किया करें वह "आर्तभाग" जो आर्तसेवी पुरुष है वह अवश्य दुःख सम्पन्नी प्रप्त करेगा । यह इसके नाम से सूचित होता है । इसमें सन्देह नहीं कि अयश इन्द्रियों के कारण से ही सत्र दुःख है । इन्द्रियाधीन मन का घरा करना ही सुख का हेतु है, सुख वा दुःख को ग्रहण करने वाले इन्द्रिय ही हैं । एक सन्तोषी एक रूपया में प्रसन्न होजाता है, परन्तु दूसरा असन्तोषी वा राजादि १०००) में भी प्रसन्न नहीं होता । एक विज्ञानी एक पुष्प को ही देखकर अति आनन्दित होता है दूसरा अज्ञानी पुष्प परिपूर्ण वाटिका के देखने से भी सुख लाभ नहीं करता । इस प्रकार मीमांसा करने से विदित होता है कि इन्द्रिय ही सुख दुःख का ग्रहण करनेवाला है । जो ग्रहण करें वही मद् है इस आत्मा को भी पकड़े हुए

इन्द्रिय ही हैं इस हेतु ये भी ग्रह हैं । आर्तभाग दुःखितों की सेवा में रहते थे इससे उन्हें पूरा अनुभव भी होगया होगा कि किस प्रकार इन्द्रिय विषय ग्रहण करने में बलवान् और निर्वल होते हैं और इसके पकड़ में आकर कैसे दुःख और सुख को उठाते हैं । यदि यह इन्द्रियवश हैं तो इसके द्वारा ध्यानानन्द का सुगम भोगते हैं यदि यह अविश्वरूप हैं तो इसी के द्वारा नाश दुःख को भोगते हैं । यद्यपि चेतन आत्मा ही सुख दुःख भोगता है । इन्द्रिय अचेतन हैं । इस हेतु इन्द्रिय सुख दुःख को अनुभव नहीं कर सकता । तथापि इन्द्रिय के द्वारा ही आत्मा सुख दुःख का भोक्ता बनता है । अनङ्ग अपचार से सुख दुःख इन्द्रियो में माना गया है इस हेतु यह सिद्ध है कि इन्द्रिय ही सुख दुःख को ग्रहण करनेवाले हैं । परन्तु यश प्राण, वाक्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा क्रम से वर्णित होंगे और इनका ही नाम यह है ऐसा आगे कहेंगे, परन्तु यदि इनका विषय न मिले तो ये इन्द्रिय किसको ग्रहण करेंगे । इस हेतु इन आठों के आठ विषय हैं । गन्ध, नाम, रस, रूप, शब्द, काम, कर्म्म, स्पर्श ये क्रम से विषय हैं और ये आठों विषय अति प्रबल हैं अपने २ विषय को दबा लेते हैं इस हेतु ग्रह से भी अति-बलवान् होने के कारण ये विषय अतिग्रह कहलाते हैं । यहाँ अति शब्द अधिक-वाचक है । जैसे—बलवान् अतिबलवान् । दुर्बल अतिदुर्बल । अथवा इन्द्रियरूप-लो ग्रह हैं उनके ऊपर भी अपना अधिकार जमाकर आक्रमण करनेवाले हैं इस हेतु से भी अतिग्रह कहलाते हैं । जैसे—अतिदेश अतिव्याप्ति आदि शब्द में अति का अर्थ होता है, ग्रह-यज्ञ में पात्रों को ग्रह कहते हैं ।

प्राणो वै ग्रहः सोपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि-
गन्धाज्जिघ्रति ॥ २ ॥

अनुवाद—निश्चय प्राणेंद्रिय ही ग्रह हैं, वह गन्धरूप अतिग्रह से गृहीत हैं । क्योंकि प्राण से ही गन्ध को लेता है ॥ २ ॥

पदार्थ—प्रथम बलिष्ठा के प्रश्न का उत्तर देते हैं । आठों ग्रह और अति-ग्रहों को क्रम से याज्ञवल्क्य कहेंगे । उन में प्रथम ग्रह का उपदेश देते हैं । यह प्रथम यह भी जान लेना चाहिये कि प्रत्येक ग्रह के सामी एक २ अतिग्रह हैं ।

यदा (वै) निश्चय अर्थान् इसमें सन्देह नहीं कि (प्राणः) प्राणेंद्रिय ही (ग्रहः)
ग्रह है और इस ग्रह का समी सुगन्धी और दुर्गन्धी है । अतः (सः) यह
प्राणरूप ग्रह (अपानेन) गन्धरूप (अतिग्राहेण) अतिग्राह अर्थात् अतिग्रह से
(गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (अपानेन) अपानवायु युक्त प्राण-
ेंद्रिय से (गन्धान्) विविध गन्धों को (जिघ्रति) खेता है ॥ २ ॥

भाष्यम्—याज्ञरुच्यः समाधत्ते—अमशोऽर्हो ग्रहाननिग्रहांश्च वक्ष्यति । सत्र
प्रथम गन्धानिग्रहेण सह प्राणनामकं ग्रहमादेशति । शरीरकोष्ठाद्यो वायुर्बहि-
र्निःसरति आसरूपेण सन् स प्राणः । वाह्यप्रदेशाद्यो वायुरभ्यन्तरं प्रविशति
प्रश्वासरूपेण सोऽपानः । प्राणेन वै वायुर्वहिर्गच्छति अतः प्राणशब्देन प्राणः ।
सुगन्धिर्वा दुर्गन्धिर्वा वाह्यवायुना समं प्रश्वासकाले आगच्छति अतोऽपान-
शब्देन गन्धः । अपानिति अपकृष्यति । प्राणो वै ग्रहः । अकरणान् प्राणशब्दो
प्राणमभिदधाति । अपानशब्दो गन्धम् । सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणशब्देनोच्यन्ते
इत्यपि अनुमन्धेयम् । ततोऽप्यमर्थः । वै निश्चयः । प्राणो प्राणेंद्रियमेको ग्रहो-
ऽस्तीति सत्र न सन्देहः तस्य प्राणस्य सहजोऽपानो गन्धोऽतिग्रहोऽस्ति । अति-
प्रस्य गृह्णातीत्यतिग्रहः । यदा ग्रहमतिक्रान्तो व्याप्तः । यदा ग्रहादधिकोऽनि-
ग्रहः । गन्धरूपो निषयो ग्रहरूपं विषयिनं प्राणमतिक्रम्य व्याप्य तिष्ठति अतः
सोऽतिग्रहोऽस्ति । स ग्रहः प्राणः । अपानेन गन्धेन अतिग्राहेण अतिग्रहेण
छान्दसो दीर्घः । गृहीत आक्रांतोऽस्ति । कथं हि यतः । प्राणी अपानेन
प्रश्वासरूपेण वायुना सह युक्तेन प्राणेन गन्धान् जिघ्रति आदत्ते । अतोऽपानो
ऽतिग्रहः । गा पृथिवीं धरतीति गन्धः । पृथि-याश्रितो हि गन्धोऽतो गन्धरती
पृथिवीति तार्किकलक्षणम् । तेन गन्ध इत्यन्वया संज्ञा । पृथिव्या एव गुणो
गन्धोऽस्तीति गन्धशब्दः सूचयति । गमनेन धरतीति वा । यथा पुष्पगन्धः
पुष्पादुत्थाय वायुमदस्मरेण प्राणसमीपं भवति तथायं पुष्पगन्धः इति प्रतीतिः
अतो गन्धस्य गमनं सूच्यते । ततोऽपि गन्ध इति विज्ञायते । सुगन्धितवरत्नानां
परमाणवः परितः प्रपरन्ति । ते च प्राणसहयोगिनो भूत्वा गन्धजनका इति
विवेकः । अतो गमनेन प्राणेंद्रियं धरतीति गन्धः । नेटक् स्वभावो रूपादी-
नामित्यन्तसन्धेयः ॥ २ ॥

भाष्याशय—पूर्व में कह आये हैं कि इन्द्रिय ही ग्रह हैं और प्रत्येक इन्द्रिय का एक २ विषय है। वे विषय ही अतिग्रह हैं, क्योंकि वे विषय इन्द्रियों को दवाते हैं इस हेतु इन्द्रियों की अपेक्षा अनिवलवान् हैं इस हेतु विषयों के नाम अतिग्रह हैं। यहां प्रथम ग्रह घ्राण (नाक) इन्द्रिय है और घ्राण इन्द्रिय का विषय नि सन्देह गन्ध है इस हेतु घ्राणेन्द्रिय रूप ग्रह का सार्धा गन्धरूप अनिग्रह है।

प्राण=शरीर के अभ्यन्तर कोष्ठ में जो वायु घ्राण से होकर निकलता है उसे प्राण कहते हैं, अर्थात् श्वांस। जिस कारण प्राण का स्थान घ्राण है अतः यहा प्राण शब्द से घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण होता है।

अपान=जो वायु प्रश्वासरूप से बाहर से शरीर के भीतर जाता है उसे अपान कहते हैं (अपानीति) “अप अन” दो शब्द हैं ऐसे २ स्थलों में “अप” शब्द का अर्थ “अध” नीचा होता है। जैसे उपचय (वृद्धि), अपचय (प्रव-नति), वक्तृष्ट और अपकृष्ट। सुचेष्ट और अपचेष्ट आदि। वायु ऊपर नीचे भगा हुआ है जिस हेतु ऊपर की वायु को इस शरीररूप नीचे गत में खींचते हैं। अतः इसको अपान कहते हैं। और जिस हेतु अपान वायु के साथ ही गन्ध आता है इस हेतु अपान शब्द से गन्ध का अर्थ किया गया है। जब प्रश्वास लेवेगे तब ही सुगन्ध वा दुर्गन्ध का बोध होगा।

गन्ध—(गां धरतीति गन्धः) पृथिवी का जो धारण करे उसे गन्ध कहते हैं। यह “गन्ध” शब्द ही जताना है कि गन्ध वस्तु पृथिवी के ही आश्रित रहता है। पृथिवी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। इसी हेतु पृथिवी के लक्षण में नेमयिष्ठ लोग कहते हैं कि “गन्धवती पृथिवी” जिसमें गन्ध है उसी का नाम पृथिवी है। अथवा (गमनेन धरतीति) यह एक नियम है कि सुगन्धित वस्तुओं में से परमाणु अलग होकर के चारों तरफ पसरते हैं जब वे परमाणु घ्राणेन्द्रिय से युक्त होते हैं तब गन्ध का बोध होता है। इससे वायु की सहायता से सुगन्धित परमाणुओं का गमन प्रतीत होता है, इस हेतु जो अपने गमन के द्वारा घ्राण इन्द्रिय को पकड़ता है वह घ्राणेन्द्रिय है। रूप आदिक विषयों का यह स्वभाव

नहीं है । इस हेतु इनको गन्ध नहीं कह सकते हैं, ससृष्ट भाषा में प्रायः सप्त
शब्द अवर्ध हैं । अर्थान् अर्थ के अनुद्धा ही उम्मा नाम है, जैसा अर्थ है वैसे
ही नाम है ॥ २ ॥

वाग्यै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामा-
न्यभिवदति ॥ ३ ॥

अनुवाद—निश्चय वाणी ही ग्रह है यह वाग्रूप ग्रह नामरूप अतिग्रह से
गृहीत है क्योंकि वाणी से ही नामों को कहते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थ—(वाग्+वै) वाग्निद्रिय ही (ग्रहः) ग्रह है । (सः) वाग्निद्रिय-
रूप ग्रह (नाम्ना+अतिग्राहेण) नामरूप अतिग्रह से (गृहीतः) गृहीत है (हि)
क्योंकि (वाचा) वाणी से ही (नामानि) नामों को (अभिवदति) सप्त प्रकार
से प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

भाष्याम्—द्वितीयं ग्रहमतिग्रहञ्च व्याचष्टे—उच्यतेऽनेया या सा वाग् ।
नामोच्चारणमेव वाग् व्यापारः । तच्च नाम वाचमतिक्रम्याधितिष्ठति । अतो
वाचातिग्रहो नामैव । हे आर्तभाग । द्वितीयो ग्रहो वागस्ति । अतिग्रस्तु नाम । वै
इति निश्चयं द्योतयति । अत्र न सन्देहः कार्यः । असत्यमप्रियं वाचा प्रकटयति ।
पैशुन्यं वाचैवाचरति । देशो नास्ति तस्य तपैः प्रचारयति । मधुरध्वनिना सैष
विज्ञाहान् सर्वान् वर्णाङ्गोति । मधुरगायकः क्षणेन सर्वान् व्यामोहयति ।
वाग्ब्यासंगेन अनेक विनयाः । अतो वाक् तु महान् ग्रहोऽस्ति । सा च वाग्
स्वयं किमपि नास्ति । यदि तत्र नाम न स्यात् । मगलनामोद्दिश्य सा
प्रेर्यते । अतो नामाभिधानायाम् । यस्य योर्ध्वानः स तस्मान्मन्यूनः । यथा
राज्ञोऽवीनोऽप्रात्यस्तस्मान्मन्यूनः । अतो नाम तु महत्तरोऽतिग्रहोऽस्ति । ननु अ-
प्रियं प्रियञ्च वाचा वदति । प्रियेण मुक्तिः अप्रियेण ग्रहणं भवितुमर्हति ।
तर्हि कथं स ग्रह एव न मुक्तिः । वाचैव मन्त्रानर्थोक्त्य यज्ञेषु मुक्तो भवति ।
यदि वाह्नाभविष्यत् तर्हि स्वाध्यायोऽपि नामविषयः । स्वाध्यायामावे मन-
नादिरूपमपि न समन्वि । तदभावे ब्रह्मज्ञानानुत्पत्तिः । ततो न मुक्तिः । न च
किमपि । अतो वाक् कथं ग्रहशब्देन विष्यते । सत्यम् । वाचि यः खलु अ-

सत्यादिधर्महेतुकव्यापारः स एवाचिष्यते नतु सत्यादिकधर्महेतुकव्यापारोऽपि कथं तद्वगम्यते । बाहुल्यनिर्देशात् । लोके न्यूनताधिक्ययोर्मध्ये आधिक्येनैव व्यदिशति । लोके यथा किञ्चिच्छुभगुणो बहुलदुर्गुणः पूर्यो दुर्गुण एवोच्यते । कस्यचित्समीपे सत्यपि कयञ्चिन्निर्वाहाय धने ददिद्र एव स कथ्यते । न धनिकः । किञ्चिदधीतप्रियोऽनु एवमेव प्रख्यायने । न विज्ञत्वेन । एवमेव वाचि असत्यादिबाहुल्यं सत्यादिकस्वस्वीयस्त्वं दृश्यते । सदृशेषु कश्चिदेव सत्यवान् कश्चिदेव वाचः परमार्थप्रयोजने नियांका । अतः सापि स्वविषयेण असत्यादिमापणरूपेण नाम्ना गृह्णाति बध्नात्येव जीवं न विमोचयति । सा च वाक् नाम्ना गृहीता वद्वास्ति । यत्किमपि ब्रुवति वाचा तन्नामैव । अयं घटः । अयं पटः । इदं ब्रह्म । इदं जगत् । इदं सर्वं वस्तुनामाज्ञाकृतम् । तत्तन्नाम तु वाचैव प्रकटयति । आदिकमेव वदति लोके । यथा ज्वरेण गृहीतो रुग्णः सर्वदा ज्वरमेव भणति । जुष्टातुरः क्षुधामेव वाक्ति । एवमेव ब्रह्मविद्यागृहीतो ब्रह्मैव वदिष्यति । इतिहासगृहीत इतिहासमेव वक्ष्यति । येन स गृहीतो भवति तदेव स ब्रूते । इत्येता प्रकृतिर्जावस्य । स वाग्रूो ग्रहः नाम्ना । अतिग्राहेण अतिग्रेहेण । दीर्घरक्षान्दमः । गृहीतोऽस्ति । हि यतः वाचाकरणेन जावो नामानि अभिवदति अभितः प्रकाशयति ॥ ३ ॥

आशय=नाम्-अब द्वितीयप्रह और अतिप्रह कहते हैं । जिस इन्द्रिय के द्वारा नाम का उच्चारण है उसे वागिन्द्रिय कहते हैं अर्थात् मुख ही वागिन्द्रिय है क्योंकि बोला जाता है । वह वागिन्द्रिय स्वयं कुछ नहीं है यदि नाम न होवे । क्योंकि मुखसे नाम के ही उद्देश्य से वाणी की प्रेरणा होती है यदि नाम न होवे तो वाणी की प्रेरणा कदापि नहीं हो सकती, इस हेतु नाम के अधीन वाक् है । जिसका जो अधीन होता है वह उससे न्यून होता है जैसे राजा के अधीन अमात्य (मंत्री) राजा से न्यून है इस हेतु वाणी से अधिक नाम है अतः वाक् प्रह है और नाम अतिप्रह है वाणी में असत्य अप्रिय वचन को प्रकट करता है विशुद्धता वाणी से ही करता है । देश में नास्तिकता का प्रचार उसी से होता है । वही वाणी मधुरवाचि से विद्वत् और अज्ञ सर्वों को अपने वश करती है । मधुर गायक क्षणभर में सगों को व्यामोहित कर देता है इस प्रकार वाणी के व्यसन में पड़कर बहुत नष्ट हो गये ।

अब शङ्का होती है कि प्रिय और अप्रिय दोनों वाणी में चोलते हैं । तो प्रिय में मुक्ति और अप्रिय से प्रदण्य बन्धन होना सम्भव है तब कैसे कहते हैं कि वाणी प्रह ही है, मुक्ति नहीं । इसको मुक्ति भी कहना चाहिये । यज्ञों में वाणी के द्वारा ही मन्त्रों को पढ़ते हैं । और उसमें मुक्ति भी होती है । यदि वाणी न होवे तो स्वाध्याय न होगा । स्वाध्याय के न होने से मननादि व्यापार नहीं हो सकता । मननादि नहीं होने से ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी और ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति न होने से मुक्ति नहीं होगी । न जगत् में अन्य कुछ कार्य ही हो सकता । अतः वचन को "प्रह" कह करके कैसे निन्दा करते हैं । उत्तर—सत्य है । वाणी में जो असत्यादि अधर्म हेतुक व्यापार है उसी की निन्दा की जाती है और जो सत्यादिक धर्महेतुक व्यापार है उसकी निन्दा नहीं की जाती है । यह विषय कैसे मालूम होता है । लोक में देखते हैं कि अधिकता का कथन होता है । अर्थात् गृह्य-गता और अधिकता की जहा बात होती है वहा अधिकता को लेकर के ही बान होती है । जैसे किसी बालक में शुभगुण तो बहुत कम हैं और अशुभगुण अधिक हैं तो उस बालक को दुर्गुणी ही कहेंगे, शुभगुणी नहीं । यद्यपि उसमें शुभगुण भी किञ्चित् हैं तथापि वह शुभगुणी नहीं कहलाता क्योंकि दुर्गुण उसमें अधिक हैं । इसी प्रकार कथयित् निर्वाह के लिये जिसके पास कुछ धन है भी तथापि वह दीर-द्री ही कहा जायेगा, धनिक नहीं । किञ्चिन्मात्र विद्या पढ़े हुए को विद्वान् नहीं कहेंगे । कैसे ही वाणी में असत्यादि तो बहुत हैं और सत्यादिक बहुत थोड़े हैं । क्योंकि इतिहास से मालूम हुआ है कि सहस्रों में कोई बिरले ही सत्यभाषी हुये हैं और कोई परमार्थ में वचन को लगातेनाते हुए हैं अतः वह वाणी भी स्वविषय असत्यादि भाषणरूप नाम से जीवों को बाधती ही है, छोड़ती नहीं ।

नाम—उस वाणी को नाम ने पकड़ रखा है । क्योंकि यह घट, यह पत्र, यह मल्ल, यह जगत् सब वस्तु ही नाम से अलकृत है । उस उस नामको वाणी ही प्रकट करती है । लोक में अपने ग्राहक को ही कहता है अर्थान् जैसे कोई ऊपर से गृहीत है तो ऊपर उसका ग्राहक (पकटने वाला) हुआ । वह ऊपरी पुरुष जन बोलेगा तो ऊपर की ही बात करेगा । तुभार्त पुरुष तुभा की बात करेगा । ब्रह्मविद्यागृहीत पुरुष ब्रह्मविद्या की चर्चा अधिक करेगा । इतिहासगृहीत पुरुष इतिहास की

पात करेगा । इस प्रकार जो जिससे गृहीत होता है उसी के विषय में वह चर्चा करता है । दार्ष्टान्त में नाम से बाणी गृहीत है तब नाम बाणी का ग्राहक हुआ और बाणी गृहीत (जो पकड़ी गई) है इस बाणी को जन सोलेगी तब नाम का ही कहेगी । इस हेतु है आर्तभाग ! बाणी और नाम को ग्रह अतिग्रह जानो ॥३॥

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥ ४ ॥

अनुवाद—निश्चय, जिह्वा ग्रह है । वह स्वरूप अतिग्रह में गृहीत है, क्योंकि जिह्वा से ही रस को जानता है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (जिह्वा) जीम (ग्रह.) ग्रह है । (सः) वह जिह्वारूप ग्रह (रसेन) स्वरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह में (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (जिह्वया) जीम से (रसान्) विविध रसों को (विजानाति) जानता है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—जिह्वेति रसना । अन्यदतिरोद्दिनार्थम् ॥ ४ ॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥

अनुवाद—निश्चय, चक्षु ही ग्रह है । वह रूपस्वरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि चक्षु से ही रूपों का देखता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (चक्षु.) नेत्र (ग्रह.) ग्रह है (सः) वह चक्षु-स्वरूप ग्रह (रूपेण) रूपस्वरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह में (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (चक्षुषा) चक्षु में (रूपाणि) विविध रूपों को (पश्यति) देखता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—चक्षुरिति । निम्पष्टार्था कण्डिका ॥ ५ ॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि
शब्दाञ्जृणोति ॥ ६ ॥

अनुवाद—निश्चय, श्रोत्र ग्रह है । वह शब्दरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि
श्रोत्र से ही शब्दों को सुनता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (श्रोत्र) श्रोत्र (ग्रहः) ग्रह है । (सः) वह
श्रोत्रस्वरूप ग्रह (शब्देन) शब्दस्वरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः)
पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (श्रोत्रेण) श्रोत्र से ही (शब्दान्) विविध
शब्दों को सुनता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—श्रोत्रमिति । विस्पष्टार्थो कण्ठिका ॥ ६ ॥

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि
कामान्कामयते ॥ ७ ॥

अनुवाद—निश्चय, मन ग्रह है । वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है,
क्योंकि मन से ही विविध कामों की इच्छा करता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (मनः) मन (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह मनरूप
ग्रह (कामेन) कामरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है ।
(हि) क्योंकि (मनसा) मन से ही (कामान्) विविध कामनाओं को (कामयते)
चाहता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—मन इति । विस्पष्टार्थो कण्ठिका ॥ ७ ॥

हस्तो वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां
हि कर्म करोति ॥ ८ ॥

अनुवाद—निश्चय, दोनों हाथ ही ग्रह हैं । वे कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत हैं,
क्योंकि हाथ से कर्म को करता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (हन्तौ) दोनों हाथ ही (ग्रहः) ग्रह हैं (सः) वे हाथरूप ग्रह (कर्मणा) कर्मरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (हस्ताभ्याम्) हाथों से (कर्म) कर्म को (करोति) करता है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—इत्यागिति । विसृष्ट्या कण्डिका ॥ ८ ॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनानिग्राहेण गृहीतस्त्वच्चा हि स्पर्श-
न्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावृत्तिग्रहाः ॥ ९ ॥

अनुवाद—निश्चय, त्वचा ही ग्रह है । वह त्वचारूप ग्रह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है, क्योंकि त्वचा से ही विविध स्पर्शों को जानना है इस प्रकार ये आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं ॥ ९ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (त्वग्) त्वचा (ग्रहः) ग्रह हैं (सः) वह त्व-
चारूप ग्रह (स्पर्शेन) स्पर्शरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा
हुआ है (हि) क्योंकि (त्वच्चा) त्वचा से ही (स्पर्शान्) विविध स्पर्शों को
(अवेदयते) जानना है (इति) इस प्रकार (एते) ये (अष्टौ) आठ (ग्रहाः)
ग्रह हैं (अष्टौ) आठ (अतिग्रहाः) अतिग्रह हैं ॥ ९ ॥

भाष्यम्—त्वगिति । विसृष्ट्या कण्डिका ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्ता
देवता चस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुन-
र्मृत्युं जयति ॥ १० ॥

अनुवाद—पुनः आर्तभाग बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! जो यह सब (यस्तु)
मृत्यु का अन्न है । तब वह कौन देवता है जिसका मृत्यु ही अन्न है । उत्तर—
निश्चय अग्नि मृत्यु है । वह अग्नि जल का अन्न है, वह पुनः मृत्यु का जय
करता है ॥ १० ॥

पदार्थ—नारत्कारण आर्तभाग ने जब यह देखा कि भगवान् याज्ञवल्क्य ने मेरे ग्रहातिग्रह विषय के प्रश्न का समीचीनतया यथोचित व्याख्यान किया इसका यही उत्तर होना चाहिये । तब पुनः द्वितीय प्रश्न करने के लिये याज्ञवल्क्य को अपनी ओर अभिमुख करने के और आत्मा मागने के हेतु पुकारते हैं (याज्ञ-वल्क्य+अग्नि) हे याज्ञवल्क्य भगवन् ! यदि 'प्राज्ञा हो तो मैं पुनः' द्वितीय प्रश्न पूछूँ । (इ+उवाच) इस प्रकार आर्तभाग ने कहा और आज्ञा पाने पर यह प्रश्न किया (यद्+इदम्) जो यह (सर्वम्) सब वस्तु दृष्ट वा अदृष्ट, मूर्त वा अमूर्त, सूक्ष्म वा स्थूल हीन्यती है, वह सब ही (मृत्यो + अन्नम्) वह अतिप्रहृष्ट मृत्यु का अन्न अर्थात् आहार है । अर्थात् मृत्यु के सब ही अधीन है ऐसा आप के वचन का आशय मालूम होता है । तब हे याज्ञवल्क्य ! (का+स्विन्+सा) वह कौन (देवता) देवता है (यस्या) जिस देवता का (मृत्यु + अन्नम्) मृत्यु ही अन्न होवे । याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि (वै) निश्चय ही (अग्निः) अग्नि (मृत्यु) मृत्यु है (सः) वह (अपाम) जल का (अन्नम्) अन्न है । आगे फल कहते हैं—तो मनुष्य इस विज्ञान को जानता है वह (पुनः) फिर (मृत्युः) मृत्यु का (अपचयति) पिजय करता है ॥ १० ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति । ग्रहातिग्रहो भगवता याज्ञवल्क्येन समीचीनतया यथाभिमतं व्याख्यातौ दृष्ट्वा प्रश्नान्तरमपि पिष्टञ्छिपुरार्तभागोऽभिमुखीकरणा-याज्ञाग्रहणाय च याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य वक्ष्यमाणं प्रश्नं शोवाच । हे भगवन् याज्ञवल्क्य ! भगवदुक्त्याश्रयेन । यदिदं दृष्टमदृष्टं मूर्तममूर्तम्वा वस्तु वर्तते । तन्मयं ग्रहातिग्रहाख्यस्य मृत्योः । अन्नमाहारोऽस्ति । मृत्युशब्दः प्रकरणात् ग्रहातिग्रहाची । का स्वित्सा देवता वर्तते । यस्या देवतायाः । मृत्युर्ग्रहाति-ग्रहरूपः । अन्नमाहारो भवेत् । हे याज्ञवल्क्य ! ईदृशी का देवताऽस्ति । या मृत्युमपि भवयेत् । इति द्वितीयो मे प्रश्नः । प्रञ्चकस्यायमामिप्रायः—यदि याज्ञवल्क्यो मृत्योरपि मृत्युरस्तीति समाधास्यति तर्हि पुनरपि अक्षयामि तस्य फो मृत्युरेवमनस्यास्मात् । यदि न वक्ष्यति तर्हि अस्माद् ग्रहातिग्रहरूपान्मृत्योः सत्ताशान् कदापि मुक्तिः । ग्रहातिग्रहनिनाशे सत्येव हि मोक्षः सम्भवेद् । तर्हि सर्वः प्रयत्नो व्यर्थः । यदि मृत्योरपि मोक्षी कापि देवता । सा नित्या अनित्या

वा । यदि अनित्या नहिं तस्या अपि कापि मत्तयित्री भविष्यति । यदि नित्या
 तर्हि सा का । इत्थं दुस्तरं प्रश्नं मन्वान आर्चमागः पृच्छति—का स्वित्मा
 देवतेति । याज्ञवल्क्यः प्रष्टुरभिप्रायं विदित्वा दृष्टान्तेनैव समाधत्ते—अग्निर्वै
 मृत्युः । सर्वेषां वस्तूनामित्यर्थः । परन्तु सोऽग्निः । अपां जलस्यान्नम् । जलं
 हि प्रशमयत्यग्निम् । अतोऽग्नेर्भोक्तृ जलमस्ति । इत्थं सर्वेषां मृत्युरस्तीति ग्रहा-
 तिग्रहलक्षणस्य मृत्योरपि केनापि मृत्युना भवितव्यमिति ध्वनितम् । यो ह्येवं वेद
 स पुनर्मृत्युं जयति । अयमाशयः । हे आर्तभाग ! इह हि सर्वेषां वस्तूनां भव-
 कोग्निर्दृश्यते । अग्निर्हि सर्वभक्षकः । अतः सर्वेषां मृत्युरिति निश्चीयते । जलं
 तु तमपि शमयति । अतोऽग्नेर्मृत्युर्जलमस्ति । अतो मृत्योरपि मृत्युर्भवति । भवतु
 तावत् मृत्योरपि मृत्युः । तस्य को मृत्युः । तस्यापि कोऽपि महानग्निमृत्युः ।
 चक्रदृष्टान्ते—महान् ध्रुवो जलमपि शोषयति । अतो जलस्यापि सूर्यरूपो मृत्युः ।
 सूर्योऽपि युगे युगे विनश्यति । यथा विनाशयिता स सूर्यस्यापि मृत्युः । इत्थं
 दृश्यते मृत्योरपि मृत्युः । अस्ति तर्हि कापि स्थितिर्नवेति । अस्ति । क ? ब्रह्मणि ।
 कथम् ? तत्सर्वमक्षकम् । यत्सर्वं भक्षयति न तस्यान्यः कोऽपि भक्षयिता । एष
 नियमः । नहि सर्वः सर्वभक्षकः यद्यपि सर्वान् जन्तून् सिंहो भक्षयति । तथापि
 विषधरदंशनेन सोऽपि भटिति म्रियते । न च स स्यावरान् वृक्षादीन् भक्षयति ।
 गजादयः स्यावभक्षकाः तेन मृगालादिभक्षकाः । इत्थं नहि सर्वः सर्वभक्षकः ।
 इत्थं सर्वेषां समालोचनान्ते बह्विरेव सर्वान्तरावस्थितः सन् सर्वभक्षक इति प्रत्ययो
 भविष्यति । प्रज्ञये बह्वि रौष्णयेन सर्वे परमाणवः पृथक्भूय तिष्ठन्ति । ततो
 महाप्रलयः । अग्निः खलु समष्टिरूपे वस्तुनि संहतान् घनीभूतान् परमाणून्
 पृथक्कृत्वा रूपान्तरं प्रतिपादयति । अयमेव विनाशः । यथा काष्ठमग्निना द-
 क्षते । तदा किं भवति । तस्याविकाशो जलाद्रोष्माणो धूमो भूतोपरि गच्छति ।
 स च धूमोऽपि परमाणूनां समूह एव । क्रियन्तोऽशा मस्मानि भूत्वा तत्र
 तिष्ठन्ति । स मस्मीभूतोऽपि पदार्थ उभायान्तरेण धूमो भवितुमर्हति । अग्निव-
 क्ष्वलित्वा महाकाशे प्रलीयते । अयमाशयः । तस्य पदार्थस्य असंख्येया अ-
 दृश्याः परमाण्वो जाताः । अतोतिष्ठन्मत्वाञ्च दृश्यते । सा च महती अग्नि-
 शक्तिरपि जलेन शाम्पति । इदं सम्पूर्णं ब्रह्माण्डमादौ अग्निरूपं जाज्वल्यमानं
 सूर्यवदेदीप्यमानमासीदिति सर्वसिद्धान्तः । शनैः शनैः शीतलं भवितुमारेभे ।

बहुकालादनन्तरं जीवतासाहं जातामित्यपि अनुमीयते । अतोऽग्निमलयोर्दृष्टान्तो
दर्शितो मुनिना ॥ १० ॥

भाष्याशयः—प्रथम उत्तर का भाव कुछ कठिन प्रतीत होता है और जिस
अभिप्राय से ऐसा प्रश्न पूछा । प्रश्न पूछने का अभिप्राय यह है—याज्ञवल्क्य पूर्व
पद आण हैं कि प्रह अतिप्रह के वश में सब है । अर्थात् प्रह अतिप्रह सन का
मृत्यु है । जो करने वश में करे उसे ही मृत्यु कहते हैं । मन का मृत्यु तो प्रह
अतिप्रह हुआ । इनका मृत्यु कौन है । यदि इसका भी कोई मृत्यु है ऐसा याज्ञ-
वल्क्य कहेंगे तो पुनः प्रश्न होगा कि उसका कौन मृत्यु है । यदि उसका भी कोई
मृत्यु बतलावेंगे तो फिर पूछेंगे कि उसका कौन मृत्यु है । इस प्रकार अनन्तर
दोष होगा । (जिसकी कहीं भी अवस्था स्थिति न हो उसे अनवस्था कहते हैं)
यदि प्रहतिप्रह का कोई मृत्यु नहीं बतलावेंगे तो उससे कोई छूटेगा नहीं । और
प्रहतिप्रह से जन्मक छूटेगा नहीं तन्मक मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्ष का
यही प्रतिनन्धन है । यदि कहो कि मोक्ष किसी को होता ही नहीं तो प्रहतिप्रह
साधन ही व्यर्थ हो जायगा । अतः मोक्ष होता है इसमें सन्देह नहीं । यदि मोक्ष
होता है तो प्रहतिप्रह से भी छूटना चाहिये । इस हेतु प्रहतिप्रह का भी कोई
मृत्यु होना चाहिये । यदि उसका कोई मृत्यु है, तो फिर उसका कौन मृत्यु है,
फिर उसका कौन मृत्यु है । इस प्रकार आर्तभाग ने अपने प्रश्न को दुहरा समझ
कर याज्ञवल्क्य से पूछा । महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर दृष्टान्त से दिया,
साक्षात् नहीं । लोक में देखते हैं कि मृत्यु का मृत्यु है । जैसे अग्नि सन का मृत्यु
है । परन्तु अग्नि का भी मृत्यु जन है । इस प्रकार प्रहतिप्रहरूप जो महामृत्यु
है उसका भी कोई मृत्यु अवश्य है । यदि इसका मृत्यु न हो तो मोक्ष नहीं होगा
तब मोक्ष में लोगों की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये । इस हेतु इसका भी मृत्यु है,
परन्तु इसका मृत्यु कौन है सो याज्ञवल्क्य ने नहीं कहा । दृष्टान्त ही देकर रह
गये । इसमें बड़ा भारी सन्देह उत्पन्न होता है । उत्तर न देने का कारण यह है कि
आ पामर सन कोई जानता है कि ईश्वर का साक्षात्कार ही मृत्यु से छूटना है सो
आर्तभाग स्वयं जानते हैं । और रह गई यह बात कि मृत्यु का मृत्यु नहीं होता
है । यदि कोई ऐसा माने तो तो बात नहीं हो सकती । मृत्यु का भी मृत्यु होता

है, जैसे—अग्निरूप मृत्यु का जलरूप मृत्यु है इस हेतु प्रहातिप्रहरूप मृत्यु का भी मृत्यु होने के कारण उस मृत्यु के अन्वेष्टण करने के लिये ब्रह्मज्ञान का साधन सफल है व्यर्थ नहीं । भगवान् याज्ञवल्क्य के उत्तर में किसी २ को यह शङ्का हो सकती है कि अग्नि और जल का दृष्टान्त क्यों दिया ।

उत्तर—यदि विवेकदृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि आग्नेय शक्ति ही जगत् का प्रलय करने वाली है । प्रलयकाल में अग्नि की उष्णता ही परमाणुओं को पृथक् २ कर देती है तब प्रलय होता है । अर्थात् जब कोई वस्तु अग्नि में जलती है तब उसकी क्या दशा होती है उसमें जितने जलीय परमाणु थे वे अति-सूक्ष्म धूम हो करके आकाश में चले गये । उनमें भी जो स्थूल अंश पार्थिव (पृथिवी सम्बन्धी) भाग थे वे बहुत ही सूक्ष्म हो करके पृथिवी वृक्षादिक पर गिरजाते हैं जो विलकुल ही जलीय अंश थे वे वाष्प होकर महाऽऽकारा में स्थित होकर रहते हैं परन्तु वे कौयले भी पुनः जलाये जासकते हैं । और उसमें कोई ऐसी अन्य वस्तु डाली जाय कि उन कौयलों वा भस्म को गलादेवे । और गलाकर जलरूप में करके वाष्प बन जाय तो वह भस्म विलकुल ही वाष्प बनकर महाऽऽकारा में लीन हो जायगा कुछ भी उमका पता नहीं रहेगा । वह वस्तु क्या हुई । इसमें सन्देह नहीं कि जो पहिले एक स्थूलरूप वस्तु थी वही वस्तु असंख्य परमाणुओं में बट गई । अर्थात् अनन्त परमाणु मिलकर जो धृन् वा पशु अदि पदार्थ बन गये थे उनके सब परमाणु अलग २ हो गये । यही वस्तु की स्थिति है । इन परमाणुओं को अलग २ करनेवाली यदि कोई शक्ति है तो वह आग्नेयशक्ति है । वह आग्नेय-शक्ति वस्तुमात्र में विद्यमान है जिस प्रकार बन के बाँसों में काल पाकर स्वयं अग्नि उन में ही उत्पन्न होकर लगजाती है और अपने निवासस्थानरूप जंगलको जला देती है, इसी प्रकार महाप्रलय में भी इसी जगत् में महा अग्नि उत्पन्न होता है और सबों को जलाकर पृथक् २ कर देता है इस हेतु अग्नि ही सबका मृत्यु है । यह महर्षि याज्ञवल्क्य का आशय है । परन्तु विचारशीलपुरुषो ! यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बहुत दिनों तक अग्नि से जलता हुआ रहता है । अन्त में एक महागोलाकार बन जाता है । वह गोल पदार्थ कितना बड़ा बनजाता है, यह अनुमान में भी मनुष्यों के नहीं आसकता । जैसे एक सूर्य हम देखते हैं ऐसे २ लाखों सूर्य मिल-

कट जिनना बड़ा होना चाहिये उससे भी कहीं बड़ा होता है । इस प्रकार वह गोलाकार वस्तु भ्रमण करती हुई हजारों वर्ष तक रहती है । तत्पश्चात् खण्ड २ होकर कई एक लोक बनजाते हैं, तत्पश्चात् धीरे २ उसके ऊपर का भाग शीतल होना आरम्भ होता है । शीतल होते-होते बिलकुल शीतल होजाता है । प्रारम्भ में यह पृथिवी भी एक जलती हुई गोलाकार वस्तु थी । धीरे धीरे ठंडी हो गई है । अतः आज ऐसी दीगती है । अब आप जान सकते हैं कि उस महा अग्नि का भी मृत्यु जल ही है । क्योंकि किसी जलवा हुई वस्तु को ठंडा करना जल का गुण है । अतः कहा गया है कि अग्नि का भी मृत्यु जल है । अपि लोग बहुत सूक्ष्म से वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो भ्रियत उदस्मा-
त्प्राणाः कामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रै-
व समवनीयन्ते स उच्छ्रयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः
श्नेते ॥ ११ ॥

अनुवाद—आर्तभाग पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! जिस काल में यह पुरुष मरता है तब प्राण उससे ऊपर को जाते हैं या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि नहीं, यहा ही लीन हो जाते हैं । वह विवेकी जीव आनन्द से भरजाता है और आनन्द से पूर्ण होकर मूर्धित के समान मानो सोता रहता है ॥ ११ ॥

पदार्थ—आर्तभाग को द्वितीय प्रश्न का उत्तर मिला उससे वे सन्तुष्ट हुए । अब तृतीय प्रश्न पूछते हैं (याज्ञवल्क्य+इति+इ+उवाच) “हे याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार सम्बोधन कर बोले (अयम्) यह ज्ञानी (पुरुषः) पुरुष महातिग्रह-रूप मृत्यु से छूटकर (यत्र) जिस काल में अथवा जिस स्थान में मरते हैं । तब (अस्मात्) इस मरते हुए ज्ञानी पुरुष से (प्राणाः) अपनी २ वासना सहित सब इन्द्रिय (उद+कामन्ति) ऊपर को जाते हैं (आहो+न+इति) या नहीं ? यह मेरा तृतीय प्रश्न है (याज्ञवल्क्य+इ+उवाच) याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि (न+इति) नहीं अर्थात् ऊपर को नहीं जाते हैं तो क्या होता है सो कहते हैं—(अत्र+एव+समवनीयन्ते) यहा ही लीन होजाते हैं और (मः) यह

ज्ञानी देह (उच्छ्रयति+आध्मायति) आनन्द से भरजाता है और (आध्मातः) आनन्दपरिपूर्ण होता हुआ (नृतः) मूर्च्छित सा होकर (शते) मानो सो जाता है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आर्तभागो द्वितीयस्य प्रश्नस्य समाधानं लब्ध्वा अनुष्यत् । इदानीं प्रेत्य लोकालोकं ज्ञानी याति न वेत्यमुं विषयमुद्दिश्य प्रष्टुकाम आर्तभागो याज्ञवल्क्येति निमग्नत्वेन तृतीयं प्रश्नं करोति । हे याज्ञवल्क्य 'यत्र यस्मिन् स्थाने काले वा । अयम् । प्रसिद्धवर्चिर्दशः । अयं प्रसिद्धो ग्रहातिग्रहविमुक्तो ज्ञानी त्रियते वर्तमानशरीरसंयोगं त्यजति । तदा अस्मात् त्रियमाणादिवेकिनः पुरुषात् सकाशात् । प्राणावागादयो ग्रहाः नामादयोऽतिग्रहाश्च अन्तःकरणस्याभिः स्वस्ववासनाभिः । जीवात्मानं गृहीत्वा उत्क्रामन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्ति सुकृत-दुष्कृतफलभोगाय लोकान्तरं गांति । आहोनेति अथवा न यांति । इति मम तृतीयः प्रश्नः । इतिशब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थः । याज्ञवल्क्यः समादधाति । नेति । हे आर्तभाग ! ज्ञानिनः पुरुषस्य प्राणाः न क्वापि गच्छन्तीति । याज्ञवल्क्य उवाच—हे आर्तभाग ! विवेकोत्पत्त्या वासनानां तनूकरणेन फलप्रदानाप्तमर्थ्यात् । अत्रैव स्वस्वकारणं एव स्वस्वावस्थायामेवेत्यर्थः । समरणीयन्ते वितीयन्ते इति तु इन्द्रियाणां दशा । स तु स्वयं जीवः । उच्छ्रयति । नञ् प्राप्य दिने दिने आनन्देन सह आध्मायति आसमन्ताद् वर्धते परिपूर्णते उच्छ्रयती ब्रह्मैव आध्मायत्यनुवादः । स आध्मात आनन्दः परिपूर्णः सन् मृतो मूर्छित इव शेत यथा चिर-विनष्टं प्रियं पुत्र दृष्ट्वाऽनन्देन क्षणमात्रं मूर्द्धितो यथा माता व पिता मवाति । तथैव देहं परित्यज्य चिकालान्वेषणेन प्राप्तं स्वमितं ब्रह्मालोक्याऽऽनिर्बचनीयेन आनन्दातिशयेन परिपूर्णमाणः सन् मूर्द्धित इव भूत्वा ब्रह्मच्छायामाश्रित्य बहु-कालाय मृत्युं शेते । शेते इव । अत्र मृतशब्दो मूर्द्धितार्यमाह—यदा अमृत इति पदच्छेदः । मृतं मरणं न विद्यते पुनर्मरणं यस्य सोऽमृतः । यः खलु ब्रह्म प्राप्नोति स न कदापि त्रियते । यथेह हि शरीरपरित्यागे मरणमुच्यते । तथैव मुक्ति-स्नानपरित्यागोऽपि मरणमेव । लोकेऽपि प्रियवस्तुत्यागो मरणमुच्यते ॥ ११ ॥

भाष्यार्थः—याज्ञवल्क्य के कथन से आर्तभाग को मालूम हुआ कि ग्रहादि-महम्प मृत्यु में जीव छूट सकता है और जो इनसे छूटा है वही मुक्त है । जे,

मुक्त होते हैं उनको घाक्, घृण, श्रोत्र, चक्षु आदि ग्रह और नाम गन्ध, शब्द, रूप आदि विषयज्ञान रहता है या नहीं ? यदि कहो कि नहीं रहता है तो मुक्ति में वह मुक्तपुरुष सुख कैसे भोगता है । क्योंकि इन्द्रिय बिना सुख का अनुभव नहीं हो सकता । यदि कहो इन्द्रिय रहते ही हैं तब ब्रह्मातिग्रह से वह मुक्त नहीं हुआ, फिर उसको मुक्ति कैसी ? क्योंकि यदि इन्द्रिय रहेंगे तो उनके विषय भी रहेंगे । घांभी रहने से वह मुक्तपुरुष बद्धपुरुषवत् ही होगया । दूसरी शङ्का—देवयान, पितृयान और जायत्य त्रियत्य तीन मार्ग बहे गये हैं । देवयान से जाने वाले को ब्रह्मलोक की प्राप्ति वही मंज है मुक्त जीव देवयान से जाकर यदि ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं तो कर्मों के लुप्त्य ही हुए और यदि वे भी लोकलोकान्तर जायें और तत्तल्लोक में सुख भोगें तो सुख में तारतम्य होने से वह मुक्ति नहीं कहला सकती । यदि कहो कि वे कहीं नहीं जाते तो इनके इन्द्रिय कहा चले जाते हैं । इत्यादि अनेक हेतु से अपने ग्रन्थ को दुस्तर समझ आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा ॥ ११ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वे नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ १२ ॥

अनुवाद—हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा कहकर आर्तभाग बोले कि जिस काल में यह पुरुष मरता है, तब इसको कौनसा पदार्थ नहीं त्यागता है ?, नाम । विश्वय नाम अनन्त हैं, विश्वेदेव अनन्त हैं । वह विद्वान् इस विज्ञान से अनन्त लोक का जय करता है ॥ १२ ॥

पदार्थ—वे आर्तभाग (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार सम्बोधन करके बोले कि (यत्र+आय+पुरुषो+म्रियते) जिस काल में यह पुरुष मरता है (किम्+एन+न+जहाति+इति) कौनसा पदार्थ इसको नहीं छोड़ता ? इस प्रकार मेरा ग्रन्थ है । उत्तर—(नाम+इति) नाम इस पुरुष का त्याग नहीं करता (चै+नाम+अनन्तम्) विश्वय नाम अनन्त है (विश्वेदेवाः+अनन्ताः) विश्वेदेव अनन्त हैं (स+तेन+अनन्तं+एव+लोकं+जयति) वह विद्वान् उससे अनन्त लोक का विजय करता है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—मार्तभागः पुनरपि याज्ञवल्क्यं पृच्छति—यत्र यस्मिन् काले अयं विद्वान् पुरुषो म्रियते तदैवं किञ्च जहातीति मम प्रश्नः । समाधत्ते—नामेति सर्वमवैनं जहाति नाममात्रन्तु अवशिष्यते । यतः वै निश्चयेन नाम अनन्तं नित्यं वर्तते यथा—अशिष्टो मुक्त इति व्यवहारपरम्परा भवति । सम्प्रति ब्रह्मविद्यां स्तोतुं किञ्चिदाह—विद्येदेवा अनन्ताः प्रसिद्धाः सन्ति । स विद्वान् पुरुषोऽपि अनन्तं लोकं जयति ॥ १२ ॥

अशय—अब यह एक प्रश्न पूछते हैं कि मरने के पश्चात् विद्वान् पुरुषों का कौनमा वस्तु अवशिष्ट रह जाता है ? याज्ञवल्क्य इसका सहज उत्तर देते हैं कि नाम अवशिष्ट रहजाता है । परन्तु नाम ही क्यों ? विद्वानों के लिखे हुए ग्रन्थ भी अवशिष्ट रह जाते हैं जैसे पाणिनि की लिपी हुई अष्टाध्यायी, आविष्कृत यन्त्र जिससे संसार का बहुत उपकार होता है अवशिष्ट रहता, जैसे स्टेफिन्सन की आविष्कृत रेलगाडी । इसी प्रकार किन्हीं विद्वानों के तार यन्त्र, जिसके द्वारा क्षणमात्र में लाखों कोस शब्द दीड जाता है । किन्हीं विद्वानों का टेलिस्कोप जिसके द्वारा देखने से अतिदूरस्थ आकाश के पदार्थ भी अति समीप प्रतीत होते हैं फिर याज्ञवल्क्य ने नाम ही शेष रह जाता है ऐसा क्यों कहा ? ।

समाधान—ग्रन्थ यन्त्र आदि के साथ यदि नाम न हो तो ग्रन्थादिक ग्रन्थकर्त्ता के विषय को कुछ प्रकट नहीं कर सकते, अतः नाम की प्रधानता देख याज्ञवल्क्य ने वैसा उत्तर दिया । इति दिक् ॥ १२ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति । तौ होत्कस्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशंसतुः कर्म

हैव तत्प्रशंसंतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति
पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारच आर्तभाग उपर-
राम ॥ १३ ॥

अनुवाद—आर्तभाग पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! जिस काल में इस
मृगपुरुष की घाली अग्नि में लीन हो जाती है । प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में,
मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, शरीरान्तर्गता आवाश महाऽऽ-
काश में, तौम आपधियों में, केश वनस्पतियों में, शोणित और रेत जल में लीन
होजाते हैं । तब यह पुरुष किस आधार पर रहता है, यह मेरा प्रश्न है । याज्ञ-
वल्क्य उत्तर देते हैं कि हे सोम्य आर्तभाग ! हाथ लाओ । हम ही दोनों इसके विषय
में समझेंगे । हम लोगों के भाव को इस जनता में कोई नहीं समझेगा । इति ।
ये दोनों वहा से उठकर (दूसरी जगह) निचारने लगे । वहा उन दोनों में क्या
वार्त्ता हुई सो ग्रन्थकार आगे कहते हैं । उन दोनों ने जो कुछ वहा से कर्म को
ही कहा, उन दोनों ने जो कुछ प्रशसा की सो कर्म की ही प्रशसा की । पुण्य-
कर्म से जीव पुण्य अर्थात् धर्मात्मा होता है और पापकर्म से पापी होता है ।
तब आर्तभाग जारत्कारच पुन हो गये ॥ १३ ॥

पदार्थ—आर्तभाग ने कठिनसे कठिन प्रश्न निचे और उत्तर पाकर बड़े प्रसन्न
होते गये । अब एक विचित्र प्रश्न पूछते हैं जिसने उत्तर में आधुनिक वेदान्ती बड़े
ही घबरा उठते हैं । यह यह है—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+त्वाच) हे याज्ञवल्क्य ! यदि
आज्ञा हो तो मैं पश्चिम और अन्तिम प्रश्न पूछू । इस प्रकार आर्तभाग उनसे प्रार्थना-
पूर्वक बोले (यत्र) जिस काल में (अस्य+नृतस्य+पुरण्य) इस भरे दृष्टे पुरुष की
(वाग्) वागिन्द्रिय शक्ति (अग्निम्) अग्नि में (अप्येति) लय=ध्वंस हो जाती है ।
अर्थात् शरीर की उष्णता के निकल जाने से भाषणशक्ति जाती रहती है (प्राणः)
शरीरान्त संचारी वायु (वातम्) ब्राह्मवायु में मिल जाता है । अर्थात् आग्नेय
शक्ति जो उष्णता उसने निम्नले से नाडियों के संचालक की जो वायु वह भी ब्राह्म
वायु में मिलकर एक होगया । तब (चक्षुः) दर्शनशक्ति (आदित्यम्) मानो
आदित्य में मिल गई । (मनः) मन की श्रुति जो आनन्द से, (चन्द्रम्) चन्द्र

में मिलगया क्योंकि आल्हादजनक चन्द्रमा ही है (भोत्रम्) अवशरशक्ति (दिशः) दिशाओं में मिल गई । शरीर का स्थूल पार्यवभाग (पृथिवीम्) पृथिवी के साथ जा मिला । (आत्मा आकाशम्) शरीर के भीतरी आकारा ब्राह्म आकारा में जा मिले (तोमानि) शरीर के केश (ओषधीः) ओषधियों में प्रविष्ट होगये (केशान्) माथे के केश (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में घुसकर लीन होगये (लोहितं+च) रक्त और रक्त के साथ अन्य जलीय भाग (रेतः+च) धीर्य और धीर्य-सदृश अन्य पदार्थ (अप्सु) जल में (निर्धीयते) मिल गये । हे याज्ञवल्क्य ! अर्थात् जिस जिम कारण से यह संघात कार्यशरीर बना था वह वह जब उसी में जा मिले (तदा) तब (अयम्+पुरुषः) यह पुरुष (क) वहां, किस आधार पर (भवति) होता है अर्थात् रहता है (इति) यह मेरा प्रश्न है, कृपाकर इसका उत्तर आप देवें । आगे याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं (हे सोम्य आर्तभाग) हे प्रिय आर्तभाग ! (हस्तम्+आहर) हस्तलाभो (आवाप्तम्+एव) हम दोनों ही (एतस्य) इस प्रश्न के विषय में जो कुछ विचारणीय है उसको (वेदिष्यावः) समझेंगे और (नौ) हम दोनों के (एतत्) इस विचार्यमाण विषय को (सज्जने) इस जनसमूह में (न) नहीं कोई समझेगा । (तौ+ह) वे दोनों जन सभा में इतनी बातकर (वक्तव्यम्) कहीं पकान्त में जाकर (मन्त्रयाज्ञक्रान्ते) विचार करने लगे । उन दोनों ने क्या विचार सो आगे ग्रन्थकार कहते हैं—(तौ+ह+यद्+ऊचतुः) उन दोनों ने जो कुछ कहा (तत्+कर्म+ह+एव+ऊचतुः) सो कर्म की ही कहा (अयं+यत्+प्रशंसासतुः) और उन दोनों ने जो कुछ प्रशंसा की (कर्म+ह+एव+तत्+प्रशंसासतुः) कर्म की ही प्रशंसा की (वै) निश्चय दसमें सन्देह नहीं कि (पुण्येन+कर्मणा) पुण्यजनक कर्म से (पुण्यः+भवति) पवित्र होता है (पापेन) पापजनक कर्म से (पापः) पापी होता है (इति) इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया (ततः+ह) तब (आरत्कारवः+आर्तभागः) आरत्कारव आर्तभाग (अपराम) चुप होगये ॥१३॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति पूर्ववत् । हे याज्ञवल्क्य ! यत्र यस्मिन् यस्मिन् काले अस्य मृतस्य त्रियमाणस्य । पुरुषस्य जीवस्य । वाक् । वाग्निन्द्रियगोलकम् । अग्निम् । अप्येति स्वकारणमग्निं प्राप्य तपं गच्छति । एवम् प्राणः प्राणवायुः । वातं स्वकारणं वहिर्वायुं अप्येति । चतुः । आदित्यम् भास्करम् ।

अप्येति । मनश्चन्द्रमप्येति । दिशः ओत्रम् । शरीरं पृथिवीम् । आत्मा आकाशम् ।
लोमानि ओषधीरपियन्ति । वेशाः वनस्पतीन् अपियन्ति । लोहितञ्च रक्तं
शोणितममृगित्यर्थः । रेतश्च अप्सु जले निधीयते स्थाप्यते । तदा भयं पुरुषः ।
क भवति । कस्मिन्नाधारे तिष्ठति । इन्द्रियादिरहितः स विमाश्रित्य तिष्ठतीत्य-
र्थः । इति पृष्टो याज्ञवल्क्य आह—हे सोम्य आर्तभाग । इत्तमाहर देहि । हे
आर्तभाग । अस्यां जनतायामस्य प्रश्नस्य समाधानं भवितुं नार्हति तस्मादाद्यां
क्वाचिदेकान्ते गत्वा एतस्य त्वत्पृष्ठस्य प्रश्नस्य विषये वेदिष्यावः । विचारयि-
ष्यावः । कथमिति यस्मात् नौ आवपारेतद्वस्तु सजने जनसमुदायसंपुक्ते प्रदेशे
निर्णेतु न शक्यते इत्थं तौ याज्ञवल्क्यार्तभागी होत्कम्य तस्मात्स्थानादुत्थाय
मन्त्रयाञ्चरान्ते परस्परं विचारितवन्तौ । तौ किं मन्त्रयाञ्चरान्ते इति ग्रन्थमारोऽग्रे
स्पष्टयति—तौ हेत्यादिना—तौ ह विचार्य यदूचतुः सर्वानेव स्वमावनाहादिपूर्व-
पक्षानपोह्य तच्छृणु । तत्तत्र विचारावस्थायामेकान्ते स्थित्वा कर्महेवाध्वयं
पुनः पुनः कार्यकारणोपादानहेतुमूचतुः । न केवलमूचतुरयापि तु कालेश्व-
राद्यभ्युपगतेषु हेतुषु यत्तौ प्रशशंसतुः । कर्मैव प्रश्नानं कारणमिति प्रशंसापदोप-
पादित प्राधान्यमुपसंहरति—शृणु इति । यस्मादेव ग्रहातिग्रहादिरूपकार्यका-
रणोपादानं कर्मप्रयुक्तमिति निश्चितं तस्मात्पण्येन शास्त्रविहितेन कर्मणा
देवादिषु जायमानः पुण्यात्मा वै भवति । पापेन शास्त्रनिषिद्धेन कर्मणा स्याव-
रादिषु जायमानः पापः पापात्मा भवति । तत् एवं मश्रुनिर्णयानन्तरं जारत्का-
एव आर्तभागो मनसाऽप्यचिन्तनीयपराजयोऽयमित्यभिप्रायेणोपरराम ॥ १३ ॥

भाष्यम्—वाणी अग्नि को प्राप्त होता है, इस शरीर में जिनने अवयव
आत्मा, नासिका, घ्राण आदि हैं वे बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि प्रत्येक
इन्द्रिय स्व स्व नियत विषय का ही ग्रहण करनेवाला है जैसे रूप का ग्राहक चक्षु
है, गंध का नासिका है इससे प्रत्यक्षरूप में प्रतीत होता है । यह शरीर बाह्य जगत्
का एक अङ्ग है क्योंकि पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, इन्हीं भवों से यह
शरीर बना हुआ है यदि यह न हों तो यह शरीर भी कदापि नहीं बन सकता ।
उत्पत्ति काल से लेकर इस शरीर के परमाणुओं के पृथक् २ होने पर्यन्त इसकी
स्थिति रहती पुन पुनः इसके अवयव अपने २ कारण में लीन हो जाते, यह प्र-

त्यक्त घात है इस पर आर्तभाग को यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि शरीर जब रहता ही नहीं तो आत्मा किम आधार पर ठहरता है ? यद्यपि आत्मा एक स्वतः पृथक् वस्तु है इस शरीर में केवल निज कर्मों को भोगने के लिये आता है ऐसा आस्तिकवाद है फिर आर्तभाग को सन्देह ही क्यों हुआ । यह आर्तभाग का आत्मा के अस्तित्व वा नास्तित्व के ऊपर सन्देह नहीं है न यह कोई सूक्ष्म प्रश्न है, यह एक साधारण प्रश्न है जैसा कि बाह्यर्षी (१२) कण्डिका में आर्तभाग ने पूछा था कि मरजाने पर पुरुष को कौनसा पदार्थ नहीं त्यागता ? इसी प्रकार मरने के पश्चात् इस लोक में मनुष्य किस आधार पर रहता है अर्थात् मरने के पश्चात् भी पुरुष का कुछ अवशेष रह जाता है या नहीं ? इसके ऊपर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि कर्म ही शेष रह जाता है, यह याज्ञवल्क्य का कथन बहुत ही उचित है, क्योंकि लोक में देखते हैं कि जनकादिक राजाओं की तथा वशिष्ठादि ऋषियों की तथा रावणादिक धृष्टित पुरुषों की कीर्ति अथवा अपकीर्ति ही असीतक विद्यमान है, पुरयात्मा का पुरयकर्म और पापात्मा का पापकर्म सदा जगत् में विद्यमान रहता है मानो इसी पर पुरुष सर्वदा स्थिर रहता है । देखो ! जनक महाराज शरीर-निवासी जीव संभव है कि अब मुक्त हो गया हो, इसी प्रकार रावणदेहनिवासी जीव भी मुक्त हो गया हो परन्तु जनक और रावण के देह से जीवों ने जो कर्म किये थे उनकी प्रशंसा वा निन्दा अवतक विद्यमान है और रहेगी और यह दो नाम भी इन कर्मों के साथ सदा रहेंगे, इसलिये १२ वीं कण्डिका में कहा है कि नाम शेष रह जाता और इस १३ वीं कण्डिका में कर्म शेष रहजाता है ऐसा कहा गया है, इस प्रकार एक कण्डिका का सम्बन्ध दूसरी कण्डिका से शृङ्खलाबद्ध रहता है । अब यह शङ्का होती है कि याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग के अन्तिम प्रश्न का समाधान ममा में न करके एकान्त स्थल में क्यों किया । समाधान—बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं कि मनुष्य—मनुदाय में अन्तोपदायक ममाधान पाने पर भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि स्वीकार करने से अपना परामर्श ममभूते हैं । याज्ञवल्क्य आर्त-भाग का स्वभाव और दुराग्रह जानते थे इसलिये एकान्त में बुलाकर समझा दिया । अथवा मनुष्य के मरने के पश्चात् कर्म शेष रह जाता है इस गूढ़ रहस्य को समाप्त पुरुष न समझ सकें हों इसलिये एकान्त में समाधान किया हो । अथवा कर्मों का विषय नाना शास्त्राओं से और नाना तर्क विवेकों से नाड़ित है

सर्वसाधारण में अनेक विवाद उपस्थित हो जायें इत्यादि कारणवश पक्षान्त में समाधान किया ।

आर्तभाग—मैं पूर्व में कह चुका हूँ आर्तों अर्थात् दुःखग्रस्त पुरुषों की सेवा करनेवाले का नाम आर्तभाग है । कर्मशेष सुनकर आर्तभाग चुप हो गए । इससे यह दिखलाया कि जबतक ये जीव प्रयत्न के साथ शुभ कर्म न करेंगे तब तक इनका उद्धार नहीं है । हे आर्तभाग ! आप दुःखितों का उद्धार करना चाहते हैं इसलिये आपको उचित है कि शुभ कर्म करने का उपदेश दिया करें । इन्द्रियों को बराबर इंद्र में समाहित हो, जीव शुभ कर्म करे, ऐसी शिक्षा किया कीजिये इत्यादि अर्थ इससे निकलते हैं ॥ १३ ॥

द्वितीय ब्राह्मण की समीक्षा ॥

पञ्चप्रश्नीयुतमिदं द्वितीयकं ब्राह्मणम् । तत्र पोटभङ्गेनोदर्या निमग्नं कंचिद् पुरुषं यथा महाकाया मङ्गरादयो निगलन्ति । तानपि बलिष्ठा अतिदीर्घदेहास्ति-मिङ्गिलादयः कंलगति । एवमेव सक्षराभ्युर्वा निषतितमद्धानतश्चैरितभेतश्च बाधमान भोत्रादीनीन्द्रियाणि वशं नयन्ति तानि च शब्दादयो विषयाः । हे आर्तभाग ! यथाऽखून् मार्जारा गजान् सिंहं वर्तिकाः श्वेना घोरं जले मरस्यान् अवलान् स्रजला “दैवो दुर्धलघातकः” इति न्यायेन निगृह्यन्ति तथैव ज्ञानविकलान् अशेषान् जनान् इन्द्रियाणि स्ववशं नीत्वा वापथे पातयन्ति । अथे प्राविग्रहार्थिनो बांभिताऽपि चिरोगीय हिताहितविवेकं न लभते । हे आर्तभाग ! बलवता पुरुषेण वशं नीतो मकरो यथा न कर्मापि जिघृक्षति तेन प्रेरितस्तु तथा धिक्कीर्यते । तथैव केसरा इन्द्रियग्रहान् किन्तु अतिग्रहः प्रेरिताः सन्तो मृगान् जीवान् निगृहयन्ति । ननु पंच ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च पंच समयात्मकं मन इति शास्त्रप्रसिद्धाभ्येकादशेन्द्रियाणि । विषयाम् तेषामेकादशेति वक्तव्याः । कथमर्था ग्रहा अष्टातिग्रहा याज्ञवल्क्येनोक्ताः । समाधानम्—प्राधान्योक्तिरेषा । यद्वा त्वचि उपस्यस्य, हस्ते पादपाङ्गोरन्तर्भावं केचिदिच्छन्ति । स्पर्शेनैव उपस्ये आनन्दानुभवः । स च त्वग्धर्मः । पादेन गमनाक्रिया, पायुना मलत्यागरूपा क्रिया सा इत्यस्य ग्रहणरूपायाः क्रियाया समाना इति प्रथमप्रश्नस्य भावः ॥

मापा—द्वितीय ब्राह्मण में पांच प्रश्न हैं, जहाज के भग्न होने से समुद्र में डूबे हुए पुरुष को जैसे महाशरीर वाले मकरादि प्राह निगल जाते हैं । और उनको भी बलिष्ठ, अतिदीर्घदेह विभिन्निलादि खाजाते हैं । वैसे ही संसाररूप समुद्र में पतित अज्ञान-रूप तरङ्गों से इधर उधर बाह्यमान पुरुषों को श्रोत्रादि इन्द्रिय अपने वश में ले आते हैं और उन इन्द्रियों को शब्दादि विषय अपने वश में ले आते हैं । हे आर्तभाग ! “देव दुर्बल-घातक होता है” इस न्यायानुसार जैसे चूहों को मार्जार, हाथियों को सिंह, बटेरों को बाजपक्षी, जल में मछलियों को मल्लाह और अबलों को सवल पकड़ते हैं । वैसे ही ज्ञानविकल अवोध जनों को इन्द्रिय अपने वश में लाकर कुपथ में गिरा देते हैं तब चिररोगी के समान श्रोत्रादिग्रहाधीन पुरुष समझाये जाने पर भी हित और अहित के विवेक को नहीं पाता है । हे आर्तभाग ! बलवान् पुरुष से गृहीत जैसे मकर अन्य पुरुष को ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता है । परन्तु जब उसी पुरुष से वह मकर प्रेरित होता है तब अन्य पुरुष को मारना चाहता है वैसे ही श्रोत्रादि इन्द्रिय स्वयं जीव को नहीं पकड़ते किन्तु शब्दादि अतिग्रह से संयुक्त प्रेरित हो मुख जीव को घन्घन में डालते हैं । यहां एक शङ्का होती है कि पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक मन ये एकादश शास्त्रप्रसिद्ध इन्द्रिय हैं और इनके एकादश ही विषय भी हैं । तब आठ ग्रह और आठ ही अतिग्रह याज्ञवल्क्य ने कैसे कहे । उत्तर—येही आठ प्रधान हैं । अतः आठ की चर्चा की । यद्यपि त्वगिन्द्रिय में ही उपस्थ इन्द्रिय की गणना हो जाती है । पाद और पायु इन इन्द्रियों की गणना हस्त इन्द्रिय के साथ ही समझना । क्योंकि हस्त का कर्म विषय कहा गया है । अतः पाद से गमनरूप कर्म, पायु से मलत्यागरूप कर्म, हस्त कर्म के साथ समान ही है ।

ग्रहाविग्रह का विषय विस्पष्ट कर आर्तभाग पूछते हैं कि मृत्यु सब के साथ लगा हुआ है क्या उस मृत्यु का भी कोई मृत्यु है ? प्रथम यह प्रश्न ही कुछ दुर्बोध प्रतीत होता है क्योंकि मृत्यु कोई देहधारी वस्तु नहीं जो इसका भी कोई मृत्यु हो । यह पदार्थ का एक घर्मविशेष है प्रत्येक पदार्थ कुछ काल जीवित अवस्था में रह मर-जाता है अर्थात् स्वकार्य से निवृत्त हो जाता है और उसका संगठन वैसा नहीं रहता इसी का नाम मृत्यु है फिर इस मृत्यु का मृत्यु कौन ? प्रश्न का भाव ऐसा प्रतीत होता है कि यह जीव जीवनमरणरूप प्रवाह में ही सदा रहेगा या कभी इस

से छूट भी सकता है । इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि इस प्रवाह से जीव बच सकता है यदि उपाय खोजे, उपाय है इस में सन्देह नहीं ।

अब तृतीय प्रश्न यह पूछते हैं कि जब मनुष्य मरता है तो उसके प्राण अर्थात् कर्म और ज्ञान के प्राहक नयन इत्यादि इन्द्रिय उसके साथ जाते हैं या नहीं ? इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं, यही ये रह जाते हैं । ठीक है क्योंकि ये इन्द्रिय भौतिक हैं वे यहा ही नष्टभष्ट हो जाते हैं यह प्रत्यक्ष है । चतुर्थ और पंचम प्रश्न के ऊपर पादिते ही बहुत कुछ विचार हो चुका है । इतिदिक् ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥



अथ हैनं भुज्युर्लाहायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
 होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्जलस्य काप्यस्य
 गृहानेम तस्याऽऽसीद्गृहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽ-
 सीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽक्षिरस इति तं यदा लोकानाम-
 न्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारि-
 क्षिता अभवन्स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता
 अभवन्निति ॥ १ ॥

अनुवाद—तत्पश्चात् लाहायनि भुज्यु ने इनसे पूछा । हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा
 कहकर वे भुज्यु बोले कि मद्र देश में-विद्यार्थी होकर रहते हुए हम सब विचरण
 कर रहे थे वे हम सब कभी काप्य पतञ्जलकेगृह पर आये उनकी कन्या गन्धर्व-
 गृहीता थी अर्थान् अध्यापनार्थ उनकी कन्या के निकट गन्धर्व अर्थान् गायक
 जाति का कोई अध्यापक था । उनसे पूछा आप कौन हैं ? उन्होंने कहा कि मैं सु-
 धन्वा आक्षिरस हूँ उनसे जब लोकों के अन्त पूछे तब इनसे यह पूछा था कि
 पारिक्षित कहां होंगे ? पारिक्षित कहा होंगे ? इस तत्त्व का जाननेहार वह मैं
 याज्ञवल्क्य ! वही प्रश्न आप से पूछता हूँ वे पारिक्षित कहां होंगे ? ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) जात्रकारक आर्तभाग के चुप होजाने के पश्चात् (भुज्युः+ला-
 हायनिः) भुज्यु नाम के ब्रह्मण ने (ह+एनम्+पप्रच्छ) इन प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य
 से पूछा (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन कर वह भुज्यु
 बोले (मद्रेषु+चरकाः+पर्यव्रजाम) मद्र देश में व्रताचरणपूर्वक विद्यार्थी होकर
 हम कतिपय मित्र भ्रमण कर रहे थे (ते+पतञ्जलस्य+काप्यस्य+गृहान्+एम) वे सब
 हम काप्य पतञ्जल के घर पर आये । (तस्य+गृहिता+गन्धर्वगृहीता+आसीत्)
 वहां उनकी कन्या गन्धर्वगृहीता थी अर्थान् कन्या को गानशास्त्र पढ़ाने के लिये

कोई गन्धर्व अर्थात् गायक वहाँ रहते थे (तम्+अपृच्छाम+कः+आसि+इति) उनसे हमने पूछा कि आप कौन हैं (सः+अब्रवीत्+सुधन्वा+आक्षिरसः+इति) उन्होंने कहा कि मेरा नाम सुधन्वा है और मैं गोत्र से आक्षिरस हूँ । तब हम लोगों ने उनसे बहुत से प्रश्न पूछे (यदा+लोकानाम्+अन्तान्+तम्+अपृच्छाम) जब हम सभ उन से लोक लोकान्तरों के अन्त पूछ रहे थे (अयं+एनम्+अब्रूम) उस समय उससे एक यह भी प्रश्न पूछाया (क+पारिक्षिताः+अभवन्+इति) हे गन्धर्व ! इस समय पारिक्षित कहा होंगे ? (क+पारिक्षिताः+अभवन्+इति) हे गन्धर्व ! इस समय पारिक्षित कहा होंगे ? इस प्रश्न का तत्त्व जानने वाला (सः) वह मैं (त्वा+पृच्छामि) आप से पूछता हूँ (याज्ञवल्क्य+क+पारिक्षिताः+अभवन्+इति) याज्ञवल्क्य ! वे पारिक्षित इस समय कहाँ होंगे यह मेरा प्रश्न है इस प्रश्न का यदि आप समाधान कर सकें तो मैं समझूँगा कि आप प्रक्षिप्त हैं ॥ १ ॥

भाष्यम्—अयेति । जारत्कारयस्य उपरत्यनन्तरं हैनं याज्ञवल्क्यं लाक्षा-
यनिर्भुज्युः पप्रच्छ । लाक्षास्यापत्यं लाक्षाः तदपत्यं लाक्षायनिः । भुज्युः भुन-
क्तीति भुज्युः मोक्षा अत्र कस्यचिन्नामधेयम् । याज्ञवल्क्य इतिशेषाच्च पूर्ववत् ।
याज्ञवल्क्य ! यदि त्वयानुमतिः स्यात्तर्हि अहमपि पिपृच्छिषामि—कदाचित् वयं मन्त्रेषु
देशेषु अध्ययनार्थं । चरकाः चरन्ति ब्रह्मचर्यावस्थायां सत्यादिग्रहं कुर्वन्ति
ये ते चरका विद्यार्थिनः सन्तः पर्यव्रजाम् पर्यटितवन्तः । ते वयं कदाचित्
काप्यस्य कपिगोत्रस्य पतञ्जलस्य पतञ्जलनाम्नः कस्यचित्पुरुषस्य गृहान्
आवसथान् ऐम अगच्छाम आगत्य किं कृतवन्तः ? तस्य पतञ्जलस्य दुहिता
कन्या गन्धर्वगृहीता आसीत् । अध्यापनार्थं गृहीतः स्थापितो गन्धर्वः कश्चि-
द्वायको यया सा गन्धर्वगृहीता गृहीतगन्धर्वेत्यर्थः । तं गन्धर्वमपृच्छाम कोऽ-
सीति कस्त्वं कोनामासीति । स पुनरस्मान्प्रत्यब्रवीत् नाम्ना अहं सुधन्वा गो-
त्रेणाक्षिरस इति । इत्थं तत्स्वरूपं विदित्वा तं गन्धर्वं प्रति यदा यस्मिन् काले
लोकानामन्तान् अवसानान्यपृच्छाम । अयं तर्दनं गन्धर्वं प्रति पारिक्षिताः परितो
धुरित धीयते येन स पारिक्षितश्चमेघः तद्याजिनः पारिक्षिताः । कामवन् कगता
यभूधुरिति पृष्टवन्तो वयम् । इत्थं क पारिक्षिता अभवन्निति प्रश्नस्य गन्धर्वदत्तो-
त्तरम् । सोऽहं रे याज्ञवल्क्य ! क पारिक्षिता अभवन्निति त्वा त्वां पृच्छामि ।

यदि त्वमेतज्जानासि तर्हि वद नोचेत्त्वमज्ञानादिना गृहीतः सन् ब्रह्मिष्ठोऽस्मीति ब्रह्मसभायां कथं ब्रवीषि ॥ १ ॥

भाष्याशय—भुज्यु=भोका भोगकर्त्ता पुरुष का नाम भुज्यु है परन्तु यहाँ किमी पुरुष का नाम कहा गया है । लाह्यायनि=लह के अपत्य को लाह कहते हैं और लाह के अपत्य को लाह्यायनि कहते हैं अर्थात् लह का पौत्र । चरक—ब्रह्मचर्यावस्था में जो नाना व्रतों का आचरण करे उसे चरक कहते हैं अथवा विद्याभ्यास के लिये जो इधर उधर विचारण करे उसे भी चरक कहते हैं । पूर्व समय में चरक अभ्यर्चु तित्तिरि आदि विद्यार्थियों के भेद थे । काण्व=कपिगोत्रोत्पन्न । गन्धर्वगृहीता—इस पद का कोई अर्थ करते हैं कि जैसे भूत प्रेत से गृहीत मनुष्य समझा जाता है इसी प्रकार पतञ्जल की कन्या किसी अदृष्ट गन्धर्व से गृहीता भी अर्थात् उसके देह पर कोई गन्धर्व निवास करता था यह अर्थ सर्वथा सिद्ध है इसका सत्यार्थ यह है कि उस कन्या को पढ़ाने के लिये कोई गन्धर्व अर्थात् गायक, अथवा विद्वान् रहा करते थे । परिक्षित्=परिक्षित्—जो परि अर्थात् सब प्रकार से दुरित को नाश करे अथवा जिम्मे करने से सब दुरित नष्ट हों उसे परिक्षित् करते हैं अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञ का नाम परिक्षित् है और उस यज्ञ के करने वाले का नाम परिक्षित । प्रायः सब टीकाकारों ने इस शब्द का ऐसा ही अर्थ लिया है ॥ १ ॥

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वे ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशत् वै देवस्थाह्वयान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाऽऽकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्ताम्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवान्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशंसत तस्माद्वायुमेव व्याप्तिर्वायुः समाष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

अनुवाद—ये याज्ञवल्क्य बोले कि हे भुव्यु ! मैं अनुमान करता हू कि उन्होंने आप से इस प्रकार कहा “वे बहा गये जहां अश्वमेधयाजी जाते हैं” । अश्वमेधयाजी कहा जाते हैं ? यह लोक ३२ देवस्थाह्य हैं उस लोक के चारों तरफ़ उतनी ही द्विगुण पृथिवी है उस पृथिवी के चारों तरफ़ उतना ही द्विगुण समुद्र है उन दोनों के मध्य उतना अवकाश है जितनी क्षुर की धारा है यद्वा मक्षिका का जितना पक्ष होता है । इन्द्र ने सुपर्ण होकर उनको वायु देवता के समीप समर्पित किया उनको वायु अपने में रखकर बहा ले गया जहां अश्वमेधयाजी थे । इस प्रकार निश्चय, उसने वायु की ही प्रशंसा की इसलिये वायु ही व्याप्ति है वायु ही समष्टि है जो ऐसा जानता है वह सृष्ट्यु का जय करता है तब भुव्यु लाह्यायनि चुप हो गये ॥ २ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच) वह याज्ञवल्क्य बोले कि हे भुव्यु ! (सः+वै+उवाच) उन गन्धर्व ने आप से इस प्रकार कहा सो मुनिये (ते+तत्+वै+अगच्छन्) वे पारिक्षित बहा गये (यत्र+अश्वमेधयाजिनः+गच्छन्ति+इति) जहां अश्वमेधयज्ञ करनेवाले जाते हैं (क्व+तु+अश्वमेधयाजिनः+गच्छन्ति+इति) अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं ?, अब आगे अलङ्कार रूप से वर्णन करते हैं । प्रथम सुवनकौश का परिमाण कहेंगे (देवस्थाह्ययानि) देव=सूर्य उसका रथ वह देवस्थ एक अहोरात्र में निरन्तर चलकर जितने देश में जाता है उतना देश देवस्थाह्य कहलाता है (अयम+लोकः) यह लोक (द्वात्रिंशत्+वै+देवस्थाह्ययानि) ३२ देवस्थाह्य हैं (त+समन्त+पृथिवी+द्विस्तावत्+पर्येति) उस लोक के चारों तरफ़ लोकपरिमाण के द्विगुणपरिमाणयुक्त पृथिवी है (ता+समन्त+पृथिवीम्+द्विस्तावत्+समुद्र+पर्येति) उस पृथिवी के चारों तरफ़ पृथिवीपरिमाण से द्विगुणपरिमाणयुक्त समुद्र विद्यमान है (तावत्+अन्तरेण+आकाशः) इन दोनों के मध्य उतना अवकाश है (वत्+यावती+क्षुरस्य+धारा) क्षुर (चाकू) की धारा अर्थात् अप्रमाण जितना होता है (वा+मक्षिकाया+यावत्+पत्रम्) अथवा मक्षिका का जितना पक्ष होता है (तान्+इन्द्रः+सुपर्ण+भूत्या+वायवे+प्राप्यच्छन्) बड़ा इन्द्र ने उनको सुपर्ण होकर वायु को समर्पित किया (तान्+वायुः+आत्मनि+वित्वा) वायु उन्हें अपने में रखकर (तत्र+अगमयत्) बहा ले गया (यत्र+अश्वमेधयाजिनः+अभवन्+इति) जहां अश्वमेधयाजी रहते थे (एवम+इव+वे+न+वायुम्+एव+प्रशंसन्) इस प्रकार निश्चय उन्होंने वायु की ही प्रशंसा की

(तस्मान्+वायुः+एव+व्यष्टिः) इसलिये वायु ही व्यष्टि है (वायुः+समष्टिः) वायु ही समष्टि है (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है (मृत्युम्+पुनः+अपजयति) वह मृत्यु का जय करता है (तवः+द+भुज्युः+लाह्यायनिः+उपरराम) तब भुज्यु लाह्यायनि चुप होगये ॥ २ ॥

माष्यम्—भुज्युवचनं परिहर्तुमिच्छन्स याज्ञवल्क्यो ह भुज्युं प्रति गन्धर्वो-
न्नप्रत्युक्षिमुवाच । हे भुज्यो ! स गन्धर्वस्तुभ्यमिति वै, उवाच । इतीति किं त
इदानीन्तनाः पारिचितास्तत्राऽऽगच्छन्त्यत्र पूर्वतना अश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति ।
पूर्वतना अश्वमेधयाजिनः क नु कुत्र गच्छन्तीति पृष्टे तद्वक्तुं तावदुवनकोशपरिमाण-
माह—द्वात्रिंशतमिति । देव आदित्यस्तस्य रयो देवरयस्तस्यैकाहोरात्रावच्छिन्नगति-
वेगेन यावान् देशो मीयते तावान् देश एकदेवरयाह्वयं तस्य द्वात्रिंशत्संख्यया
गणने कृते सति द्वात्रिंशतं वै प्रसिद्धानि देवरयाह्वयानि भवन्त्येतावत्परिमाणोऽयं
ससागरः सर्वप्राणिमोगहेतुभूतो लोको लोक्यते सूर्यादिभिः प्रकारयत इति
लोकोऽतः परमलोकस्तं च लोकं समन्त समन्ततः पृथिवी द्विस्तावत्लोक-
परिमाणाद् द्विगुणपरिमाणा पर्येति परितो व्याप्य तिष्ठति । तां च पृथिवीं
पृथिवीपरिमाणाद् द्विस्तावद् द्विगुणपरिमाणः समुद्रः समन्तं पर्येति व्याप्नोति ।
एवमुक्तस्य ब्रह्माण्डस्य कपालयोर्विवरपरिमाणं सदृष्टान्तमाह—तदिति ।
तत्तत्र व्यवहारभूमौ यावती यावत्परिमाणा क्षुरस्य धाराञ्च वाऽयवा यावत्सौ-
च्येण युक्तं मक्षिकायाः पत्रं पक्षस्तावत्परिमाणः कपालयोरन्तरेण मध्य
आकाशोऽवकाशः । यद्विवक्षयेदं सर्वमुक्तं ब्रूदाह—तानिति । तेनाऽऽकाशमा-
रेण तान्पारिचितानिन्द्रो विराडात्मभूतोऽश्वमेधे श्येनाकारेण चितोऽग्निः सुपर्णः
पक्षपुच्छाद्यात्मकः पत्नी भूत्वा वायवे प्रायच्छत्प्रदत्तवान्स्वस्य स्थूलत्वेनोक्त-
च्छिद्रद्वारा वहिर्गमनासंभवात् । वायुः पुनस्तान् पारिचितानात्मनि स्वास्मिन्
धित्वा स्थापयित्वा स्वात्मभूतान्कृत्वा तत्रागमयद्यत्र पूर्वोक्तकालिका अ-
श्वमेधयाजिनोऽभवन्निति । एवमाख्यायिकया निर्यातमर्थं पुनरुपसंहरति—एव-
मिति । हे भुज्यो ! एवमिवैवमेव वै स गन्धर्वस्तुभ्यं वायुमेव सूत्रमेव पारिचि-
तगतिस्थानं प्रशशंस प्रकर्षेण कथयामासेति समाप्तं मुनिवचनम् । एवमाख्या-
यिकानिर्वातमर्थं श्रुतिः स्वप्नत्वेनैवास्मभ्यं कथयति—तस्मादित्यादिना । यद्वाऽ-

भवन्नित्यत्रस्थ इतिशब्द आख्यायिकासमाप्त्यर्थः । ते पूर्वेष्वपि केत्यादि प्रकृत-
 प्रश्नस्यैव शेषभूतं श्रुतिरेव स्वमुखेनाऽऽह—एवमिति । एवमिवैवमेव वै स
 गन्धर्वो वायुमेव क्रियाशक्तिप्रधानं सूत्रमेव प्रशशंस संस्तुतयामासास्यैवाऽग्नि-
 श्वराचरे जगति सामान्यविशेषरूपेणान्तर्बहिश्च व्याप्यावस्थानाद्देवतान्तराणां
 त्वण्डाद्बहिर्गमनाशक्तेः । यस्मादेवं तस्माद्वायुरेव व्यष्टिरध्यात्माधिभूताधिदैववि-
 भागेन व्यावृत्तरूपा विविधाऽष्टिव्याप्तिः । तथा वायुरेव समष्टिः समानुगतरूपा
 केवलेन सूत्रात्मनाऽष्टिव्याप्तिः । एतद्विज्ञानफलमाह—अपेति । य एव समष्टि-
 व्यष्टिरूपवाच्यात्मकत्वेनाऽऽत्मानं वेदापगच्छति स पुनर्मृत्युं पुनर्मरणमपजयति ।
 तावद्यावत्तत्रावस्थानं न सर्वथा । ततो ह भुज्युर्लाक्षायनिरुपरराम । अतः स
 एवाप्रतिभारूपं निग्रहं प्राप्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

तृतीय ब्राह्मण की समीक्षा ॥

३२ देवस्थाह्वय—अपि याज्ञवल्क्य अभी तक अध्यात्मवर्णन करते आए हैं। अब इनसे एक विचित्र प्रश्न पूछा गया है कि “पारिक्षित अर्थात् अश्वमेधयाजी जन कहाँ गए”। इसका अध्यात्म अर्थ हो नहीं सकता। शरीर को त्याग के अनन्तर अन्यत्र कहीं जीव जाता है ऐसा आस्तिक सिद्धान्त है। अतः ये पारिक्षित भी यहाँ से कहीं अन्यत्र ही गये होंगे। इस अवस्था में अध्यात्मवाद को छोड़ जगत् की स्थिति की वरुण याज्ञवल्क्य को दिखलानी पड़ी। ऐसा उत्तर से प्रतीत होता है। परन्तु यह वर्णन भी अध्यात्म है। पूर्व में ऽ प्रह ऽ अतिप्रह कहे गये हैं। प्राण, वाग्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्यचा ये आठ प्रह और अपान, नाभ, रस, रूप, शब्द, काम, कर्मे और स्पर्श ये आठ अतिप्रह। ये दोनों मिलके १६ होते हैं, परन्तु यह शरीर इतने ही प्रहों अतिप्रहों से शासित नहीं है किन्तु इससे भी अधिक से यह शासित है। जहाँ मन की गति नहीं वहाँ भी यह बँड जाता है, अदृष्ट स्वर्ग, नरक इसके सामने सदा स्थित रहते हैं। जगत् के सध पदार्थों को निज वश में रसना चाहता है। तथा नाना व्याधिया और आधिया सदा जाग्रत् रहती हैं। अतः याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह ३२ देवस्थाह्वय हैं। अर्थात् १६ प्रहातिप्रह से द्विगुण ३२ देवस्थाह्वय के बराबर यह शरीर लोक है। इन्द्रिय और मन सहित इस शरीर की जहातक गति है वही यह लोक है। इस प्रकार इसकी गति ही प्रथम अनन्त दीपती है क्षणमात्र में मन वहाँ तक टँड जाता है जहातक इसने प्रथम अनुभव किया है, अतः यह शरीर लोक अनन्त है यह इससे सिद्ध हुआ। अब इस लोक से द्विगुण पृथिवी है। पृथिवीशब्द स्थूल पदार्थ का बोधक है। यदि स्थूल पदार्थों को हिसाब के लिये लेलेवें तो इसका भी कहीं अन्त न लगेगा। ये सूर्य लाएँ हैं। ये नक्षत्र अक्षरय हैं। ऐसी २ पृथिवी कितनी हैं इसकी भी गणना कोई नहीं कर सकता। अतः ये स्थूल सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि अनन्त हैं यह इससे सिद्ध हुआ। अब इसमें द्विगुण समुद्र है, समुद्रशब्द आकाशवाची है निघण्टु देखो। हे मुञ्चु ! इस सृष्टि में स्थूल पदार्थ तो अनन्त हैं ये कभी गिन्ती में आ भी जायँ परन्तु इस समुद्र (आकाश) के अन्त आदि का पता कभी लग

ही नहीं सकता । किसी योगी के मन में भी इसके अन्त का अनुभव नहीं हो सकता । हे भुव्यु ! क्या आप पूर्व पश्चिम का अन्त लगा सकते हैं ? कदापि नहीं । अतः सिद्ध है कि यह समुद्र अर्थात् अवकाररूप आकाश अनन्त है, अब ऋषि कहते हैं इस अनन्त जगत् में हम कहातक बतलायें कि वे परिचित कहां गये हैं । परन्तु आप इनके गमन का अन्तिम परिणाम जानना चाहते हैं अतः मैं कहता हूँ । बात समझो—

हे भुव्यु ! इस प्रकार अध्यात्म और अधिभूत दोनों जगत् अनन्त हैं, परन्तु इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । अधिभूत जगत् के बिना अध्यात्म का अस्तित्व कठिन है और तद्विपरीत अध्यात्म जगत् के बिना अधिभूत जगत् भी निष्प्रयोजन है क्योंकि सूर्यादि अधिभूत को देखनेहारा यदि चेतन न हो तो इस अद्भुत कौशल को कौन वर्णन करे, कौन जाने जनवावे । अतः ये दोनों लोक अतिसमीपी हैं । इस कारण कहा गया है कि इन दोनों के मध्य अन्तर क्षुर की धारा के अथवा मच्छिका के पक्ष के तुल्य है अर्थात् उभय जगत् के ज्ञान के बिना तत्त्व का पता नहीं लग सकता । जर माधक इस प्रकार तत्त्ववित होता है तब इसका आत्मा उज्ज्वलितनिर्मल, शुद्ध, विशुद्ध, मुद्ध और परमैश्वर्यसंपन्न होता है इस समय यही आत्मा इन्द्र नाम से पुकारा जाता है । पुनः सुपर्ण कहाता है जैसे पक्षी स्वतन्त्रतया आकाश में विचरण करता है तद्वत् निरपिन्न दुःखों से छूट वह शुद्ध चैतन तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सर्वथा स्वतन्त्र हो जाता है । अथवा सुपर्ण=सुन्दर पतनशाली अर्थात् प्रत्येक सूक्ष्म पदार्थ में इस साधक की गति होजाती है । इस अवस्था को प्राप्त कर वह साधक सर्वव्यापी सूत्रात्मा वायु की सहायतासे सर्वत्र विचरण करता रहता है, अतः कहा गया है कि यह इन्द्र इस साधक को वायु के समीप पहुँचाता है, इत्यादि ।

वायु—उपनिषदों में वायु शब्द अजन्त आकाशव्यापी अद्भुत गुणयुक्त चालकशक्ति में प्रायः प्रयुक्त हुआ है, इस वायु में यदा तात्पर्य नहीं है । यह पृथिवी, यह सूर्य आदि पदार्थ किस शक्ति से चल रहे हैं इसी चालक शक्ति का नाम वायु है, इसी वायु में सब मुक्त जीव विचरण करते रहते हैं, मानो यह वायु तत् तत् जीव को निजस्थान पर पहुँचाया करता है । हे भुव्यु ! जो सुल्ल है यह वायु ही है, वायु के बिना क्षणमात्र भी आप नहीं रह सकते । यही जीवन है, यही उन अश्वमेध-याजी पुरुषों को भी मानो यथास्थान में पहुँचाया करता है, इति सचेपतः ॥

अथ चतुर्थ ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुपस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच
पत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वे-
त्येव त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः
प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति
स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानीति स त
आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर
एव त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

अनुवाद—नत्वश्चान् चाक्रायण उपस्त ने इन याज्ञवल्क्य से पूछना आरंभ
किया । याज्ञवल्क्य ! ऐसा संबोधन कर के बोले कि जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है
अर्थात् प्रत्यक्ष=व्यक्त है जो आत्मा सर्वान्तर अर्थात् जो सब में व्याप्त है उसके
विषय में मुझे कहो । तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह आपका आत्मा है जो
सर्वान्तर अर्थात् सबके बीच में विद्यमान है । पुनः उपस्त पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य !
कौनसा आत्मा सर्वान्तर है ? याज्ञवल्क्य कहते हैं—वह आत्मा जो प्राणनायु से
बेष्टा करता है, वह आपका आत्मा सर्वान्तर है जो व्यान वायु से बेष्टा करता है
वह आपका आत्मा सर्वान्तर है जो उदान वायु से बेष्टा करता, वह आपका
आत्मा सर्वान्तर है यह आपका आत्मा सर्वान्तर है ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) अग्यु के चुप होजाने के पश्चात् (चाक्रायणः+उपस्तः)
चाक्रायण उपस्त ब्राह्मण ने (एनम्+पप्रच्छ) इन याज्ञवल्क्य से पूछना आरंभ
किया (याज्ञवल्क्य+इति+होवाच) हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा संबोधन कर के उपस्त बोले
(यन्+साक्षात्+अपरोक्षान्+ब्रह्म) जो साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है (यः+
आत्मा+सर्वान्तरः) जो आत्मा सर्वान्तर अर्थात् सब के अभ्यन्तर में हैं (तम्+मे+
व्याचक्ष्वे+इति) उस आत्मा का विषय मुझसे कहिये यह मेरा प्रश्न है । इस प्रश्न

को सुन याज्ञवल्क्य उत्तर देने हैं (यप०+ने+आत्मा+सर्वान्तरः) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है अर्थात् सः के मध्य विराजमान है इस उत्तर से सतुष्ट न होकर पुनः उपरत पृच्छते हैं (याज्ञवल्क्य+इतम०+सर्वान्तरः) कौनसा आत्मा सर्वान्तर है, याज्ञवल्क्य कहते हैं (य०+प्राणेन+प्राणिति) जो प्राणवायु से चेष्टा करता है (स०+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है (यः+अपानेन+अपानीति) जो अपान वायु से चेष्टा करता है (स०+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है (यः+व्यानेन+व्यानीति) जो व्यान वायु से चेष्टा करता है (सः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है (य०+उदानेन+उदानिति) जो उदान वायु से चेष्टा करता है (सः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है (यप०+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है ॥१॥

भाष्यम्—अथ भुव्योऽपरत्यन्तरं हैनं याज्ञवल्क्यं चाक्रायणः चक्र-
स्यापत्यं चाक्रायणः । नाम्ना उपरतः कश्चिद्ब्राह्मणः पप्रच्छ । हे याज्ञवल्क्य !
मे मलम् । तमात्मानमुद्दिश्य व्यचक्ष्य ब्रह्मरूपान् कुरु । यत्साक्षात्प्रत्यक्षतया
भासमानम् अपरोक्षोद्गच्छ घटपटादिवद्व्यक्तं यद्ब्रह्म शरीरे बृहत् वस्तु
वर्तते अर्थात् य आत्मा सर्वान्तरः सर्वस्याभ्यन्तरोऽस्ति इति मे प्रश्नः । याज्ञ-
वल्क्यः समाधत्ते—यत्र पृच्छसि स एष ते तव आत्मास्ति सर्वान्तरः । या-
ज्ञवल्क्यस्याश्रयमनुभूया पुनरुपस्तः पृच्छति । याज्ञवल्क्य ! इतमः खलु आत्मा
सर्वान्तरो भवतामिमेतः । तं पुनरपि विस्पष्टयतु । याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—यः
प्राणेन मुखनासिकामंथारिणा वायुना प्राणिति प्राणचेष्टां करोति । स ते
आत्मा सर्वान्तरः । योऽपानेन अपानवायुना अपानीति अपानचेष्टां करोति ।
अपानीति दीर्घश्चान्दसः । स ते आत्मा सर्वान्तरः । यो व्यानेन व्यानीति
व्यानचेष्टां करोति । व्यानीति दीर्घश्चान्दसः । स ते आत्मा सर्वान्तरः । य
उदानेन उदानिति उदानचेष्टां करोति स ते आत्मा सर्वान्तरः । स एष ते
आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

स होवाचोपस्तश्चाक्रायणो यथा विद्मसादसौ गौरसा-
वश्च इत्येवमेवेतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद-

ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा
सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः । न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येन
श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्वि-
ज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं
ततो होपस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥ २ ॥

अनुवाद—पुनः वे चाक्रायण उपस्त बोले—हे याज्ञवल्क्य ! जैसे कोई कहे
कि यह गौ है, यह अश्व है, वैसे ही आपने इस आत्मवस्तु का (इस सभा में)
उपदेश किया है । अतः आप मुझसे उसका व्याख्यान करें जो साक्षात् अपरोक्ष
ब्रह्म है जो आत्मा सर्वान्तर है । (याज्ञवल्क्य ने पुनः वही उत्तर दिया कि) यह
आपका आत्मा सर्वान्तर है (इस पर पुनः उपस्त पूछते हैं) हे याज्ञवल्क्य ! कौ-
नसा आत्मा सर्वान्तर है ? (याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं) हे उपस्त ! दृष्टि के
द्रष्टा को आप नहीं देख सकते । श्रुति के श्रोता को आप नहीं सुन सकते । मति के
मन्ता को आप नहीं मनन कर सकते । विज्ञाति के विज्ञाता को आप नहीं जान
सकते । हे उपस्त ! यह आपका आत्मा है जो सर्वान्तर है । इससे अन्य सब
वस्तु आर्त अर्थात् दुःखरूप हैं । तब उपस्त चाक्रायण चुप होगये ॥ २ ॥

पदार्थ—(मः+ह+उपस्तः+चाक्रायणः+उवाच) याज्ञवल्क्य के समाधान से
मनुष्य न हाँ के वे सुप्रसिद्ध उपस्त चाक्रायण पुनः बोले—हे याज्ञवल्क्य ! (यथा+
विब्रूयात्) जैसे कोई किसी से कहे अर्थात् किसी शिष्य को कोई गुरु गौ की सींग
पक्ष के समझावे कि देख (अस्मै+गौः) यह गौ है (अस्मै+अश्वः) यह घोड़ा
है इसको पहचान रख । (इति+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! उसी प्रकार (एतन्+
व्यपदिष्टम्+भवति) यह आत्मरूप वस्तु भी उपदिष्ट होता है ऐसा आपने कहा
था अर्थात् जैसे प्रत्यक्षरूप से गौ, घोड़े, मनुष्य आदिकों के पहचान के लिये
उपदेश होता है उस २ पदार्थ को लेकर कहा जाता है कि यह गौ है यह हाथी
है । वैसे ही आत्मा का भी उपदेश होता है ऐसी आप की प्रतिज्ञा है । परन्तु
आप अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं करते । आप प्रत्यक्षरूप से आत्मा बतलावें, हे याज्ञ-

वत्स्य । मैं पुनः पूछता हूँ (यद्+एव+साक्षात्+अपरोक्षत्+ब्रह्म) जो ही साक्षात्
 अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है (य.+आत्मा) जो सब का आत्मा है और जो
 (सर्वान्तरः) सब के मध्य में विराजमान है (तम्+मे+न्याचक्ष+शति) उसी
 आत्मा के विषय में मुझ को अच्छे प्रकार समझा कर व्याख्यान सुनावें ताकि
 आपका यश इस महती समा में प्रकाशित हो, इस व्याजप्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य
 वही उत्तर देते हैं जो पहिले दे चुके हैं । (एष+न्ते+आत्मा+सर्वान्तरः) हे उपस्त !
 यह आप का आत्मा ही है । जो सब के भीतर विराजमान हो रहा है (क्तमः+
 याज्ञवल्क्य+सर्वान्तरः) हे याज्ञवल्क्य ! यदि आपका पूर्ववत् ही समाधान है तब
 मेरा प्रश्न भी पूर्ववत् ही है कि कौनसा आत्मा सर्वान्तर है ? उपस्त का यह ठठदेख
 याज्ञवल्क्य ने विचार कि यदि मैं पुनः उसी उत्तर को दुहराता हूँ तो पुनः ये उसी
 प्रश्न को पूछेंगे, अतः इस समय किसी अन्य मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये ।
 यह विचार याज्ञवल्क्य कहने हैं कि हे उपस्त ! सुनो । (दृष्टे+त्रष्टारम्+न+परयेः)
 दृष्टि के द्रष्टा को आप गौ अन्धादिवत् नहीं देख सकते । हे उपस्त ! हम सब जो
 कुछ देखते हैं इसमें विविध भ्रम है । दृष्टि अर्थात् अस्मदादिकों की दर्शनशक्ति
 अनित्य है । इस दर्शनशक्ति को भी यथार्थरूप से देखनेहारा कोई अन्य ही है जो
 दर्शन का भी द्रष्टा है उसको आप कैसे देख सकते हैं “वत् केन क जिज्ञेत् । तत्
 केन क परयेत् । तत् केन क शृणुयात् । तत् केन क मन्वीत् । तत् केन क विजानीयात्” इत्यादि मेनेषीसवाद की बातों को भी यहाँ मिलाता चा-
 हिये । इसी प्रकार हे उपस्त ! (श्रुते+श्रोतारम्+न+शृणुयाः) जो श्रवणशक्ति का
 भी श्रोता है उसको आप नहीं सुन सकेंगे (मतेः+मन्तारम्+न+मन्वीथाः) मनन
 शक्ति के भी मन्ता को आप नहीं मनन कर सकते (विज्ञातेः+विज्ञातारम्+न+
 विजानीयाः) विज्ञानशक्ति के विज्ञाता को आप न जान सकेंगे । हे उपस्त ! जो
 दृष्टि का द्रष्टा है । जो श्रुति का श्रोता है । जो मति का मन्ता है । जो विज्ञाति का
 विज्ञाता है । (एष+न्ते+आत्मा) वही यह आप का आत्मा है (सर्वान्तरः) वही
 सब के अभ्यन्तरविराजमान है (अतः+अन्यत्+आर्त्तम्) इस आत्मविज्ञान से अति-
 रिक्त जो वस्तु है वह आर्त्त अर्थात् दुःखप्रद ही है । (तत्+इ+उपस्थः+चाप्रापणः+
 विराम) तब वे उपस्त चाट्यापण विराम करने लगे अर्थात् चुप होगये ॥ २ ॥

- भाष्यम्—सहेति । याज्ञवल्क्यस्य समाधानेनासंतुष्टः पुनरप्युपस्तस्तं

पृच्छति । याज्ञवल्क्य ! यथा कश्चित् पुरुषः कमपि बोधयितुमिच्छन् गोः मृङ्गं धृत्वा धिब्रूयात् तं प्रति व्याख्यानं कुर्यात् यद् हे वटो ! असौ मया धियमाणो गौरस्ति । अयं खलु अश्वोऽस्ति । इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति अनेनोक्तेन दृष्टान्तेन तुल्यमेव आत्मस्वरूपविज्ञानमप्यस्तीति भगवताऽस्यां समायां व्याख्यातम् । किन्तु पृष्टः सन् भगवान् तथैवेदं वस्तु न निरूपयति अतो भगवतः प्रतिज्ञाहानिर्भवति । अस्यां जनकपरिपदि तेनोपहासो भविष्यति भगवतः । अतो गवाश्वादिष्वत्प्रत्यक्षतया आत्मा दर्शनीयः । अहं पुनरप्यस्मादेव कारणात् तमेव प्रश्नं पृच्छामि । यदेव साक्षादपरोचाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्त्वं मे व्याचक्ष्वेति याज्ञवल्क्योऽपि स्वसमाधाने परमविश्वासी सन् पुनस्तदेव समाधानं करोति एष त आत्मा सर्वान्तर इति । याज्ञवल्क्यस्य तदेव समाधानं श्रुत्वा हठादुचस्तोऽपि पुनस्तमेव पृच्छति—कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः । सम्प्रति उपस्तस्य हठं विदित्वा प्रकारान्तरेण समाधत्ते—उपस्त ! यत्त्वं पृच्छसि समाहितः सन् तच्छृणु । त्वं दृष्टेर्द्रष्टारं न पश्येः द्रष्टुं न समर्थोऽसि । अस्माकं दर्शनशक्तिरनित्यास्ति । अस्या दृष्टेर्दर्शनशक्तेरपि द्रष्टा यः कश्चिदस्ति तं पुरुषं गवाश्वादिष्वत् द्रष्टुं त्वं न शक्नोषि । नान्यः कश्चित् समायामपि द्रष्टुं शक्नुयात् । उपस्त ! “यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं शृणुयात् । तत्केन कमभिवदेत् । तत्केन कं मन्वीत । तत्केन कं विजानीयात्” इत्यमेव उपस्त ! श्रुतेः श्रवणशक्तेः श्रोतारं त्वं न शृणुयाः । मतेर्मननशक्तेःर्मन्तारं न त्वं मन्वीयाः । विज्ञातेर्विज्ञानशक्तेः विज्ञातारं न त्वं विजानीयाः । अस्माद्धेतोः उपस्त ! यः दृष्टेर्द्रष्टाऽस्ति । श्रुतेः श्रोता । मतेर्मन्ता । विज्ञातेर्विज्ञाता । स एवैष त आत्मास्ति । स एवासौ सर्वान्तरः सर्वेषामभ्यन्तरे विराजमानोऽस्ति । एतावदेवात्मविज्ञानम् । अतोऽस्मदात्मविज्ञानाद् । अन्यद्विज्ञानम् । आर्तं दुःखदमेवास्ति । मिथ्यैवास्तीति वेदितव्यम् । याज्ञवल्क्यस्येदं तथ्यं समाधानं श्रुत्वा तुष्टः सन् ततोहोपस्तयाक्रायणोऽपि विरराम ॥ २ ॥

इति चतुर्थ ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं कहोलः कौपीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
 होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे
 व्याचक्षेत्स्येप त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य
 सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ।
 एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणा-
 याश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या द्वेव
 पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते
 एषणे एव भवतः । तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्याथ वा-
 स्येन तिष्ठासेद् । वास्यश्च पाण्डित्यश्च निर्विद्याथ मुनिरमौ-
 नश्च मौनश्च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याथेन
 स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्त्तं ततोह कहोलः कौपीतकेय उप-
 रराम ॥ १ ॥

अनुवाद—तत्पश्चात् इमं याज्ञवल्क्य से कौपीतकेय कहोल नाम के ब्राह्मण
 पूछने लगे । याज्ञवल्क्य ' ऐसा बहके वे कहोल बोले—जो ही साक्षात् अपरोक्ष
 ब्रह्म है । जो आत्मा है जो सर्वान्तर अर्थात् सब के अख्यन्तर में व्याप्त है उस
 आत्मा को मुझ से आप कहें । इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—यह जो आपका
 आत्मा है वही सर्वान्तर है । पुनः कहोल पूछते हैं—याज्ञवल्क्य ! कौनसा आत्मा
 सर्वान्तर है ? । याज्ञवल्क्य कहते हैं जो (आत्मा) अशनाया, पिपासा, शोक,
 मोह, जरा और मृत्यु को लाधकर विद्यमान है । कहोल ! निश्चय, ब्राह्मणगण इस
 उस आत्मा को जानकर पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से विमुक्त हो ऊपर
 उठके अर्थात् इनमें विराग करके पश्चात् जीवनार्थ भिक्षाचरण करते हैं । जो

पुत्रैपणा है वह वित्तैपणा है जो वित्तैपणा है वह लोकैपणा है । ये दोनों एपणाचे हैं । इस कारण ब्राह्मण पाण्डित्य को निःशेष करके ज्ञानबल के आधार पर खड़े होने की इच्छा करे । वाल्य और पाण्डित्य को निःशेष करके तब वह मुनि होता है । अमौन और मौन को निःशेष करके तब वह ब्राह्मण होता है । वह किससे ब्राह्मण होता है ? जिससे हो । परन्तु वह ऐसा ही है इसमें सन्देह नहीं इसके अतिरिक्त अन्य आर्त है । तब कहोल कौपीनकेय उपरत अर्थान् चुप होगये ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) चाक्रायण उपसर्ग के चुप होने के पश्चात् (कौपीनकेयः) कूपीतक ऋषि के पुत्र (कहोलः) कहोल नाम के कोई ब्राह्मण (एनम्+ह+प्रच्छ) इन सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य से पूछने लगे (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार सम्बोधन करके ये कहोल बोले याज्ञवल्क्य ! (यद्+एव+ब्रह्म) जो ही ब्रह्म (मात्मान्) साक्षात् अर्थान् प्रत्यक्ष=व्यक्त है (अपरोक्षात्) और जो अपरोक्ष अर्थान् अव्यक्त नहीं किन्तु व्यक्त है । (य+आत्मा) जो आत्मनाम से पुकारा जाता है और (सर्वान्तरः) जो सब के भीतर प्रविष्ट माना जाता है (तम्+मे+व्याचक्ष्व+इति) हे याज्ञवल्क्य ! उस आत्मा के विषय में मुझको व्याख्यान सुनावें, वही आपमे निवेदन है । इस पर याज्ञवल्क्य ने जैसा उत्तर उपसर्ग को दिया था वही उत्तर यहां भी देते हैं (एपः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) कहोल ! यह यह आपका आत्मा ही है जो सर्वान्तर है (याज्ञवल्क्य+कृतम्+सर्वान्तरः) यह मुन उपसर्ग ने इन कहोल ने पूछने आरम्भ किया कि याज्ञवल्क्य ! कौनसा आत्मा सर्वान्तर है यह आप विस्पष्टरूप से कहें । इस पर याज्ञवल्क्य कहोल के आराय को समस्त सान्धान हो समाधान करने लगे (यः+अग्नयापिपामे+अत्येति) जो आत्मा भोजन की इच्छा को और पिपासा=पीने की इच्छा को अतिक्रमण करके विद्यमान है अर्थान् जो खाने पीने की इच्छा से रहित है और (शोकम्+मोहम्+जरा+मृत्युम्+अत्येति) जो आत्मा शोक, मोह, जरा और मृत्यु को लांचकर विद्यमान है वही आत्मा आप का है । वही, सर्वान्तर है । कहोल ! (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी जन (एवम्+वै+तम्+आत्मानम्) इसी प्रत्यक्ष अपरोक्ष आत्मा को (विदित्वा) जानकर (पुत्रैपणायाः+च) पुत्रैपणा मे अर्थान् पुत्र की इच्छा से (वित्तैपणायाः+च) वित्तैपणा से अर्थान् वित्त की इच्छा से (लोकैपणायाः+च) लोकै-

पणा से अर्थात् लोक की इच्छा से (व्युत्थाय) विमुक्त हो इनमें धैर्य करके
 ब्रह्म की ओर ऊपर उठके (अथ+भिन्नाचर्य+चरन्ति) तब केवल शरीरनिर्वाहार्थ
 भिक्षावृत्ति किया करते हैं (या+हि+एव+पुत्रेपणा) जो ही पुत्रेपणा=पुत्र के लिये
 इच्छा है (सा+वित्तैपणा) वह वित्तैपणा है (या+वित्तैपणा) जो धन की इच्छा
 है (सा+लोकैपणा) वह लोकैपणा ही है (हि+उमे+एते+एषणे+एव+भवतः) हे
 कहोल ! दोनों ही ये इच्छाएँ हैं अर्थात् ये दोनों भी एक प्रकार से निकृष्ट काम-
 नाएँ ही हैं (तस्मान्+ब्राह्मणः) इस कारण ब्राह्मण को उचित है कि (पाण्डित्यम्+
 निर्विद्य) शास्त्रसम्बन्धी जितना जो कुछ ज्ञान है उसको कुछ भी शेष=बाकी न
 रखें । इस प्रकार प्रथम शास्त्रज्ञान को समाप्त करके (भार्येन+विद्यासेत्) तब
 केवल ज्ञानविज्ञानरूप महाराशि के ऊपर स्थित होने की इच्छा करे । सर्वदा
 लोकरक्षित पुस्तकों के आधार पर ही न चलता रहे, निन्तु निजज्ञान का भी संपादन
 करे और उसी ज्ञाननल से स्थिर रहने की इच्छाना होवे (वात्यम्+च+पाण्डित्य
 च+निर्विद्य) इस प्रकार ज्ञान विज्ञान को और पाण्डित्य को समाप्त करके (अथ+
 मुनिः) तब मुनि होवे अर्थात् निरन्तर पदार्थों की सत्ता के वास्तविक रूप का मनन
 करे (अमौन+च+मौनम्+निर्विद्य) तब अमौन अर्थात् मनन वृत्ति के अतिरिक्त जो
 शास्त्रादिकों का परिचय उसे और मौन अर्थात् मननवृत्ति को समाप्त कर (अथ+
 ब्राह्मणः) तब ब्राह्मण होता है (सः+ब्राह्मण+येन+स्यात्+येन+स्यात्) वह जिस
 साधन से ब्राह्मण होता है ? वह जिस साधन से हो, अर्थात् वह जिस किसी
 साधन से ब्राह्मण हो अथवा (तेन) पूर्वोक्त साधन से ही ब्राह्मण हो परन्तु (ईदृशः+
 एव) ऐसा ही ब्राह्मण ब्राह्मण है (अतः+अन्यत्+आर्तम्) इससे भिन्न विज्ञान जो
 कहते हैं वह आर्त दुःख ही है (ततः+ह+कौपीतकेय+कहोलः+उपराम) तब याज्ञ-
 वल्क्य का यथोचित उत्तर सुन और ज्ञान के वे कुपीतक के मुञ्च कहोल उपराम
 को प्राप्त हुए अर्थात् चुप होगये ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथ हैनमिति । साक्षादपरोक्षादब्रह्म जिज्ञासमानमुपस्तं प्रति
 समादधतो याज्ञवल्क्यस्य समाधानेनाऽसंतुष्टः कश्चित्ताग्रा कहोलः कौपीतकेयः
 कुपीतरुस्यापत्यम् । अथ हैनं प्रवक्तारं तमेव प्रश्नं पुनरपि पप्रच्छ—याज्ञव-
 ल्क्योऽपि प्रथमं तदेव समाधानमकार्षीत् । यदेवादिः सर्वान्तराःतो ग्रन्थस्तयोरेव
 प्रश्नप्रतिपत्तौ अनुवदति । सम्प्रति कहोलस्यापि तादृशमेवानुबन्धमाग्रहृच्चा-

बलोक्य प्रवक्ता अन्यां विलक्षणां रीतिमाश्रित्य “योऽशनायापिपासे” इत्या-
दिग्रन्थेन समाधत्ते-कहोल ! यत्त्वं पृच्छसि समाहितः सन् तत्त्वं शृणु । स
आत्मा सर्वान्तरः यः अशनायापिपासे अत्येति अशितुं भोक्तुमिच्छा अश-
नाया । पातुमिच्छा पिपासा । अशनाया च पिपासा चेति अशनायापिपासे ।
अत्येति अतिक्रम्य वर्धते । पुनः यः शोकं मोहं जरां मृत्युञ्च अत्येति उल्लङ्घ-
यति स सर्वान्तर आत्मा । कलौह ! ब्राह्मणा ब्रह्मविदः । एतं वै तमात्मानं
विदित्वा । पुत्रैपण्यायाश्च पुत्रार्थमेपणा इच्छा पुत्रैपणा पुत्रोत्पत्तिमुद्दिश्य दारग्रहणे-
च्छालक्षणा । विचैपण्यायाश्च विचानां हिरण्यगवाशवादीनां धनानामेपणा विचैप-
णा । लोकैपण्यायाश्च पुत्रेणेयं लोक जेप्यामि केवलकर्मणा पितृलोकमुपासनासाहि-
तेन केवल्या वा तयोपासनया देवलोकमिति बुद्ध्या तत्साधनानुष्ठानम् । एताभ्य
एषणाभ्यः । व्युत्थाय विमुखा भूत्वा ब्रह्मलक्षीकृत्य ऊर्ध्वमुत्थाय ब्रह्माभिमुखी
भूयेत्यर्थः । अथानन्तरं शेषकाले देहस्थित्यर्थं मित्राचर्य्य मित्रार्थं चरणं संच-
रणं । चरन्ति कुर्वन्ति । फलेच्छासाधनं संक्रामतीति न्यायाल्लोकैपणैवैकेत्या-
ह—येति । याहि प्रसिद्धा पुत्रैपणा सैव विचैपणा दृष्टफलसाधनत्वादिसामा-
न्यात् । या पुत्रैपण्यैकत्वमापन्ना विचैपणा कर्मभूता सा लोकैपणैव साध्य-
लोकैपणाप्रयुक्तत्वासाधनैपण्याः । एवमेकत्वेऽपि लोकैपण्याः साधनम-
न्तरेणासिद्धेः साध्यसाधनभेदेन द्विविध्यमाह—उमे इति । हि यस्मादुमे एते
साध्यसाधनरूपे एषणे एव भवत इति । यस्मात्पूर्वं ब्राह्मणाः क्रमेण तमेतमा-
त्मानं विदित्वा व्युत्थानादि चक्रुस्तस्मादथतनोऽपि ब्राह्मण आपातदर्येषणाभ्यो
व्युत्थाय पाण्डित्यं शास्त्रोत्था बुद्धिः पण्डा तद्वान् पण्डितस्तस्य कर्म वेदान्त-
वाक्यविचारलक्षणं श्रवणापरपर्यायं पाण्डित्यं निर्विद्य निःशेषं कृत्वाऽनन्तरं वा-
च्येन तिष्ठसेच्छ्रवणज्ञानोत्पन्नाशेषानात्मदृष्टितिरस्करणसामर्थ्यं बलं तस्य भावो
वाच्यं तेन ज्ञानबलभावेन विषयानाकृष्टचित्तः संस्तिष्ठसेत्स्यातुमिच्छेत् । बाल्यश-
ब्दामिधेयं मननं कुर्यादिति यावत् । वाच्यं च पाण्डित्यञ्च निर्विद्य निःशेषं
कृत्वाऽप्यानन्तरं मुनिमौनवान्धारावाहिकात्मप्रत्ययप्रवाहवांस्तिष्ठसेदित्यनुपपद्यते
निदिध्यासनं कुर्यादिति यावत् । एवममौनं चोक्तार्थपाण्डित्यं बाल्यशब्दामिधेयं
श्रवणमननाख्यं निर्विद्य मौनं चोक्तार्थमुनिशब्दवाच्यं निदिध्यासनाख्यं निर्वि-
द्याधानन्तरं ब्राह्मणो निरुपचरितब्राह्मण्यवान्साक्षात्कृतब्रह्मैव स्यात्कृत्कृत्यो भवे-

दिति यावत् । उक्तग्राहणसाधनं साधनान्तरं शङ्कया पृच्छति—स इति । स ग्राहणः केन साधनेन स्यात् । उत्तरमाह—येनेति । तेनोन्नैष्कर्म्यसाधनेन स्यादेनानवाप्तज्ञानोऽपीदृश उक्तग्राहणसदृश एव भवेत् । उक्तं ब्रह्मैषमुपसंहरति—अत इति । अतोऽस्माद्ग्राहण्यावस्थानादशनायाद्यतीतात्मरूपादन्यदेषणा-लक्षणं यस्त्वनन्तरमार्तमार्तिपरिगृहीत स्वममायामरीच्युदकादिवदसारमित्यर्थः ॥ १ ॥

भाष्याशय—कौपीतकेय—कुपीतक का पुत्र कौपीनकेय । कुपीतक नाम के कोई प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, कौपीतकोपनिषद् इन के ही नाम से प्रसिद्ध है । अशनाया=अश भोजने । भोजनार्थक अश् घातु से अशनाया बनता है । विपासा=पीने की इच्छा । पुत्रैषणा=पुत्र की इच्छा । अर्कोत् पुत्रोत्पत्ति की कामना से दार ग्रहण करने की इच्छा । वित्तैषणा=वित्त=धन की इच्छा । लोकैषणा=लोक की इच्छा । पितृलोक, देवलोक, प्रजापतिलोक, स्वर्गलोक इत्यादि मनोरथ कल्पित अनेक लोकों की इच्छा को लोकैषणा कहते हैं । व्युत्थाय=वि+उत्थाय । वि=विमुख । उत्थाय=उठकर । अर्थात् तीनों प्रकार की इच्छाओं से विमुख हो ब्रह्म की ओर उठना । बाल्य=“यलस्य भावो बाल्यम्” परमात्मा में दृढ़ विश्वास, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अर्थात् जो सामर्थ्य इसका नाम यहा बल है । मौन=“मुनेर्भावो मौनम्” मुनि के परम कर्त्तव्य का नाम मौन है । परमात्मा के और तद्रचित सत्तुओं के निर्विध्यासन से दृढ़कर अन्य कर्त्तव्य क्या है ? । अमौन=शास्त्र आदि ज्ञान्य जो ज्ञान वह अमौन है ॥ १ ॥

इति पञ्चम ब्राह्मण समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ पठं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह्येनं गार्गी वाचकवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति हो-
वाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओ-
ताश्च प्रोताश्चेति वाचो गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च
प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका
ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु
गन्धर्वलोका अतश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति क-
स्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु
गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्ष-
त्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोता-
श्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च
प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओ-
ताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु
प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति क-
स्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गी
माऽतिप्राचीर्मा ते मूर्धा व्यपस्यदनातिप्रश्न्या वै देवतामति-
पृच्छसि गार्गी माऽतिप्राचीरिति ततो ह गार्गी वाचकनव्यु-
परराम ॥ १ ॥

अनुवाद—तब वाचकनी गार्गी इन याज्ञवल्क्य से पूछते लगीं । याज्ञवल्क्य ।
ऐसा कहकर वे बोलीं ! जो यह सर्व पदार्थ जल में ओत और प्रोत हैं । वह जल
किसमें ओत और प्रोत हैं ? (यह मेरा प्रश्न है) इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! वायु में ।

गार्गी—यह वायु किसमें ओत और प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! अन्तरिक्षलोकों में ।

गार्गी—ये अन्तरिक्षलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! गन्धर्वलोकों में ।

गार्गी—ये गन्धर्वलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! आदित्यलोकों में ।

गार्गी—ये आदित्यलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! चन्द्रलोकों में ।

गार्गी—ये चन्द्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! नक्षत्रलोकों में ।

गार्गी—ये नक्षत्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! देवलोकों में ।

गार्गी—ये देवलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! इन्द्रलोकों में ।

गार्गी—ये इन्द्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! प्रजापतिलोकों में ।

गार्गी—ये प्रजापतिलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! ब्रह्मलोकों में ।

गार्गी—ये ब्रह्मलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

वे याज्ञवल्क्य बोले कि हे गार्गी ! अतिप्रभ मत पूछो । ऐसा न हो कि तुम्हारा मूर्धा (शिर) गिरजाय । हे गार्गी ! अनतिप्रश्रया देवता को तुम बहुत पृथ रही हो । बहुत मत पूछो । तब वे वाचकनवी गार्गी उपरत होगई ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ+इ+वाचकनवी+गार्गी+एनाम्+पप्रच्छ) जब बहोत चुप रह गए

तत्सञ्जात् श्रीमती प्रज्ञवादिनी वाचकनी गार्गी इत याज्ञवल्क्य मे प्रश्न पूछने लगी
 (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं भी
 कुछ प्रश्न करूँ, ऐसी अनुमति माँग कर वे बोलीं (यद्+इदं+सर्वम्) जो यह सब
 वस्तु दीखती है वह (अप्सु+ओतम्+प्रोतम्) जल में ओत और प्रोत है ओत=ताना।
 प्रोत=वाना अर्थात् जिस प्रकार कपड़े के ताना और बाना दोनों प्रकार के सूत
 परस्पर प्रथित रहते हैं। वैसे ही जल में यह सब दृश्यमान पदार्थ प्रथित हैं ऐसा
 शास्त्र कहता है, परन्तु (आपः+कस्मिन्+नु+खलु) वह जल किसमें (ओताः च
 प्रोताः च) ओत और प्रोत है (इति) हे याज्ञवल्क्य ! यह मेरा प्रश्न है। अनु-
 ग्रह करके आप उत्तर दें। इसका समाधान याज्ञवल्क्य करते हैं (गार्गी+वाचो+
 इति) हे गार्गी ! वह जल वायु में ओत और प्रोत है। (वायुः+कस्मिन्+नु+खलु+
 ओतः+च+प्रोतः+च+इति) हे याज्ञवल्क्य ! वह वायु किसमें ओत और प्रोत है ?
 (गार्गी+अन्तरिक्षलोकेषु+इति) हे गार्गी ! वह वायु अन्तरिक्षलोकों में ओत और
 प्रोत है (अन्तरिक्षलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) हे याज्ञव-
 ल्क्य ! वे अन्तरिक्षलोक किस में ओत और प्रोत हैं ? (गार्गी+गन्धर्वलोकेषु+इति)
 हे गार्गी ! वे अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोकों में ओत और प्रोत हैं। (गन्धर्वलोकाः+
 कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) गन्धर्वलोक किस में ओत और प्रोत
 हैं ? (गार्गी+आदित्यलोकेषु+इति) वे आदित्यलोकों में ओत और प्रोत हैं (आ-
 दित्यलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे आदित्यलोक किस में
 ओत और प्रोत हैं ? (गार्गी+चन्द्रलोकेषु+इति) वे चन्द्रलोकों में ओत और प्रोत
 हैं (चन्द्रलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे चन्द्रलोक किसमें
 ओत और प्रोत हैं ? (गार्गी+नक्षत्रलोकेषु+इति) हे गार्गी ! वे नक्षत्रलोकों में
 प्रथित हैं (नक्षत्रलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे नक्षत्रलोक
 किस में ओत और प्रोत हैं ? (गार्गी+देवलोकेषु+इति) हे गार्गी ! वे देवलोकों में ओत
 और प्रोत हैं (देवलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे देवलोक
 किस में ओत और प्रोत हैं (गार्गी+इन्द्रलोकेषु+इति) हे गार्गी ! वे इन्द्रलोकों
 में ओत और प्रोत हैं। (इन्द्रलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+
 इति) वे इन्द्रलोक किस में ओत और प्रोत हैं ? (गार्गी+प्रजापतिलोकेषु+इति)
 हे गार्गी ! वे प्रजापतिलोकों में प्रथित हैं (प्रजापतिलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+

ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे प्रजापतिलोक विसर्गे ओत और प्रोत हैं (गार्गि+
ब्रह्मलोकेषु+इति) हे गार्गि ! वे ब्रह्मलोक ॥ प्रथित हैं (ब्रह्मलोकाः+कस्मिन्+नु+
ब्रह्म+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे ब्रह्मलोक विस में ओत और प्रोत हैं । हे
वाहवल्क्य ! इसका समाधान कीजिये । इस प्रश्न को सुन (सः+ह+व्याच)
वे वाहवल्क्य बोले अर्थात् गार्गी इस प्रकार बराबर पूछती चली जायँगी मैं कहा
तक उत्तर देता रहूँगा और ब्रह्मलोक से परे कोई लोक भी नहीं यह सब विचार
प्रवृत्त बोले कि (गार्गि+मा+अतिप्राचीः) हे गार्गि ! अतिप्रश्न मत करो । अति
सर्वत्र वर्जित है । जो प्रश्न न करना चाहिये वह आप पूछरही हैं सो उचित नहीं
(मा+ते+मूर्धा+व्यपसत्) यदि आप इस प्रकार पूछती रहें तो ऐसा न हो कि
आप का मूर्धा देह से पृथक् हो गिर पड़े अर्थात् ऐसा न हो कि प्रश्न पूछते २
आप की बुद्धि ही मारी जाय, आप पगली होजाय अतः सोच विचार कर प्रश्न
पूछा कीजिये । हे गार्गि ! (अनतिप्रश्न्याम्) जो अतिप्रश्न से भी दूर है । एक
तो अतिप्रश्न ही अनुचित है । इस में भी जो अतिप्रश्न से भी बाध विषय है
(वै+देवताम्) ऐसे देवता के विषय में (अतिपृच्छसि) आप बहुत पूछती हैं
(गार्गि+मा+अतिप्राची+इति) हे गार्गि ! उस विषय में बहुत मत पूछिये ।
ब्रह्मलोक से परे कोई लोक नहीं, मैंने आप से सब का आधार ब्रह्म कहा, परन्तु
आप ब्रह्म का भी आधार पूछती हैं यह वैसी अज्ञानता की बात है (ततः+ह+
वाचकनवी+गार्गी+अपराम) वाहवल्क्य का इस प्रकार समाधान सुन के वे वाच-
कनवी गार्गी चुप हो गई ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथानन्तरमेव मुनि गार्गी नामतो वचनोर्द्विहिता वाचकनवी
पप्रच्छेत्यादि पूर्ववत् । किं हे मुने ! यदिदं सर्वं भूयूषरादि पार्थिवं धातुजातमप्स-
दके स्वकारण आतं च दीर्घतन्तुवत्प्रोतं च तिर्यक्तन्तुवदन्यथा सत्पृष्ठिविद्भि-
शीर्येत । तथा च ययेयं पञ्चीकृता पृथिवी कार्यत्वात्स्वकारणभूतासु पञ्ची-
कृतास्त्वोतप्रोता तद्वदपामपि कार्यत्वात्कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेत्य-
नुमानविधया पृष्ट उत्तरमाह—वायाविति हे गार्गि ! वायौ पञ्चीकृत ओताश्च
प्रोताश्च कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोताश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु पञ्चपादिगतिहेतु-
भूतेषु पञ्चीकृतभूतात्मकेष्वाम्बित्यादी । सर्वत्रैकैकस्मिन्नपि बहुवचनं त्वारे-

रेमरुभूतानां बहुत्वापेक्षया । प्रजापतिलोका विराट्शरीराम्भकपञ्चीकृतप-
ञ्चमहाभूतात्मका ब्रह्मलोकेषु हिरण्यगर्भलोकेऽपञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकेषु । स-
मानमन्यत् । एवं ब्रह्मलोकाश्रयं सूत्रात्मानमपि पृच्छतीं निषेधयति—स इति ।
स याज्ञवल्क्यो होवाच । किं हे गार्गी । यस्यां ब्रह्मलोका ओतप्रोतभावेन वर्तन्ते
तां प्राणात्मभूतां सूत्रदेवतामानुमानिकत्वप्रश्नविषयतामतीत्य वर्तमानामनुमानेन
मा प्राचीर्मा पृच्छ । निषेधातिप्रशङ्गं दोषमाह—मा त इति । पृच्छन्त्याश्च ते तव
मूर्धा शिरो मा व्यपन्नद्विस्पष्टं मा पतेत् । तत्पातप्रसङ्गं प्रकटयन्प्रतिषेधमुपसंहर-
ति—अनतिप्रशङ्कामिति । देवतायाः स्वप्रश्न आगमविषयस्तमतिक्रान्तो गा-
र्ग्याः प्रश्न आनुमानिकत्वात्स प्रश्नो यस्या इन्द्रादिदेवताया विद्यते साऽतिप्र-
शङ्क्या । इयं तु नातिप्रशङ्क्याऽनतिप्रशङ्क्या स्वप्रश्ननिषेधैव केवलागमगम्येति या-
चत् । तामनतिप्रशङ्क्यां सूत्रदेवतां चा अतिपृच्छसि अतो गार्गी । मर्तुं चेन्नेच्छसि
तर्हि माप्राचीरित्यनुग्रहायौ निषेधः ततो ह गार्गी वाचकनव्युपररामेत्युपसं-
हारः पूर्ववत् ॥ १ ॥

आशय—वाचकनी=वचन्तु की कन्या को वाचकनी कहते हैं वचन्तु
नाम के कोई ऋषि थे । गार्गी इन्हीं की कन्या थी । ओत=रूपड़े के साना अर्थात्
लम्बे सूत को ओत कहते हैं । प्रोत=रूपड़े के बाना अर्थात् चाँड़े या तिरछे सूत
को प्रोत कहते हैं । अनतिप्रशङ्क्या=प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विषय होते हैं । अभी-
तक गार्गी ने जो कुछ पूछा था वह प्रत्यक्ष विषय था अतः गार्गी को पूछना भी
यहां तक उचित ही था । अनुमान से भी बहुत विषय जाने जाने हैं केवल अनु-
मान से जो विषय जाने जायें उस सम्बन्ध में जो प्रश्न है उसको अतिप्रश्न
कहेंगे, परन्तु जहां अनुमान की भी गति नहीं है केवल जो पदार्थ शब्दप्रमाण से
ही विदित होता है अथवा जहां शब्दप्रमाण भी काम नहीं करता ऐसे गूढ़ विषय
को पूछने का नाम अनतिप्रश्न है जो देवता अनतिप्रश्न से सम्बन्ध रखता
है उसको अनतिप्रशङ्क्या देवता कहते हैं । इसके विषय में ये तीन श्लोक हैं—

उचितोऽस्यौ मनेत्प्रश्नो देवता येन पृच्छयते ।

वर्तने यस्तमुल्लङ्घय सोऽतिप्रश्नोऽनुमुच्यते ॥ १ ॥

या तपहति पूर्वोक्ता साऽतिप्रशस्येह देवता ।

तदन्यत्वादिमां त्वाद्भुवनतिप्रशस्यनामिकाम् ॥ २ ॥

तामेतामनतिप्रशस्यामतिप्रशनेन साहसात् ।

पृच्छन्त्या मूर्धपातस्ते स्यादेव स्वापराधतः ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षलोक—“अन्तरिक्षायैव लोकः अन्तरिक्षलोकाः” अन्तरिक्ष को ही अन्तरिक्षलोक कहते हैं इसी प्रकार गन्धर्वलोक आदित्यलोक आदि में भी जानना ।

अध्यात्मवाद—इस पष्ठ ब्राह्मण में १-आप (जल), २-वायु, ३-अन्तरिक्ष-लोक, ४-गन्धर्वलोक, ५-आदित्यलोक, ६-चन्द्रलोक, ७-नक्षत्रलोक, ८-देवलोक, ९-इन्द्रलोक, १०-प्रजापतिलोक, ११-ब्रह्मलोक । ये ११ लोक उत्तरोत्तर आधार बने गये हैं । इस प्रकार के वर्णन से सर्वसाधारण में महाभ्रम उत्पन्न होता आया है । पौराणिक समय में इनका महाविस्तार से वर्णन हो गया । ये पृथक् २ लोक माने जाने लगे, परन्तु यह वर्णन धातुजगत् का नहीं है । याज्ञवल्क्य इस प्रकरण में प्रायः अध्यात्म वर्णन ही करते आये हैं और आगे भी करेंगे । यह केवल इस शरीर का ही वर्णन है । यथा—आप=जल, इस भौतिक शरीर का प्रथम आधार जल ही है जल-मात्र से यह मानव शरीर होता है घृक्षादिक भी जल से ही उत्पन्न होते हैं ऐसी विचार से प्रतीत होगा । प्रथम तो प्रायः जल के संयोग बिना कोई बीज अकुरित ही नहीं होना । द्वितीय यह है कि बीज का जलीय भाग ही अक्षुर बनता है । आप प्रत्यक्षरूप से देखते हैं कि बीज का स्थूल भाग ज्यों का त्यों बना रहता है उस बीज से अद्भुत प्रकार से एक अकुर निकल आता है और शनैः २ बढकर महा-पृच्छ बन जाता है । इस प्रकार जल ही सत्रका प्रथम आधार है अतः गार्गी ने कहा कि यह दृश्यमान पदार्थ जल में ओत प्रोत है । परन्तु वह जल किस में ओत प्रोत है यह मैं नहीं जानती । हे याज्ञवल्क्य ! कृपाकर आप कहें । अतः यहाँ बाह्य जल से तात्पर्य नहीं है किन्तु शरीर के कारणभूत जल से तात्पर्य है । इसी कारण शास्त्रों में वर्णन आता है प्रथम जल की ही सृष्टि हुई “अप एव ससर्जोऽसौ” ।

वायु—याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह जल वायु में ओत प्रोत है । भाव इसका यह है कि यदि प्राणवायु न हो तो वह कारणभूत बीजभूत जल भी बुद्ध्य नहीं

कर सकता । यह प्रत्यक्ष विषय है । यदि वायु की सृष्टि नहीं होती तो एक भी जीव पृथिवी पर नहीं दीप्तता अतः जल भी वायु में ओत प्रोत है ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । यहा वायु पद से शरीरस्थ प्राण अपान इत्यादिकों का ग्रहण है । अन्तरिक्षलोक—वह वायु=अध्यात्म प्राण अपान आदि अन्तरिक्षलोक में ओत प्रोत है । ठीक है । “अन्तः ईदयते” अन्तरिक्ष उसे कहते हैं जो सप्त के अन्तर=मध्य में दीप्त पड़े । प्राणवायु और वाह्यवायु और अन्तरिक्ष का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है यदि अन्तरिक्ष अर्थात् अवकाश न हो तो पायु रहे कहा ? वायु बहता है ? कौनसा यह पदार्थ है जो बहता है, कौनसा वाह्यपदार्थ है जिसका यह वाहक है इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, जो कुछ हो । परन्तु यह कहना पड़ेगा कि यह भी अन्तरिक्ष में ओत प्रोत है । यहा अन्तरिक्ष पद से शरीरस्थ अवकाश का ग्रहण है ।

गन्धर्वलोक—यह अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोक में ओत प्रोत है । ऐसे स्थलों में सूर्य की किरणों का नाम गन्धर्व होता है । अब यह दिखलाते हैं कि बीज, वायु और अन्तरिक्ष इन तीनों के रहते हुए भी यदि गरमी न हो तो कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होसकता । पूर्वोक्त तीनों सूर्यकिरण अर्थात् गरमी, ऊष्मा=उष्णता । गन्धर्व अर्थात् गरमी में ओत प्रोत हैं अर्थात् उनका जीवनप्रद उष्णता है शरीर में जो उष्णता है उसी का नाम यहा गन्धर्व है । आदित्यलोक—वाह्यजगत् में देखते हैं कि पृथिवी पर सम्पूर्ण गरमी सूर्य से आती है । इस शरीर में भी उसी सूर्य से गरमी आती है । परन्तु मानो इस देह में जो जाठराग्नि है वही आदित्य है अतः वह गन्धर्व आदित्य में ओत प्रोत है ऐसा कहा है ।

चन्द्रलोक—वह आदित्यलोक चन्द्रलोक में ओत प्रोत है, ठीक है । चन्द्र शब्द से प्रायः मन का ग्रहण होता है, यद्यपि मन और चन्द्र का कार्यकारणभाव सम्बन्ध है तथापि अध्यात्म वर्णन में चन्द्र का कार्यभूत जो मन उसी का ग्रहण होता है । यदि मनन हो तो इस शरीर का भी अस्तित्व नहीं रह सकता है । अतः पूर्वोक्त जल, वायु, गन्धर्व और आदित्य ये सब मनोरूप चन्द्र में ओत प्रोत हैं ।

नक्षत्रलोक—चतु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रियों का नाम यहां नक्षत्रलोक है ।

जैसे—ब्राह्मजगत् में चन्द्र एक और नक्षत्र अनेक प्रतीत होते हैं तद्वत् इस शरीर में मन तो एक है, इन्द्रिय अनेक हैं । मन इन्द्रियों के अधीन है । अतः कहा गया है कि नक्षत्रलोक में चन्द्रलोक ओत प्रोत है । देवलोक—इन्द्रियों के जो दर्शन, श्रवण, घ्राण (सूचना), आस्वादन, स्पर्शन, मनन आदि विषय हैं वे यहा देवता कहाते हैं इन्द्रियगण अपने २ विषय के अधीन हैं । अतः कहा गया है कि नक्षत्रलोक (इन्द्रियलोक) देवलोक (इन्द्रियविषय लोक) में ओत प्रोत है । इन्द्रलोक—इन्द्र नाम जीवात्मा का है चतुर्दशभुवन और वदिकइतिहासाधर्निर्णय आदि ग्रन्थ हैतिये । इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय और पूर्वोक्त आप आदि सब ही आत्मा के अधीन हैं इसमें सन्देह नहीं, क्या यदि आत्मा न हो तो इस शरीर का अस्तित्व ही नहीं बन सकता । प्रजापतिलोक—अदृष्ट शुभाशुभ कर्म का नाम प्रजापति है, यदि अनादिकाल से चला आता हुआ अदृष्ट अर्थात् शुभाशुभ कर्म न हो तो यह जीवात्मा भी इस ससाररूप गुहा में क्योंकर जाने और क्योंकर यह विविध सृष्टियां हों, अतः कहा है कि यह इन्द्रलोक अर्थात् जीवात्मा प्रजापतिलोक अर्थात् कर्म में ओत प्रोत है ।

ब्रह्मलोक—परमात्मा का नाम यहां ब्रह्मलोक है । यह अदृष्ट भी परमात्मा के अधीन है । अतः कहा गया है कि यह प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में ओत प्रोत है । इस प्रकार यह अध्यात्म वर्णन है ब्राह्मजगत् का गिरूपण नहीं है । सूर्धोपतन—इस प्रकार ब्राह्मवल्क्य ने आप अर्थात् कारणभूत धीज से लेकर ब्रह्मपर्यन्त आधातव्य भाव कह दिया । अब पुनः ब्रह्म का भी आधार गार्गी पूछने लगीं इस पर ब्राह्मवल्क्य ने कहा कि हे गार्गी ! आप अनतिप्रश्न्या देवता को पूछ रही हैं । क्या यह विषय तेरे शिर में आ सकता है ? कदापि नहीं । ऐसा न हो कि तुमको यह आगमगम्य विषय में समझाऊं परन्तु तुम न समझमओ तब तुम्हारा हास्य होगा । और तुम्हें लाजित होके इस सभा में अधोमुखी होना पड़े अतः तुम्हारे कल्याण के लिये यह मैं कहता हूं । तुम अनतिप्रश्न्यदेव को मत पूछो । इति सत्तेपतः ॥ १॥

इति षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच
मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्त-
स्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्र-
वीत् कवन्ध आथर्वण इति ॥ १ ॥ (क)

अनुवाद—तत्पश्चात् आरुणि उद्दालक इनसे पूछने लगे, हे याज्ञवल्क्य !
इस प्रकार प्रथम सन्वोधन कर उन आरुणि ने याज्ञवल्क्य से पूछना आरम्भ किया ।
हम लोग कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल नाम के ऋषि के गृह पर यज्ञशास्त्र को अध्ययन
करते हुए ठहरे हुए थे । उनकी स्त्री ने निज अध्ययन के लिये गन्धर्व जातीय एक
विद्वान् को रक्खा था । उनसे हम लोगों ने पूछा कि “आप कौन हैं” उन्होंने
उत्तर दिया कि “मैं आथर्वण कवन्ध हूँ” इति ॥ १ ॥ (क) *

पदार्थ—(अथ) अब सप्तम प्रच्छक के दिखलाने को आगे ग्रन्थ आरम्भ
करते हैं जय गार्गी याज्ञवल्क्य के समीचीन समाधान को सुन और उनको दुर्धर्ष
और अजेय विद्वान् जान प्रभ करने से उपरत होगई । तत्पश्चात् (आरुणिः)
अरुण ऋषि के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक ने (एनम्+ह) इस सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य
से (पप्रच्छ) पूछा । किस रीति से उसने अपने प्रभ का आरम्भ किया सो आगे
कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य महाराज इस प्रकार पुकार
कर वह बोले । आगे अपना इतिहास कहते हैं तब उसी के सन्ध्वन्ध में प्रभ करेंगे
हे याज्ञवल्क्य ! हम लोग (काप्यस्य) कपि नाम के ऋषि के गोत्र में उद्भव
(पतञ्चलस्य) पतञ्चल नाम के विद्वान् के (गृहेषु) गृह पर (यज्ञम्+अधीयानाः)
यज्ञशास्त्र को पढ़ते हुए (अवसाम) ठहरे हुए थे । (तस्य) उनकी (भार्या)
पत्नी ने (गन्धर्वगृहीता+आसीत्) एक गन्धर्वजातीय विद्वान् को अध्ययनार्थ

रक्ष्या धा । (तम्) उस गन्धर्व से (अपृच्छाम) हम लोगों ने पूछा कि (कः+
असि+इति) आप कौन हैं (सः+अग्रवीत्) उन्होंने उत्तर दिया कि मैं
(आथर्वणः) अथर्वा ऋषि का पुत्र हूँ और (क्वन्ध+इति) मेरा नाम क्वन्ध
है ॥ १ ॥ (क)

भाष्यम्—अथेति सप्तमं प्रच्छकं दर्शयतुमथेत्यादिनाग्रन्थमवतारयति ग्रन्थ-
कृत् । यदा गार्गी याज्ञवल्क्यस्य समीचीनं समाधानं श्रुत्वा दुर्धर्षमजेयञ्च संविदित्वा
प्रश्नाद्विरराम । अथानन्तरं । आरुणिररुणस्याऽपत्यमारुणिः नाम्नोद्दालकः
एनम् ह याज्ञवल्क्यम् पप्रच्छ प्रश्नं कृतवान् । कया रीत्या प्रश्नोपन्यासं कृतवानि-
ति वक्षि । हे याज्ञवल्क्येति प्रथमं संबोध्य तत् उद्दालको वक्ष्यमाणं वचन-
मुवाच । हे याज्ञवल्क्य ! कदाचित् वयम् । काप्यस्य कपिर्नाम कश्चिदपि ।
तस्य गोव्रापत्यमिति काप्यस्तस्य । पतञ्जलस्य पतञ्जलनाम्नः कस्यचिदनुचा-
नस्य । गृहेषु यज्ञं यज्ञशालम् । अधीयानाः अध्ययनं कुर्वाणाः सन्तः मन्त्रेषु
मन्त्रदेशेषु अवसाम वासं कुनवन्तः । तस्य पतञ्जलस्य । मार्त्या मर्तुं पोषयितुं
योग्या “भरणाद् मार्त्या” गन्धर्वगृहीता आसीत् । गृहीतः पठनाय स्थापितो
नियोजितो गन्धर्वो गन्धर्वजातीयो विद्वान् यया सा गन्धर्वगृहीता गृहीतगन्धर्वे-
त्यर्थः । अध्ययने सहायतां लब्धुं कश्चिद्विद्वान् नियोजितः । तादृशीत्यर्थः ।
तमध्यापकं गन्धर्वं वयमपृच्छाम “कोऽसीति” । स गन्धर्वः अग्रवीत् । अहं
आथर्वणोऽथर्वणोऽपत्यमाथर्वणः । नाम्ना क्वन्धोऽ-
स्मि इति ॥ १ ॥ (क)

भाष्याशयः—उद्दालक “उद्धारयतीति उद्गतो भूत्वा दारयतीति” यद्वा
“उद्गता दारा यन्य सः” जो उद्गत अर्थात् दृढ सनद्ध होके काम, क्रोध, लोभ,
मोह, मद, मात्सर्य्य को विदारित=विनष्ट करे उसे उद्दालक कहते हैं । यद्वा
जिनको अच्छी दार=स्त्री प्राप्त है वह उद्दालक । अरुणि=अरुण का अपत्य=
पुत्र । काप्य=कपिगोत्रेत्पत्न । गन्धर्वगृहीता=जिसने अध्ययन के लिये गन्धर्व को
नियुक्त किया है वह गन्धर्वगृहीता । क्वन्ध=“क मुप धा प्रह्मण्डम्वा क्वन्धातीति”
जो सुग्री हो यद्वा प्रह्मण्ड के तत्त्व को जाने वह क्वन्ध । आथर्वण=अथर्वा का
पुत्र । भार्चीनकाल में अथर्वा नाम के एक सुप्रसिद्ध ब्रह्मवादी हुए हैं ? ॥ १ ॥ (क)

सोऽब्रवीत्पतञ्जलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य
तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि
संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्जलः काप्योनाहं तद्भ-
गवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्जलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु
त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं
सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्जलः
काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्जलं काप्यं
याज्ञिकांश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति
स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स
आत्मवित्स सर्वविदिति ॥ १ ॥ (ख)

. अनुवाद—उन (गन्धर्व अध्यापकने) काप्य पतञ्जल से और हम याज्ञिकों से
कहा कि हे काप्य ! क्या तू उस मूढ़ को जानता है जिसमें यह लोक और पर-
लोक और सब भूत प्रयित होते हैं । उस काप्य पतञ्जलने कहा कि हे भगवन् ! मैं
उस (सूत्र) को नहीं जानता, पुनः उन (गन्धर्व अध्यापकने) काप्य पतञ्जल
और हम याज्ञिकों से कहा कि हे काप्य ! क्या तू उस अन्तर्यामी को जानता है जो
(अन्तर्यामी) इस लोक और परलोक और समस्त प्राणियों को स्वयं उनके बीच
में स्थित होकर नियम में रखता है उस काप्य पतञ्जलने कहा कि हे भगवन् !
मैं नहीं जानता हू । पुनः उन गन्धर्व अध्यापक ने काप्य पतञ्जल और हम
याज्ञिकों से कहा कि हे काप्य ! जो पुरुष निश्चयरूप से उस सूत्र को और उस
अन्तर्यामी को जान जाय वह ब्रह्मविन् वह लोकवित् वह देववित् वह वेदवित् वह
भूतवित् वह आत्मवित् वह सर्ववित् है ॥ १ ॥ (ख)

पदार्थ—उन गन्धर्व अध्यापक (काप्यम्) कपिगोत्रोत्पन्न (पतञ्जलम्)
पतञ्जल (याज्ञिकान्+च) और यज्ञशास्त्र के अध्ययन करनेवाले हम लोगों से
(अब्रवीन्) कहा अध्यान् पूछा कि (काप्य) हे कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्जल ! (नु)

क्या (तत्+सूत्रम्) उस सूत्र को (त्व+वेत्य) तू जानता है (येन) जिस सूत्र से (अयम्+लोकः) यह दृश्यमान लोक और इसके सूक्ष्म कारण और (पर+च+लोकः) परलोक और उसके सूक्ष्म कारण (सर्वाणि+च+भूतानि) समस्त जीवजन्तु और जो कुछ अनुमान-शास्त्र-प्रत्यक्ष-गम्य वस्तु है सब ही (सहध्यानि+भवन्ति) प्रथित होते हैं । अर्थात् जिस सूत्र में दृश्यादृश्य सब ही वस्तु प्रथित हुए हैं उसकी क्या आप अपने शिष्यमहिष जानते हैं (इति) यह मेरा प्रश्न है (सः+वाप्यः+पतञ्जलः) उस वाप्य पतञ्जल ने (अब्रवीत्) कहा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (तत्) उस सूत्र को (न+अहम्+वेद) नहीं जानता हूँ । पुनः (सः) उन गन्धर्व अध्यापक ने (पतञ्जलम्+वाप्यम्+याज्ञिकान्+च) पतञ्जल वाप्य और यज्ञशास्त्र के अध्ययन करनेवाले हम लोगों से (अब्रवीत्) पूछा कि (वाप्य) हे वाप्य ! (तु) क्या (तम्+अन्तर्यामिणम्) उस अन्तर्यामी को (त्व+वेत्य) आप जानते हैं । (य.) जो अन्तर्यामी (इमम्+च+लोकम्) इस दृश्यमान लोक को अपने कारण सहित तथा (सर्वाणि+च+भूतानि) सब भूतों को (य.) जो (अन्तरः) सबों के मध्य में विराजमान होकर (यमयति) नियम में रखता है (इति) उस अन्तर्यामी को तू जानता है उस गन्धर्व से इस प्रकार पूछे जाने पर (स.) वह (वाप्यः+पतञ्जलः) क्षिप्रोत्पन्न पतञ्जल (अब्रवीत्) बोले कि (भगवन्) हे पूज्यपाद भगवन् (तम्+अहम्+न+वेद+इति) मैं उसको नहीं जानता हूँ । जब गन्धर्व के दोनों प्रश्नों का उत्तर नहीं हुआ तब यह गन्धर्व उस सूत्र और उस सूत्र के अन्तर्हित अन्तर्यामी को जानने में क्या फल होता है सो आगे लोगों की प्रवृत्ति के लिये कहते हैं (स.) वह गन्धर्व (पतञ्जलम्+वाप्यम्) पतञ्जल वाप्य और (याज्ञिकान्+च) यज्ञ के अध्ययन करनेवाले हम लोगों से (अब्रवीत्) बोले कि (य.) जो विद्वान् (वै) निश्चय बरके (वाप्य) हे वाप्य पतञ्जल ! (तत्+सूत्रम्) उस सूत्र को और (तम्+च+अन्तर्यामिणम्) उस अन्तर्यामी पुरुष को (विद्वान्) जगत्, सैवे, इन्द्रि, अन्धे प्रकार से जान जाय (स+नक्षत्रवित्) वह परमात्मवेत्ता है (स+लोकवित्) वह भू, भुव, स्व, आदि लोक लोकान्तर्गत का विद्वान् है (स+देववित्) वह अग्नि सूर्य आदि देवों के सत्त्व को जाननेवाला है (स+वेदवित्) वह ऋग, यजु, साम, अथर्व वेदों का ज्ञाता है (स+भूतवित्) वह सकल प्राणियों को जाननेवाला है (स+आत्मवित्) वह जीवात्मवित्

है । हे काप्य विशेष क्या कहें (सः+सर्वविद्+इति) वह सर्ववित् सत्त्व वस्तु का
ह्माता है इसमें सन्देह नहीं । उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को आप नहीं
जानते हैं फिर आप अध्यापकवृत्ति कैसे करते हैं ॥ १ ॥ (ख)

भाष्यम्—स इति । स पूर्वोक्तोऽध्यापकत्वेन नियोजितो गन्धर्वः । काप्यं
कप्यपिगोत्रम् । नाम्ना पतञ्जलम् । याज्ञिकांश्च यज्ञशास्त्रमधीयानानमस्मांश्च ।
अब्रवीदबोचत् । काप्य हे स्वशिष्ययाज्ञिकसहित काप्य ! प्राधान्यात् पत-
ञ्जल एव काप्यशब्देन सम्बोध्यते न याज्ञिकाः । सम्बोधिते आचार्ये तेऽपि
सम्बोधिता इत्युत्प्रेक्ष्यम् । यद्वा याज्ञिकास्तु सम्प्रति पठन्त्येव । अतस्तद्व्यति-
ति न प्रश्नयोग्यता । पतञ्जलस्त्वध्यापयिताऽस्ति । ज्ञेयज्ञानस्य तस्मिन् संभवात्
तं प्रति प्रश्नावकाशः । याज्ञिकाश्च श्रोतृत्वेन तिष्ठन्तु । नातस्ते सम्बोध्यन्ते । नु
ननु । नु इति शङ्कायाम् । ननुत्वं । तत्सूत्रं वेत्य वेत्ति जानासि “विदोलटो-
वा । ३ । ४ । ८३ ॥ वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयोवाच्युः” । येन सूत्रेण
अयञ्च लोकः अयं दृश्यमानोऽस्त्विलो लोकः । चात्तस्य सूक्ष्मतममदृश्य कारण-
ञ्च परश्च लोकः प्रत्यक्षविषयीभूतोऽनुमानावगम्योऽनन्तो लोकः चात्तत्कारणं
प्रकृतिश्च । च पुनः सर्वाणि भूतानि भवन्तीति भूतानि उपचयापक्षयशीलानि
वस्तुमात्राणीत्यर्थः । संहन्धानि भवन्ति संग्रथितानि जायन्ते । यथा वृक्षुमानि
‘सूत्रेण ग्रथितानि भवन्ति तथैव येन सूत्रेण परस्परं सर्वाणि वस्तूनि ग्रथितानि
भूत्वा मान्यानीव शोभन्ते । तत्सूत्रं हि त्वं जानासि । प्रथमं विशेषणं गृह्यद्
बाह्यजगद्दर्शयति । द्वितीयन्तु गृहस्य पदार्थवदाभ्यन्तरं । एवं गन्धर्वेण
पृष्टोऽस्माकमध्यापकः पतञ्जलः काप्योऽब्रवीत् । भगवन् पूज्य माननीय ! तत्सूत्रं ।
नाहं वेदंति । अहं तत्सूत्रं न जानामीत्यर्थः ॥

द्वितीयप्रश्नमारम्भे । पुनः स गन्धर्वः । पतञ्जलं काप्यमस्माकं आचार्यम् ।
अस्मान् याज्ञिकाश्च अब्रवीत् । हे काप्य ! तमन्तर्यामिणं पुरुषं । न ननु त्वं
वेत्य जानासि । अतोऽन्तस्थितः सन् यन्तुं नियन्तुं यथावत्स्यापयितुं शील-
मस्येत्यन्तर्यामी । अन्तःपूर्वायच्छतेर्णिनिः । योऽन्तर्यामी पुरुषः अन्तरोऽभ्यन्तरो
स्थितः सन् द्वितीयो यच्छब्दप्रयोगोऽनर्थकः । विस्पष्टार्थश्चा । इमञ्च लोकम् ।
परञ्च लोकम् । सर्वाणि च भूतानि इमानि पदानि पूर्ववद् व्याख्येयानि ।

यमयति नियमयति यथायोग्यं पदार्थानां परस्परं संबन्धं निघटयति स्वाकर्ष-
शक्त्या सर्वाणि परमाणूनि यथायोग्यं स्थापयित्वा धारयित्वा च अनुशास्ती-
रपर्यः । ईदृशमन्तर्यामिणं त्वञ्च जानामि ? एवं पृष्ठः सशिष्यः काप्योऽब्र-
वीत् । हे भगवन् ! नाहं तमन्तर्यामिणं वेदेति वेद्रीति जानामीति । सम्प्रतिस
गन्धर्वः सूत्रस्य तदन्तर्गतस्यान्तर्यामिणश्च विज्ञानमवृत्त्यर्थं माहात्म्यं स्तूपये ।
पूर्ववत् पतञ्जल काप्यं याज्ञिकाञ्चाब्रवीत् स गन्धर्वः । हे काप्य ! वै निश्चितं
यथास्यासथा । यः करिचत् । तत्सूत्रम् । तमन्तर्यामिणञ्च । विद्यात् जानीयात् ।
स ब्रह्मवित् ब्रह्मपरमात्मानं वेत्ति इति ब्रह्मवित् । स लोकवित् लोकान् भूरा-
दीन् अन्तर्यामिणा नियम्यमानान् लोकान् वेत्ति जानातीति—स देववित्
आदित्यादि देवानां ज्ञाता । स वेदवित् वेदज्ञः । स भूतवित् । स आत्मवित्
जीवात्मवित् किं बहुघोत्रेण स सर्वविदित्यर्थः । हे काप्य ! स सर्वज्ञो भवती-
त्यर्थः ॥ १ ॥ (स)

तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेदं तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वां-
स्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति
वेदं वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा
इदं कश्चिद् ब्रूयाद्वेदं वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥ (ग)

अनुवाद—उन हम लोगों से उसने कहा । उसको मैं जानता हूँ । हे याज्ञ-
वल्क्य ! उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को न जानते हुए आप यदि ब्रह्मवे-
त्ताओं की गोत्रों को ले जायेंगे तो आपका मूर्धा विस्फुरूप से गिर पड़ेगा । (याज्ञ-
वल्क्य कहते हैं) हे गौतम ! मैं उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को अच्छे प्रकार
जानता हूँ (गौतम कहते हैं) इसको सब कोई कह सकता है कि मैं जानता हूँ
मैं जानता हूँ, परन्तु यदि आप जानते हैं तो जैसा जानते हैं वैसा कहें ॥१॥ (ग)

पदार्थ—(तेभ्यः) उन गन्धर्व ने उस सूत्र और उस अन्तर्यामी के विज्ञान
का फल कहा तब हम लोग उनके बचन पर ध्यान देने लगे, सावधान होकर सुनने
लगे और प्रार्थना की कि हे गन्धर्व ! वह सूत्र और वह अन्तर्यामी कौन हैं सो

हम लोगों से आप कृपा करके कहें । सब उन्होंने उन अवहित अभिमुख हम लोगों से (अग्रवीत्) उपदेश दिया । भला उन्होंने उपदेश दिया तो अच्छा किया, परन्तु आपको क्या वह उपदेश स्मरण है या नहीं ? यदि नहीं है तो मेरे समाधान से भी आपको कैसे सन्तोष होगा इस आशङ्का से आप कहते हैं । हे याज्ञवल्क्य ! (तद्+अहम्+वेद) मैं उस विज्ञान को जानता हूँ । (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (तत्+सूत्रम्) उस सूत्र को (तम्+च+अन्तर्यामिणम्) और उस अन्तर्यामी को (अविद्वान्) न जानते हुए (त्वम्) आप (चेत्) यदि (ब्रह्मगवीः) ब्रह्मपेक्षा निमित्त आनीति गौत्रों को (उदजसे) लिया जाते हैं तो (ते) आप के (मूर्धा) शिर (विपतिष्यति) अवश्य गिर पड़ेगा (इति) इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं (गौतम) हे गौतम ! गौतम गोत्रोत्पन्न उद्दालक ! (वै) निश्चयरूप से (अहम्) मैं (तत्+सूत्रम्) उस सूत्र को (तम्+च+अन्तर्यामिणम्) उस अन्तर्यामी को (वेद) जानता हूँ । उद्दालक कहते हैं (यः+कश्चित्) जो कोई अर्थात् सय कोई (वै) निश्चय (इदम्) इस बात को (श्रूयात्) कह सकता है कि (वेद+वेद+इति) मैं जानता हूँ मैं जानता हूँ अर्थात् मैं जानता हूँ ऐसा तो सब कोई निश्चय ही कह सकता है, परन्तु यदि आप जानते हैं तो (यथा+वेत्थ) जैसा जानते हैं (तथा+शूहि) वैसा कहें । अर्थात् गर्जन करने से क्या प्रयोजन यदि आप जानते हैं तो कहें ॥ १ ॥ (ग)

माप्यम्—तेभ्य इति । यदा स गन्धर्वस्तस्मै तदन्तर्गतान्तर्यामिणोर्बिज्ञानस्य तादृशफलमश्नायत्तदा हे याज्ञवल्क्य ममाचार्यो वयञ्च तच्छ्रवणोऽभिमुखीभूत्वा सावधाना अभूम् । तदा च तेभ्योऽभिमुखीभूतेभ्यः सावधानेभ्यश्चास्मभ्यम् । तद्विज्ञानमुपदिदेश । तद्विज्ञानमहं वेद जानामि । “यदि तस्योपदेशं त्वमधुना न स्मरसि तर्हि मम समाधानेन तव कथं सन्तोषः” इत्याशङ्क्या “तद्वेदे वेदेत्युक्तिः” सम्प्रति ध्यङ्गोक्त्या प्रश्नं करोति । हे याज्ञवल्क्य ! चेत्त्वम् यदि-त्वम् । तत्सूत्रम् । अविद्वान् अजानन् सन् । च पुनः तमन्तर्यामिणमविद्वान् सन् । ब्रह्मगवीः ब्रह्मणी वेदविदां पणीभूता गाः । उदजसे मांपयसि । मूर्धा ते विपतिष्यति इति ब्रह्मणा ब्रह्मविदा निमित्ताय या गावः । ता ब्रह्मगव्यस्ताः ॥ “गौरतद्वित्तुकि । ५ । ४ । ६२ ॥ इतिटच् । ततो ङीप् । अन्यापेन गवः

हरतोऽब्रह्मविदस्ते मूर्धा विपतिष्यति विस्पष्टं पतिष्यति । विवेक राहित्येन पतितमिव सर्वेषां सपक्षे अन्वकृतमिव भविष्यतीत्यर्थः । इत्थं भर्त्सितो महात्मा याज्ञवल्क्योऽब्रवीत् । हे गौतम गोत्रेण गौतम ! अहं तव सूत्रम् । तच्चान्तर्यामिणं । ये निश्चयेन वेदं जानामि । स गन्धर्वो यत्सूत्रं यच्चान्तर्यामिणं शुष्मम्यमुत्तमान् । तत्सूत्रं तमन्तर्यामिणश्चाहं सम्यग् जानामि । कथं मां त्वं भर्त्सयसि । इत्थं प्रत्युक्तो गौतमः कथयति । यः कश्चिद् पुरुषस्त्वमिव ब्रूयाद् । यदहं वेद अहं वेदेति अर्थात् सर्वोऽपि जनः अहं वेद अहं वेदेति वक्तुं शक्नोति । वचने का दरिद्रतेति न्यायात् । हे याज्ञवल्क्य ! यदि त्वं जानासि यथा यादृशं त्वं वेत्थ जानासि तथा तादृशमेव ब्रूहि कथय । किं तेन बहुना गर्जिनेन वा श्लाघया । स्योत्तरेणैव स्वशक्तिं दर्शयेत्यर्थः ॥ १ ॥ (ग)

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संद्वेधानि भवन्ति तस्माद्दे गौतम पुरुषं श्रेतमाहुर्व्यस्रंसिपता-स्याज्ञानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संद्वेधानि भवन्तीत्येवमेवेतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ २ ॥

अनुवाद—ये याज्ञवल्क्य बोले हे गौतम ! वायु ही यह सूत्र है । हे गौतम ! निश्चय वायुरूप सूत्र से ही यह लोक और परलोक और सब भूत अच्छे प्रकार प्रथित हैं । इस हेतु हे गौतम ! मृत पुरुष को (देहकर) लोग कहते हैं कि इसके अहं धिरोरूप से ढीले हो गये हैं क्योंकि वायुरूप सूत्र से ही सब अच्छे प्रकार प्रथित हैं (इस उत्तर को सुन उद्दालक कहते हैं) हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है । यह वैसा ही है । अब अन्तर्यामी को कहें ॥ २ ॥

पदार्थ—(स+ह+उवाच) जन गौतम उद्दालक ने डांट करके याज्ञवल्क्य से उत्तर देने को कहा तब वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य सभा के बीच में बोले (गौतम) हे गौतम गौतम गोत्रोत्पन्न उद्दालक ! (वै) निश्चय इसमें सन्देह नहीं (वायुः) वायु ही (तव+सूत्रम्) वह सूत्र है । गन्धर्व ने आप लोगों से जिस सूत्र को कहा है वह

वायु ही है इसमें संशय नहीं (वै) निश्चय (वायुना सूत्रेण) वायुरूप सूत्र से ही (अयम्+च+लोकः) कारणसहित यह दृश्यमान लोक (परः+च+लोकः) स्व-कारणसहित प्रत्यक्ष के अविषयीभूत केवल अनुमानगम्य अनन्त आकाशस्थ लोक-लोकान्तर (सर्वाणि+च+भूतानि) और दृश्यादृश्य लोकस्थित संपूर्ण पदार्थ (स-दृग्भानि+भवन्ति) प्रथित हैं (तस्माद्+वै) इसी हेतु (गौतम) हे गौतम ! (प्रेतम्+पुरुषम्) मृतपुरुष को देखकर (आहुः) मनुष्य कहते हैं कि (अस्य) इस मृत पुरुष के (अङ्गानि) अवयव (व्यस्रंसिपत) गिर गये हैं ढीले पड़ गये हैं अर्थात् जैसे माला से सूत्र के निकल जाने पर फूल इधर उधर छितरा जाते हैं तद्वत् वायुरूप बन्धन रहित होकर सब अङ्ग मानो इधर उधर गिर पड़ते हैं । (हि) क्योंकि (गौतम) हे गौतम ! (वायुना+सूत्रेण) वायुरूपी सूत्र से (सदृग्भानि भवन्ति) सब पदार्थ प्रथित हैं । (इति) इस प्रकार योगी याज्ञवल्क्य के समीचीन और गन्धर्व समान उत्तर पाकर गौतम उद्दालक नितान्त सन्तुष्ट होकर कहते हैं कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (एतत्) यह विज्ञान (एवम्+एव) ऐसा ही है अर्थात् आपने जो उत्तर दिया है सो बहुत ही ठीक है, एक प्रश्न का उत्तर तो होगया । अब (अन्तर्यामिणं+ब्रूहि) अन्तर्यामी के विषय में जो दूसरा प्रश्न है सो आप कहें, (इति) ॥ २ ॥

माध्यम्—सहेति । गौतमेनोद्दालकेनैवमुक्तः स इ याज्ञवल्क्य उवाच । हे गौतम ! तत्सूत्रम् गन्धर्वेण युस्मान् प्रति यत्सूत्रमुच्यम् । वायुर्वै निश्चयेन वायु-रस्ति । हे गौतम ! वायुना सूत्रेण वायुरूपेण सूत्रेण । अयञ्च लोको लोक्यते दृश्यते प्रत्यक्षतया साकृति मूर्तेश्चानुभूयते स लोकः । दृश्यमानमिदं सकारणं ब्रह्माण्डम् । चकारेण सत्कारणमपि संश्रूयते । परश्च लोकः प्रकृष्टो लोको दृश्यलोकादिभिर्नोऽनुमानगम्यो लोकः यो यत्र तिष्ठति तस्य स सन्निकृष्टो लोकः । तद्विज्ञः परलोकः । वयमेकं सौरं जगत् पश्यामः । सन्ति तु सहस्राणि लोकानाम् । तान् न पश्यामः । तेऽस्माकं दृष्ट्याऽदृश्यल्लोकाः । तत्स्थानं तत्स्थानां दृष्ट्या च स दृश्योलोकः । इत्थं दृश्यादृश्यत्वमेदेन लोको द्विधा । सर्वाणि च भूतानि इह-लोकपरलोकस्यानि सर्वाणि वस्तूनि भवन्तीति भूतानि । लोक शब्देन समष्टि भूतशब्देन व्षष्टिं दर्शयत्याचार्यः । यद्वा ग्रहयन्त्रलोकशब्दः । तत्स्थयस्तुवद्

भूतशब्दः । संहन्धानि ग्रथितानि भवन्ति । वाय्वात्मकेन सूत्रेणैव सर्वमिदं सुसु-
मचय इव परस्परं सम्बध्यते । लौकिकमुदाहरणं विस्पष्टार्थं ब्रवीति । हे गौतम !
प्रेत प्रकर्षेण गतं मृतं पुरुषं दृष्ट्वेति शेषः । जना आहुः—अस्य प्रेतस्य पुरुष-
स्य । अङ्गानि व्यस्रंसिपत निशेषेणाधोऽपगतान् अधः पतितानि । संसृ अवसं-
सने । मरणावसरे सर्वाङ्गानि परस्परं शिथिलबन्धनानि भवन्ति । अङ्गाद-
ङ्गाद् वायुनिःसरणात् । हे गौतम ! हि धत्तः । वायुना सूत्रेण । अङ्गानि संह-
न्धानि भवन्ति । निर्गते च वायौ सूत्रेण रहितानि कुसुमानीवाङ्गानि विकीर्णानि
भवन्ति । इत्युत्तरं समुचितं गन्धर्वप्रचनसमञ्जसं दृष्ट्वा गौतम उद्दालको ब्रवीति ।
हे याज्ञवल्क्य ! एवमेवैतत् । त्वया यदुक्तं तत्समीचीनम् । अस्य मम प्रश्नस्य
ईदृशमेवोत्तरमस्ति । प्रथमप्रश्नस्य समाधानं कृतम् । अवशिष्यते तु द्वितीय-
प्रश्नः । अतस्त्वमन्तर्यामिणं ब्रूहि इति । कस्त्वन्तर्यामीति कथय । अत्रान्तर्या-
मी विशेष्यवत्प्रयुक्तः ॥ २ ॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद
यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मा-
ऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ३ ॥

अनुवाद—जो पृथिवी में रहता हुआ भी पृथिवी से अन्तर अर्थात् बाहर
विद्यमान है जिसको पृथिवी नहीं जानती है । जिसका शरीर पृथिवी है । जो अ-
भ्यन्तर और बाहर रियत होकर पृथिवी का शासन करता है । जो आप का आत्मा
है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(य.) जो (पृथिव्याम्+तिष्ठन्) पृथिवी में रहता हुआ वर्तमान
है । हे गौतम ! वह अन्तर्यामी है । शङ्का—पृथिवी में तो सब ही पदार्थ हैं तब
फमा सबही अन्तर्यामी हैं । इस हेतु आगे अनेक विशेषणों के द्वारा कहते हैं ।
(पृथिव्या +अन्तरः) जो पृथिवी से अन्तर अर्थात् बाहर भी व्यापक है केवल पृथिवी
में ही नहीं, किन्तु पृथिवी के ऊपर भी है । पुनः वह कैसा है । (यम्+पृथिवीं+न
वेद) जिसको पृथिवी नहीं जानती है अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है
इस को पृथिवी नहीं जानती है । अचेतन पृथिवी उसको कैसे जान सकेगी । यह

एक आलङ्कारिक वर्णन है । अचेतन पृथिवी में चेतनत्व का आरोप करके “पृथिवी नहीं जानती है” ऐसा अर्थ होता है । अथवा महत्त्वस्थापनार्थ यह वर्णन है । पृथिवी की जो महिमा है उससे कहीं बढ़कर उसकी महिमा है । पुनः (यस्य) जिमका (पृथिवी+शरीरम्) पृथिवी शरीर अर्थात् शरीर समान है । क्योंकि पृथिवी के भीतर भी वह है, अतः उतने अंश में तो पृथिवी मानो उसके शरीर के समान है, वास्तविक शरीर नहीं । और (यः) जो (अन्तरः) बाहर भीतर रह कर (पृथिवीम्) पृथिवी को (यमयति) स्वव्यापार में लगाकर यथायत्न शासन करता है । और जो (अमृतः) मोक्ष देनेवाला है । यद्वा मरणरहित अर्थात् निर्विकार है और (ते+आत्मा) जो तेरा मेरा सबका आत्मा=परम माननीय परमात्मा है । हे गौतम उद्दालक ! (एषः) यही वह (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी है ॥ ३ ॥

माम्यम्—य इति । प्राथम्यात्सामीप्याच्च प्रथमं पृथिव्यां व्यापकतां दर्शयन्नाह—यः पृथिव्यामिति । हे गौतम ! यः पृथिव्यां तिष्ठन् वर्त्तते सोऽन्तर्यामी । पृथिव्यान्तु सर्वः पदार्थस्तिष्ठति किं सर्वोऽन्तर्यामी ? अनोऽन्यानि विशेषणान्नाह—यः पृथिव्याः सकाशात् । अन्तरः सुदूरस्थो बाह्यो बहिर्भूत इत्यर्थः । पृथिव्यां तिष्ठन्नपि स तस्या बहिर्भूतोऽपि वर्त्ततेऽतिमहत्त्वात् । “अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये । बिद्रात्मीयत्विनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मानि च” इत्यमरकोषः । अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १ । १ । ३६ ॥ इति पाणिनिरपि अन्तरशब्दं बहिर्योगे पठति । पुनः पृथिव्यां तिष्ठन्तमपि यं रक्षयं पृथिवी न वेद न जानाति मय्यन्यः कश्चिद् वर्त्तन इति न जानाति । अचेतना सा कथं ज्ञातुमर्हति । अचेतने चेतनत्वारोपवद् वर्णनम् । पुनः यस्यान्तर्यामिणः पृथिवी शरीरम् । शरीरमिवास्ति । ब्रह्मणोऽन्तः स्थित्या पृथिव्यां शरीरत्त्वोपचारः । न वास्तविकं शरीरं पृथिवी । पुनः अन्तरः अभ्यन्तरे गच्छे च स्थितः सन् । यः पृथिवीं यमयति नियमयति स्वव्यापारे यथावत्स्थापयति । पुनः योऽमृतः अमृतं मोक्षोऽस्यास्तीत्यमृतः । अर्श आदिभ्योऽच् । यद्वा न मृतं मरणं विद्यते यस्य सोऽमृतः निर्विकार इत्यर्थः । पुनः ते आत्मा माननीयः परमात्मा ते इत्युपलक्षणम् । तव मम सर्वेषाञ्च माननीयः परमात्मास्ति । स एव एष हे गौतम ! अन्तर्यामी यस्त्वया पृष्टः ॥ ३ ॥

आशय—पृथिव्याः अन्तरः । यही “पृथिव्याः” यह पञ्चम्यन्त पद है । अन्तर शब्द अनेकार्थक है । यही “वाह्य अर्थान् वाहर में स्थित” अर्थ है पृथिवी को पंचम्यन्त देस अन्तर शब्द का अर्थ “वाह्य” किया गया है । पृथिवी से जो बाहर है पृथिवी में भी है और जो पृथिवी के बाहर भी है, यह दोनों वाक्यों का अर्थ है । कोई २ अन्तर शब्द का अर्थ “अभ्यन्तर” करते हैं अर्थान् जो पृथिवी में स्थित है और जो पृथिवी के अभ्यन्तर में भी है परन्तु तब दोनों वाक्यों का अर्थ समान होनाता है । इस अवस्था में पृथिवी के ऊपर रहता हुआ पृथिवी के अभ्यन्तरमें भी है ऐसा अर्थ करना योग्य होगा । अथवा पृथिवी से उस परमात्मा का अन्तर=अवकाश नहीं है, इत्यादि अर्थ जानना चाहिये ॥ ३ ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नक्त्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्याऽऽपः
शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ४ ॥

अनुनाद—जो जल में रहता हुआ भी जल में अन्तर अर्थान् बाहर है । जिसको जल नहीं जानता है, जिसका शरीर जल है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो जल का शासन करता है जो आप का आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(यः+अप्सु+तिष्ठन्) जो जल में रहता हुआ भी (अक्षयः+अन्तरः) जल से अन्तर अर्थान् बाहर है अर्थान् जो जल में बाहर भी है (यम्+आपः+न+विदुः) जिसको जल नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+आपः) जिसका शरीर जल है (यः+अन्तरः+अपः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर जल का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृत-स्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—चतुर्थकण्डिकापारम्य द्वाविंशकण्डिकान्तो ग्रन्थो विस्तरार्थः । अतः संस्कृतमाप्यं न क्रियते ॥ ४ ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं
योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

अनुवाद—जो अग्नि में रहता हुआ भी अग्नि से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको अग्नि नहीं जानता। जिसका शरीर अग्नि है। जो अभ्यन्तर और बाह्य स्थित हो अग्नि का शासन करता है। जो आप का आत्मा है। जो अमृत है, यही वह अन्तर्यामी है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(य+अग्नौ+तिष्ठन्) जो अग्नि में रहता हुआ भी (अग्नेः+अन्तरः) अग्नि से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो अग्नि से बाहर भी है (यम्+अग्निः+न+वेद) जिसको अग्नि नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+अग्निः) जिसका शरीर अग्नि है (यः+अन्तरः+अग्निम्+यमयति) जो अन्तर और बाह्य स्थित होकर अग्नि का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आप का आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद
यस्यान्तरिक्षं शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मा-
ऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

अनुवाद—जो अन्तरिक्ष में रहता हुआ भी अन्तरिक्ष से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता है। जिसका शरीर अन्तरिक्ष है। जो अभ्यन्तर और बाह्य स्थित हो अन्तरिक्ष का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(यः+अन्तरिक्षे+तिष्ठन्) जो अन्तरिक्ष में रहता हुआ भी (अन्त-
रिक्षान्+अन्तरः) अन्तरिक्ष से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो अन्तरिक्ष से
बाहर भी है (यम्+अन्तरिक्षम्+न+वेद) जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता (यस्य+
शरीरम्+अन्तरिक्षम्) जिसका शरीर अन्तरिक्ष है (यः+अन्तरः+अन्तरिक्षम्+
यमयति) जो अन्तर और बाह्य स्थित होकर अन्तरिक्ष का शासन करता है
(ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृत स्वरूप है (एषः+
अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ६ ॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोऽन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य

वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो वायु में रहता हुआ भी वायु से अन्तर अर्थात् बाहर है । जिसको वायु नहीं जानता है जिसका शरीर वायु है जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो वायु का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(यः+वायो+तिष्ठन्) जो वायु में रहता हुआ भी (वायो.+ अन्तरः) वायु से अन्तर अर्थात् बाहर है अर्थात् जो वायु से बाहर भी है (यम्+ वायुः+न+वेत्) जिसको वायु नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+वायुः) जिसका शरीर वायु है (य.+अन्तरः+वायुम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर वायु का शासन करता है (से+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृत है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं योर्न वेद यस्य योः
शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

अनुवाद—जो शुलोक में रहता हुआ भी शुलोक से अन्तर अर्थात् बाहर है । जिसको शुलोक नहीं जानता है । जिसका शरीर शुलोक है और जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो शुलोक का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(यः+दिवि+तिष्ठन्) जो शुलोक में रहता हुआ भी (दिवः+अन्तरः) शुलोक से अन्तर अर्थात् बाहर है अर्थात् जो शुलोक से बाहर भी है (यम्+योः+न+वेद) जिसको शुलोक नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+योः) जिसका शरीर शुलोक है (य.+अन्तरः+तिष्ठन्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर शुलोक का शासन करता है । (से+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद
यस्याऽऽदित्यः शरीरं यः आदित्यमन्तरो यमयत्येप त आ-
त्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

अनुवाद—जो आदित्य में रहता हुआ भी आदित्य से अन्तर अर्थात् बाहर है। जिसको आदित्य नहीं जानता है। जिसका शरीर आदित्य है। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो आदित्य का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ ९ ॥

पदार्थ—(यः+आदित्ये+तिष्ठन्) जो आदित्य में रहता हुआ भी (आदि-
त्यात्+अन्तरः) आदित्य से अन्तर अर्थात् बाहर है अर्थात् जो आदित्य से बाहर भी है (यं+आदित्यं+न+वेद) जिसको आदित्य नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+
आदित्यः) जिसका शरीर आदित्य है (यः+अन्तरः+आदित्यम्+यमयति) जो
अन्तर और बाहर स्थित होकर आदित्य का शासन करता है (ते+आत्मा) जो
आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह
अन्तर्यामी है ॥ ९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य
दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येप त आत्माऽन्तर्या-
मृतः ॥ १० ॥

अनुवाद—जो दिशाओं में रहता हुआ भी दिशाओं से अन्तर अर्थात् बाहर है। जिसने दिशाएं नहीं जानती हैं। जिसका शरीर दिशाएं हैं। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो दिशाओं को शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ १० ॥

पदार्थ—(यः+दिक्षु+तिष्ठन्) जो दिशाओं में रहता हुआ भी (दिग्भ्यः+
अन्तरः) दिशाओं से अन्तर अर्थात् बाहर है अर्थात् जो दिशाओं से बाहर भी है (यम्+दिशः+न+विदुः) जिसको दिशाएं नहीं जानती (यस्य+शरीरम्+दिशः)

जिसका शरीर दिशाएँ हैं (यः+अन्तरः+दिशः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर दिशाओं का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रऽतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

अनुवाद—जो चन्द्र और ताराओं में रहता हुआ भी चन्द्र और ताराओं से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको चन्द्र और ताराएँ नहीं जानती । जिसका शरीर चन्द्र और ताराएँ हैं । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो चन्द्र और ताराओं का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(यः+चन्द्रतारके+तिष्ठन्) जो चन्द्र और ताराओं में रहता हुआ भी (चन्द्रतारकान्+अन्तरः) चन्द्र और ताराओं से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो चन्द्र ताराओं से बाह्य भी है (य+चन्द्रतारक+न+वेद) जिसको चन्द्र ताराएँ नहीं जानती (यस्य+शरीरम्+चन्द्रतारकम्) जिसका शरीर चन्द्र और ताराएँ हैं (यः+अन्तरः+चन्द्रतारक+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर चन्द्र और ताराओं का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ११ ॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १२ ॥

अनुवाद—जो आकाश में रहता हुआ भी आकाश से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको आकाश नहीं जानता है । जिसका शरीर आकाश है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित होकर आकाश का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(यः+आकाशो+विष्ठन) जो आकाश में रहता हुआ भी (आकाशात्+अन्तरः) आकाश से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो आकाश से बाहर भी है (यम्+आकाशः+न+वेद) जिसको आकाश नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+आकाशः) जिसका शरीर आकाश है (यः+अन्तरः+आकाशम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर आकाश का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एष+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १२ ॥

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १३ ॥

अनुवाद—जो तम में रहता हुआ भी तमसे अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको तम नहीं जानता है । जिसका शरीर तम है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो कर तम का शासन करता है । जो आप का आत्मा है । अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(यः+तमसि+विष्ठन्) जो तम में रहता हुआ भी (तमसः+अन्तरः) तमसे अन्तर बाह्य है अर्थात् जो तम से बाहर भी है (यम्+तम+न+वेद) जिसको तम नहीं जानता । (यस्य+शरीरम्+तमः) जिसका शरीर तम है (यः+अन्तरः+तमः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर तमका शासन करता है (ते+आत्मा) जो आप का आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एष+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

अनुवाद—जो तेज में रहता हुआ भी तेज से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको तेज नहीं जानता है, जिसका शरीर तेज है । जो अभ्यन्तर और बाहर

स्थित हो तेज का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है । अधिदैवत समाप्त हुआ । अब अधिभूत आरम्भ होता है ॥ १४ ॥

पदार्थ—(यः+तेजसि+विघ्नः) जो तेज में रहता हुआ भी (तेजसः+अन्तरः) तेज से अन्तर अर्थात् बाहर है अर्थात् जो तेज से बाहर भी है (यम्+तेजः+न+वेद) जिसको तेज नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+तेजः) जिसका शरीर तेज है (यः+अन्तरः+तेजः+यययति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर तेज का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एष+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है (इति+अधिदैवम्) यह अधिदैवत समाप्त हुआ (अथ+अधिभूतम्) अब अधिभूत कहते हैं ॥ १४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥

अनुवाद—जो सम्पूर्ण भूतों में रहता हुआ भी सब भूतों से अन्तर अर्थात् बाहर है । जिसको सब भूत नहीं जानते । इसका शरीर सब भूत हैं । जो अन्तर और बाहर स्थित हो सब भूतों का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है । इस प्रकार अधिभूत का वर्णन हुआ । अब अध्यात्म कहते हैं ॥ १५ ॥

पदार्थ—(यः+सर्वेषु+भूतेषु+विघ्नः) जो सर्व भूतों में रहता हुआ भी (सर्वेभ्यः+भूतेभ्यः+अन्तरः) जो सब भूतों से बाहर है अर्थात् जो सब भूतों से बाहर भी है (यम्+सर्वाणि+भूतानि+न+विदुः) जिसको सब भूत नहीं जानते (यस्य+शरीरम्+सर्वाणि+भूतानि) जिसका शरीर सब भूत हैं । (यः+अन्तरः+सर्वाणि+भूतानि+यययति) जो अन्तर और बाहर स्थित हो सब भूतों का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) अमृतस्वरूप है

(एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है (इति+अधिभूतम्) इस प्रकार अधिभूत का वर्णन हुआ (अथ+अध्यात्मम्) अब अध्यात्म कहते हैं ॥ १५ ॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १६ ॥

अनुवाद—जो प्राण में रहता हुआ भी प्राण से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको प्राण नहीं जानता । जिसका शरीर प्राण है जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(यः+प्राणे+तिष्ठन्) जो प्राण (अर्थात् वायुसहित प्राण में) रहता हुआ भी (प्राणान्+अन्तरः) प्राण से अन्तर अर्थात् बाह्य है (यम्+प्राणः+न+वेद) जिसको प्राण नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+प्राणः) जिसका शरीर प्राण है (यः+अन्तरः+प्राणम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर प्राणका शासन करता है (ने+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १६ ॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १७ ॥

अनुवाद—जो वाणी में रहता हुआ भी वाणी से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसका शरीर वाणी है जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित होकर वाणी का शासन करता है । जो आपका आत्मा है जो अमृत है, यही वह अन्तर्यामी है ॥ १७ ॥

पदार्थ—(यः+वाचि+तिष्ठन्) जो वाणी में रहता हुआ भी (वाचः+अन्तरः) वाणी से अन्तर अर्थात् बाह्य है । (यम्+वाक्+न+वेद) जिसको वाणी नहीं जानती (यस्य+शरीरं+वाक्) जिसका शरीर वाणी है (यः+अन्तरः+वाचम्+यमयति)

जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो बाणी का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १७ ॥

यश्चक्षुषि तिष्ठन्श्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १८ ॥

अनुवाद—जो चक्षु में रहता हुआ भी चक्षु से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको चक्षु नहीं जानता है । जिसका शरीर चक्षु है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो चक्षु का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ १८ ॥

पदार्थ—(य+चक्षुषि+तिष्ठन्) जो चक्षु में रहता हुआ भी (चक्षुष+अन्तर) चक्षु से अन्तर अर्थात् बाह्य है (य+चक्षु+त+वेद) जिसको चक्षु नहीं जानता है । (यस्य+शरीर+चक्षु) जिसका शरीर चक्षु है (य+अन्तर+चक्षु+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर चक्षु का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आप का आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १८ ॥

यः श्रोत्रे तिष्ठन्श्चोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रं शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १९ ॥

अनुवाद—जो श्रोत्र में रहता हुआ भी श्रोत्र से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको श्रोत्र नहीं जानता है । जिसका शरीर श्रोत्र है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो श्रोत्र का शासन करता है । जो आप का आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ १९ ॥

पदार्थ—(य+श्रोत्रे+तिष्ठन्) जो श्रोत्र में रहता हुआ भी (श्रोत्रान्+अन्तर)

ओत्र मे अन्तर अर्थात् बाह्य है (यम्+ओत्रं+न+वेद) जिमको ओत्र नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+ओत्रम्) जिसका शरीर ओत्र है (यः+अन्तरः+ओत्रम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर ओत्र का शासन करता है । (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १९ ॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २० ॥

अनुवाद—जो मन में रहता हुआ भी मन से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिमको मन नहीं जानता है । जिसका शरीर मन है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो मनका शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ २० ॥

पदार्थ—(यः+मनसि+तिष्ठन्) जो मन में रहता हुआ भी (मनसः+अन्तर) मनमे अन्तर अर्थात् बाह्य है । (यम्+मनः+न+वेद) जिमको मन नहीं जानता है (यस्य+शरीरम्+मनः) जिसका शरीर मन है (यः+अन्तरः+मनः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित हो मनका शासन करता है । (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ २० ॥

यस्त्वचि तिष्ठंस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २१ ॥

अनुवाद—जो त्वचा में रहता हुआ भी त्वचा से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिमको त्वचा नहीं जानती है । जिसका शरीर त्वचा है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो त्वचा का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ २१ ॥

पदार्थ—(य०+त्वचि+तिष्ठन्) जो त्वचा में रहता हुआ भी (त्वचः+अन्तरः) त्वचा से अन्तर अर्थात् बाहर है (यम्+त्वक्+न+वेद) जिसको त्वचा नहीं जानती है (यस्य+शरीरम्+त्वक्) जिसका शरीर त्वचा है (यः+अन्तरः+त्वचम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर त्वचा का शासन करता है । (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एष+अन्तर्यामी) यही यह अन्तर्यामी है ॥ २१ ॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २२ ॥

अनुवाद—जो विज्ञान में रहता हुआ भी विज्ञान से अन्तर अर्थात् बाहर है जिसको विज्ञान नहीं जानता है । जिसका शरीर विज्ञान है । जो अन्त्यन्तर और बाहर स्थित हो विज्ञान का शासन करता है । जो आप का आत्मा है । जो अमृत है, यही यह अन्तर्यामी है ॥ २२ ॥

पदार्थ—(य०+विज्ञाने+तिष्ठन्) जो विज्ञान में रहता हुआ भी (विज्ञानान्+अन्तरः) विज्ञान से अन्तर अर्थात् बाहर है (यम्+विज्ञानं+न+वेद) जिसको विज्ञान नहीं जानता (यस्य+विज्ञानम्+शरीरम्) जिस का विज्ञान शरीर है (यः+अन्तरः+विज्ञानम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर विज्ञान का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आप का आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एष+अन्तर्यामी) यही यह अन्तर्यामी है ॥ २२ ॥

यो रेतसि तिष्ठन्न्रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमृतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽनोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽनोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता

नान्योऽतोऽस्ति विशातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं
ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

अनुवाद—जो रेत में रहता हुआ भी रेत से बाहर है । जिसको रेत नहीं जानता है । जिसका शरीर रेत है । जो रेत के बाहर भीतर रहकर उसमें अपने व्यापार में रसता है । जो मोक्षप्रद है और तेरा मेरा सब का पूज्य है यही वह अन्तर्यामी है । पुनः जो अदृष्ट है परन्तु द्रष्टा है । अश्रुत है परन्तु श्रोता है । अमत है परन्तु मन्ता है । अविज्ञात है परन्तु विज्ञाता है । इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं । इससे अन्य कोई श्रोता नहीं । इससे अन्य कोई मन्ता नहीं । इससे अन्य कोई विज्ञाता नहीं । जो अमृत है और तेरा मेरा सब का पूज्य परमात्मा है । यही वह अन्तर्यामी है । इस विज्ञान से अन्य सब ही दुःखप्रद हैं । तब उद्दालक आरुणि चुन होगये ॥ २३ ॥

पदार्थ—(यः) जो (रेतसि) सम्पूर्ण समष्टि जगत् का एक नाम रेत है उसमें (तिष्ठन्) रहता हुआ जो वर्तमान है वह अन्तर्यामी है । पुनः वह कैसा है । (रेतसः) रेत से (अन्तर) बाहर स्थित है (यस्मिन्+रेतः+नन्+वेद) जिसको रेत नहीं जानता है (यस्मिन्+रेतः+शरीरम्) जिसका रेत शरीर है । और (यः+अन्तरः) जो बाहर भीतर परिपूर्ण होकर (रेतः) सम्पूर्ण विश्व को (दमयति) स्व स्व व्यापार में यथावत् स्थित रखता है । पुनः (अमृतः) जो मोक्ष देनेवाला या मरण धर्म रहित अर्थात् निर्भिकार है और जो (ते+आत्मा) तेरा-मेरा और सब का माननीय पूजनीय परमात्मा है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है पुनः दृढ करने के लिये उसी अन्तर्यामी का वर्णन करते हैं । हैं गौतम । वह पुनः कैसा है (अदृष्टः) किन्हीं ने न जिसको देखा न देखेंगे न देखते हैं अर्थात् जो चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं है, परन्तु (द्रष्टा) स्वयं जो सबको देखनेवाला है । अर्थात् उसको तो कोई नहीं देख सकता परन्तु वह सब को देखता है । आगे भी इसी प्रकार भाव जानना । पुनः (अश्रुतः) जो सुना नहीं जाता, परन्तु (श्रोता) जो सबकी बात सुनता है । (अमतः) जो मनन नहीं किया जाता, परन्तु (मन्ता) जो सबका मनन करता है । (अविज्ञातः) जो जाना नहीं जाता परन्तु (विज्ञाता)

जो सन को अच्छी तरह जानता है । फिर वह वैसा है (अतः) इस अन्तर्यामी से (अन्यः) अन्य कोई (द्रष्टा+न+अस्ति) द्रष्टा नहीं है अर्थात् वही एक द्रष्टा है (अतः) इस अन्तर्यामी से (अन्यः) अन्य (श्रोता+न+अस्ति) श्रोता नहीं है (अतः+अन्य+मता+न+आस्त) इससे अन्य मता नहीं है । (अतः+अन्या+विज्ञाता+न+अस्ति) इससे अन्य विज्ञाता नहीं है अर्थात् जिससे परे न कोई द्रष्टा न कोई श्रोता न कोई मता न कोई विज्ञाता है । जो स्वयं अदृष्ट, अश्रुत, अमृत, अविज्ञात है, वही अन्तर्यामी है । पुनः वह वैसा है । (अमृतः) अमृतवाला है । पुनः (ते+आत्मा) तेरा मेरा सब का पूज्य परमात्मा है (एषः) यही वह (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी है । हे गौतम ! (अतः) इस विज्ञान से (अन्यन्) अन्य जो विज्ञान है वह (आर्तम्) दुःखप्रद अर्थात् दोषप्रद है । मैंने जो विज्ञान पढ़ा है वही यथार्थ विज्ञान है । अन्य सब विज्ञान दुःखप्रद है । इस बात को सुन (ततः) तत्र (उद्दालकः+ह+मारुणिः) उद्दालक आरुणि (उपरराम) चुप हो बैठे ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यो रेतसीति । यो रेतसीत्यादिरमृतान्तो ग्रन्थः पूर्ववदेव व्याख्येयः । अदृष्टादिपदजातैरन्तर्यामिण अमाधारणगुणान् कीर्त्तयन्तो ब्राह्मणमिदमुपसंहरन्त्याचार्याः । कथंभूतोऽन्तर्यामी-अदृष्टो न कैश्चित्कदाचिदपि स स्थूलचक्षुर्विषयोऽकारि न जियते न च करिष्यते । स्वयं तु सर्गत्र सन्निहितत्वात् सर्वं पश्यतीति द्रष्टास्ति । पुनः-अश्रुतः अवयोर्निद्रमविषयत्वमप्राप्तः । स्वयं तु सर्वेषामुक्तावचानि वाक्यानि शृणोतीति श्रोतास्ति । ननु “य आरमदा वल्लदाः” “स नो वन्धुर्जनिता” “ईशावास्यमिदं”मित्यादि वेदवचनैः स श्रूयते कथं तर्हि “अश्रुत” इति । सत्यम् । यथा देवदत्तो वा गौर्वा सर्वगुणजातैर्यथाध्यते निधीयते परिच्छेद्यते च । न तथान्तर्यामी । गुणानामनन्तत्वात्स्वल्पात्स्वल्पान्तरमेव स श्रूयते । अतोऽश्रुतप्राय एव सोऽस्ति । पुनः अमृतो न मनसो मननविषयीभूतः । यस्य दर्शनं श्रवणञ्च भवति तमेव मनोऽपि संश्लेषयति यस्य दर्शनश्रवणे एव न कदाचिज्जाते । कथं तस्य मननम् । अतोऽमृत इति । सत्यं सर्वद्रष्टृत्वात् श्रोतृत्वाच्च सर्वं मनुत इति मन्ता । पुनः अविज्ञानः निश्चयगोचरत्वमनापन्नः । न सर्वविशेषणैर्ज्ञातुं शक्यते । स्वयं तु सर्वं

विजानातीति विज्ञाता । ज्ञानार्थं पुनस्तमेव विषयं प्रकारान्तरेण व्याचक्षते । हे गौतम ! नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा । अतोऽस्मादन्तर्यामिणोऽन्योऽपरो कोऽपि द्रष्टा न विद्यते । स एव द्रष्टृणां द्रष्टा । ननु जीवात्मापि द्रष्टा श्रूयते । सत्यम् । चक्षुषः सूर्यस्यैव जीवात्मनो द्रष्टृत्वमीश्वरस्याधीनवान्न जीवात्मा वास्तविको द्रष्टेत्यनुसन्धेयम् । पुनः नान्योऽतोऽस्ति श्रोता । नान्योऽतोऽस्ति मन्ता । नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता । हे गौतम ! यस्मादन्तर्यामिणः परो नास्ति द्रष्टा, नास्ति श्रोता, नास्ति मन्ता, नास्ति विज्ञाता, यथादृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतोमन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता । सोऽमृतो मोक्षप्रदः । ते तव मम सर्वेषामात्मा माननीयः परमात्मा । एष एवान्तर्यामी । एतमेव विजानीहि । अतोऽन्यदार्त्तम् । अतोऽस्मादिज्ञानादन्यत् सर्वम् । आर्त्तम् दुःखप्रदमेव असुखमेव । याज्ञवल्क्यस्येवं भूतं वचनं श्रुत्वा तत उद्दालक आरुणिरुपरराम तूष्णीं बभूव ॥ २३ ॥

इति सप्तमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अथाष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह वाचकनव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं
द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माक-
मिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतोति पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

अनुवाद—अनन्तर यह प्रसिद्धा वाचकनवी गार्गी पुनः बोली—हे भगवन्
ब्राह्मणो ! यदि आप लोगों की आज्ञा हो तो मैं इनसे वो प्रश्न पूछूंगी । यदि वे
मुझको उन दोनों का उत्तर देंगे तो मैं समझूंगी कि आप लोगों में से कोई भी
पुरुष कदाचित् भी इन ब्रह्मवादी को जीतनेवाला नहीं होगा । यह निश्चय है, इसमें
आप लोगों की क्या आज्ञा होती है । इस प्रकार गार्गी का वचन सुन ब्राह्मण लोग
कहते हैं, हे गार्गी ! पृष्ठो ॥ १ ॥ (क)

पदार्थ—(अथ) आरणि उद्दालक के चुप हो जाने के पश्चात् पुनः (वाच-
कनवी+ह) वह प्रसिद्धा वाचकनवी गार्गी (उवाच) बोली (ब्राह्मणा) हे ब्रह्म-
वेत्ता ब्रह्मवादी (भगवन्तः) परमपूज्य महात्माओ ! (हन्त) यदि आप लोगों
की आज्ञा हो तो (अहम्) मैं (इमम्) इन याज्ञवल्क्य से (द्वौ+प्रश्नौ) दो
प्रश्न (प्रक्ष्यामि) पूछूंगी और हे ब्राह्मणो ! ये याज्ञवल्क्य (चेत्) यदि (तौ),
उन दोनों प्रश्नों का उत्तर (मे) मुझसे (वक्ष्यति) कह देंगे तो मैं निश्चय करूंगी
कि (युष्माकम्) आप लोगों में से (कः+चित्) कोई भी पुरुष (जातु) कदा-
चित् भी (इमम्) इन (ब्रह्मोद्यम्) ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य को (न+वै+जेता+
इति) नहीं जीतेंगे । यह मेरा निश्चय है आप लोगों की क्या सम्मति है, गार्गी के
इस वचन को सुन और प्रसन्न हो सब ब्राह्मण कहते हैं कि (गार्गी) हे गार्गी !
(पृच्छ+इति) पृष्ठो अर्थात् हे गार्गी ! अपनी इच्छा के अनुसार याज्ञवल्क्य से प्रश्न
करो हम लोग आज्ञा देते हैं ॥ १ ॥

भाष्यम्—अपेति । उद्दालक आरण्यानुपरते सती पूर्वं याज्ञवल्क्यकोपनी-

त्या त्यक्तप्रश्नारम्भा अपूर्णमानसविकाशा अतस्मा सती सा गार्गी पुनरपि प्रश्नं करिष्यमाणा “अनवसरे पृच्छंत्यै मद्यं ब्रह्मवादिनो कुप्येयु”रिति तेषामाज्ञां प्रथमं याचते । अथ इ सुप्रसिद्धा वाचकनवी गार्गी पुनरप्युवाच—हे ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनो भगवन्तो मम पूजनीयाः । ममभिप्रायं भगवन्तः शृण्वन्तु । अहम् इमम् याज्ञवल्क्यम् । द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि । इन्त यदि भगवतामनुमतिर्भवेत् । अनुमतिं विना नाहं प्रक्ष्यामीति भावः । एवम् तौ द्वौ प्रश्नौ मे मद्यं मां प्रति । स याज्ञवल्क्यो वक्ष्यति चेत् । तर्हि इदं ज्ञातव्यम् । युष्माकं मध्ये कश्चिदपि विद्वान् । जातुकदाचिदपि । इमं ब्रह्मार्थं ब्रह्मवादिनं याज्ञवल्क्यम् । न वै जेत्येति न जेष्यतीति निश्चयः । अत्र युष्माकं काऽनुमतिर्भवति । इति सविनय गार्गी प्रार्थिताः सर्वे ब्राह्मणाः “ पृच्छ गार्गी । ” इति स्थानुमतिमाहुः । शङ्कते । अस्यैवाध्यायस्य षष्ठे ब्राह्मणे अस्या गार्गी एव प्रश्ना विद्यन्ते । तत्र सा तूष्णीं बभूव । पुनरपि सा कथं पिपृच्छिषति । समाधत्ते । याज्ञवल्क्यकोपभीत्या प्रकृतिसरलतया त्यक्तप्रश्नारम्भापि अपूर्णमानसविकाशा अतस्मै निपसाद । सम्प्रति मागसोल्लासं रोचुं न शक्नाक । परमवसरे व्यतीते कथं सा पृच्छेत् । सर्वेषामेको वारोऽपि प्रश्नाय दुर्लभोऽस्ति । प्रश्नामिधाने सातिशया कुतूहलिनी । अत एव सा स्वभावपरवशा भूत्वा ब्राह्मणानुमतिं प्रार्थयते “अनवसरे द्विवारप्रश्नकरणोचितव्यापारमवलोक्य ब्रह्मवादिनो मद्यं मा कुप्येयु”रिति ।

शङ्कते—सर्वेषां ब्रह्मवादिनां समचे “तौ चेन्मे वक्ष्यतीति न वै जातु युष्माकमिमं ब्रह्मार्थं जेत्येति कथं साभिमानं प्रतिजानीते । कथञ्च तेऽनुमोदिव्यन्ते । समाधत्ते—स्वीजातिः प्रकृत्यैव पटीयसी । चेष्टया वायुमानेन वा परस्परवार्त्तालापेन सर्वेषां शास्त्रविज्ञानबलं तस्याः सुविदितमिवाभूत् । अन्यच्च सर्वकालेषु विख्यातो विद्वान् अहल्यग्रेप्रायस्तिष्ठति । याज्ञवल्क्यस्य विद्वत्तापि न तस्याः परिज्ञाता नासीत् । निजविद्यावलन्तु जानात्येवातः साभिमानं समायां तादृशं वचनं ब्रुवाणा सा न ललज्जे । न च संशुकोच ॥ १ ॥

भाष्याशय—इसी अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में गार्गी का ही प्रश्न है । वहा चुप होगई थी । तब फिर क्योंकर प्रश्न करने के लिये उद्यत होती हैं । उत्तर—वहां याज्ञवल्क्य के कोप के भय से यद्यपि गार्गी ने प्रश्न करना छोड़ दिया था । परन्तु

इसके मानम के विश्वास की पूर्णता नहीं हुई। अतः बिना तूत हुए ही चुप हो बैठ गई थी। इस समय अपने मानम के उल्लाम को रोक नहीं सनी, परन्तु अवसर व्यतीत होगया। पुनः कैसे पृथ्य मन्ती है क्योंकि एक एक बार ही पृथ्ने का सब को समय मिलना कठिन है। वो बार कैसे कोई पृथ्य सकता। परन्तु प्रश्न करणार्थ ये अतिशय पुतृहलिनी हो रही हैं। अतः स्वभावविश हों के ब्राह्मणों की आज्ञा की प्रार्थना करती हैं क्योंकि ऐसा न हो कि भेरे द्विवार प्रश्नकरणरूप अनुचित परामर्श को देस ब्राह्मण कुपित हो मुझे रोक देंगे। पुनः शङ्का होती है कि सब ब्रह्मवादिनों के समक्ष में “उन दोनों प्रश्नों का उत्तर यदि मुझको वे देंगे तो मैं निश्चय कर्त्तगी कि आप लोगों में से कोई भी इन ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य को न जीतेंगे” इस अभिमान के साथ ये गार्गी क्यों प्रतिज्ञा करती हैं और कैसे सब ब्रह्मवादी इस का अनुमोदन करेंगे। समाधान—स्वभाव मे ही खीजाति सब विषय में अतिशय पटु होती है इस हेतु चेष्टा से या अनुमान मे या परस्पर आलाप मे सब का विज्ञानरत्न उनको विदित होगया होगा। अन्य भी सब कालों में विख्यात विद्वान लोगों की अङ्गुली के अग्रभाग में प्रायः करते हैं। याज्ञवल्क्य की भी विद्वत्ता इससे अविज्ञात नहीं थी निज विद्यावत्त को तो वे जान ही रही हैं। अतः राजसभा में भी यैना यवन बोलती हुई ये लाजित वा मरुचित नहीं हुई ॥ १ ॥

सा होवाचाहं वे त्वा याज्ञवल्क्य तथा काश्यो वा वेदे-
हो वोमपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ वाणवन्तो सपत्ना-
तिव्याधिनी हस्ते कृत्वोपोतिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्ना-
भ्यामुपोटस्यां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध वाचकनवी गार्गी बोलीं—हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय, आप से मैं दो प्रश्न पूछूंगी। जैसे शूचीरवशी काशिराज यद्य विदेहराज प्यारदित धनु की पुनः अधिन्य करके शत्रुओं के अतिशय बाँधने वाले और तीक्ष्णप्रवाले दो तीरों को हाथ में लेकर उपस्थित हों। जैसे ही मैं दो प्रश्नों से आप के निरुद्ध उपस्थित हुई हूँ। उन दोनों का उत्तर मुझ से आप कहें। (याज्ञवल्क्य कहते हैं)
हे गार्गी ! पृथ्ने ॥ २ ॥

पदार्थ—(सा+ह+उवाच) वह वाचस्नवी ब्राह्मणों की आज्ञा ७ पुनः होती ।
 (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (अहम्+वे+त्वा) मैं निश्चय आप से दो प्रश्न
 पूछूंगी । वे दोनों बौन प्रश्न हैं इस जिज्ञासा से दृष्टान्त के साथ अपने प्रश्नों को
 कहती हैं और इस दृष्टान्त से अपने प्रश्नों की दुरुत्तरता भी सूचित करती हैं । हे
 याज्ञवल्क्य ! (यथा) जैसे (उग्रपुत्रः) उग्र=शूरवीर योद्धा भयङ्कर उनके पुत्र
 वीरवरीय (काश्यः) काशीदेशाधिपति (वा) अथवा (वैदेहः) विदेहदेशेश्वर
 (उज्जयम्) धनुष् के गुणना नाम ज्या है । जिमका ज्या=गुण=रम्सी उतार लिया
 गया है उसे उज्जय कहते हैं अर्थान् व्यासहित (धनुः) धनु को (अधिज्यम्)
 जिसपर ज्या (रम्मी) चढ़ाई गई हो उसे अधिज्य कहते हैं अर्थान् ज्या सहित
 (कृत्वा) करके (वाणवन्तौ) शर के अप्रमाण में जो तीक्ष्ण लोह लगाया
 जाता है उसे भी वाण ही कहते हैं । इस हेतु (वाणवन्तौ) विशेषण कहते हैं ।
 अर्थान् तीक्ष्णाम और (सपत्नाति+व्याधिनां) सपत्न=शत्रु । उनसे अतिशय घाँघने
 वाले (द्वौ) दो तीरों को (हस्ते+कृत्वा) हाथ में करके (उपोत्तिष्ठेन्) शत्रुओं के
 हनन के लिये उपस्थित होवे । हे याज्ञवल्क्य ! (एवम्+एव) वैसे ही (अहम्)
 मैं (त्वा) आपके निम्न (द्वाभ्याम्+प्रश्नाभ्याम्) दो प्रश्नों से (उपोदस्याम्)
 उपस्थित हुई हूँ । (तौ) उन दोनों प्रश्नों का उत्तर (मे) मुझ से (ब्रूहि)
 कहिये (इति) इस प्रकार गार्गी के वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि
 (गार्गी) हे गार्गी ! (पृच्छ) पूछिये (इति) ॥ २ ॥

भाष्यम्—सेति । ब्राह्मणैरनुज्ञापिता सती सा वाचस्नव्युवाच—हे याज्ञवल्क्य ! अहं वै त्वा त्वां प्रति द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामीति सम्बध्यते । कौ ताविति जिज्ञासायां निजप्रश्नयोर्दुरुत्तरत्वं द्योतयन्ती दृष्टान्तपूर्वकं तौ ब्रवीति । हे याज्ञवल्क्य ! यथा उग्रपुत्रः उग्रयासौ पुत्र उग्राणां भयङ्करस्वभावानां क्षत्रियाणाम्वा पुत्र इत्युग्रपुत्रः । उभयत्रेदं विशेषणं सम्बध्यते । काश्यः काशीपु देशेषु भवः काशीनामीश्वरः । काश्यनृपेषु पुरा प्रसिद्धं शौर्यमासीत् । वाज्यवा वैदेहो विदेहानां जनपदानां राजा । उज्जयमवतारितज्याकम् । धनुः । पुनरपि । अधिज्यमधि अधिरोपिता ज्या गुणो यत्र तदधिज्यमारोपितज्याकम् । कृत्वा । सपत्नातिव्याधिनां सपत्नान् शत्रून् अतिशयेन विध्यतो यौ तौ सपत्नानिव्या-

धिर्ना । वाणवन्तां तच्छिण्णाग्रलोहखण्डो वाणकाभिधेयः । स यः शराग्रे सन्धी-
यते सोऽपि वाण एवोच्यते । तन्म्या वाणाम्या संयुक्तौ । द्वौ वाणौ हस्ते कटे
धृत्वाऽऽदाय । शत्रुपथापोतिष्ठेत् उपस्थितो भवेत् । एवमेव । यथायं दृष्टान्त-
स्तथैव । अहम् । शरस्थानीयाम्या द्वाभ्या प्रश्नाभ्यां लक्ष्यस्थानीयत्वात् ।
उपोदस्याम् उपोत्थितास्मि । हे याज्ञवल्क्य ! तौ द्वौ प्रश्नौ । त्वम् । मे मह्यम्
ब्रूहि इति । तथा पृष्ठो याज्ञवल्क्यो ब्रवीति । हे गार्गी ! यथेच्छं पृच्छेति ॥ २ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवापृथिव्या
यदन्तरो द्यावापृथिवी इमे यद्भूतञ्च भवच्च भविष्यच्चेत्या-
चक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ३ ॥

अनुवाद—वे नाचम्नरी गार्गी बोलीं हे—याज्ञवल्क्य ! जो दुलोक से ऊर्ध्व
है । जो पृथिवी से नीचे है । जो इस दुलोक और पृथिवी के मध्य में है और
जिसको भूत, वर्तमान और भविष्यत् कहते हैं, सब वह जिस से ओत और
प्रोत है ॥ ३ ॥

पदार्थ—अब प्रथम प्रश्न गार्गी पूछनी हैं—(सा+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य की
आज्ञा पाकर वे गार्गी बोलीं (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (दिव+यद्+ऊर्ध्वम्)
दुलोक से ऊपर जो वस्तु है (पृथिव्याः+यद्+अवाक्) पृथिवी के नीचे जो है
और (इमे+द्यावा+पृथिवी) इस दुलोक और पृथिवी लोकके (यद्+अन्तरा) मध्य
में जो है और (यत्+भूतम्+च+भवत्+च+भविष्यत्+च) जिसको भूत, वर्तमान
और भविष्यत् (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्+कस्मिन्+ओतम्+च+
प्रोतम्+च) वह सत्र जिसमें ओत प्रोत अर्थात् प्राथित है ? किमके आश्रित है ?
यह मेरा प्रथम प्रश्न है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सेति । यावन्ते देशं सचन्द्रः सनक्षत्रश्च सूर्य्य आच्छादयति
सा द्यौश्च्यते । यावन्तश्च पृथिवी म पृथिवीलोकः । यो यत्र तिष्ठति । तस्य
सा पृथिवी । परितः स्थिता लोका द्यौरिति विवेकः । अनन्ताः पृथिव्यः ।
अनन्ताः सूर्य्यः । अनन्तारचन्द्राः । अनन्ता ग्रहराशयः । अनन्ता अन्ये पदा-

र्था विन्यन्ते । यान् वयं कथमपि न द्रष्टुं शक्नुमः । सर्वे निराधारा दृश्यन्ते । कथञ्च परस्परं संघट्ट्य विनश्यन्ति । अथवा कथञ्च कुत्रापि व्रजेयुः । कथञ्चैयं पृथिवी अधोवोर्ध्वम्वा आपतेत् । कथञ्च सूर्यः पृथिव्यां पतति । परन्तु सर्वपदार्थाः स्व स्व स्थानं परित्यज्य न कुत्रापि परिचलन्ति । नाणुमात्रमपि स्थव्रनियतस्थितिं विजहति । एवं महदाश्चर्यमवलोक्य विमोहिता गार्गी याज्ञवल्क्येनानुज्ञप्ता सती वक्ष्यमाणं प्रश्नं होवाच । हे याज्ञवल्क्य ' दिवो यदूर्ध्वम् शुलोकस्य सकाशात् ऊर्ध्वं यत्किमपि वर्त्तते । पृथिव्याः अधो गधोऽधो यद् वर्त्तते । इमे द्यावापृथिवी अन्तरा मध्ये चन्द्रमेधादि यद् वर्त्तते । पुनः विद्वांसो यद् वर्त्तते । भवच्च वर्त्तमानं स्वव्यापारस्थं । भविष्यच्च वर्त्तमानादूर्ध्वकालः । इत्याचक्षते कथयन्ति तत्सर्वं कस्मिन् वस्तुनि ओतञ्च प्रोतञ्च ग्रथितं स्पृतम् । यथा मालाः सूत्रे ओताः प्रोता गृहाः स्तम्भेषु मरस्या जलाधारे तरन्ति । वाय्वाऽऽधारे विहगा उड्डीयन्ते । तथा सर्वं कस्मिन्नोतं प्रोतमस्तीति प्रश्नस्याशयः ॥ ३ ॥

भाष्याशय—जितने देश को चन्द्र नक्षत्रादि सहित सूर्य आच्छादित करना है वह “घाँ” कहलाती है और जिसको पृथिवी आच्छादित करती है उसे पृथिवी लोक कहते हैं । यहाँ इतना अवश्य जानना चाहिये कि जो जहाँ है उसके लिये वह पृथिवीलोक और उसके परितःस्थित लोक उसके लिये शुलोक है । अनन्त पृथिवी हैं । अनन्त सूर्य हैं । अनन्त चन्द्र हैं । अनन्त नक्षत्रराशि हैं । अनन्त अन्य लोक लोकान्तर हैं । जिनको हम लोग देख नहीं सकते । सब ही निराधार हैं तो परस्पर टकराकर क्यों नहीं विनष्ट होजाते । अथवा क्यों नहीं कहीं इधर उधर चले जाते क्यों नहीं यह पृथिवी नीचे वा ऊपर को कहीं चली जाती । क्यों नहीं सूर्य वा चन्द्र वा ग्रह पृथिवी के ऊपर गिर पड़ते । इसी प्रकार पृथिवी ही सूर्यादिक के ऊपर क्यों नहीं गिर पड़ती, परन्तु ये सब पदार्थ स्व स्व स्थान को परित्याग कर न कहीं जाते हैं । अणुमात्र भी स्व स्व निर्दिष्टस्थान को नहीं त्यागते । इन सबों को कौनसी शक्ति ने बांध रक्खा है । मैं नहीं जानती यह प्रश्न याज्ञवल्क्यसे पूछ देते, वे क्या उत्तर देते हैं । इस प्रकार विचार कर और महान् आश्चर्य है, विमोहित हो याज्ञवल्क्य की आज्ञा या गार्गी प्रश्न पूछने के लिये उद्यत होती हैं ।

प्रश्न का भाव यह है—ये सप्त विस आधार पर ठहरे हुए हैं । जैसे सन्ध के ऊपर गृह, सूत्र के आधार पर माला, जल के आधार पर मत्स्य चरते हैं, जैसे वायु के आधार पर पक्षी उड़ते हैं तद्वत् ये सप्त विस आधार पर हैं ॥ ३ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा
द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत
आकाशे तदोतं प्रोतं चेति ॥ ४ ॥

अनुवाद—वे याज्ञवल्क्य बोले हे गार्गि ! जो शुलोक के ऊपर है । जो पृथिवी के नीचे है । जो इन शुलोक और पृथिवीलोक दोनों के मध्य में है । और जिसको भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं । यह सप्त आकाश में ओत और प्रोत है ॥४॥

पदार्थ—(स+ह+उवाच) गार्गी का प्रश्न सुन वे याज्ञवल्क्य बोले (गार्गि) हे गार्गि ! (यद्+इदं+उर्ध्वम्) जो शुलोक के ऊपर है (यत्+पृथिव्या+अवाक्) जो पृथिवी के नीचे है (यद्+इमे+द्यावापृथिवी+अन्तरा) इन शुलोक पृथिवीलोक दोनों के मध्य में है (यत्+भूतम्+च+भवम्+च+भविष्यम्+च) जिसको विद्वान् लोग भूत वर्तमान और भविष्यन् (आचक्षते) कहते हैं (तत्+आकाशे+ओतम्+च+प्रोतम्+च) यह सब आकाश में ओत और प्रोत है अर्थात् आकाश में आश्रित हैं आकाशीयशक्ति के ऊपर सप्त स्थिर हैं । हे गार्गि ! यह आप के प्रथम प्रश्न का उत्तर है ॥ ४-॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो स एतं व्यवो-
चोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥ ५ ॥

अनुवाद—वे गार्गी बोली याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार हो । जिन्होंने मेरे इस प्रश्न की व्याख्या की है परन्तु आप अब दूसरे प्रश्न के लिये अपने को धारण करें (अर्थात् दूसरे प्रश्न के उत्तर देने के लिये अब सत्तवान् हों) याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गार्गि ! पृछिये ॥ ५ ॥

पदार्थ—याज्ञवल्क्य के समीचीन उत्तर श्रवणकर अतिप्रसन्न हो (स+ह+उवाच)

वे गार्गी दिनयपूर्वक बोलीं (याज्ञवल्क्य+नमः+ते+अस्तु) आप को मेरा नमस्कार होने (यः+मे+एतम्+व्यवोचः) जिन्होंने मेरे इस प्रश्न का विशेषरूप से व्याख्यान किया है । अब (अपरस्मै+धारयस्व) दूसरे प्रश्न के लिये अपने को दृढ़ता पूर्वक धारण कीजिये । गार्गी के इस वचन को सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं (पृच्छ+गार्गी+इति) हे गार्गी ! दूसरा प्रश्न भी पूछ लीजिये, इति ॥ ५ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्या-
चक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ६ ॥ *

अनुवाद—वे वाचकनी गार्गी बोलीं—हे याज्ञवल्क्य ! जो ध्रुलोक से ऊर्ध्व है । जो पृथिवी से नीचे है । जो इस ध्रुलोक और पृथिवी के मध्य में है और जिस को भूत, वर्तमान और भविष्यन् कहते हैं । यह सब किस में ओत और प्रोत है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(सा+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य की आज्ञा पाकर वे गार्गी बोलीं (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (दिवः+यद्+ऊर्ध्वम्) ध्रुलोक से ऊपर जो वस्तु (पृथिव्याः+यद्+अधोऽन्) पृथिवी के नीचे जो है और (इमे+द्यावापृथिवी) इस ध्रुलोक और पृथिवीलोक के (यद्+अन्तरा) जो मध्य में है और (यत्+भूतम्+च+भवन्+च+भविष्यत्+च) जिसको भूत, वर्तमान और भविष्यत् (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्+कस्मिन्+ओतम्+च+प्रोतम्+च) यह सब किसमें ओत और प्रोत=स्यूत अर्थात् सीया हुआ अर्थान् प्रयित है किसके आश्रित है, यह मेरा प्रथम प्रश्न है ॥ ६ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गी दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्या-
चक्षते आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ७ ॥ †

* यह कण्डिका तृतीय कण्डिका के समान है ॥

† यह कण्डिका चतुर्थ कण्डिका के समान है ॥

पदार्थ—(स+ह+उवाच) वे याज्ञवल्क्य बोले (गार्गी) हे गार्गी ! (ब्राह्मणा+वै+तत्+एतत्+अक्षरम्+अभिवदन्ति) ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मवादी लोग निश्चय करके उसको अर्थान् जिसके आश्रित आकाश भी है उसको अविनाशी अक्षर कहते हैं । आगे इसी अक्षर के अनेक विशेषण कहते हैं, यथा—वह अक्षर वैसा है । (अस्थूलम्) स्थूल=मोटा नहीं है । और (अनगु) अणु=पतला भी नहीं है (अह्रस्वम्) छोटा नहीं है और (अदीर्घम्) लम्बा भी नहीं है (अलोहितम्) अग्नि के समान लाल नहीं है । (अस्नेहम्) सांसारिक जीववत् स्नेहवाला भी नहीं है । (अच्छाद्यम्) आवरणरहित है (अतमः) अन्धकार रहित है (अवायु) वाह्यवायु से यह आवृत नहीं है । (अनाकाशम्) आकाशरहित है (असङ्गम्) ससारी जीववत् वह किसी से सङ्ग करनेवाला नहीं है । (अरमम्) रमरहित है (अगन्धम्) गन्धरहित है (अचक्षुष्कम्) नेत्ररहित है (अश्रोत्रम्) श्रोत्रेन्द्रिय से विरहित है । (अवाग्) अवाणी है (अमनः) मनोरहित है (अतेजस्क) तेजोरहित है (अप्राणम्) प्राणरहित है (अमुखम्) अमुख है (अमात्रम्) मात्रा=परिमाण रहित है (अनन्तरम्) उस में कुछ अन्तर नहीं है । (अबाह्यम्) बाहर भी नहीं है (तद्) यह अक्षर (न+किञ्चन+अश्नाति) किसी वस्तु का भोग नहीं करता है और (क+चन) कोई पदार्थ (तद्+न+अश्नाति) उमरो नहीं खाता है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—स इति । गार्गीप्रश्नं श्रुत्वा स ह याज्ञवल्क्य उवाच । हे गार्गी ! यत्र यथा पृष्ठम् । “कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति” इत्यस्य समाधानं शृणु । ब्राह्मणाः ब्रह्मवादिनो जनाः । तदेतद् अक्षरम् अभिवदन्ति । यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति तद् वस्तु अक्षराभिधाने वर्णयन्ति । अग्रेऽक्षरं विशिनष्टि । अस्थूलम्=न स्थूलम् स्थूलाद्भिन्नम् । यथाऽऽन्नफलाद् विल्वफलं तस्मादपि कृष्णण्डं यथा वा वृक्षात् पर्वतः तस्मात्पृथिवी तस्या अपि नक्षत्रं स्थूलमस्ति । अपेक्षाकृता स्थूलतारस्येव सर्वत्र । परमाणुरपि किञ्चित्स्थूलोऽस्त्येव । तदक्षरन्तु न तादृशम् । यदि तत्स्थूलमस्ति । तर्हि अणु भवेत्, इत्यत आह—

अनगु—अणुभिन्नम् । यथा कृष्णण्डाद्विल्वफलमणु । विल्वफलादा-
अफलमणु । तस्मादपि वटफलम् । तस्मादपि वटपत्रीजमणु वर्चते इत्यमणुतापि

सापेक्षा दृश्यते । तादृशेनेदमक्षरम् । स्थूलाद्वा सूक्ष्माद्वा सर्वस्माद्वस्तुनोभिन्नमित्यर्थः । अक्षरम्=अदीर्घम् । तृणवधे द्रव्या स्तालपत्रे दीर्घाः पदार्थाः सन्ति । तद्विलक्षणमिदमक्षरमस्ति । एतदक्षरतुर्मिर्विशेषणैः परिणामप्रतिषेधैर्द्रव्यधर्मप्रतिषिद्धः न तद्रव्यमक्षरमित्यर्थः । अलोहितम्=लोहितमीषद्रूपम् । तद्विन्नम् लोहितम् । अग्निरालोहितद्रव्यात्सर्वस्माद्विन्नम् । लोहितोऽग्नेर्गुणः । अस्नेहम्=जलतलादिनद्रव्यात्सर्वस्माद्विन्नम् । अपां स्नेहोऽगुणः । अच्चायम्=आयाधे पृथिव्यादिपदार्थाः सन्ति । तत्सकलेभ्यो विलक्षणम् । अतमः=तमालवृक्षनटश्यामाः अन्यकारणान्नेत्रावरोधकाश्च ये पदार्थाः सन्ति । तेभ्यो विलक्षणम् अत्रायुः=यस्मादिदं गतिरहितमस्ति । तस्मात्प्रतिगतो वायोर्विलक्षणम् । अनाकाशम्=यस्मादिदमच्छिद्रमस्ति तस्मात् सच्छिद्रादाकाशाद्विलक्षणम् । असङ्गम्=यत् इदममूर्तं संगरहितम् । तस्मात् मूर्तसङ्गवतस्तेजसादपि विभिन्नम् । असम्=यतो मधुरादिरसरहितमिदमनोमधुरगुणवतो जलादेर्विलक्षणम् । अगन्धम्=यतः सुगन्धादिविचर्जितमिदमनो गन्धरत्याः पृथिव्या अपि विलक्षणम् । अचक्षुष्कम्=न विद्यते चक्षुःकरणं यस्य तदचक्षुष्कम् । पश्यत्यचक्षुरिति श्रुतः । अश्रोत्रम्=श्रोत्रेन्द्रियरहितम् “शृणोत्यकर्णः” इति श्रुतः । अत्राग्=अवचनम् । अमनः=मन इन्द्रियविचर्जितम् । अतेजस्कम्=अग्न्यादिप्रकाशरतो भिन्नम् । अप्राणम्=आध्यात्मिक वायुरिहप्राणस्तद्वहितम् । अमृत्त्वम्=अद्वारम् । अमाश्रम्=मीयते येन तन्मात्रं मानं मेयान्तरूपम् मात्रारूपम् तन्न भवति न तेन किञ्चिन्मीयते । अनन्तरम्=अन्तरं=छिद्रं तद्वहितम् । अबाहम्=न विद्यते बाह्यं यस्येति । अपरिच्छिन्नमिति यावत् । न तदश्नाति तत् किमपि न भक्षयति । भवतु तावत् कस्यचिद् भक्ष्यं । कश्चन न तदश्नाति कश्चन कोऽपि पदार्थः तदक्षरं नाश्नाति न भक्षयति । अचक्षुष्कादीनामयं भावोऽस्ति । हे गार्गी ! अस्याक्षरस्यात्मनो न पञ्चजानेन्द्रियस्वरूपं न च कर्मैन्द्रियस्वरूपम् । न च मनोऽनुचित्तार्थकारणरूपम् न च अक्षररूपम् । न चेत्येतरिहपञ्चजानेन्द्रियप्राणोऽपानः समानोऽपान उदानः पञ्चप्राणाः । मोक्षस्यायि लोकद्वयावगाहि सूक्ष्मशरीरं न च कारणं शरीरं विद्यते । अयमात्मा केवलोऽन्तरो मनेर्चाहि बाह्यान् पदार्थान् कः प्रकाशयेत् । यदि बाह्य एव स्यात् तर्हि अन्तरान् पदार्थान् कः प्रकाशयेत् । आत्मनो गिन्नाः सर्वे जडस्वरूपाः । तेषु न संभाविनी प्रकाशकता ।

अतोऽयमात्मा स्वप्रकाशरूपेणान्तरावाहापदार्थान् प्रकाशयन् तद्विलक्ष्यो वर्त्तत
इत्यर्थः ॥ = ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ
विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावा-
पृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी
निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्रायर्द्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा
इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी प्रा-
च्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रीतीच्योऽन्या
यां याञ्च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी ददतो
मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः ॥९॥

अनुवाद—हे गार्गी ' इसी अक्षर की आज्ञा से सूर्य और चन्द्र नियमित
होकर स्थित हैं । हे गार्गी ' इसी अक्षर की आज्ञा से धुलोक और पृथिवी निय-
मित होकर स्थित हैं । हे गार्गी ' इसी अक्षर की आज्ञा से निमेष, मुहूर्त्त, अहोरात्र,
अर्द्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर ये सब नियमित होकर स्थित हैं । हे गार्गी ' इसी
अक्षर की आज्ञा से कुछ नदियां श्वेत पर्वतों से निकलकर पूर्व दिशा की ओर बहती
हैं और कुछ नदियां पश्चिम की ओर बहती हैं और जो २ नदियां जिम २ दिशा
को बहती हों वे इसी अक्षर की आज्ञा से जाती हैं । हे गार्गी ! इसी अक्षर की
आज्ञा से मनुष्य दानी की प्रशंसा करते हैं देवता यजमान के अनुगामी होते हैं
और पितर होमदर्वी के अनुगामी होते हैं ॥ ९ ॥

पदार्थ—(गार्गी+एतस्य+वै+अक्षरस्य+प्रशासने) हे गार्गी ' इसी अक्षर की
प्रशासन अर्थात् आज्ञा से (सूर्याचन्द्रमसौ+विधृतौ+तिष्ठतः) सूर्य और चन्द्र विधृत
अर्थात् नियमित होकर स्थित हैं (गार्गी+एतस्य+वै+अक्षरस्य+प्रशासने) हे गार्गी !
इसी अक्षर की आज्ञा से (द्यावापृथिव्यौ+विधृते+तिष्ठतः) द्यौ और पृथिवी नियमित
होकर स्थित हैं (गार्गी+एतस्य+वै+अक्षरस्य+प्रशासने) हे गार्गी ' इसी अक्षर

की आज्ञा से (निमेषा + मुहूर्ताः + अहोरात्राणि + अर्धमासाः + मासाः + ऋतवः + सव-
त्सर + इति + विवृताः + तिष्ठन्ति) निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु,
सवत्सर इत्यादि नियमित होकर रहते हैं । (गार्गि + एतस्य + चै + अक्षरम्य + प्रशामने)
हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा में (अन्य + नद्यः + श्वेत्येभ्यः + पर्यतेभ्य + प्राच्यः +
स्यन्दन्ते) कुछ नदिया रेत परतों में निस्ककर पूर्व दिशा की ओर बहती हैं
(अन्याः + प्रतीच्यः) और कुछ नदिया पश्चिम की ओर बहती हैं (याम + न्याम् +
च + दिशम् + अतु) जो जो नदिया जिस २ दिशा को बहती हैं वे २ उसी अक्षर
की आज्ञा से बहती हैं । (गार्गि + एतस्य + चै + अक्षरम्य + प्रशामने) हे गार्गि ! इसी
अक्षर की आज्ञा से (मनुष्याः) मनुष्यगण (दन्तः) दान देनेहारों की (प्रशंसन्ति)
प्रशंसा करते हैं । (देवाः + यजमानम् + अन्यायत्ता) उसी अक्षर की आज्ञा से अग्नि,
वायु आदि देवतायें यजमान की अनुगामिनी होती हैं (पितरः + र्वीम्) पितृगण
भी इसी अक्षर की आज्ञा से होमन्हीं के अनुगामी होते हैं । र्वी = ऋद्धल = ऋद्धी
अर्थात् नल शाक बगैरह चलाने का पात्रविशेष ॥ ६ ॥

भाष्यम्—एतस्येति । गार्ग्येतस्योक्तरूपस्याक्षरस्य प्रशंसन आज्ञायां सूर्या-
चन्द्रमसौ त्रिवृतौ नियमितौ तिष्ठन्तौ वर्तन्ते भृत्यादिभ्यः । तथा यदक्षरप्रशंसने
धारापृथिव्या त्रिवृते तिष्ठते हस्तन्यस्तपापपादिरुचदस्ति । तथा निमेषादयः
कालानपराः सर्वजनिमतः कल्पितारो गणयन्त्यस्य प्रशामने त्रिवृतस्तिष्ठन्ति
तदस्ति । तथा प्राच्यः प्रागनुचनः पूर्वदिग्गमना अन्या गङ्गाद्या नद्यः श्वेत्येभ्यो
हिमनदादिभ्यः पर्यतेभ्यः स्यन्दन्ते स्त्रन्ति । तथा प्रतीच्यः प्रतीचीदिग्गमनाः
मिन्ध्याद्या तत्रोऽन्यात्र या या नद्यो यां यां दिशमनुप्रवृत्तास्ता यदक्षराम-
नादद्यापि तथैव प्रवर्तन्ते तदस्ति । तथा ददतो दुःस्वार्जितान्गोहिरण्यादीन्प्रय-
च्छतः पुरुषान्मनुष्याः हिरण्यदा अभृतन् भजन्त इति प्रमाणज्ञाः प्रशंसन्ति
स्तुतिं कुर्वन्ते । तत्र चैनस्य प्रशंसनस्य फलमन्यपूर्वस्त्वेन तत्कर्त्तव्यं मिदम् ।
न च स्वातन्त्र्येण देवादिकर्त्तृक एव फलसम्बन्ध इति वाच्य तेषामपीश्वराधी-
नत्वादित्याह—यजमानमिति । देवा इन्द्रादयोऽन्यथा जीवितुं समर्था अपि
जीवनं निमिषीकृत्य पुरोहाद्याद्युपजीवनमयोजने नानीज्यरमपि यजमानमन्वा-
यत्ता अनुगताः । तथा पितरोऽन्यमादयो दर्वी दर्वीहोममन्वायत्ता इति सम्बन्धः ।
तथा च देवादीनामेनादग्धीनवृत्त्याश्रयणमक्षरास्तित्वे लिङ्गमित्यर्थः ॥ ६ ॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते
तपस्तप्यते वहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा
एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माँल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य
एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माँल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

अनुवाद—हे गार्गि ! जो इस अक्षर को न जानकर हम लोक में होम और
यज्ञ करता है और अनेक सहस्र वर्षोंतक तप करता है उसका वह सब कर्म
अन्तर्वाता ही होता है । हे गार्गि ! निश्चय, इस अक्षर को न जानकर इस लोक से
जो सिधार जाता है वह कृपण है और हे गार्गि ! जो ही इस अक्षर को जानकर
इस लोक से सिधारता है वही ब्राह्मण है ॥ १० ॥

पदार्थ—(गार्गि+यः+वै+एतत्+अक्षरम्+अविदित्वा) हे गार्गि ! जो अज्ञानी
पुरुष इस अक्षर को न जानकर (अस्मिन्+लोके+जुहोति+यजते) इस लोक में होम
और यज्ञ करता है (वहूनि+वर्षसहस्राणि+तपः+तप्यते) अनेक सहस्र वर्ष तप
करता है (तत्+अस्य+अन्तवत्+एव+भवति) उसका वह सब कर्म अन्तवत्
अर्थात् विनश्वर होता है । (गार्गि+यः+वै+एतत्+अक्षरम्+अविदित्वा) हे गार्गि !
जो ही इस अक्षर को न जानकर (अस्मात्+लोकात्+प्रैति) इस लोक से चला जाता
है (सः+कृपणः) वह कृपण है । (अथ+गार्गि+यः+एतत्+अक्षरम्+विदित्वा+
अस्मात्+लोकात्+प्रैति) और हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से
गमन करता है (सः+ब्राह्मणः) वही ब्राह्मण है ॥ १० ॥

भाव्यम्—यो वा इति । हे गार्गि यो वै कश्चित्पुरुष एतदक्षरमविदित्वाऽ-
विज्ञायास्मिन्कर्मलोके जुहोति देवतोद्देशेन संकल्पितं द्रव्यमग्नौ प्रक्षिपति
यजते देवतोद्देशेन द्रव्यं सङ्कल्पयति तपश्चान्द्रायणादि तप्यत आचरति यद्यपि
वहूनि वर्षसहस्राणि तथाऽप्यस्य कर्तुंस्तत्साङ्गमपि क्रियमाणं कर्मान्तवदेवान्त-
वत्फलकमेव भवति । न नित्यमोक्षफलकम् । तथा च हे गार्गि ! यो वा एतद-
क्षरम् अविदित्वाऽस्मात्कर्मलोकात्प्रैति श्रियते स कर्मा कृपणो दीनः पक्षीकृ-
तदासवत्कर्मफलस्यैव मोक्षा न मोक्षस्य । अथ तु य एतदक्षरं श्रुत्याचार्योप-
देशतः विदित्वाऽस्माँल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः स एव ब्रह्मवेत्तास्ति ॥ १० ॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं
विज्ञातृ न्यायदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यद-
तोऽस्ति मन्त्र नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गा-
र्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

अनुवाद—हे गार्गि ! सो यह अक्षर स्वयं अदृष्ट होने पर भी द्रष्टा है ।
स्वयं अश्रुत होने पर भी श्रोता है । स्वयं अमत होने पर भी मन्त्रा है । स्वयं
अविज्ञात होने पर भी विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं, इससे
भिन्न कोई अन्य श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई अन्य मन्त्रा नहीं, इससे भिन्न कोई
अन्य विज्ञाता नहीं । हे गार्गि ! आप निश्चय करके जानें उसी अक्षर में यह
आकाश वत्स में सूत्रबन् ओत और प्रोत है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(गार्गि+तत्+सर्वे+एतत्+अक्षरम्) हे गार्गि ! सो यह अक्षर अर्थात्
अविनश्वर परमात्मा (अदृष्टम्) अदृष्ट है अर्थात् इस अक्षर को किसी ने नेत्र से
अनुभव नहीं किया है । क्योंकि वह दृष्टि का आविषय है । परन्तु स्वयं (द्रष्टृ)
सर्व का द्रष्टा है अर्थात् वह सब को देखता है, परन्तु उसको कोई नहीं देखता ।
इसी प्रकार आगे भी भाव जानना । (अश्रुतम्+श्रोतृ) वह स्वयं अश्रुत है परन्तु
सब की बातों का श्रोता है । (अमतम्+मन्त्र) वह स्वयं मनोबुद्धि का आविषय
है परन्तु स्वयं सबका मान करता है (अविज्ञातम्+विज्ञातृ) स्वयं अविज्ञात है
परन्तु सब को जाननेहारा है । (अतः+अन्यत्+न+द्रष्टृ+अस्ति) इससे अन्य
कोई द्रष्टा नहीं (अतः+अन्यत्+न+श्रोतृ+अस्ति) इससे अन्य कोई श्रोता नहीं
(अतः+अन्यत्+न+मन्त्र+अस्ति) इससे अन्य कोई मन्त्रा नहीं (अतः+अन्यत्+
न+विज्ञातृ+अस्ति) इससे अन्य कोई विज्ञाता नहीं । (गार्गि+तस्मिन्+तु+खलु+
अक्षरे) हे गार्गि ! यह आप निश्चय जानें यह बात सब विद्वानों से निर्धारित है
कि उसी अक्षर में (आकाश+ओत+च+प्रोत+च+इति) आकाश ओत और
प्रोत है । हे गार्गि ! यही आप के प्रश्नों का उत्तर है, अब आप विचार कीजिये ॥ ११ ॥

भाष्यम्—तद्वा इति । हे गार्गि, एतद्वा तदक्षरमसूलादिवाक्येनावगमित-

मदृष्टं केनचिन्न दृष्टं दृष्टयविषयत्वात्स्वयं तु द्रष्टृ दृशिस्वरूपत्वात् । एवमश्रुतं श्रोत्रित्यादि व्याख्येयम् । तस्य नानात्वशङ्कां निराकरोति-नेति । अस्मात्प्र-
कृतादक्षरादन्यद्द्रष्टृ दर्शनक्रियाकर्तृ नास्त्येतदेव तत्कर्तृ समानमन्यत् । एत-
स्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्युक्तार्थम् ॥ ११ ॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यद्-
स्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्र-
ह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥ १२ ॥

अनुवाद—वह गार्गी बोली—हे मेरे पूज्य ब्राह्मणो ! उसी को आप सब बहुत
मानें, यदि इस याज्ञवल्क्य से नमस्कार करके छूट जायें । मुझे विश्वास है कि आप
लोगों में से कोई भी कभी इस ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य को न जीतेंगे । तब वह वाच-
क्नवी चुप होगई । (क) अथवा वह गार्गी बोली—हे मेरे पूज्य ब्राह्मणो ! मैंने जो
यह कहा था कि यदि दो प्रश्नों का याज्ञवल्क्य उत्तर देदेंगे तो आप लोगों में से
कोई भी कभी इस ब्रह्मवेत्ता को न जीतेंगे । इसी बात को आप बहुत मानें । इस
हेतु नमस्कार करके इस याज्ञवल्क्य से अपना २ छुटकारा पावें । इतना कह वह
वाचक्नवी चुप होगई ॥ १२ ॥

पदार्थ—(सा+ह+वाच+भगवन्तः+ब्राह्मणाः) वह गार्गी बोली हे मेरे
पूज्य ब्राह्मणो ! (तत्+एव+बहु+मन्येध्वम्) उसी को आप बहुत मानें (यत्+
नमस्कारेण+अस्मात्+मुच्येध्वम्) यदि नमस्कार के द्वारा भी इस याज्ञवल्क्य से छूट
जायें । अर्थात् आप सब याज्ञवल्क्य को नमस्कार करके भी इनको यदि प्रसन्न
करलें और यह आप लोगों के दोषों को क्षमा करदें तो यही एक बड़ी बात है नहीं
तो कदाचित् आप ही लोगों के समान यह याज्ञवल्क्य आप लोगों से प्रश्न करें तो
आप लोग इस प्रकार उत्तर न दे सकेंगे, तब आप लोगों का बहुत हास्य होगा ।
इसलिये इनको नमस्कार करके अपना २ दोष क्षमा करवा लीजिये, क्योंकि मुझे
निश्चय है (युष्माक+कश्चिद्) आप लोगों में से कोई (जातु) कभी (इमम्+
ब्रह्मोद्यम्+न+वै+जेता+इति) इस ब्रह्मवेत्ता को नहीं जीतेंगे । (ततः+वाचक्नवी+

उपरराम) तब वाचकनवी चुप होगई । इसका अन्य प्रकार से भी अर्थ होमकता है जैसा कि अनुवाद में दिखलाया गया है । यथा—(सा+हो०) वह गार्गी बोली (चत्) मैंने जो कहा था कि मेरे दो प्रश्नों का यदि यह उत्तर देदेंगे तो (न+वै+जातु+युष्माकम्+नश्चित्+इमम्+ब्रह्मोद्य+जेता+श्रुति) तो कभी आप लोगों में से कोई भी इस ब्रह्मवेत्ता को न जीवेंगे, यह मेरा विश्वास है । (तत्+एव+बहु+मन्येध्वम्) इसलिये मेरे उमी बचन को बहुत मानें अर्थात् प्रमाण समझें । अब (नमस्कारेण+अस्मान्+मुच्येध्वम्) नमस्कार से इन्हें प्रमथ कर इनसे लुटकारा पावें । इसका पराजय मन से भी शक्ति न करना चाहिये । (सत्+इ+वाचकनवी+उपरराम) फिर वाचकनवी चुप होगई ॥ १२ ॥

भाष्यम्—सोऽप्रश्नद्वयनिर्णयश्री गार्ग्यवाच । किं हे ब्राह्मणा भगवन्तः प्रश्नौ चेन्मय वक्ष्यामि तदा न वै जातु युष्माकमिमं कथिद् ब्रह्मोद्यं जेत्येति युष्मान्प्रति पूर्वोक्तं यन्मम वचनं तदेव वचनं बहु मन्येध्वम् बहुमानविषय कुरुध्वम् प्रमाणीकुरुध्व । यद्यस्मादुर्ध्वो प्रश्नावनेनोत्तरितौ तस्मादस्मात्प्राज्ञवन्द्य नमस्कारेणमुच्येध्वमस्मै नमस्कार कृत्वाऽनुज्ञां प्राप्य यूयं मुच्यध्वमस्य पराजये मनसाऽपि न शक्नीयः । तत एव ब्राह्मणानां हितोपदेशानन्तरं वाचकनव्युपरामेत्यर्थः ॥ १२ ॥

इत्यष्टमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञ-
वल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपदे यावन्तो वैश्वदेवस्य
निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति
होवाच ॥ १ ॥ (क)

अनुवाद—इसके अनन्तर शाकल्य विदग्ध ने इनमे पूछा कि याज्ञवल्क्य !
कितने देव हैं ? उन्होंने इस निविदा (मन्त्र के टुकड़े) से ही उत्तर दिया वैश्वदेव
सम्बन्धी मन्त्र की निविदा में जितने देव कहे गये हैं । तीन और तीन सौ, तीन
और तीन सहस्र । तब शाकल्य विदग्ध ने कहा कि हाँ ठीक है ॥ १ ॥ (क)

पदार्थ—(अथ+शाकल्यः+विदग्धः) अनन्तर शाकल्य नाम के ऋषि के पुत्र
विदग्ध नामवाले अनूचान ने (एनम्+इ+पप्रच्छ) इस याज्ञवल्क्य को पूछा (याज्ञ-
वल्क्य+कति+देवाः+इति) हे याज्ञवल्क्य ! देव कितने हैं अर्थात् देवों की संख्या
कितनी है, यह मेरा प्रश्न है । विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर (त्रि+इ+एतया+
निविदा+प्रतिपदे) उस याज्ञवल्क्य ने इस वक्ष्यमाण मन्त्र के टुकड़े से उत्तर दिया
(वैश्वदेवस्य+निविदि+यावन्तः+उच्यते) विश्वेदेव सम्बन्धी जो मन्त्र उसके पद में
जितने देव कहे गये हैं अर्थात् विश्वेदेव सम्बन्धी मन्त्र में देवों की संख्या जितनी
उक्त है उतनी ही संख्या याज्ञवल्क्य ने कही, आगे निविदा दिग्गताते हैं उसका अर्थ
(त्रयः+त्र+त्री+च+शता) तीन और तीन सौ और (त्रयः+त्र+त्री+च+सहस्रा)
तीन और तीनसहस्र देव हैं । याज्ञवल्क्य के इस उत्तर को सुन कर विदग्ध ने
(इ+उवाच+ओम्+इति) कहा कि हाँ ठीक है । आप देवसंख्या जितनी कहते हैं
उतनी ही देवसंख्या है इसमें सन्देह नहीं ॥ १ ॥ (क)

मास्यम्—अथेति । अयानन्तरम् । शाकल्यः शकलस्यापत्यं विदग्ध इत्ये-
वंनामा कथितप्रसिद्धोऽनूचानः । एनं ह याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ—हे याज्ञवल्क्य !

कति देवाः सन्ति ? देवानां संख्याः कति सन्ति ? एष मम प्रश्नः । तेन पृष्टो
याज्ञवल्क्यः एतया वक्ष्यमाणया निविदैव वेदचाचैव नप्रकारान्तरेण न च
स्वकपोलकल्पनया वा । प्रतिपेदे प्रत्युत्तरं ददौ । घातूनामनेकार्थत्वात् । यद्वा
यदा तेनानुपुष्टोऽभूद् याज्ञवल्क्यस्तदा एतया निविदा कर्त्तव्या स ह याज्ञवल्क्यः
प्रतिपेदे प्राप्तोऽभूत् । सा निविचस्मिन्काले तस्य स्मृताऽभूदित्यर्थः । अस्मिन्
पक्षे कर्मणि प्रत्ययः । निवेद्यते ज्ञाप्यते संख्या यया सा निविद् । यद्वा निवेद-
यति ज्ञापयति भावं या सा निविद् । यद्वा निवेद्यते ज्ञायते भावो यया सा
निविद् । मन्त्रैकदेशा मन्त्रावयवा मन्त्रपदानि च निवित्संज्ञकानि । इममर्थं
विस्पष्टयति । वैश्वदेवस्य विश्वे च देवा विश्वदेवाः सर्वदेवाः विश्वदेवानामयवैश्व-
देवः सर्वदेवगुणवर्णनपरको मन्त्र इत्यर्थः । तस्य निविदि अयमेव यावन्तो
यत्संख्याका देवा उच्यन्ते । तया निविदा तावन्तो देवाः प्रतिपेद इत्यर्थः ।
सम्प्रति निविदं दर्शयति—“त्रयश्च ग्री च शता” “त्रयश्च ग्री च सहस्रा”
इति, हे विदग्ध ! देवाः त्रयश्च सन्ति । पुनः ग्री च शता देवानां ग्रीणि
शतानि च सन्ति । पुनः त्रयश्च ग्री च सहस्रा देवाः त्रयः ग्रीणि सहस्राणि च
वर्तन्ते । इतिनिविदा द्वारभूतयोत्तरं धृत्वा शाकल्यो होनाच्च ओमिति । ओमिति
स्त्रीकारे । हे याज्ञवल्क्य ! या त्वया देवसंख्या प्रोक्ता सा तथ्या तावत्येव देव-
संख्यात्र न संदेहः । यदा गार्गी नमस्कारेण मुच्येष्ट्वं न वै जातुं पुष्पाकमिम
कथिद् ब्रह्मोऽं जेत्येति । सर्वाणुपस्थिताननूचानानब्रवीत् । तदा केचन बोद्धारो
याज्ञवल्क्यस्य प्रतिभां लोकोत्तरा विदित्वैनं ब्रह्मिष्ठं मेनिरे । मत्वाच पोषमासा-
ञ्चजिरे । केचित्तु गार्गीवचनमनुचितमहितञ्च मत्वा जुहुपुः । त्र्यवचनेऽना-
स्थाञ्च प्रकटीकृत्य तामेव भर्त्सयामासुः । तत्रासीत् कोऽपि शकलस्य पुत्रः ।
स च याज्ञवल्क्यस्य राजसभायां ब्रह्मिष्ठत्वेत्पादिका सर्वश्रेष्ठां प्रतिष्ठां सोढुं न
शशाक । एष शकलपुत्रो विदग्धनामा । इदं नाम तावद्गुणमस्य प्रकटयति ।
विशेषेण दग्धो विदग्धः । याज्ञवल्क्यप्रतिष्ठाया असहमान्तया सम्यग्गमामीभूत
इत्यर्थः । अतो विदग्ध इति नामनिर्देशः । किन्तु विदग्धो विद्वानपि वर्तते ।
इत्युभयार्थद्योतकः । विशेषेण दग्धो निपुणः । समायां यः करिचद्विद्वत्तरोस्ति
सम्प्रति स प्रष्टुमायाति, अनेनावश्यम्मावीयाज्ञवल्क्यपराजय इत्यपि ध्वनयति
विदग्धशब्दः । एवम् शकलं खण्ड एकदेश इत्यर्थः । तस्य पुनः शाकल्यः ।

अवयविदेव न सर्वज्ञ इत्याक्षेपः । यद्वा शं कल्याणं कलयति करोति इति शकलः कल्याणकारी तस्य पुत्रोऽप्यस्माकं कल्याणं साधयिष्यतीत्याशंसा । शकलो नाम करिचत् विबुधधौरेयोऽपि तत्सामयिकः । तस्यैरसेनापि तथैवावस्थेयमित्यादरः ॥ १ ॥ (क)

भाष्याशय—जब सत्र उपस्थित अनुचानों से गार्गी ने कहा कि हे ब्राह्मणो ! आप लोगों का इस ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य से विवाद करना अनुचित है । नमस्कार करके अपने को इस अपराध से मुक्त करें । आप लोगों में से कोई भी इस ब्रह्म-वेत्ता को न जीत सकेगा । सब किन्हीं योद्धाओं ने याज्ञवल्क्य की लोकोत्तर प्रतिभा जान उन्हें ब्रह्मिष्ठ माना और मानकर चुप हो गये, परन्तु किन्हीं को गार्गी का वचन अनुचित और अहित प्रतीत हुआ, इस हेतु क्रुद्ध हुए । की के वचन में अनादर दिया उसी को ऊंच नीच कहने लगे । उस सभा में उस समय एक कोई शकल ऋषि का पुत्र था वह याज्ञवल्क्य की ब्रह्मिष्ठत्व प्रतिपादक सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा को न सह सका और अपने जानते कठिन प्रश्न पूछने लगा । इसका नाम विदग्ध था, यह नाम ही इसके गुण को प्रकट करता है । यथा—वि+दग्ध=जो अच्छे प्रकार से जला हो उसे विदग्ध कहते हैं अर्थात् राजसभा में याज्ञवल्क्य की प्रतिष्ठा को न सहकर क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो उठा । इस हेतु यहा “विदग्ध” नामका निर्देश हुआ है । यह तो आक्षेप है परन्तु “विदग्ध” बड़े निपुण को भी कहते हैं । इस हेतु यह शब्द दोनों अर्थ को कहता है । अर्थात् अब सभा में जो सत्र से बड़ा विद्वान् है वह याज्ञवल्क्य से पूछने को आता है । अवश्य अब इनका पराजय होगा । इस अभिप्राय को भी यह शब्द ध्वनित करता है । इसी प्रकार “शाकल्य” शब्द भी द्वयर्थ प्रतिपादक है । शकल=खण्ड, अवश्व, एकदेश आट्टिको कहते हैं । उसका पुत्र वा तत्सम्बन्धी शाकल्य, अर्थात् यह अवश्य विद्=खण्डविद् है सर्वविद् नहीं है । किसी पदार्थ के एक खण्ड को वा एक अवयव को जानता है । सम्पूर्ण का ज्ञाता नहीं । यह तो आक्षेप है (शं कल्याणं कलयति) कल्याण के करनेवाले को भी “शकल” कहते हैं उसका पुत्र शाकल्य । यह कल्याणकर्त्ता का पुत्र है अवश्य हम लोगों का भी कल्याण करेगा । यह इसकी प्रशंसा है । इस प्रकार “विदग्ध” और “शाकल्य” दो दो अर्थ के सूचक शब्द हैं । “निविद्” नि+विद् घातु से बनता है मन्त्र के

पदों का नाम निविद् है । बहुत से मन्त्र ऐसे हैं जिनके एक २ टुकड़े से काम चल सकता है । इस अवस्था में सम्पूर्ण मन्त्र कहने की आवश्यकता नहीं होती । इस हेतु यज्ञादि अनुष्ठान के समय बोलने के लिये मन्त्रों से चुन चुन करके बहुत से पद एकत्रित किये हुए हैं वा अथ भी हो सकते हैं । उन्हीं पदों का नाम निविद् है जिसमें कि आशय विदित हो जाय (वैश्वदेवस्य) विश्व=सब । देव=पदार्थ । वेदों में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि एक एक देव के नाम से एक एक मन्त्र आए हैं, परन्तु वही २ सब देवों का वर्णन एक साथ ही किया है । वह सब मन्त्र विश्वदेव सम्बन्धी कहलाता है । जो मन्त्र ऐसे हैं उन्हें वैश्वदेव मन्त्र कहते हैं ॥ १ ॥ (क)

कस्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच
कस्येव देवा याज्ञवल्क्येति पडित्योमिति होवाच कस्येव देवा
याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कस्येव देवा याज्ञव-
ल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कस्येव देवा याज्ञवल्क्येत्य-
ध्यर्द्ध इत्योमिति होवाच कस्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्यो-
मिति होवाच कतमे ते त्रयश्च ग्री च शता त्रयश्च ग्री च
सहस्रेति ॥ ३ ॥ (ख)

अनुवाद—पुनः शाक्य विदग्ध पूछते हैं—विदग्ध—हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं । याज्ञवल्क्य—तीन । विदग्ध—हा ठीक है । हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं । याज्ञवल्क्य—द्वयः । विदग्ध—हा ठीक है । हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं । याज्ञवल्क्य—दो । विदग्ध—हा ठीक है । हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं । याज्ञवल्क्य—अप्यर्द्ध (इसका अर्थ ६ वीं कण्विका में देखो) विदग्ध—हा ठीक है । हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं । याज्ञवल्क्य—एक । विदग्ध—हां ठीक है । हे याज्ञवल्क्य ! वे तीन और तीनसौ (३०३) और तीन और तीन सहस्र (३००३) देव कौन हैं ? अर्थात् उन तीनसौ तीन और तीन सहस्र तीन देवों के नाम बतलावें ॥ १ ॥ (ख)

पदार्थ—इसके पदार्थ सहज हैं ॥ १ ॥ (ख)

माध्यम्—पुनर्विदग्धः पृच्छति । विदग्धः—याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—त्रयस्त्रिंशत् । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—षट् । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—त्रयः । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—द्वौ । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—अध्यर्धम् । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—एकः । विदग्धः—ओम् कतमे ते “त्रयश्च ग्री च शता त्रयश्च ग्री च सहस्रा इति । सर्वपदान्यत्रातिरोहितार्यानि । अध्यर्धपदमग्रे (६) व्याख्यास्यते । देवसंख्यां पृष्ट्वा संख्येयस्वरूपं पृच्छति । ते त्रयो देवाः के सन्ति तान् नाम्ना अमिधेहि । एवं देवानां त्रीणि शतानि । पुनः त्रयो देवाः त्रीणिसहस्राणि च कानि कानि सन्ति । तेषां नामानि कथय ॥ १ ॥ (त्व)

स होवाच महिमान एवैयामेते त्रयस्त्रिंशत्स्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ २ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य बोले कि इन देवों की यह महिमा ही है, परन्तु देव तो तैंतीस ही हैं । विदग्ध पूछते हैं कि वे तैंतीसों देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं आठ वसु । एकादश रुद्र । द्वादश आदित्य हैं यह सब मिलके इकतीस होते हैं, बत्तीसवां इन्द्र और तैंतीसवां प्रजापति है ॥ २ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच+देवाः+तु+त्रयस्त्रिंशत्+एव) याज्ञवल्क्य बोले कि हे विदग्ध ! देव तो तैंतीस (३३) ही हैं । मला जब देव तैंतीस (३३) ही हैं तो आपने उस निविद् के द्वारा ३०३ और ३००३ देव हैं यह कैसे कहा था, क्या आप झूठ भी बोलते हैं । इस पर कहते हैं—(एवम्+एते+महिमानः) इन तैंतीस देवों के ही ये रूप महिमा हैं, वास्तव में देव तैंतीस ही हैं । तब विदग्ध इतनी ही संख्या को स्वीकार करके पूछते हैं । (ते+त्रयस्त्रिंशत्+कतमे) वे तैंतीस देव कौन हैं । इस पर याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—(अष्टौ+वसवः+एकादश+रुद्राः+

द्वादश+आदित्य+ते+एकत्रिंशत्) आठ (८) वसु, ग्यारह (११) रुद्र और द्वादश (१२) आदित्य ये सब मिलकर इक्कीस होते हैं । और (इन्द्र+च+एव+प्रजापति+च+इति) इन्द्र और प्रजापति तैत्तीसवें हैं, ये ही तैत्तीस देव हैं ॥ २ ॥

माध्यम्—स इति । हे विदग्ध ! देवास्तु त्रयस्त्रिंशदेव वर्तन्ते । तर्हि तया निनिदा देवानां शुचराणि त्रीणि शतानि । पुनः शुचराणि त्रीणि सप्तस्राणि च त्वया किमेवेत्योक्तानि । किं मिथ्यापि त्व भाषसे ! इत्थन आह—एतेषां त्रयस्त्रिंशतो देवानां पूर्वोक्ता महिमान एव विभूतय एव । न च सा निविद् वा-स्तवेन देवानामियतीं सख्यां व्रवीति । त्रयस्त्रिंशतो देवानामेव तया संख्यया महिमानं प्रकटयति । इत्युक्तो विदग्धस्तावतीमेव सख्यां स्वीकृत्य संख्येयस्वरूप पृच्छति । हे याज्ञवल्क्य ! ते त्रयस्त्रिंशदेवाः कतमे सन्ति । याज्ञवल्क्य आह—अष्टौ वसवः । एकादश रुद्राः । द्वादश आदित्या । एते मिलित्वा एकत्रिंशद् भवति । इन्द्रश्च प्रजापतिश्च एनौ द्वौ देवौ त्रयस्त्रिंशौ । त्रयस्त्रिंशतो पूरणावि-त्यर्थः ॥ २ ॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥

अनुवाद—विदग्ध पृच्छते हैं कि वसु कौन हैं, याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र, ये आठ वसु हैं, क्योंकि इनमें ही यह सब वसु (धन वा वस्तु) निहित है, इस हेतु ये वसु कहलाते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थ—(कतमे+वसवः+इति) हे याज्ञवल्क्य ! ये वसु कौन हैं उनके नाम आप वह । आगे याज्ञवल्क्य नाम गिनाते हैं (अग्निः+च) अग्नि और अग्नि के महत्त्व वा आग्नेयप्रधान पदार्थमात्र इसी प्रकार “च” का अर्थ यहां सर्वत्र करना (वायुः+च) वायु (अन्तरिक्ष+च) अन्तरिक्ष=आकाश (आदित्यं+च) सूर्य (द्यौः+च) दुलोक (चन्द्रमा +च) चन्द्रमा (नक्षत्राणि+च) और नक्षत्र (एते+वसव.) ये आठों वसु हैं (हि) क्योंकि (एतेषु) इनमें (इदम्+सर्वम्)

यह सब (वसु) धन वा वस्तुमात्र (हितम्) निहित है (वस्मात्) इस हेतु (वसवः+इति) ये वसु कहलाते हैं अर्थात् इन आठों के अधीन धन वा वस्तुमात्र है अथवा इनके आश्रय से ही जीव वसते हैं अथवा ये सब अपने ऊपर सब जीवों को बसाए हुए हैं, इत्यादि हेतु से ये वसु कहाने हैं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—कतम इति । वसूनां नामानि पृच्छति । याज्ञवल्क्यो नामानि गणयति । अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, धौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि, एते अष्टौ वसवो नाम्ना कीर्त्तिताः । चक्षुरादग्न्यादीनां सहचराणां तत्तद्गुणविशिष्टानां च रूपांश्च ग्रहणम् । कथमेते वसवो निगद्यन्ते । अत्र व्युत्पत्तिमाह—एतेषु अष्टसु वसुषु सर्वे वसु धनं वस्तु वा पदार्थमात्रम्वा हितं निहितं वर्तते । सर्वे वस्तु स्वस्मिन्स्वस्मिन्वासयन्ति उत सर्वे वस्तु एतेषु वसति अतो वसवः । एतेषामाधारेण जीवानां वासोऽपि । एतेषां निमित्तादेव धनं वासो वा जीवानां प्राप्यते । तस्माद्धेतो रते वसव उच्यन्ते ॥ ३ ॥

कतमे रुद्रा इति दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽऽस्माच्छरीरान्मर्त्यावुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

अनुवाद—विदग्ध पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! रुद्र कौन हैं ? याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं कि पुरुष में जो ये दश प्राण हैं और एकादश आत्मा (मन वा जीवात्मा) ये जब इस मर्त्य शरीर से ऊपर जाते हैं तब रुद्रा बने हैं । जिस हेतु वे रुद्राते हैं उस निमित्त ये रुद्र कहलाते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थ—(कतम+रुद्राः+इति) विदग्ध पूछते हैं कि रुद्र कौन हैं इनके नाम आप कहें । याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—(पुरुषे) प्राणीमात्र में जो (दशमे+दश) ये दश (प्राणः) प्राण हैं (पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय) अथवा प्राण अपान आदि जो दश प्राण हैं और (एकादशः) ग्यारहवां (आत्मा) मन वा जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र हैं । ये रुद्र क्योंकि कहलाते हैं सो कहते हैं (यदा) जब (मर्त्यान्+अस्मान्+शरीरात्) इस मर्त्य शरीर से (उत्क्रामन्ति) ऊपर को जाते हैं अर्थात् इस शरीर को त्याग अन्य नव शरीर की प्राप्ति के लिये जाते हैं (अथ)

तन (रोदयन्ति) मृतपुरुष के पुत्र, वन्धु, मान्ध्यादि सम्बन्धियों को रुला देते हैं (तन्) इस हेतु (यत्) जिस हेतु (रोदयन्ति) रुला देते हैं (तस्मात्+रुद्रा + इति) इस हेतु रुद्र कहनाते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—कतमे इति । विदग्धो रुद्रनामधेयानि पृच्छति—याज्ञवल्क्य समादधाति—हे विदग्ध ! पुरुषे पुरुष इति प्रधानतयोक्तिः । प्राणिमात्रे इमे । सिद्धवन्निर्देशः । इमे प्रसिद्धाः ये दश दशमंख्याकाः प्राणा सन्ति । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि एते दश । प्राणशब्देनेन्द्रियाणां ग्रहणम् । अथवा प्राणापानादयो दश । एकादश आत्मा एकादशानां पूरण एकादशः । आत्मा मनः । एते एकादश रुद्राः । कथमेते रुद्राः ? अतो व्युत्पत्तिं दर्शयति । हे विदग्ध ! ते रुद्राः । यदा यस्मिन् पाले अस्मान्मर्त्यात् मरणधर्म-शीलात् शरीरादेहात् । कर्मफलोपमांगवये । उत्त्रामन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्ति शरीर-विहाय अन्यत्रतः प्रदीतुं गच्छन्ति । अथ तदा मनसा वाऽऽत्मना सह इमे दश प्राणाः मृतसम्बन्धिनः पुत्रादीन् रोदयन्ति रोदनहेतवो भवन्ति । तत्तत्र यद्यस्माद्धेतोः रोदयन्ति तस्मादेव ते रुद्राः कथ्यन्ते ॥ ४ ॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदं सर्वमाद-दाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

अनुवाद—विदग्ध पूछते हैं कि आदित्य कौन हैं । याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—वर्ष के जो ये द्वादश मास हैं, ये ही आदित्य हैं क्योंकि ये सब को लेते हुए जा रहे हैं । जिस हेतु इन सब को लेते हुए जा रहे हैं, इस हेतु ये आदित्य कहलाते हैं । ५ ॥

पदार्थ—विदग्ध क्रम के अनुसार आदित्य के नाम पूछते हैं (कतमे+आदित्या.+ इति) हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य कौन हैं । याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं (संवत्सरस्य+द्वादश+मासा) वर्ष के जो चैत्रादि बाहर मास हैं (एते+आदित्या.) ये ही आदित्य हैं (हि) क्योंकि (एते) ये द्वादश मास (इदं+सर्वम्) प्राणियों के

सम्पूर्ण आयु को (आददानाः) ग्रहण करते हुए (यन्ति) जारहे हैं—घूम रहे हैं, पुनः २ गतागत कर रहे हैं (यत्) जिस हेतु (ते) वे द्वादश मास (इदं+सर्वम्+आददानाः) प्राणिमों के सब आयु को लेते हुए (यन्ति) घूम रहे हैं (तस्मात्) सब हेतु ये (आदित्याः) आदित्य कहलाते हैं ॥ ५ ॥

भाष्यम्—कतम इति । क्रमानुरोधेनाऽऽदित्यनामानि पृच्छति । विदग्धः—आदित्याः कतमे इति । याज्ञवल्क्यः समादधाति—हे विदग्ध ! संवत्सरस्य वर्षस्य ये द्वादश चैत्रादयो मासाः प्रसिद्धाः सन्ति । वै निश्चयेन एत एव आदित्या उच्यन्ते नान्ये । कथमेतेषामादित्यत्वमिति व्युत्पादयति । हि यतः एते द्वादश मासाः । इदं सर्वम् । सर्वेषां प्राणिनां सर्वमायुरित्यर्थः । आददानाः गृहानाः । यन्ति परिवर्तन्ते । यद्यस्माद्धेतोः ते सर्वमिदमाददाना यन्ति । तस्माच्चे आदित्याः । इति ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्पुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्पुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

अनुवाद—विदग्ध ५०—इन्द्र और प्रजापति कौन हैं । याज्ञवल्क्य क०—स्तनयित्पु ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है । विदग्ध—स्तनयित्पु कौन है । याज्ञवल्क्य—अशनि । विदग्ध—यज्ञ कौन है । याज्ञवल्क्य—पशु ॥ ६ ॥

पदार्थ—पदार्थ इसके सरल हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्—कतम इति । क्रमादिन्द्रप्रजापती पृच्छति । स्तनयित्पुरेवेन्द्रः । यज्ञः प्रजापतिः । इत्युत्तरम् । उभयोः शब्दयोरशयमज्ञात्वा पुनः पृच्छति । कतमः स्तनयित्पुः, इति प्रश्नः । अशनिरित्युत्तरम् । कतमो यज्ञ इति प्रश्नः । पशव इत्युत्तरम् ॥ ६ ॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौर्भेते पडेते हीदं सर्वं षडिति ॥ ७ ॥

अनुवाद—विदग्ध—छः कौन कौन हैं । याज्ञवल्क्य—अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और सौ । ये छः हैं, ये छः ही सब हैं ॥ ७ ॥

पदार्थ—विदग्ध पूछते हैं—(कमते+पठ्+उति) हे याज्ञवल्क्य । आपने पूर्व छ. देव कहे थे ये छः देव कौन कौन हैं । सो कहते हैं याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं (अग्निः+च) अग्नि के सहचर सहित अग्नि । इसी प्रकार पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और सुलोक (एते+पठ्) ये ही छः (हि) क्योंकि (एते+पठ्) ये ही छः (इदम्+सर्वम्) मन हैं । अर्थात् इन छ. के ही अन्तर्गत सब हैं । पूर्व में जो आठ वसु हैं, उनमें चन्द्रमा और नक्षत्र को छोड़कर छ. रहते हैं ॥ ७ ॥

भाष्यम्—हे याज्ञवल्क्य ! त्वया पद् देवाः पूर्वमुक्ताः । ते कतमे पद् वर्तन्ते । समाधत्ते—अग्निश्च पृथिवी च वायुश्च अन्तरिक्षश्च आदित्यश्च सौ च पूर्वमुक्त्यादयो ये अष्टौ देवा दसुस्वेन पठिताः । तेषां मध्ये चन्द्रमसं नक्षत्राणि च त्यक्त्वा । पद् भवन्ति । इदं पद् । पदस्वेव सर्वेषामन्तर्भवति । नक्षत्राभ्योऽष्टाभ्योऽन्ये केऽपि पद् देवाः सन्तीति भावः ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कमतौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्द्ध इति योऽयं पदत इति ॥ ८ ॥

अनुवाद—विदग्ध—वे तीनों देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य—ये ही तीनों लोक क्योंकि इनमें ही सब देव हैं । विदग्ध—वे को देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य—अन्न ही और प्राणपति ही । विदग्ध—अध्यर्द्ध कौन है ? याज्ञवल्क्य—जो यह बहता है अर्थात् वायु ॥ ८ ॥

पदार्थ—विदग्ध पूछते हैं (कतमे+त्वे+त्रय.++देवाः) हे याज्ञवल्क्य । आपने पूर्व में जो कहा था कि देव तीन हैं वे कौन तीन हैं ? इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया (इमे+एव+त्रय.++लोकाः) हे विदग्ध । ये ही तीन लोक तीन देव हैं (हि) क्योंकि (इमे+सर्वे+देवाः) ये सब देव (एषु) इन ही तीनों लोकों में अन्तर्गत

होते हैं । भाव यह है कि पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव । अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरा देव । बुलोक और आदित्य मिलाकर तीसरा देव । ये ही तीन देव हैं । इन में ही सब का अन्तर्भाव हो जाता है । अतः ये ही तीन देव हैं । प्रथम आठ को छः में अन्तर्भाव कहा । अब उन छवों को भी तीन में अन्तर्भाव है । आगे पुनः विदग्ध पूछने हैं कि (कतमौ+तौ+द्वौ+देवौ) वे दोनों देव कौन हैं । इस प्रश्न के उत्तर में (अन्नश्चैव प्राणश्च) अन्न और प्राण ही दो देव हैं ऐसा याज्ञवल्क्य कहते हैं । भाव यह है कि सकल पदार्थ दो २ प्रकार के हैं । एक नित्य और दूसरे अनित्य । जो परमाणुरूप है वह तो नित्य है और जो कार्यरूप है सो अनित्य है । प्राण शब्द से नित्य पदार्थ का और अन्न शब्द से कार्य रूप पदार्थ का ग्रहण है । इन दो में ही सब है अतः दो देव कहा है । आगे (कतमौ+अध्यर्धः+इति) विदग्ध पुनः पूछते हैं । अध्यर्ध कौन है ? उत्तर—(य.+अयम्) जो यह (पतते) वहता है अर्थात् वायु ही अध्यर्ध है । अध्यर्ध को क्यों कहते हैं सो आगे स्वयं बहेगे ॥ ८ ॥

भाष्यम्—विदग्धः—हे याज्ञवल्क्य ! कतमं ते त्रयो देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—इमे प्रसिद्धास्त्रयो लोका एव त्रयो देवाः । हि यतः एषु त्रिषु लोकेषु इमे सर्वे देवाः अन्तर्भवन्ति । विदग्धः—कतमौ तौ द्वौ देवौ इति । याज्ञवल्क्यः—अन्नश्चैव प्राणश्च इति । विदग्धः—कतम अध्यर्धः इति । याज्ञवल्क्यः—योऽयं पतते । वहति वायुरित्यर्थः ।

पृथिवीमग्निं चर्कीकृत्यैको देवः । अन्तरिक्षं वायुश्चैकीकृत्य द्वितीयो देवः । दिवमादित्यश्चैकीकृत्य तृतीयो देवः । एष्वेव सर्वे देवा अन्तर्भवन्ति । अतस्त्रय एव देवाः । अग्रे द्वौ देवावभिहितौ अन्नश्च प्राणश्च । सर्वः पदार्थो द्विविधः । नित्योऽनित्यश्च । परमाणुरूपो नित्यः । कार्यरूपोऽनित्यः । प्राणशब्दोऽनित्यत्वमाह, अन्नशब्दः कार्यत्वमिति विवेकः । ततोऽध्यर्धपदेन वायुर्विवक्षितः । अस्य कारणमपि स्वयं वक्ष्यति ॥ ८ ॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पततेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्याघ्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥

अनुवाद—उस विषय में वे (पण्डितगण) कहते हैं कि यह (वायु) एक वहा करता है तब क्योंकि यह अभ्यर्थ ब्रह्मा है । जिस हेतु इस (वायु) में यह सब ही परमशुद्धि को प्राप्त होता, अतः इसको अभ्यर्थ कहते हैं । एक देव कौनसा है ? प्राण है । वह ब्रह्म है उसको “त्यन्” कहते हैं ॥ ६ ॥

पदार्थ—वायु को अभ्यर्थ क्यों कहते हैं, इसका कारण अब दिखला रहे हैं (यद्+आहुः) इस वायु के विषय में तत्त्ववित् पुरुष कहते हैं कि (यद्+अयम्+एकः+इव+एव+पवते) जिस हेतु यह वायु अनेकासा ही ब्रह्मा दीरता (अय+कथम्+अभ्यर्थः+इति) तब इसको अभ्यर्थ कैसे कहते । अधि+अर्द्धे शब्द में अर्द्ध शब्द का आधा अर्थ जान यह शङ्का की गई है । इसका उत्तर देते हैं (यद्+अस्मिन्+इदम्+सर्वम्) जिस हेतु इस वायु की सत्ता रहने पर ही यह स्थावर और जगम पदार्थ (अध्याप्नोत्=अधि+आप्नोत्) अधि=अधिक । श्रद्धि शुद्धि अर्थात् परम शुद्धि को प्राप्त होता है (तेन+अभ्यर्थ+इति) इस कारण इस वायु को अभ्यर्थ कहते हैं । अब अवशिष्ट अन्तिम प्रश्न पूछते हैं—(कतम् +एक+देवः+इति) हे ब्राह्मवल्क्य ! एक देव कौन है सो अब कहिये (प्राण+इति) वह एक देव प्राण है (सः+ब्रह्म) यह यहा ब्रह्म है अर्थात् प्राण शब्द से यहा ब्रह्म का ग्रहण है (त्यत्+इति+आचक्षते) उस ब्रह्म को “त्यत्” ऐसा कहते हैं । त्यन् और तत् ये दोनों शब्द एकार्थक हैं । ब्रह्म को प्रत्ययरूप से कोई विग्रहा नहीं सकता, अतः उसको “त्यत्=वह” इस नाम से पुकारते हैं । एक ही ब्रह्म परम देवता है, यह अन्त में ब्राह्मवल्क्य ने निर्णय किया ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तदेति । शङ्कामुत्थाप्य व्याचष्टे—तच्च । कोविदाः आहुः । यदयं वायुः । एक इवैव एकाकी सन्नेव पवते ब्रह्मति । अयं तर्हि कथमध्यर्द्धः स वायुरुच्यते इति । सत्तरम्—ययस्माद्धेतोः । अस्मिन्वायौ सत्येव इदं सर्वं स्थावर जंगमवच्च जगत् अध्याप्नोत् अधि आर्द्धोत् । अधि अधिकामृद्धिं प्राप्नोति । वायुर्नैव सर्वे जीवाः प्राणान्तो भवन्ति । तेनायं वायुरभ्यर्थ उच्यते । इत्युत्तरं श्रुत्वाऽऽशेषमन्तिमं प्रश्नं पृच्छति । कतम् एको देव इति । समाधत्ते—प्राणः । स प्राणो ब्रह्म न ब्राह्मणायुः । तच्च ब्रह्म त्यदित्याचक्षते परोक्षभिधा-

यकेन त्यच्छब्देन तद्ब्रह्म कथ्यते । यतस्तत्प्रत्यक्षतया न गृह्यते । एकस्मिन्न-
स्मिन् ब्रह्मणि सर्वेषां देवानामन्तर्भावतया एक एव देवो निर्णीतः ॥ ६ ॥

पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं
पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञ-
वल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्य
य एवायं शरीरः पुरुषः स एष वदेव शाकल्य तस्य का
देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥ १० ॥ *

अनुवाद—जिस (पुरुष) का पृथिवी ही आयतन, अग्नि ही लोक, मन ही
ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है । उस पुरुष को जो निश्चित रूप से
जाने । हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय, वही ज्ञानी है । याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—
जिसको आप सब जीवात्मा का परायण कहते हैं, मैं उस पुरुष को जानता हूँ ।
इसमें सन्देह नहीं जो यह “शरीरपुरुष” है वही यह है । हे शाकल्य ! पूछते ही
जाओ । तब पुनः शाकल्य पूछते हैं उसका देवता (कारण) कौन है । याज्ञवल्क्य
स० । अमृत (रज वीर्य) ॥ १० ॥

पदार्थ—याज्ञवल्क्य से शाकल्य पूछते हैं—(यस्य) जिस पुरुष का (पृथिवी+
एष+आयतनम्) पृथिवी ही शरीर है (अग्निः+लोकः) अग्नि ही ठहरने का कारण
वा साधन है (मनः+ज्योतिः) मन ही ज्योति=प्रकाश है पुनः (सर्वस्य+आत्मनः+

* पृथिव्ये यस्यायतनम् । चक्षुर्लोकोमनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्या-
त्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वाअहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः
परायणं यमात्य य एवायं शरीरः पुरुषः स एष वदेव शाकल्य तस्य का देव-
तेति स्त्रिय इति होवाच ॥ १० ॥ शत० कां० १४। अ० ६। ब्रा० ६। ११॥

यह पाठ माध्यन्दिन शाखा के अनुसार है कण्वशाखा में अग्निर्लोकः । हृदयं
लोकः चक्षुर्लोकः । इस प्रकार बतलाया गया है, परन्तु माध्यन्दिन शाखा में सर्वत्र
“चक्षुर्लोकः” ऐसा ही पाठ है ॥

परायणम्) सब जीव का उत्तम आश्रय है (तम+पुरुषम्) उस पुरुष को (वै) निश्चय करके (य+विद्यात्) जो जाने अर्थात् जो विधिपूर्वक उस पुरुष को जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (स+वै+वेदिता+स्यात्) यही वेदिता अर्थात् ज्ञानी हो सकता है । दूसरा नहीं । यदि आप उस पुरुष को जानते हैं तो आप ही वेदिता हैं इसमें सन्देह नहीं । यदि नहीं जानते हैं तो आपका मिथ्या अहकार है । शाकल्य के इस प्रश्न को मुनिकर याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं । यदि इस पुरुष के जानने से ही कोई ज्ञानी या भेष्ट कहलावे तो सुनो (तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (अहम्+वेद) मैं जानता हूँ (वै) निश्चय ही । इसमें सन्देह नहीं (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य+आत्मन+परायणम्) सब जीवात्मा के उत्तम शरण (आत्थ) आप कहते हैं अर्थात् जिसको आप जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्त त्रिगुणविशिष्ट कहते हैं उस पुरुष को मैं जानना हूँ । यदि जानते हैं तो आप उसके नाम को क्यों नहीं कहते चुप क्यों हैं, कहिये । इस शङ्का पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—(य+अथम्) जो यह (शरीर+पुरुषः) शरीरोग्गुण=शरीर से सम्बन्ध रखने वाला पुरुष है अर्थात् स्थूल शरीररूप जो पदावे है (स+एव+एषः) वही यह है । इस प्रकार समाधान करके पुनः शाकल्य को पूछने के लिये प्रेरणा करते हैं (शाकल्य) हे शाकल्य ! (यद+एव) आप प्रश्न करने में त्रिगुण क्यों लेते हैं । आप जिस पुरुष के विषय में पूछते हैं वह यह स्थूल शरीर है । पूछने ही चलिये । आपको ज्ञां जो कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह सब पूछते चलिये । यह सुन मोक्ष में आ ईश्वर के विषय हो अपने जानने कठिन प्रश्न शाकल्य पूछते हैं (तस्य) उस पुरुष का (देयता) कारण (का) बौन है । यदि आप को अहङ्कार है तो कहें कि उस पुरुष का कारण कौन है (अमृतम्) हे शाकल्य ! उसका कारण अमृत है (इति+ह+उवाच) इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया यहाँ “अमृत” शब्द का अर्थ रज और धीर्य है ॥ १० ॥

भाष्यम्—पृथिवीति । हे याज्ञवल्क्य ! यस्य पुरुषस्य पृथिवी एव नत्व-
न्यत् । आपतनमाश्रयः शरीरमस्ति । यस्य शरीर पार्थिवशाधिक्यविशिष्टं
वर्धत इत्यर्थः । पुनः यस्याग्निर्लोकः आधारः स्थानम् उष्णस्पर्शजनकाग्नेय-
शक्तिः यस्य स्वविकारणम् । पुनः यस्य मनोज्योतिः मनुतेऽनेन मनः सङ्क-

न्यत्रिकृत्वात्मकोऽन्तःकरणधर्मविशेषः । ज्योतिः प्रकाशः । हे याज्ञवल्क्य ! तं पुरुषं पूर्वोक्तविशेषणत्रयविशिष्टमीदृशं पुरुषम् यो वै पुरुषः । विद्यात् जानीयात् । स वै वेदिता स्यात् स एव निश्चयेन निज्ञानी ब्रह्मविदां ब्रह्मिष्ठ उच्यते नान्यः । पुनः कथंभूतं तं पुरुषम्—सर्वस्यात्मनः परायणम् । आत्मनो जीवात्मनः परायणं परमाश्रयः । ईदृशं पुरुषं यो वै वेद स वेदिता स्यादित्यहं मन्येऽन्येचापि सर्वे मुनयोऽपि च तथैव मन्यन्ते । इत्थं शाकन्येन पृष्ठो याज्ञवल्क्यः समाधत्ते । हे शाकन्य ! यद्यस्यैव पुरुषस्य वेदनेन वेदिता उच्येत तर्हि त्वं शृणु । त्वं यं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणम् । अथ कथयसि तं पुरुषमहं वेद जानामि । वैशब्दो निरचयं द्योतयति । तस्य पुरुषस्य मम सम्यग्ज्ञानमस्तीत्यत्र त्वया न संशयितव्यम् । यदि त्वं तं पुरुषं जानासि तर्हि नामनिर्देशेन कथं न कथयसि कथय कथं तूष्णीमास्ते । इत्येवं क्रोधाग्निप्रज्वलितेन शाकन्येनोक्तो याज्ञवल्क्योब्रवीति । शृणु य एवायं शरीरः पुरुषः स एष त्वयामिमतः । शरीरे भवः शरीरः । पुरुषशब्देन पदार्थोवस्तु स्थूलशरीररूपं वस्त्वित्यर्थः । इत्थं समाधानं विधाय याज्ञवल्क्यः शाकन्यं प्रति ब्रवीति । हे शाकन्य ! त्वं वदैव कथं त्वं ग्रन्थाद्विरममि । यद्यत् तव मनसि गूढं प्रष्टव्यं वर्तते तत्सर्वं वदैव पृच्छैव । पुनरपि पृच्छेति भावः । इत्येवंकोपितो व्याकुलीभूतो शाकन्यः पृच्छति । यदि त्वं पृच्छार्थं मां प्रेरयमि तर्हि पृच्छामि समाधत्स्व । तस्य पुरुषस्य का देवता किमुत्पत्तिकारणमिति मम ग्रन्थः अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्रैव देवताशब्देन कारणस्य ग्रहणम् । समाधत्ते याज्ञवल्क्यः । तस्य देवता अमृतमस्ति । वक्ष्यमाणेषु पर्यायेष्वपि सामान्यतोऽयमेवार्थो ज्ञातव्यः । यत्र यत्र विशेषता तत्र तत्र व्याख्यास्यते ॥ १० ॥

भाष्याशय—शाकन्य पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! क्या आप उस पुरुष को जानते हैं जिसका शरीर पार्थिवप्रधान हो आभि लोक (स्थान=रहने की जगह) मन प्रकाश है । और जो जीवात्मा भी परायण (उत्तम आश्रय हो) याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि हां मैं उस पुरुष को जानता हूँ यह शरीर पुरुष है अर्थात् माता पिता भग्न और साधारण और असाधारण दोनों कारणों से जो यह स्थूल शरीर बना हुआ है वही यह पुरुष है जिसको आप पूछते हैं । क्योंकि इस शरीर में

पृथिवी का अश अधिक दृष्टिगोचर होता है । अतः इसका पृथिवी ही आयतन है ।
 अमिलोक=और यह अग्नि के ऊपर स्थित है अर्थात् आग्नेय शक्ति के द्वारा चर्म,
 मांस, मज्जा, दधिर, अस्थि, धीर्य ये सब अपने अपने कार्य कर रहे हैं । ज्यों ज्यों
 हममें से वृद्धावस्था में अग्निशक्ति निकलती जाती है त्यों त्यों यह शरीर शिथिल
 पड़ता जाता है । यह प्रत्यक्ष विषय है । मरने के समय में सर्वथा शीतल हो
 जाता है । इस हेतु यह शरीर आग्नेयशक्ति के ऊपर ही स्थित है । इस हेतु इसका
 लोक अग्नि है ऐसा कहा गया है ।

मनोज्योति—अब स्थान हुआ तब उसमें प्रकाश भी होना आवश्यक प्रतीत
 होता है । अतः कहते हैं कि मन ही इस का प्रकाश है । क्योंकि सब इन्द्रिय
 सब अज्ञावयव अच्छे हैं । परन्तु यदि मन न हो तो वह शरीर किसी काम का
 नहीं रहता । मन के बिगड़ने से ही पागल हो जाता है मन के अच्छे रहने से ही
 जगत् में पूज्य मान्य विद्वान् विद्वानी सब कुछ हो सकता है । इस हेतु शरीर का
 मन ही ज्योति है ॥

सर्वस्य आत्मना परायणम्—आत्मा अनेक ही इस हेतु सर्वशब्द का प्रयोग
 है । आत्मा एक प्रकार की जाति है इस हेतु एक वचन का प्रयोग है । सन आत्मा
 का यह स्थूल शरीर “परायण” है (पर=उत्पृष्ट) अभय गृह, शरण, गमनस्थान,
 गमन आदि अर्थ होते हैं । जीवात्मा इस शरीर में रहता है, इस हेतु यह शरीर
 आत्मा का उत्तम स्थान कहिये, उत्तम आश्रय कहिये, शरीर कहिये सब अर्थ घट
 सकता है । “अमृतम्” इस स्थूल शरीर का कारण क्या है । “अमृत” जल कारण
 है अर्थात् रज और वीर्य को यहा अमृत कहा है । इसमें सन्देह नहीं जिससे उत्तम
 शरीर धन जाता है उसे “अमृत” ही कहना उचित है । देवता शब्द का अर्थ इस
 प्रकरण में कारण होता है । यह “पुरुष” शब्द का अर्थ स्वरूप वस्तु पदार्थ
 आकार है जैसे शरीरपुरुष=शरीरस्वरूप वा शरीररूप जो वस्तु वा पदार्थ वा आकार
 और जैसे धर्मपुरुष पापपुरुष जलपुरुष प्राणपुरुष इत्यादि प्रयोग उपचार से होते
 हैं । यहाँ पुरुष शब्द का अर्थ पदार्थ है जलपुरुष अर्थात् जलरूप जो पदार्थ है ।
 इत्यादि भाव जानना ॥ १० ॥

काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं
पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञ-
वल्क्य वेद वा अहं ते पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ
य एवायं काममयः पुरुषः स एव वदैव शाकल्य तस्य का
देवतेति स्मिन्नय इति होवाच ॥ ११ ॥ ❀

अनुवाद—जिस पुरुष का काम ही आयतन है । हृदय ही लोक है । मन
ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है । उस पुरुष को जो निश्चयरूप
से जाने । हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय, वही ज्ञानी है । याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—
जिसको आप सब जीवात्मा का परायण करते हैं । मैं उस पुरुष को जानता हूँ ।
इस में सन्देह नहीं जो यह काममय पुरुष है वही यह है । हे शाकल्य ! पूछते ही
जाओ । तब पुनः शाकल्य पूछते हैं उसका देवता (कारण) कौन है । याज्ञव-
ल्क्य०—स्त्रियां (अर्घ्यान् स्त्रियां उमना कारण हैं) ॥ ११ ॥

पदार्थ—(काम) विधिपूर्वक गृहाश्रम के अवलम्बन से दाम्पत्यभाव सम्ब-
न्धी जो परमप्रीति है उसको काम कहते हैं (यस्य) जिस पदार्थ का (कामः+
एव+आयतनम्) काम ही शरीर है (हृदयम्+लोकः) हृदय देरने का साधन
या रहने की जगह है (मनः+ज्योतिः) मन ही प्रकाश है । और जो (सर्वस्य+
आत्मनः+परायणम्) सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्) उस पुरुष
को (यः+वै+विद्यात्) जो अच्छे प्रकार जाने (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य
(सः+वै+वेदिता+स्यात्) वही ज्ञानी हो सकता है । यदि आप उसको जानते हैं
तो आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा । शाकल्य की यह बात सुन याज्ञवल्क्य
कहते हैं (तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (अहम्+वेद) मैं जानता हूँ (यम्) जिस
को हे शाकल्य (त्वम्) आप (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) सब जीवात्मा का

❀ कामएव-यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो० य एवासौ चन्द्रे पुरुषः स
एव वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मन इति होवाच ॥ १४ ॥ शतपथकाण्ड
१४ । अध्याय ६ । ब्राह्मण ६ । १४ ॥

उत्तम आश्रय है और पूर्वोक्त गुणविशिष्ट (आत्मा) कहते हैं (य+अयम्) जो यह (काममय+पुरुषः) कामस्वरूप पुरुष=पदार्थ है (ता+एव+एषः) वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं वह काममय पदार्थ है । मैं इसको अन्धे प्रकार जानता हूँ । शास्त्र के प्रश्न का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं (शास्त्रं) हे शास्त्र ! (वद+एव) क्यों आप चुप होते हैं पूछते ही जाय । यह सुनकर शास्त्र पूछते हैं (तस्य+वा+दे-
धता) उस काम की उत्पत्ति का कारण कौन है (इति) यह मेरा प्रश्न है (ह+
ववाच) याज्ञवल्क्य ने कहा कि (क्षिय+इति) हे शास्त्र काम का कारण क्षिया
है । क्योंकि स्त्री ही प्रीति का परम स्थान है । दुर्हों से परम प्रीति की उत्पत्ति होती है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—काम इति । मिथिना गार्हस्थ्यधर्मावलम्बनेन दाम्पत्यविषयिका
या परमा प्रीतिः स कामः । यस्यायतनं शरीरं काम एवास्ति । हृदयं बुद्धिः ।
लोकं लोकरूपति पश्यत्यनेनेति लोक आलोको दर्शनसाधनं हृदयेनैव सर्वो ज-
नस्ते कामं पश्यति । यद्वा लोकः स्थानम् । कामः क तिष्ठति । हृदगे प्रीतिः
हृदये तिष्ठति । अतो हृदयं लोक इति । स च काममयः पुरुषः मनसि पुनः
पुनर्व्यतिः सन् उद्दीप्यते । अतस्तस्य कामस्य मनोज्योतिरुद्दीपनसाधनम् ।
समाधत्ते—यस्य काम एव आयतनमित्यादि । स काममयः पुरुषोऽस्ति ।
प्रचुरकामः काममयः । स पुरुषः काम एवास्ति । तस्य काममयस्य पुरुषस्य
का देवता क्रिमुत्पत्तिकारणमिति शास्त्रेणाभिहित इतरः समाधत्ते । स्त्रिय इति
परमायाः प्रीतेः कारणं स्त्रिय एव भवन्ति । ताम्यो हि प्रीत्युत्पत्तिदर्शनाल्लोके ।
अन्यद् व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

भाष्याशय—शास्त्र पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! क्या आप उस पदार्थ
को जानते हैं जिसका आयतन काम है । रहने की जगह हृदय है जिसके मन+स्व-
रूप प्रकाश है और जो सब जीवात्मा का शरण है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मैं
उस पदार्थ को जानता हूँ वह “ कामस्वरूप ” पदार्थ है क्योंकि काम का शरीर
अर्थात् मग्न्य काम ही है । मिथिपूर्वक गृहाश्रम को अवलम्बन कर दाम्पत्य विषय
की जो परमप्रीति है उसका नाम काम है । वह प्रीति हृदय देहा में रहती है इस

हेतु इसका “मन ही ज्योति” है इसी हेतु काम को “मनोज” या “मनसिज” कहते हैं । और इसको सब ही जीवात्मा चाहते हैं चौंटी से लेकर ज्ञानी पर्यन्त इसके भरा है । अतः सब आत्मा का यह “परायण” भी है । यह दाम्पत्य संयोग मित्राप से उत्पन्न होता है इस हेतु इसका कारण कियों हैं ॥ ११ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥ *

अनुवाद—जिस पुरुष का रूप ही आयतन, चक्षु ही लोक, मन ही ज्योति है और जो सब जीव का उत्तम आश्रय है ऐसे पुरुष को जो निश्चितरूप से जाने । हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय वही ज्ञानी हो सकता है । याज्ञ० समा०—जिसको आप सब जीव का आश्रय कहते हैं उस पुरुष को मैं जानता हूँ । इसमें सन्देह नहीं आदित्य में जो यह शक्ति है वही यह है । हे शाकल्य ! आप पूछते ही जायें । शाकल्य—उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है । याज्ञ०—सत्य ॥ १२ ॥

पदार्थ—(यस्य) जिस पुरुष का (रूपाणि+एव) शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र ये सात रूप हैं । ये ही सात रूप (आयतनम्) शरीर=आश्रय है (चक्षुः+लोकः) नेत्र ही ठहरने की जगह है (मनः+ज्योतिः) मन ही प्रकारा है और (सर्वस्य+आत्मन+परायणम्) सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (यः+वै+विद्यात्) जो अच्छे प्रकार जाने (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (सः+वै+वेदिता+स्यात्) वही ज्ञानी हो सकता है । यदि आप उसके जानते हैं तो आप ही ज्ञानी और सर्वत्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा शाकल्य की यह बात सुन याज्ञ० कह०—(तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (अहम्+

* रूपाण्यैव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं

वेद) में जानता हूं (यम्) जिसको हूं शाक्त्य ! (त्वम्) आप (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) सत्र जीवात्मा का उत्तम आश्रय है और पूर्वोक्त गुणविराट् (आत्मा) कहते हैं (य.+अयम्) जो यह (आदित्ये+पुरुषः) आदित्य=सूर्य में जो शक्ति है अर्थात् सूर्यरूपपदार्थ यद्वा आदित्य शब्द का अर्थ नेत्र है । नेत्र रूप जो पदार्थ है (सः+गव+एषः) वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं यह आदित्यस्वरूप पुरुष य नेत्रस्वरूप पदार्थ है मैं उसको अच्छे प्रकार जानता हूँ । शाक्त्य के भ्रम का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये या-
 "आदित्य मेरणा करते हैं (शाक्त्य) हे शाक्त्य ! (यद+एष) क्यों आप चुप होते हैं । पूछते ही जाय । यह सुन शा० पू० (सत्य का देवता) उस रूप की वरति का कारण कौन है (इति) यह मेरा भ्रम है (ह+उवाच) याज्ञनल्क्य ने कहा कि (सत्यम् इति) सत्य=ब्रह्म है । क्योंकि ब्रह्म से ही सत्र की उत्पत्ति मानी गई है सत्य का अर्थ चक्षु भी होता है ॥ १२ ॥

माव्यम्-यस्य पुरुषस्य रूपाणि शुक्ल नील पीत नङ्ग हरित कपिश चित्राणि सप्त आयतनमाश्रयः । चक्षुर्लोकः स्थानम् । मनोज्योतिरित्यादिपूर्ववत् । आदित्ये पुरुषः आदित्यशक्तिः आदित्यस्वरूपः पदार्थः । यद्वा आदित्योपलक्षित चक्षुः पुरुषः आदित्यपुरुषेणाभिधीयते । तस्य का देवसेति तदुत्पत्तिकारणं पृच्छति । सत्यमिति समाधानम् । सत्यं ब्रह्म । आदित्यपुरुषकारणं ब्रह्मैवास्ति । ब्रह्मावेक्षणतः सर्वोत्पत्तिसमाप्तात् स्वयंतएव सर्वाणि शुक्लादीनि रूपाणि जायन्ते । अतः सूर्यपुरुषस्य रूपाययायतनम् । सूर्यप्रकाशानुग्रहीतमेव चक्षुः स्वविषयं विषयीकरोति । इत्येते हि चक्षुर्गतिव्याप्तौ रात्रावादित्यरहितायाम् । प्राणिना शरीरमध्ये च चक्षुषि विशेषतया सूर्याऽऽलोकग्रहणस्थानम् । अतश्चक्षुर्लोकः । लोक इह स्थानम् । मनसा विनेन्द्रियाणामकिञ्चित्करत्वात् सर्वत्र मनोज्योतिर्विचक्षितम् । शेषं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

विद्यात्मर्षस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्यादाज्ञानन्वय वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्य य एवासावादित्ये पुरुषः स एव वदैव शाक्त्य तस्य का देवसेति चक्षुरिति होवाच ॥ १२ ॥ शत० का० ४ । ब्र० ६ । ब्रा० ७ ॥

भाष्याशय—शाकल्य पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! उस पदार्थ को क्या आप जानते हैं जिसका आयतन रूप है । रहने की जगह चक्षु है । मन ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मैं उसको जानता हूँ, वह आदित्यस्वरूप पदार्थ है (यहाँ आदित्य का अर्थ नेत्र भी है) इस हेतु “सूर्यस्वरूप च नेत्ररूप पदार्थ” दोनों अर्थ होंगे, क्योंकि शुक्ल पीत आदि ही इसके रूप हैं । जैसे सूर्य में सात रूप हैं वैसे नेत्र में भी सात ही रूप हैं । जो नेत्रेन्द्रिय गोलक है वही इसके रहने की जगह है । इस हेतु चक्षु इसका लोक है । मन से सत्य का सम्बन्ध है । अतः मन ज्योति है । इसकी उत्पत्ति का कारण सत्य है । देखने से सत्यासत्य का विचार होता है । सत्य के लिये ही इसकी उत्पत्ति है । इसका सत्य ही कारण है सत्य का चक्षु होता है । सूर्यपक्ष में जो सगति है सूर्य की उत्पत्ति विशेषतया नेत्र के लिये है । इस हेतु सूर्य की उत्पत्ति का कारण नेत्र है । इसी हेतु उपनिषदों में चक्षुनिमित्त सूर्य की उत्पत्ति मानी गई है ॥ १२ ॥

**आकाश एव यस्याऽऽयतनं ओत्रं लोको मनो ज्यो-
तिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता
स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परा-
यणं यमास्थ य एवायं ओत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एव
वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥१३॥***

अनुवाद—जिस (पदार्थ) का आकाश ही आयतन ओत्र लोक और मन ज्योति है । और जो सब जीवात्मा का परायण है । हे याज्ञवल्क्य ! जो निश्चितरूप से उस पदार्थ को जानता है । निश्चय, वही ज्ञानी हो सक्ता है । याज्ञवल्क्य समाधान कर०—मैं उस पदार्थ को जानता हूँ जिसको आप सब जीव का परायण कहते हैं । हे शाकल्य ! जो वह औत्र प्रातिश्रुत्क पदार्थ है वही यह है । हे शाकल्य ! आप प्रश्न पूछते ही चले । शा० पू०—उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है ? याज्ञ० स०—दिशाएँ ॥ १३ ॥

* आकाश एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो • • य एवायं पुरुषः पुरुषः स एव वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्राण इति होवाच ॥ १३ ॥ शत० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ६ ॥ १३ ॥

पदार्थ—(यस्य+आकाश+एव+आयतनम्+श्रोत्रम्+लोक+मन+ज्योतिः) जिस पदार्थ का आकाश ही शरीर वा परमाश्रय है । क्यों—गोचक ही ठहरने की जगह है । मन ही प्रकाश है । और जो (सर्वस्य+आत्मन+परायणम्+तत्+पुरुषम्+य+चै+विद्यात्) सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है । उस पुरुष को जो अच्छे प्रकार जाने (याज्ञवल्क्य+स+चै+वेदिता+स्यात्) है याज्ञवल्क्य ' वही शानी हो सकता है । यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही जानी और सर्वभेद हैं । ऐसा मैं मानूँगा । शास्त्र की यह बात सुन याज्ञ० कह०—(तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद+यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मन+परायणम्) उस पुरुष को मैं जानता हूँ जिसको है शास्त्र ' आप सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्त-गुणविशिष्ट (अत्य+य+अयम्+भौ+प्रातिश्रुत्क) कहते हैं जो यह कर्णाद्रव प्रतिध्वन्यात्मक (पुरुषः) पदार्थ है जिसको आप पूछते हैं । प्रश्न (तस्य+भा+देवता+इति) उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है ? समाधान (ह+उवाच+विश+इति) याज्ञवल्क्य ने कहा कि निराण हैं ॥ १३ ॥

भाष्यम्—आकाश इति । श्रोत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः=शब्दः पुरुषः शब्दो शक्तिः । श्रोत्रे भवः श्रोत्रः । तत्रापि प्रातिश्रुत्कः प्रतिश्रुत्प्रतिश्रवणम् प्रतिध्वनिः तत्र भवः प्रातिश्रुत्कः । यद्यपि शब्दः श्रोत्रे जायते तथापि विशेष-तया प्रतिश्रवणममये तस्य विस्पष्टतया प्रत्यक्षता भवति । अतः प्रातिश्रुत्कः । तत्स्रोतस्यकारणं दिगः । शब्द आकाशे तिष्ठति अतः शब्दपुरुषस्याकाश-आयतम् प्राणिनः श्रोत्राभ्यां शब्दं शृण्वन्ति । अतः शब्दस्य श्रोत्रं लोकः लोकः स्थानम् । प्रथमं दिक्षु शब्दः प्रसरति ततः कूर्चमायाति अतो दिगुत्पत्ति-कारणमिति संगतिः । शेषं पूर्ववत् ॥ १३ ॥

भाष्याशय—शास्त्र पूछते हैं कि जिस पदार्थ का यह शरीर तो आकाश हो और श्रोत्र ठहरने की जगह हो, मन ज्योति हो, है याज्ञवल्क्य ' यह कौन पदार्थ है । समाधान—यह प्रतिध्वन्यात्मक शब्द है । जो कान में उत्पन्न होता है । क्योंकि शब्द का आश्रय महान् आकाश कहा है । जब शब्द उत्पन्न होता है तो ध्वनि के द्वारा ही अनुभव होता है । अतः क्यों ठहरने की जगह है इत्यादि ॥ १३ ॥

तम एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो

वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदितास्या-
याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं
यमात्थ य एवायं ध्यायामयः पुरुषः सः एष वेदैव शाकल्य
तस्य का देवतेति मृत्युरीति होवाच ॥ १४ ॥ *

अनुवाद—जिस (पदार्थ) का तम ही आयतन, हृदय लोक, मन ज्योति
है और जो सब जीवात्मा का परायण है । उस पुरुष को जो निश्चितरूप से
जाने, हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय, वही ज्ञानी हो सकता है । याज्ञ० कह०—जिसको
आप सब आत्मा का परायण कहते हैं मैं उस पुरुष (पदार्थ) को जानता हूँ ।
इसमें सन्देह नहीं । जो यह ध्यायामय पुरुष है वही यह है, हे शाकल्य !
आप पूछते ही चलों । शाकल्य पूछते हैं—उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है ?
याज्ञ० समा०—मृत्यु ॥ १४ ॥

पदार्थ—(तमः+एत+यस्य+आयतनम्+हृदयम्+लोकः+मनः+ज्योति.)
जिसका अन्धकार ही शरीर है, हृदय देश ही रहने की जगह है, मन ही प्रकाश
है । और (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+तम्+पुरुषम्+यः+विद्यान्+सः+वै+
वेदिता+स्यान्) सब जीव का आश्रय है उस पदार्थ को जो जान सके । निश्चयरूप
से उसको जो जानता है वही ज्ञानी हो सकता है । यदि आप उसको जानते हैं तो
आप ही ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा । शाकल्य की यह बात सुन याज्ञ-
वल्क्य कहते हैं (तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद+यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+
आत्थ) उस पुरुष को मैं जानता हूँ जिसको हे शाकल्य ! आप सब जीवात्मा
का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्तगुणविशिष्ट कहते हैं (य. + अयम्+ध्यायामयः+पुरुषः+
सः+एव+एषः) जो यह ध्यायामय=ध्याया पदार्थ है वही यह है अर्थात् जिसके विषय
में आप पूछते हैं मैं इसको अच्छे प्रकार जानता हूँ । शाकल्य के प्रश्न का समाधान
करके उसमें पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं । (शाकल्य+वेद+एव)

* तम एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनः ० ० य एवायं ध्यायामयः
पुरुषः स एव वेदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १६ ॥
शतपथ काण्ड १४ । अध्याय ६ । ब्राह्मण ६ ॥ १६ ॥

हे शास्त्र्ये 'क्यों आप चुप हैंते हैं' पूछते ही आर्थ यह मुन शास्त्र्य पूछते हैं ।
(तस्य+वा+देवता+मति+ह+उवाच+मृत्यु) उस तम की उत्पत्ति का कारण कौन
है यह मेरा प्रश्न है याज्ञवल्क्य ने कहा कि मरण-त्रास ही उत्पत्ति का कारण है ॥१४॥

भाष्यम्—तम इति । तमः लोके दर्शनशक्त्यसंशयकं प्रकाशमिदं रात्र्यादि
समये उत्पत्तिमत्तम उच्यते । एवमेव विद्यासंशयकं ज्ञानमिदं मूर्खत्वाद्यवस्थाया-
मुत्पत्तिमदज्ञानमपि तमःशब्दवाच्यम् । छायाभयः छादयति आच्छादयति
आवृणोति आलोकमज्ञानम्या सा छाया । प्रचुराच्छायेति छायाभयः छाया-
स्वरूपः । पुरुषः शक्तिः । छायाज्ञानम् । अस्याज्ञानमयस्य पुरुषस्य । तमः
शरीरम् । अज्ञानस्याऽज्ञानमेव शरीरमस्ति । यथा कामस्य शरीरं काम उक्रस्त-
यैवात्रापि नान्या वरूपना । इदमज्ञानमपि हृदये युद्धौ एव तिष्ठति । अतोऽस्य
हृदयं लोकः स्थानम् । अम्योत्पत्तिकारणं किम् ? मृत्युः मरणं त्रासः । मर-
णत्रासएव जनान् व्याकुलयति ॥ १४ ॥

भाष्याशय—तमः—लोक में दर्शनशक्ति के अवरोधक, प्रकाश से भिन्न और
रात्र्यादि समय में उत्पन्न होनेवाली वस्तु को तम कहते हैं । इसी का दूसरा नाम
“अन्धकार” है । इसी प्रकार विद्या का अवरोधक, ज्ञान से भिन्न और मूर्खत्वादि
अवस्था में जिसरी उत्पत्ति हो उसे भी तम कहते हैं अर्थात् अज्ञान ॥

मुन शास्त्र्य पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! जिस पदार्थ का तम ही शरीर हो,
हृदय ही स्थान हो, मन ही आलोक हो और जो मन आत्मा का परायेण (स्वभाव)
हो वह कौन पदार्थ है क्यों आप उसको जानते हैं । यदि जानते हैं तो आप अ-
वश्य ज्ञानी हैं यदि नहीं जानते हैं तो आपका वृथा अहङ्कार है । याज्ञवल्क्य कहते
हैं कि यदि इसी पुरुष के जानने से कोई विद्वान् समझा जाय तो मैं उसको जानता
हूँ । यह छायाभय पुरुष है अर्थात् “छाया” है । जो बुद्धि को छा लेवे आच्छा-
दन करले उसे छाया कहते हैं । जैसे लोक में छाया का शरीर तम=अन्धकार
है वैसे ही बुद्धि को आवरण करनेवाली जो एक शक्ति है उसका स्वरूप क्या है ?
अज्ञान, इसी को तम कहते हैं । इसका निवासस्थान कौन है ? हृदय । क्योंकि
हृदय से ही इसका भी ज्ञान होता है । या हृदय में ही इस का भी पास है । इस
अज्ञान का भी प्रकाशक मन है । और यह अज्ञान सन आत्मा का स्वभाव है । यदि

अज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं तो वो कहां से आवे । इसकी उत्पत्ति का कारण मृत्यु है । मृत्यु=मरणवास । इसका भाव अनेक हो सकता है । बुद्धि की आवरण शक्ति जो छाया है उसकी उत्पत्ति का कारण “मृत्यु” कहा जाता । लोक में देखो किसी के घर्मपुस्तक में लिखा है कि आचार्य ने सद्धर्म वर्ष की हठी से उसी आदमी को (जिस की वह हठी है) जिला दिया अब यदि इस बात को तुम नहीं मानोगे तो उस सम्प्रदाय के लोग तुम्हें मार डालेंगे इस हेतु इस मरण के भय से इसको मान रहे हो । तो कहो, उस छाया का कारण मृत्यु हुआ न । अथवा तुम्हें जाति से निकाल बाहर करेंगे । और जाति ने पृथक् होने को मूर्ख लोग मरणसमान समझते हैं । इस हेतु उस अज्ञान का कारण क्या हुआ । मरण ही न । जिनमें सत्यता की प्रबल शक्ति आई वे मूर्खों के हाथों से हजारों मारे गये हैं और पुनः पीछे उसकी पूजा करने लगे, वा महात्मा समझने लगे । ईसा मारे गये, मुहम्मद को लबाई करनी पड़ी । सौक्रेटीज को विष दिया गया । रामानुज को बड़ी बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ी है । दयानन्द को विष दिया गया । लेखराम को एक मुसलमान ने छुरी भोंक कर प्राण लिया, परन्तु जिनमें मल्लता का साहस नहीं वे मरण त्रास से बुद्धि को मलीन कर रहे हैं इस प्रकार देखेंगे तो लाखों कोटियों मनुष्यों ने इसी त्रास से अपनी बुद्धिके ऊपर अज्ञानरूपी महती छाया डाल रखी है ।

अब विचारो कि ईश्वर की सृष्टि में जितने पदार्थ हैं वे प्रयोजनवान् हैं । अब कोई पूछे कि छाया का वा अन्धकार का क्या प्रयोजन है । मृत्यु ही इसका प्रयोजन कहा जायगा ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै
तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्या-
ज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं य-
मात्थ य एवायमादर्शं पुरुषः स एष वदेव शाकल्य तस्य
का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥ १५ ॥ *

* रूपाण्येव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोकोमनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्या-

अनुवाद—जिस पदार्थ का रूप ही आयतन है । हृदय लोक है । मन ज्योति है । और जो सब जीवात्मा का परायण है । उस पुरुष को जो निश्चितरूप से जाने, हे याज्ञवल्क्य 'निश्चय वही ज्ञानी है, याज्ञवल्क्य समा०—जिसको आप जीवात्मा का परायण कहते हैं मैं उस पुरुष को जानता हूँ, इसमें सन्देह नहीं आदर्श में जो यह पुरुष है वही यह है । हे शाकल्य पूछते ही जाओ । तब पुनः शाकल्य पूछते हैं—उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है । याज्ञवल्क्य—उत्पत्ति का कारण प्राण है ॥ १५ ॥

पदार्थ—(यस्य+रूपाणि+आयतनम्+चक्षुः+लोकः+ज्योतिः+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) जिस पदार्थ का रूप ही शरीर है, नेत्र लोक ही रहने की जगह है । मन ही प्रकाश है और सब जीव का आश्रय है (तम्+पुरुषम्+यः+विद्याम्+स+वै+वेदिता+भ्यात्) उस पदार्थ को जो जान सके, निश्चितरूप से उसको जो जानता है वही ज्ञानी हो सकता है, शाकल्य की यह बात सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं (तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद) उस पुरुष को मैं जानता हूँ (यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+आत्थ) जिसको हे शाकल्य ! आप सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय पूर्वोक्तगुणविशिष्ट कहते हैं (यः+अयम्+आदर्शो+पुरुषः+सः+एव+एषः) जो यह आदर्श में पुरुष=पदार्थ है वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं वही आदर्शमय पदार्थ है । मैं इसको अच्छे प्रकार जानता हूँ । शाकल्य के प्रश्न का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं । (शाकल्य+अद+एव) हे शाकल्य ! आप चुप क्यों होते हैं पूछते ही जायें । यह सुन शाकल्य (तस्य+क्रा+देवता+इति+ह+उवाच+असुः+इति) उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है यह गेग प्रश्न है । याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्राण ही है ॥ १५ ॥

भाष्यम्—रूपाणि भास्वराणि शुक्लादीनि । आदर्शः आसमन्ताद् दृश्यते प्रतिविम्बोऽनेन ॥ आदर्शः प्रतिविम्बाधारे पदार्थः । तस्योत्पादकः असुः प्राणः वायुः । अन्यद् गतार्थम् ॥ १५ ॥

सर्वस्थात्मनः परायण स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्थाऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एनासामादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति चक्षुरिति होवाच ॥ श्रुत० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ६ । १२ ॥

आप एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो
वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता
स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं
यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य
का देवतेति वरुण इति होवाच ॥ १६ ॥ *

अनुवाद—जिस (पदार्थ) का आप (जल) ही आयतन है, हृदय ही
लोक है मन ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है । उस पदार्थ को जो
निश्चितरूप से जाने हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय वही ज्ञानी हैं । याज्ञवल्क्य समाधान
करते हैं । जिसको आप सब जीवात्मा का परायण कहते हैं मैं उस पदार्थ को
जानता हूं इसमें सन्देह नहीं जो ये जल में पदार्थ हैं वही यह है । हे शाकल्य !
पूछते ही जाओ तब पुनः शाकल्य पूछते हैं उसका कारण कौन है ? याज्ञवल्क्य
समा०—वरुण अर्थात् जल ही कारण है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(यस्य+आपः+आयतनम्+हृदयम्+लोकः+मनः+ज्योतिः+सर्वस्य+
आत्मनः+परायणम्) जिस पदार्थ का जल ही शरीर है हृदय ही रहने की जगह है
मन ही प्रकाश है और जो सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्+यः+
वै+विद्यात्+याज्ञवल्क्य+स+वै+वेदिता+स्यात्) उस पुरुष को जो अच्छे प्रकार जाने
हे याज्ञवल्क्य ! वही ज्ञानी हो सकता है । यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही
ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूँगा । शाकल्य की यह बात सुन याज्ञवल्क्य क-
हते हैं—(तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद+यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+आत्थ+
यः+अयम्+अप्सु+पुरुषः+सः+एव+एष) उस पुरुष को मैं जानता हूं जिसको हे
शाकल्य ! आप सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्तगुणविशिष्ट कहते हैं ।
जो यह जलीय पदार्थ है वही यह है अर्थात् जिस के विषय में आप पूछते हैं वही

* आप एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो • • य एवायमप्सु पुरुषः
स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥ १७ ॥ श्रुतपथं
काण्ड १४ । अध्याय ६ । ब्राह्मण ६ । १७ ॥

जलमय पदार्थ है । मैं इस को अच्छे प्रकार जानता हू । शाक्त्य के प्रभ का समाधान करके उस से पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं । (शाक्त्य+यद+एव) हे शाक्त्य क्यों आप घुप होते हैं पूछते ही जाय । यह सुन शाक्त्य पू० (तस्य+वा+देयता+इति+ह+उवाच+वरुण+इति) उस की उत्पत्ति का कारण कौन है यह मेरा प्रभ है । याज्ञ० कहा कि वरुण ही उस की उत्पत्ति का कारण है ॥ १६ ॥

रेत एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाक्त्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १७ ॥ *

अनुवाद—रेत ही जिसका आयतन है, हृदय ही लोक है, मन ज्योति है । और जो सब जीवात्मा का परायण है उस पदार्थ को जो निश्चितरूप से जाने । हे याज्ञवल्क्य । निश्चय वही ज्ञानी है । याज्ञ० समा०—जिसको आप सब जीवात्मा का परायण कहते हैं मैं उस पुरुष को जानता हू । इस में सन्देह नहीं जो यह पुनमय पदार्थ है वही यह है । हे शाक्त्य । पूछते ही जायो तब पुनः शाक्त्य पू०—उसका कारण कौन है । याज्ञव०—प्रजापति ॥ १७ ॥

पदार्थ—(यस्य+रेतः+एव+आयतनम्+हृदयम्+लोकः+मनः+ज्योतिः+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) जिस पदार्थ का रेत ही शरीर है । हृदय देखने का साधन है वा रहने की जगह है । मन ही प्रकारा है और जो सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्+य+वै+विद्यात्+याज्ञवल्क्य+सः+वै+वेदिता+स्यात्) उस पुरुष को जो अच्छे प्रकार जाने हे याज्ञवल्क्य । वही ज्ञानी हो सकता है । यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा । शाक्त्य की

* रेत एव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोकोमनो ० ० य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाक्त्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १८ ॥ शत० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ६ ॥

यह बात सुन याज्ञ० क०—(तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद) उस पदार्थ को मैं जानता हूँ (यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+आत्थ+यः+अयम्+पुत्रमयः+पुरुषः+सः+एव+एषः) जिस को हे शाकल्य आप सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्तगुण विशिष्ट कहते हैं । जो यह पुत्रमय पदार्थ है वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं वही पुत्रमय पदार्थ है । मैं इसको अच्छे प्रकार जानता हूँ । शाकल्य के प्रश्न का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं (शाकल्य+वद+एव) हे शाकल्य ! क्यों आप चुप होते हैं पूछते ही जायं । यह सुन शाकल्य पू०—(तस्य+का+देवता+इति+ह+उवाच+प्रजापतिः) उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है यह मेरा प्रश्न है । याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्रजापति ही उसकी उत्पत्ति का कारण है ॥ १७ ॥

**शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ब्राह्मणा
अङ्गारावक्ष्यणमकृता इति ॥ १८ ॥**

अनुवाद—याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शाकल्य ! निश्चय ही, आपको इन ब्रह्मवादियों ने “अङ्गारावक्ष्यण” बनाया है ॥ १८ ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्यः+ह+उवाच+शाकल्य+इति+इमे+ब्राह्मणाः+स्विन्+त्वाम्+अङ्गारावक्ष्यणम्+अकृता) याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शाकल्य ! इन ब्रह्मवादियों ने निश्चय ही आप को अग्न्याधार अंगेठी बनाया है । अङ्गारावक्ष्यण=जलते हुए लएड लएड पदार्थ का नाम अङ्गार है । जिस में अग्नि जलाया जाय उस वर्तन का नाम “अङ्गारावक्ष्यण” है । यहां तात्पर्य यह है कि हास्यरूप से शाकल्य को कोपित करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे शाकल्य ! इन ब्राह्मणों ने मुझ को अङ्गारस्थानीय और आपको अग्न्याधार स्थानीय पात्र बनाया है । मेरे उत्तर-रूप वचन आपको भस्म कर रहे हैं, उसको आप नहीं जानते हैं ॥ १८ ॥

भाष्यम्—शाकल्येति । याज्ञवल्क्यः शाकल्यं हास्येन प्रकोपयन्निव भवति । तथाहि—स्विदिति वितर्कं । हे शाकल्य ! अहमित्यं वितर्कयामि । यदि मे कुरुपञ्चालानां समेताः ब्राह्मणा ब्रह्मनिष्ठाः । नूनं त्वाम् । अङ्गारावक्ष्य-

अमङ्गाराधारमिव अग्रसरम् । अकृत अकार्षुः । अङ्गारा ज्वलद्ग्निस्रविष्टाः पदार्थाः । तेऽप्यक्षीयन्ते विनश्यन्ति यस्मिन्पात्रे तदङ्गारावक्षयणम्, प्रायः शीतकाले यस्मिन्पात्रे वह्निं प्रज्जान्य सेवन्ते तत्पात्रमङ्गारावक्षयणम् । तस्मिन्निव प्रक्षिप्ता अङ्गाराः शनैः शनैरवक्षीयन्ते विनश्यन्ति । हे शाकल्य ! इमे ब्राह्मणाः मामङ्गारस्थानीयम् त्वान्तु तत्पात्राधारस्थानीयञ्च कृतवन्त इति निश्चयः । मम प्रतिवचनरूपा अङ्गारास्त्वां प्राप्य भस्मीकुर्वन्ति । त्वन्तु तन्न जानासि । अकृतेत्यत्र प्लुतिर्विचारार्था ॥ १८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चाक्षानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद स देवाः सप्रतिष्ठा इति यदिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

अनुवाद—शाकल्य ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! आपने कुरु और पञ्चाक्ष देशों के ब्राह्मणों को निरादर करके जो आपण किया सो क्या ब्रह्म को जानते हुए किया है । याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं देवसहित और प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानता हूँ । शाकल्य—यदि आप देवता और प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानते हैं तो (इस प्राची दिशा में कौन देवता है सो कहें, इत्यादि २० वें से सम्बन्ध है) ।

पदार्थ—(शाकल्य+इ+उवाच+याज्ञवल्क्य+इति+कुरुपञ्चाक्षानाम्+ब्राह्मणान्+यन्+इदम्+अत्यवादीः) शाकल्य ने कहा हे याज्ञवल्क्य ! कुरु और पञ्चाक्ष देशों के ब्रह्मवादी पुरुषों को जो यह अन्यादर करके आपने आपण किया है अर्थात् आपने जो अभी कहा है कि इन ब्राह्मणों ने स्वयं डरकर तुमको “अगारावक्षयण” बनाया है सो (किम्+ब्रह्म+विद्वान्+इति) क्या ब्रह्म को जानते हुए कहा है अर्थात् यदि आप ब्रह्मवेत्ता हैं और इस कारण आपने सच्चा निरादर किया है तब तो यह निरादर सत्य है । यदि ब्रह्म ज्ञान बिना हाँ आपने निरादर किया है तो सत्य नहीं है सो आप कहें कि क्या आप ब्रह्म जानते हैं, शाकल्य के इस अभिप्राय को जान निरभिमानी याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं ब्रह्म को तो नहीं जानता हूँ और ब्रह्मिष्ठ पुरुषों को बारंबार प्रमाण करता हूँ हाँ, मैं (दिश+वेद) पूर्व, दक्षिण, पश्चिमादि दिशाओं को अग्र्य जानता हूँ जिनको एक पामर भी जानता है । विशेष-

पता इतनी ही है कि (सदेवा + सप्रतिष्ठाः) देव और प्रतिष्ठासहित इन दिशाओं को मैं जानता हूँ । क्योंकि इन चारों दिशाओं में मैं भ्रमण करता हूँ इनको जानता हूँ । ब्रह्म को तो नहीं जानता । इसमें यदि आपको पूछना हो तो अवश्य पूछ लें । याज्ञवल्क्य के भाव को न समझ कर क्रोध में आकर शाकल्य पूछते हैं (यद् + सदेवाः + सप्रतिष्ठा + दिशः + वेत्य + अस्या + प्राच्याम्) यदि देवसहित प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानते हैं तो इस प्राची दिशा में कौन देव है सो कहें । इत्यादि उत्तरग्रन्थ से सम्बन्ध है ॥ १६ ॥

माध्यम्—याज्ञवल्क्येति । याज्ञवल्क्यस्य हितोपदेशमपि विपरीतार्थं मत्वा क्रुद्धः सन्नाह शाकल्यः । हे याज्ञवल्क्य ! कुरुपञ्चालानां देशानाम् । ब्राह्मणान् ब्रह्मिष्ठान् यदिदम् त्वमत्यवादीरतिक्रम्यावोचत् । एते स्वयं मत्तो मीता विवादेवा असमर्थाः सन्तः त्वामङ्गारावक्षययामिवाग्रसरं कृतवन्त इत्यनुपदमेव सर्वान् तिरस्कृत्य त्वं यदवोचः तत्किम् त्वं ब्रह्म विद्वान् सस्रग्वीः अयमाश्रयः । यदि त्वं ब्रह्म वेत्सि । एवं ब्रह्मवेदनगौरवेण ब्राह्मणान् प्रति यदि तवायमतिक्रमः तर्हि सोऽपि सोढव्यः । यदि अविदित्वैव ब्रह्म त्वं सर्वान् ब्रह्मवादिनोऽतिक्रामसि तर्हि न चन्तव्यम् । अहं मन्ये त्वं न ब्रह्म वेत्सि । अतस्त्वं ब्रह्म अविदित्वा इमानधिक्षिपसि । इयं तव मूर्खता । तत्कथय किं त्वं ब्रह्म वेत्सि ! । एवं शाकल्येनाभिहितोऽस्याभिप्रायश्च ज्ञात्वा याज्ञवल्क्य आह—हे शाकल्य ! नाहं ब्रह्म वेद्मि । ब्रह्मविद्भूयो भूयो नमस्कुर्वे । अहं तु केवलं दिशो जानामि । यास्तु पामरा इल्लिका अपि जानन्ति । देवैः प्रतिष्ठामिध साकं दिशोऽहं जानामि इयमेव विशेषता दिक्षु सदैव भ्रमामि अतो दिरूमात्रज्ञानन्तु वर्तते न ब्रह्मज्ञानम् । यदि तवात्र किमपि प्रष्टव्यमस्ति तर्हि पृच्छ । एवमुक्तः शाकल्यः सानुवादे पृच्छति । यद्यदि । त्वम् । सदेवाः सप्रतिष्ठा दिशः वेत्य जानासि तर्हि । “किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीति” कथयेत्पुत्ररेख ग्रन्थेन सम्बन्धः ॥ १६ ॥

किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु

रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपा-
णि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमे-
वैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २० ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस प्राची दिशा में कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य—आदि-
त्य । शाकल्य—वह आदित्य किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—चक्षु अर्थात् दर्शन
निमित्त । शाकल्य—वह चक्षु किस निमित्त (किसलिये) प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—
रूपों (शुक्ल पीत) के निमित्त । क्योंकि रूपों को चक्षु से ही देखता है । शाकल्य—वे
रूप किम निमित्त हैं ? याज्ञवल्क्य—हृदयस्य बुद्धि के निमित्त (ईश्वरीय विभूति का
मनुष्यों को बोध हो इस निमित्त) क्योंकि बुद्धि से ही रूपों को जानता है । क्योंकि
इस बुद्धि के निमित्त ही रूप प्रतिष्ठित होते हैं । शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य ! हा यह
ऐसा ही है ॥ २० ॥

पदार्थ—शाकल्य पूछते हैं (अस्याम्+प्राच्याम्+दिशि+विदेवत+असि+
इति) इस प्राची (पूर्व) दिशा में आप किस देवता बाले हैं अर्थात् आप पूर्व
दिशा में किस देवता को प्रधान मानते हैं यह मेरा प्रश्न है । याज्ञवल्क्य समाधान
करते हैं—(आदित्य+देवत+इति) इस प्राची दिशा में मैं सूर्यदेव बाला हूँ अर्थात्
इस दिशा में मैं सूर्य को प्रधान देव मानता हूँ । आगे शाकल्य “प्रतिष्ठा” पूछते हैं ।
सत्कार पूर्वक स्थापना का नाम प्रतिष्ठा है । जिसकी “प्रतिष्ठा” हुई है उसे प्रति-
ष्ठित कहते हैं अथवा उत्पत्तिप्रयोजन का नाम प्रतिष्ठा है । दोनों अर्थ आगे सर्वत्र
घटेंगे (स+आदित्य+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः+इति) वह आदित्य किस निमित्त=
किसलिये प्रतिष्ठित है अर्थात् जगत्कर्त्ता ईश्वर ने इस सूर्य को किस प्रयोजन के लिये
जगत् में स्थापित किया है । अथवा किस हेतु सूर्य की उत्पत्ति हुई है यह प्रश्न का
भाव है । समाधान—(चक्षुषि+इति) नेत्र के निमित्त अर्थात् दर्शननिमित्त अर्थात्
विशेष कर सूर्य की उत्पत्ति आँखों के निमित्त हुई है । अथवा सूर्य को भगवान् ने
जो प्रतिष्ठा दी है सो आँखों के लिये ही है अथवा भगवान् ने आदर पूर्वक जो सूर्य
को स्थापित किया है वह आँखों के लिये है । अथवा इस प्राणी के शरीर में सूर्य-
देव की आधिक प्रतिष्ठा कहा है ? तो नेत्र में है । इत्यादि प्रश्न और समाधान का

भाव जानना । आगे भी ऐसा ही है । प्रश्न—(कस्मिन्+नु+चक्षुः+प्रतिष्ठितम्) किस निमित्त चक्षु प्रतिष्ठित है नयन की उत्पत्ति किसलिये है । समाधान—(रूपेषु+इति+हि+चक्षुषा+रूपाणि+पश्यति) शुक्ल पीत आदि रूपों के बोध केलिये क्योंकि नेत्र से रूपों को सब देखते हैं । प्रश्न—(कस्मिन्+नु+रूपाणि+प्रतिष्ठितम्) किस निमित्त ईश्वर ने रूपों की प्रतिष्ठा की है । समाधान—(हृदये+इति) हृदयस्थ बुद्धि के निमित्त । परमेश्वर ने जो हम लोगों को बुद्धि दी है उसका भी तो कोई विषय (खुराक) होना चाहिये । ईश्वरीय विभूतियों पर विविध विचार करना ही इसका विषय है । अतः आगे इस प्रकरण में सर्वत्र अन्तिम समाधान “हृदय” ही है । हृदय नाम हृदयस्थ बुद्धि का है । इस के विषय (खुराक) के निमित्त रूपों की उत्पत्ति है यह समाधान है इसको स्वयं ऋषि विष्पष्ट कहते हैं । (हि+हृदयेन+रूपाणि+जानाति+हि+हृदये+एव+रूपाणि+प्रतिष्ठितानि+भवन्ति) क्योंकि हृदयस्थ बुद्धि से रूपों को जानता है जिस हेतु हृदय में ही शुक्लादि वर्ण प्रतिष्ठित होते हैं । नेत्र रूपकरण द्वारा बुद्धि में ही रूप का भी बोध होता है । याज्ञवल्क्य के समाधान को सुन शाकल्य स्वीकार करते हैं (याज्ञवल्क्य+एतद्+एवम्+एवः) हे याज्ञवल्क्य ! यह आपकी वस्तु ऐसी ही आप जैसा कहते हैं वैसी ही है । इसमें सन्देह नहीं ॥ २० ॥

भाष्यम्—किं देवत इति । हे याज्ञवल्क्य ! यदि त्वं सदेवाः सप्रतिष्ठा दिशो जानाति तर्हि कथय-अस्यां प्राच्यां दिशि । त्वं किं देवतोऽसि । का देवता यस्य सः किं देवतः । प्राच्यां दिशि त्वं कां देवतां मन्यसे । प्राच्यां दिशि का देवतेति प्रष्टव्ये “प्राच्यां दिशि किं देवतोऽसीति प्रश्नः प्रश्नविचित्रतां ध्वनयति । ऋषीणां विचित्रा हि ग्रन्थनप्रणाली । पाणिनीयव्याकरणे सन्त्यस्य बह्वन्मुदाहरणानि । केचिन् मुनेर्दिगुपासनात्तादात्म्यसम्पत्तिरिहैव जातेति बोधयितुमिति व्याचक्षते । तन्न मनोरमम् । न हि ब्रह्मवादिनो मुनयो ब्रह्मोपासनां विहाय दिशादीन् पदार्थानुपासते । प्रश्नानुरूपं समाधत्ते प्राच्यां दिशि । अहमादित्यदेवतोऽस्मि । आदित्यः सूर्यो देवता यस्य मम स आदित्यदेवतः । देव एव देवता । पूर्वस्यां दिशि । अहमादित्यं देवं प्रधानं मन्ये । प्रतिष्ठां पृच्छति—स आदित्यः कस्मिन् प्रयोजने प्रतिष्ठित इति ।

अग्रेऽपत्तिप्रयोजनं प्रतिष्ठा । सा संजाताऽस्येति । प्रतिष्ठितः “तारकादिभ्य इ-
तच्” कस्मै प्रयोजनाय स आदित्य उत्पादित इति प्रश्नस्य भावः । समाध-
त्ते-चक्षुषि इति । निमित्तार्थाऽत्र सप्तमी । चक्षुर्निमित्तं सूर्यस्य प्रतिष्ठास्ति ।
पृच्छति-कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति रूपदर्शननिमित्ताय । का-
रणमाह-सर्वः प्राणी चक्षुषा करणेन रूपाणि शुक्लादीनि पश्यति । कस्मिन्नु
रूपाणि प्रतिष्ठितानीति प्रश्नः । हृदये हृदिस्थायां बुद्धौ । रूपाणि प्रतिष्ठितानि
सन्तीति होवाच याज्ञवल्क्यः । कारणमाह-सर्वः जनो हि यतो हृदयेन रूपाणि
जानाति हि यतः हृदय एव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीति । याज्ञवल्क्यस्य
समाधानं ज्ञात्वा शाकन्यः स्वीकरोति । हे याज्ञवल्क्य ! एतद्वस्तु । एवमेव ।
मया ईदृशमेव वर्ततेऽप्येवं स्वीक्रियत इत्यर्थः ॥

यद्वैवं व्याख्यातव्यम् । सूर्यः कस्मिन्निमित्ते प्रतिष्ठितः । सत्कारपूर्वकं
स्थापनं प्रतिष्ठा सा जातास्येति प्रतिष्ठितः । ब्रह्मणा जगत्कर्त्रा कस्मै प्रयोजनाय
आदित्यः प्रतिष्ठितोऽस्ति । यद्वा । कस्मै प्रयोजनाय सूर्याय प्रतिष्ठा दत्ता ।
यद्वा कस्मै प्रयोजनाय अस्य सूर्यस्य जगति स्थापना कृता । इत्यादयः प्रश्न-
स्य भावाः । चक्षुर्निमित्ताय दर्शननिमित्ताय सूर्यस्य प्रतिष्ठा । यदि सूर्यो न
स्यात्तर्हि कः किं पश्येत् । यद्वा जीवानां शरीरमध्ये सूर्यस्य नयने विशेषा प्र-
तिष्ठाऽस्तीति अतो नयनप्रतिष्ठितो हि सूर्यः इति समाधानामिष्टायः । पुनः
कस्मिन्निमित्ते चक्षुः प्रतिष्ठितमिति प्रश्ने । शुक्लपीतादीनां रूपाणामवलोक-
नाय चक्षुः प्रतिष्ठितमिति साधनम् पुनः कस्मै प्रयोजनाय रूपाणां प्रतिष्ठेति
प्रश्ने । हृदयस्थबुद्धिनिमित्ताय ब्रह्मणः परमाया विभूतेर्विधाय रूपाणां प्रतिष्ठे-
ति भावः । यथैह शरीरस्य भोजन विविधा ओषधयः करणानां शब्दादयः ।
तथैव बुद्धेरपि केनापि विषयेण भाव्यम् । ईश्वरमृष्टेषु पदार्थेषु सोपपत्तिर्विचार-
णैव बुद्धेरपिपयः । अतो बुद्धिविषयायैव सर्वेषामुत्पत्तिरिति स्थितम् । अतः सर्वेषु
वक्ष्यमाणेषु पदार्थेषु हृदये इति समाधानम् । ॥ प्राप्तत्वाद्वृत्ताणि हृदय इति
समाधानम् । अग्रेऽप्येवमेव व्याख्यातव्यं सर्वत्र । समानं हि प्रकरणमेतौ विशेष-
मेव व्याख्यास्यामः । ग्रन्थसंकोचकरणाद् ॥ २० ॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति

स यमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः
प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठी-
तेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति
श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति
हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव
श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्यवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस दक्षिण दिशा में कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य—
अहोरात्रस्वरूप काल, शाकल्य—वह अहोरात्रस्वरूप किस निमित्त प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य—यज्ञ निमित्त । शाकल्य—वह यज्ञ किस निमित्त प्रतिष्ठित है । याज्ञ-
वल्क्य—दक्षिणा के निमित्त । शाकल्य—वह दक्षिणा किस निमित्त प्रतिष्ठित है,
याज्ञवल्क्य—श्रद्धा निमित्त । क्योंकि जब श्रद्धा करता है तब ही दक्षिणा देता है ।
क्योंकि श्रद्धा के ऊपर ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है । शाकल्य—वह श्रद्धा किस निमित्त
प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—हृदयस्य बुद्धि के निमित्त । क्योंकि बुद्धि ने ही श्रद्धा
को जानता है । क्योंकि बुद्धि के निमित्त ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है । शाकल्य—हे याज्ञ-
वल्क्य ! हाँ, यह ऐसा ही है ॥ २१ ॥

पदार्थ—शाकल्य पूछने हैं कि याज्ञवल्क्य ! (अस्याम्+दक्षिणायाम्+दिशि+
क्षिदेवताः+असि+इति) इस दक्षिण दिशा में किस देवता वाले आप हैं अर्थात् इस
दक्षिण दिशा में किस देवता को प्रधान मानते हैं यह मेरा प्रश्न है । समाधान—
(यमदेवः+इति) अहोरात्ररूप काल ही इसका प्रधान देव है । आगे प्रतिष्ठा पूछते
हैं—(सः+यमः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः) वह अहोरात्ररूप काल किस निमित्त प्रतिष्ठित
है । (यज्ञे+इति+यज्ञः+कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठितः+इति+दक्षिणायाम्+इति) यज्ञ के
निमित्त । वह यज्ञ किस निमित्त प्रतिष्ठित है दक्षिणा के लिये (दक्षिणा+कस्मिन्+
नु+प्रतिष्ठिता+इति+श्रद्धायाम्+इति) वह दक्षिणा किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? श्रद्धा
के निमित्त (हि+यदा+एव+श्रद्धत्ते+अथ+दक्षिराम्+ददाति+हि+श्रद्धायाम्+एव+
दक्षिणा+प्रतिष्ठिता) क्योंकि जब ही श्रद्धा करता है तब दक्षिणा देता है । क्योंकि

अद्वा निमित्त ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है (अद्वा+अस्मिन्+नु+प्रतिष्ठिता+हृदये+इति+ह+उवाच) वह अद्वा किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? हृदय के निमित्त ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । हृदय निमित्त अद्वा है इस हेतु स्वयं देते हैं । (हि+हृदयेन+अद्वाम्+जानाति+दि+हृदये+एव+अद्वा+प्रतिष्ठिता+भवति) क्योंकि हृदय से अद्वा जानता है क्योंकि हृदय में ही अद्वा प्रतिष्ठित होती है । इस उचर को सुन कर शाकल्य कहते हैं (याज्ञवल्क्य+एतत्+एवम्+एव) है याज्ञवल्क्य यह ऐसा ही है ॥ २१ ॥

भाष्यम्—किंदेवत इति । पूर्ववदिदं प्रकरणम् । अतो विशेष एव व्याख्यायते । यमः अहोरात्ररूपः कालः । अथवा क्षयप्रलदण्डप्रहराहोरात्र पञ्चमासवर्षादिस्वरूपोऽखण्डकालः सूर्यहेतुना प्रतीयते । सः यमः । यज्ञोऽध्ययसायः । शुभकर्मापरपर्यायवाची । शुभकर्मानुष्ठानमिह यज्ञशब्देन व्यवहियते । अध्ययनमपि यज्ञः । कूपवाधादिकरणमपि यज्ञः । स च यज्ञः अहोरात्र एवानुष्ठियते । अतो यज्ञनिमित्ताय यमस्याहोरात्रस्योत्पत्तिः । स च यज्ञः । दक्षिणानिमित्ताय भवति । कर्तव्यकर्मयोग्यतानुसारेण फलप्रदानं दक्षिणा । विविधानि कर्माणि यज्ञे वा आचरन्ति । तदक्षिणाय । ईश्वरतः काचिदक्षिणा यजमानतो वा काचित् प्राप्यते । सा च दक्षिणा अद्वानिमित्ताय । सर्वे अद्वावन्तो भवेदुरिति ईश्वरेण यजमानेन वा दक्षिणा दीयते । सा च अद्वा हृदये प्रतिष्ठिता ॥ २ ॥

भाष्याशय—यम-पुराण में भी कहा गया है कि सूर्य का पुत्र यम है सूर्य के कारण से अहोरात्र रूप जो एक काल प्रतीत होता है वही सूर्य का पुत्र है दूसरा नहीं । और उसी अहोरात्र से पक्ष, मास, अध्ययन, वर्ष आदि बनते हैं । इस हेतु अहोरात्र स्वरूप ही पक्षादिक हैं । यह अहोरात्र रूप देवता किस निमित्त धनाया गया । हम प्रश्न का उत्तर क्या हो सकता है । निस्सन्देह यज्ञ ही इसका उत्तर है । जितने शुभ अध्ययसाय, व्यवहार, व्यापार, उद्योग हैं उन सबों का एक नाम “यज्ञ” है । अध्ययन, दान, वृक्षादिरोपण, कूप वापी आदिकों को करना करवाना आदि सब ही शुभ कर्म “यज्ञ” ही है । अब प्रश्न होता है वह यज्ञ किस-लिये है ? दक्षिणा के निमित्त ॥ गृहस्थ लोग परिश्रम पूर्वक खेती करने पर यथायोग्य

अन्न पाते हैं। यह अन्न लाभ व्यवसाई गृहस्थ के लिये दक्षिणा है। विद्या अध्ययन करके राज पुरस्कार प्राप्त करना विद्या व्यवसाई के लिये दक्षिणा है। आजकल यज्ञानुष्ठानकर्त्ता को यजमान की ओर से जो मिलता है, वह दक्षिणा कहलाती है। परन्तु परिश्रमजन्य फल प्राप्ति का नाम “दक्षिणा” है। कोई दक्षिणा ईश्वर की ओर से और कोई दक्षिणा यजमान की ओर से मिलती है। इत्यादि स्वयं विचार कर लेना।

वह दक्षिणा किसलिये है?, निस्सन्देह भद्रा के लिये है। यदि परिश्रम का फल न उपलब्ध हो तो कौन इसको करे इस हेतु क्या ईश्वर की क्या राजादिकों की ओर से जो कुछ परिश्रम का फल मिलता है वह विश्वास की वृद्धि के लिये है। इससे यह भी सिद्धा मिलती है कि जैसे ऐहिक फल यथायोग्य अवश्य प्राप्त होता है वैसे ही पारलौकिक फल भी अवश्यमेव प्राप्त होता है। वह भद्रा, निश्चय, हृदयस्य बुद्धि के विषय के ही लिये है। क्योंकि ईश्वर की महिमा बुद्धि के द्वारा ही समझ सक्ता है ॥ २१ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सूतो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञ-वल्क्य ॥ २२ ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस प्रतीची (पश्चिम) दिशा में कौन देवता है?, याज्ञवल्क्य—वरुण (मेघ)। शाकल्य—वह पञ्चम देव किस निमित्त प्रतिष्ठित है?, याज्ञवल्क्य—जल के निमित्त। शाकल्य—वह जल किस निमित्त प्रतिष्ठित है?, याज्ञवल्क्य—रज-वीर्य के निमित्त। शाकल्य—वह रज किस निमित्त प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य—हृदय निमित्त। इसी हेतु जब सत्शरूपवाला सन्तान होता है तो लोग कहते हैं कि मानो यह हृदय से निकला है अर्थात् मानो हृदय से निर्मित हुआ

है क्योंकि हृदय में ही 'रेत' प्रतिष्ठित है । शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य ! हां यह ऐसा ही है ॥ २२ ॥

पदार्थ—(अस्याम्+प्रतीच्याम्+दिशि+किं देवतः+असि) इस प्रतीची (पश्चिम) दिशा में हे याज्ञवल्क्य ! किस देववाले आप हैं । समाधान—(वरुणदेवतः+इति+स,+वरुणः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः+इति+अप्सु+इति) वरुणदेववाला हूँ । यह वरुण किस निमित्त है, जल के निमित्त (आपः+कस्मिन्+सु+प्रतिष्ठिताः+इति+रेतसि+इति) यह जल किस निमित्त प्रतिष्ठित है, कर्मफलभोगसाधन जो शरीर उसके बीज-रूप रेत के निमित्त (रेतः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितम्+इति+हृदये+इति) यह रेत किसलिये प्रतिष्ठित है हृदयस्थ बुद्धि के निमित्त (तस्मादपि+प्रतिरूपम्+जातम्+आहुः+हृद-याद्+इव+सूतः) उसी हेतु माता पिता के सदृश पुत्र को उत्पन्न हुए देखकर लोग कहते हैं कि यह सन्तान मानो हृदय में निकला है अर्थात् (हृदयाद्+इव+निर्मितः+हि+हृदये+एव+रेतः+प्रतिष्ठितम्+भवति+इति) मानो हृदय से निर्मित हुआ है क्योंकि हृदयस्थ बुद्धि के लिये ही रेत प्रतिष्ठित है । इस समाधान को सुन शाकल्य कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+एवम्+एव+एतत्) हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है । अर्थात् आप का समाधान बहुत समीचीन है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—किं देवत इति । वरुणो देवताऽस्येति वरुणदेवतः । मेघस्य व-रुणनामधेयम् । स च । अप्सु जलेषु प्रतिष्ठितः । कर्मफलभोगसाधनशरीरस्य बीजमिह रजःशब्देन व्यवहृतम् । अहृदयो हि न बीजं स्थापयितुं शक्नोति । अतस्तदपि हृदयस्यपुद्गल एव । अत्र लौकिकनिर्देशनं भ्रूयते । तस्मादपि तस्मादेव कारणाद् । प्रतिरूपम् पितृनुरूपम् पुत्रं जातमुत्पन्नमनलोचय । जनाः आहुः—अयं सन्तानः हृदयादिव मृगो निर्गतः । हृदयादिव निर्मित इत्यर्थः ॥ २२ ॥

भाष्याशय—वरुण—मेघ का नाम वरुण है । इसी हेतु पुराण में उक्त है कि जल का देवता "वरुण" है क्योंकि जल मेघ से आता है । जल का कारण मेघ है । यथार्थ में परम्परया इसका भी कारण सूर्यदेव ही है परन्तु अव्यवहित कारण मेघ है । यह जल जीव के शरीर के निर्माण के लिये है । यह भी रजः, बीज, बुद्धि के लिये है । अज्ञानपुरुष इस तात्पर्य को क्या जान सकता, निःसन्देह ईश्वरीय महत्त्व बुद्धि में ही जाना जाता है ॥ २२ ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स
सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा
प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति
सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति
हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव
सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २३ ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस उदीची (उत्तर) दिशा में कौन देवता है ?
याज्ञवल्क्य—ईश्वर अथवा विविध ओपधि । शाकल्य—वह ईश्वर किस निमित्त
प्रतिष्ठित है, याज्ञवल्क्य—दीक्षा, विविध व्रत के निमित्त । शाकल्य—वह दीक्षा
किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—सत्यता के निमित्त । उसी हेतु दीक्षित
पुरुष को आचार्य कहते हैं कि "सत्य बोलो" क्योंकि सत्य के निमित्त ही दीक्षा की
प्रतिष्ठा है । शाकल्य—वह सत्य किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—हृदय-
स्य बुद्धि के निमित्त । क्योंकि हृदय से ही सत्य को जानता है, क्योंकि हृदय के
निमित्त ही सत्य प्रतिष्ठित है । शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य ! हा यह ऐसा ही है ॥ २३ ॥

पदार्थ—(अस्याम्+उदीच्याम्+दिशि+निन्देवत+असि) इस उदीची (उत्तर)
दिशा में हे याज्ञवल्क्य ! किस देवतावाले आप हैं । समाधान—(सोमदेवतः+
इति) सोमदेवताला में हूँ । सोम नाम ईश्वर और विविध ओपधियों का (खाद्य
पदार्थमात्र का सोम वा ओपधि नाम है) (सः+सोमः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः+
इति+दीक्षायाम्+इति) वह ब्रह्म किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? विविध व्रत के लिये
(दीक्षा+कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठिता+इति+सत्ये+इति+तस्माद्+अपि+दीक्षितम्+आहुः)
वह दीक्षा किस निमित्त प्रतिष्ठित है, सत्य के लिये । इसी कारण दीक्षित पुरुष
को आचार्य उपदेश देते हैं कि (सत्यम्+वद+इति+हि+सत्ये+एव+दीक्षा+प्रति-
ष्ठिता+इति) सत्य बोलो, क्योंकि सत्य के लिये ही दीक्षा प्रतिष्ठित है (सत्यम्+
कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठितम्+इति+हृदये+इति+हि+हृदयेन+सत्यम्+जानाति+हि+हृदये+
एव+सत्यम्+प्रतिष्ठितम्+भवति) सत्य किस निमित्त प्रतिष्ठित है हृदयस्य बुद्धि के
लिये ही, क्योंकि हृदय से सत्य को जानता है क्योंकि हृदय में ही सत्य प्रतिष्ठित

है। इसको सुन (इ+उवाच+याज्ञवल्क्य+एषम्+एव+एतत्) शाकल्य बोले हे याज्ञ-
वल्क्य ! यह ऐसा ही है अर्थात् आप का समाधान बहुत समीचीन है ॥ २३ ॥

भाष्यम्—किन्देवत इति । सोमो देवता यस्य स सोमदेवतः । ईश्वरे
ओपधिषु च सोमशब्दः । कस्मै प्रयोजनाय ब्रह्मोपास्महे मन्यामहे पूजयामः
इत्येवंविधे प्रश्ने व्रतार्थे इति समाधानम् । ईश्वरानुग्रहादते कः खलु एकमपि
व्रतं समापयेत् सर्वतोभावेन अध्ययनं व्रतम् । रक्षा व्रतम् । परोक्षारकरणं व्रतम् ।
वीर्यरक्षा व्रतम् । परदारकुट्टिर्विरतिव्रतमित्यादीनि सहस्रशोऽवश्यमनुष्ठेयानि
व्रतानि कथं पूर्येरन् यदि ब्रह्मकृपा न स्यात् । सा च दीक्षा । सत्ये सत्यमा-
पणादि व्यापारे प्रतिष्ठिता । तस्मादेवकारणात् दीक्षासमये दीक्षितं पुरुषम्
आचार्या मुखो वा कथयन्ति सत्यं वदेति । इतरस्मिन् पदे सोम ओपधयः ।
इह वा विविधा ओपधय ब्रह्मणा पुरा सृष्टाः सृज्यन्ते च स्रज्यन्ते च ताः कस्मै
प्रयोजनायेति प्रश्ने विविधव्रत सहायतार्थमेवोचरम् । कथमिव विविधा ओपधी-
रुत्पाद्यजीवपात्नरूपव्रतं सम्यक् निर्वाह्यन्तु । आगते महति दुर्भिक्षे सञ्चितै-
रभैर्बुभुक्षितान् जीवयन्तु । विविधान् यज्ञान् सम्पादयन्तु । ओपधीर्विना कि-
मपि शुभकर्मानुष्ठानं न कोऽपि शक्नोति । सर्वं व्रतं सत्ये परिसमाप्यते । अ-
न्यदतिरोहितम् ॥ २३ ॥

भाष्याशयः—ईश्वर को क्यों मानें, क्यों पूजें, क्यों उपासना करें इत्यादि प्रश्न
स्वभावतः होता है । समाधान यह है कि विविध व्रत के पूर्ण के लिये । ईश्वर
के अनुग्रह बिना कौन मनुष्य सब व्रत को सन तरह से पूर्ण कर सकता है ।
अध्ययन व्रत है । रक्षा व्रत है । परोक्षारकरण व्रत है । वीर्यरक्षा व्रत है ।
परद्वी पर कुट्टि का विराम व्रत है इत्यादि सहस्रशः अवश्य अनुष्ठेय व्रत हैं ।
अर्थात् ऐहिक जीवन के लिये इन व्रतों का अनुष्ठान करना परम आवश्यक होता
है । यदि ईश्वरकृपा न हो तो इनकी पूर्ति होना कठिन है । इस हेतु विविध व्रत
पूरणार्थ ईश्वर का मानना आदि आवश्यक है । वह सम्पूर्ण व्रत सत्य के ऊपर ही
निर्भर है । यदि सत्यता नहीं है तो सब ही तुच्छ है । इत्यादि भाव का
विचार करना ॥

द्वितीय पक्ष में—सोम नाम विविध ओपधियों का है सोमर से फल, मूल,

कन्द, अन्न, लता, वीरुध आदि स्थावर पदार्थ हैं उनका एक नाम सोम या ओषधि है, उन ओषधियों को भी ईश्वर ने किसलिये पूर्वकाल में बनाया या बनाते हैं या बनायेंगे । निःसन्देह विविध व्रत की पूर्ति के लिये ही । वैसे, प्रजापति विविध ओषधियों को उत्पन्न करके जीव-पालनरूप व्रत अच्छे प्रकार निर्वाह कर सकें महादुर्भिक्ष जय २ आवे तब २ उस सञ्चित अन्नों से वृमुचिर्त्तों को जिला-नारूप व्रत कर सकें । ऐसे विविध यज्ञ करें । ओषधि बिना किसी भी शुभ कर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता । इस हेतु ओषधि भी विविध व्रत के लिये ही है । एवं वे व्रत सत्य के लिये हैं । वे हृदय के लिये हैं । इस प्रकार आगे उभय पक्ष की समानता ही है ॥ २३ ॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेव इति सोऽग्निः
कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति
हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस ध्रुवा दिशा में कौन देवता है ?, याज्ञवल्क्य—अग्नि (ब्रह्म), शाकल्य—वह ब्रह्म किस निमित्त प्रतिष्ठित है ?, याज्ञवल्क्य—वेदवाणी निमित्त । शाकल्य—वह वेदवाणी किस निमित्त प्रतिष्ठित है ?, याज्ञवल्क्य—हृदय निमित्त । शाकल्य—हृदय किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? ॥ २४ ॥

पदार्थ—(अस्याम्+ध्रुवायाम्+दिशि+किन्देवत+असि) इस ध्रुवा दिशा में हे याज्ञवल्क्य ! आप कौन देववाले हैं ?, समाधान—(अग्निदेवत+इति+सः+अग्निः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः+इति) अग्निदेव वाला हूं । वह अग्नि देव किसमें प्रतिष्ठित है ? (वाचि+इति) वेदवाणी और मनुष्य की सर्वसाधारण वाणी में । (वाक्+कस्मिन्+प्रतिष्ठिता+इति+हृदये+इति) वह वाणी किसमें प्रतिष्ठित है ?, हृदयस्थ बुद्धि में । (कस्मिन्+नु+हृदयम्+प्रतिष्ठितम्+इति) हृदय किस में प्रतिष्ठित है ? ॥ २४ ॥

भाष्यम्—किन्देवत इति । उपसंहरञ्छाकल्यः सार्वत्रिकं देवं पृच्छति । ध्रुवा अविचलिता । उपरि वा मध्येऽधोऽधो वा योऽयं महानाकाशोऽवकाशो दृश्यते सैव ध्रुवा दिक् । अस्यां ध्रुवायां दिशि एको जाज्वल्यमानो भगवान्

भूतमात्मन ईश्वर एव प्राप्तोऽस्ति । स एवाग्निशब्देनेह शब्दितः । स चेश्वरः
देववाण्यां प्रतिष्ठितः । वाचैव वेदवाण्येव ब्रह्म विजानीमः । इयमपीतरा वाणी-
वाक् । इमामितरामपि वाणीं विना ईश्वरं कथं विदुः । अन्यत्स्पष्टम् ॥ २४ ॥

भाष्याशय—ध्रुवा—यहा ध्रुवा शब्द का अर्थ अविचलित, ऊपर वा मध्य वा
नीचे जो महा आकाश देख पड़ता है उसी का नाम है । अग्नि—सर्वत्र अपनी
क्रिया से प्रत्यक्षवत् जागृत्यमान ईश्वर का नाम अग्नि है । उपसहार में सर्वत्र
व्यापक ब्रह्म के विषय में शाक्त्य पूछते हैं कि सर्वत्र व्यापक देव कौन है । इसमें
सन्देह नहीं कि ईश्वर है और वह ईश्वर वेदवाणी वा सर्वसाधारण वाणी ही तो
प्रतिष्ठित है । यहा “ अग्नि ” शब्द का अर्थ आग्नेयशक्ति भी होना सम्भव है,
क्योंकि आग्नेयशक्ति के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता । इत्यादि मनन
करना ॥ २४ ॥

अहंल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्म-
न्यासै यद्धयेतदन्यत्रास्मत्स्याद्भानो वैतद्युर्वयांसि वैतद्वि-
मथ्नीरन्निति ॥ २५ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य ने कहा रे अहंल्लिक ! जो तुम मानते हो कि यह हृ-
दय हम से कहीं अन्यत्र है तो यदि यह हृदय हम लोगों से कहीं अन्यत्र होता
तो इसको फुटे लाजाले अथवा इसको पत्ती नौच डालते ॥ २५ ॥

पदार्थ—हृदय किसमें प्रतिष्ठित है?, यह प्रश्न सुन याज्ञवल्क्य को बड़ा क्रोध
हुआ अतिशय कोपित हो विदग्ध वा शाक्त्य आदि नामों से इसको सम्बोधन न
करके “ अहंल्लिक ” इस नाम से सम्बोधित कर समाधान करते हैं (अहंल्लिक+इति+
ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः) अरे अहंल्लिक ! निशाचर ! प्रेत ! ऐसा सम्बोधन कर
याज्ञवल्क्य बोले (यत्र+एतत्+अन्यत्र+अस्मत्+गन्यासै) अरे अहंल्लिक ! जो
तुम इस हृदय को हमसे कहीं अन्यत्र मानते हो अर्थात् हम लोगों के शरीर
से कहीं दूसरी जगह इस हृदय को मानते हो (यद्+एतत्+अस्मत्+अन्यत्र+
स्यात्) यदि यह हृदय हमसे अर्थात् हमारे शरीर से कहीं अन्यत्र होता तो

(एतत्+श्वानः+वा+अद्युः) इस शरीर को कुत्ते खा जाते (वयासि+वा+एतत्+विमन्धीरन्+इति) अथवा गृध्र आदि पक्षी इसको नोंच डालते । इससे सिद्ध हुआ कि शरीर में ही यह हृदय प्रतिष्ठित है । अरे अहंलिक ! क्या तू इसे भी नहीं जानता था जो ऐसा प्रश्न किया है । अतः ज्ञात होता है कि तेरी यह जान बूझ कर धृष्टता है ॥ २५ ॥

आशय—अहंलिक शब्द—“अहनि लीयते इति अहंलिकः” जो दिन में कहीं छिप जाय और रात्रि में दीरे वसे अहंलिक बहवे हैं, निराश्रय, राक्षस आदि । विदग्ध का मूर्खतासूचक प्रश्न सुन याज्ञवल्क्य ने क्रुद्ध हो ऐसा सम्बोधन किया है ॥ २५ ॥

कस्मिन्नु त्वञ्चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्नु अपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नु उदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽग्रहो न हि ग्रह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिप्यति ॥ २६ ॥ (क)

अनुवाद—शाकल्य ने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! किसमें हुम (हुम्हार शरीर) और यह आत्मा (हृदय) प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—प्राण में । शाकल्य—प्राण किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—अपान में । शाकल्य—अपान किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—व्यान में, शाकल्य—व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—उदान में । शाकल्य—उदान किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—समान में । सो यह आत्मा नेति नेति शब्द से कहा जाता है । वह अग्रह है क्योंकि इसका ग्रहण नहीं होता । वह अशीर्य्य=अविनाश्य, अक्षयणीय है क्योंकि इसका क्षय नहीं होता । वह असङ्ग है क्योंकि वह आसक्त नहीं होता । वह असित=अबद्ध है क्योंकि न यह व्यथित और न हिंसित होता है ॥ २६ ॥ (क)

पदार्थ—(कस्मिन्+नु+त्वम्+आत्मा+च+प्रतिष्ठितौ+स्थः+इति) पुनः

शाकल्य पूछते हैं कि किस आधार पर आप अर्थात् आप का शरीर और आत्मा अर्थात् हृदय प्रतिष्ठित हैं इसका समाधान कीजिये । याज्ञ०—(प्राणोऽस्ति) प्राण में शरीर और हृदय दोनों प्रतिष्ठित हैं । शाकल्य पूछते हैं—(कस्मिन्+तु+प्राणः+प्रतिष्ठितः+इति) किसमें वह प्राण प्रतिष्ठित हैं ? , याज्ञ०—(अपाने+इति) अपान में वह प्राण प्रतिष्ठित है । शाकल्य—(कस्मिन्+तु+अपानः+प्रतिष्ठितः+इति) किसमें वह अपान प्रतिष्ठित है ? , याज्ञ०—(व्याने+इति) व्यान में अपान प्रतिष्ठित है । शाकल्य—(कस्मिन्+तु+व्यानः+प्रतिष्ठितः+इति) किसमें व्यान प्रतिष्ठित है (उदाने+इति) उदान में व्यान प्रतिष्ठित है । शाक०—(कस्मिन्+तु+उदानः+प्रतिष्ठितः+इति) किसमें उदान प्रतिष्ठित है । याज्ञवल्क्य—(समाने+इति) समान में वह उदान प्रतिष्ठित है । (सः+एषः+आत्मा+नेति+नेति) सो यह आत्मा नेति नेति शब्द से कहा जाता है यह आत्मा (अगृह्यः+न+हि+गृह्यते) अगृह्य=ग्रहण के अयोग्य है क्योंकि इसका ग्रहण नहीं होता (अशीर्ष्यः+न+हि+शीर्ष्यते) यह अविनाश्य है क्योंकि इसका विनाश नहीं होता (असङ्गः+न+हि+सङ्ग्यते) यह सन्नरहित है क्योंकि यह किसी में आसक्त नहीं होता (असितः+न+व्यपते+न+रिप्यति) यह बन्धनरहित है क्योंकि न यह बन्धित होता और न यह हिंसित होता है ॥ २६ ॥ (क)

एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान्निरुह्य प्रत्युद्वात्यक्रामत्तन्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तच्चेन्मे न विवक्षसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । तं ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्द्धा विपपातापि हास्य परिमोपिणोऽस्थीन्यपजहुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६ ॥ (ख)

अनुवाद—ये आठ आयतन हैं । आठ लोक हैं । आठ देव हैं । आठ पुरुष हैं । सो जो इन पुरुषों को अच्छे प्रकार जान और समझ अतिक्रान्त हुआ है । हे शाकल्य ! उस औपनिषद् पुरुष के विषय में तुम से मैं पूछता हूँ यदि तुम उस को मुझ से नहीं कहोगे तो निश्चय विस्पष्टरूप से तुम्हारा मूर्धा गिर जायगा । शाकल्य इसको न समझ सके । इनका मूर्धा विस्पष्टरूप से गिरा और इनकी हड्डियाँ

को कुछ अन्य वस्तु मान तस्कर चुरा लेगए ॥ २६ ॥ (स)

पदार्थ—पूर्व कण्डिकाओं में १-पृथिवी, २-काम, ३-रूप, ४-आकाश, ५-तम, ६-रूप, ७-आप और ८-रेत ये आठ आयन कहे गये हैं। १-अग्नि, २-हृदय, ३-चक्षु, ४-श्रोत, ५-तम, ६-चक्षु, ७-हृदय और ८-हृदय ये आठ लोक । १-अमृत, २-स्त्री, ३-सत्य, ४-दिशा, ५-मृत्यु, ६-असु, ७-वरुण और ८-प्रजापति ये आठ देव हैं । १-शरीर, २-काममय, ३-आदित्य पुरुष, ४-प्रातिभुक्त, ५-ह्यायामय, ६-आदर्श पुरुष, ७-जलमय और ८-पुत्रमय पुरुष ये आठ पुरुष हैं। यह प्रथम जानना उचित है। अब शाकल्य से स्वयं ऋषि याज्ञवल्क्य पूछते हैं। हे शाकल्य ! (एतानि+अष्टौ+आयतनानि) मैंने आप से पृथिवी आदि आठ आयतन (अष्टौ+लोकाः+अष्टौ+देवाः+अष्टौ+पुरुषाः) अग्नि आदि आठ लोक, अमृत आदि आठ देव, शरीर आदि आठ पुरुष कहे हैं। इनके सम्बन्ध में मैं आप से यह पूछता हूं कि (सः+यः+तान्+पुरुषान्) सो जो कोई इन पुरुषों को (निरुह्य) अच्छे प्रकार जान और (प्रत्युह्य) निज अन्तःकरण में स्थापित कर (अत्यन्तमत्) शारीरिक सम्पूर्ण धर्म का अतिक्रमण करता है (तम्+औपनि-पदम्+पुरुषम्+त्वा+पृच्छामि) उस उपनिषद् के सत्त्वविद् पुरुष के सम्बन्ध में तुमसे पूछता हूं (तम्+चेत्+मे+न+विवक्ष्यसि+मूर्धा+त्वे+विषतिप्यति+इति) यदि उस पुरुष को मुझ से तुम नहीं कह सकोगे तो तुम्हारा शिर इस सभा में विस्-ष्टरूप से गिर जायगा। (तम्+ह+न+मेने+शाकल्यः) उस ब्रह्म को शाकल्य ने समझ सफा (तस्य+मूर्धा+विपपात) तब इसी कारण इसका मूर्धा गिर पड़ा (अपि+ह+अस्य+अस्थीनि) और इसकी हड्डियों को (अन्यत्+मन्यमानाः) अन्य उत्तम उत्तम वित्त समझ कर (परिमोषिण+अपजहुः) चोरगण चुरा लेगए। भाव इसका यह कि विद्वत्सभा में परास्त होना ही मानो शिर का गिरना है और परान्त होने पर मनुष्य का भुग्न सूख जाता, देह कापने लगता, बेचकूफ सा इधर उधर देखने लगता, परन्तु जो धृष्ट धूर्त पुरुष होता है उसका हारने पर शिर तो नीचा होजाता परन्तु क्रोध से शरीर जलने लगता, देह का रक्त शुष्क हो जाता, हड्डियां सर्वथा निर्बल होजाती हैं, घूमकर पृथिवी पर हाथ पैर छितरा के पड़ जाता है, कोई उन्माद रोग का बहाना कर लेता, ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर कहा जाता है कि इसकी हड्डियां को भी मानो चोर चुरा लेगए ॥ २६ ॥ (स)

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा
पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि
सर्वान् वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥ २७ ॥

अनुवाद—सब पुनः याज्ञवल्क्य बोले कि हे पूज्य ब्राह्मणों 'आप में से
जिसकी कामना हो वह मुझे पूछे अथवा आप सब ही मुझ से पूछें। अथवा जिसकी
कामना हो उससे मैं पूछता हूँ। अथवा आप सब ही से मैं पूछता हूँ। उन ब्राह्मणों
में याज्ञवल्क्य से पूछनेमें वा पूछे जानेमें किन्हीं का साहस नहीं हुआ ॥ २७ ॥

पदार्थ—(अथ+ह+उवाच) जब शाकल्य समाधान न कर सके और इन
का शिर नीचे गिर गया तदनन्तर याज्ञवल्क्य बोले कि (भगवन्तः+ब्राह्मणाः) हे
भगवान् ब्राह्मणों ! (वः+यः+कामयते) आप लोगों में से जो कोई मुझ से प्रश्न
करना चाहते हो (मः+मा+पृच्छतु) वह मुझ से पूछे (वा+सर्वे+मा+पृच्छत)
अथवा आप सब कोई मुझ से प्रश्न करें अथवा यदि आप पूछना न चाहें तो
(वः+यः+कामयते) आप में से जो चाहते हों आप में से उसको मैं ही पूछना
चाहता हूँ (सर्वान्+वा+वः+पृच्छामि+शति) अथवा आप सबको मैं पूछता हूँ
समाधान करें (ते+ह+ब्राह्मणाः+न+न+दधृषुः) इस प्रकार पूछने पर भी वे ब्राह्मण
कोई शृष्ट न हुए अर्थात् किन्हीं ने ऐसा साहस न किया। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य ने
७ श्लोकों से इन ब्राह्मणों को पूछा और स्वयं समाधान बिना, इस प्रकार जनक
की सभा के बाद विवाद समाप्त हुए, उन सप्त श्लोकों को २८ वें कांड में इससे
आगे देखो ॥ २७ ॥

तान् हतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो धनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।

तस्य क्षोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पटिका बहिः ॥ २८ ॥ १ ॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्थान्दि त्वच उत्पटः ।

तस्मात्तदावृणात् प्रैति रसो वृक्षादि बाहतात् ॥ २८ ॥ २ ॥

अनुवाद—उनको इन श्लोकों से याज्ञवल्क्य ने पूछा—जैसे वनस्पति वृक्ष है वैसा ही यह पुरुष है । इसमें असत्यता नहीं, उसके केश मानो पत्ते हैं । इसका चर्म मानो बाहरी वक्ल है । इसके चर्म से रुधिर निकलता, वृक्ष के भी वक्ल से निर्यास (गोंद) निकलता है ॥ २८ ॥ १—२ ॥

पदार्थ—प्रथम यहां तीन श्लोकों से वृक्ष और पुरुष की समानता कहेंगे । (तान्+ह्+एतैः+श्लोकैः+पप्रच्छ) याज्ञवल्क्य ने उन सभारथ ब्राह्मणों को इन वक्ष्यमाण श्लोकों के द्वारा पूछा, वे श्लोक ये हैं (यथा+वनस्पतिः+वृक्षः) जैसे वन में महान् वृक्ष शोभित होता है “यहा वनस्पति अन्य वृक्ष का विशेषणमात्र है, वन का पति अर्थात् महान्” (तथा+एव+पुरुषः) वैसा ही सभ प्राणियों में पुरुष है (अमृषा) मृषा=मिथ्या । अ=नहीं । अर्थात् वृक्ष के समान पुरुष है, इसमें सन्देह नहीं । आगे दोनों की समानता दियेलाते हैं—(अस्य+लोमानि+पर्णानि) पुरुष के जो केश हैं वे ही मानो पर्ण=वृक्ष के पत्ते हैं (त्वग्+अस्य+वत्पाटिका+धहिः) मनुष्य का जो चर्म है वही मानो वृक्ष की बाहरी त्वचा के समान है (अस्य+त्वचः+ध्व+रुधिरं+प्रत्यन्दि) जैसे मनुष्य के चर्म से रुधिर निकलता है वैसा ही (त्वचः+उत्पटः) वृक्ष के वक्ल से उत्पट=निर्यास गोंद निकलता है (आहतात्+वृक्षात्+रसः+इव) जैसे आहत वृक्ष से रस निकलता है वैसा ही (आवृणात्+तस्मात्+वत्+प्रैति) हिंसित पुरुष से यह रुधिर निकलता है । इन कारणों से वृक्ष और पुरुष दोनों समान हैं ॥ २८ ॥ १—२ ॥

मांसान्यस्य शकराणि कीनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ।

अस्थीन्यन्तरतो दारुणि मज्जा मज्जोमपा कृत ॥ २८ ॥ ३ ॥

अनुवाद—इस (पुरुष) के मांस मानो वृक्ष की वक्ल के तह पर तह है इसके स्थिर स्नाव (भीतर की नाड़ी) मानो वृक्ष का कीनाट (वृक्ष की शिरा) है, हड्डियां मानो भीतर के दारु हैं और पुरुष का मज्जा और वृक्ष का मज्जा दोनों तुल्य हैं ॥ २८ ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अस्य+मांसानि+शकराणि) पुरुष के शरीर में जो मांस है वह वृक्ष की त्वचा के तह दरतह के सदृश है । (तत्+स्थिरम्+स्नाव) पुरुष का स्थिर

जो स्नाय=नादी है वह (कीनाटम्) वृक्ष की शिरा के तुल्य है (अस्थीनि+अन्त-
रतः+दारुणि) हड्डियां आन्तरिक दारु के तुल्य हैं (भज्जा+भजोपमा+कृता) भज्जा,
भज्जा के समान है इस प्रकार वृक्ष और पुरुष तुल्य है। अब आगे पुरुष के कारण
की जिज्ञासा करेंगे ॥ २८ । ३ ॥

यद् वृक्षो वृक्षणो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।

मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्षः कस्मान् मूलात् प्ररोहति ॥ २८ । ४ ॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत् प्रजायते ।

धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥ २८ । ५ ॥

अनुवाद—किन्तु वृक्ष कट जाने पर भी जड़ से पुनः नवीनतर उगता है
मृत्यु से मारित पुरुष किस मूल से पुनः उत्पन्न होता? (यह मेरा प्रश्न है) ॥ २८ । ४ ॥

पुरुष रेत से होता है ऐसा न कहें क्योंकि वह जिन्दे से होता है, निश्चय वृक्ष
तो मरजाने पर भी फट बीज से उत्पन्न हो जाता है ॥ २८ ॥ ५ ॥

पदार्थ—अब वृक्ष-पुरुष की समानता विरजता याज्ञवल्क्य प्रश्न पूछते हैं—
(यद्+वृक्षः+वृक्षः) जब जड़ थोड़कर वृक्ष काटा जाता वा इसकी शाखाएँ काटी
जाती हैं तब (पुनः+मूलात्+नवतरः+रोहति) पुनः मूल से वा द्विज शाखा के
स्थान से और नवीन वृक्ष उगता है, यह प्रत्यक्ष है (स्विन्+मृत्युना+वृक्षः+
मर्त्यः) परन्तु जब मरणधर्मी मनुष्य को मृत्यु मार लेता है (कस्मान्+मूलात्+
प्ररोहति)-तब वह पुरुष किस मूल से पुनः उत्पन्न होता है । हे प्रादुराणो ! यह
मेरा प्रश्न है ॥ २८ ॥ ४ ॥

(रेतस +इति+मा+वोचत) यदि कहो कि धीर्त्य से ही मनुष्य उत्पन्न हो जाता
है यह प्रश्न ही आप का तुच्छ है, इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि रेत से पुरुष
हो जाता है ऐसा मत कहें क्योंकि (तत्+जीवतः+प्रजायते) यह रेत तो जीवित
पुरुष से ही होता है वृक्ष का तो अन्य ही हिसाब है (धानारुहः+इव+वै+वृक्षः)
वृक्ष कटजाने पर भी अपने बीज से उत्पन्न होता है इस प्रकार (प्रेत्य+अञ्जसा+

संभवः) मर कर भी अच्छी तरह से वृक्ष उत्पन्न होता रहता है । धानारुह=धाना=
बीज । उससे जो हो वह धानारुह । इव शब्द यहां विरुद्ध धर्म दिखलाने के लिये
प्रयुक्त हुआ है, वै शब्द प्रसिद्ध को दिखलाता है । भाव यह है कि जैसे वृक्ष मर-
जाने पर भी अपने मूल और बीज से पुनः उत्पन्न हो जाता है यह प्रसिद्ध है ।
वैसे ही मरने के पश्चात् मनुष्य का कोई भी मूलकारण नहीं दीखता जिससे उसकी
वृत्ति कही जाय, परन्तु इसका भी वृक्षवद् कोई कारण होना चाहिये ॥ २८।५॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् ।

मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ २८।६ ॥

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत् पुनः ।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं निष्ठमानस्य तद्विद्
इति ॥ २८।७ ॥

अनुवाद—यदि मूलसहित वृक्ष को उखाड़ दें तो वह पुनः उत्पन्न नहीं
होता, किन्तु मृत्यु से मारित मनुष्य किस मूल से प्ररोहित होता है ॥ २८ ॥ ६ ॥

जो उत्पन्न हो चुका है वह पुनः नहीं होता है । निश्चय इसको पुनः कौन
उत्पन्न करेगा । जो विज्ञान और आनन्दरूप ब्रह्म है, वही धनदाता, स्थिर और
ब्रह्मविद् का परायण है ॥ २८।७ ॥

पदार्थ—(यद्+समूलम्+वृक्षम्+आवृहेयुः) यदि जड़ सहित वृक्ष को उखा-
ड़ कर दें तो (पुनः+न+आभवेत्) वह पुनः उत्पन्न नहीं होता (स्विन्+मृ-
त्युना+वृक्णः+मर्त्यः) किन्तु मृत्यु से मारित मनुष्य (कस्मात्+मूलात्+प्ररोहति)
किस मूल से उत्पन्न होता है ॥ २८ ॥ ६ ॥

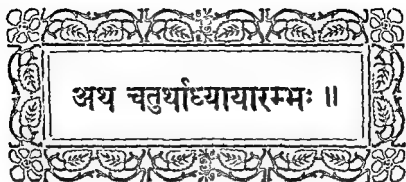
(जातः+एव+न+जायते) जो उत्पन्न हो चुका वह पुनः उत्पन्न नहीं होता
अर्थात् जो उत्पन्न हो चुका है वह पुनः उत्पन्न नहीं होता यह बात नहीं, परन्तु
प्रश्न भेदा यह है कि (नु+एनम्+पुनः+कः+जनयेत्) इस मृतपुरुष को पुनः
कौन उत्पन्न करेगा । यह आप लोग कहें । इस प्रश्न का उत्तर किन्हीं ब्राह्मणों से

जब नहीं हुआ तब स्वयं श्रुति उत्तर देते हैं, यह यह है—(विज्ञानम्+आनन्दम्+ब्रह्म) जो विज्ञान और आनन्द ब्रह्म है वही सत्य का कारण है जो (रातिः+दातुः) धन को दान करते हैं अर्थात् कर्मसंगी हैं (तिष्ठमानस्य) जो ज्ञान में दृढ़ हैं और (तद्विद्+इति) जो उस ब्रह्म के जाननेवाले हैं । इन सत्य का (परायणम्) वही ब्रह्म परमगति है । रातिः=धन यह पञ्चमर्थ में प्रथमा है । परायण पर+अयन=पर=उत्कृष्ट, अयन=गति ॥

इति नवमं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य भाष्यं समाप्तम् ॥





अथ चतुर्थाध्यायारम्भः ॥

जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आव-
ब्राज तं होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्पव-
न्तानिति । उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

अनुवाद—कभी एक दिन की यह वार्त्ता है कि विदेहाधिपति जनक महाराज बैठे हुए थे । इसी समय वहा महर्षि याज्ञवल्क्य आ पहुचे उनसे जनक महाराज बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! आप किस प्रयोजन से यहा आये हैं । पशुओं की इच्छा करते हुए अथवा अश्वन्तों (अति सूक्ष्म तत्त्वों) को चाहते हुए (आप यहा आये हैं), याज्ञवल्क्यजी ने उत्तर दिया कि हे सम्राट् ! दोनों ही के लिये ॥ १ ॥

पदार्थ—प्रजाओं के विविध प्रकार के ऊंच नीच वचन सुनने तथा आचार्यों के उपदेश ग्रहण करने के निमित्त मनोरिगोदार्य (ह+वैदेहः+जनकः+आसाञ्चक्रे) कदाचित् विदेह देशके अधिपति जनक महाराज बैठे हुए थे । (अथ+याज्ञवल्क्यः+आवब्राज) अनात्मविद् स्वल्पज्ञ मनुष्यों से उपदेश सुनते हुए महाराज को जान उससे अयथार्थप्राही राजा न होजायँ इस अनुग्रह से उसी काल में याज्ञवल्क्य आ पहुचे । अनवसर आए उनको देय विधिवन् पूज आसन पर बैठा (तम्+ह+उवाच+याज्ञवल्क्य+किमर्थम्+अचारीः) उनसे राजा हास्य से बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! किम निमित्त अनवसर आप आये हुए हैं । क्या (पशून्+इच्छन्) गोधन की इच्छा करते हुए आप इस समय आये हुए हैं । क्योंकि प्रायः मनुष्य राजा के समीप इमी आशय से दौड़ते हैं । परन्तु आप ने तो अभी विवाद से सर्वों को

परास्त करके गायों को लेगये हैं । अतः उसके लिये तो आप का आगमन कदाचित् नहीं होगा । इम हेतु राजा दमरा पक्ष पूछते हैं । हे याज्ञवल्क्य ! क्या (अएवन्तान्) जिन का अन्त अत्यन्त सूक्ष्म है ऐसे जो तत्त्व उत्तरी इच्छा करते हुए आप आये हैं अर्थात् अन्य आचार्यों ने जो कुछ अनुशासन कृपया मुझे दिये हैं वे सम्यक् दर्शन (अन्धं प्रभार ज्ञान) के साधन हैं या नहीं ? यह मुझे प्रहण करवाने के लिये मेरे ऊपर अनुमत्या करके आप आये हैं । यह अनवसर आपका आगमन क्यों है (इति+ह+उवाच+मघ्राट्+उभयम्+एव+इति) राजा का वचन सुन चे याज्ञवल्क्य बोले कि हे सार्वभौम राजन ! दोनों ही अर्थात् पशु प्रहणार्थ तथा तत्त्व-निर्णयार्थ इन दोनों के लिये मैं यहाँ आया हूँ । इति समाप्त सूचक है ॥ १ ॥

भाष्यम्—प्रजानामुच्चार्यानि वाक्यानि श्रोतुमाचार्याणाञ्चोपदेशं प्रधीतुं च मनोविनोदाय कदाचिज्जनको ह वैदेहो विदेहाधिपतिः । आसाञ्चक्रे आसीत् आसीत् । अथासीनं भृएवन्तं चोपदेशमनात्मविद्वयः स्वप्नज्ञेभ्यो महाराजं निधित्य तेनापथार्थग्राही माभूद्वाजेत्यनुग्रहेण तस्मिन्नेव समये याज्ञवल्क्यस्तत्र आब्रज आगतवान् । अनवसरे आगतमाचार्यं विधिना प्रपूज्य आसने उपवेश्य हास्येन तं पाञ्चनल्यमुवाच राजा । हे याज्ञवल्क्य ! किमर्थं कस्मै निमित्ताय अचारीः मत्समीपमागतः । कश्चित् पशून् गाः ग्रहीतुमिच्छन् कामयमानः सन्नागतः । यतो राजसमीपं प्रायोऽनेनाऽऽशयेन जना धावन्ति । गावस्तु सप्रत्येव त्वया त्रिवादेन सर्वानतिक्रम्य हताः । अतस्तदर्थं तवाऽऽगमनं कदाचिन्न भविष्यति । अतो राजा पक्षान्तरं पृच्छति । उत हे याज्ञवल्क्य ! अएवन्तान् इच्छन् अगुरत्यन्तसूक्ष्मोऽतो येषां तान् अएवन्तान् अतिसूक्ष्मान्तानि तत्त्वानि अप्रधारयितुं कदाचित्प्रमागतः । इतरैराचार्यैर्मर्लं यान्यनुशासनानि कृपया प्रदत्तानि तानि सम्यग् दर्शनसाधनानि आहोस्विज्ञेतीति मां ग्राहयितुमनुकम्पया समायातोऽसि कथमनवसरे तवाऽऽगमनम् । इति सन्नाजो वचनं हास्यकरमवलोक्य हे सम्राट् ! सार्वभौम । उभयम्—पशून् अएवन्तान् चेच्छन्नामागतोऽस्मीत्युवाच याज्ञवल्क्यः सम्यग् राजते इति सम्राट् “ येनेष्टं राजसूयेन, मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यथाज्ञया राज्ञः स सम्राडथ राजकम् ” । येन राजसूयेन ऋतुविशेषेण इष्टम् ब्रह्मणो यजनं कृतम् । यश्च मण्डलस्य

प्रभुः । यश्च स्वाज्ञया इतरान् सर्वान् राज्ञोऽनुशास्ति । ईदृशविशेषणत्रयेण सहितो राजा सम्राट् कथ्यते ॥ १ ॥

माध्याशय—“अखन्त” अणु+अन्त । जिनका अन्त सूक्ष्म है । यहाँ मूल में “तत्त्वशब्द का पाठ नहीं है, परन्तु प्रकरण के अभिप्राय से तत्त्व शब्द लिया गया है” जो अध्यात्मिक विज्ञान बहुत सूक्ष्म है विरला ही कोई समझ सकता है उसे “अखन्त” कहते हैं । “सम्राट्—सम+राट्” जो अच्छीतरह से सब प्रकार से सुशोभित हो उसे सम्राट् कहते हैं । यह पदार्थ है । अमरकोश कहता है (येन) जिसने (राजसूयेन) राजसूय नाम के यज्ञ से (इष्टम्) ब्रह्म यजन किया है (य.+च) और जो (आत्मया) अपनी आत्मा से (राज्ञः-) अन्यान्य सजाओं को (शास्ति) शासन करता है (स.+सम्राट्) वह सम्राट् कहाता है ॥ १ ॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण्वामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनि-
र्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा
तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किं स्यादित्यब्रवीन्तु
ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्स-
म्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य वागेवाऽऽयतनमाकाशः
प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येतदुपासीत का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव
सम्राडिति होवाच वाचा वै सम्राट् धन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उप-
निषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानास्ति व्याख्यानानीष्टं हुत-
माशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि
वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्ज-
हाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिचरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति
य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच
जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत

नाननुशिष्य हरेतेति ॥ २ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् । जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उस को हम सुनें । जनक—शैलिनि जित्वा ने मुझसे कहा है कि वाणी ही परम आदरणीय वस्तु है । याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मानुमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुष (अपने शिष्य को) उपदेश देवे वैसे शैलिनि जित्वा ने कहा है कि “वाणी ही ब्रह्म है (आदरणीय वस्तु) है” क्योंकि न बोलते हुए (मूक पुरुष) को क्या लाभ हो सकता है परन्तु क्या उन्होंने आपसे उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी कहे हैं ? जनक—मुझ से नहीं कहे हैं । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् । तब यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य । आप ही हम से कहें । याज्ञवल्क्य—वाणी ही आयतन है आकाश (परमात्मा) प्रतिष्ठा है इस वाणीरूप आदरणीय वस्तु को “ब्रह्मा” मानकर उपासना करें । जनक—हे याज्ञवल्क्य । इसकी ब्रह्मता क्या है ? । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् । वाणी ही (हमकी ब्रह्मता है) हे सम्राट् । वाणी से ही बन्धु जाना जाता है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत आशित, पायित, यह लोक और परलोक और सब प्राणी वाणी से ही जन्ते जाते हैं । हे सम्राट् । वाणी ही परम आदरणीय वस्तु है । आगे फल कहते हैं—इस (पुरुष) को वाणी नहीं छोड़ती है । सब प्राणी (मिलकर) इस की रक्षा करते हैं । देव होकर देवों को प्राप्त करता है जो साधक इस प्रकार जानता हुआ इस वाणीरूप ब्रह्म की उपासना करता है । जनक—(इस शिक्षा के लिये) आपको हाथी के समान एक सौंड के साथ एक सहस्र गायें देता हूँ । याज्ञवल्क्य—राजन् । मेरे पिता की एक यह सम्मति थी कि शिष्य को बिना सम्मान्ये उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ २ ॥

पदार्थ—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे सम्राट् । (ते+कश्चित्+यत्+अब्रवीत्+तत्+शृणुषाम्) आपसे किसी आचार्य ने जो कुछ उपदेश दिया है उसको हम सुनें । अर्थात् आप के बहुत आचार्य हैं इस हेतु आप बहुश्रुत हैं परन्तु उस २ उपदेश की यथार्थता=उचित अर्थ को आप धारण करते हैं वा नहीं और वे आचार्य भी आप को यथार्थ शिक्षा देते हैं वा नहीं । इन बातों का निर्णय करने के लिये मैं

यहा आया हूँ । इस हेतु हे राजन् ! उन लोगों ने आप को जो कुछ उपदेश दिया है उसको प्रथम मैं सुनना चाहता हूँ । उसमें यदि कोई न्यूनता होगी तो उसको पूर्ण करूँगा । याज्ञवल्क्य के इस वचन को सुनकर जनक महाराज बोले कि (शैलिनिः+जित्वा+मे+अग्रवीत्+वाग्+वै+ग्रह+इति) शैलिनाचार्य के पुत्र जित्वा ने मुझ से कहा कि वाणी ही ब्रह्म है अर्थात् परम आदरणीय वस्तु है । शैलिनि के वहे हुए उपदेश की प्रशंसा के लिये शैलिनि भी आप पुरुष हैं इसका भी वचन श्रोतव्य है इस हेतु आगे तीन विशेषण याज्ञवल्क्य कहते हैं (यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+भूयात्+तथा+शैलिनिः+अग्रवीन्+तन्+याग्+ग्रह+इति) जैसे अच्छी माता वाला पितृमान्, आचार्यवान् पुरुष अपने शिष्य को उपदेश देवे वैसे ही शैलिनि ने आप से कहा कि “वाणी ही ब्रह्म है” स्वयं मुनि याज्ञ० हेतु कहने हैं—(हिं+अयदत्तः+किं+स्यात्) क्योंकि न धोले हुए मूक=गूँगा पुरुष को क्या लाभ है उस हेतु “वाणी ही ब्रह्म है” शैलिनि का यह कथन उचित है (तु+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+ते+अग्रवीन्) परन्तु उस वाणीरूप ब्रह्म का शरीर तथा आश्रय भी आप से उसने कहा है क्या ? । जनक कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+मे+म+अग्रवीत्) मुझ से आयतन और प्रतिष्ठा तो उसने नहीं बही है । याज्ञवल्क्य कहते हैं तब (सम्राट्+एतद्+एकपाद्) हे सम्राट् ! यह विज्ञान=उपदेश एक पैरवाला है यह तीन चरणों से हीन केवल एक चरण की यह उपासना है इस हेतु यह त्याग्य है । राजा कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+वै+सः+नः+ग्रहि) हे याज्ञवल्क्य ! तब निश्चय करके यह परम माननीय तत्त्वविद् आप ही मेरे आचार्य हैं सो आप ही हम लोगों को उपदेश दें । याज्ञवल्क्य कहते हैं—हे राजन् ! (वाग्+एव+आय-तनम्) वाणी का शरीर वाणी ही है अर्थात् विविधपद विविध भाषाएँ विविध मनुष्य परवादिकों के वचन आदि ही वाणी का शरीर है (आकाशः+प्रतिष्ठा) अन्तर्यामी परमात्मा ही इसका आश्रय है (यहां आकाश शब्द परमात्मवाचक है, क्योंकि अन्तर्लोकत्वा सब का आश्रय वही परमात्मा है) (एतन्+ग्रहा+इति+उपासीत) हे सम्राट् ! इस वाणी रूप ब्रह्म को अच्छा विज्ञान मान कर वाणी सम्यन्धी गुणों का अध्ययन करे । जनक पूछते हैं—(वा+ग्रहता+याज्ञवल्क्य+इति) हे याज्ञवल्क्य ! इसकी ग्रहता=विज्ञान कौन है ? अर्थात् वाणी के जानने के लिये कौन शास्त्र है (ह+उवाच+सम्राट्+वागेव) याज्ञवल्क्य बोले कि हे सम्राट्

वाणी ही इसका शास्त्र है । आगे कारण कहते हैं—(धे+सम्राट्+वाचा+धन्धुः+प्रज्ञायते) निश्चय ही हे राजन् ! वाणी से धन्धु, मित्र, निज, पर सन जाना जाता है । (ऋग्वेदः+यजुर्वेदः+सामवेदः+अथर्वान्निरसः+इतिहासः+पुराणम्+विद्या.+उप-निषदः+श्लोकाः+सूत्राणि+अनुव्याख्यानानि+व्याख्यानानि) ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम-वेद और अथर्ववेद ये चारों वेद, इतिहास और पुराण, पशु विद्या, वृक्ष विद्या, भूगोल विद्या इत्यादि विद्याएं, उपनिषदें=अध्यात्मविद्याएं, श्लोकवद्ध काव्य, अतिसं-क्षिप्त सारवाले सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान ये सब वाणी से ही जाना जाता है । (इष्टम्+आशितम्+पायितम्+अयम्+लोक.+परः+च+लोकः+मर्वाणि+भूतानि+सम्राट्+वाचैव+प्रज्ञायते) विविध यामसम्बन्धी धर्म, अन्न सम्बन्धी दान, पान-योग्य वस्तुसम्बन्धी धर्म यह पृथिवी लोक, इस पृथिवी से पर जो सूर्यादि लोक लोकान्तर विद्यमान हैं और उस उस लोक के सब प्राणी अथवा पृथिवी आदि महाभूत ये सब पदार्थ हे राजन् ! वाणीविज्ञान से ही अच्छे प्रकार जाने जाते हैं अतः हे सम्राट् (वाग्+एव+परम+ब्रह्म) वाणी ही परम ब्रह्म है । आगे फल कहते हैं—(य+एवम्+विद्वान्+एतत्+उपासते+एनम्+वाग्+न+जहानि) जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस वाणीशास्त्र को अध्ययन करता है इस उपासक को वाक्-शास्त्र नहीं त्यागता है । और (एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति) इस साधक को सब प्राणी रक्षा करते हैं और (देवः+भूत्वा+देवान्+अप्येति) वाणीशास्त्र के प्रभाव से स्वयं दिव्य गुण विशिष्ट होकर अच्छे २ विद्वान् अच्छे २ अर्पूय वस्तु को प्राप्त करता है । इतना यत्न सुन कर (जनक+वैदेह+ह+उवाच+हस्त्ययमम्+सह-स्रम्) महाराज जनकजी कहते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! हाथी के समान एक ऋषभ के साथ सौ गाएँ देते हैं । आप इसे ग्रहण करें यह सुन (स+होवाच+याज्ञवल्क्यः) यह याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे राजन् ! (मे+पिता+अननुशिष्य+न+हरेत्) मेरे पिताजी का यह मन था कि न सिखला करके अर्थात् शिष्य को अच्छे प्रकार बोध और कृतार्थ न करके न हरण करना चाहिये । उससे कुछ लेना न चाहिये (इति) ऐसा मैं भी मानता हूँ । इस हेतु अभी आप से धन लेना नहीं चाहता हूँ ॥ २ ॥

भाष्यम्—यत्ते इति । हे सम्राट् ! सम्प्रति ते तुभ्यं यः कश्चिदाचार्यः । यत् किमपि अवशीरुपादिशत् । तत्सर्वं यमं शृण्वाम । तव सन्त्यनेकाचा-

र्याः । अतस्त्वं बहुधुतः । तत्तद्याथार्थ्यमपि धारयसि न वा, एवं तेऽपि पर-
मार्थमुपदिशन्ति न वेति निर्णेतुमागतोऽरिम् । अतो हे सम्राट् ! यत्किमपि ते
तैरुपदिष्टं तत्प्रथमं श्रोतुमिच्छामि । तत्र यदि कापि न्यूनता स्यात् । तर्हि प्रपू-
श्चिष्यामि । इति याज्ञवल्क्यवचनं श्रुत्वा “जित्वा शैलिनिर्वाग्यै ब्रह्मेति” वाग्यै
परमादरणीयं यस्त्विति मेऽब्रवीदित्युवाच जनकः । शिलिनस्याऽपत्यं शै-
लिनिः । जित्वेति नामवान् कश्चिदाचार्यः । जयति जितवान्वा जित्वा । वाक्-
प्राब्रल्येन भवत्येव जनः सभायाः जेता वाग्विद्यायां नैपुण्यप्राप्त्या विजितसम-
त्वाज्जित्वेति नामधेयम् । अत्र गौखेऽर्थे ब्रह्मसन्दप्रयुक्तिरादरार्थं द्योतयति ।
बहुनाऽऽदरेण वाग्विद्याऽधिगन्तव्या । शैलिनिनोपदिष्टमर्थं स्तोतुकामस्तस्याऽऽ-
प्तत्वमयोजकीभूतं शुद्धित्रयमाह—यथेति । प्रशस्ता माता यस्य स मातृमान् ।
आपञ्चवर्षात् प्रथमवयसि यस्य पुत्रस्य जननी अनुशासेत्री विद्यते । प्रशस्तः
पिता यस्य स पितृमान् । ततः पञ्चमवर्षादूर्ध्वमुपनयपर्यन्तं यस्य पिता शिक्ष-
कोऽस्ति । प्रशस्त आचार्यो यस्य आचार्यवान् । उपनयनादूर्ध्वमासमावर्तनाद्
यस्यानुशासिताऽऽचार्यो विद्यते ॥

भूमं बिन्दा प्रशंसासु, नित्ययागेऽतिशायने ।

सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां, भवन्ति मतुवादयः ॥

ईदृशविशेषणत्रयेण विशिष्टः कश्चित्पुरुषः यथा स्वशिष्याय ब्रूयात् तथा
स शैलिनिस्तुभ्यं तद्वाग्यै ब्रह्मेत्यब्रवीत् । अत्र मुनिरेव हेतुमाह—अबदतो भूकस्य
पुरुषस्य किं स्यात् । न हि तस्येह वाऽमुत्र वा किञ्चिदपि प्रयोजनं विद्यते ।
निःस्पृहः खलु तूष्णीमास्ते ऐहिकामुष्मिकफलमोगरितृष्णः कश्चिद्यतिरवदन्
अमनि जगतीम् । न तेन काप्युपकृतिर्जगतामतः सर्वकर्म परित्यज्य मूकेन न
भाज्यम् । एतेन अहं ब्रह्मास्मीति मत्वा नैष्कर्म्याचरणमनुचितमित्यपि दर्शित-
म् । अतस्तद्वचनमाप्तत्वाददेयमित्यत्र न किमपि वाच्यमस्ति । तु किन्तु हे
सम्राट् । ते तुभ्यम् । सः । तस्य वाग्व्रह्मणः । आयतनं शरीरम् । प्रतिष्ठाञ्च
त्रिष्वपि कालेष्वश्रयश्चाऽब्रवीत् किम् ? इति याज्ञवल्क्येन पृष्ठो राजा न मे ब्रवी-
तीत्युवाच—न मह्यमायतनं न च प्रतिष्ठामाब्रवीदित्यर्थः । तर्हि हे राजन् ! एतदुपा-
सनम् । एकपादेव वर्तते । एकः पादो यस्य तदेकपाद् । त्रिभिश्चरन् रहितमिद-

मुपासनम् । अतो हेयमित्याशयः । हे याज्ञवल्क्य ! यदि एकपादिदम् । तर्हि सर्वभावज्ञः सर्वपदार्थतत्त्वविन्ममाचार्यस्तमस्त्येव । स त्वमेव नोऽस्मभ्यं ब्रूहि एतदर्थमेव आगतोऽपि वर्तस । हे राजन् ! तर्हि शृणु । अस्व वाग्भक्षणः । आयतनं शरीरं वागेव वचनमेव । विविधभाषाः । विविधपञ्चादीनां भाषणमित्यादि शरीरम् । प्रतिष्ठा तु आकाशः । अत्र प्रकरणे परमात्मवाची आकाशशब्दः सर्वत्र वेदितव्यः । अन्ततो गत्वा परमात्मैव सर्वेषामाश्रयः । हे राजन् ! एतद्वाग्भक्ष । प्रज्ञेति प्रकृष्टं विज्ञानमिति मत्वा उपासीत विचारयेदधीयीत । जनकः पृच्छति—हे याज्ञवल्क्य ! तस्य का प्रज्ञता ? प्रकृष्टा ज्ञा यस्येति प्रज्ञम् । प्रज्ञस्य भावः प्रज्ञता । यद्वा प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञम् तस्य भावः । याज्ञवल्क्य आह—हे सम्राट् ! तस्य वागेव प्रज्ञता । नाऽन्यदित्यर्थः । अत्र हेतुमाह मुनिः । हे सम्राट् ! वै निश्चयेन । वाचैव बन्धुः प्रज्ञायते । अयं अस्मद्वन्धुरस्तीति वायया भाषणे कृते ततोऽयं मम बन्धुरिति विज्ञायते । ततो विज्ञानः यथायोग्यं स सत्कारमालभते । इह हि वागेव कारणम् । एवम् अग्नेदो यजुर्वेदः सामयेदोऽथर्वाङ्गिरम इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि इमानि सर्वाणि वाचैव विज्ञायन्ते । एतेषामर्थस्तु मैत्रेयीब्राह्मणे द्वितीयेऽध्याये उक्तो वेदितव्यः । तथा इष्टं वागनिमित्तं धर्मजातम् । हुतं होमनिमित्तम् । आशितमन्नदाननिमित्तं । पायितं पेयवस्तुदाननिमित्तधर्मजातम् । तथा अयञ्च लोकः इह लोकस्थ सर्वभूतान्तः । तथा परश्च लोकः । अस्माल्लोकात्पगो यो विविधसूर्यादिलोको दृश्यते तत्स्थः सामान्येन दृष्टान्तश्च । एवं सर्वाणि च भूतानि तत्तल्लोकस्थप्राणिजातानि । यद्वा पृथिव्यादीनि महाभूतानि । इत्यादीनि जगति सहस्रशो विद्यमानानि वस्तूनि तत्प्राणि वा । वाचैव प्रज्ञायन्ते । अतो हे सम्राट् ! वागै परमं ब्रह्म परममादरणीयं वस्तु । वाग्वा आदर्यव्या । आदरबुद्ध्या च तद्गतधर्मा अध्येतव्याः । अग्रे एतदुपासकस्य फलमाह—नैनमिति । यः कश्चिदुपासकः । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विद्वान् जानन् सन् । एतद्वाग्ब्रह्मोपास्ते अधीते विचारयति । एनमुपासकम् । वाग् कदापि न जहाति त्यजति वाग्विलामविद्यायां वर्धत एव सः । न केपलो वायया अनुग्रहः । तत्प्रभावेण तु सर्वाणि भूतानि प्राणिनः एनमुपासकम् अमिरचन्ति अभिनः पालयन्ति । तस्मिन् आपतन्त्या महत्या

अपि विपत्तेः सकाशात्तं वाग्मिनं बलिदानायुषहारै रक्षन्ति एवम् देवो भूत्वा देवान् अप्येति इह हि संजातदेवभावो परमविद्वान् भूत्वा देवान् दिव्यगुणयुक्तान् पुरुषान् दिव्यान् गुणान् वा अभूतपूर्वाणि दिव्यानि विज्ञानानि वा अप्येति प्राप्नोति । अपिपूर्वकादितेः लटि रूपम् । अहो वाग्देवता यस्मिन् प्रसीदति । तस्य यशः को न गायति । वाल्मीकिव्यासादीनां महाकवीनां प्रातःस्मरणीयं नामधेयं गृहे गृहे कदा न कीर्त्यते । “किमर्थमचारीः पशून्निच्छन्मयवान्तानिति” पृष्टेन याज्ञवल्क्येन उभयमेव सम्राडिति प्रत्युक्तम् । अएवन्तानि तस्वान्युपदिष्टानि । याज्ञवल्क्येन सम्प्रतिजनककर्तृकप्रदेयाः पशव एव शिष्यन्ते । अतः स्वप्रतिशामनुस्मरन्नुपदेशेन सुप्रसन्नः सन् वैदेहो जनकस्तं प्रत्युवाच—हे याज्ञवल्क्य ! इत्त्युपमं गवां सहस्रं तुभ्यमहं ददामि त्वं तरस्वीकुरु । इस्तितुल्य एक ऋषभो यस्मिन् तद्इत्त्युपमम् । यस्मिन् गवां सहस्रे एक ऋषभो महोक्षो गजसमानोऽस्ति । एवं गावश्चापि दोग्ध्यो दीयन्ते ब्रह्मविदे । अतो हे याज्ञवल्क्य ! घटोऽध्वः सर्वाः वर्तन्ते । एवं सम्राडवचनं श्रुत्वेतर आह—हे सम्राट् ! अननुशिष्य शिष्यामकृत्वा शिष्याय सम्यग् शिष्यां न दत्वा तं कृतार्थञ्च न कृत्वा ततो घनं न हरतेति । मे मम पिता मन्यते मन्यते स्म । अहमपि एतदेव मन्ये । अत इदानीं न गोसहस्र स्वीकारः ॥ २ ॥

माध्याह्न्य—“जित्वा” जो सभा में विजयी होये वा जिसने सभा जीती है उसे “जित्वा” कहते हैं । यह बात प्रसिद्ध है कि जिसको बाणी विद्या में निपुणता प्राप्त होगी वह अवश्य ही विजयी होगा । यह शिलिनाचार्य का पुत्र बाणी विद्या में ही निपुण था और इसी का उपदेश दिया करता था । अतः इसका नाम जित्वा था ।

“वाग् वै ब्रह्म” यहां ब्रह्म शब्द गौरव अर्थ में आया है । यहां केवल आदर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । आदर से बाणीशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये और इस पवित्र बाणी को मिथ्यादि भाषण से कदापि दूषित न करे अतः यहां “ब्रह्म” शब्द का पाठ है ।

मातृमात्र इत्यादि—राजा जनक को शौलिनि जित्वा के वचन पर अविरवास अभ्रदा न होजय इस हेतु यह आत पुरुष है क्योंकि इसने माता, पिता, आचार्य

से शिक्षा पाई है । इत्यादि विषय कहने को “मातृमान्” आदि तीन विरोपण कहते हैं । जिसकी माता अच्छी विदुषी हो और और पञ्चवर्ष तक उस माता से शिक्षा पाई हो उसे “मातृमान्” । इसी प्रकार उपनयन मत्सर पर्यन्त जिसने विद्वान् पिता से शिक्षा पाई हो उसे “पितृमान्” एवं समावर्त्तन पर्यन्त गुरु के आश्रय रहकर पूर्ण अध्ययन किया हो, आचार्य भी उसे यत्नपूर्वक पढ़ाता हो उसे “आचार्यमान्” कहते हैं । हे राजन् ! यह जित्वा इन तीन गुणों से संयुक्त है इस हेतु इसका कथन सत्य है क्योंकि जो लोग भाषण नहीं करते हैं वा ऐहिक पारलौकिक सुस्तरूप फल को त्याग कर वाणी द्वारा किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होते हैं और इसी को परधर्म मानकर “भूक” बन जाते हैं । अथवा अपने को “अहं ब्रह्मास्मि” मान सब कर्म से त्रिभुक्त हो मौन साध बैठ जाते हैं । उस मनुष्य से अपनी और जगत् का क्या लाभ हो सकता है । इस हेतु वाणी आदरणीय है । यहा जित्वा का कथन मधेया सत्य है, परन्तु इस वाणी का आयतन और प्रतिष्ठा ये दो अङ्ग और होते हैं सो उन्होंने आप से कहे वा क्षिपा रखे यदि पिछ्छा रखे अथवा उनके विषय में आपने पूछा ही नहीं । अथवा यहा तक वे जानते ही न हों तब यह उपासना उचित नहीं । यह केवल “एकपाद्” एक ही पैर वाला है । आयतन नाम शरीर का है “वामेव” वाणी का शरीर क्या है ? निःसन्देह विविध भाषाएँ इसका शरीर इस हेतु वाणी शास्त्र के अध्ययन के लिये विविध भाषा जाननी चाहियें । पशु पक्षी आदि की मधुर ध्वनि के तत्त्वों को विचारना चाहिये । एवं अपनी वाणी सर्वदा शुद्ध रखनी चाहिये । परन्तु हे राजन् ! इन सबों के प्रयोजन के ऊपर ध्यान देना चाहिये ।

आकाश—इन वाणियों का आश्रय अन्त में वही ब्रह्म है । सारी वाणी का मूलकारण ब्रह्म है उस ब्रह्म से प्रथम वेदरूप वाणी निकली तब स्रसार में अनेक भाषाएँ कान्यादि हुई । इस हेतु सबका अन्तिम तात्पर्य ब्रह्म ही है । हे राजन् ! इसकी भी जो परम प्रतिष्ठा हो उसे ही जानो । इस प्रकरण में सर्वत्र आकाश शब्द परमात्मा वाचक है । जो कुछ विद्या प्राप्त होती है वह वाणी के द्वारा ही । अतः बुद्धि का कारण मानो वाणी ही है इस हेतु इसको “प्रज्ञादेवी” मानकर इसके सारे गुणों को पूर्णतया विचारें । हे राजन् ! ये ही तीन इसके अवशिष्ट वरण हैं तीन ये और अतुल्य आदर इन चारों के साथ वाणी का अध्ययन करो ।

परमं ब्रह्म=परम आदरणीय वस्तु । “देवो भूत्वा देवान् अप्येति” यह नियम है कि योग्य होकर योग्य को पाता है । विद्वान् होने पर विद्वानों की गोष्ठी का अनुभव करता है । विविध ऐश्वर्य को भोगता है । अपूर्व विद्याओं को निकालता, अच्छे २ गुण इसमें आते हैं । इत्यादि भाव जानना । जिसने वाग्देवता को अपने वश में कर लिया है । उसके यश को कौन नहीं गाता है । वाल्मीकि व्यासादि महाकवियों के प्रातःस्मरणीय नाम का गृह २ में कथन कीर्तन नहीं होता है ? ।

“हस्त्युपमम्” राजा ने याज्ञवल्क्य से पूछा था कि आप किसलिये यहाँ आये हैं । क्या पशुओं की वा तत्त्वनिर्णयों की इच्छा से ? इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया था कि दोनों के लिये । अब तत्त्वनिर्णय करना जो इनका काम था सो इन्होंने किया । राजा की ओर से पशु देना बाकी रहा । इस हेतु राजा अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण करते हुए प्रार्थना करते हैं कि इतने उपदेश के लिये आप को १००० गाय देंगे हैं । वे सब गायें बड़ी पुष्ट, दूध देने वाली हैं । और इसके साथ एक गज समान अतिवलिष्ट ऋषभ महोत्तम सांड भी देते हैं (हस्तिः समानः यस्मिन्) हस्ति समान एक ऋषभ है जिसमें ऐसा समास होता है । परन्तु याज्ञवल्क्य के पिता का यह सिद्धान्त था कि जबतक शिष्य अच्छे प्रकार न समझ जाय और क्लृप्त न हो जाय तब तक उससे गुरुदक्षिणा कुछ नहीं लेनी चाहिये । इस हेतु याज्ञवल्क्य ने उस पुरस्कार को अस्वीकार किया । क्योंकि अभी तक राज्ञाओं के समाधान नहीं हुए थे ।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण्वामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौ-
ल्यायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्मू-
यात्तथा तच्छौल्यायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किं
स्यादित्यब्रवीन्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्ये-
कपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एव-
ऽऽयतनमाकाशःप्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता या-
ज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट्

कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधा-
शङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो
वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्य-
भिचरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते
हस्त्यूपमं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच
याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ३ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप मे किसी ने कहा है
उसको हम सुन । जनक—शौल्वायन उदङ्ग ने मुझ से कहा है कि प्राण ही आदर-
णीय वस्तु है । याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान, पितृमान, आचार्यवान् उपदेश देवे
वैसे ही शौल्वायन ने कहा है कि “प्राण ही आदरणीय वस्तु है” क्योंकि प्राणर-
हित को “क्या लाभ ” हो सकता । परन्तु क्या उन्होंने आप से उसके आयतन
और प्रतिष्ठा भी कहे हैं ? । जनक—मुझ से नहीं कहे हैं । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् !
निश्चय यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! तो आप ही
हम से कहें । याज्ञवल्क्य—प्राण ही आयतन है आकाश (ब्रह्म) प्रतिष्ठा है । इस
(प्राणरूप आदरणीय वस्तु) को “प्रिय” मानकर अभ्ययन करे । जनक—हे याज्ञ-
वल्क्य ! इसकी प्रियता क्या है ? । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! प्राण ही (इसकी प्रि-
यता है) हे सम्राट् ! निश्चय प्राण की ही कामना के लिये अयाज्य (यह करवाने
के अयोग्य पुरुष) को यज्ञ करवाता है । अप्रतिगृह्य (जिससे दान नहीं लेना चा-
हिय) का प्रतिग्रह लेता है । जहां वध की आशा है उस दिशा में भी जाता है ।
यह सब कार्य हे सम्राट् ! प्राण की कामना के लिये ही मनुष्य करता है । अतः
हे सम्राट् ! प्राण ही परम आदरणीय वस्तु है । इसको प्राण नहीं त्यागता, इसकी
रक्षा सन प्राणी करते हैं । देव होकर देवों को प्राप्त करता है । जो इस प्रकार
जानता हुआ इस (प्राणरूप आदरणीय वस्तु) की उपासना करता है । जनक—
(इस शिक्षा के लिये) हाथी के समान एक साड़ के साथ एक सहस्र गाँयें देता
हूँ । हे राजन् ! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को समझाने बिना
उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ३ ॥

पदार्थ—राजा से द्वितीयवार याज्ञवल्क्य पृच्छते हैं कि हे सम्राट् । (यद्+एव+ते+कः+चित्+अब्रवीत्+तत्+शृण्वाम्) जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें (इति) जनक महाराज कहते हैं—(शौल्बायनः+उदङ्घः+मे+अब्रवीत्+प्राणः+वै+ब्रह्म) शुल्बाचार्य के पुत्र उदङ्घाचार्य ने मुझ से कहा है कि प्राण ही परम आदरणीय वस्तु है । (इति) याज्ञवल्क्य कहते हैं—(यथा+मा-तृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+भूयात्) जैसे मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् विद्वान् अपने शिष्य को उपदेश देवे । (तथा+शौल्बायनः+तत्+अब्रवीत्+प्राणः+वै+ब्रह्म+इति) वैसे ही शौल्बायन=शुल्बाचार्य के पुत्र ने उसको कहा है कि प्राण ही परम आदरणीय वस्तु । (हि) क्योंकि (अप्राणतः+निम्न+स्यात्+इति+तु+ते+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+अब्रवीत्) बिना प्राण के मनुष्य को लाभ क्या हो सकता है । अस्तु । उन्होंने आप से उस प्राणरूप आदरणीय वस्तु का आश्रय और प्रतिष्ठा भी कहा है । जनक—(मे+न+अब्रवीत्) मुझ से न आयतन और न प्रतिष्ठा कही है । याज्ञवल्क्य—(सम्राट्+एतत्+एकपाद्) हे सम्राट् यह उपासना एक चरण का है । अर्थात् तीन चरणों से हीन है (इति) । जनक—(या-ज्ञवल्क्य+सः+वै+नः+ब्रूहि) हे याज्ञवल्क्य । परम विद्वान् तत्त्ववित् जो हम लोगों के आचार्य सो आप ही हम लोगों को उपदेश देवें । याज्ञवल्क्य कह०—हे राजन् । (प्राणः+एव+आयतनम्+आकाराः+प्रतिष्ठा+एतत्+प्रियम्+इति+उपासीत) प्राण का आयतन प्राण ही है परन्तु प्रतिष्ठा आकाराः=ब्रह्म है इस प्राणरूप परम आदरणीय वस्तु को “ प्रिय ” मानकर इसके गुणों का अध्ययन करे । जनक पू०—(याज्ञवल्क्य+का+प्रियता) हे याज्ञवल्क्य ! इसकी प्रियता क्या है । या-ज्ञवल्क्य (इ+उवाच+सम्राट्+प्राणः+एव) बोले कि हे सम्राट् प्राण ही अर्थात् प्राण की प्रियता प्राण ही है । इस में अनेक कारण द्रष्टाते हैं । (सम्राट्+प्राणस्य+वै+कामाय+प्रयान्यम्+याजयति) हे सम्राट् । प्राण=जीवन की ही कामना के लिये जिसको यज्ञ नहीं करवाना चाहिये उस अयान्य पुरुष को भी लोग यज्ञ करवाते हैं । (अप्रतिगृह्यस्य+प्रतिगृह्णाति) जिससे दान नहीं लेना चाहिये ऐसे अप्रतिगृह्य पुरुष से भी दान लेते हैं । और (तत्र+वधाराद्धम्+अपि+भवति+याम्+दिशम्+एति) उस दिशा में वध की आराद्धा भी है तथापि जिस दिशा को जाता है अर्थात् जहा मरने की भी आराद्धा है उस दिशा को भी जाता है (सम्राट्+प्राणस्य+एव+

कामाय) हे राजन् । प्राण की ही कामना के लिये ये सब कार्य करते हैं अतः ।
 (सम्राट्+प्राणः+यै+परमम्+ब्रह्म) हे सम्राट् । प्राण ही प्रियतर वस्तु है । आगे
 फल कहते हैं—(यः+एवम्+विद्वान्+एनम्+उपास्ते+एनम्+प्राणं+न+जहाति) जो
 कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस प्राणरूप परम प्रिय आदरणीय वस्तु का
 धर्म वा गुणों का अध्ययन करता है इस उपासक को प्राण नहीं त्यागता है । और
 (एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति) इस उपासक की सब प्राणी सब प्रकार
 से रक्षा करते हैं । (देवः+भूत्वा+देवान्+अप्येति) परम विद्वान् हो अथवा दिव्य
 ज्ञानी हो दिव्य गुण अर्थात् अपूर्व वस्तुओं को प्राप्त करता है । (जनकः+यदेहं+
 ह+उवाच) विदेहाधिपति जनक महाराज ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य । (हस्त्युप-
 भम्+सहस्रम्+इदामि+इति) जिसमें हाथी के समान एक बैल है अर्थात् गजस-
 मान एक बैल (साड) के साथ एक सहस्र गायें आपको इस शिक्षा के लिये
 देता हूँ आप स्वीकार करें । (सः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः+मे+पिता+अमन्यत+
 अननुशिष्य+न+दरेत+इति) ये सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोले कि मेरे पिताजी मानते
 थे कि मैं शिक्षा देकर अर्थात् पूर्ण शिक्षा और शिष्य को कृतार्थ किये बिना शिष्य
 से कुछ लेना नहीं चाहिये । हे राजन् । इस सम्मति के अनुकूल मैं हूँ आप को
 मैंने पूरी शिक्षा नहीं दी है और आप भी पूर्णतया कृतार्थ नहीं हुए हैं, इस हेतु
 आपसे अभी कुछ नहीं ले सकता ॥ ३ ॥

भाष्यम्—यदेवेति । द्वितीयवारं सम्राजं जनकं याज्ञवल्क्यः पृच्छति ।
 शौन्वायनः । शुन्वस्याचार्यस्यापत्यं शौन्वायनः उदङ्को नामतः । उदङ्को
 नाम कधिदाचार्यः । प्राणो वायुःसामान्यतः । ब्रह्म परमादरणीयं प्रियं वस्तु ।
 प्राण एव आयतनम् । अतः संचारिणः प्राणस्य बाह्यवायुरेवाऽऽयतनम् ।
 यद्वा वायुसहितं प्राणेन्द्रियमेवाऽऽयतनम् । एतःप्राणस्वरूप परमादरणीय वस्तु
 प्रियमिति प्रिय मत्त्वोपासीत तद्गतगुणा अधिगन्तव्याः । प्राणस्य प्रियत्वे हेतु-
 माह—हे सम्राट् प्राणस्यैव कामाय अन्नपानादिना प्राणस्यैव प्रतिपालनाय
 अयाज्यम् याजयितुमयोग्यं दुष्टकर्माचरन्त पतितं पुरुषम् । सन्त्यनेके पुरुषाः
 घोरकर्माणि ते स्वकृतदोषमार्जनाय लोके च प्रख्यातिलाभाय यियत्नन्ति ।
 परन्तु तेऽप्याज्या एव । ईदृशं पापिनमपि प्राणकामाय याजयति । एवम् अग्र-

तिगृह्यस्थ यस्मादुग्रकर्मण्यौरादेः दानं न ग्रहणीयमस्ति । तस्य सकाशादपि
प्रतिगृह्णाति दानमाददाति । अपि च यां दिशं तस्करादिसंकीर्णमपि दिशम् ।
एति गच्छति । तत्र तस्यां दिशि वधाशङ्कम् वधनिमित्तमाशङ्कम् वधाशङ्का
भवति तथापि तां दिशं विचार्य यात्येव । हे राजन् ! एतत्सर्वं प्राणस्य कामा-
यैवाऽऽचरति । अतः प्राणो वै परमं ब्रह्म । परमादरणीयं प्रियं वस्तु । अन्यत्
सर्वमुक्तार्थम् ॥ ३ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीच्चक्षुण्वामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वाष्ण-
श्चक्षुर्वे ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वा-
ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वे ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते
तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति
स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्य-
मित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति
होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्त माहुरद्राक्षीरिति स आहा-
द्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वे सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं
चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्याभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवा-
नप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृपभं सहस्रं ददामीति
होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत
नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा हो
उसको हम सुनें । जनक—वार्णवर्कु ने मुझ से कहा कि चक्षु ही परम आदरणीय
वस्तु है । याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् उपदेश देवे । वैसे
ही वार्णवर्कु ने कहा है कि चक्षु ही परम आदरणीय वस्तु है क्योंकि न देखते
हुए मनुष्य को क्या लाभ हो सकता है । परन्तु क्या उन्होंने आपसे उसको आय-
तन और प्रतिष्ठा भी कहे हैं । जनक—मुझ से नहीं कही है । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् !

निश्चय यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सो आप ही हमसे कहें । याज्ञवल्क्य—चक्षुरिन्द्रिय ही आयतन है । आकाश (ब्रह्म) ही प्रतिष्ठा है । इस (चक्षुरूप आदरणीय वस्तु) को सत्य मानकर इसके गुणों का अध्ययन करे । जनक—इसकी सत्यता क्या है । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! चक्षु ही (इसकी सत्यता है) हे सम्राट् ! चक्षु से ही देखते हुए पुरुष को लोग पूजते हैं कि क्या तुने इसको देखा है । वह यदि कहता है कि मैंने देखा है तब सत्य होता है । अतः हे सम्राट् ! चक्षु ही परम आदरणीय वस्तु है इसको चक्षु नहीं त्यागता । इसकी रक्षा मन प्राणी करते हैं । देन होकर वेधों को प्राप्त करता है । जो इस प्रकार जानता हुआ इस (प्राणरूप आदरणीय वस्तु) की उपासना करता है । जनक—इस शिक्षा के लिये हाथी के समान एक साठ के साथ एक सहस्र गायें देता हूं । याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को सम-मात्रे बिना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ४ ॥

पदार्थ—राजा से तृतीयवार याज्ञवल्क्य पूछते हैं कि हे सम्राट् ! (यच्+एव+ते+ऋ+चित्+अग्रवीत्+तत्+शृण्वाम+इति) जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें । जनक महाराज कहते हैं—(वार्ष्णे+यर्कुः+मे+अग्रवीत्+चक्षुः+वै+ब्रह्म) वृष्णाचार्य के पुत्र वर्कु नामक आचार्य ने मुझ से कहा है कि चक्षु ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है । याज्ञवल्क्य क०—(यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+भूयात्) जैसे मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् विद्वान् अपने शिष्य को उपदेश देवे । (यथा+वार्ष्णे+तत्+अग्रवीत्+चक्षुः+वै+ब्रह्म+इति) वैसे ही वार्ष्णे यर्कु ने उसको कहा कि चक्षु ही परम आदरणीय वस्तु है (हि+अपरयतः+किम्+भूयात्) क्योंकि न देखते हुए पुरुष को क्या लाभ हो सकता है (इति+हु+ते+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+अग्रवीत्) परन्तु उन्होंने आप से उस चक्षुरूप आदरणीय वस्तु का शरीर और आश्रय भी कहा है । जनक—(मे+न+अग्रवीत्) मुझ से न आयतन और न प्रतिष्ठा कही है । याज्ञवल्क्य—(सम्राट्+एतत्+एकपाद्) हे सम्राट् ! यह उपासना एक चरण का है अर्थात् तीन चरणों से हीन है । (इति) जनक—(याज्ञवल्क्य+स+वै+न+भूहि) हे याज्ञवल्क्य—परम विद्वान् परम तत्त्ववित् जो हम लोगों के आचार्य आप हैं सो आप ही हम लोगों

से उपदेशा कहें । याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! (चक्षुः+एव+आयतनम्+आकाशः+एन-
 त्+सत्त्वम्+उपासीत) चक्षुर्निद्रिय का चक्षुगोलक ही आयतन शरीर है ब्रह्म ही
 अन्त में आश्रय है । इस चक्षुरात्मक परम आदरणीय प्रिय वस्तु को सत्य मान-
 कर इसके गुणों का अध्ययन करे । ज० १०—(याज्ञवल्क्य+ना+प्रियता) हे याज्ञ-
 वल्क्य ! इसकी प्रियता क्या है । याज्ञ०—(ह+उवाच+सम्राट्+चक्षुः+एव) बोले
 कि हे सम्राट् ! चक्षुर्निद्रिय की सत्यता चक्षु ही है । (सम्राट्+चक्षुषा+परयन्तम्+
 आहूः) हे सम्राट् ! जब एक दृष्टा और श्रोता दोनों विवाद करते हुए किसी निर्णय
 के लिये मध्यस्थ के निकट आते हैं तो जिसने नेत्र से देखा है उस पुरुष से वे
 मध्यस्थ लोग पूछते हैं कि (अश्लीः+इति+सः+आह+अत्राक्षम्+इति+तम्+सत्यम्+
 भवति) क्या तू ने अपने नेत्र से उसको देखा है इस के बाद यदि यह कहता है
 कि मैंने इसको अपनी आँखों से देखा है तब उसका कथन सत्य होता है । क्योंकि
 आँखों से देखी हुई वस्तु में व्यभिचार नहीं हो सकता और जो यह कहता है कि
 मैंने आँख से देखा तो नहीं परन्तु सुना है । इस की बात विश्वसनीय नहीं होती ।
 क्योंकि इसमें सम्भव है कि यह असत्य हो सकता है, इस हेतु चक्षु ही सत्य है
 इसको सत्य मानकर गुणों का अध्ययन करे । हे राजन् ! (चक्षुः+वै+परमम्+
 ब्रह्म) चक्षु ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है । आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+
 विद्वान्+एनम्+उपास्ते) जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस चक्षुरूप परम प्रिय
 आदरणीय वस्तु के धर्म या गुणों का अध्ययन करता है (एनम्+चक्षुः+नन+जहाति+
 एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति+देवः+भूत्या+देवान्+अप्येति) इस उपासक
 को चक्षु नहीं त्यागता है और इस उपासक को सत्र प्राणी सत्र प्रकार से रक्षा करते
 हैं परम विद्वान् हो अथवा दिव्य दृष्टि हो दिव्य गुण अर्थात् अपूर्व वस्तुओं को
 प्राप्त करता है । (जनकः+विदेह+ह+उवाच+हस्त्युपभाम्+सहस्रम्+ददामि+इति)
 विदेहाधिपति जनक महाराज ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! जिसमें दार्ढी के समान
 एक बैल है अर्थात् गज समान एक बैल (साड) के साथ एक सहस्र गायें आपको
 इस शिक्षा के लिये देता हूँ आप स्वीकार करें । (सः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः+
 मे+पिता+अमन्यत+अननुशिष्य+न+हरेत+इति) वे सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोले कि
 मेरे पिता मानते थे कि न शिक्षा देकर अर्थात् पूर्ण शिक्षा और शिष्य को कृतार्थ
 किये बिना शिष्य से कुछ न लेना चाहिये । हे राजन् ! इस सम्मति के अनुकूल

में हूं । आपको मैंने पूरी शिक्षा नहीं दी है और आप भी पूर्णतया कृतार्थ नहीं हुए हैं । इस हेतु आपसे अभी कुछ मैं नहीं ले सकता हू ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यदिति । वाष्णोवृष्णास्याऽऽचार्यस्यापत्यम् । नामतोवर्कुः । कश्चिद्वयर्कुनामाचार्यः । चक्षुर्वै परमादरणीयं मिथवस्तु । चक्षुर्गोलकं चक्षुष आयतनं शरीरम् । आकाशो ब्रह्म । एनच्चक्षुरात्मकं ब्रह्म “सत्य”मिति मत्वापासीत् । चक्षुषः सत्यत्वे हेतुमाह मुनिः—हे राजन् ! यदा द्रष्टृश्रोतारौ धिवदमानौ पुरुषौ निर्णयार्थमागच्छतः । तदा मध्यस्था चक्षुषा पश्यन्तं पुरुषं प्रति आहुः किं भोः ! त्वमिदं किं स्वचक्षुषा अद्राचीः । स यदि कथयति । अहमिदं स्वचक्षुषाऽद्राक्षम् । तदा तत्सत्यं मन्यन्ते अव्यभिचारात् । इतरमसत्यम् व्यभिचारात् । अतश्चक्षुर्वै सत्यम् । अन्यत्सर्वमुक्तार्थम् ॥ ४ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण्वामेत्यब्रवीन्मे गर्हभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृभान्पितृमानाचार्यवान्श्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यश्रुण्वतो हि किं स्यादित्येब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत् काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां काश्च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रं श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यूपमं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ५ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है

उससे हम सुनें । जनक-भारद्वाज गर्दभीविपीताऽऽचार्य ने मुझ से कहा है कि श्रोत्र ही परम आदरणीय प्रियवस्तु है । याज्ञवल्क्य-जैसे कोई मातृमान पितृमान् आचार्यमान उपदेश देवे । वैसे ही भारद्वाज ने कहा है कि श्रोत्र ही परम आदरणीय प्रियवस्तु है, क्योंकि न सुनते द्रुण (बधिर) पुरुष को क्या लाभ हो सकता है । परन्तु क्या उन्होंने आपसे उसका आयतन और प्रतिष्ठा भी कही है ? । जनक-मुझ से नहीं कही है । याज्ञवल्क्य-हे सम्राट् ! निश्चय, यह (उपासना) एक चरण का है । जनक-हे याज्ञवल्क्य ! सो आप ही हमसे कहें । याज्ञवल्क्य-श्रोत्रेन्द्रिय ही आयतन है और आकाश (परमात्मा) ही आश्रय है । इस (श्रोत्र-रूप प्रश्न) को “अनन्त” मानकर अभ्ययन करें । जनक-हे याज्ञवल्क्य ! इसकी अनन्तता क्या है । याज्ञवल्क्य-हे सम्राट् ! दिशा ही (इस श्रोत्र की अनन्तता) है । हे सम्राट् ! उमी हेतु, निश्चय कोई पुरुष जब (याम्+काम्+अपि) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव, ऊर्ध्व इन सबों में से किसी (दिशाम्) दिशा को (गच्छति) जाता है तब (अस्याः) इस दिशा के (अन्तम्) पारको (नेत्र) कदापि भी नहीं (गच्छति) जाता है । अर्थात् दिशा का अन्त नहीं पाता है (हि) क्योंकि (दिशः) दिशार्ध (अनन्ताः) अनन्त हैं । जिनका अन्त न हो वही अनन्त कहते हैं । इसमें शङ्का होती है कि श्रोत्र का आकाश से सम्बन्ध कहा गया है दिशा से तो नहीं । इस पर कहते हैं कि (दिशः+वे+सम्राट्+श्रोत्रम्) दिशा ही श्रोत्र है अर्थात् आकाश ही उस २ प्रदेश से सम्बद्ध होकर उस २ दिशा का नाम वाला होता है, क्योंकि आकाश के अतिरिक्त दिशा कोई वस्तु नहीं । अतः हे सम्राट् ! श्रोत्र ही परम आदरणीय वस्तु है । इससे श्रोत्र नहीं त्यागता इसकी रक्षा सय प्राणी करते हैं । देव होकर देवों को प्राप्त करता है । जो इस प्रकार जानता हुआ इस (श्रोत्र-रूप आदरणीय वस्तु) की उपासना करता है । जनक-(इस शिक्षा के लिये) हार्यो के समान एक सांड के साथ एक सहस्र गाँव देता हूँ । याज्ञवल्क्य-हे राजन् ! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को समन्ताये विना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—भारद्वाजो भरद्वाजश्रोत्रोत्पन्नः । गर्दभीविपीतो नाम कश्चिदाचार्यः । ननु श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धमाहुर्विचक्षणाः । न हि श्रोत्रदिशोः । तर्हि

कथं दिशो वर्णनम् । श्रोत्रं श्रोत्रकारणं दिग्देवतेत्यर्थः । श्रोत्रमेव श्रोत्रेन्द्रिय-
मेव । आपतनं शरीरम् । एनच्छ्रोत्रात्मकं ब्रह्म अनन्त इति मत्वोपासीत तद्ग-
तगुणा अधिगन्तव्याः इत्यर्थः । दिशोऽनन्ततां दर्शयति-हे सम्राट् । यतो
दिशोऽनन्ता वर्तते । तस्माद्ब्रह्मेतोः यः कश्चित्पुरुषः यां काञ्च दिशं प्रार्थी
या दक्षिणां वा प्रतीचीं वा उदीचीं वा ध्रुवां वा ऊर्ध्वां वा गच्छति । स गन्ता-
पुरुषः । नैव । अस्या दिशः । अन्त पारम् गच्छति । हि यतः-अनन्ता दिशः
सन्ति न विद्यतेऽतो यासां ता अनन्ताः । अन्यत्सर्वं व्याख्यातप्रायम् ॥ ५ ॥

यदेव ते कश्चिद्ब्रवीत्तच्छृण्वामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो
जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान्
ब्रूयान्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किं
स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येक-
पाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवाय-
तनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता
याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट्
स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो
मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भू-
तान्यभिचरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदु-
पास्ते हस्त्यृपभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स
होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेरेति ॥६॥

अनुराट्—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् । जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है
उसको हम सुनें । जनक—जाबाल सत्यकाम ने मुझ से कहा है कि मन ही आद-
रणीय वस्तु है । याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् उपदेश
देवे । वैसे ही जाबाल सत्यकाम ने कहा है कि मन ही आदरणीय वस्तु है, क्योंकि
बिना मन के पुरुष को क्या लाभ है । परन्तु क्या उन्होंने आप से उसके आय-

तन और प्रतिष्ठा भी कहे हैं ? । जनक—मुझ से नहीं कहे हैं । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! निश्चय, यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सो आप ही हम से कहें । याज्ञवल्क्य—मन का मन ही आयतन है आकारा (ब्रह्म) प्रतिष्ठा है । इस मनःस्वरूप परम आदरणीय वस्तु को आनन्द मान कर इसके गुणों का अध्ययन करे । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! इसकी आनन्दता क्या है । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! मन की आनन्दता मन ही है । हे सम्राट् ! प्रथम मन ही पुरुष को स्त्री के निकट ले जाता है । तब उस स्त्री में प्रविरूप पुत्र उत्पन्न होता है वह आनन्द है । अतः हे सम्राट् ! मन ही परम आदरणीय वस्तु है । जनक—(इस शिक्षा के लिये) हाथी के समान एक सांड के साथ एक सहस्र गायें देता हूँ । याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को सम-झाये बिना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ६ ॥

• पदार्थ—राजा से पञ्चमवार याज्ञवल्क्य पूछते हैं—हे सम्राट् ! (यद्+एव+ते+कः+चित्+अब्रवीत्+तत्+शृण्वाम्) जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें (इति+जाबालः+सत्यकाम+मे+अब्रवीत्+मनः+वै+ब्रह्म) जनक महाराज कहते हैं कि जाबाला स्त्री का पुत्र सत्यकामाचार्य ने मुझ से कहा है कि मननवृत्ति ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है । याज्ञवल्क्य कहते हैं—(यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+ब्रूयात्) जैसे मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् विद्वान् अपने शिष्य को उपदेश देवे (तथा+जाबालः+तत्+अब्रवीत्+मनः+वै+ब्रह्म+इति) वैसे ही जाबाल सत्यकाम ने उसको कहा है कि मन ही परम आदरणीय वस्तु है (हि+अमनसः+किं+स्यात्) क्योंकि जिस में मननवृत्ति नहीं उसको इस लोक परलोक में क्या लाभ हो सकता । (इति+तु+ते+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+अब्रवीत्) परन्तु आप से उस मनःस्वरूप आदरणीय वस्तु का शरीर और आश्रय भी कहा है ? जनक कहते हैं—(मे+न+अब्रवीत्) मुझ से न आयतन और न प्रतिष्ठा कही है । याज्ञवल्क्य क०—(सम्राट्+एतत्+एकपाद्) हे सम्राट् ! यह उपासना एक चरण की है अर्थात् तीन चरण से हीन है । (इति+याज्ञवल्क्य+सः+वै+नः+ब्रूहि) जनक क०—हे याज्ञवल्क्य ! परम विद्वान् परम सत्यवित् जो हम लोगों के, आचार्य आप हैं सो आप ही हम लोगों से उपदेश

कहें । याज्ञ० क०—हे राजन् ! (मनः+एव+आयतनम्+आकाशः+प्रतिष्ठा)
 मन का शरीर मन ही है और आकाश प्रतिष्ठा है । अन्तर्गतता जैसे सब की
 प्रतिष्ठा ब्रह्म है वैसे ही इसरी भी प्रतिष्ठा ब्रह्म ही है । (एतत्+आनन्दः+इति+
 उपासीत) इस मनःस्वरूप ब्रह्म को आनन्दस्वरूप मानकर इस के गुणों का अध्य-
 यन करे । जनक क०—(याज्ञवल्क्य+का+आनन्दता) हे याज्ञवल्क्य ! मन की
 आनन्दता क्या है । याज्ञ० क०—(ह+उवाच+सम्राट्+मन+एव) बोले कि हे
 सम्राट् ! मन ही है । आगे मन की आनन्दता में हेतु कहते हैं । सामान्यरूप से
 मनुष्य जन स्त्री की कामना करता है तब (मनसा+चै+स्त्रियम्+अभिहार्यते) मन
 ही उस पुरुष को स्त्री के प्रति ले जाता है । तब (तस्याम्+प्रतिरूपः+पुत्रः+
 जायते) उस स्त्री में अपने रूप के समान पुत्र उत्पन्न होता है । (सः+आनन्दः)
 वह पुत्र आनन्दप्रद होता है इस हेतु हे सम्राट् ! मन को आनन्द मानकर इसके
 गुण अभ्येतव्य हैं । इसी हेतु (मनः+चै+परमम्+ब्रह्म) मनही परम आदरणीय
 विषय वस्तु है आगे कल कहते हैं । (यः+एवम्+विद्वान्+एतत्+उपास्ते) जो कोई
 उपासक इस प्रकार जानते हुए इस मनोरूप परमप्रिय आदरणीय वस्तु के धर्म या
 गुणों का अध्ययन करता है (एनम्+मनः+न+जहाति) इस उपासक को मन
 नहीं त्यागता है । और (एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति+देवः+भूत्या+
 देवान्+अप्येति) इस उपासक की सब प्राणी सब प्रकार से रक्षा करता है दिव्य
 गुण अर्थात् अपूर्व वस्तुओं को प्राप्त करता है । (जनकः+वैदेहः+ह+उवाच+
 हस्त्युपभम्+सहस्रम्+दशभि+इति) विदेहाभिपति जनक महाराज ने कहा कि हे
 याज्ञवल्क्य ! जिस में हाथी के समान एक बैल अर्थात् गज समान एक बैल
 (साड) के साथ एक सहस्र गाए आप को इस शिक्षा के लिये देता हू । आप
 स्वीकार करें (सः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः+मे+पिता+अग्रन्यत+अननुशिष्य+न+
 हरे+इति) वे सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोले कि मेरे पिताजी मानते थे कि न शिक्षा
 देकर के अर्थात् पूर्ण शिक्षा और शिष्य को कृतार्थ किए बिना शिष्य से कुछ लेना
 न चाहिये । हे राजन् इस सम्मति के अनुकूल मैं हूँ । आप को मैंने पूरी शिक्षा
 नहीं दी है । और आप भी पूर्णतया कृतार्थ नहीं हुए हैं, इस हेतु आप से अभी
 कुछ मैं नहीं ले सकता ॥ ६ ॥

भाष्यम्—यदिति । जाबालः जाबालाया जाबालानाम्न्याः त्रिषा अप-

त्यम् सत्यकाम आचार्यः । मनो मननवृत्तिरेव परममादरणीयं प्रियवस्तु ।
अमनसो हि किं स्यात् । अन्यत्रोक्तम् “स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीत
इति । अधाधीते । कर्माणि कुर्वीत इति । अथ कुरुते । पुत्रांश्च पशून्श्च इच्छेय
इति । अयेच्छते” इत्यादिपदमनसो सङ्कल्पपूर्विकाः क्रियाप्रवृत्तयो दर्शिताः ।
मनस आयतनमपि मन एव मन इन्द्रियम् । एतन्मनोरूपं ब्रह्म “आनन्द” इति
मत्स्योपासीत । मनस आनन्दत्वं साधयति । हे सम्राट् ! यदा पुरुषः सामा-
न्येन स्त्रियं कामयते । तदा प्रथमं मनसैव स पुरुषः स्त्रियं प्रति । अभिहार्यते
नीयते । मन एव प्रथमं तं कामयमानं पुरुषं स्त्रियं प्रति नयति । तदाऽऽनन्देन
संपुज्य तस्यां स्त्रियाम् प्रतिरूपः स्वानुगुण आनन्दातिशयस्य प्रदाता पुत्रो
जायते । पुत्रोत्पत्तिरानन्दहेतुरिति स्वयमेव वक्ति । स पुत्र आनन्द आनन्दय-
सीति । तद्धेतुत्वाद्वा आनन्दः । आनन्दस्वरूपः । शेषं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण्वामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शा-
कल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति तथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान्
ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किं
स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येक-
पाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवाय-
तनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता
याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट्
सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि
प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं हृदयं
जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिचरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति
य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्युपभं सहस्रं ददामीति होवाच
जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नान-
नुशिष्य हरेतेति ॥ ७ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा उस को हम सुनें । जनक—शाकल्य विदग्ध ने मुझ से कहा है कि हृदय ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है । याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् उपदेश देवे वैसे ही शाकल्य विदग्ध ने कहा है कि “हृदय ही आदरणीय वस्तु है” क्योंकि (अङ्गथस्य+विम्+स्यात्) जिस के हृदय नहीं है उस पुरुष को यहां वा वहां क्या लाभ है । परन्तु क्या उन्होंने आप से उसका आयतन और प्रतिष्ठा भी कही है ? । जनक—मुझ से नहीं कही है । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! निश्चय यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सो आप ही हम से कहें । याज्ञवल्क्य—हृदय ही आयतन है । आकाश ही प्रतिष्ठा है । इस (हृदयस्वरूप आदरणीय वस्तु) की (स्थितिः+इति) स्थिति मानकर इस के गुणों का अध्ययन करें । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! इसकी स्थितता क्या है । याज्ञवल्क्य—हृदय ही इसकी स्थितता है । हे सम्राट् ! हृदय ही सब भूतों का आयतन है । हे सम्राट् ! हृदय ही सब भूतों का आश्रय है । क्योंकि हे सम्राट् ! हृदय में ही सब भूत प्रतिष्ठित होते हैं । अतः हे सम्राट् ! हृदय ही परम आदरणीय वस्तु है इसको हृदय नहीं त्यागता । इसकी रक्षा सब प्राणी करते हैं । देख होकर देवों को प्राप्त करता है । जो इस प्रकार जानता हुआ इस (हृदयरूप आदरणीय वस्तु) की उपासना करता है । जनक—(इस शिक्षा के लिये) हाथी के समान एक साब के साथ एक सहस्र गायें देता हूं । याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को समझाये बिना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥७॥

पदार्थ—राजा से पञ्चवार याज्ञवल्क्य पूछते हैं कि हे सम्राट् ! (यद्+एव+ते+कः+चित्+अग्रवीत्+तत्+गृण्वाम) जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उस को हम सुनें । (इति) जनक महाराज कहते हैं (शाकल्य+विदग्धः+मे+अग्रवीत्+हृदयम्+वै+ग्रहा) शाकल्याचार्य के पुत्र विदग्धाचार्य ने मुझ से कहा है कि हृदय ही परम माननीय प्रिय वस्तु है । याज्ञ० कह०—(यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+भूयात्) जैसे मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् विद्वान् अपने शिष्य को उपदेश देवे (तथा+शाकल्यः+विदग्धः+तत्+अग्रवीत्) वैसे ही शाकलाचार्य के पुत्र विदग्ध ने उसको कहा है कि (हृदयम्+वै+ग्रहा+हि+अहृदयस्य+

किम्+स्यात्) हृदय ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है क्योंकि हृदयरहित पुरुष को यहाँ वा यहाँ क्या लाभ हो सकता है । (इति+तु+ते+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठा+अग्रवीत्) परन्तु उन्होंने आपसे उस हृदयरूप आदरणीय वस्तु का शरीर और आश्रय भी कहे हैं । जनक—(मे+न+अग्रवीत्) मुझ से न आयतन और न प्रतिष्ठा कही है । याज्ञ०—(सम्राट्+एतत्+एकपाद्) हे सम्राट् ! यह उपासना एक चरण का है अर्थात् तीन चरण से हीन है (इति) जनक—(याज्ञवल्क्य+स+वै+न+भूहि) हे याज्ञवल्क्य ! परम सत्त्ववित् जो हम लोगों के आचार्य आप हैं सो आप ही हम लोगों को उपदेश दें । याज्ञ० क०—हे राजन् ! (हृदयम्+एव+आयतनम्) हृदय ही आयतन=शरीर है (आकाराः+प्रतिष्ठा+एतत्+स्थिति+इति) अन्त में परमात्मा ही इसकी भी प्रतिष्ठा आश्रय है इस हृदयरूप प्रिय वस्तु की स्थिति मानकर इसके गुण का अध्ययन करे । जनक पू०—(याज्ञवल्क्य+का+स्थितता) हे याज्ञवल्क्य ! इसकी स्थितता क्या है । याज्ञ०—(ह+उवाच+सम्राट्+हृदयम्+एव) बोलें कि हे राजन् ! हृदय ही इसकी स्थितता है । स्थितता का हेतु कहते हैं—(हृदयम्+वै+सम्राट्+सर्वेषाम्+भूतानाम्+आयतनम्) हे सम्राट् ! हृदय ही सब भूतों का आयतन है । आगे इसी को विस्पष्टरूप से कहते हैं—(हृदयम्+वै+सम्राट्+सर्वेषाम्+भूतानाम्+प्रतिष्ठा) हे सम्राट् ! हृदय ही सब भूतों का आश्रय है (हि+हृदय+एव+सर्वाणि+भूतानि+प्रतिष्ठितानि+भवन्ति) क्योंकि हे सम्राट् ! हृदय में ही सब भूत प्रतिष्ठित होते हैं । आगे फल कहते हैं—(य+एवम्+विद्वान्+एतत्+उपास्ते+एनम्+प्राणः+म+जहाति) जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस प्राणरूप परमप्रिय आदरणीय वस्तु के धर्म वा गुण का अध्ययन करता है, इस उपासक को प्राण नहीं त्यागता है । और (एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति) इन उपासक को सब प्राणी सब प्रकार से रक्षा करते हैं (देवः+भूत्वा+देवान्+अप्येति) परम विद्वान् हो अथवा दिव्य ज्ञानी हो दिव्य गुण अर्थात् अपूर्व वस्तुओं को प्राप्त करता है । (जनकः+वेदेहः+ह+उवाच+हस्त्यूपमम्+सहस्रम्+ददामि+इति) विदेहाधिपति जनक महाराज ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! जिसमें हाथी के समान एक बैल है । अर्थात् गज समान एक बैल (सांड) के साथ एक सहस्र गायें आपको इस शिक्षा के लिये देता हूँ । आप स्वीकार करें । (सः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः+मे+पिता+अमन्यत+अनुनुशिष्य+न+हरेत+इति) वे सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोले कि मेरे पिताजी मानते थे कि त शिक्षा

दे करके अर्थात् पूर्ण शिक्षा और शिष्य को कृतार्थ किये बिना शिष्य से कुछ नहीं लेना चाहिये। हे राजन् ! इस सम्मति के अनुवृत्त मैं । आप को मैंने पूर्ण शिक्षा नहीं दी है आप भी पूर्णतया कृतार्थ नहीं हुए हैं। इस हेतु आप से मैं अभी कुछ नहीं ले सकता ॥ ७ ॥

भाष्यम्—यदिति । शकलस्याऽऽचार्यस्यापत्यं शाकल्यः । विदग्धोनामतः । हृदयं वै ब्रह्म । परममादरणीयं प्रियं वस्तु । एनहृदयस्वरूपं प्रियं वस्तु “स्थितिराधार” इति मत्प्रोपासीत् । हृदयस्य स्थिततां साधयति । सर्वेषां भूतानां हे सम्राट् हृदयमेवाऽऽपतनं स्वयमेव विस्पष्टयति । हे सम्राट् ! हृदयं वै सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा । हि यतः—हृदय एव हृदयाभ्यन्तर एव । सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि सन्ति । अन्यद्विशदार्थम् ॥ ७ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहः कूर्वादुपावसर्पन्तुवाच नमस्तेऽस्तु
याज्ञवल्क्यानु माशाधीति स होवाच यथा वै समाणं महा-
न्तमध्वानमेप्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुप-
निपद्भिः समाहितात्माऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद
उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क गमिष्यसीति नाहं तद्भ-
गवन् वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र
गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥ १ ॥

अनुवाद—विदेहाधिपति जनक महाराज सिंहासन पर से उठ समीप में जाते हुए बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! आपको मेरा नमस्कार हो । मुझ को उपदेश दें । ये बोले हे सम्राट् ! जैसे बहुत दूर मार्ग का जानेहारा पुरुष रथ वा नौका को अपना साधन बनाता है वैसे ही आप भी इन उपनिषदों से समाहितात्मा हैं । ऐसे पूज्य और घनाढ्य होने पर भी आपने वेद पढ़े हैं । आपको उपनिषदें कही गई हैं । यहां से छूट कर आप कहा जायेगे (क्या इसको जानते हैं ?) जनक—हे भगवन् ! मैं उसको नहीं जानता जहां मैं जाऊंगा । याज्ञवल्क्य—निश्चय करके मैं आपको उसका उपदेश करूंगा जहां आप जाएंगे । जनक—कृपा करके भगवन् ! कहें ॥ १ ॥

पदार्थ—(जनकः+वैदेहः+ह) विदेहराज्याधिपति जनक महाराज (कूर्वादु+पावसर्पन्+उवाच) सिंहासन से उठकर ऋषि के निकट जाते हुए बोले कि (याज्ञ-
वल्क्य+नमः+ते+अस्तु) हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार होवे (मा+अनुराधि+
इति) मुझ को उपदेश दीजिये । जनकजी के यह नम्र वचन सुन (सः+ह+उवाच)
वे ऋषि बोले (सम्राट्+यथा+वै+महान्तम्+अध्वानम्+एप्यन्) हे सम्राट् ! जैसे कोई बहुत दूर मार्ग का जानेहारा पुरुष (रथम्+वा+नावम्+वा+समाददीत) रथ
वा नौका वा अन्य कोई योग्य सवारी लेता है (एवम्+एव+एवाभिः+उपनिपद्भिः+

समाहितात्मा+असि) वैसे ही इन उपनिषदों से आप समाहितात्मा हैं अर्थात् आपका आत्मा, रथनौकादि स्थानीय उपनिषदों के ज्ञान विज्ञानों से परिपूर्ण है । अतः आप साधनसम्पन्न हैं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु एक बात आप से पूछना चाहता हूं सो बतलायें । (एवम्+वृन्दारकः+आढ्य +सन्+अधीतघेदः) इस प्रकार आप लोकों से पूज्य और घनाढ्य होने पर भी आपने वेदों का अभ्ययन किया है (उक्तोपनिषदः) आप से गुरुओं ने उपनिषदों के ज्ञान भी कहे ऐसे आप (इतः+विमुच्यमानः+क+गमिष्यसि+इति) यहाँ से छूटकर वहाँ जायगे यह आप कहें । इस पर जनकजी कहते हैं कि (भगवन्+अहम्+तत्+न+वेद) भगवन् ! मैं उसको नहीं जानता हू कि (यत्र+गमिष्यामि+इति) जहाँ जाऊँगा । आप कृपया बतलायें कि मुझे यहाँ से छूटकर कहा जाना होगा । (अयं+अहम्+वै+ते+तम्+यद्यामि+यत्र+गमिष्यसि+इति) हे राजन् ! मैं निश्चयरूप से आपसे उस स्थान का उपदेश करूँगा जहाँ आप जायगे (प्रवीतु+भगवन्+इति) हे गुरो श्रुये ! भगवान् कृपाकर मुझ से यह बतलायें ॥ १ ॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा
यतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणेव परोक्षप्रिया इव
हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

अनुवाद—जो यह दक्षिण अक्षि (नयन) में पुरुष है । यह इन्ध नाम से प्रसिद्ध है । इसी इन्ध को देवगण इन्द्र ऐसा परोक्ष नाम से पुकारते हैं, क्योंकि देवगण परोक्षप्रिय ही होते हैं और प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

पदार्थ—(य.+अयम्) जो यह (दक्षिणे+अक्षन्) दहिनी आल में (पुरुषः) पुरुष है (एषः+इन्ध+ह+वै+नाम) यह इन्ध नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् इस पुरुष का नाम इन्ध है । (तम्+वै+एतम्+इन्धम्+सन्तम्) उसी इस इन्ध को (इन्द्र+इति+परोक्षेण+एव+आचक्षते) इन्द्र इस परोक्ष ही नाम से पुकारते हैं अर्थात् इस पुरुष का नाम तो इन्ध है परन्तु इन्द्र कहते हैं । (हि+देवाः+परोक्ष-प्रिया.+इव+प्रत्यक्षद्विषः) क्योंकि देवगण परोक्षप्रिय ही होते हैं और प्रत्यक्ष बात से द्वेष रखते हैं । इन्ध—मि इन्धी दीतौ, दीप्त्यर्थक इन्ध धातु से इन्ध और इधि

परमेश्वर्यै, परमेश्वर्यार्थक इति धातु से इन्द्र बनता है । जो गुप्त व अव्यक्त हो और स्पष्ट न हो उसको यहां परोक्ष कहते हैं और जो व्यक्त, स्पष्टवत् सिद्ध है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । वेदों और लोकों में जीवात्मा का नाम इन्द्र बहुधा आया है, किन्तु इन्ध ऐसा नाम कहीं नहीं देखा जाता । यहां मन्यकर्त्ता कहते हैं कि इसका नाम तो इन्ध ही है इसी इन्ध को इन्द्र कहते हैं । जिम कारण इस शरीर में परम वीतिमान् जीव है । इसीसे इसकी शोभा और कान्ति है, अतः इसको इन्ध कहते हैं । जैसे इस शरीर में जीवात्मा व्यापक है इसी प्रकार परमात्मा इस जगत्-रूप महाशरीर में व्यापक है, हे जनक ! इसी आत्मा और परमात्मा के निकट आपको जाना होगा । ऐसा ऋषि का भाव है ॥ २ ॥

अथेतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूप मेघाऽस्य पत्नी विराट् तयो-
रेव संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदक्षं य
एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्त-
र्हृदये जालकमिवाऽथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदया-
दूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यै-
ता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा
एतदास्त्रवदास्त्रवति तस्मादेव प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्य-
स्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

अनुवाद—अब जो यह वाम नेत्र में पुरुष-रूप प्रतीत होता है वह इस इन्द्र की विराट् नाम की पत्नी है । इन दोनों का यह संस्ताव=मिलने का स्थान है जो यह हृदय के मध्य में आकाश है । इन दोनों का यह अक्ष है जो हृदय के भीतर एक पिण्ड है । इन दोनों का यह वज्र है जो यह हृदय के भीतर जाल के समान है । इन दोनों का यह गमन करने का मार्ग है जो हृदय-देश से ऊपर नाड़ी गई है । जैसे सहस्र हिस्सों में विभक्त एक केश (अत्यन्त सूक्ष्म होता है) वैसे ही इस आत्मा की हिता नाम की नाड़ियाँ हैं जो हृदय के अग्र्यन्तर में प्रतिष्ठित हैं । इन ही नाड़ियों द्वारा देह में व्याप्त होता हुआ अन्न ऋतवा रहता है इसी कारण यह आत्मा इस शरीर आत्मा की अपेक्षा अत्यन्त शुद्धाहारी सा प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अथ) पूर्वकण्ठिना में जिस इन्द्र का निरूपण आया है अथ उसकी स्त्री, भोजन, विश्राम आदि का वर्णन आरम्भ करते हैं—(वामे+अक्षिण+एतत्+पुरुषरूपम्) घाम नयन में जो यह पुरुषाकार व्यक्ति प्रतीत होती है (एपा+अस्य+विगट्+पत्नी) यह इसकी विगट् नाम की स्त्री है (तयोः+एपः+सस्तावः) इस इन्द्र और इन्द्राणी का यह सस्ताव है अर्थात् जहां मिलकर दोनों स्तुति व परस्पर वार्तालाप करते हैं वह सस्ताव है । (यः+एपः+अन्तर्हृदये+आकाशः) जो यह हृदय के अभ्यन्तर आकाश अर्थात् अचकाश है (अयः+यः+एपः+अन्तर्हृदये+लोहितपिण्डः) जो यह हृदय के भीतर लाल पिण्ड है (एतद्+एनयोः+अन्तम्) यह इन दोनों का अन्न है (अयः+यव्+एतव्+अन्तर्हृदये+जालकम्+इव) जो हृदय के मध्य में जाल के समान अनेकानेक क्षिद्रयुक्त चादर है (एतत्+एनयोः+प्रावरणम्) यह इन दोनों का प्रावरण अर्थात् ओढ़ने का वस्त्र है (अयः+या+एपा+ऊर्ध्वा+हृदयाद्+नाडी+उधरति) जो यह हृदयदेश से ऊपर की नाड़ी गई है । (एपा+एनयोः+सचरणी+सृतिः) यह इन दोनों की सचरणी सृति है । सृति=मार्ग । सचरणी जिस मार्ग से दोनों इषर, उषर, विचरण करते हैं वह सचरणी । अर्थात् नाड़ी ही इन दोनों का चलने फिरने का रास्ता है । और भी अनेक नाड़ियाँ हैं उन्हें भी दृष्टान्त देकर बतलाते हैं । (यया+केराः+सहस्रधा+भिन्नः) जैसे एक केश के सहस्र भाग किए जाय वैसे केश जितने सूक्ष्म पतले होंगे (एवम्+अस्य+हिताः+नाम+नाड्यः+अन्तर्हृदये+प्रतिष्ठिता+भवेद्वि) वैसे ही इस जीवात्मा की हिता नामधारी बहुत सी नाड़ियाँ हृदय के अभ्यन्तर प्रतिष्ठित हैं (एताभिः+यै) इन ही नाड़ियों के द्वारा (एतत्+आस्रवत्) यह सन्पूर्ण देह व्यापक अन्न (आस्रवति) सर्वदा जीवात्मा के लिये गिरता रहता है इसी अन्न को मानो जीवात्मा खाता है (तस्माद्+एपः) इसी कारण यह जीवात्मा (अस्मात्+शारीरात्+आत्मनः) इस शारीर आत्मा अर्थात् इस देह की अपेक्षा (प्रविविक्षा-हारवरः+इव+भवति) बहुत शुद्धाहारी सा प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिग् उदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिग् ऊर्ध्वाः प्राणा अवाची दिग् अवाञ्चः प्राणाः

सर्वाः दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिप्यति । अभयं वै जनकं प्राप्नोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः । स होवाच जनको वेदेहोऽभयं त्वा गच्छताम् याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्वमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

अनुवाद—इस (जीवात्मा) की पूर्व दिशा प्राण हैं जो पूर्व की ओर जाते हैं । इसकी दक्षिण दिशा प्राण हैं जो दक्षिण की ओर जाते हैं । इसकी पश्चिम दिशा प्राण हैं जो पश्चिम की ओर जाते हैं । इसकी उत्तर दिशा प्राण हैं जो उत्तर की ओर जाते हैं । इसकी ऊर्ध्व दिशा प्राण हैं जो ऊपर जाते हैं । इसकी नीचे की दिशा प्राण हैं जो नीचे की ओर जाते हैं । इसकी सद्य दिशाएं सद्य ही प्राण हैं । सो यह आत्मा इस दशा में न, न शब्द से कहा जाता है । यह आत्मा अगृह्य है क्योंकि इसका ग्रहण नहीं होता । यह असंज है क्योंकि इसका स्पर्श नहीं होता । यह असित है क्योंकि यह कहीं आसक्त नहीं होता । यह अस्थिर रहित है क्योंकि न तो यह व्यथायुक्त और न किसी से हिसित होता । याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे जनक ! आप अभय तक पहुंच चुके हैं । जनक वेदेह ने भी प्रत्युत्तर दिया कि हे याज्ञवल्क्य ! आप को भी अभय प्राप्त होवे । हे भगवन् ! जो आप अभय की शिक्षा देते हैं । आप को मैं नमस्कार करता हूं । आप की सेवा के लिये वे विदेह हैं और यह मैं (आप का दास) हूं ॥ ४ ॥

पदार्थ—(तस्य+प्राची+दिक्+प्राणाः+प्राञ्चः) इस जीवात्मा की पूर्व दिशा प्राण हैं जो पूर्व दिशा की ओर जाते हैं । (दक्षिणा+दिक्+प्राणाः+दक्षिणे) इस की दक्षिण दिशा प्राण हैं जो दक्षिण की ओर जाते हैं । (प्रतीची+दिक्+प्राणाः+प्रत्यञ्चः) इसकी पश्चिम दिशा प्राण हैं जो पश्चिम की ओर जाते हैं । (उदीची+दिक्+प्राणाः+उदञ्चः) इसकी उत्तर दिशा प्राण हैं जो उत्तर की ओर जाते हैं । (ऊर्ध्वा+दिक्+प्राणाः+ऊर्ध्वाः) इसकी ऊपर की दिशा प्राण हैं जो ऊपर जाते हैं ।

(अथाची+दिक्+प्राणाः+अथाञ्चः) इसकी नीचे की दिशा प्राण हैं जो नीचे को जाते हैं । (सर्वाः+दिशः+सर्वे+प्राणाः) इसकी सब दिशाएं सब प्राण हैं (स+एष +न+इति+न+इति) इस दिशा में तो यह जीवात्मा न, न शब्द से कहा जाता है । (आत्मा+अगृह्यः+न+हि+गृह्यते) यह आत्मा अगृह्य है, क्योंकि यह पकड़ा नहीं जाता है (अशीर्ष्य+न+शीर्ष्यते) यह अक्षय है क्योंकि यह कभी क्षीण नहीं होता (असङ्गः+न+हि+सङ्ग्यते) यह असङ्ग है क्योंकि यह कहीं आसक्त नहीं होता (असितः+न+व्यथते+न+रिप्यति) यह वन्धनरहित है क्योंकि न यह व्यथित और न हिसित होता है । इस प्रकार उपदेश देते हुए (याज्ञवल्क्यः+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य बोले कि (जनक+अभयम्+वै+प्रातः+असि+इति) हे जनक ! आप निर्भयता तक पहुँच चुके हैं अब आगे क्या चाहते हैं । इस पर (सः+ह+जनकः+वैदेहः+उवाच) वे जनक वैदेह बोले (याज्ञवल्क्य+त्वा+अभयम्+गच्छ-ताम्) हे याज्ञवल्क्य ! आपको भी अभय प्राप्त होवे (भगवन्+यः+नः+अभयम्+वेदयते) हे परमपूज्य ऋषे ! जो आप हम लोगों को अभयब्रह्म सिखलाते हैं (ते+नमः+अस्तु) उस आपको हम लोगों का नमस्कार प्राप्त हो हे ऋषे ! मैं विशेष क्या कहूँ (इमे+विदेहाः) ये सम्पूर्ण विदेह देश आपकी सेवा के लिये हैं और (अयम्+अहम्+अस्मि) मैं आपका दास भी उपस्थित हूँ । आपकी जो आज्ञा हो सो कहूँ ॥ ४ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य
इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते
तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वने तं
हास्मै ददौ तं ह सम्राडेव पूर्वः पप्रच्छ ॥ १ ॥

अनुवाद—एक समय की वार्ता है कि याज्ञवल्क्य मुनि जनक वैदेह के निकट
चले । और मन में विचारने लगे कि आज मैं कुछ न बोलूंगा । अथवा आज यहाँ
बल्लकर इस “जनक” के साथ संवाद करूंगा । इस अभिप्राय से याज्ञवल्क्य मुनि
जनक वैदेह के निकट गये । एक दिन की यह बात है कि कर्मकाण्ड करते हुए
जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य मुनि “अग्निहोत्र” के विषय में संवाद करने लगे थे ।
उस समय (जनक के विचार में निपुणता देख परितुष्ट हो) याज्ञवल्क्य मुनि ने
उनको घर दिया । जनक ने सविनय निवेदन किया कि हे मुने ! मुझ पर यदि
आप की कृपा है तो “कामप्रश्न” अर्थात् जब मैं चाहूँ तब ही आपसे मैं पूछ सकूँ
यही घर मुझे दीजिये । याज्ञवल्क्य ने उनको वही घर दिया । इस हेतु (इस
संवाद में भी) पहले महाराज ही पूछने लगे ॥ १ ॥

पदार्थ—(ह+याज्ञवल्क्यः+जनकम्+वैदेहम्+जगाम) कदाचित् याज्ञवल्क्य
मुनि मन में कुछ करके जनक वैदेह के निकट चले । जनक महाराज का यह नियम
था कि जब जब याज्ञवल्क्य इनके निकट आते थे तब तब वे अवश्य ही कुछ गूढ़
तत्त्व इनसे पूछा करते थे । जिस हेतु याज्ञवल्क्य इनके उपदेशों थे और राजा भी
परम श्रद्धावान् थे । परन्तु आज मार्ग में जाते हुए किसी कारण के उद्देश से (सः+
मेने) वे याज्ञवल्क्य विचारने लगे कि (न+वदिष्ये+इति) आज मैं राजा को कुछ
भी उपदेश न दूँगा । केवल चुपचाप बैठकर कुछ सुना करूँगा । अथवा “समेने
न वदिष्ये” यहाँ (सम्+एनेन+वदिष्ये) इस प्रकार भी पदच्छेद हो सकता है ।
तथा इन सचों का यह अर्थ होगा (एनेन+सम्+वदिष्ये) इन जनक के साथ संवाद
करूँगा अर्थात् मैं जनक को बहुत शिक्षा देता रहता हूँ अब भी ये सुबोध हुए हैं

या नहीं, तत्त्वों को समझा है या नहीं, इत्यादि बातों की परीक्षा के लिये आज चलकर इस जनक से संवाद (परस्पर विवाद) ही करूंगा । उपदेश न दूंगा । इस अभिप्राय से (अथ+याज्ञवल्क्यः+जनकम्+वैदेहम्+जगाम) याज्ञवल्क्य जनक वैदेह के निकट गए ये दोनों अर्थ हो सकते हैं । यहा शङ्का होती है कि “मैं न बोलूंगा” ऐसा सङ्कल्प करने पर भी पुनः याज्ञवल्क्यजी क्यों बोले और द्वितीयपक्ष में परीक्षा के लिये संवाद करना या तब आचार्य को ही प्रथम पूछना चाहिये । सो न होकर महाराज का ही प्रश्न देग्यते हैं । इन दोनों में हेतु क्या है, इन दोनों में धरान ही हेतु है । आगे इस धरान प्रसन्न को दिग्गताते हैं (अथ+ह+यत्+अभिहोत्रे+जनकः+वैदेहः+च+याज्ञवल्क्यः+च+समूदाते) एक समय की बात है जब कर्मकाण्ड में सब कोई प्रवृत्त थे उस समय अभिहोत्र के विषय में जनक वैदेह, अन्य राजा भी याज्ञवल्क्य तथा अन्य मुनिगण संवाद करने लगे । उस समय जनक की संवाद-निपुणता देख सतुष्ट हो (याज्ञवल्क्यः+तस्मै+वरम्+दशौ+ह+सः+ह+कामप्रश्नः+वव्रे) याज्ञवल्क्यमुनि ने उन जनक को धरान दिया यह बात सब लोगों में विदित है । उन राजा ने कामप्रश्न रूप धर मागा । अर्थात् जब मैं चाहु आप किसी दशा में हो मैं आपसे प्रश्न पूछ सकू । इसी का नाम “कामप्रश्न” है (तम्+ह+अस्मै+दशौ) यह धर राजा को दिया अर्थात् जब आप चाहें तब मुझ से पूछ सकते हैं । हे सम्राट् ! यह धर आप को मैं देता हू । इसी कारण याज्ञवल्क्य को स्वेच्छा विना बोलना पडा । अतः (सम्राट्+एव+पूर्वः+प्रच्छ) महाराजा ही पहले पृष्टने लगे ॥ १ ॥

भाष्यम्—जनकमिति । कदाचिद् याज्ञवल्क्यः किमपि मनसि कृत्वा । जनकं ह वैदेहं प्रति । जगाम वव्राज गतवान् । यदा यदा याज्ञवल्क्य आगच्छति तदा २ राजाऽवश्यमेव किञ्चिद् गूढ वस्तु तं पृच्छति । यतः स तस्योपदेष्टा, राजापि परमधर्मावान् । अथ तु पथि गच्छन् किमपि कारणमुद्दिश्य स याज्ञवल्क्यो “राजानं प्रति न वदिष्ये नोपदेक्ष्ये” इति मेने विचारितवान् । यद्वा समेनेन वदिष्ये इत्यत्र सम् एनेन वदिष्ये इतिपदच्छेदः । राजा सम्प्रत्यपि सुबोद्धा जातो न वेति परीक्षार्थम् एनेन अनेन राज्ञा सह सम् वदिष्ये सम्वाद परस्परं प्रश्नोत्तररूपेण विवादमेव करिष्ये न त्वद्योपदेक्ष्ये । इत्यतो याज्ञवल्क्यो जनकं प्रति जगामेत्यन्वयः । ननु न वदिष्ये इति संकल्पे कृतेऽपि पुनरपि मा-

पण्ये को हेतुः । वरदानमेव हेतुः । ननु सम्बदिष्ये परीक्षार्यमिति द्वितीयपक्षेऽपि
आचार्येण प्रथमं प्रष्टव्ये कथं पूर्वं राज्ञः प्रश्नः । इत्यत्रापि वरदानमेव हेतुः ।
तं वरदानप्रसङ्गं कर्मकाण्डवृत्ताऽऽख्यायिकयाऽऽह—इ किल । अथ कदाचित् ।
अग्निहोत्रे अग्निहोत्रनिमित्ताय । यद्यत्र कर्मकाण्डे । वैदेहो जनकः याज्ञव-
ल्क्यश्च । समूदाते सम्बादं कृतवन्तो चादन्पेऽपि । तत्र जनकस्य अग्निहोत्र-
विषयकं विज्ञानमधिकं विदित्वा परितुष्टो याज्ञवल्क्यः । तस्मै स्वशिष्याय जन-
काय । वरं ददौ दत्तवान् । स ह सर्वार्थसम्पन्नः सम्राट् लौकिकवरे अनिच्छुर्को
योग्यं कामप्रश्नमेव इच्छा प्रश्नमेव वव्रे । हे याज्ञवल्क्य ! यदा यदाहमिच्छेयं
तदा तदा कस्यामपि दशायां वर्त्तमानं स्वेच्छानुसारेण त्वां प्रति प्रक्ष्यामीत्येष
वरोदीयतां यदि सुप्रसन्नो भूयते । अथ ह याज्ञवल्क्य तं वरम् । अस्मै जन-
काय ददौ । इ किल । अतः तं याज्ञवल्क्यं पूर्वः पूर्वं सम्राडैव पप्रच्छ पृष्टवान् ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्य किञ्ज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्यज्योतिः
सम्राडिति होवाचाऽऽदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पत्ययते
कर्म कुरुते विपत्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है (अर्थात्
इसका ज्योति कौन है ?) इति । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! यह पुरुष आदित्यज्योति
है (इसका आदित्य ज्योति है) क्योंकि आदित्यरूप ज्योति से ही यह बैठता है ।
इतस्ततः जाता है । कर्म करता है और पुनः लौट कर आता है । जनक—हे याज्ञ-
वल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ २ ॥

पदार्थ—जनक पूछते हैं—(याज्ञवल्क्य+अयम्+पुरुषः+किञ्ज्योतिः+इति) हे
याज्ञवल्क्य ! यह जीवात्मा किस ज्योतिवाला है इसमें ज्योति कहाँ से आता है ।
याज्ञवल्क्य (ह+उवाच+सम्राट्+आदित्यज्योति +इति) बोले कि सम्राट् ! यह पुरुष
आदित्य ज्योति है अर्थात् इसको आदित्य से ज्योति मिलती है (अयम्+आदि-
त्येन+एव+ज्योतिषा+आस्ते) आगे इसमें अनेक हेतु कहते हैं यह पुरुष आदि-
त्यस्वरूप ज्योति से ही बैठता है । पुनः (पत्ययते+कर्म+कुरुते+विपत्येति) इधर
उधर जाता है । विविध कर्म करता है । पुनः कर्म करके अपने अपने स्थान पर
लौट जाता है । यह सब व्यवहार आदित्यरूप ज्योति से ही करता है इस हेतु यह

पुरुष आदित्य ज्योति है । राजा यह वचन सुनकर स्वीकार करने हैं (याज्ञवल्क्य-
पनत्+एषम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह विज्ञान ऐसा ही है, जैसा आप कहते हैं
यह ऐसा ही है ॥ २ ॥

भाष्यम्—अयं जीवात्मा प्रत्यक्षेण गृह्यते अनुमानेनापि । यदि जीवो
नाम कश्चित् स्वतन्त्रो देहावयवसमुदायात् भिन्नो न सिद्धयेत् । इन्तर्हि किं
शुभानुष्ठानेन । एवञ्च तर्हि कथं केन दोषेणापराधेन वा कोऽपि दुःखी कृतः
कोऽपि च केन पुरेयेनातिशयितः सुखी सम्पादितः । अत आत्मतत्त्वं जिज्ञा-
समानो जनको वैदेहः पृच्छति । हे याज्ञवल्क्य ! अयं पुरुषः पुरि शरीरे वर्त्त-
मानो जीवात्मा । किं ज्योतिः किं ज्योतिर्निगते यस्य स किं ज्योतिरिति धदु-
र्वाहिः । अयं जीवात्मा शरीरादिबद्धाद्व्यक्तः किमपि ज्योतिरपेक्षते उत तस्मिन्
स्वयं ज्योतिरस्ति । यदि बाह्यज्योतिपाऽयं ज्योतिष्मान् तर्ह्यनित्यः । यदि स्वयं
ज्योतिष्मान् तर्हि केन प्रकारेण तद्विज्ञातव्यमिति ब्रूहि । याज्ञवल्क्यः खलु प्रश्न-
स्वाशयं विदित्वापि प्रथमं जनबुद्धिपरीक्षणार्थं बाह्यज्योतीं चतुर्भिः पर्यायैः
व्याचष्टे । हे सम्राट् ! अयमात्मा आदित्यज्योतिरस्ति आदित्यः सूर्यो ज्योतिः
प्रकाशो यस्य सः । अत्र हेतून् वक्ति । हे सम्राट् ! आदित्येनैव ज्योतिपाऽनु-
गृहीतेन चक्षुषा करणेन सहितः । अयं पुरुषः । आस्ते उपविशति । तथा
पर्ययते पर्ययते परितः अयते—आदित्ये मासमाने चक्षुषा परयन् इतश्चेतश्च
गन्तुं शक्नोति गत्वा च कर्म कुरुते ऐहिकं चेन्नादिशोधनम् आमुष्मिकं यज्ञा-
द्यनुष्ठानं त्रिविधं कर्म साधयते । पुनरपि निपज्येति विपरि एति निपरीतेन
आगच्छति । स्वस्वस्थानं प्रति कर्म कृत्वा निवर्तते । एतत्समानमन्यदपि
भूयो व्यवहारानुष्ठानमादित्यज्योतिर्वायं करोत्यत आदित्यज्योतिरयं पुरुषः ।
वचनमिदं श्रुत्वा हे याज्ञवल्क्य ! एवमेवेतत् यथात्वमात्थ तत्सत्यमेवेति
स्वीकरोति जनकः ॥ २ ॥

भाष्याशयः—यह जीवात्मा प्रत्यक्ष रूप से गृहीत नहीं होता । अनुमान में
अनेक शङ्काएँ हुआ करती हैं । और प्रत्यक्ष में देखते हैं कि यह जीवात्मा सर्वदा
बाह्य सामग्री चाहता है । उसके बिना क्षणमात्र भी नहीं रह सकता अतएव
आत्मसत्ता में पदे पदे सन्देह होता है । यदि देह के अवयव समुदाय से भिन्न,
स्वतन्त्र जीव नाम कोई पदार्थ सिद्ध न हो तब खेद की बात है कि शुभानुष्ठान से

क्या । एवञ्च किस दोष वा अपगन्ध के कारण क्यों कोई तो दुःखी बिधा गया और कोई किस पुण्य से क्यों अतिशय सुखी बनाया गया । इस हेतु भ्यात्मतत्त्व की जिज्ञासा करते हुए जनक महाराज पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य । इस जीवात्मा में स्वयं प्रकाश है अथवा कहीं बाहर से प्रकाश आता है । यदि बाह्य ज्योति से यह ज्योतिष्मान् कहलाता है तब शरीर के समान यह भी एक विनश्वर पदार्थ सिद्ध होगा । यदि इसमें स्वयं ज्योति है तो इसको कैसे जान सकते हैं सो आप कृपा करके मुझको समझावें ।

याज्ञवल्क्य यद्यपि प्रश्न का अभिप्राय समझते ही थे तथापि महाराज की बुद्धि की परीक्षा के लिये बाह्य ज्योतियों को ही पांच कण्डिकाओं से कहते हैं ।

(आरते) प्रत्यक्ष में देखते हैं कि जयतक सूर्य का उदय रहता है तयतक आँखों से देखते हैं सूर्य के अस्त होने पर आँख से नहीं दीप्तता है । इससे सिद्ध है कि सूर्य ही नेत्र का कारण है । अतः इधर उधर जाना आना भी सूर्य की ज्योति के कारण से ही होता है । जब आँख से देख लेता है कि यह स्थान बैठने के योग्य है तब कहा बैठता है । आँख से मार्ग भी परीक्षा करता हुआ चलता है । आँख से देखता हुआ क्षेत्र का शोधन करता या अग्रिकुंड में धृतादि की आहुति देता है । आँख ही सब कर्म का कारण है । और उस आँख का कारण सूर्य है । इससे यह सिद्ध हुआ कि यह स्वयं ज्योति नहीं ॥ २ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पत्ययते कर्म कुरुते विपत्येतीत्येवमेवैतयाज्ञवल्क्य ॥३॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य । सूर्य के अस्त होजाने पर यह पुरुष किस ज्योति बाला होता है । (इति) याज्ञवल्क्य—चन्द्रमा ही इसका ज्योति होता है (इति) चन्द्रमारूप ज्योति से ही यह बैठता है । इधर उधर जाता है । कर्म करता है । पुनः लौट आता है । जनक—हे याज्ञवल्क्य । ठीक है । यह ऐसा ही है ॥ ३ ॥

पदार्थ—जनक पूछते हैं कि (याज्ञवल्क्य+आदित्ये+अस्तमिते+अयम्+पुरुषः+किंज्योतिः+एव) हे याज्ञवल्क्य । सूर्य के अस्त होजाने पर यह पुरुष किस ज्योति बाला ही रहता है । याज्ञवल्क्य (चन्द्रमा+एव+अस्य+ज्योतिः+भवति+इति) चन्द्र-

मा ही इसमें ज्योति होता है इसमें अनेक कारण कहते हैं (चन्द्रमसा+एव+ज्यो-
तिपा+अयम्+अस्ते+पल्ययते) चन्द्रमारूप ज्योति से ही यह पुरुष बैठता है ऊपर
ऊपर जाता है (कर्म+कुरुते+विपल्येति) कर्म करता है और पुनः लौट आता है ।
जनक यह यजन सुन (याज्ञवल्क्य+एतन्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह विज्ञान
ऐसा ही है । इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने यजन को स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्य—दिनाऽऽदित्यज्योतिः न रात्रौ । व्यग्रहरन्तो रात्रा-
वपि हृदयन्ते जनाः । कथन्तत् । अतो वद याज्ञवल्क्य ! आदित्ये अस्तमिते
अस्तंगते सति । अयं पुरुषः किंज्योतिः । तदा हे राजन् ! अस्य प्रकृतस्य
पुरुषस्य आदित्येनानुगृहीतः चन्द्रमा ज्योतिर्भवति । अन्यत् सर्वं सुहार्थम् ॥ ३ ॥

साध्याशय—हे याज्ञवल्क्य ! दिन में आदित्य की ज्योति रहती है, रात्रि में
तो नहीं । परन्तु रात्रि में भी सन व्यवहार करते हुए मनुष्य देख पड़ते हैं । इस
हेतु विस्मयवया आप कहें कि आदित्य अस्त होजाने पर इस पुरुष की कौनसी
ज्योति रहती है । जिसमे सन व्यवहार करता है । याज्ञव०—हे राजन् ! यह आदित्य
अपने किरणों से चन्द्रमा को भासित करता है । सूर्य का प्रतिनिधिरूप यह
चन्द्रमा ही इस पुरुष का रात्रि में प्रकाश है । इत्यादि भाव जानना ॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किं-
ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनेवाऽयं
ज्योतिपाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैत-
द्याज्ञवल्क्य ॥ ४ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त होजाने पर और चन्द्रमा
के भी अस्त होने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला ही होता है (इति) याज्ञ-
वल्क्य—अभि ही इसका ज्योति है (इति) अभिरूप ज्योति से ही यह बैठता
है । ऊपर ऊपर जाता है । कर्म करता है । पुनः लौट आता है । जनक—हे याज्ञ-
वल्क्य ! ठीक है यह ऐसा ही है ॥ ४ ॥

पदार्थ—जनक पूछते हैं—हे याज्ञवल्क्य ! (आदित्ये+अस्तमिते+चन्द्र-
मसि+अस्तमिते+अयम्+पुरुष+किंज्योतिः+एव) सूर्य के अस्त हो जाने पर और
चन्द्रमा के अस्त होजाने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला ही रहता है अर्थात् उस

समय इस की कौन ज्योति है । याज्ञवल्क्य—(अस्य+अग्निः+एव+ज्योतिः+भवति)
 इस पुरुष की अग्नि ही ज्योति होती है । (इति) इसमें अनेक कारण कहते हैं
 (अग्निना+एव+ज्योतिषा+अयम्+पुरुषः+आस्ते+पल्ययते) अग्निरूप ज्योति से
 ही यह पुरुष बैठता है । इधर उधर जाता है । (कर्म+कुरुते+विपल्येति) कर्म
 करता है और पुनः लौट आता है । जनक यह वचन सुन (याज्ञवल्क्य+एतत्+
 एयम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह विज्ञान ऐसा ही है । इस प्रकार याज्ञवल्क्य के
 कथन को स्वीकार करते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—हे याज्ञवल्क्य ! कृष्णपक्षेऽपि व्यवहरन्तो जना दृश्यन्ते । वय-
 मेतत् । वद याज्ञवल्क्य ! तयोर्द्वयोरभावे किंज्योतिरयं पुरुषः । एवमृष्टो याज्ञ-
 वल्क्यो ब्रूने । मृणु महाराज ! आदित्यः खलु सर्वेषु पदार्थेषु सज्योतीषि
 स्थापयित्वा अस्तमेति । अतः किमपि योग्यं पदार्थमग्निना प्रज्वाल्य जना
 व्यवहरन्तीति । इहापि आदित्यमेव कारणम् । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ४ ॥

भाष्याशय—हे याज्ञवल्क्य ! कृष्णपक्ष में भी व्यवहार करते हुए मनुष्य देख
 पड़ते हैं । सो कैसे ? इस हेतु आप वर्णन करें कि सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों के
 अभाव में इस पुरुष के लिये कौनसी ज्योति रहजाती है । याज्ञवल्क्य०—हे राजन् !
 सुनो आदित्य सत्र पदार्थों में निज ज्योतियों को स्थापन करके अस्त होता है । अतः
 किसी योग्य पदार्थ की अग्नि से प्रज्वलित करके मनुष्य सब व्यवहार करते हैं ।
 यहां भी आदित्य ही कारण है ॥ ४ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्ते-
 ऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति श्रोगेवास्य ज्योतिर्भवतीति
 वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुने विपल्येतीति
 तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्च-
 रत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा
 के अस्त हो जाने पर और अग्नि के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किम ज्योति
 वाला ही होता है (इति) । याज्ञवल्क्य—दाणी ही इसकी ज्योति होती है ।

(इति) वाणीरूप ज्योति से ही यह बैठता है । इधर उधर जाता है । कर्म करता है । पुनः लौट आता है (इति) हे सम्राट् ! उसी कारण जहां निज हस्त भी विशेष रूप से शिक्षात नहीं होता और जहां वाणी उच्चरित होती है वहां वाणी भी सहायता से जाता ही है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है यह ऐसा ही है ॥ ५ ॥

पदार्थ—जनक पू०—(अस्तमिते+आदित्ये+अस्तमिते+चन्द्रमसि+शान्ते+अग्नौ+अयम्+पुरुष+किंज्योतिः+एव) आदित्य के छिप जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर और अग्नि को भी शान्त होजाने पर यह पुरुष किस ज्योति-वाला रहता है अर्थात् उस समय इसके व्यवहार के लिये कौनसी ज्योति रहजाती है । याज्ञवल्क्य—(अस्य+वाग्+एव+ज्योतिः+भक्षति) इस पुरुष की वाणी ही ज्योति होती है । इसमें अनेक कारण कहते हैं (वाचा+एव+ज्योतिषा+आस्ते+वक्ष्यते+कर्म+कुरुते+विपल्येति+इति) वचनरूप ज्योति से ही बैठता, इधर उधर जाता है । कर्म करना है । पुनः लौट कर आजाता है । (सम्राट्+तस्माद्+वै+यत्र+स्वः+पाणिः+अपि+न+विनिर्ज्ञायते) हे सम्राट् ! उसी कारण जिस अन्धकारमय स्थान में स्वकीय हाथ भी अच्छे प्रकार नहीं विदित होते हैं (अयं+यत्र+वाग्+उच्चरति+तत्र+उपन्येति+एव) परन्तु जहां वाणी उच्चरित होती अर्थात् वाणी का उच्चारण प्रतीत होता है वहां अवश्य पहुँच जाता है । जनक यह सुन कर कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+उत्तम्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—हे याज्ञवल्क्य ! यदा तमिस्रायां प्रज्वलितो वह्निरपि न भवति । तदापि जना व्यवहरन्ति । इतश्चेतश्च गच्छन्ति । स्थानात्स्थानं भ्रमन्ति । कथमेतत् । अतो वद याज्ञवल्क्य ! नेषां त्रयाणामप्यभावे किंज्योतिरयं पुरुषः । हे सम्राट् ! वाचि आदित्यज्योतिः स्थापितमस्ति । तेजोमयी वागित्युद्गमन्प्रापि । तथा वाचा वदन्त आह्वयन्तः इहागच्छ तत्र याहि इत्येवं परस्परं निर्दिशन्तो व्यग्रहरन्ति । तस्माद्दे सम्राट् । यत्र यस्मिन् अन्धतमसेऽपि स्वः पाणिः निज हस्तोऽपि । न विनिर्ज्ञायते विशेषेण न ज्ञायते । अथापि अस्यामपि दृश्याम । यत्र यस्मिन्प्रदेशे वाग् वाणी उच्चरति उद्भवति जनैरुच्चार्यते तत्र तस्मिन्प्रदेशे उपन्येति एव उप समीपं निगच्छत्येव तत्र सन्निहितो भवत्येव । अतो हे सम्राट् ! वाचं ज्योतिषा तदाऽयं सम्पन्नो भवतीति वेदितव्यम् । इहाप्यादित्यमेव कारणम् । अन्यन्स्पष्टम् ॥ ५ ॥

भाष्याशय—हे याज्ञवल्क्य ! जय अति अन्धकारमय रात्रि में प्रज्वलित अग्नि भी नहीं रहता । तब भी तो मनुष्य व्यवहार करते हैं इधर उधर जाते हैं । और एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हैं । सो कैसे ? अतः मुझे यह आप कहें कि तीनों का जय अभाव हो जाता है तब इस पुरुष की कौनसी ज्योति रह जाती है । हे सम्राट् ! वाणी में आदित्य की ज्योति स्थापित है । यह वाणी तेजोमयी है यह अन्यत्र कहा गया है । तब वाणी से बोलते हुए लोगों को पुकारते हुए यहा आओ, यहां जाओ, इस प्रकार परस्पर दशारा करते हुए व्यवहार करते हैं । इसी हेतु जिस समय निज हस्त भी नहीं दीरता तब भी वाणी के द्वारा सध व्यवहार करलेते ही हैं । यहां पर भी आदित्य ही कारण है इसमें सन्देह मत करो ॥५॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्ते-
ऽग्नौ शान्तायां वाचि किञ्ज्यातिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवायं
ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽस्ते पत्ययते कर्म कुरुते
विपत्येतीति ॥ ६ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त होजाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के शान्त हो जाने पर और वाणी के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किम ज्योतिवाला ही रहता है । याज्ञवल्क्य—इसका आत्मा (निज) ही ज्योति होती है, निज स्वरूप ज्योति से ही बैठता है । इधर उधर जाता है । कर्म करता है । पुनः लौट आता है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है यह ऐसा ही है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(आदित्ये+अस्तमिते+चन्द्रमासे+अस्तमिते+अग्नौ+शान्ते+वाचि+शान्तायाम्+अयम्+पुरुष+किञ्ज्योतिः+एव) सूर्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर, अग्नि के शान्त होने पर और वाणी के भी शान्त होने पर यह पुरुष किम ज्योतिवाला ही रहता है (इति) याज्ञवल्क्य क०—(अस्य+आत्मा+एव+ज्योतिः+भवति) इस पुरुष का निज स्वरूप ही ज्योति होती है (अयम्+आत्मना+एव+ज्योतिषा+आस्ते+अपत्ययते+कर्म+कुरुते+विपत्येति) यह निज स्वरूप ज्योति ही से बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है, पुनः लौट आता है । जनक

यह वचन सुन (याज्ञवल्क्य+एतत्+एवम्+एव) 'हे याज्ञवल्क्य ! यह विषय ऐसा ही है इस प्रकार याज्ञवल्क्य के वचन को स्वीकार करते हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्—हे याज्ञवल्क्य ! सन्ति त्वन्या अप्यवस्थाः । यत्र न सूर्यो न चन्द्रमा नाग्निर्न च वाणी भवति । तत्रापि व्यवहरन्ति जनाः । एका स्वमा-
ज्यवस्था । द्वितीयासमाध्यवस्था । तृतीया गोप्यावस्था—यत्र ऐकागारिको वा
जारो वा दूतो वा न काश्चित्पुरुषान् स्वात्मानं प्रकटीकर्तुमीदृते । चतुर्थीरोगा-
द्युपहतावस्था—यत्र रोगेण पीडितो भाषणादिप्रशङ्कोऽपि । “अयं मे पिता ।
इयं मामा । अयं बन्धुः” । इत्याद्यभ्यन्तरेण सर्वं विजानाति । एकेन्द्रियविकलौ
मूकः खलपि सर्वं व्यवहरति । अतोवदैन याज्ञवल्क्य ! तेषां चतुर्थीमप्यभावे
किं ज्योतिरयं पुरुष इति । इदानीं मंवादेनायं पृच्छते चित्कर्ते समूहते चेति
विदित्वा परितुष्टः सन् याज्ञवल्क्यो जीवात्मनो वास्तवं परमार्थस्वरूपं विद्व-
योति । हे सम्राट् ! नायं जीवात्मा बाह्या मामग्रीमेवापेक्ष्य लब्धसत्ताकोऽस्ति ।
अयं नित्यः शाश्वतः स्वतन्त्रः पुरुषः काश्चिदस्ति । स तेषु सर्वेषु पूर्वोक्तेषु
शान्तेष्वपि स्वकीयया भासा भासते । तदा स्वीयेन ज्योतिर्न ज्योतिष्मान्
भवति । यदि सर्वदा बाह्य सामग्री सापेक्षा भवेत् । तर्ह्यस्याऽनित्यताऽऽपद्येत ।
भाषणादि ध्यापारवस्तु समवेतत्वेनास्मिन् वर्तते । मुक्तायपि तेषां स्थित्यवधार-
णादतः सम्राट् ! ईदृशमात्मानं विद्धि ॥ ६ ॥

भाष्याशयः—हे याज्ञवल्क्य ! अन्य अवस्थाए भी हैं जहाँ न सूर्य न चन्द्रमा
न अग्नि और वाणी रहती है । उन अवस्थाओं में मनुष्य व्यवहार करते हैं ।
एक स्वमाज्यवस्था । दूसरी समाध्यवस्था । तृतीय गोप्यावस्था जिस अवस्था में जोर
अपवा जार अथवा दूत किन्हीं पुरुषों से अपने को प्रकट करना नहीं चाहते हैं ।
चतुर्थी रोगादि से उपहतावस्था जिस में रोगादि से पीड़ित हो भाषणादि में अस-
मर्थ भी “ यह मेरा पिता है ” “ यह मेरी माता है ” “ यह मेरा बन्धु है ”
इत्यादि विषय को अभ्यन्तर से जानता है । हे याज्ञवल्क्य ! एकेन्द्रिय से रहित
मूक पुरुष भी तो सब व्यवहार करता है इस हेतु आप मुझे समझाएँ कि उन
चारों के अभाव में भी इस पुरुष को किससे ज्योति होती है । जिससे वह व्यव-
हार करता है । अब यह राजा बूझता, चर्क करता, अच्छे प्रकार उदा भी करता
है इन सन्वाद से यह ज्ञान परितुष्ट हो ऋषि जीवात्मा वा वास्तविक परमार्थ

स्वरूप को प्रकाश करते हैं । हे सम्राट् ! यह जीवात्मा बाह्य सामग्री की ही अपेक्षा से निजसत्ता वाला नहीं है किन्तु यह नित्य शाश्वत स्वतन्त्र पुरुष कोई है । यह उन पूर्वोक्त सर्वों के शान्त होने पर भी निज ज्योति से भाग्नि होता है अर्थात् उस समय निज ज्योति से ही ज्योतिष्मान् होता है । हे राजन् ! यदि यह जीवात्मा सदा बाह्य सामग्री की अपेक्षा करने वाला हो तो इसकी अनित्यता हो जायगी । हे राजन् ! इसमें निज स्वभाव भाषणादि व्यापार सदा ही रहते हैं । इसका व्यवहार कदापि नहीं होता । मुक्ति अवस्था में भी इनका रहना सिद्ध है । अतः हे सम्राट् ! प्रथम ऐसे आत्मा को जानो ॥ ६ ॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सद्युभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य ! कौनसा वह आत्मा है ? । याज्ञवल्क्य—जो यह विज्ञानमय, इन्द्रियों से परिवेष्टित हृदय में विराजमान स्वयं ज्योतिःस्वरूप पुरुष है (वह आत्मा है) वही जो यह इन्द्रियों में विज्ञानमय, हृदय में रहने वाला स्वयं ज्योतिःस्वरूप पुरुष है । वह एक रससे दोनों लोकों में गमन करता है । मानो ध्यान करता हुआ और अभिलाषा करता हुआ दोनों लोकों में गमन करता है । परन्तु वह स्वप्नवान् होकर इस लोक को और दुःख के रूपों को लोप जाता है ॥७॥

पदार्थ—जनक महाराज पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! आपने पूर्व में कहा है कि इस पुरुष का आत्मा ही ज्योति होता है अर्थात् यह जीवात्मा स्वयं ज्योतिः-स्वरूप है । यहां सन्देह होता है । इस शरीर में इन्द्रिय और अन्तःकरण भी विद्यमान हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं । तब क्या इस शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण समुदाय से वह ज्योति उत्पन्न होता है अथवा कोई इनसे अतिरिक्त पुरुष है । ज्योतिष्मान् स्वतन्त्र अतः हे याज्ञवल्क्य ! मुझे समझाकर कहें कि इन इन्द्रियादिक में मध्य (कतमः+आत्मा+इति) आत्मा कौन सा है । क्या इन्द्रिय ? अथवा अन्तःकरण अथवा इन्द्रियसाक्षि यह समुदाय शरीर आत्मा है या इन से कोई भिन्न आत्मा है ? इस प्रश्न का याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—(यः+अयम्+प्राणेषु+

विज्ञानमयः) जो यह इन इन्द्रियों के मध्य में विराजता हुआ अत्यन्त ज्ञानवान् है । यह आत्मा । अथवा (प्रायेण) मन के द्वारा सन इन्द्रियों के निकट जाकर उन सत्तों को सजीव कर प्रोज्ज्वलित कर रहा है । और जैसे महाराज अमात्य वगैरों को ले उन्हें चारों तरफ बैठा विचार करता तद्वत् जो विचार करने वाला है वह आत्मा है (इति+अन्तःज्योतिः+पुरुषः) जो हृदय में रहता है और जिनके अभ्यन्तर में ज्योति हो सूर्यवत् स्वयं ज्योतिःस्वरूप सन शरीरों में रहनेवाला जो है वह आत्मा है । पुनः शङ्का होती है कि क्या दीप के समान वह जीवात्मा यहाँ ही लयभाय को प्राप्त हो जाता है । इसका अन्य लोक नहीं है । इस पर कहते हैं (सः+समानः+सन+उभौ+लोकौ+अनुसचरति) वह समानरूप से दोनों लोकों में गमन करता है अर्थात् देहादि से भिन्न कतां भोक्ता कोई है जो मर कर दूसरे जन्म में भी निजोपाजित प्लव का भोक्ता होता है और एक रूप से दोनों लोक में स्थित रहता यह भाव उभौ लोकौ और समान शब्द से सूचित किया है । अब पुनः दिग्गताते हैं कि न मूर्द्धितसा न उन्मातसा और न आविद्वान् होसा हुआ यह जीवात्मा इस शरीर को त्यागता किन्तु (ध्यायति+श्च+लेलायति+श्च) निज उपाजित सन धर्म अधर्म का ध्यान और अत्यन्त अभिलाषा करता हुआ अर्थात् अहो आज मुझे सब त्यागने पड़ेंगे क्या ये पुनरपि कभी मुझें मिलेंगे या नहीं, अहो आज भिया का भी त्याग करना पड़ेगा । इस प्रकार विचार करता हुआ ये सन मुझे पुनरपि प्राप्त होवें ऐसी कामना करता हुआ इस शरीर को कर्म के बश से त्याग अन्य शरीर के ग्रहण के लिये यहाँ से जाता है । कैसे यह जाना जाता है सो आगे स्वप्न के दृष्टान्त से कहते हैं—(हि+सः+स्वप्नः+भूत्वा+इमम्+लोनम्+मृत्योः+रूपाणि+अविष्कामति) क्योंकि यह स्वप्नावस्था को प्राप्त होकर इस लोक और दुःखों की सब अवस्थाओं को लापकर गमन करता है अर्थात् यह सब का अनुभव सिद्ध है कि यह स्वप्न में कभी देखता है कि मैं स्वर्ग को प्राप्त हो मैं सुखों का अनुभव कर रहा हूँ और अब मुझे किञ्चित् गी दुःख नहीं है । इस प्रकार के अनेक विध स्वप्न देखता है इस लोक में भी परलोक के सुखों का अनुभव करता है इस से मालूम होगा कि परलोक कोई भिन्न वस्तु है इसलिये जन्मान्तर भी है । अथवा जनक ने पूछा कि कौनसा आत्मा है । याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो विज्ञानमयादि है । और जो (उभौ+लोकौ+समानः+सन+सः+अनुसचरति)

जागरण और स्वप्नस्वरूप दोनों लोकों में समानरूप से विचरण करता है वह आत्मा है (ध्यायतीव+लेलायतीव) इन दोनों पदों का पूर्ववत् अर्थ है । जागरणस्थिति से स्वप्नावस्था में कुछ भेद कहते हैं (सः+दि+स्वप्नः+भूत्वा+इमम्+लोकम्+मृत्योः+रूपाणि+अतिक्रामति) वह स्वप्नावस्था को प्राप्त हो इस जागरणस्थिति के दुःख के सर्व अवस्थाओं को अतिक्रमण करके रहता है क्योंकि स्वप्न में एक दरिद्री पुरुष भी अपने को राजा मान आनन्द करता है ॥ ७ ॥

माध्यम्—याज्ञवल्क्य ! यदुक्तं मगवता आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यत्र संदिश्यते । इह शरीरे इन्द्रियाण्यन्तःकरणं चापि वदन्ति तद्विदः । किमेतत्समुदायाज्ज्योतिरुद्भवति । उत कोऽप्येतेभ्योऽतिरिक्तः पुरुषोऽस्ति यो ज्योतिष्मान् स्वतन्त्रोऽस्ति । अतो ह्यहि याज्ञवल्क्य ! एतेषामिन्द्रियादीनां मध्ये कतम आत्मा कोऽयमात्मास्ति ? किमिन्द्रियाणि ? उतान्तःकरणम् ? उतैतेभ्यो मिन्नः कश्चित् ? याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—हे सम्राट् ! योऽयं प्राणेषु प्राणापरनामकेष्विन्द्रियेषु मध्ये विज्ञानमयो वर्तते स आत्मा । अत्र सामीप्ये सप्तमी । यः खलु सर्वेषामिन्द्रियाणां निकटं मनोव्यापारेण गत्वा तानि सर्वाणि प्रोञ्जयति । अमात्यान् महाराज इव तानि परिरतः स्थितानीव विधाय सर्वं विचारमारमत इव । यं विनैतानि किमपि कर्तुं न समर्थयन्ते । स आत्मा इन्द्रियेभ्योऽतिरिक्तत्वेन वेदितव्यः । कथंभूतः सः विज्ञानमयः प्रचुरं विज्ञानं विज्ञानशक्तिर्यत्र सः । स कास्तीत्यपेक्षार्या—हृदि हृन्मध्ये तिष्ठति । पुनः—अन्तर्ज्योतिः अन्तर्निजस्वरूपाभ्यन्तरे ज्योतिर्यस्य सः सूर्यादिवत् । न बाह्यत एव स ज्योतिषा मासते किन्तु स स्वयंज्योतिरस्तीति भावः । पुनः—पुरुषः सर्वासु पुरुषे स्थितः । अत्रैव प्रदीपवद्विलीयते नास्यास्त्यतोलोकान्तरमिति सन्देहं निराकुर्वन्नाह—समान इति । स पुरुषः समानः सन् । एति वा उभौ लोकौ । इमं लोकं परञ्च लोकम् अनुसञ्चरति प्रजति । अस्त्ययं देहादभिन्नः कर्ता मोक्षाच्चः प्रेत्य परस्मिन् जन्मन्यपि निजोपार्जितफलमागृभयतीति उभयलोकगमनवर्णनेन सूचितम् । हे राजन् ! न मूर्च्छित इव नचाऽविद्वान् सन् न चोन्मत्त इवायं परलोकं गच्छति । किं तर्हि ध्यायतीव स्वोपार्जितौ धर्माधर्मां चिन्तयन्निवानुसंचरतीत्यर्थः । पुनः—लेलायतीव अत्यर्थमभिलषतीव अहो मम इमे सर्वेऽद्य त्याग्या भवन्ति । कदाप्येते पुनरपि मिलिष्यन्ति नवेति ।

अहो अद्य प्रियापि हेया इति धिच स्यन् पुनरपि एते मां प्राप्नुवन्तिविति कामय-
मान इवेदं शरीर कर्मवशेन विहाय अन्यद् ग्रहीष्यन् याति । कथिदासकामो
मरणवेलायां न संसारभोगान् ध्यायन्नुत्क्रामति । कथित्तु ध्यायन्नेव । अतो
विप्रतिपत्तिमूचरु इव शब्दः । कथमत्रगम्यत इति । सद्वात्मा स्वप्नो भूत्वा
स्वमनान् भूत्वा इमं लोकम् । अतिक्रामति अतिव्रज्य व्रजतीव । तथा मृत्यो-
र्दुःखस्य सर्वाणि रूपाणि सर्वावस्थाः अतिक्रामति । कदाचिदयं स्वप्ने अहं स्वर्गं
लोकं प्राप्य सर्वं सुखमनुभवामि एव मम सम्प्रति किमपि दुःख नास्ति इत्येवंविधान
विनिधान् स्वप्नान् पश्यति । अतोऽस्मिन् लोकेऽपि इतरलोफसुखमनुभवतीति
अस्ति परलोक इति सूचितम् । यद्वा उभौ जागरणस्वप्नरूपौ द्वावपि लोकौ
ध्यायतीव लेलायतीव ध्यायन्निव लेलायन्निव अनुसरति इन्द्रियैः सह विषयं
विषयं प्रति धावति । स्वप्ने त्वियान् विशेषः । स हि स्वप्नो भूत्वा स्वभावस्थां
प्राप्य । इमं लोकं जागरणरूपं लोकम् । तथा तत्स्यस्य मृत्योर्दुःखस्य रूपाणि
सर्वावस्थाः अतिक्रामति उल्लंघयति । यतो दरिद्रोऽपि स्वप्ने नृपायते ॥ ७ ॥

स वाऽयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः
संसृज्यते स उत्क्रामन् त्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥

अनुवाद—सो यह पुरुष उत्पन्न हो शरीर को प्राप्त करता हुआ पापों से
समिक्षित होता है और जब वह मरता है और ऊपर को जाता है तब सब पापों
को छोड़ जाता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—पुनः आत्माका परलोक विषय कहते हैं—(सः+या+अयम्+पुरुषः+
जायमानः+शरीरम्+अभिसम्पद्यमानः+पाप्मभिः+संसृज्यते) सो यह पुरुष जीवात्मा
उत्पन्न होता हुआ अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त करता हुआ अशुभ
कर्म जन्य अखिल अवधर्मों से संगत होता है अर्थात् अखिल अधर्म इसको सम्प्राप्त
होते हैं । और पुनः (त्रियमाणः+उत्क्रामन्+पाप्मनः+विजहाति) जब मरने
लागता है और मरकर ऊपर को उठता है तब सब पापों को त्याग कर देता है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—पुनरस्य परलोकं दर्शयति । न वायं पुरुषः । जायमानः
नादकुरादिवदुत्पद्यमानः । किन्तु शरीरम् । अभिसम्पद्यमानः । शरीराच्छरीरं
प्राप्नुवन् । पाप्मभिः पापैः पूर्वान्जितैरधर्मैः । अशुभकर्मजन्यैरधर्मैरित्यर्थः

संसृज्यते संसृष्टः संगतो भवति । पुनरपि त्रिविधा उत्क्रमन् ऊर्ध्वं गच्छन् ।
पाप्मनः पापानि विजहाति त्यजति । इदं कस्यचित् पुण्यातिशालिनः पुरुषस्य
वर्णनम् । कोऽपि हि पुण्यः पुरुषः संचिंतानि पापजन्यानि दुःखानि मोक्षं
शरीरमादत्ते । भोगेन तानि समाप्य शुद्धो निर्मलः सन्नुत्क्रामति ॥ ८ ॥

भाष्याशय—यह किसी पुण्यशाली पुरुष का वर्णन है क्योंकि कोई २ पुण्य-
वान् पुरुष पापजन्य दुःखों को भोगने के लिये शरीर धारण करते हैं । भोग-से
उनको क्षय करके शुद्ध निर्मल हो ऊपर जावे हैं । जायमानः—जैसे धीज से अंकुर
अथवा मृत्तिका से घट होता है तद्वन् यह उत्पन्न नहीं होता । इस हेतु “जायमानः
इसीका शरीरम् अभिमंपद्यमानः” व्याख्यान है अर्थात् एक शरीर को त्याग दूसरे
शरीर में जाता है आत्मा का मरण जन्म है । मरण समय में सब मनुष्य के पाप
नष्ट हो जाते हैं सो बात नहीं किन्तु किन्हीं २ महात्मा के सब पाप नष्ट हो जाते
हैं । इसमें भी सन्देह नहीं । इस हेतु यह किमी योगी का वर्णन है ऐसा प्रतीत
होता है, यहां केवल पुनर्जन्म दिखलाने के अभिप्राय से कहा गया है ॥ ८ ॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदञ्च
परलोकस्थानञ्च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये
स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानञ्च ।
अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्यो-
भयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य
लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहस्य स्वयं निर्माय
स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं
ज्योतिर्भवति ॥ ९ ॥

आनुवाद—निश्चय उस इस पुरुष के दो ही स्थान होते हैं—यह लोक-
स्थान और परलोकस्थान, दोनों का सन्ध्यं तृतीय स्वप्नस्थान होता है । इस सन्ध्य-
स्थान में स्थित होकर दोनों इस स्थान को और परलोक स्थान को देखता है ।
परलोक स्थान में इस जीवात्मा का जैसा आक्रम (आश्रम) होता है । यहां पर
भी उसी आक्रम को लेकर दोनों पापों और आनन्दों को देखता है । किस काल में

वह आत्मा विविध स्वप्नों को देखता है । उस समय सर्ववासनायुक्त इस लोक की एक मात्रा (वासना अंश) को लेकर अपने से ही उसे नष्टकर पुनः वना अपने प्रकाश से अपनी ही ज्योति से स्वप्न-क्रीडा को आरम्भ करता है । इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—पूर्व में जो कुछ अर्थ बड़े गये हैं उनको ही स्वप्न के दृष्टान्त से पुनः कहते हैं—(ये) निश्चय, अर्थात् इस वक्ष्यमाण वर्णन में किञ्चित् भी सन्देह नहीं । (तस्य+अस्य+पुरुषस्य+द्वे+एव+स्थाने+भवतः) उस इस पुरुष नामधारी जीवात्मा के दो ही स्थान होते हैं । एक तो (इदम्+च) प्रत्यक्षतया दृश्यमान भोग के लिये प्राप्त जो इम में गृहीतस्थान है । और दूसरा (परलोकस्थानम्) अगामि जन्म में प्राप्तव्य जो स्थान अर्थात् जन्म के अनन्तर मरण और मरण के अनन्तर जन्म इस प्रकार घटी चक्र के समान इसके दो स्थान होते हैं । और इसी प्रकार जागरण के अनन्तर स्वप्न और स्वप्न के अनन्तर जागरण । यद्यपि प्रधानतया ये ही दो स्थान हैं । तथापि गौण तृतीयस्थान भी होता है । इससे आगे कहते हैं (सन्ध्यम्+तृतीयम्+स्वप्नस्थानम्) इस लोक परलोक तथा जागरण सुषुप्ति इन दोनों की सन्ध्य में अर्थात् मध्य में तीसरा स्वप्नस्थान है जैसे जागरण और सुषुप्ति के मध्य एक स्वप्न की अवस्था होती है वैसे है इस लोक तथा परलोक की सन्धि स्वप्न है । क्योंकि मरण बेला में स्वप्नवद्वा प्राप्त होती है । अथवा मरण के अनन्तर देवयान वा पितृयान जो मार्ग है मानो वही सन्धिस्थान (तस्मिन्+सन्ध्यै+स्थाने+तिष्ठन्+उभे+स्थाने+परयति+इदञ्च+परलोकस्थानञ्च) उस सन्ध्यस्थान में रहता हुआ दोनों स्थान देखता है त्रियाकलाप सहित इस लोक को तथा परलोक स्थान को अर्थात् इस लोक में जो जो कर्म करता है मरणकाल में उन सबों को स्मरण करता है । इनही सञ्चित कर्मों का फल यहाँ से जाकर पाना है । इस को भावना के द्वारा देखता है, परमार्थरूप से नहीं । इस प्रकार स्वप्न में भी जागरण दृष्ट वस्तुओं को और स्वप्नकाल में मानो नूतन २ अन्यान्य बहुत वस्तुओं को देखता है । वर्तमान जन्म पूर्वजन्म के धर्माधर्म का सूचक होता है । इसको दिसलाते हैं किसी सुखी शान्त विद्यावान् परोपकारी को देखकर लोग कहते हैं कि इसके पूर्वजन्म का यह फल है । और किसी क्रूर मूर्खादि को देख अहो यह नारकी (नरक निवासी) पुरुष है ऐसा कहते हैं । इस विषय को स्वयं उपनिषद् दर्शाती

है (अथ+परलोकस्थाने+अथम्+यथाक्रम+भवति) और परलोक स्थान में यह जीवात्मा जिस आश्रय वाला होता है (तम्+आक्रमम्+आक्रम्य+याप्मनः+आनन्दान्+च+अभयान्+परयति) उसी आश्रय को लेकर अधर्मजन्य दुःखों धर्मजन्य सुखों को पाता है । आगे स्वप्न के दृष्टान्त से इसके ज्योति को साधते हैं (मः+यत्र+स्वपिति) बंद जीवात्मा जिस काल में स्वप्नक्रीड़ा करना आरम्भ करता है उस समय (सर्वो-धतः+अस्य+लोकस्य+मात्राम्+आदाय+वि+स्वयम्+विहृत्य+स्वयं+निर्माय+स्वेन+भा-सा+स्वेन+ज्योतिषा+प्रस्वपिति) सब वासनाओं से युक्त इस गृही वा जाग्रत लोक के कुछ अंश को लेकर अपने से ही उसे मिटाकर पुनः अपने से ही उसे निर्माण कर (स्वेन+मासा) निज तेज से (स्वेन+ज्योतिषा) निज ज्योति से (प्रस्वपिति) विशेष विशेष स्वप्न की क्रीड़ा करना आरम्भ करता है । (अत्र) इस अवस्था में (अथम्+पुरुषः) यह पुरुष (स्वयं+ज्योतिः) स्वयं ज्योति (भवति) होता है । अर्थात् इस अवस्था में सूर्यादि ज्योति की अपेक्षा न कर के आत्मा में जो स्वामा-विक ज्योति है उसी की सहायता से सब क्रीड़ा करता है ॥ ६ ॥

माप्सम्—पूर्वोक्तान्यान् पुनरपि स्वप्ननिदर्शनेन ब्रवीति । वै इति निश्चयं द्योतयति । अत्र वक्ष्यमाणे विषये न संशयितव्यम् । तस्यैतस्य प्रकृतस्य सर्वासु पूर्ण स्थितस्य पुरुषाख्यस्य जीवस्य । द्वे एव स्थाने भवतः । एव शब्दो-ऽवधारणार्थः । न न्यूनं नाधिकञ्चेत्यर्थः । के ते द्वे स्थाने इदं प्रत्यक्षतया दृश्यमानं मौन्यत्वेन प्राप्तं इह जन्मोपात्तस्थानम् । यद्वा जाग्रदुपस्थानमिदं शब्दो-नाह । द्वितीय परलोकस्थानञ्च । आगामिनि जन्मनि प्राप्तव्यस्थानमेव परलो-कस्थानम् । यद्वा सुषुप्तावस्थारूपम् । यद्यपि इमे एवं द्वे स्थाने प्रधाने भवतः । तथापि अस्य तृतीयमपि स्थानं वर्तते । स्वप्नस्थानं तृतीयम् । किंविशिष्टम् । सन्ध्यम् तयोर्द्वयोः सन्ध्योर्भेदं सन्ध्यं । त्रयाणां पुरुषम् त्रयम् । यथा जागरणं सुषुप्तयोः सन्धिः स्वप्नः । तथैहलोकपरलोकयोः सन्धिः स्वप्नः । मरणवे-लायां स्वप्नवदशोपलब्धिः देवयानपितृयानमार्गगमनमेव स्वप्नतुल्यम् । तस्मिन् स्वप्नाख्ये सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नयमात्मा उभे । इदञ्च परलोक स्थानञ्च पश्यति । यानि यानि कर्माणि कृतानि मरणकाले तानि सर्वाणि स्मरति । एतेषामेव कृतसंचिनकर्माणां फलमितोगत्वा भोक्तव्यमिति भावनया पश्यति न तु परमा-र्धतः । एवं च स्वप्ने जागरणदृष्टानि तथा नूतनानीव च तत्काले सुप्तानि अन्या-

न्यपि भूरीणि चरतूनि पश्यति । वर्तमान जन्म पूर्वस्य जन्मनो धर्माधर्मौ घृच-
यति । तथाहि—सुखिनं शान्तं विद्यावन्तं परोपकारिणमवलोकयास्य प्राञ्जनज-
न्मफलमेतदिति क्लृप्तं भूत्स्वमित्येवमादिं दृष्ट्वा अहो नारकोऽयं पुरुष इति लोका-
भ्रमन्ति इदमेवाग्रे विस्पष्टयति । अथायं पुरुषः । परलोकस्थाने यथाक्रमो भवति
आक्रामत्यनेनेत्याक्रमः आथमः अवष्टम्भो विद्यार्कमपूर्वप्रज्ञालक्षणो यादृश
आक्रमो यस्य स यथाक्रमः अयं पुरुषः । परलोकस्थाने प्रतिपत्तव्ये निर्मिते ।
यादृशेनाऽऽक्रमेण संयुक्तो भवति तमाक्रमं चीजभूतमाक्रम्य अवष्टम्य । इह
जन्मनि । उभयान् पाप्मनः पापानि पापजनितदुःखानि । आनन्दाश्च पुरण-
जनितसुखानि च उभयानि कर्मफलानि पश्यति प्राप्नोति । यादे परलोकपुण्या-
त्मा तर्हीहापि सुखानि पश्यति । यदि पापी तर्हीहापि दुःखानि पश्यति प्राप्नोती-
त्यर्थः । स्वमदृष्टान्तेन अस्य स्वयं ज्योतिष्मत्त्वं दर्शयति । स प्रकृत आत्मा ।
यत्र यस्मिन् काले । प्रस्वपिति प्रकर्षेण स्वममनुभवति । तदा सर्वावतः सर्वाः
क्रियाकलापवासना विद्यन्तेऽत्येति सर्वावतः । अस्य लोकस्य अहरहोऽमुज्यमा-
नस्य जागरितस्वरूपस्य लोकस्य । मात्राप्त्वा काञ्चिदेव वासनामादाय । तां
स्वयं निहृत्वा निश्चेष्टां विधाय । अन्तःकरणे । अन्याञ्च मात्रां निर्माय रच-
यित्वा स्वेन स्वरूपेण भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वप्ता स्वमकीडां कर्तुमारभते ।
अत्रास्यामवस्यायाम् । अयं जीवः । स्वयमेव ज्योतिर्भवति । नहि तत्र किमपि
सूर्यादिय्योतिरपेक्षते । अतोऽयं स्वयं ज्योतिरयमात्मेति वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

भाष्याशय—सन्ध्यम्=सन्धि में जो हो । आक्रम=जैसे प्रासाद के ऊपर
चढ़ने के लिये श्रेणी (सिढ़ी) लगी रहती है । तद्वत् यहां से परलोक गमन के
लिये विद्या, कर्म, पूर्वज्ञान ये श्रेणिया हैं, परलोक=यहां वर्तमान जन्म का नाम लोक
और जो गत जन्म वा भविष्यत् जन्म है यह परलोक । जैसे—अनुमान करो कि यहां
जो लोग शरीर धारण किये हुए हैं वे अवश्य दूसरे जन्म को भोग करके आवे हैं
और उस गत जन्म के सञ्चित कर्मों को भी साथ ले आए हैं । जैसे यहां से जो
जायगा सो यहां के सञ्चित कर्मों को लेकर जायगा । और भविष्यत् जन्म में
वर्तमान जन्म के कर्म परलोक कहलावेंगे इत्यादि अनुसन्धान करना ॥ ६ ॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्

रथयोगान् पथः सृजते न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो भव-
न्तथाऽऽनन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्क-
रिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्ता पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः
सृजते स हि कर्त्ता ॥ १० ॥

अनुवाद—स्वप्नावस्था में न रथ, न रथयोग (रथ के घोड़े आदि), न मार्ग है परन्तु वह रथों, रथयोगों और पथों की सृष्टि करलेता है । वहाँ आनन्द मोद, अमोद, नहीं हैं परन्तु वह आनन्दों, मोदों और प्रमोदों की सृष्टि करलेता है, वहाँ छोटे २ सरोवर, छात और नदियाँ नहीं हैं परन्तु वह सरोवरों छातों और नदियों की सृष्टि करलेता है । क्योंकि वह कर्त्ता है ॥ १० ॥

पदार्थ—पुनरपि स्वप्नक्रीड़ा की दशा का वर्णन करते हैं (तत्र+रथाः+न+भवन्ति+रथयोगाः) उस स्वप्नावस्था में युद्ध के लिये प्रसिद्ध रथ नहीं होते हैं और न रथ के बेल घोड़े आदिक होते हैं और (न+पन्यान्+अथ+रथान्+रथयोगान्+पथः+सृजते) रथ के चलने के लिये मार्ग भी नहीं होते हैं परन्तु रथों को, रथ के ढोने वाले घोड़ों को और रथके चलनेवाले मार्गों को वह जीवात्मा अपनी क्रीड़ा के लिये बना लेता है । पुनः (आनन्दाः+मुदः+प्रमुदः+न+भवन्ति+अथ+आनन्दान्+मुदः+प्रमुदः+सृजते) सामान्मुख पुत्रादि सन्बन्धी निमित्त हर्ष अत्यन्त हर्ष ये सर्वस्वप्न में नहीं होते हैं परन्तु आनन्द मोद और प्रमोदों को बना लेता है । एवं (वेशान्ताः+पुष्करिण्यः+स्रवन्त्यः+न+भवन्ति) छान वा जलक्रीड़ा के लिये छोटे सरोवर, मनुष्य रचित छात तड़ाग नदियाँ नहीं होती हैं (अथ+वेशान्तान्+पुष्करिण्यः+स्रवन्त्यः+सृजते) तथापि उन सरोवरों पुष्करिण्यों नदियों को बना लेता है (हि+सा+कर्त्ता) क्योंकि इस स्वप्नावस्था में आत्मा ही कर्त्ता धर्त्ता संहर्त्ता है । इस हेतु सब पदार्थों को बना लेता है ॥ १० ॥

मार्थम्—पूर्वया कण्डिका जीवस्य स्वयं ज्योतिष्मन्मवधारितं तदयु-
जम् । कथम् ? स्वप्नेऽपि सर्वेषामादित्यादीनां सत्त्वात् । समावृत्ते-न, लघुनि
शरीरे कथं सूर्यादीनां समावेशः । शङ्कते-द्रष्टव्यन्तानां कलिकत्तादीनां महतां नग-
राणां कथं चेतसि समावेशः । समा—तेषां तु बुद्धौ समावेशः । शङ्का-इहापि
बुद्धावेव कथं न मन्यते । सर्वज्ञागण-क्रियाकलापसंस्कारवासना बुद्धौ सद्ब्रह्म-

न्ताः स्वप्नेऽप्यभासन्ते । यद्येवं स्यात्तर्हि अधुतव्याकरणः शिशुरपि पाणिनि-
सूत्रं भाषमाण उपलभ्येत । ईदृशो व्यापारो न क्वापि लब्धः । अतो बुद्धि-
संक्रान्त संस्कारवासनानामेव स्वप्ने प्रादुर्भाव इति मन्तव्यम् । शङ्कते-ननु
कस्तत्रोद्बोधकः स्मारको वा । समाधत्ते-यथोन्मुह्याज्जलोद्गिरण्यन्त्रात्ताव-
ज्जलधाराः परिपतन्ति यावत्पुनरपि स नापरुष्यते, यथा वा प्रमथो वा व्या-
धिग्रस्तो वा असम्भ्रद्धमेव प्रलपति न हि तत्र किमप्युद्बोधनम् । तथैन शिरसि
संक्रान्ताः संस्कारा जले फेना ह्योत्पद्यन्ते विलीयन्ते च । यदा पुनः शनैः
शनैः प्रगाडनिद्रा आगच्छति तदा प्रतिघट्टजलोद्गिरण्यन्त्रादिव न तस्मात्
किमपि निःसरति । अतः स्वप्नदृष्टान्तेन यदात्मनः स्वयंज्योतिष्टं साधितं
तल्लोकदृष्ट्यैव वेदितव्यम् । अत्र पुनरपि स्वप्नक्रीडादशा वर्ण्यते-नेति तत्र
स्वभावस्थापाम् । रथाः स्यन्दना युद्धाय भृगयार्काङ्गायै वा न सन्ति । रथयोगा
अथादयो न भवन्ति युज्यन्ते ये ते योगा रथानां वाहका अश्वादयः । तथा
रथगमनाय पन्थानो मार्गा अपि न भवन्ति परमार्थेन । अथ तथापि मानस-
व्यापारे रथान् रथयोगान् पथश्च स्वप्नक्रीडार्थं तानुत्पादयति । पुनः-आनन्दाः
सुखसामान्यानि । सुदः पुत्रादिसम्बन्धनिमित्ता हर्षाः । प्रसुदः सुद एव प्रकृष्टाः
प्रसुदः । स्वप्ने इमे आनन्दादयो न भवन्ति । अथ तत्रापि आनन्दान् सुदः
प्रसुदश्च सृजते ! एवम् तत्र स्नानाय वेशान्ताः क्षुत्रसरांसि “वेशान्तः पल्व-
लश्चान्पसरो घापी तु दीर्घिका” इत्यमरः । ते न भवन्ति । पुष्करिण्यः
खातानि न भवन्ति “पुष्करिण्या तु खातं स्यात्” इत्यमरः । स्रवन्त्यो
नद्यः स्रवन्ति यास्ताः ता अपि न भवन्ति । अथ वेशान्तान् पुष्करिण्यः
पुष्करिणीः स्रवन्त्यः स्रवन्तीः, सृजते । उभयत्र द्वितीयाथं प्रथमा आपी । हि
यस्मात्कारणात् स जीवात्मा स्वभावस्थायाः स्वयं कर्ताऽस्ति । अतः सर्वं सृजत
इत्यर्थः ॥ १० ॥

भाष्याशय—पूर्व करिडका के द्वारा “आत्मा स्वयं ज्योति है” यह निर्धारित
हुआ । इस पर कोई कहते हैं कि यह अयुक्त है क्योंकि स्वप्न में भी सूर्यादि पदार्थ
विद्यमान रहते हैं । उत्तर—नहीं, क्योंकि इस लघु शरीर में सूर्यादिकों का समा-
वेश कैसे हो सकता है । यद्वा—देखे हुए कलकत्तादिक महान् नगरों का शरीर में
कैसे समावेश होवा है । उत्तर—उनका तो बुद्धि में समावेश होता है । शङ्का—तो

इतका भी बुद्धि में ही समावेश क्यों नहीं समझते हैं । क्योंकि जागरण की क्रिया-कलाप की सम्पूर्ण वासनाएं बुद्धि में समाहित होके स्वप्नावस्था में अवभासित होती हैं । यदि ऐसा न मानो तो जिसने व्याकरण नहीं पढ़ा है उस शिशु को भी पाणिनि के सूत्र स्वप्न में धोलने चाहिये, परन्तु ऐसा व्यापार कहीं नहीं देखा गया । इस हेतु बुद्धि में समाहित संस्कारों का ही स्वप्न में प्रादुर्भाव मानना चाहिये । शङ्का—उन संस्कारों का उद्बोधक या स्मारक कौन पदार्थ है ? क्योंकि उद्बोधक बिना किसी परोक्ष वस्तु की स्मृति नहीं होती । उत्तर—जैसे उन्मुक्त जल-फुहारे से तबतक बराबर जलधारायें गिरती रहती हैं जबतक पुनः वह बन्द न कर दिया जाय । अथवा जैसे उन्मत्त या रोगग्रस्त असम्बद्ध प्रलाप करता है यहां कोई भी उद्बोधक नहीं । वैसे ही शिर में समाहित संस्कार जल में फेन के समान उठते और लीन होते रहते हैं । जब पुनः प्रगाढ़ निद्रा आती है तब जैसे वन्द किये हुए फुहारे से जल नहीं निकलता वैसे ही उस शिर से कुछ भी स्वप्न नहीं आता । स्वप्नावस्था में प्रतिबन्धक के अभाव से शिररूप यन्त्र सुप्त जाता है इस हेतु उसमें स्वप्नरूप जल निकलने लगने हैं । इस हेतु स्वप्न के दृष्टान्त से जो आत्मा का स्वयंभोतिष्ठ साधा गया है वह लोचनदृष्टि से ही किया गया है । ऐसा अनुमन्यमान करना ॥ १० ॥

तदेते श्लोका भवन्ति । स्वप्नेन शरीरमाभिग्रहत्यासुप्तः
सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्यमयः
पुरुष एकहंसः ॥ ११ ॥

अनुवाद—इसमें ये श्लोक होते हैं । यह जीवात्मा स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट बना स्वयं असुप्त पदार्थों को चारों तरफ से देखता रहता है । यह हिरण्यमय एकहंस जीवात्मा पुरुष, इन्द्रियों की सेवामात्रा को लेकर पुनः जागरण स्थान को आता है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(तत्+एते+श्लोकाः+भवन्ति) उस पूर्वोक्त विषय में ये श्लोक प्रमाण होते हैं । यह जीवात्मा (स्वप्नेन+शरीरम्+अभि+ग्रहत्य+असुप्तः+सुप्तान्+अभिचाकशीति) स्वप्न के द्वारा स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर को इन्द्रियों के सहित निश्चेष्ट बना अपने न सोता हुआ अन्तःकरण की वृत्ति के आश्रित सब पदार्थों को चारों तरफ से देखता रहता है अर्थात् साक्षीरूप स्थित रहता है । यह स्वप्नावस्था

का वर्णन हुआ । आगे जागरणावस्था को कहते हैं (शुक्लम्+आदाय+पुनः+स्थानम्+एति) सन इन्द्रियों की सेजोमात्रा को लेकर फिर भी जागरण स्थान को आता है । आगे तीन विशेषणों से आत्मा का वर्णन करते हैं (हिरण्मयः+पुरुषः) ज्योतिःस्वरूप और सन शरीररूप पुरियों में स्थित है । पुनः (एकहंसः) अकेला ही दोनों लोकों में गमनागमन करनेवाला है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—तदिति । तत्र तसिन्नुक्तविषये । एते वक्ष्यमाणाः श्लोकाः प्रमाणानि भवन्ति । तथाहि स्वप्नेनेति—एष जीवात्मा । स्वप्नेन स्वप्नभावेन । शरीर शरीरममत्र स्वायं वृद्धिः । इन्द्रियसहितमिदं पाञ्चभौतिकं शरीरम् । अभिप्रहस्य निश्चेष्टीकृत्य । असुप्तः स्वयमलुप्तद्वगुरूपत्वादसुप्तः । सुप्तान् अस्तमितान् अन्तःकरणाऽऽश्रितान् सर्वपदार्थान् । अभिचाकशीति अभितः चाकशीति परयति । अथ जागरितं दर्शयति—शुक्रं सर्वेषामिन्द्रियाणां तेजोमात्राम् । आदाय गृहीत्वा । स्थानं जागरितस्थानम् । वेति आगच्छति आ+एति । कीदृशः पुनः स पुरुषः—हिरण्मयः चैतन्यज्योतिःस्वभावः । पुनः पुरुषः सर्वान् पूर्ण स्थितः । पुनः एकहंसः एक एव जाग्रत्स्वप्नेहलोकपरलोकादि इन्ति गच्छति हिनस्ति धेयेकहंस इति हिंसागत्योः । शरीरानुगता या एका चेतनेन जीवेन प्रदीप्ता चेतना शक्तिरिति सा हि विश्राममन्तरेण न सर्वदा नैरन्तर्येण कार्याणि कर्तुं समर्था । सा च सर्वाणीन्द्रियाणि उपसंहृत्य स्वस्वविषयात् प्रत्यग्वर्तयति । तदाऽऽत्मा करणाभावेन स्वस्थः सन् सर्वान् व्यापारान् पश्यन् वृद्धिं विश्राम्यति । अतोऽस्याऽसुप्तत्वम् ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं वहिष्कुलायां दमृतश्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥ १२ ॥

अनुवाद—यह ज्योतिःस्वरूप, एकहंस अमृत तथा पुरुष जीवात्मा निवृष्ट शरीररूप नीड़ (घोंसले) को प्राण से रक्षा करता हुआ शरीररूप नीड़ से, अपने बाहर विचरण कर जहाँ जहाँ कामना होती है वहाँ वहाँ जाता है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(सः+अमृतः+हिरण्मयः+पुरुषः+एकहंसः+अचरम्+कुलायम्+प्राणेन+रक्षन्+कुलायात्+वृद्धिः+चरित्वा+अमृतः+यत्र+कामम्+ईयते) यह मरणधर्म से रहित, स्वयं ज्योतिस्वरूप, सब प्रकार के शरीर में निवास करनेवाला, एकाकी

दोनों लोक में विचरण करनेवाला, जो जीवात्मा है सो नीच निम्न शरीररूप नीड़ (घोमले) को प्राण के द्वारा रचा करता हुआ शरीररूप नीड़ से मानो बाहर विचरण करके सदा ही अमृतरूप होता हुआ जिम २ विषय में कामना होती है वहा वहा बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् जाता है ॥ १२ ॥

माध्यम्—प्राणेनेति । पुनरपि स्वमेव विशेषरूपेण वर्णयति-सः अमृतोऽध्वनुच्छित्तिधर्मा नित्यो जीवात्मा । अवरं न वरमध्वरमनुत्कृष्टम् । कुलायं कौलीयत इति कुलायं नीडं शरीरमित्यर्थः “ कुलायोर्नीडमस्त्रियाम् ” इति कौशः । प्राणेन पञ्चवृत्तिकेन प्राणेन मुख्येन । रक्षन् मृतमिति भ्रमो मा भूदिति पालयन् सन् कुलायात् शरीरनीडाद् बहिश्चरित्वा मानसव्यापारसम्पर्केण बहिश्चरणमिदं कृत्वा न वास्तवेन । यत्र कामं यत्र यत्र विषयेषूद्भूतवृत्तिः कामो भवति । तं कामं प्रति ईयते नीयते गच्छतीत्यर्थः । अमृत इत्याद्याभ्यासः कामं कामं प्रत्याशक्तोऽयमिति भ्रान्तिनिवारणाय । बुद्ध्युपहित एव इतस्ततः प्रव्रजति । न स्वयं स्वयं किमपि कामयते । अन्यत् पूर्ववत् ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते-ब्रह्म-नि । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

अनुवाद—यह देव जीवात्मा स्वप्नस्थान में विविध वृद्ध नीच भाव को प्राप्त होता हुआ अनेक रूपों को बनाता है । कभी स्त्रियों के साथ आनन्द अनुभव करता हुआ, कभी हंसता हुआ और कभी विविध भयों को देखता हुआ स्वप्न में खेल करता है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(देवः+स्वप्नान्ते+उच्चावचम्+ईयमानः+ब्रह्मनि+रूपाणि+कुरुते) दिव्य गुरुवाला यह जीवात्मा स्वप्नस्थान में उच्च=आद्वयणादि भाव को और अवच=निम्न पशु पक्षी प्रभृति भाव को प्राप्त करता हुआ अनेक कामनामय शरीर को अपनी क्रीडा के लिये बनता है अर्थात् कभी तो विद्वान् होकर शिष्य को पढ़ाता है । कभी स्वयं शिष्य बनकर पढ़ता है । कभी हाथी से वाडित होकर रोता हुआ मागता है । इस प्रकार स्वप्न में अनेक उच्चता नीचता को प्राप्त होता है । इसी को आगे श्रुति कहती है (उन्+स्त्रीभिः+सह+मोदमानः+इव+उत+अपि+जक्षन्+इव+भयानि+

पश्यन्) या कभी क्षियों के साथ मानो क्रीड़ा करता या कभी अपने बन्धुबान्धव व मित्र प्रभृतियों के साथ हास्य करता हुआ कदाचिन् भय जनक मिह ध्यात्र हाथी सर्पादिकों को मानों देखता हुआ यह आत्मा स्वप्न स्थान में क्रीड़ा करता है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—स्वप्नान्त इति । देवो द्योतनात्मको दिव्यस्वभावो जीवात्मा स्वप्नान्ते स्वप्नस्थाने । उच्चावचम् उच्च ब्राह्मणादिभावम् अवचं तिर्यगादिभावञ्च । ईयमानोऽध्या नीयमानः सन् रूपाणि संस्कारमयानि शरीर जातानि । बहूनि भूरीणि । कुरुते स्वप्नस्थाने कदाचिद् विद्वान् भूत्वा शिष्यान्ध्यापयति । कदाचित् पठति कदाचिद्गन्त्रेण साक्ष्यमानः प्रन्दन् पलायते इत्यादीनि बहूनि रूपाणि कुरुते । इदमेव विस्पष्टयति श्रुतिः—कदाचिदय जीवः स्त्रीभिः सह सार्धम् । मोदमान इव क्रीडमान इव यतापि जन्तुदिव बन्ध्वादिभिः सह हसन्निव । यतापि भयानि विभेत्येभ्य इति भयानि हिंस्रप्रादादीनि । पश्यन्नवलोकयन्निव भवति ॥ १३ ॥

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति । तन्नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः । दुर्भिपज्यं हास्मै भवति यमेव न प्रतिपद्यते अथो । खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्येव इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥ १४ ॥

अनुवाद—(सन कोई) इस जीवात्मा के आराम (क्रीड़ा) को देखते हैं उस (आत्मा) को कोई भी नहीं देखता । कोई कहते हैं कि उसको सहसा न जगावे क्योंकि इस देह के लिये वह स्थान दुर्भिपज्य होजाता है जहा यह जीवात्मा प्राप्त नहीं होता । कोई आचार्य कहते हैं—इसका जागरित देश ही स्वप्न देश है क्योंकि जागता हुआ यह जो जो देखता है सोकर भी उन्हीं को देखता है इस अवस्था में यह स्वयं ज्योति होता है । जनक महाराज कहते हैं—सो मैं आपको एक सहस्र गायें देता हूँ । इसके आगे विमोक्ष (सम्यग् ज्ञान) के लिये मुझे उपदेश दें ॥ १४ ॥

पदार्थ—(अम्य+आरामम्+पश्यन्ति) इस जीवात्मा के क्रीडास्थान या कृत्रिम

उपवन को सब कोई देखते हैं । यदि इसकी क्रीड़ा को देखते हैं तो कदाचित् उसे देख सकते हैं वा देखते होंगे । इस पर कहते हैं—(कः+चन+तम्+न+पश्यति) कोई भी मनुष्य उस क्रीड़ा करनेवाले जीवात्मा को नहीं देखता है । क्योंकि वह बहुत सूक्ष्म है । जैसे शिशु क्रीड़ा से निवारित होने पर उदासीन होता है । वैसे ही स्वप्न क्रीडावान् जीवात्मा को यदि कोई जगावे तो वह भी अप्रसन्न सा होता है क्योंकि वह इसमें कुछ आनन्द पा रहा है । इस हेतु (आहुः+तम्+आयतम्+न+बोधयेन्) कोई आचार्य कहते हैं कि उस सुप्त पुरुष को सहसा शाग्रता में न जगावे । विरोध कर जब वह गाढनिद्रा में रहता है उस समय इसको जगाना उचित नहीं । इस से शरीर में कई प्रकार की हानि हो जाती है । इसको आगे कहते हैं—(यम्+एषः+न+प्रतिपद्यते+अस्मै+दुर्भिपश्यम्+भवति) जिस देश में यह जीवात्मा नहीं पहुँच सकता देह के उस देश की चिकित्सा दुष्कर हो जाती है अर्थात् सहसा उठने से कभी २ देखा जाता है कि कोई अङ्ग कुछ निकल हो जाता है उसे शून्यता अन्धता आदि दोष प्राप्त होजाते हैं ऐसा किसी को अनुभव है । परन्तु (अयो+खलु+आहुः+अस्य+एषः+जागरितदेश+एव) कोई अन्य आचार्य कहते हैं—इस पुरुष का यह स्वप्न वा विषय जागरित का ही विषय है (हि+जाग्रन्+यानि+पश्यति+सुप्तः+तानि) क्योंकि जागता हुआ यह पुरुष जिन जिन सिंह गज मनुष्यादिकों को देखता है, सोता हुआ भी पुरुष उनको ही देखता है । इस हेतु जागरण और स्वप्न में कुछ भेद नहीं और न कहीं आत्मा जाता है और न कहीं से आता है । इस हेतु सहसा जगाने में भी कोई क्षति नहीं । यह इस का भाव है । हे जनक ! (अत्र+अयम्+पुरुषः+स्वयं+ज्योतिः+भवति) इस स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है । इतनी ही विशेषता है । यद्यपि यहां रयादि नहीं है तथापि जागरितवासना के बल से यहां सब कुछ देखता सुनता है । इतनी बात सुन महाराज जनक कहते हैं कि हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! (सः+अहम्+भगवते+सहस्रम्+ददामि) सो मैं आप का शिष्य और आप से प्राप्तबोधवाला हुआ हूँ अतः आप को एक सहस्र गाएँ देता हूँ । (अतः+ऊर्ध्वम्+विमोक्षाय+एव+शूदि) इस के आगे संन्यास ज्ञान के उपदेश दें ॥ १४ ॥

भाष्यम्—आराममिति । सर्वे जनाः अस्य सम्भवतः पुरुषस्य । आराममाक्रीडनं पश्यति । रमणं रामः आसमन्ताद् भावेन रामो यत्र सः । यद्वा

आरमन्ति आक्रीडन्ति यत्र स आरामः कृत्रिमं वनं “आरामः स्वादुपवनं
 कृत्रिमं वनमेव यत्” इत्यमरः । अयमात्मापि स्वमस्थाने क्रीडारूपं नूतनं नूतनं वनं
 रचयति । तमेवारां वनाः पश्यन्ति । किन्तु कश्चन कोऽपि । तमात्मानम् ।
 साक्षात्कारेण न पश्यति । आत्मक्रीडासाक्षात्कारेण तस्याऽपि प्रत्यक्षतया
 दर्शनं भवतीति शङ्काव्युदासनाय न तं पश्यति कश्चनेत्यभिहितम् । आत्म-
 नोऽत्यन्तसूक्ष्मवाद्दर्शनाऽनर्हत्वमुक्तम् । इतिशब्दः रलोकसमाप्तिश्चक्रः । यथा
 शिशुः क्रीडाया निवर्धमाण उदास्ते । तथैव सुष्वापक्रीडावान्नात्मापि । यत-
 स्तत्राऽऽनन्दमनुभवति । अतः केचिदाचार्याः आहुः कथयन्ति । तं नाटं प्रसुप्तं
 पुरुषम् । आयत्तंभृशमत्यर्थं सहसा न बोधयेत् नोत्थापयेत् । हि यतः एष
 पुरुषः सहसा प्रतिबोधितः सन् । यं यम् इन्द्रियप्रदेशं न प्रतिपद्येत न प्राप्नोति
 तस्मै देहाय देहस्य तस्य तस्य भागस्य ह १ फुटं दुर्मिपज्यं भवति दुःखेन भिष-
 षकर्म भवति । केषाञ्चिदेष मनुभवोऽस्ति कदाचित्सहसा बोधितस्य पुरुषस्याऽङ्ग
 चैव्यंष्टं यतः प्रस्थापे सर्वाणीन्द्रियाणि व्यापारविरतानि सन्ति । यथा जाग्र-
 त्पुरुषः स्वस्थोऽकस्मात् भयादिकमवलोक्य व्याकुली भवति । पलायमानः
 सन् क्वचित्स्रलति । क्वचित्पतति । एवमेव सहसा प्रतिबोधिते पुरुषे । इन्द्रि-
 याणामपीदृश्यवस्था भवति तदा यदङ्गं विकलं भवति । तस्य चिकित्सापि
 दुष्करी । नाम सर्वेषां सिद्धान्तः । अथ खल्वाहुः केचिदन्ये आचार्या आहुः ।
 अस्य जीवस्य अयं जागरितदेशेष्व जागरितविषय एव । एष स्वप्नदेशोऽपि ।
 नानयोर्भेद इत्यर्थः । इदमेव विस्पष्टयति—हि यतः । जाग्रत् सन् । यानि यानि
 सिंहादि पदार्थजातानि पश्यति । तानि तान्येव । सुप्तोऽपि पश्यति । अतः
 सहसा प्रतिबोधेनापि न काऽपि क्षतिः । नायं कुत्रापि देहाद् बहिर्याति न च
 कुतोऽप्यागच्छति । रोगस्य वात्यादिकारणं भवितुमर्हति । सुप्तपुरुषस्यावयवशै-
 थिन्याद्वायुः प्रविश्य शरीरे विकारमुत्पादयति । तेन यदा कदाचिद् महानु-
 पद्रवो दैहिकः प्रभवति । अत्रावस्थायामित्येव विशेषता । अयंपुरुषः । अत्र
 स्वयं ज्योतिर्मवति । न तत्र रथा न रथयोगाः । तथापि जागरणवासनाप्राव-
 ल्येन तत्र प्रत्यक्षमिव प्रतिभाति । एवं मृनिवचनं श्रुत्वा राजा ब्रूते योऽहं त्वया
 सम्यग् बोधितः । भगवते परमपूण्याय भवते । गतां सहस्रं ददामि । हे याज्ञ-
 ष्वल्क्य ! अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि एतत्पर्यन्तं यत्त्वया कथितं तत्सर्वं मया-

उपधारितम् परन्त्वनेन विज्ञानेन केवलेन न मोक्षोपलब्धिरिति मन्ये । यतो विद्याया एकदेश एव निर्यातः । अत ऊर्ध्वं यद्विज्ञानमस्ति । तद्विमोक्षाय विशेषेण मोक्षो भवत्यनेन विमोक्षः सम्यग्ज्ञानम् । तस्मै विमोक्षाय ब्रूहि उपदिश इति ॥ १४ ॥

भाष्याशय—आराम=क्रीड़ा वा क्रीड़ा का स्थान वा ग्राम के निकट राजार्थों का जो कृत्रिम उपवन होता है उसको “आराम” कहते हैं । जीवात्मा स्वप्रस्थानमें अनेक क्रीड़ास्थान रचता है इस हेतु यह इसका “आराम” है । दुर्भिषज्य=जिसकी चिकित्सा होनी कठिन है । किसी किसी का यह अनुभव है कि जैसे स्वस्थ आमतु पुरुष अकस्मान् भव उपस्थित होने पर अति व्याकुल हो जाता है । वहां से भागता है कहीं स्थलित होता और कहीं गिर पड़ता इससे इसको बहुत दुःख होता है । वैसे ही, प्रसुप्त पुरुष को जगाने पर सब इन्द्रिय व्याकुल हो अपने विषय की ओर दौड़ते हैं । उससे शरीर में कमी २ हानि देती गई है । परन्तु यह सब का अनुभव नहीं । स्वप्न और जागरण में भेद नहीं और रोग का कारण वायु आदि हो सकते हैं । शयन करने पर शरीर के अङ्ग अति शिथिल हो जाते हैं उनमें बाह्य वायु प्रवेश करके कमी २ यड़ी हानि उत्पन्न करता है । कमी बहुत मोजन कर खूब चलती हवा में सोने पर पेट में वायु घुस कर अत्यन्त कष्टदायक हो जाता है । इत्यादि रोग के कारण हैं, केवल जगाना नहीं ॥ १४ ॥

स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽऽद्भवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे जनक ! आप निश्चय जानें कि सो यह आत्मा इस सम्प्रसाद (सुप्ति की अवस्था) में स्थित होकर सब दुःखों से पार उत्तर जाता है । प्रथम रमण तथा भ्रमण कर पुण्य और पाप को देखकर ही सम्प्रसाद में प्राप्त होता है पुनः प्रतिन्याय (जिस मार्ग से गया था इसके चलता जैसे

गया जैसे), प्रतियोगि (जिस स्वप्न स्थान को छोड़ के सुषुप्ति में गया था) उसी स्थान के प्रति स्वप्न के लिये ही दौड़ता है । यह आत्मा वहा जो कुछ देखता है उससे बड़ नहीं होता क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है । जनक कहते हैं—हे याज्ञवल्क्य ! एक सहस्र गाँव देता हू इसके आगे सम्यग्ज्ञान के लिये ही आप उपदेश देवें ॥१५॥

पदार्थ—(वै+स+एषः+एतस्मिन्+सम्प्रसादे) निश्चय, सो यह आत्मा इस सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त होकर सब दुःखों को भूल जाता है । जीवात्मा जिस स्थान में अधिक प्रसन्न हो उसे सम्प्रसाद कहते हैं । जिस क्रम से उस अवस्था को प्राप्त होता है सो आगे कहने हैं—(रत्ना+चरित्या+पुण्यञ्च+पापम्+ट्ट्वा+एव) स्वप्नावस्था में बन्धु बान्धवों अथवा स्त्रियों के साथ क्रीडा कर सब मनके व्यापार के द्वारा इधर उधर ग्राम या नगर या नदी इत्यादि स्थानों में प्राप्त हो । मानो इस प्रकार बहिः-क्षरण भ्रमण करके तब पुण्य के फल सुख को और पाप के फल दुःख को देख कर ही स्वप्न से सम्प्रसाद में जाता है, यही क्रम है । (पुनः+प्रतिन्यायम्+प्रतियोगि+आव्रवति) फिर जैसे गया था वैसे ही जिस स्वप्न से गया था उस स्वप्नरूप योगि के लिये दौड़ता है । जिसलिये दौड़ता है (भवन्नावैव+वत्र+स+यत्+किञ्चित्+परयति+तेन+अनन्वागत+हि+अयम्+पुरुष+असङ्गः) स्वप्न के लिये ही दौड़ता है । उस स्वप्नस्थान में वह आत्मा जो कुछ सुख दुःखजनक पदार्थ देखता है उस पदार्थ से वह बड़ नहीं होता है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है । (एवम्+एवम्) इस वचन को सुनकर राजा स्वीकार करते हैं हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है इत्यादि पूर्वपत् जानना ॥ १५ ॥

भाष्यम्—म इति । सम्प्रसादः सुषुप्तम् सम्यक् प्रसीदति प्रहृष्यति, जीवात्मा यस्मिन् स्थाने स सम्प्रसादः । ननु जागरेऽपि महाब्राह्मणोः महाराजस्तन्-न्धयश्च संप्रसीदति । नान्येऽपि सर्वे ह्यस्मिन् दुःखायन्त एव योगिनो वा तत्त्व-विदो वा जागरावस्थायामेव ब्रह्मविभूतिं दर्शं दर्शं यथा प्रहृष्यन्ति न तथा सुषुप्तौ । अकिञ्चनो भूरिघनत्वामेन, कश्चिद् वर्षती श्यामचारिमुचो दर्शनेन, अतिशयित इच्छुकोऽपुत्रः पुत्रजन्मना तथान्येऽपि संगीतकेन, केऽपि नाख्य-दश्येन, केऽपि ऐन्द्रजालिकक्रीडया यथाऽऽनन्दमनुभवन्ति न तथा किमपि वस्तु सुषुप्तौ वेदा प्रतिमाति । तस्मिन् नचाऽऽनन्दं न च दुःखंवाऽनुभवन्ति । सर्वेषां प्रपञ्चानां तत्र शान्तिरस्ति । कथमस्य संप्रसाद इति नामकल्पना । समाधत्ते—

जागरणे यानि सुखमाधनत्वेन मतानि तान्यपि व्यभिचरन्ति । तान्येव हि कस्यचित् सुखकराणि । कस्यचिदुपेक्ष्याणि, कस्यचिद् दुःखान्येव । कोऽपि किमपि स्पृहयति । हेयोऽस्पृश्योऽपि शूकरोऽस्माकं भवत्येव स्पृहणीयः खाद-
कानां पोषकानाञ्च । एवं मनोहराण्यपि सुगन्धितान्यपि कुसुमानि कस्यचिदु-
दासीनस्य निःस्पृहस्य मनो नाऽऽकृष्यन्ति । सुषुप्तौ तु सर्वेषामुत्तममध्यमाध-
मानां तुल्यैवानन्दोपलब्धिः । यदि सुषुप्तिर्नाभविष्यत्तर्हि प्राणिनां जीवनधार-
णमपि न स्यात् । उन्मत्तादीनां तदभावादेव वैकल्यम् । बहवो जना गुरुचि-
न्ताऽऽक्रान्ताः सन्तस्तां गमयितुमुपायान्तरमलभमानाः प्रस्त्रापमेव शरथमन्वि-
च्छन्ति । महाराजादीनामपि न सदा सुखानुभव एव । सर्वे हि रुग्णा भवन्ति ।
तेऽपि रुग्णाः सन्तः यदा निद्रां लभन्ते । तदाऽऽहुः अहो जातो महाराजस्य
विश्रामः । सुखेन स हि स्वापिति । किं बहुना । अतः सुषुप्तस्यैव सम्प्रसादत्व-
मित्यवधार्यते ।

अथ कण्डिकार्थः—स वा एष प्रकृतो जीवात्मा एतस्मिन् सम्प्रसादे सुषुप्तौ
स्थित्वा मृत्यो रूपाणि तरति । केन क्रमेण सम्प्रसीदतीत्याकाङ्क्षायामाह—
रत्वा सम्बन्धमिः सह प्रथमं रमणं कृत्वा । ततश्चरित्वा इतस्ततो मनोव्यापारेण
ग्रामं वा नगरं वा नदीं वा एवमादीनि स्थानानि प्राप्यैवं बहिश्चरणमिव कृत्वा ।
ततः पुण्यञ्च पापञ्च दृष्ट्वा पुण्यफलं सुखम् पापफलं दुःखञ्चानुभूय ।
ततः सम्प्रसादे सम्प्रसीदतीति ज्ञातव्यम् । ततः पुनरपि प्रतिन्यायम् अपनमा-
योगमनम् निःश्रयः=न्यायः । प्रति पूर्वस्माद् गमनात्प्रातिलोभ्येन निश्चयेन
आयोगमनं यथास्यात्तथा प्रतियोगि स्वप्नस्थानं प्रत्याव्रजति । किमर्थं—स्वप्नायैव
स्वप्नानुभवायैव । पुनरपि सुषुप्तेः स्वप्नस्थानमायति । येन क्रमेण स गतस्तादृ-
परीतक्रमेणैवाऽऽयतीत्यर्थः । तत्र तस्मिन् स्वप्ने यत् किञ्चित् पश्यति । तेन
दर्शनेन स जीवात्मा । अनन्वागतोऽननुवदो भवति । कुतः हि यतः अयं
पुरुषः । असङ्गः न विद्यते सङ्गो यस्य सोऽसङ्गः । न केनचित् संसर्गेण स
आत्मा बद्धो भवति । इत्थं मुनिवचनं श्रुत्वा महाराजोऽङ्गीकरोति हे याज्ञवल्क्य !
एवमेवैतत् । यत्त्वया कथ्यते तत्सत्यमेव । सोऽहं भवगते सहस्रं ददामि । अत
ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि । ननु जागर इव स्वप्नेऽपि हस्तिना ताव्यमानः क्रन्द-
त्युच्चैः । तर्हि कथमसङ्ग इति । समाधत्ते—नहि स्वप्ने राजा भूत्वा राजा

अकिञ्चनोभूत्वाऽकिञ्चनोभवति । तेन स्वप्ने किञ्चित्सिध्यति किञ्चिन्नेत्युभयं दृश्यते । दुःखादिकं भवति । राज्यादिप्राप्तिर्न भवति । एतेन मानसव्यापारेण यत्किमपि सम्बध्यते तदेव प्राप्यते नशान्यदिति सिद्धम् । यथा जागरेऽपि कदाचित् संकल्पेन व्यथते । जागरे यः कश्चिद्विद्वान् स विद्वानेव सर्वदा तिष्ठति । अनः स्वप्नेऽसङ्गतत्वं पुरुषस्यैकदेशाभिप्रायेण ॥ १५ ॥

भाष्याशयः—सम्प्रसादः—जिस अवस्था में यह जीवात्मा (संप्रसीदति) बहुत प्रसन्न हो । सुषुप्ति अवस्था में सय से अधिक प्रसन्न होता है अतः उपनिषदों में सुषुप्ति अवस्था का नाम सम्प्रसाद आता है । शङ्का—जागरित अवस्था में भी तो महाब्राह्मण महाराज और दूध पीनेवाले बच्चे बड़े प्रसन्न रहते हैं इसके अतिरिक्त अन्य सय कोई भी इस अवस्था में दुःखित ही नहीं रहते, योगी या तत्त्वविद् पुरुष जागरणवस्था में ही ब्रह्मविभूति को देख २ जितने हृष्ट होते हैं सुषुप्ति में ऐसे नहीं होते और जैसे महादारिद्र्य बहुत धन पाने से, जैसे सब मनुष्य वर्षा ऋतु में श्याम धारिद्र के देखने से, अपुत्री अतिशय इच्छुक जन पुत्रजन्म महोत्सव से और इसके अतिरिक्त कोई गीत से, कोई नाट्य के देख से, कोई ऐन्द्रजातिक की क्रीड़ा से आनन्द का अनुभव करता है । वैसी कोई भी आनन्ददायक वस्तु सुषुप्ति में भासित नहीं होती है । न उसमें दुःख या सुख का ही बोध होता है । क्योंकि सकल प्रपञ्च यहाँ शान्त हैं । तब इसको सम्प्रसाद कैसे कहते ? । समाधान—जागरणवस्था में जो पदार्थ सुख के साधन माने हुए हैं । उनका भी व्यवभिचार देखते हैं क्योंकि वे ही किसी के सुखकर किसी के अपेक्ष्य और किसी के दुःखप्रद होते हैं । कोई किसी को प्रिय समझता है, कोई किसी को । जो शूकर हम लोगों का द्वेष और अस्पृश्य है वह भी खानेवाले और पोषक का स्वरूपीय है । एवम् मनोहर भी सुगन्धित कुसुम किसी उदासीन निस्पृह मनुष्य के मन को आकृष्ट नहीं करता, परन्तु सुषुप्ति में उत्तम, मध्यम, अधम, सबको बराबर सुरोपलब्धि होती है । यहाँ न्यूनाधिक्य नहीं और न किसी को इससे विराग ही होता है । यदि सुषुप्ति नहीं होती है तो प्राणियों का जीवन धारण भी नहीं होता । उन्मत्त आदिकों को उसके अभाव से ही विकलता रहती है । बहुत जन भारी चिन्ता से आक्रान्त होने पर उस चिन्ता को दूर करने के लिये उपायान्तर न पाते हुए सुषुप्तिरूप शरण की इच्छा करते हैं । महाराजादिकों को भी सदा सुख नहीं रहता क्योंकि भवे ही हान

होते हैं । वे भी रुग्ण होने पर जब निद्रा प्राप्त करते हैं तब लोग कहते हैं कि अहो आज महाराज को विश्राम हुआ क्योंकि सुप्त से सोते हैं । बहुत क्या कहें इसी हेतु सुषुप्ति को ही सन्प्रसाद कहा है ।

रत्ना चरित्वा०—ईश्वरीय नियम है कि जब शयन करता है तब अवश्य ही कुछ स्वप्न देखेगा, कभी क्रीड़ा करेगा, कभी इधर उधर दौड़ेगा, कभी पुरुष और पापों को देखेगा, परन्तु यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं । छोटा बालक प्रायः स्वप्न नहीं देखता है । एवं कोई २ अतिशय निद्रालु स्वप्न देखे बिना ही सुषुप्ति में प्राप्त हो जाते ।

प्रतिन्याय—“प्रति+नि+आय” तीन शब्द मिलकर बनता है । आय=गमन, ति=विशेष । जैसे गमन और प्रतिगमन, उपकार और प्रत्युपकार आदि शब्द हैं । तद्वत् “प्रतिन्याय” शब्द भी है । तब=न्याय=निगमन=जाना और प्रतिन्याय=लौटना, आना । अर्थात् जिस क्रम से सुषुप्ति में आत्मा जाता उसके उलट लौटता है । प्रतियोनि । प्रति+योनि । योनि=स्थान । योनि के प्रति यहां प्रतिदिन प्रत्येक मनुष्य आदि में जो “प्रति” शब्द का अर्थ है वही यहां भी है । उपसर्ग के अनेक अर्थ होते हैं । जिस स्थान से आया या उसी स्थान के प्रति उसी ओर जाता है । जितने इसके स्थान हैं । अर्थात् स्वप्न, जागरित, सुषुप्ति इन सब में जाता रहता है अथवा “प्रति” का अभिलक्षण वृत्ति भी अर्थ होता । जहां से आया या उसी के वृत्ति से पुनः चलता है । अनन्वागतः । (न अन्यागत=अनन्वागत) अथवा असङ्ग (न विद्यते सङ्गो यस्य) अलिप्त । यहां शङ्का होती है कि जागरण के समान ही स्वप्न में भी गज से या सिंह से ताड्यमान होने पर जोर से चिल्लाता है । तब स्वप्न में “पुरुष असङ्ग” है वह कथन कैसे धन सकता है । समाधान—स्वप्न में कोई राजा वनधर राजा नहीं होता । दरिद्री ही दरिद्री नहीं होता । इससे यह सिद्ध होता है कि स्वप्न में कुछ बात सिद्ध होती कुछ नहीं सिद्ध होती । ये दोनों बातें पाई जाती हैं । स्वप्न में मानसिक चेष्टा के साथ जो सम्बन्ध रहता है वह सपना प्राप्त होता है । जैसे मूत्र करना, रोना, हंसना, इत्यादि बातें प्राप्त होती हैं, परन्तु राज्यादिक नहीं । मानसव्यया जागरण में भी होती है, परन्तु विशेषता यह है कि जागरण में दोनों ही होती हैं । जागरण में जो विद्वान् होगा वह सदा वि-

हान् रहेगा । जो धनिक होगा वह धनिक रहेगा । इस हेतु स्वप्न में उस पुरुष को असग कहा है ॥ १५ ॥

स वा एष ऐतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य-
ञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽऽद्रवति बुद्धान्ता-
यैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं
पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत
ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १६ ॥

अनुवाद—निश्चय सो यह जीवात्मा इस स्वप्न में रमण और भ्रमण कर
पुण्य अपने और पाप को देखकर ही अँधे गया था उससे उलटा जागरण के लिये
पुनः स्थान को दौड़ता है । यहा वह आत्मा जो कुछ देखता है । उससे वह बद्ध
नहीं होता । क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है । जनक महाराज कहते हैं कि हे याज्ञव-
ल्क्य ! यह ऐसा ही है सो मैं आप को एक सहस्र गायें देता हूँ । इस के आगे
मोक्ष के लिये मुझे उपदेश देवें ॥ १६ ॥

पदार्थ—(सः+एषः+स्वप्ने+रत्वा+चरित्वा+पुण्यञ्च+पापञ्च+दृष्ट्वा+एव+
प्रतिन्यायम्+प्रतियोनि+बुद्धान्ताय+एव+आद्रवति) निश्चय सम्प्रसाद से लौटा
हुआ वह आत्मा स्वप्न में रमण कर इधर उधर भ्रमण कर पुण्य और पाप को
देखकर ही जिस क्रम से गया था उससे उलटा अपने स्थान के प्रति जागरण के
लिये ही दौड़ता है । किसलिये दौड़ता है (बुद्धान्तायैव+तत्र+सः+यम्+किञ्चित्+
पर्यति+तेन+अनन्वागतः+हि+अयम्+पुरुषः+असङ्गः) स्वप्न के लिये ही उस स्व-
प्नावस्था में जो वह आत्मा जो कुछ सुरजनाक पदार्थ देखता है उस पदार्थ से वह
बद्ध नहीं होता है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है । इस बचन को सुनकर राजा स्वी-
कार करते हैं (याज्ञवल्क्य+एवम्+एव+एतत्) हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है
(सः+अहम्+भगवते+सहस्रम्+ददामि+अतः+ऊर्ध्वम्+विमोक्षाय+एव+ब्रूहि+इति)
सो मैं आपको एक सहस्र गायें देता हूँ, इसके आगे का विज्ञान बतलावें ॥ १६ ॥

भाष्यम्—सः इति । स्वप्नाज्जागरप्रत्यागमनमाह—स वा एष सम्प्रसादा-
त्प्रत्यागतः । स्वप्ने स्वप्नावस्थायाम् । बुद्धान्तायैव जागरणायैव । जागरणव्या-
पारोयैवेत्यर्थः । अन्यानि पदानि पूर्वोक्तार्थानि ॥ १६ ॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य-
ञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽऽद्रवति स्वप्ना-
न्तायैव ॥ १७ ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह आत्मा इस जागरण में रमण और भ्रमण कर
पुण्य और पाप को देखकर ही पुनः प्रत्यागमन से अपने स्थान के प्रति स्वप्न के
लिये ही दौड़ता है ॥ १७ ॥

पदार्थ—जागरण दिखलाया गया । पुनः जागरण से स्वप्न, उससे पुनः
सुषुप्ति को प्राप्त होता है । चक्रभ्रमण के समान यह व्यापार सदा हुआ ही करता
है, वैराग्य के लिये प्रत्यक्ष विषय को भी पुनः २ मुनि कहते हैं—(सः+वै+एषः+
अस्मिन्+बुद्धान्ते+रत्वा+चरित्वा+पुण्यञ्च+पापञ्च+दृष्ट्वा+एव+पुनः+प्रतिन्यायम्+
प्रतियोनि+स्वप्नान्ताय+एव+आद्रवति) स्वप्न से प्रत्यागत वह जीवात्मा इस जागरण
में रमण चरण=भ्रमण करके पुण्य और पाप को देखकर ही पुनः प्रत्यागमन से
स्थान के प्रति स्वप्न के लिये ही दौड़ता है ॥ १७ ॥

माध्यम्—स इति । जागरणं दर्शितम् । पुनस्तस्मात्स्वप्नं तस्मात्पुनः
सम्प्रसादं याति । अयं चक्रभ्रमणवद् व्यापारः सदैव भवतीति दर्शयितुमुत्तरो
ग्रन्थः । प्रत्यक्षमपि विषयं वैराग्यहेतो पुनः पुनर्दर्शयति कारुणिको मुनिः । स
वा एष स्वप्नात्प्रत्यागतः बुद्धान्ते जागरणे । रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च
पापञ्च । स्वप्नान्तायैव । आद्रवति । स्वप्नस्यान्तो लयो यस्मिन् स स्वप्नान्तः
सुषुप्तिः तस्मै । यद्वा । स्वप्नान्तायैव स्वप्नायैव । स्वप्नान्तञ्च बुद्धान्तञ्च
वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १७ ॥

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसञ्चरति पूर्वश्चापरश्चैव-
मेवायं पुरुष एतावुभावंतावनुसञ्चरति स्वप्नान्तञ्च बुद्धान-
न्तञ्च ॥ १८ ॥

अनुवाद—उस विषय में यह दृष्टान्त है—जैसे महामत्स्य नदी के पूर्व और
अपर दोनों तटों के ऊपर क्रम से जाता आता रहता है । वैसे ही यह पुरुष स्वप्ना-
न्त बुद्धान्त दोनों अन्तों को जाता आता रहता है ॥ १८ ॥

पदार्थ—पूर्वोक्त विषय को ही दृष्टान्त से कहते हैं—(तत्+यथा+महामत्स्यः) उस विषय में यह दृष्टान्त है जैसे बड़ा मत्स्य नदी के वेग से जिसकी गति अवरुद्ध न हो ऐसा जो स्वतन्त्र बलिष्ठ मत्स्य उसे महामत्स्य कहते हैं अर्थात् मत्स्यराज (पूर्वञ्च+अपरञ्च+उभे+कूले+अनुसञ्चरति) पूर्व और अपर दोनों तटों पर क्रम से सञ्चार करता रहता है । कभी पूर्व तट पर जा वहां से लौट अपर तट पर जाता है (एवम्+एव+अयम्+पुरुषः+स्वप्नान्तम्+च+युद्धान्तम्+एतौ+उभौ+अन्तौ+अनुसञ्चरति) इसी दृष्टान्त के अनुसार यह पुरुष स्वप्न और जागरण इन दोनों में क्रम से सञ्चार करता है । कभी जागता है । कभी स्वप्न देखता है । कभी सुषुप्ति में लीन हो जाता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—तदिति । पूर्वोक्तमेव विषयं दृष्टान्तेनाह—तत्तस्मिन् विषय अयं दृष्टान्तः । यथा येन प्रकारेण । महामत्स्यः महाश्वसौमत्स्यो मीनः । यो हि न नदीप्रेगेनावरुद्धगतिः स महामत्स्यो स्वतन्त्रः । बलिष्ठो मत्स्यराजः । उभे कूले उभे तटे । तथाः पूर्वमपरञ्च तटम् । स्वेच्छानुसारेण । अनुसञ्चरति अनुक्रमेण सञ्चरति कदाचित्पूर्वं कदाचिदपरं याति आयाति यथाकामम् । एवमेव तथैव । अयं पुरुषः । एतौ इमौ उभौ अन्तौ स्वप्नान्तञ्च स्वप्नं युद्धान्तञ्च जागरणञ्च अनुसञ्चरति । कदाचित्जागर्ति कदाचित्स्वपिति । कदाचित्सुषुप्ति । अत्र तु न स्वतन्त्रो जीवः । विवशोभूत्वैव स्वपिति । यदि न स्वप्यात्तर्हि रुनो वा मृतो वा विविशो बोन्मसो बाह्यार्थे सर्वथाऽसमर्थो वा भवेत् । अश्वं विना क्रयमपि प्राणान् षष्ठदशदिनानि विमर्त्यपि । न पुनः स्वप्नं विना । शरीरमुपादायेयं व्यवस्था । अशरीरः सन् स्वेच्छानुसारी भवति ॥ १८ ॥

भाष्याशय—इस मत्स्य के दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक में इतना भेद है । इस कार्य में जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं, विवश होकर ही जीवात्मा सोता है यदि न सोवे तो या रुग्ण या मृत या विक्षिप्त या उन्मत्त या कार्य में सर्वथा असमर्थ हो जायगा । अन्न के बिना किसी प्रकार १८—१५ दिन प्राण धारण भी कर सकता है, परन्तु स्वप्न के बिना नहीं । शरीर धारण करने से यह व्यवस्था है । अशरीर आत्मा स्वच्छन्द है । यहां केवल गमनागमनरूप दृष्टान्त से तुल्यता है ॥ १८ ॥

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुषुप्ते वा विपरिपत्य-

श्रान्तः संहृत्य पक्षौ संलयायेव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एत-
स्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न
कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥ १९ ॥

अनुवाद—उस विषय में यह दृष्टान्त है—जैसे इस महान् आकाश में श्येन
वा सुपर्ण नामक विहग इधर उधर विविध पतन करके श्रान्त होने पर अपने पक्षों
को पसाट नीड़ (घोंसले) के लिये मन धारण करता है । वैसे ही यह पुरुष इस
अन्त (सुषुप्ति स्थान) के लिये दौड़ता है जहां शयन करने पर न तो क्रुद्ध चाहता
है और न किसी स्वप्न को देखता है ॥ १९ ॥

पदार्थ—अब दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—(तत्+यथा+अस्मिन्+आकाशे+
श्येनः+वा+सुपर्णः+वा+विपरिपत्य+श्रान्तः+पक्षौ+संहृत्य+सलयाय+एव+ध्रियते)
उस विषय में यह दृष्टान्त है जैसे लोक में देखा जाता है कि इस प्रसिद्ध भौतिक अप-
रमित रुकावटरहित महान् आकाश में श्येन नामक पक्षी अथवा गरुड नाम का पक्षी
अथवा सुन्दर पतन करने वाला श्येन-नाम का पक्षी जीविका वा केवल क्रीड़ा के
लिये ही विविध पतन उड़ान करके थकित होने पर दोनों पक्षों को पसा कर अपने
नीड़ में गमन के लिये ही मन करता अर्थात् अपने घोंसले में जाकर अपने को
धारण करता है (एवम्+एव+अयम्+पुरुषः) इसी दृष्टान्त के समान यह जीवात्मा
आगरण में विविध कर्म करके अतिशय थककर सोता है । केवल शयन करने से
ही विभ्रान्ति न पाकर गाढ़ निद्रा लेना चाहता है । सो यह आत्मा इस हेतु
(एतस्मै+अन्ताय+धावति) इस प्रसिद्ध सुषुप्तिरूप स्थान के लिये ही दौड़ता ।
क्योंकि उन दोनों में विभ्राम नहीं (यत्र+सुप्तः+कञ्चन+कामम्+न+कामयते+
कञ्चन+स्वप्नम्+न+पश्यति) जिस सुषुप्ति में सोकर अर्थात् जिस सुषुप्ति को पाकर
किसी इच्छा को नहीं चाहता है और किसी स्वप्न को भी नहीं देखता है ऐसी जो
विभ्रामप्रद सुषुप्ति की, अवस्था है, उसी के लिये दौड़ता है ॥ १९ ॥

माप्सम्—तदिति । अपरं दृष्टान्तमाह । तत्तस्मिन् विषये दृष्टान्तः । अ-
स्मिन् प्रत्यये आकाशे अपरिमितेऽस्मत्प्रभे महति वियति । श्येनो वा आक-
मणकारी श्येननामकः पक्षी वा अथवा सुपर्णो वा स्वयेश्वरो महाबलिष्ठो पक्षी ।
विस्पर्थाविहगदयोपादानम् । यद्वा । सुपर्णः शोभनपतनशीलः श्येनः । न

खलु शोभनं पतित्वा इतरान् विद्वान् आक्रामति । यद्वा । सुशोभने पर्ये पत्र-
समानो पक्षी यस्य स सुपर्णः । “पत्रं पलाशं छदत्तं दत्तं पर्णं छदः पुमान्”
इत्यमरः । यथा विहगस्य द्वौ पक्षौ प्रसिद्धौ तथैवास्य जीवस्य धर्माधर्मरूपौ द्वौ
पक्षौ । ताभ्यां विहग इवेतस्ततो नीयते । स रथेनः सुपर्णो वा विपरिपात्य
विविधपरिपतनं कृत्वा जीविकायै वा क्रीडायैव परितोधावनं कृत्वा ततः
श्रान्तः वलान्तः उड्डयनेऽसमर्थः सन् । पक्षौ संहत्य संप्रसार्य । संलयायैव
नीडायैव ध्रियते नीडगमनायैव मनोदधाति । सम्यग् लीयते विश्रामं लभतेऽ-
स्मिन्निति संलयः तस्मै संलयाय । एवमेव । यथा रथेन दृष्टान्तस्तथैव अयं
पुरुषः । स्वप्नं जागरञ्चैतान्तौ सम्यगनुभूय विविधां क्रीडां कृत्वा एतस्मै प्रसि-
द्धाय सुपुष्पाख्याय अन्ताय स्याजाय धावति । अन्तं विशिनष्टि । यन् यस्मि-
न्नन्ते सुप्तः शयितः सर्वजागरस्वप्नप्रपञ्चविरहितः । कञ्चन कमपि कामममि-
लापम् न कामयते नेच्छति । न कञ्चन कमपि स्वप्नं पश्यति । ईदृशायान्ताय
धावतीति सम्बन्धः ॥ १६ ॥

भाष्याशय—रथेन और सुपर्ण ये दो पक्षी हैं । परन्तु “सुपर्ण” विशेषण भी
हो सकता है । पर्ण=पत्र=पक्ष । सु=सुन्दर=शोभन=अच्छे जिसके पक्षरूप पत्र
हैं वसवो सुपर्ण कहते हैं । यद्वा जिसका पतन=उड्डयन=उड़ान अच्छा हो । रथेन
(वाज) पक्षी अन्य पक्षियों के ऊपर बड़ी चतुराई से आक्रमण करता है और
जैसे विहग के दो पक्ष होते हैं वैसे ही इस जीवात्मा के धर्माधर्म रूप दो पक्ष हैं ।
जिनकी सहायता से इधर उधर विविध स्थानों में यह विहग के समान जाता आता
रहता है । संलय जिसमें लीन हो जिसमें विश्राम करे जैसे पक्षी अपने नीड में
विश्राम करता है । तद्वन् यह जीवात्मा सुषुप्तिरूप गृह में जाकर पूर्ण सुख को
पाता है, इति ॥ १६ ॥

ता वा अस्येता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्र-
धा भिन्नस्तावताऽणिन्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य
हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव
हस्ताव विच्छादयति गर्त्तमिव पतति । यदेवं जामदग्नयं पश्यति

तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽ-
स्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ २० ॥

अनुवाद—इस जीवात्मा के भ्रमणादि क्रिया के लिये इस शरीर में बहुतसी नाड़ियाँ हैं। उन नाड़ियों का नाम हिता है क्योंकि वे हित करनेवाली हैं। वे चतनी सूक्ष्म हैं जितना एक केश का सहस्रवां भाग हो वे शुक्ल, नील, पिङ्गल, हरित और लोहित रससे पूर्ण हैं। अब पुनः जिस स्वप्नावस्था में प्रतीत होता है कि इस पुरुष को कोई मार रहे हैं। मानो कोई इसको बरा में ला रहे हैं। मानो कोई हाथी इसको चारों तरफ़ भगा रहा है। मानो यह (स्वप्न देखनेवाला पुरुष) गढ़े में गिर रहा है अर्थात् जागता हुआ यह पुरुष किस भय को देखता है। उसी को यहां अविद्या के कारण सत्य मानता है और जिस स्वप्नावस्था में “मैं देव के समान हूँ, मैं राजवत् हूँ, मैं ही सब कुछ हूँ, ऐसा मानता हूँ” वह हमका परलोक है ॥ २० ॥

पदार्थ—(अस्य+ताः+वै+एताः+नाड्यः+हिताः+नाम्) इस स्वप्नद्रष्टा जीवा-
त्मा के भ्रमणादि क्रिया के लिये इस शरीर में वे प्रसिद्ध नाड़ियाँ=रिराणं हैं जो
“हिता” कहलाती हैं। क्योंकि इन सूक्ष्म नाड़ियों ने शरीर का हित होता है अतः
इन को “हिता” कहते हैं। वे नाड़ियाँ पुनः कैसी हैं—(यथा+केशः+सहस्रपा-
भिन्नः+तावता+आणिन्ना+तिष्ठन्ति) जैसे एक केश सौ हिस्सों में चीरा जाय तब
वह हजारहवां भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है चतनी ही सूक्ष्मता के साथ विद्य-
मान हैं। पुनः वे कैसी हैं—(शुक्लस्य+नीलस्य+पिङ्गलस्य+हरितस्य+लोहितस्य+
पूर्णाः) खेत नीले पीले हरे और लाल रङ्ग के रस से पूर्ण हैं, इस प्रकार नाड़ियों
का वर्णन करके पुनः स्वप्न की विशेषता को कहते हैं (अयं+यत्र+एनम्+प्रन्ति+
इव+जिनन्ति+इव+हस्ती+इव+विच्छादयति+गर्तम्+इव+पतति) अब जिस स्वप्ना-
वस्था में अविद्या के कारण यह प्रतीत होता है कि इस स्वप्नद्रष्टा पुरुष को—मानो
कोई मार रहे हैं, मानो कोई इसको अपने बरा में कर रहे हैं, मानो हाथी इसको
भगा रहा है, मानो किसी गढ़े में गिर रहा है। हे राजन् ! (मे+युष्मद्+एव+
मयम्+परयति+अत्र+तत्+अविद्यया+मन्यते) जागता हुआ अर्थात् जागरितावस्था
में स्थिर होकर जो २ भय देखता है इस अवस्था में उसी २ भय-को अज्ञानता से

सत्य ही मानता है । यह निरुद्ध स्वप्न का वर्णन है आगे उत्तम स्वप्न कहते हैं—(अयं+यत्र+देवः+इव+राजा+इव+आहम्+एव+इदम्+सर्वम्+इति+मन्यते+सः+अस्य+परम.+लोकः) और जिस स्वप्न में यह स्वप्नद्रष्टा, मैं पूर्ण विद्वान् के समान हूँ मेरे निकट सब प्रजाएँ व्यवहार निर्णय के लिये आती हैं । मैं निग्रह अनुमह करने में समर्थ हूँ, मैं ही यह सब हूँ इस प्रकार अधिष्ठा के कारण मानता है वह सर्वभाव अर्थात् वह विचार इसका परम आनन्द स्थान है ॥ २० ॥

भाष्यम्—एष जीवो देहेऽस्मिन् चरति तत्र केन पथा केनऽऽधारेणैत्था-
काङ्क्षयामाह—अस्य जीवस्य भ्रमणादिक्रिया निमित्ताय । अस्मिन् शरीरे ।
ता वै प्रसिद्धा नाड्यो धमन्यो वर्तन्ते । “नाडी तु धमनिः शिरा” इत्यमरः ।
किंविशिष्टाः हिता नाम हितकारिण्यो नामेति प्रसिद्धम् । यदि शिरा न स्युस्तर्हि
देहबन्धनान्यपि न सम्भवेयुः । अतो देहरूपस्य जीवगृहस्य हितसाधनत्वाद्
हिता उच्यन्ते । पुनः यथैकः केशः काष्ठमिव क्रकचेन सहस्रधा सहस्रशो
भिन्नो विभक्तो भवेदंशशः । तस्य सहस्रतमभागस्य केशस्य यादृशं सूक्ष्मं रूपं
स्यात् । तादृशेन । अपिन्नाऽणुत्वेन युक्ताः तिष्ठन्ति अत्यन्तसूक्ष्मा इत्यर्थः ।
पुनः शुक्लस्य रसस्य, नीलस्य, पिङ्गलस्य, हरितस्य, लोहितस्य रसस्य च
शुक्लादिर्भा रसविशेषैः पूर्णाः सन्ति * । एताभिर्नाडीभिरप्यमितस्ततः सर्पति ।
अथवा यथा नरो वंशाधारेषु तथैव नाडीषु स्थितः सन्नयमात्मा लीलां
करोति । पुनः स्वप्नलीलां विवृणोति—अयं यत्र यस्मिन् स्वप्ने प्रतीतिरियम्—

* अथ वा एता हृदयस्थ नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याधिप्रसिष्ठन्ति । शुक्लस्य,
नीलस्य, पीतस्य, लोहितस्य इति । असौ वा आदित्यः पिङ्गलः । एष शुक्लः ।
एष नीलः । एष पीतः । एष लोहितः ॥ १ ॥ तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्त सम्प्रसन्नः
स्वप्नं न विजानाति । आमुं वेदा नाडीषु सृते भवति । तत्र कञ्चन पाप्मा स्पृशति ।
तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ ब्रा० ८ । ६ । १ ॥ अथ यदा सुपुत्रो भवति ।
यदाच न ^न वेद हिता नाम नाड्यो द्वास्ततिसहस्राणि । इदयात् पुरीतत-
मभि प्रसिद्धाः । ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते. .. बृह० २ । १ । १६ ॥
हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति..... बृ० ४ । २ । ३ ॥ इत्या-
दयः श्रुतयो द्रष्टव्याः ॥

केऽपि बलिष्ठाः । एनं स्वप्नपुरुषं घनन्तीव हिंसन्तीव । केऽपि जिनन्तीव भृत्या-
दिरूपेण वशीकुर्वन्तीव । कदाचित् । कोऽपि इस्ती गज आगत्य । एनं पुरु-
षम् । विच्छादयतीव विद्रावयतीव । तथा कदाचिदयम् गर्ते जीर्णद्रुपादिकं
प्रति पततीवेत्येवं लक्ष्यते । कदाचिद्वन्ति कदाचिद्वन्यते कदाचिद्दासीकरोति
कदाचित् क्रियते । एवं कर्तृत्वकर्मत्वोभयलिङ्गवान् भवतीत्यर्थः । कथमेवम् ।
अत्र कथयति — जाग्रत्सन् जागरितावस्थायां वर्तमानः सन् । यद् भयं भीति-
मघर्महेतुकं दुःखगत्यर्थं पश्यति । तत्सर्वम् । अत्र स्वप्ने । अधिधया कुसंस्का-
रेण मानससंक्रान्तवासनयेत्यर्थः । मन्यते न परमार्थतया पश्यति किन्तु रज्जौ
सर्पमिव मन्यते इति निरुद्धस्वप्नः । अयोत्तमस्वप्नो वर्ण्यते अथ कदाचित् । यत्र
यस्मिन् स्वप्ने जाग्रद्वासनावासितः सन् । अहं देव इवास्मि पूर्णप्रज्ञ इवास्मि मां
सर्वे सर्वोपचारैरुपतिष्ठन्ते इति मन्यते । कदाचित् निग्रहानुग्रहयोर्विधाता राजे-
वाहम् व्यवहारनिर्णयाय सर्वाः प्रजा मामेव धावन्ति अहं यथाशास्त्रं निर्णया-
मीति मन्यते । कदाचिदिदं सर्वं भुवनं प्रशास्मि । अस्मिन् ग्रामे अहमेव
सर्वोऽस्मि । नाधिकतरोमघः कोऽपीति मन्यते । स सर्वोऽस्मीति सर्वात्ममाद्यः
सर्वसामर्थ्यलामः । अस्य स्वप्न पुरुषस्य परम उत्कृष्टो लोक आनन्दस्थानम् ।
यद्यपि इदमपि मिथ्यैव । तथापि क्षणमपि दुःखात्सुखं गरीयः ॥ २० ॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम् । तद्यथा
प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद् नाऽऽन्तर-
मेव मेवायं पुरुषः प्राज्ञेनऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं
किञ्चन वेद् नाऽऽन्तरं तद्वा अस्यैतदासकाममात्मकाममकामं
रूपं शोकान्तरम् ॥ २१ ॥

अनुवाद—निश्चय, इस पुरुष का सो यह रूप कामविवर्जित पापरहित तथा-
निर्भय है । इसमें जैसे निज प्रिया-वनिता से आलिङ्गित पुरुष ने बाहर और न-
भीतर कुछ जानता है वैसे ही यह पुरुष निज विज्ञानवान्-स्वरूप से युक्त हो न-
बाह्य और न भीतर कुछ जानता है निश्चय सो यह इसका आसकाम आत्मकाम
अकाम और शोकरहित रूप है ॥ २१ ॥

पदार्थ—(वै+अस्य+तत्+एतत्+रूपम्+अतिच्छन्दाः+अपहतपाप्म+अभ-
यम्) निश्चय इति सुप्त पुरुष का सो यह वक्ष्यमाण रूप कामरहित, पापरहित और
निर्भय है । (तत्+यथा+प्रियया+स्त्रिया+सम्परिष्वक्तः+विश्वान+वाङ्मन्+न+वेद)
उस अवस्था में जैसे मनोहारिणी अनुकूला निज प्रिया वनिता से अच्छे प्रकार
आलङ्कित कोई पुरुष बाहरी किसी वस्तु को नहीं जानता है (अन्तरम्+न+एवम्+
एव+अयम्+पुरुष+आत्मना+प्राज्ञेन+सम्परिष्वक्तः+न+वाङ्मन्+किञ्चन+वेद+न+
आन्तरम्) और अन्यन्तर वस्तु को भी नहीं जानता है इसी दृष्टान्त के अनुसार
यह सुप्ति सुप्त भोक्ता पुरुष निज विज्ञानवान् रूप का स्वभाव से समिलित हो न
तो बाहरी किसी वस्तु को जानता है और न आन्तरिक वस्तु को जानता है पुनः
अन्त में इसके बालाविक रूप को कहते हैं—(अस्य+तत्+एतत्+रूपम्+वै+आप्त-
कामम्) इस पुरुष का सो यह सुप्त्यवस्था सम्बन्धी रूप निश्चय प्राप्तकाम है
अर्थात् इसमें सब कामनाएँ प्राप्त हैं पुनः (आत्मकामम्+अकामम्+शोकान्तरम्)
केवल मङ्ग की ही वामना जिसमें हो यह आत्मकाम पुनः अकाम=निष्काम तथा
शोरहित है ॥ २१ ॥

भाष्यम्—तदिति । कण्डिकाद्वयेन सुप्त्यवस्थां वर्णयति—अस्य सुप्त-
स्य पुरुषस्य तदेतद्वक्ष्यमाणम् । रूपमयं न मयं भीतिर्विषते यस्मिन् रूपे
तदभयम् । पुनः कथंभूतम् अपहतपाप्म । अपहतोऽपगतः पाप्मा पापधर्म-
जनितदुःखं यस्मात्तदपहतपाप्म । पुनः अतिच्छन्दाः अतिक्रान्तो गतः छन्दः
कामो यस्मान्तदतिच्छन्दं कामविरहितम् । अत्र दीर्घविसर्गो ह्यन्दसौ गाढायां
निद्रायामागतायां न किमपि पश्यति न शोचति नानुमवस्थेवंविधं किमपीदृश-
विशेषणत्रयविशिष्टं सुप्तम् । दृष्टान्तेन पुनरपि विशदयति । तत्तत्र सुप्तौ यथा
प्रियया सर्वथा मनोहारिण्या स्त्रिया स्वकीयया वनितया । सम्परिष्वक्तः सम्य-
गालङ्कितः सन् पुरुषः साधारणतया । वाङ्मं वर्धितं किञ्चन किमपि वस्तु
न नैव वेद जानाति । आन्तरं दुःखादिकमपि न जानाति । एवमेव । अयं
सुप्तः पुरुषः । प्राज्ञेन प्रकर्षेण जानातीति प्राज्ञः अज्ञएव प्राज्ञः यद्वा ज्ञानं ज्ञा
प्रकृष्टा ज्ञा ज्ञानं यस्य स प्राज्ञः स एव प्राज्ञः प्रकृष्टज्ञानवता स्वभावेन आत्मना
निजेन प्रज्ञानवता स्वभावेन सम्परिष्वक्तः । संमिलितः । न चासं किञ्चन किञ्चि-
दस्तु वेद । नाऽऽन्तरं वस्तु किमपि जानाति । पुनरप्युपसंहारेणस्य रूपं विशि-

नष्टि । तद्वै एतद् वर्णितम् । अस्य सुषुप्तस्य रूपम् । कीदृशं तत् आप्तकामम्
काम्यन्ते ये ते कामाः सुखादयः । आप्ताः प्राप्ताः कामा यस्मिन् तदात्मका-
मम् । पुनः आत्मरुतामः आत्मा परमात्ममुखमेव कामो यत्र तदात्मकामम् ।
पुनः अकामम् आत्मसाक्षात्कारादन्यः कामो न विद्यते यत्र तदकामम् । पुनः
शोकान्तरम्—शोकादमित्रम् शोकरहितम् । ईदृशं रूपमस्यात्र भवति ।

केचिदाहुः । सुषुप्तौ जीवः परेण ब्रह्मणा संगच्छते । अस्मादेव हेतोरा-
त्यन्तिकं सुखमालभते । तदयुक्त्वा । जागरिते यादृक् सबन्धो जीवस्य ब्रह्मणा
सहास्ति । तादृगेव सुषुप्तेऽपि । यदि सर्वस्मिन् दिने सुष्वापेनैव ब्रह्म प्राप्नुया-
त्तर्हि बहुपरिश्रमधनादिसाध्येन यज्ञानुष्ठानेन किं प्रयोजनम् । सर्वाणि शुभानि
कर्माणि हित्वा सर्वदा सुषुप्तिमेवोपासीत । तथातिशयितः पापिष्ठोऽपि सुषुप्ति
प्राप्नोत्येव । सोऽपि ब्रह्मणा संपरिपश्यन्नेवाच्यः । हन्त तर्हि किं ज्ञानाम्यसेन ।
किं धर्मानुष्ठानेन च । अत ईदृद् मतिः कस्यचिदुन्मत्तस्येति हेया । अतएव
प्राज्ञशब्देन न ब्रह्मग्रहणम् । जीवात्मा खलु जागरावस्थायामिन्द्रियविषय-बाहु-
ल्याच्चञ्चलो भवति । बुद्धिशक्त्याचरणेन सस्त्रशो विषयाननुधावति । तेन
परिश्रान्तो भवति । सुषुप्तौ विषयाभावात् स्वस्थस्तिष्ठति । एष हि स्वामाविकं
स्वरूपमात्मनः ॥ २१ ॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका
देवा अदेवा वेदा अवेदाः । अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूण-
हाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौलकसोऽपौलकसः अम-
णोऽभ्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनान्वागतं पापेन
तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

अनुवाद—यहां पिता अपिता होता है, माता अमाता होती है, लोक अलोक
होते हैं, देव अदेव और वेद अवेद होते हैं । यहा स्तेन (चोर) अस्तेन होता है ।
भ्रूणघाती अभ्रूणघाती और चाण्डाल अचाण्डाल होता है पौलकस अपौलकस और
अमण अग्रमण होता है । तापस अतापस होता है । यहा दम्भ रूप पुण्य से
असम्बद्ध और पाप से असम्बद्ध रहता है । क्योंकि यह, उस अवस्था में हृदय के
सब शोकों को पार उबर जाता है ॥ २२ ॥

पदार्थ—इंधर की ऐसी महिमा है कि गाढ़ सुषुप्ति में किसी पदार्थ का बोध नहीं रहता इसी को विस्तारपूर्वक कहते हैं । प्रथम सब से पिता पुत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध जगत् में है इसका भी ज्ञान नहीं रहता (अत्र+पिता+अपिता+माता+अमाता+भवति) यहां पिता यह नहीं जानता है कि मैं इस का पिता हूं यह मेरा पुत्र है और इसी प्रकार मैं इनका पुत्र हूँ ये मेरे पिता हैं ऐसा बोध नहीं रहता है । और इसी प्रकार माता अमाता, पुत्री अपुत्री होती है । मरण के बाद पिता माता का सम्बन्ध छोड़ना पड़ता है । किन्तु मेरा अच्छे दुल में अच्छे लोक में जन्म हो ऐसी आशा धनी रहती है परन्तु यहां यह भी नहीं रहता (लोकाः+अलोकाः+देवाः+अदेवाः) अभिलपित लोक भी अलोक हो जाते हैं । अर्थात् लोकान्तर की भी इच्छा नहीं रहती मैं सब से अच्छा हूँ वह भी इच्छा नहीं रहती देव अदेव होते हैं । वेद वो सर्वप्रिय वस्तु हैं । इसी के द्वारा सर्वधर्म सञ्चय किया जाता । इसका सस्कार तो रहना चाहिये इस पर कहते हैं (वेदाः+अवेदाः) वेद भी अवेद हो जाते हैं । इनका भी बोध नहीं रहता है । इस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध और शुभकर्मफलेच्छा तथा शुभकर्मसाधन इन सबों का किञ्चिन्मात्र भी ज्ञान नहीं रहता । एवमस्तु । अत्यन्त घोर कर्म का सस्कार रहता है या नहीं इस पर कहते हैं (अत्र+स्तेनः+अस्तेनः+भवति) इस अवस्था में सुवर्ण आदिक के कर्ता महापातकी घोर भी अपने को नहीं समझता है कि मैं पातकी=स्तेन हूँ । अतः स्तेन भी अस्तेन होता है । इसी प्रकार (भूषणहा+अभूषणहा+चाण्डालः+अचाण्डालः+पौलकस+अपौलकसः+अश्रमणः+अश्रमणः+तापसः+अतापसः) ब्राह्मण घाती वा घालघाती भी अत्राश्रमणघाती हो जाता महानीय पतित चाण्डाल भी अपचाण्डाल होता है महानिष्ठ मनुष्य भी अपौलकस होता है सन्यासी असन्यासी तपस्वी धानप्रस्थाश्रमी अतापस होता है । बहुत क्या कहें । इस अवस्था में पुरुष का रूप (पुण्येन+अनन्वागतम्+पापेन+अनन्वागतम्+दि+तथा+हृदयस्य+सर्वान्+शोकान्+तीर्णः+भवति) पुण्य से असम्बद्ध तथा पाप से भी असम्बद्ध रहता है क्योंकि उस अवस्था में हृदय के सब शोकों को तैरकर स्थित रहता है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—अत्रेति । सुषुप्तौ सर्वप्रपञ्चानां लयो भवतीति सर्वेषां प्रत्यक्षा-
नुपपत्तिः । तत्रेदं मीमांस्यते—जन्मजनकमावसम्बन्धस्तु प्रचलतरो घनिष्ठः ।
सोऽनेन कायेन कथं विस्मर्तव्यः । अहो प्रचलतरसम्बन्धोऽपि तत्र न ज्ञायत

इत्याथर्वमेतत् । अचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणोलीलामवधारयितुं कः शक्नुयात् । तदेतदाह—श्रुतिः । अत्रास्यामवस्थायाम् । पिता अपिता भवति । यं पुत्रं क्षममपि नयनाद्वहिर्गतमाकलय्य परितप्यते । यस्मार्थे प्राणानपि तृणं मन्यते । तस्याहं जनकोऽयं ममजन्योऽयं मम नयनानन्दकरश्चटुमापीशिशुरित्याकारकप्रबलपितृसम्बन्धबोधोऽपि निर्वर्तते । एवमेव ममायं पितास्ति । अहं पुत्रोऽस्मीत्यपि बोधः । माता च परमस्नेहकस्याधारभूताऽऽत्मजादभिन्नेव वर्तमाना । साप्यत्र=ममाता भवति, इयं दुहितेति न जानाति । इयं मम मातास्तीत्यपि कन्या न वेत्ति । अयं सम्बन्धोनिर्वर्ततां नाम । आसक्तौ मृत्यौ प्रियं पुत्रं त्यजन्तौ पितरौ तथा चिन्तयतः । यया इतः प्रेत्य कर्मणा दानेनेष्टेनाऽऽपूर्तेन च जेतव्या लोकाः प्राप्स्यन्ते न वेति कीदृशास्ते इत्यादिचिन्तां कुरुतः । ईदृग् विचारोऽप्यत्र निर्वर्तते । अत आह—लोका इति जेतव्याः पुण्येन लोका अलोका भवन्ति । महत्त्वप्राप्तिकामनाऽपिप्रयाति । अत आह—देवा अदेवा इति । आशौशवायेऽभ्यस्ताः । यान् द्वारीकृत्य ब्रह्मविदितम् । इतरस्मिन्लोके परमसहायकस्य धर्मस्य संचयः कृतः । ते वेदा अपि अवेदा भवंति । नहि तत्र वेदवेदनं भवति । इत्थं प्रबलः सम्बन्धो वा शुभानि कर्माणि वा महत्त्वप्राप्त्यभिलाषो वा परमंपावित्रं ज्ञानं सर्वं तत्र यथानावभासते । तथैव अशुमसंस्कारवासना अपि निर्वर्तन्ते । तथाहि—अत्रावस्थायां स्तेनो हिरण्यादीनाम् । स्तेनयति चोरयति महापातकी अस्तेनो भवति स्तेनभावस्तस्मिन्काले निर्वर्तते । भ्रूणहा मुख्यब्राह्मणहंता गर्भस्थबालकधात्यन्तकूरकर्मामहापातक्यमि अश्रूणहा भवति भ्रूणहन्तृत्वमपयाति । न केवलमागन्तुकेन कर्मणा निवृत्तः । किन्तुर्हि अत्यन्तनिकृष्टजातिप्रापकेण सहजेनापि कर्मणा विरहित एवायमित्याह—चाण्डाल इति । चाण्डालो ब्राह्मण्यां शुद्राज्जातश्चण्डालः अचण्डालो भवति । स एव पौल्कसः अपौल्कसो भवति । एवम् श्रमणीयो परमेष्ठिनायि विश्राम्यति यो वा तपश्चरणेन श्राम्यति क्लाम्यति स श्रमणः परिव्राट् सोऽप्यश्रमणो भवति । तथा तापसस्तपस्वी । अतापसः अतपस्वी भवति । सम्बन्धजनकानां कर्मणा मानन्त्याद् द्विघोषसंहृत्य तदतीतत्वमाह—अनन्वागतमिति । तत्प्रकृतमात्मरूपं पुण्येन शास्त्रविहितेन कर्मणा अनन्वागतमसम्बद्धं तथा पापेन निहिताकरणप्रतिषिद्धक्रियाकरणलक्षणोऽप्यनन्वागतमात्मरूपम् । कुत इत्यपे-

ज्ञाया तद्धेतुकामात्मयादित्याह—तीर्ण इति । हि यस्मादतिच्छन्दादिवाक्यो-
क्तरूप आत्मा तदा तस्मिन् सुषुप्तिकाले हृदयस्य हृदयस्थाया बुद्धेः सम्प-
न्निधनः । सर्गान् शोकान् तद्धेतुभूतान् कामान् तीर्णोऽतिनान्तो भवती-
त्यर्थः ॥ २२ ॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृ-
ष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति
ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पठ्येत् ॥ २३ ॥ यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै
तन्न जिघ्रति न हि प्रातुर्प्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् ।
न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४ ॥

अनुवाद—निश्चय, उस अवस्था में वह (जीवात्मा) नहीं देखता है सो नहीं
किन्तु देखता हुआ वह उसको नहीं देखता क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप
नहीं क्योंकि वह अविनाशी है । किन्तु उस अवस्था में जिसको वह देखनेके ऐसी
इससे भिन्न द्वितीय वस्तु ही नहीं । इस हेतु नहीं देखता ॥ २३ ॥ निश्चय, उस
अवस्था में वह जीवात्मा नहीं सूचता है सो नहीं किन्तु सूचता हुआ वह उसको
नहीं सूचता है क्योंकि प्राता की प्राप्ति (प्राणशक्ति) का विपरिलोप नहीं होता
क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य
भिन्न वस्तु हो जिसको वह सूचे ॥ २४ ॥

पदार्थ—वह जीवात्मा (तत्+न+पश्यति) उस अवस्था में कुछ नहीं देखता ।
ऐसा (यत्+वै) जो आप निश्चयरूप से मानते हैं या ससार में लोग मान रहे हैं
सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (पश्यन्) देखता हुआ वह आत्मा विद्यमान
है अर्थात् वह अपने को तथा अपने सचिव वर्गों को देखता हुआ ही इस अवस्था
में भी वर्तमान है परन्तु (तत्+न+पश्यति) अपने से भिन्न बाह्य वस्तु को नहीं
देखता । यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ दो विषय कहते हैं । एक दर्शन और
दूसरा अदर्शन अर्थात् अपने को देखता अन्य को नहीं । प्रथम पक्ष में हेतु देते हैं
(हि) क्योंकि इस अवस्था में भी (द्रष्टुः) देखनेवाले जीवात्मा की (दृष्टिः)
दर्शन शक्ति का (विपरिलोपः) सर्वथा विनाश (न+विद्यते) विद्यमान नहीं है अर्थात्

इस अवस्था में भी दर्शन शक्ति की तो विद्यमानता है ही । हा, जाग्रदवस्थावत् नहीं इसको सब कोई मानता है । पूर्वोक्त अर्थ में हेतु कहते हैं—(अविनाशित्वात्) वह दर्शन शक्ति अविनाशी है जिस हेतु आत्मा अविनाशी है इस हेतु वह आत्मा देयता तो है । अब अन्य वस्तु क्यों नहीं देयता है इसमें हेतु कहते हैं—(तु + तत्) परन्तु उस सुपुष्टि में (ततः) उस अपने से और अपने सङ्गी प्राणादिकों से (अन्यद्विभक्तम्) अन्य भिन्न (द्वितीयम्) दूसरी वस्तु (न + अस्ति) नहीं है (यत् + परयेन्) जिसको वह देखे अर्थात् देखने को वहा कोई सामग्री नहीं इस हेतु अन्य वस्तु को वह नहीं देयता ॥ २३ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न + जिघ्रति) वह आत्मा नहीं सूँघता है (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (जिघ्रन्) सूँघता हुआ ही वह आत्मा (तत् + न + जिघ्रति) उन पदार्थों को नहीं सूँघता है अर्थात् इसमें सूँघने की शक्ति है (हि) क्योंकि (प्रातुः) सूँघनेवाले जीवात्मा की (प्रातेः) प्राणशक्ति का (विपरिलोपः + न + विद्यते) सर्वथा विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है । वह आत्मा को कदाचिन् त्याग नहीं सकती । गन्ध मालूम क्यों नहीं होता इस में कारण कहते हैं—(तत्) उस अवस्था में (न + द्वितीयम्) सूँघने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः + अन्यत्) उस जीवात्मा में अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत् + जिघ्रेन्) जिसको वह सूँघे अर्थात् इस अवस्था में निज स्वरूप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर सूँघे तो किसको सूँघे । इस हेतु सुगन्धिज्ञान तो नहीं विदित होता परन्तु सुगन्धि ज्ञान है ॥ २४ ॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते न हि रसयितू
रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति
ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वसयेत् ॥ २५ ॥ यद्वै तन्न वदति वदन् वै
तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न
तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥ यद्वै तन्न
शृणोति शृणवन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं

यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥ यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते
 न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्विती-
 यमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥ यद्वै तन्न स्पृ-
 शति स्पृशन् वै तन्न स्पृशति न हि स्पृष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो
 विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं
 यत् स्पृशेत् ॥ २९ ॥ यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न
 विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशि-
 त्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥

अनुवाद—निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा स्वाद नहीं लेता । सो नहीं किन्तु
 स्वाद लेता हुआ वह उसको नहीं स्वादता क्योंकि रसयिता की रसयति (स्वाद-
 ग्रहण शक्ति) का विपरिलोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है । परन्तु उस
 अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो=भिन्न वस्तु हो जिसका वह
 स्वाद ले ॥ २५ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा नहीं बोलता ऐसा जो
 आप मानते हैं सो ठीक नहीं । निश्चय बोलता हुआ वह उसको नहीं बोलता क्योंकि
 वक्ता की वक्ति (भाषण शक्ति का) विपरिलोप नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी
 है । परन्तु उस अवस्था में द्वितीयवस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह बोले
 ॥ २६ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा नहीं सुनता । ऐसा जो आप मानते
 हैं सो ठीक नहीं । निश्चय सुनता हुआ वह उसको नहीं सुनता, क्योंकि श्रोता की
 श्रुति (श्रवण शक्ति) का विपरिलोप नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी है । परन्तु
 उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह सुने ॥ २७ ॥
 निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा मनन नहीं करता ऐसा जो आप मानते हैं
 सो ठीक नहीं । निश्चय मनन करता हुआ वह उसको नहीं मनन करता क्योंकि
 भन्ता की मति (मननशक्ति) का विपरिलोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है ।
 परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह मनन
 करे ॥ २८ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा स्पर्श नहीं करता ऐसा जो
 आप मानते हैं सो ठीक नहीं । निश्चय स्पर्श करता हुआ वह उसको नहीं स्पर्श

करता क्योंकि स्पर्शा की सृष्टि (स्पर्शशक्ति) का विपरिलोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह स्पर्श करे ॥ २६ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा नहीं जानता ऐसा जो आप कहते हैं सो ठीक नहीं। निश्चय, जानता हुआ वह उसको नहीं जानता क्योंकि विज्ञाता की विज्ञाति (जानने की शक्ति) का विपरिलोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह जाने ॥ ३० ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (तत्०) उस अवस्था में (न+रसयते) वह आत्मा स्वाद नहीं लेता है इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (रसयन्) स्वाद लेता हुआ ही वह आत्मा है (तत्+न+रसयते) उन पक्ष्यों का रस नहीं लेता अर्थात् इसमें स्वाद लेने की शक्ति है। (हि) क्योंकि (रसयितुः) स्वाद लेनेवाले जीवात्मा की (रसयते+विपरिलोपः+न+भक्षति), रसयति=स्वाद लेने की शक्ति का विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है। स्वाद मालूम क्यों नहीं होता ? (तत्०) उस अवस्था में स्वाद लेने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+रसयेत्) जिसका वह स्वाद ले अर्थात् इस अवस्था में निजस्वरूप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर स्वाद ले तो किस का ले ॥ २५ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+वदति) वह आत्मा नहीं बोलता (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (वदन्) बोलता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+वदति) उनको नहीं बोलता अर्थात् इसमें बोलने की शक्ति है। (हि) क्योंकि (वक्तुः) बोलनेवाले जीवात्मा की (वक्तेः) भाषण करने की शक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है भाषण मालूम क्यों नहीं होता ? इसमें कारण—(तत्०) उस अवस्था में भाषण की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+वदेत्) जिसको वह बोले अर्थात् इस अवस्था में निजस्वरूप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर बोले वो किसको बोले। इस हेतु भाषण तो नहीं विदित होता, परन्तु भाषणज्ञान है ॥ २६ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस

अवस्था में (न+गृणोति) नहीं सुनता है (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (गृणन्) सुनता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+गृणोति) उनको नहीं सुनता है अर्थात् इसमें श्रवण शक्ति है (हि) क्योंकि (श्रोतुः) सुननेवाले जीवात्मा की (श्रुतेः) श्रवण शक्ति का (विपरिलोप+न+विद्यते) विनाश नहीं होता (अविनाशित्यात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है । श्रवण मालूम क्यों नहीं होता ? (तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) सुनने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं (यत्+गृणयात्) जिसको वह सुने ॥ २७ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+मनुते) वह आत्मा मनन नहीं करता (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (मन्वान्) मनन करता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+मनुते) उनका मनन नहीं करता है (हि) क्योंकि (मन्तुः) मनन करनेवाले जीवात्मा की (मतेः) मनन शक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) विनाश नहीं होता (अविनाशित्यात्) क्योंकि वह अविनाशी शक्ति है (तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) मनन की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+मन्वीत) जिसको वह माने ॥ २८ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+स्पृशति) वह आत्मा नहीं स्पर्श करता है (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (स्पृशन्) स्पर्श करता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+स्पृशति) उन पदार्थों को नहीं स्पर्श करता है (हि) क्योंकि (स्पृष्टुः) स्पर्श करनेवाले जीवात्मा की (स्पृष्टेः) स्पर्श करने की शक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) विनाश नहीं होता (अविनाशित्यात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है (तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) स्पर्श करने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+स्पृशेत्) जिसको वह स्पर्श करे ॥ २९ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+विजानाति) वह आत्मा नहीं जानता है (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (विजानन्) जानता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+विजानाति) उन पदार्थों को नहीं जानता है (हि) क्योंकि (विज्ञातुः) जाननेवाले की

(विज्ञाते) विज्ञानशक्ति का विगिरिणोऽननविद्यते) सर्वथा विनाश नहीं होता (अविनाशित्वान्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है (तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) जानने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा में अन्य (विभक्तम्) प्रत्यक् वस्तु नहीं है (यत्+विजानीयान्) जिसको वह जाने। अर्थान् इस अवस्था में निजस्वरूप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर वह जाने तो किसको जाने इस हेतु विज्ञान तो नहीं विदित होना, परन्तु विज्ञान है ॥ ३० ॥

यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यजिज्ञेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—निश्चय, जिस अवस्था में अन्य ही वस्तु होवे वहां अन्य अन्य को देवे, अन्य अन्य को सूँघे, अन्य अन्य का स्वाद लेवे, अन्य अन्य को धोले, अन्य अन्य को सुने, अन्य अन्य का मनन करे, अन्य अन्य को छूवे, अन्य अन्य को जाने ॥ ३१ ॥

पदार्थ—(यत्र+वे) जिस जागरित वा स्वप्न में (अन्यद्+इव) अपने से अन्य ही वस्तु (स्नात्) होवे (तत्र) उस अवस्था में (अन्यः) अन्य पुरुष (अन्यद्+परयेत्) अपने से अन्य वस्तु को देवे (अन्यः+अन्यत्+जिघ्रेत्) अन्य पुरुष अपने से अन्य कुसुमादि को सूँघे (अन्यः+अन्यत्+रसयेत्) अन्य अपने से भिन्न अन्नादिकों का रस लेवे (अन्यः+अन्यद्+वदेत्) अन्य अन्य शब्दों को धोले (अन्यः+अन्यत्+शृणुयात्) अन्य अन्य को सुने (अन्यः+अन्यत्+मन्वीत्) अन्य अन्य वस्तु का मनन करे (अन्यः+अन्यत्+स्पृशेत्) अन्य अन्य कलादिकों को छूवे (अन्यः+अन्यत्+विजानीयान्) अन्य अन्य शास्त्रादिकों को जाने ॥ ३१ ॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः संम्राडिति हैनमनुशाशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेपोऽस्य परमोलोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—यह परमात्मा जल के समान, एकद्रष्टा अद्वैत है । हे सम्राट् ! ऐसा जो परमात्मा है वही ब्रह्मलोक है अन्य नहीं । याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार इनको अनुशासन किया हे राजन् । इस जीवात्मा की यही परमगति है । इसकी यही परमसम्पत्ति है । इसका यही परम लोक है । इसका यही परम आनन्द है । इसी आनन्द की एक कला को लेकर अन्य सब प्राणी भोग कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

पदार्थ—यह परमात्मा (सखिलः+भवति) जल के समान है (एकः) एक है (द्रष्टा) देखनेवाला है (अद्वैतः) अद्वितीय है (एवः+ब्रह्मलोकः) यह परमात्मा ही ब्रह्मलोक है इस परमात्मा से भिन्न कोई ब्रह्मलोक नहीं (सम्राट्) हे सम्राट् ! आपको ऐसा जानना चाहिये । इस प्रकार (याज्ञवल्क्य,) याज्ञवल्क्य ने (ह+एतम्+अनुशास) इस जनक महागज को उपदेश दिया । हे राजन् । (अस्य) इस जीवात्मा का (एवा+परमा+गतिः) यह ब्रह्मप्राप्ति ही परम गति है (अस्य) इस जीवात्मा का (एवा+परमा+सम्पद्) यही सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है (अन्य) इनका (एवः+परमः+लोकः) यह परमलोक है (अस्य) इसका (एवः+परमः+आनन्दः) यही परम आनन्द है । हे राजन् । (अस्य+एव+आनन्दस्य) इसी ब्रह्मानन्द की (मात्राम्) एक कला को लेकर (अन्यानि+भूतानि) सब प्राणी (उपजीवन्ति) भोग करते हैं ॥ ३२ ॥

स यो मनुष्याणां राक्षः समृद्धो भवत्यन्वेषामधिपतिः
सर्वमनुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दो-
ऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोका-
नामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको
गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स
एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणां देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये
शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च
श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः
स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकाम-

हतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक
आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम
आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं
भगवत सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह
याज्ञवल्क्यो विभयान्वकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य
उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

अनुवाद—सो जो कोई मनुष्यों में राठ, समृद्ध, दूसरों के अधिपति और
मनुष्यसम्बन्धी समस्त भोगों में सम्पन्नतम होता है सो मनुष्यों का परम आनन्द
है । मनुष्यों के जो शत (सौ) आनन्द हैं वह पितरों का एक आनन्द जिन्होंने
भूमण्डलों को जीता है । जिनलोक पितरों के जो सौ आनन्द हैं वह गन्धर्वों का
एक आनन्द गन्धर्वों के जो शत आनन्द हैं वह कर्मदेवों का एक आनन्द है ।
जो कर्म से देवस्व को प्राप्त होते हैं वे कर्मदेव कहलाते हैं । कर्मदेवों के जो शत
आनन्द हैं वह आजानदेवों के और अपाप अकामहत श्रोत्रिय का एक आनन्द है ।
प्रजापति के जो शत आनन्द हैं वह ब्रह्म का और अपाप अकामहत श्रोत्रिय का एक
आनन्द है । हे सम्राट् ! यही परम आनन्द है । यही ब्रह्मलोक है । याज्ञवल्क्य
ने यह शिक्षा दी । जनक महाराज कहते हैं कि सो मैं आपको एक सहस्र गायें
देता हूँ इससे आगे विमोक्ष के लिये उपदेश देवें । यहाँ पर याज्ञवल्क्य भवभीत
होगये कि राजा ने मुझको सब वस्त्रों से शून्य कर दिया । इस राजा ने मुझको सब
धन के लिये अनुरोध किया अर्थात् मुझको ही सब धन दे दिया है * ॥ ३३ ॥

पदार्थ—आनन्द की भीमांसा करते हैं—(मनुष्याणाम्) मनुष्यों के बीच में
(सःभ्यः) सो जोई पुरुष (राठः) सर्वश्रद्धि प्राप्त इष्ट पुष्ट बलिष्ठ (समृद्धः)
धनधान्य पशु पुत्रपौत्रादि से भरपूर (अन्येषाम्) पृथिवी के सब मनुष्यों का
(अधिपतिः) स्वतन्त्र राजा और (मानुष्यैः) मनुष्य सम्बन्धी (सर्वैः)
समस्त (भोगैः) भोगों से (सम्पन्नतमः) अतिशय सम्पन्न (भवति) होता है

ऐसे पुरुष का जो आनन्द है (सः) वह आनन्द (मनुष्याणाम्+परमः+आनन्दः) मनुष्यों के मध्य परम आनन्द है । इससे बढ़कर मनुष्यों में आनन्द नहीं (अथ) और (मनुष्याणाम्+ये+शतम्+आनन्दाः) मनुष्यों में ऐसे २ जो सौ गुने आनन्द हैं (सः+एकः+पितॄणाम्+आनन्दः) वह पितरों के एक आनन्द अर्थात् एक आनन्द के समान है (जितलोकानाम्) जिन पितरों ने पृथिवी पर सब लोकों का विजय प्राप्त किया है । मनुष्यों का जो १०० आनन्द है वह पितरों का एक आनन्द है (अथ+ये+शतम्+पितॄणाम्+जितलोकानाम्+आनन्दाः) और लोकविजयी पितरों के जो १०० गुने आनन्द हैं (सः+एकः+गन्धर्वलोकैः+आनन्दः) वह गन्धर्व लोक में एक आनन्द है । पितरों के १०० आनन्द के तुल्य गन्धर्व का एक आनन्द है । (अथ+ये+शतम्+गन्धर्वलोकैः+आनन्दाः) और जो गन्धर्व लोक में सौ गुने आनन्द हैं (सः+एकः+वर्मदेवानाम्+आनन्दः) वर्म देवों का यह एक आनन्द है (ये+वर्मणा) जो लोग कर्म के द्वारा (देवत्यम्+अभिसम्पद्यन्ते) देवत्व को पाते हैं वे कर्मदेव हैं । गन्धर्व के १०० आनन्द=कर्मदेव का १ आनन्द । (अथ+ये+शतम्+वर्मदेवानाम्+आनन्दाः) और कर्मदेवों के जो सौ गुने आनन्द हैं (सः+एकः+आजानदेवानाम्+आनन्दः) आजानदेवों का यह एक आनन्द है (यः+च) और जो (श्रोत्रियः) वेद के पढ़ने वाले (अधृजिनः) वैदिककर्मों के अनुष्ठान से पाप रहित और (अकामहतः) सकल कामना से भी रहित हैं । इनका भी आनन्द आजानदेव के समान है अर्थात् जितना आनन्द आजानदेवों का है उतना ही श्रोत्रियों का भी है । कर्मदेव के १०० आनन्द=आजानदेवों का १ आनन्द (अथ+ये+शतम्+आजानदेवानाम्+आनन्दाः) आजानदेवों के जो १०० गुने आनन्द हैं (सः+एकः+प्रजापतिलोकैः+आनन्दः) प्रजापति लोक में यह एक आनन्द के समान है (यः+च+श्रोत्रियः+अधृजिनः+अकामहतः) जो वेद के पढ़नेवाले पापरहित और निष्काम हैं । इनका भी आनन्द प्रजापति के आनन्द के समान है आजानदेव के १००=प्रजापति का १ आनन्द (अथ+ये+शतम्+प्रजापतिलोकैः+आनन्दाः) और जो प्रजापति लोक के सौगुने आनन्द हैं (सः+एकः+ब्रह्मलोकैः+आनन्दः) ब्रह्मलोक का यह एक आनन्द है (यः+च+श्रोत्रियः+अधृजिनः+अकामहतः) और जो श्रोत्रिय पापरहित निष्काम हैं उनका भी आनन्द ब्रह्मानन्द के समान ही है प्रजापति के १०० आनन्द=ब्रह्म का और

श्रोत्रिय का ? आनन्द है । (इति+इ+उवाच+याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य बोले कि (सम्राट्) हे सम्राट् ! (अथ+एषः+एव+परम.+आनन्दः) यही परम आनन्द है (एषः+ब्रह्मलोकः) यही ब्रह्मलोक है । इस वचन को सुन जनक महाराज कहते हैं—(सः+अहम्) सो मैं (भगवते+सहस्रम्+ददामि) आपको सहस्र गायें देता हूं अतः+ऊर्ध्वम्) इसके आगे (विमोक्षाय+एव) सम्यक् ज्ञान के लिये ही मुझे (ब्रूहि) उपदेश करें इतनी बात सुन (अत्र+इ) यहां (याज्ञवल्क्यः+विमयाञ्चकार) याज्ञवल्क्य डर गये । क्यों ? (मेधावी+राजा) यह परम ज्ञानी राजा ने (माम्) मुझ को (सर्वेभ्यः+अन्वेभ्यः) सम्पूर्ण धनों के लिये (उदरोत्सीन्) अनुरोध किया अर्थात् मुझको सर्वस्व देने पर प्रस्तुत होगया है हजारों गायें देता जाता हूं । सब धन क्या मुझको ही देदेगा इस हेतु याज्ञवल्क्य डरे । अथवा परमतत्त्व का भी नाम “अन्त” है तब यह अर्थ हुआ कि यह (मेधावी+राजा) परमज्ञानी राजा है । इसने (सर्वेभ्यः+अन्वेभ्यः) समस्त ज्ञानतत्त्वों से (माम्+उदरोत्सीन्) मुझ को पूछ पूछ कर शून्य कर दिया है । अर्थात् यह राजा मुझसे सब ज्ञान ले लिया । फिर आगे इसको क्या उपदेश दूंगा । यह परम बुद्धिमान् है । इत्यादि विचार से याज्ञवल्क्य को डर हुआ, परन्तु पिछला अर्थ ठीक नहीं ॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रति योन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

अनुवाद—निश्चय सो यह जीवात्मा इस स्वप्नस्थान में रमण और बहिष्करण कर और पाप पुण्य को देख जिस प्रकार गमन किया था वैसे ही स्थान स्थान के प्रति जाग्रत अवस्था के लिये ही दौड़ता है ॥ ३४ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (सः+एषः) सो यह जीवात्मा (एतस्मिन्+स्वप्नान्ते) इस स्वप्नस्थान में (रत्वा) पहिले विविध-पदार्थों के साथ क्रीड़ा करके पश्चात् (चरित्वा) मानों शरीर से बाहर निकल उस उस देश ग्राम में गमन, इष्ट मित्रादिकों के साथ संगम प्रभृति अनंत व्यापार को सम्पादन कर (पुण्यञ्च+पापञ्च+दृष्ट्वा) इत्येव में वासना के उद्भव के अनुसार पाप पुण्य को देख (पुनः) पुनः पुनः (प्रतिन्यायम्) जैसे गमन किया था प्रतिकूल=त्रलटा (प्रतियोगि) स्थान स्थान

के प्रति (बुद्धान्तायेव) जागरणस्थान के किये ही (आद्रवति) दौड़ता है ॥ ३४ ॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जयायाद्देवमेवायं शारीर
आत्मः प्राज्ञेनाऽऽत्मनान्वारुढउत्सर्जयाति यत्रेतदूर्ध्वोच्छ्वासी
भवति ॥ ३५ ॥

अनुवाद—सो जैसे सुसमाहित शकट, बहुत शब्द करता हुआ मार्ग में जाता है । वैसे ही जिस काल में यह मरने के निमित्त ऊर्ध्वश्वासी होता है उस काल में यह शारीर आत्मा निज प्राप्त (विज्ञानवान्) स्वभाव से संयुक्त हो अति शब्द करता हुआ जाता है ॥ ३५ ॥

पदार्थ—शरीर को कैसे त्यागता है । किन्के साथ और कैसे जाता है । इत्यादि जीव गति का वर्णन यहां से प्रारम्भ करते हैं—(तत्+यथा) उस विषय में दृष्टान्त कहते हैं जैसे इस लोक में (सुसमाहितम्+अनः+उत्सर्जत्+यायात्) बहुत भारों से लदी हुई अर्थात् भारों से आक्रान्त शकट=गाड़ी चीं चीं आदि शब्दों को करती हुई चले अर्थात् मार्ग में चलती है (एषम्+एव) इसी गाड़ी के 'दृष्टान्त' के समान ही (अयम्+शारीर+आत्मा) यह शरीर में निर्वास करनेवालों आत्मा (आ-त्मना+प्राज्ञेन+अन्वारुढः+उत्सर्जन+याति) ज्ञानवान् स्वभावरूप भार से संयुक्त हो वियोगकाल के दुःख से रोता हुआ जाता है । किस समय यह दशा होती है सो भागे कहते हैं—(यत्र+ऊर्ध्वोच्छ्वासी+भवति) जिस काल में यह पुरुष ऊर्ध्वश्वासी होता है । अर्थात् मरणकाल में जन ऊर्ध्वश्वास चलने लगता है । उस समय में यह जीवात्मा गाड़ी के समान नाद करता हुआ यहां से बिदा होता है ॥ ३५ ॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतंपता वाऽणिमानं
निगच्छति यद्यथाऽन्नं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमु-
च्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्याये
प्रतियोन्याद्भवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

अनुवाद—सो यह पुरुष जिसकाल में जरावस्था से कुशता को प्राप्त होता है अथवा किसी उपतापी रोग से कुशता को प्राप्त होता है । उस काल में जैसे अपने बंधन से छूटकर आम्रफल या उदुम्बर फल अथवा पिप्पल फल गिर पड़ता है वैसे

यह पुरुष इन अवयवों से छूटकर गिरता है और जैसे आया था वैसे ही प्राण के लिये ही योनि योनि के प्रति दौड़ता है ॥ ३६ ॥

पदार्थ—(यत्र) जिस काल में (सः+अयम्) सो यह पुरुष (जरयान्वा) जरावस्था की प्राप्ति के कारण से (अणिमाणम्) अणुत्व=कृशत्व को (नि+एति) विशेषता के साथ प्राप्त करता है अर्थात् जब वृद्धावस्था के कारण स्वभाव से ही बहुत दुर्बल होजाता अथवा (उपतपतान्वा) दुःप्र देनेवाले किसी नैमित्तिक रोग के कारण (अणिमाणम्+निगच्छति) अणुत्व=कृशता को प्राप्त होता है । (ततः) उस समय (यथा) जैसे (आम्रम्+वा) आम्रफल अथवा (उदुन्दरम्+वा) उदुन्दर=गूलर का फल अथवा (विष्पलम्+वा) पीपल का फल (बंधनात्) अपने बंधन से (प्रमुच्यते) छूटकर गिर पड़ता है (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के अनुसार (अयम्+पुरुषः) यह पुरुष (एभ्यः+अङ्गेभ्यः) इन हस्त पादादिक अवयवों से (मंप्रमुच्य) अच्छे प्रकार छूटकर (पुनः) फिर (प्रतिन्यायम्) जैसा आया था वैसा ही (प्रति+योनि) योनि २ के प्रति (आत्रयति) दौड़ता है । (प्राणाय+एव) प्राण के लिये अर्थात् कर्म के फल भोग के लिये ही ॥ ३६ ॥

तद्यथा राजानमायान्तमुग्धाः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नेः
पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं ह्येवं-
विदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छ-
तीति ॥ ३७ ॥

अनुवाद—सो जैसे राजा का आगमन सुन उग्र प्रत्येनस, सूत और ग्राम-
णी आदिक राजकर्मचारी “यह राजा आ रहा है यह आ रहा है” इस प्रकार प्रजा-
ओं को खबर देते हुए अन्न, पान, आवसथ आदिक राज-सामग्रियों को जोड़कर
प्रतीक्षा करते हैं । वैसे ही जीवात्मा की गति को इस प्रकार जाननेवाले पुरुष के
लिये भी सब कोई प्रतीक्षा करते हैं कि यह ब्रह्मवित् पुरुष आ रहा है यह आना
ही चाहता है ॥ ३७ ॥

पदार्थ—(तत्+यथा) उस विषय में दृष्टान्त कहते हैं जैसे (आयान्तम्+
राजानम्) आते हुए राजा को जान (उग्धाः) उग्र=भयङ्कर कर्म करनेवाले पुलिस

(प्रत्येनसः) एनसू=पाप अपराध, एक एक पाप वा अपराध के दण्ड देनेवाले न्यायाधीश (मजिस्ट्रेट) (सूतग्रामण्यः) सूत=सारथि=हय गज के निरीक्षण करनेवाले तथा ग्रामणी=ग्राम ग्राम के अधिष्ठाता पञ्च ये सब मिलकर (अग्नेः) खाने के विविध भोग्ग आद्यजादि अन्नों से (पानैः) पीने के योग्य दूध मधु क्षेण्णदि पानों और (आद्यमयैः) विविध प्रकार के रहने के योग्य भासाद, हर्म्य, रेमे, तन्मू आदिक स्थानों से (प्रतिबल्पन्ते) प्रतीक्षा करते हैं अर्थात् राजा के लिये अन्नपान स्थानों को प्रस्तुत करके राह देखते हैं (अयम्+आयाति) हे प्रजाभो ! हे इष्टमित्रो ! यह राजा आ रहा है (अयम्+आगच्छति+इति) यह अब आना ही चाहता है । आप लोग सावधान रहें । राजा को कोई बलेश न हो, यह आपके अनाचार न देखें । इस प्रकार प्रजाओं में खपर पहुँचाते हुए राजा के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं (एषम्+एष) इस दृष्टान्त के अनुसार (६) यह प्रसिद्ध है कि (एष+विशम्) इस प्रकार से जाननेवाले के लिये (सर्वाणि+भूताति) सब प्राणी (प्रतिबल्पन्ते) राह देखते रहते हैं कि (इदम्+गच्छ) यह गच्छावित् पुरुष (आयाति) आता है (इदम्+आगच्छति) यह गच्छावित् आ रहा है ॥ ३७ ॥

तद्यथा राजानं प्रिययासन्तमुष्माः प्रत्येनसः सूतग्राम-
ण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभि-
समायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३८ ॥

अनुवाद—सो जैसे पुनः जब राजा वहा से प्रस्थान करना चाहता है तब उसको विदा करने के लिये उसके अभिमुख उष, प्रत्येनस, सूत और ग्रामनायक एकत्रित होते हैं । वैसे ही जब यह आत्मा ऊर्ध्व भास लेना प्रारम्भ करता है तब उस अन्तकाल में इस आत्मा के चारों ओर सब प्राण उपस्थित होते हैं ॥ ३८ ॥

पदार्थ—मरणवेला में जीवात्मा के साथी कौन होते हैं सो दृष्टान्त से कहते हैं—(तत्+यथा) उस विषय में दृष्टान्त है कि (प्रिययासन्तम्) वहा से प्रस्थान करने की इच्छा करते हुए (राजानम्) राजा को जाम विदा करने और आदर देने को (उष्माः) उष कर्म करनेवाले पुलिस (प्रत्येनसः) एक एक अपराध के निर्णय करनेवाले धर्माधिकारी मजिस्ट्रेट (सूतग्रामण्यः) घोड़े हाथी आदि वाहनों के प्रवन्धकर्त्ता और ग्राम के पञ्च प्रभूति सब कोई मिलकर (अभिसमायन्ति) राजा के

सामने आते हैं (एवम्+एव) इस दृष्टान्त के अनुसार (अन्तर्गते) अन्त समय में (सर्वे+प्राणाः) सब वागादिक इन्द्रिय (आत्मानम्) जीवात्मा को यहाँ से प्रस्थान करते हुए देख इसके निकट उपस्थित होते हैं । क्या जब बिलकुल ही शरीर को त्याग देता है तब वा प्रथम ही वे उपस्थित होते हैं इस पर कहते हैं (यत्र) जिस काल में (ऊर्ध्वोन्मूलासी+भवति) यह जीवात्मा ऊर्ध्व श्वास लेना आरम्भ करता है (एतत्) इस ऊर्ध्व श्वास के समयमें वे सब एकत्रित होते हैं ॥ ३८ ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

स यत्रायमात्माऽवल्यन्त्येत्य सम्मोहमिव न्येत्यथेनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

अनुवाद—सो यह जीवात्मा जब अति दुर्बल हो मूर्च्छितमा होता है तो ये वागादि प्राण तब इस जीवात्मा के अभिमुख उपस्थित होते हैं । वह तैजस अंशों को धारों तरफ से रींच कर समेटता हुआ हृदय को ही जाता है । जब सो यह चाक्षुष पुरुष विमुख हो अपने स्वामी के प्रति लौटता है । तब वह बाहर से अरूपज्ञ होता है ॥ १ ॥

पदार्थ—इस शरीर के अङ्गों से जीवात्मा कैसे पृथक् होता सो कहते हैं—(यत्र) जिस काल में (सः+अयम्) सो यह जीवात्मा (अवल्यम्) दुर्बलता को (न्येत्य=नि+एत्य) अतिशय प्राप्त कर अर्थात् बहुत दौर्बल्य को या (सम्मोहम्+इय) मानो मूर्छाविस्था=अविवेकिता को (न्येति) प्राप्त करता है । उस समय सब अङ्गों से प्राणों के साथ जीवात्मा का निष्क्रमण होता है । निष्क्रमण का क्रम कहते

हैं—(अथ) तत्र (एते+प्राणाः) ये वागादिक इन्द्रिय (एनम्) इस जीवात्मा के (अभिसमायन्ति) सम्मुख में आते हैं । तत्र (सः) वह जीवात्मा (एताः) इन (तेजोमात्राः) तेज के अंश वागादिनां को अथवा वागादिनां के माथ शरीर के तेजस अंशों को (समभ्याददानः) अच्छे प्रकार से शरीर के सब ओर से लेता हुआ (हृदयम्+एव) हृदय की ओर ही (अन्ववक्रामति) जाता है । आगे एक एक इन्द्रिय का आगमन कहते हैं (यत्र) जिस समय तत्र से प्रथम (स+एव; चानुप+पुरुषः) यह चक्षुरिन्द्रिय पुरुष (पराद्) बाह्यविषयों से विमुख हो (पर्यावर्तते) आत्मा के सहाय के लिये पीछे लौटता है (अथ) तत्र (सः) कर्ता भोक्ता पुरुष (अरूपज्ञः+भवति) रूप को पहिचानने वाला नहीं होता है ॥ १ ॥

भाष्यम्—स इति । सोयमात्मा । यत्र यस्मिन् मरणकाले दैहिकधर्मेण अवलम्ब=दीर्घल्यम् । नेत्य नितरामेत्य त्रय्य सम्मोहमिव सम्यद्समृच्छामिव न्येति नि एति नितरां गच्छति । अथ तदा प्रयियासन्तं राजानममात्यग्रामणी-सूतादय इव । एनं दीर्घमभ्यासं प्रतिष्ठाममानमिदमुपात्तं शरीरञ्च जिहासन्त-मात्मानम् । एते प्राणा वागादीनीन्द्रियाणि अभिसमायन्ति अभिमुखे उप-स्थिता भवन्ति आह्वाप्रतिपालनाय । तदास्य जीवात्मनः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्र-मोक्ष्यं जायते । तत्प्रकारमाचष्टे—स जीवः । एता इमास्तेजोमात्राः तेजसो मात्रा धर्मादिवत् रूपादिविषयप्रकाशकत्वाच्चतुर्गादीन्द्रियाणि तेजोमात्राः कथ्यन्ते । यद्वा । शरीरस्य सर्वास्तेजोमात्रास्तैजसा अंशाः । मरणसमये शरीरस्य शैत्यऽऽगमः प्रत्यक्षः । अतस्तेजोमात्रा अपयन्तीत्यनुमानम् । तास्तेजोमात्राः इन्द्रियैः सह समभ्याददानः सम्यक्त्वा अमितः आददानो गृह्णानः संहारमायः । हृदयमेव हृदयदेशमेव अन्ववक्रामति अन्ववगच्छति । प्रयियासुर्निपतस्थान-माश्रित्य सुहृदादीनामिव । हृदयस्थानं गत्वेन्द्रियादीनां स्वसहचराणामागमनं प्रतीकते । मरणसमये जीवस्य रूपाद्यज्ञानसाधनपूर्वकमिन्द्रियसम्मिलनं दर्श-यति । अग्रे चतुर्गमनमाह । यत्र यस्मिन् काले चक्षुषिषयः चानुपः पुरुषः । अत्र चक्षुःशक्तिः पुरुषशब्देनाभिहितः पुरुषापरपर्यायात्मसहचरत्वात् । परा-दुपस्थाप्यते । बाह्यचतुर्गोलकं विहाय पराद् विषये विमुखः सन् । लिङ्गशरीरं प्रति स्नामिसाहाय्यार्थं पर्यावर्तते निवर्तते । अथ तदा स पुरुषः बाह्यतोऽरूप-ज्ञोभाति । न रूपं जानातीत्यरूपज्ञः । न सुषूर्परूपं जानातीति । यथा सुषुप्तौ

पश्यन्वै न पश्यति जिघ्रन्वै न जिघ्रति, रसयन्वै न रसयति । इत्यादिना जीवा-
त्मधर्माणामविनाशित्वं प्रदर्शितम् एवमेव मरणसमये बाह्यतोऽपश्यन्नपि पश्य-
त्यन्तः । अजिघ्रन्नपि जिघ्रत्यन्तः । इत्यादि सर्वविषयज्ञानमन्तरस्तीति ज्ञात-
व्यम् । अग्रे सर्वेषामिन्द्रियाणामेकीभवनं वक्ष्यति ॥ १ ॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहु-
रेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकी-
भवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति
न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य
हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति
चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं
प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति
सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्वशक्रामति तं विद्याकर्मणी
समन्वारभेते पूर्व्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

पदार्थ—मरण के समय उसके चारों ओर बैठे बन्धुमित्र ज्ञाति आदिक क-
हते हैं कि (एकीभवति) इसके नयनेन्द्रिय अब बाह्य स्थूल चक्षुर्गोलक को छोड़-
कर सूक्ष्म लिङ्गागीर वा हृदय आत्मा के साथ एक हो रहा है अर्थात् सम्मिलित
हो रहा है इस हेतु अब (न+पश्यति) यह पुरुष हम लोगों को नहीं देखता है
(इति+आहुः) इस प्रकार सब बैठे हुए मनुष्य परस्पर बोलते हैं । जत्र प्राणशक्ति
को नहीं पाते हैं तो (आहुः०) वे लोग कहते हैं कि इसकी प्राणेन्द्रिय आत्मा से
सम्मिलित होता है । इस हेतु (न+जिघ्रति) यह समुर्षुजन पुण्यादिकों को नहीं
सूँघ सकता । सूँघने की शक्ति जाती रही । ऐसा ही भाव आगे भी जानना । (ए-
कीभवति) रसनेन्द्रिय भी अब आत्मा के साथ मिल रहा है । इस हेतु यह (न+
रसयते) अब किसी पदार्थ का स्वाद नहीं ले सकता है ऐसा कहते हैं (एकीभ-
वति+न+वदति) वागिन्द्रिय सम्मिलित होता है । अतएव यह नहीं बोल सकता
(एकीभवति+न+शृणोति) श्रवणेन्द्रिय आत्मा से मिलता है इसी हेतु यह नहीं

सुनता है (एकीभवति+न+मनुते) सन इन्द्रियों का अधिपति मन भी बाहर से अन्तर्लौन हो रहा है इस हेतु अब यह कुछ नहीं समझ सकता है (एकीभवति+न+भूषाति) अब स्पर्श का भी इ-हें बोध नहीं रहा । स्पर्शज्ञान भी लिङ्गात्मा के साथ जा मिला । इस प्रकार (एकीभवति+न+जानाति०) सम्पूर्ण बाह्य ज्ञान सि-
मिटकर आत्मा के साथ मिलरहा है अतएव इनमें किसी प्रकार का बोध नहीं रहा
(तस्य+ह+एतस्य) उस इस आत्मा के (हृदयस्य+अग्रम्) हृदय का अग्रभाग (प्र-
द्योतते) विशेषरूप से चमकने लगता है अर्थात् हृदय स्थान में मानो ईश्वर से मि-
लने को गया था वहा इसके सहचर भी आ मिले अर्थात् ईश्वर का अनुग्रह भी
यहा प्राप्त हुआ हृदय का प्रकाशित होना मानो ईश्वर का प्रसाद है (एषः+आत्मा)
यह शरीर को त्याग करता हुआ जीव (तेन+प्रद्योतनेन) उसी महाप्रकाश के साथ
(निष्कामति) इस शरीर से निकलता है किस मार्ग से निकलता है सो आगे क-
हते हैं—(चक्षुष्ट.) नेत्र के मार्ग से यह आत्मा शरीर से निकलता है (वा) अ-
थवा (अन्येभ्यः+शरीरदेशेभ्यः) अन्यान्य कर्ण नाशिका आदिक शरीर के मार्गों
से यह जीवात्मा निर्गत होता है (तम्+उल्लान्तम्) जब यह आत्मा निर्गमनोत्सुक
होता है तो उसके पीछे पीछे (प्राणः+अनूत्कामति) प्राण ऊपर को चलता है (प्रा-
णम्+अनूत्कामन्तम्) प्राण के अनूत्क्रमण के पीछे (सर्वे+प्राणाः+अनूत्कामन्ति)
सन इन्द्रिय मानो पीछे ० गमन करते हैं । पूर्व में कहा गया है कि यह मूर्द्धित सा
हो जाता है । यहा सन्देह होता है कि क्या यह उसी मूर्द्धावस्था में विदा होता है
इस पर कहते हैं—(सविज्ञान+भवति) यह जीवात्मा इस समय पूर्ववत् ज्ञानमान्
होता है और (सविज्ञानम्) विज्ञान स्थान को ही यहा से (अन्वषत्रामति)
प्रस्थान करता है । आगे पाथेय कहते हैं अर्थात् यह आत्मा उपार्जन करके किन
पदार्थों को साथ ले जाता है (विद्याकर्मणी) विद्या विज्ञान और कर्म (तम्) उ-
सके पीछे (समन्वारयेते) सम्यक् प्रसार से जाते हैं (च) और (पूर्वप्रज्ञा) पूर्व
जन्मानुभूत बुद्धि भी इसके साथ २ जाती ॥ २ ॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममा-
क्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां
गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥ ३ ॥

अनुवाद—जैसे तृणजलायुका नाम की पिपीलिका तृण के अन्त भाग को जाकर दूसरे आक्रम का आश्रय करके अपने शरीर के पूर्वभाग को अग्रिम स्थान में रखती हुई चलती है । वैसे ही यह आत्मा इस शरीर को निश्चेष्ट बना अविद्या को दूरकर अन्य शरीररूप आक्रम को आश्रय कर अपने को पूर्व शरीर से पृथक् करता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—यह जीवात्मा अपने प्राणादिक सहचरों तथा विद्या, कर्म पूर्वप्रज्ञारूप तीन प्रकार के पाथेय को साथ ले एक देह से दूसरे देह की प्राप्ति की इच्छा करता हुआ जिस प्रकार से प्राप्त करता है । इस विषय को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—(तत्+यथा) उसमें यह दृष्टान्त है—लोक में प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार से (तृणजलायुका) तृणजलायुका नाम की एक अंगुष्ठभर की छोटीसी पिपीलिका होती है । वह (तृणस्य+अन्तम्+गत्वा) तृण के अन्तिमभाग में पहुँच दूसरे तृणपर जाने की इच्छा करती हुई (अन्यम्+आक्रमम्) प्रथम अन्य आक्रम=आश्रय को (आक्रम्य) आश्रित कर अर्थात् उस तृण को अपने अग्रिमभाग से टटता से पकड़कर तब (आत्मानम्+उपसंहरति) शरीर के पिछले भाग को उस तृणस्थान से उठाकर अग्रिम तृणस्थान में रखती है । अर्थात् जब दूसरे तृण को टटता से पकड़ लेती है तब पिछले तृण को छोड़ती है (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के समान (अयम्+आत्मा) यह आत्मा (इदम्+शरीरम्) इस गृहीत जीर्णशरीर को (निहरत्य) निश्चेष्टित अचेतन बना (अविद्याम्) की पुत्र मित्रादिकों के वियोगजनित शोक को (गमयित्वा) दूर करके (अन्यम्+आक्रमम्) दूसरे शरीररूप आश्रय को (आक्रम्य) पकड़ कर तब (आत्मानम्+उपसंहरति) उस शरीर से अपने को पृथक् करता है । अर्थात् ईश्वरीय प्रबन्ध से जीवात्मा को विदित होजाता है कि मुझे यहाँ से किस शरीर में जाना होगा । जब यह सर्वथा हाव होजाता है तब इस शरीर को छोड़ता है क्योंकि स्थूलशरीर बिना कर्तृत्व भोक्तृत्व बनता नहीं । अतः तृणजलायुकावत् इस शरीर को छोड़ता तत्काल दूसरे शरीर में जाता है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तथयेति । सर्वान् सहचरान् विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाश्चेति पाथेयत्रय-आदाय देहादेहान्तरं प्रतिपित्सुः कथमिव प्रतिपद्यत इत्यतो दृष्टान्तपूर्वकमाह—तत्तत्रैव दृष्टान्तः । यथा येन प्रकारेणहलोके तृणजलायुका अङ्गुष्ठमात्रा सुप्रसिद्धा पिपीलिका । तृणस्यान्तमवसानं गत्वा । अन्यमाक्रममाक्रम्य गम्यमाने

तृणमग्रभागेन दृढतया गृहीत्वा तत् आत्मानमुपसंहरति । स्वकायपूर्वाधयमग्नि-
मात्रयवस्थाने स्थापयति । आक्रम्यते इत्याक्रमः । एवमेव अयमात्मा । इद-
मुपात्तंशरीरम् निहत्य पातयित्वा निश्चेष्टं कृत्वा अविद्या स्त्रीपुत्रमित्रादिवियो-
गजनितं शोकम् । गमयित्वा विहाय । अन्यमाक्रममुपादीयमानं देहाख्यमाक्र-
ममाश्रयम् आक्रम्य । प्रसारितया वामनयैव केवलतया तत्र गत्वा । -आत्मान-
मुपसंहरति । तत्रैवाहमित्यात्ममात्रं प्रतिपद्यते । न तु पूर्वदेहे ॥ ३ ॥

तद्यथा पेश्कारी पेशसो मात्रामुपदायान्यन्नवतरं
कल्याणतररूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽ-
विद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा
गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भू-
तानाम् ॥ ४ ॥

अनुवाद—सो जैसे खर्णकार मुषण की मात्रा को लेकर दूसरा नयतर और
कल्याणतर रूप को बनाया करता है । वैसे ही यह आत्मा इस शरीर को निश्चेष्ट
बना अविद्या को दूरकर दूसरा नयतर और कल्याणतर पित्र्य अथवा गान्धर्व अथवा
दैव अथवा प्राजापत्य अथवा ब्राह्मरूप को धारण करता अथवा जिसने अविद्या
को दूर नहीं किया है वह अन्य प्राणियों के शरीरों में से किसी एक शरीर को
धारण करते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थ—कोई ऊर्ध्व, कोई अधोधः, कोई मध्यस्थान को जाते हैं । यह शास्त्र
तत्त्वादि पुरुषों का विचार है । क्योंकि यह जीव कर्मानुसारी है, परन्तु न तो कोई
सर्वदा नीचे को ही गिरता और न कोई ऊपर को ही चठता जाता है इस अर्थ को
दृष्टान्त के साथ कहते हैं (तत) इसमें यह दृष्टान्त होता है (यथा) जैसे इस
लोक में (पेश्कारी) मुषण के मूषण बनानेवाले निपुण स्वर्णकार (पेशस + मात्राम्)
सोने की मात्रा कुछ हिस्से या टण्ड (उपादाय) लेकर (अन्यन्) दूसरा (नय-
तरम्) पहिले मूषण की अपेक्षा अधिक नूतन और (कल्याणतरम्) अधिक सुन्दर
(रूपम्) रूप को (तनुते) बनाता है (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के समान
(अयम्+आत्मा) यह जीवात्मा (इदं+शरीरम्) इस गृहीतदेह को (निहत्य) नि-

श्चेष्ट कर (अविद्याम्) अखिलमङ्गलप्रतिबन्धकारिणी अज्ञानतान्धकारमण्डली को (गमयित्वा) उपार्जितज्ञानरूप आलोक से अपने से दूर हटाकर अर्थात् जिसने अविद्या को नाशकर विद्यारूप ज्योति को पाया है । वह सदाचारी सुकृती जीवात्मा (अन्यन्+नवतरम्) अन्य नूतन और (कन्याण्तरम्) पूर्वापेक्षया अधिक कल्याणमाधक (रूपम्) रूप को (कुरुते) धारण करता है । वे कल्याणतररूप कौन २ हैं सो आगे कहते हैं—(पित्र्यम्+वा) जगत्पालक पितरों का रूप (वा) अथवा (गान्धर्वम्) केवल ब्रह्मसम्बन्धी गान के गानेवाले नारदादि के समानरूप (वा) अथवा (दैवम्) दिव्यगुणविशिष्ट योगियों का रूप (प्राजापत्यम्) प्रजापालन तत्पर मनुष्यों का रूप (वा) अथवा (ब्रह्मम्) ब्रह्मप्राप्ति साधनयोग्य रूप को यह जीवात्मा धारण करता है । और ये ही सब कल्याणतर रूप हैं (वा) अथवा जिसने अविद्या को दूर नहीं किया है वह (अन्येषाम्+भूतानाम्) अन्य पशुपक्षी सरीसृपादिक रूप को धारण करता है । भाव यह है कि जैसा कर्म इसका रहता है मर करके भी उसी कर्म के अनुसार वैसी योनि में प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

माप्यम्—केप्यूर्ध्वं केप्यधः केऽपिमध्यं यातीति शास्त्रतत्त्वाविदां परामर्शः कर्मानुसारिणो हि जीवाः । किन्तु न हि सर्वदाऽधोऽथ एव पतन्ति न चोर्ध्वोर्ध्वमेवोत्तिष्ठन्ति । इममर्थं सदृष्टान्तमाह—तद्यथा—पेशस्कारी सुवर्णकारः । पेशसः सुवर्णस्य मात्रां पिएटमुपादाय गृहीत्वा । अन्यन्नवतरं पूर्वस्माद्भूषणादधिकतरं नूतनम् । तथा च कन्याणरूपं ततोऽपि सुन्दरतरमङ्काररूपम् । तनुतेनिर्मिमिति । कश्चित् पट्ट सुवर्णकारः तस्यहं पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरं भूषणं सुन्दरतरं निर्माति एवमेवाऽऽत्मा । इदमुपात्तं शरीरं निहत्य निश्चेष्टं कृत्वा । अविद्यां गमयित्वा निखिलमङ्गलप्रतिबन्धकारिणीमज्ञानतान्धकारमण्डलीम् गमयित्वा उपार्जितज्ञानाऽऽलोकन स्वस्माद्दूरे प्रक्षिप्य । अविद्यारहितः कश्चित्पुरुष इत्यर्थः । अन्यन्नवतरं । पूर्वस्माज्जीर्णाच्छरीरादधिकं नवीनम् । तथा कन्याणतरं विशेषमङ्गलमाधनम् रूपं कुरुते धारयति । किं किं कल्याणतररूपमस्तीत्याकांक्षायामाह—पित्र्यम् पितृणां जगत्पालकानां सम्बन्धि । गान्धर्वं केवलब्रह्मनिपयकगीतिगायकानां सम्बन्धि । दैवं दिव्यगुणविशिष्टानां योगिनां सम्बन्धि । प्राजापत्यं प्रजापालनतत्पराणां पुरुषाणां सम्बन्धि । ब्राह्मणा पूर्णब्रह्मविदां सम्बन्धि ब्रह्मप्राप्तिसाधनयोग्यं वान्यतमं शरीररूपमयमात्मा सुकृतिः

कश्चित्कारयति । यदि स पूर्वमेव पित्र्ये शरीरेऽस्ति । तर्हि तद्विहाय ततोधिक-
 यन्याणसाधन गान्धर्वं शरीरं दद्यातीति उत्तरोत्तरयोन्यम् । यस्त्वविद्यानागम-
 यत् । सोऽन्येषां पशुपक्षिसरीसृपादीनां भूतानां प्राणिनामन्यतमं रूपं विभर्ति ।
 यथा कर्मा यथाऋतुर्भवति पुरुषः प्रेत्यापितादृशो भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमय-
 श्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आका-
 शमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽ-
 क्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदम्मयोऽ-
 दोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी
 साधुर्भवति पापकारी पापोभवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा
 भवति पापः पापेन । अथो खत्वाहु काममय एवायं पुरुष
 इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति
 तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥ ५ ॥

अनुवाद—निश्चय सो यह आत्मा ब्रह्मचेत्ता है । विज्ञानमय, मनोमय, प्राण-
 मय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय,
 अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, एवं
 सर्वमय है । जिस हेतु इदम्मय अदोमय है । अतः इससे सर्वमय कहते हैं जैसे
 कर्म के अनुष्ठान और आचरण का अभ्यासी होता है वैसा ही होता है । साधु कर्म
 करने वाला साधु होता पाप कर्म करनेवाला पापी होता है । पुण्य कर्म से पुण्यवान्
 और पाप कर्म से पापी होता है कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है जैसी
 कामना होती है वैसा ही इमको क्रतु (अध्यवसाय=व्यापार) होता है जैसा इसका
 अध्यवसाय होता है वैसा ही कर्म करता है जैसा कर्म करता है वैसा ही
 फल पाता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—जैसे इस लोक में एक ही मनुष्य आत्मा के धर्म से विज्ञानी शरीर
 के गुणों से सुन्दर और हिरण्य पशु आदिक बाह्य साधनों से धनिक कहलाना है ।

उसके गुण के अनुसार गुणी कहा गया है। इन्हीं को आगे विस्तार से वर्णन करते हैं यथा—(धै) निश्चय (सः+अयम्+आत्मा) सो यह जीवात्मा (ब्रह्म) अपने स्वभाव से ही ब्रह्मवेत्ता है अमरकोश में तथा मेदिनी में कहा गया है कि वेद, तत्त्व, तप, ब्रह्म, ऋत्विक् और बिप्र=ब्रह्मवेत्ता प्रजापति इतने अर्थों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है। अतः यहां ब्रह्मशब्दार्थ ब्रह्मवेत्ता है। पुनः यह जीवात्मा स्वभाव से कैसा है (विज्ञानमयः) सम्पूर्ण ज्ञान से भरा हुआ है इसी हेतु यह ब्रह्मवेत्ता भी है आगे इन्द्रिय के धर्म से धर्मवान् आत्मा का वर्णन करते हैं (मनोमयः) मन इन्द्रियमय=मननशक्तिविशिष्ट है (प्राणमयः) प्राण अपान समानादिक प्राणमय है। पुनः (चक्षुर्मयः) रूप ज्ञान से जयनमय (श्रोत्रमयः) शब्दज्ञान से श्रोत्रमय, इसी प्रकार गन्धज्ञान से घ्राणमय, स्वाद ग्रहण से रसनामय और स्पर्शज्ञान से त्वक्मय, अर्थात् पाचों ज्ञानेन्द्रियों से युक्त है। आगे पृथिवी आदिक पञ्चमहाभूत भी इस आत्मा के शरीर से आरम्भ होता है। और इस कारण जैसे मनुष्य पशु हिरण्यादिक से धनवान् कहलाते हैं वैसे ही इन पृथिव्यादिकों से पृथिवीमय आदि कहलाता है सो कहते हैं (पृथिवीमयः) स्थूल शरीर से यह जीवात्मा पृथिवीमय है (आपोमयः) रक्त बीर्य आदिक से यह जलमय (वायुमयः) प्राण अपान व्यान समान उदान और बाह्य वायु से यह वायुमय (आकाशमयः) अभ्यन्तर अवकाश के कारण आकाशमय और (तेजोमयः) सम्पूर्ण शरीर में उष्णता के कारण तेजोमय है, इस हेतु पञ्चमहाभूत कहलाता है। इससे यह भी जानना कि इस जीवात्मा का शरीर एक भौतिक भी होता है। (अतेजोमयः) कोई शरीर सो तेज से विलक्षण रहित है। इस हेतु यह जीवात्मा अतेजोमय है। इसी विशेषण से एक भौतिक शरीर का अनुमान होता है। पृथिवीमय आदि जब कह चुके तो “ अतेजोमय ” की क्या आवश्यकता क्योंकि पृथिवीमय आपोमय आदि कहने से ही अतेजोमय की सिद्धि होगई पुनः अतेजोमय की क्या आवश्यकता। पृथिवीमयादिक विशेषणों से सम्मिलित का भी बोध होता है। जैसे यह शरीर पृथिवीमय वायुमयादिक पञ्चमय है। अतः अतेजोमय कहने से यह सूचित होता है कि तेज तो उसमें न हो परन्तु और चारभूत हों। एवं किसी में पार्ष्व अंश न हो परन्तु अन्य २ चार अंश हों। उसे पृथिवीमय कहेंगे। अनापोमय, अवयुमय भी कह सकते हैं। और इससे यह सिद्ध हुआ कि पाचभौतिक, चातुर्भौतिक, त्रैभौतिक और ऐक-

भौतिक भी शरीर होना है । अब आगे विरुद्ध गुण कहते हैं—जैसे अग्नि में उष्ण-
त्व है शीतत्व नहीं । जल में शीतत्व है उष्णत्व नहीं । परन्तु आत्मा में उष्णत्व
शीतत्ववत् परस्पर विरुद्ध गुण भी है इसको आगे कहते हैं (काममयः + अकाममयः)
यह जीवात्मा काममय और अकाममय दोनों है जिस किसी समय राजा आदि में
अधिक काम पावे हैं और किन्हीं योगियों में काम लेना भी नहीं अभिषा वृत्तादिक
शरीर में कुछ कामना नहीं पाई जाती है (क्रोधमयः + अक्रोधमयः) क्रोधमय और
अक्रोधमय (धर्ममयः + अधर्ममयः) कोई जीव कालथावस्था से ही निज शास्त्रानु-
सार कर्म करना आरम्भ करता है । कोई विपरीत चलता है इस हेतु धर्ममय
और अधर्ममय दोनों ही हैं विशेष कहातक वर्णन करें यह जीव (सर्वमयः)
सर्वमय है । कैसे जानते हैं कि यह सर्वमय । उत्तर—मनुष्य ने कहातक सुना है,
विचार है, देखा है, अनुमान किया कहातक ही कामना करता है । वह कामना दो
प्रकार की है । ऐहिक और आधुनिक, तीसरी कामना ही नहीं अब देखते हैं कि यह
जीव ऐहिक और आधुनिक, जितनी कामनाएँ हैं उन सबों को चाहता है । इस हेतु
यह सर्वमय है इसकी कामना का कहीं भी अन्त नहीं इसको कहते हैं (यत्) जिस हेतु
(यत्) यह जीवात्मा (इन्द्रमयः) इन्द्रलौकिक सर्ववासनावासित है और (अदोमयः)
पारलौकिक सुख कामनामय भी है (तत्) उस कारण से यह सर्वमय है (इति) यह सिद्ध
हुआ कर्म से ही यह जीव उस योनि को प्राप्त होता है इस हेतु कहते हैं (यथाकारी)
जिस प्रकार के कर्मों को अभ्यास करता है (यथाचारी) जिस प्रकार के आच-
रणों का अभ्यास करता है (तथाभवति) वैसा ही वह जीवात्मा होता है । इसी
विषय को आगे विस्तृत करते हैं (साधुकारी) शुभ उत्तम कर्मों के करनेवाला
(साधु + भवति) उत्कृष्ट उच्चतर आदि होता है और (पापकारी) पाप कर्म करने-
वाला (पाप + भवति) पापी, शूद्र, श्वान आदिक होता है (पुण्येन + कर्मणा)
पवित्र वैदिककर्म से (पुण्यः) पुण्यवान् और (पापेन) पाप अर्थात् वेद विरुद्ध
कर्म के अनुष्ठान से (पापः + भवति) पापी होता है, पूर्व में कहा गया है कि पुण्य
और पाप ही ससार का साधारण कारण है । उनका भी कोई कारण कहना
चाहिये कैसे पाप वा पुण्य कर्म में प्रवृत्ति होती है, न चाहता हुआ भी चलताकर
किस प्रकार पाप में पुरुष नियोजित होजाता है, ऐसी शङ्का होती है (अयो) इस
शङ्का के अनन्तर (ग्लु + आहुः) निश्चितरूप से कोई कहते हैं कि (अयम् + पु-

रूपः) यह पुरुष (कामनायः+एव) वैदिक पारलौकिक अभिलाषा का नाम काम है उन सब कामों से यह पुरुष युक्त है महर्षि लोग कहते हैं कि क्या वैदिक क्या लौकिक जिनने कर्मों के अनुष्ठान हैं उनका मूलकारण काम ही है । क्योंकि मनन करता हुआ पुरुष जिन कामनाओं की इच्छा करता है उन कामनाओं के बशीभूत हो उन उन कामनाओं के लिये वह प्रसिद्ध होता है । जैसे किसी को बीरता की कामना है तो वह उसके लिये वैसी ही चेष्टा करेगा । और उसी वीरता के लिये उसकी प्रसिद्धि भी होगी । कामनायुक्त पुरुषों की कोई भी क्रिया नहीं होती । इसी हेतु कामना ही यह पुरुष है यह सिद्ध होता है किस रीति से कामना की वृद्धि और फल प्राप्त होता है सो कहते हैं—(सः) वह कामनायुक्त पुरुष (यथाकामः+भक्ति) जिन प्रकार की कामना से युक्त होता है (तत्कृतुः+भवति) कृतु=अध्य-वसाय=परिश्रम व्यग्रपार, कार्यतत्परता, कार्य में आसक्त होना इन सबों का नाम कृतु है । वैदिक यज्ञों का भी नामकृतु है वैना ही उसका परिश्रम होता है (यत्कृतुः+भवति) और जैसे वद्योग से वह युक्त होता है (तत्कर्म) वैसे ही कर्म को (कुरुते) करता है (यत्कर्म+कुरुते) जैसा कर्म करता है (तत्+अभिसम्पद्यते) वैसे ही फल पाता है ॥ ५ ॥

तदेव श्लोको भवति ॥ तदेव सक्तः सह कर्मणोति
लिङ्गं मनो यत्र नियुक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्कि-
ञ्चेह करोत्ययम् तस्माद्ल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इति
नु कामयमानोऽथाकामवमानो योऽकामो निष्काम आस-
काम आत्मकामा न तस्य प्राणा उत्कामन्ति ब्रह्मैव स-
न्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

अनुवाद—उसमें वह श्लोक प्रमाण होता है । इस जीवात्मा के मरण समय में अत्यन्त गमनशील अथवा लिङ्गारारोह्यमिह मन जहां आसक्त होता है वहां ही वह आसक्त हो उसी विषय के प्रति जाता है । यह वहां जो कुछ कर्म करता उस कर्म के फलों के भोग से अन्तःसमाप्त कर उस लोक से पुनरपि इस लोक में कर्म करने के लिये ही आता है । इस प्रकार कामनावाला इधर उधर मारा फिरता है

जो अवामयमान पुरुष है वह शरीर त्यागानन्तर भी अ-यत्र कहीं नहीं जाता, जो अवाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते वह पुरुष ब्रह्मविद् होकर ब्रह्मको ही पाता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(तत्) उस पूर्ववर्णित अर्थ में (एषः+रलोकः) यह रलोक (भवति) प्रमाण होता है (अस्य) इस काममय पुरुष के मरणवेला में (लिङ्गम्) अत्यन्त गमनशील लिङ्गशरीरसमुक्त (मनः) मन (यत्र) जिस गन्तव्यफल में (निष्कम्) अविशेष आसक्त हो जाता है (सक्तः)। उसी में आसक्त होकर आत्मा भी (तद्+एष) उसी फल के प्रति (कर्मणा) कर्म के साथ (एति) जाता है (अयम्) यह फल भोगासक्तजीव (इह) इस लोक में (यत्+निष्कम्) जो कुछ कर्म (करोति) करता है (तस्य+कर्मणः) उस कर्म के फल को भोग करते हुए (अन्तम्+प्राप्य) अन्ततक पहुँचकर अर्थात् उस कर्म के फल को समाप्त कर (तस्मात्+लोकान्) उस लोक से (अस्मे+लोकान्) इस मनुष्यलोक में (कर्मणे) कर्म करने के लिये (पुनः+एति) पुनरपि आता है (इति+नु) इस प्रकार (कामयमानः) कामना करनेवाले जीव इधर उधर जाया करता है। आगे निष्काम पुरुष की गति कही जायगी। भाव यह है कि उस उस भोग योनि में कर्मफल पाकर पुनरपि कर्म के लिये इसी मनुष्यशरीर में आता है पूर्वार्थ में कहा है कि कामना करनेवाला पुरुष मरणानन्तर कर्मभोग के लिये अन्य शरीर में जाता है जो कामना नहीं करता है उसकी क्या वशा होती है सो कहते हैं—(अथ) परन्तु (अकामयमानः) अलिप्त कामनारहित जो पुरुष है वह कहीं नहीं जाता यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। आगे निष्काम पुरुष के चार विशेषण कहते हैं (य) जो (अकामः) मनोहर शब्द सुन्दररूप स्वादिष्ट भोजन सुख स्पर्शादिक जो बाह्य-काम हैं उनसे रहित (निष्कामः) अन्तःकरण में स्थित जो वासनात्मक कामनाएँ हैं वे जिससे निकल गई हैं वह निष्काम इसमें भी क्या कारण (आप्तकामः) जिसने सब काम प्राप्त करलिये हैं। इसमें भी क्या कारण (आत्मकामः) जिस पुरुष को केवल परमात्मा ही काम अर्थात् कमनीय इच्छा योग्य है अन्य वस्तु नहीं। अथवा केवल परमात्मा में ही जिसका काम इच्छा है उसे आत्मकाम कहते हैं। आशय यह है कि जिसने केवल परमात्मा की ही कामना की है और उसके अनुपद से वह प्राप्त भी होगया है तब वह यथार्थ में आप्तकाम होगया। जिसने

ईश्वर प्राप्त किया उसने सब काम पालिये इसमें सन्देह ही क्या । अतएव उसे अन्य कामनाएं कुछ भी अवशिष्ट लब्धव्य नहीं रही अतः वह निष्काम है । जो निष्काम है उसे ही तो ससार में “अकाम” भी कहते हैं ऐसा जो अकाम पुरुष है उसको कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं इसमें हेतु कहते हैं—(तस्य) उस निष्कामी पुरुष के (प्राणाः) वाणी आदि इन्द्रिय (न+उत्क्रामन्ति) उद=ऊपर । क्रामन्ति=जाते हैं । जिस हेतु लोक में माना हुआ है कि मरकर के जीव ऊपर जाता है । अतः इस गमन का नाम “उत्क्रमण” अर्थात् ऊर्ध्वगमन है बहुत से प्रयोग लोकदृष्टि से होते हैं वेद दृष्टि से नहीं । ब्रह्मज्ञानी को कोई कामना नहीं रहती इस हेतु इन्द्रिय जाय तो कहा जाय । उस ब्रह्मज्ञानी की क्या दशा होती है सो आगे कहते हैं—(ब्रह्म+एव+सन्) ब्रह्मवित् होकर के ही (ब्रह्म) परमात्मा को (अप्येति) पाता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तदिति । तच्चस्मिन्नप्ये एष श्लोको भवति । अस्यादभूताभिला-
पस्याऽऽसन्नमृत्योर्जनस्य । लिङ्गं लिङ्गति गच्छतीति लिङ्गमतिशयगामिनः ।
लिङ्गं सप्तदशावयवात्मकं मनः । यद्वा प्रमात्रादिसाक्षी येन साक्ष्येण मनसा लि-
ङ्गयते तन्मनोलिङ्गम् । यत्र यस्मिन् गन्तव्ये फले निपन्नं नितरामतिशयेनासक्तं
भवति । तस्मिन्नेव मनसा प्रेरितो जीवात्मा आसक्तः सन् तदेवमनोमिलपितं
फलं प्रति कर्मणा उपार्जितसञ्चितभोगावशिष्टनिखिलकर्मफलेन सह एति
गच्छति । नन्वेतद्भोगानन्तरं कामाभावान्मुक्तो भविष्यतीत्यत आह—प्राप्येति ।
अयं जीवात्मा इहास्मिन्नलोके यत्किञ्च किञ्चित् कर्म करोति तस्य कर्मणः स-
ञ्चितघनस्येव भोगेनान्तं समाप्तिम् प्राप्य कृत्वा तस्माद्भोकात् तस्माद्भुक्त-
भोगाद्भोकात् पुनरपि एतस्मै लोकाय । एतस्मिन् मनुष्यलोके । कर्मणो कर्म-
करणार्थम् । ऐति आगच्छति । एवन्नु खलु कामयमानः संसरति कामिनः
पुरुषस्येयं व्यवस्योक्ता अकामयमानस्यत्वमेव वक्ष्यते । उक्तं पूर्वार्धे कामयमानः सं-
सरति । एतावता अकामयमानो न संसरतीत्यर्थादायाति । समं हि ब्रह्म सर्वत्र
यथा सम्राट् राजधान्यां सर्वदा वसति कदाचिदेव स्थानान्तरं प्रतिष्ठते । न
तथा ब्रह्मणः कचिदेको वासः । आकाशवदेकरूपेण सर्वं विश्वमिदमभ्यश्नुते ।
न न्यूनं नाधिकं कचिदस्ति । येत्वनात्मविद् अनौपनिषदा वैकुण्ठे वा पयो-
दधौ वा गोलोके वा गिरौ वा तदीयां वसति मन्यन्ते । तेषां वक्षांसि धृतिविरो-

धात् शिष्टाप्रवृत्त्यात् बुधबुद्धपत्नीकारादनुमानविहाद्यप्रमत्तप्रलापयद्रूपेक्षयापि ।
 सर्वप्रमाणसिद्धापामीश्वरस्य व्यापकतायां कचिदपि न्यूनाधिषयवर्जितायां ब्रह्म-
 प्राप्तो जीवः क गच्छतु । इममेवार्थं व्याचक्षते अकामयमान इति अकामयमानो
 यः खलु ब्रह्मैव कामयते न स कापि व्रजति ब्रह्मणः सर्वत्रैव तुल्यत्वेन स्थित-
 त्वात् । यत्रैव शरीरपातस्तत्रैव ब्रह्माप्तिः । अमति पातेपितरस्य ब्रह्मोपलब्धिः ।
 अग्रे चत्वारि विशेषणान्युच्यन्ते । यः पुरुषः अकामः चादशब्दाद्यर्थविषयका-
 मरहितः । तदपि कुत इत्यत आह—निष्कामः अन्तःस्था वामनात्मका कामा
 निष्क्रान्ता यस्मात्सनिष्कामः । अत्रापि हेतुः—आप्तःकामः आप्ताः कामा येन
 स आप्तकामः । अत्रापि हेतुः—आत्मकामः काम्यत इतिकामः कर्मणि घञ् ।
 आत्मा परमात्मा एव कामः कमनीय इच्छाविषयीभूतो यस्य स आत्मकामः ।
 यः खलु परमात्मानं प्राप्तः स सर्वान् कामान् प्राप्तः । अतः स आप्तकामः ।
 य आप्तकामः तेनेतरे सर्वे कामा त्यक्ताः अतो निष्कामः । यो निष्काम स
 अकाम एवोच्यते । एवं व्यावृत्तकामः कुतो न संसरति अत्र लौकिकमपि हेतुं
 दर्शयति—पतस्तस्य । प्राणा पागादयः नोत्क्रामन्ति । तर्हि स किं भूतोभवती-
 त्याह—ब्रह्मैवेति । स ब्रह्मैव सन् ब्रह्मविदेव सन् । ब्रह्म परमात्मानम् अपि एति
 प्राप्नोति । यदा साधकः ब्रह्मविद् भवति । तदा ब्रह्मापि प्राप्नोतीत्युपनिषद्
 आदवाप्तपति साधकान् ॥ ६ ॥

तदेवज्ञोको भवति । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य
 हृदिभिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ।
 तद्यथाऽहिर्निर्व्वयनी बल्मीके मृता प्रत्यस्ना शयीतैवमेवेदं
 शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणोब्रह्मैव तेज एव सोऽहं
 भवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

अनुवाद—जस विषय में यह श्लोक होता है । इस (ब्रह्म प्राप्ति कामनावाले
 पुरुष) की हृदयाभित जो कामनाएँ हैं वे जब सब प्रकार हृदय से निकल जाती हैं
 तब मर्त्य पुरुष भी अमृत होजाता और यह ही ब्रह्मानन्द में व्याप्त अर्थान् निमग्न
 होजाता । इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे सर्प की लूचा शरीर से विगलित हो ब-

स्त्री के ऊपर पड़ी रहती है । उसकी रक्षादिक करने के लिये न सर्प यत्न ही करता है और न पुनः उसे लेना ही चाहता है वैसा ही जीवन्मुक्त का यह शरीर स्थित रहता है । इसी हेतु यह जीवन्मुक्त पुरुष अशरीर और अमृत कहा जाता है और वही प्राण अर्थात् जीवन्मुक्त है । इसमें ब्रह्मस्वरूप तेज विद्यमान रहता है । इसको सुनकर जनक वैदेह ने कहा कि सो मैं आपको सहस्र गायें देता हूँ ॥ ७ ॥

पदार्थ—(तत्+एष+श्लोकः+भवति) इस ब्रह्मप्राप्ति के साधन के विषय में यह श्लोक होता है । उसका यह अर्थ है—(अस्य+हृदि+भिताः+ये+कामाः+सर्वे) जो साधक ब्रह्मप्राप्ति की साधना करना चाहता है उस मुमुक्षु पुरुष के हृदयरूप भित्ति के ऊपर रचित जो ऐहलौकिक वा पारलौकिक कामनाएँ हैं वे सब कामनाएँ (यदा+प्रमुच्यन्ते+अथ+मर्त्यः+अमृत+भवति+अन्न+ब्रह्म) जिस समय में हृदय से विलकुल निकलकर छिन्न भिन्न होजाते हैं तब मरणार्थमवाला मनुष्य भी मरणरहित होजाता है और इस शरीर में वह रहता हुआ भी ब्रह्मानन्दरूप महासमुद्र को (समरुते) अच्छे प्रकार प्राप्त करता है । अर्थात् उसमें निगमन होजाता है (इति) यह शब्द श्लोक समाप्ति चोक्त है । शङ्का होती है कि जब मर्त्यजन अमृत होगया तब भी यदि शरीर रहे तब “अमृतत्वप्राप्ति” भी व्यर्थसी प्रतीत होती है, क्योंकि शरीर के साथ वर्तमान जीवात्मा को प्रिय और अप्रिय नहीं त्यागते क्योंकि ऐसा ही कहा गया है । “सशरीर=शरीरसहित वर्तमान पुरुष के प्रिय और अप्रियों का नाश नहीं होता । जो अशरीर है उसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करने” और भी देखो । सदेह पुरुष की अशाना—पिपासा (भूखप्यास) आदि इन्द्र में जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसे कौन निवारण कर सकता है । शरीरवाले की मुक्ति नहीं हो सकती । फिर आप जीवन्मुक्त का वर्णन कैसे करते हैं इस शङ्का के निरमन के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं । (तन्+यथा) जीवन्मुक्त के देह में और जीवन्मुक्त के विषय में दृष्टान्त कहा जाता है—जैसे लोक में दृश्यते हैं कि (आदिनिर्व्वयिनी+मृता+वल्मीके अत्यस्ता+शयीत) सर्प की त्वचा मरने पर अर्थात् जब सर्प के शरीर ने छूटकर नीचे गिर पड़ती है तब भिट्टी के ढेर के स्थान में फँकी हुई पड़ी रहती है । सर्प का उस त्वचा के ऊपर कुछ भी स्नेह नहीं (एवम्+एव+इदम्+शरीरम्+शेते) इसी दृष्टान्त के अनुसार जीवन्मुक्त का यह गृहीतशरीर मृतवन् रहता है अर्थात् शरीर में जीवन्मुक्त का आस्था नहीं रहती । यहच्छया जो कुछ प्राप्त हुआ उससे निर्वाह

करते हुए योगी शरीर की चिन्ता कुछ नहीं रखते (अम+अयम्+अशरीरः+अमृतः+प्राणः) इसी कारण यह जीवन्मुक्त पुरुष शरीरवाला होता हुआ भी शरीररहितमा ही है मर्त्य होने पर भी अमृत ही है जीवन्मुक्त है । शरीरादि में उसकी अनास्था बुद्धि क्यों होती है इस पर कहते हैं—उसमें (ब्रह्म+एव+तेजः) ब्रह्मस्वरूप तेज विद्यमान रहता है । इस अनुरासन को सुनकर (जनकः+वैदेह+ह+उवाच) जनक वैदेह बोले कि (सः+अहम्+भगवते+सहस्रम्+ददागि) सो मैं आपको सहस्र गायें देता हू ॥ ७ ॥

भाष्यम्—तदिति । तत्तत्र मुक्तिप्राप्तिमाधनेऽर्थे एष रत्नोक्तः प्रमाणं भवति । अस्मात्प्रकामस्य सुमुक्तोः पुरुषस्य सर्वे कामाः । दृष्टानुभविकाभिलाषा निःशेषतो यदा प्रमुच्यन्ते प्रकर्षेण मुक्ता विगलिता हृदयदेशादपगता भवन्ति । ये वासनारूपेण हृदिश्रिताः हृदयरूपायां भित्ती खण्डिताः सन्ति । ते च कामा उत्थायोत्थाप ज्ञानिनमपि भ्रमयन्ति । अतस्ते समूलतः प्रथमं निःसारयितव्याः । विगलितेषु कामेषु किं भवतीत्याकांक्षायामाह—अपेति । अथ मर्त्योपि मरणधर्मोपि मनुष्यः । अमृतोऽमरो भवति । किं तदमृतत्वं क्व वेत्यत आह—अत्रास्मिन्नेव शरीरे जीवन् सञ्जेवैर्यः । ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मदर्शनं साक्षात् सम्यक्क्रया प्राप्नोति । यद्वा ब्रह्मानन्दम् । सम्यग् अश्नुते व्याप्नोति “अश्नुयासौ संघाते च । धूमनेव कामेन विहीनः साधको वह्निरिव प्रकाशते । एवं तदा वास्तव ब्रह्मानन्दमनुभवितुं समर्पो भवतीत्यर्थः । इतिशब्दः रत्नोक्तं समाप्तिमुच्यते । ननु मर्त्येऽमृतं जातेपि यदि शरीरं विद्येत्तर्हि अमृतत्वप्राप्तिर्वर्था प्रतीयते । नहि सशरीरं पुरुषं प्रियामिये त्यजतः । तथाहि—“न वै सशरीरस्य स्मृतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वा यस्तन्त न प्रियाप्रिये स्मृशतः” अन्यच्च सदेहस्य अशनापिपासादिद्वन्द्वे-स्वाभाविकीं प्रवृत्तिं निवारयितुं कोऽर्हति । सशरीरस्यामृतत्वोपलब्धिरेव निर्धारयितुं न शक्यम् । अस्या विचिकित्सायामाहुः तत्तत्र जीवन्मुक्तदेहे जीवन्मुक्ते च दृष्टान्तो ययालोके—अहिर्निर्व्वयिनी अहिः सर्पः तस्य निर्व्वयिनी त्वक् सा अहिर्निर्व्वयिनी । मृता सर्पशरीरप्रधस्ता । पुनः बलमीके पिपीलिकानिमित्ते मृत्तिकापुञ्जे बलमीकोपलक्षितं स्वस्थाने इत्यर्थः । प्रत्यस्ता प्रचिक्षा अनायासेन त्यक्तासती । शयीत उपेक्षणीया भवति सर्पेण । त्यक्ता त्वत्वं न पुनः सर्प आदित्सति । एवमेव इदं

स्थूलं शरीरं जीवन्मुक्ते न त्यक्तं मृतमिव शेते सम्बन्धविवर्जितं तिष्ठति । सत्य-
पिशरीरे अनास्था बुद्धिर्जायते । यदृच्छया प्राप्तचा वृत्त्या जीवन् तिष्ठति । अथा-
स्मात्कारणात् अयं जीवन्मुक्तः सशरीरेऽपिसन् । अशरीरः । मर्त्येऽपि अमृतः
प्राणः प्राणिति जीवतीति प्राणोजीवन्मुक्तः कयं शरीरेऽनास्थेत्यत आह—ब्रह्मै-
वेति । तस्मिन् ब्रह्मैव तेजो वर्तते । तस्मिन् पुरुषे ब्रह्मस्वरूपनेजो वर्तते । अतो-
नान्यत्किमप्यपेक्षते । शरीरे तिष्ठन्नपि ब्रह्मैव समरन्तुते । इत्येवमनुशासनं श्रुत्वा
सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनकः ॥ ७ ॥

तदेते श्लोका भवन्ति । अणुः पन्था विततः पुराणो
मां स्पृष्टोऽनुवित्तोमयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्ग
लोकांस्त ऊर्ध्वा विमुक्ताः ॥ ८ ॥

अनुवाद—इस विषय में ये श्लोक प्रमाण होते हैं । अणु सर्वत्र विस्तीर्ण और
पुरातन जो पथ है मुझे यह प्राप्त हुआ है, मैंने ही इसको विचार है वा प्रचार किया
है उस पथ से अन्य ब्रह्मविद् धीर जीवन्मुक्त पुरुष इस शरीरपात के अनन्तर ही
स्वर्गलोक को जाते हैं ॥ ८ ॥

पदार्थ—(तत्+एते+श्लोकाः) उस विषय में ये वक्ष्यमाण श्लोक प्रमाण हैं ।
यहां कोई मुनि ब्रह्मविद्यारूप मार्ग का वर्णन करते हैं (अणु+विततः+पुराणः) अ-
निसूक्ष्म यह मार्ग सर्वत्र फैला हुआ है । किसी को यह शङ्का न हो कि यह कोई
नवीन मार्ग है । अतः कहते हैं कि पुराण अर्थात् वेदविहित है ऐसा जो (पन्थाः+
माम्+स्पृष्टः) ब्रह्मविद्यारूप मार्ग है उसने मुझको दर्शा किया है अर्थात् वह सूक्ष्म
मार्ग मुझे प्राप्त हुआ है तो क्या वह मार्ग स्वयं कृपा करके आप के निकट आगया
इस पर कहते हैं—नहीं किन्तु (मया+एव) वडे परिश्रम से मैंने इसको पीछे
विचार है अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि अनेक विधि कर्म के अनन्तर
मैंने इसको जाना है । क्या इसको अन्य भी कोई जानते हैं वा नहीं इस पर कहते
हैं—(अपि+ब्रह्मविदः+धीराः+तेन+स्वर्गम्+लोकम्+यान्ति) अन्य ब्रह्मविद् परमा-
त्माविज्ञानी निश्चल पुरुष भी उसी सूक्ष्ममार्ग से सुखमय धाम को जाते हैं । कब जाते
हैं और क्या इस शरीर के ही साथ जाते हैं इस सन्देह को दूर करने के लिये
कहते हैं कि (इतः+ऊर्ध्वा+विमुक्ताः) इसके अनन्तर अर्थात् इस स्थूलशरीर के

छूटने के अनन्तर ही सब बन्धनों में विमुक्त हो स्वर्गलोक को जाते हैं । अथवा जीवन्मुक्तजन शरीरपात के अनन्तर इस मार्ग से जाते हैं ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एते श्लोकाः प्रमाणानि मयन्ति । एष पन्थाः । मां स्पृष्टः प्राप्त इत्यन्वयः । कथंभूतः अणु सूक्ष्मो न स्थूलदृष्टिभिर्गम्य इत्यर्थः । विततः सर्वत्र विस्तीर्णो व्याप्तः । पुराणः नित्यवेदप्रकाशितत्वात्मान्य इत्यर्थः । किमी जनानुग्रहेण स्वय एव त्वां प्राप्त इत्यत आह—अनुवित्त इति मयैव नान्यैरित्यर्थः । अनुवित्त आचार्यानुशासनस्य वेदानाञ्च पानः पुनिकमननान्तरं विचारितः प्राप्त इत्यर्थः । यद्वा पुराणोऽप्यं पन्थाः । अस्मिन् युगे मयैव अनुवित्तः निष्ठां प्राप्तितः । एवेऽयमन्ययोगव्यवच्छेदार्थो न मन्तीत्याभिप्रेत्याऽऽह तेनेति । अन्येपि ये ब्रह्मविदो ब्रह्मज्ञानिनो ब्रह्मविदन्ति जानन्ति ये ते ब्रह्मविदो धीरा निर्द्वन्द्वा साधने निश्चलाः विमुक्ता जीवन्मुक्ताः सन्ति । ते इतोऽस्माद्देहपातात् । ऊर्ध्वमनन्तरमेव तेन ब्रह्मनिद्यामार्गेण । स्वर्गं लोकं परमानन्दस्वरूपमेव लोकं । यान्ति गच्छन्ति ॥ ८ ॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितञ्च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हामुवित्तस्तेनेति ब्रह्मविष्णुशकृत्तैजसश्च ॥६॥

अनुवाद—उस मार्ग के विषय में कोई इस मार्ग को शुक्ल, कोई नील, कोई पिङ्गल, कोई हरित, कोई लोहित कहते हैं । यह पच ब्रह्मविन् सुप्रसिद्ध ब्राह्मण ने प्रतिष्ठित किया है । ब्रह्मविन्, पुण्यकृन् और तैजस पुरुष इस पथ से परमानन्द को पाते हैं ॥ ६ ॥

पदार्थ—(तस्मिन्+शुक्लम्+आहुः+उत+नीलम्) उस पूर्वोक्त पथ के विषय में कोई यह पच शुक्ल=अर्थात् शुद्ध है ऐसा कहते हैं अथवा कोई इसको शरद्वस्तु के मेघ के समान नील पतलाते हैं । कोई (पिङ्गलम्+हरितम्+लोहितम्+च) अग्नि की ज्वाला के समान पिङ्गल कहते हैं । कोई वैदूर्य मणि के समान हरित कोई ज-पाशुसुमनुन्य रक्त कहने हैं (ह+ब्रह्मणा+एषः+पन्थाः+अनुवित्तः) जिसने सब एषणा-ए त्याग दी हैं तत्त्व विचारे हैं शास्त्रवेद जान गये हैं ऐसे ब्रह्मविद् ब्राह्मण ने यह पथ (अनुवित्त) बहुत विचार करके पश्चात् निश्चित किया है (ब्रह्मविन्+पुण्यकृन्+तैजसश्च)

बन्धनैः जनः तैः तैः मुनि) ब्रह्मवेत्ता पुण्य करनेवाला और तेजस्वी मुनि उन पय से मोच पाते हैं ॥ ६ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यार्या रताः ॥ १० ॥ अनन्दा नाम ते लोका अन्वेन तमसाऽऽवृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्य विद्वांसोऽबुधो जनाः ॥ ११ ॥ आत्मानं चेद्विजानीयादय-मस्मीति पूरयः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुस-ञ्जरेत् ॥ १२ ॥

अनुवाद—वे अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं, जो अविद्या की उपामना करते हैं । उनमें भी अधिक तम में वे प्रविष्ट होते हैं जो केवल विद्या में ही रत रहते हैं ॥ १० ॥ जो लोक अज्ञान वा अंधकारात्मक महा अन्धकार से सदा आवृत रहते हैं वे अनन्द नाम में प्रसिद्ध हैं अर्थात् उनका नाम अनन्द है । जो अविद्यान् और अवोद्धा जन हैं वे मरकर उनका ही भात होते हैं । अर्थात् वे मरने के अनन्तर उन्हीं अज्ञानीजनों में वा अन्धकारावृत सुखों में उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥ मैं यह हूँ, इस प्रकार से प्रत्यक्ष करके यदि कोई पुरुष उस परमात्मा को जाने तब पुनः किम वस्तु की कामना के लिये क्या इच्छा करता हुआ शरीर के पीछे स्वयं भी दुष्वित होते ॥ १२ ॥

पदार्थ—वे (अन्धम्+तमः+प्रविशन्ति) अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं (वे+अविद्याम्+उपासते+ततः+भूयः+इव) जो अविद्या की उपामना करते हैं, उनमें भी मानों विद्याग्राम अधिक (तमः+तैः+भ्ये+इ) तम में वे प्रविष्ट होते हैं जो निश्चय (विद्वांसो+रताः) विद्या में ही रत हैं ॥ १० ॥ लोक-लोक शब्द के अनेक अर्थ हैं (लोकस्तु भुवनेजने) भुवन और जन अर्थ में प्रायः इसका अधिक प्रयोग है । जैसे श्रुतिवलोक, अन्नस्त्रिलोक आदि । और मनुष्य अर्थ में भी यह बहुत प्रयुक्त होता है । मनुष्य में भी कोई २ ऐसे अज्ञानी होते हैं कि वे ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं जानते, अभी तक कोल भक्ति और ऐस्किनिवार्मा पशुओं के समान ही हैं । मन्वदेश में भी विद्वान् के गृह में कोई २ बड़े मूर्ख उत्पन्न होते हैं यह प्रत्यक्ष ही है । बहुतसे स्थान ऐसे हैं जहाँ सूर्य की किरण अथवा सूर्य की

उपगता भी नहीं पहुँच सकती है अति गभीर समुद्र के समे उग्राता नहीं पहुँचती है । अन्य भी ऐसे उन्नत स्थान होंगे इस हेतु दोनों अर्थ यहाँ हो सकते हैं (लोकाः+अन्धेन+तमसा+आवृताः) जो जनमनुष्य अथवा स्थान अन्धा बनानेवाले अज्ञानरूप वा अप्रकाशरूप तम से ढके हुए हैं (से+अनन्दाः+नाम) वे लोग अनन्द=आनन्दरहित कहलाते हैं (आविद्वाम्) जो अज्ञानी हैं । वे सब सामान्य अज्ञानी नहीं हैं किन्तु (अवुर+जना+ते+प्रेत्य+तान+अभिगच्छन्ति) जो कुछ नहीं समझ सकते हैं ऐसे जो मनुष्य हैं वे अज्ञानी मनुष्य मर करके उनको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् उन्हीं अन्धकारावृत मनुष्यों में अथवा स्थानों में जन्म लेते हैं ॥ ११ ॥ (अयम्+अस्मि+इति) यह मैं हूँ अर्थात् प्रायः अज्ञानी से अज्ञानी पुरुष भी यह समझता है कि मैं गौर, मैं कृष्ण, मैं गरीय, मैं रोगी, मैं विद्वान् हूँ इत्यादि । यहाँ यह उदाहरण इसलिये कहा गया है कि प्रायः सब कोई अपने स्वरूप को प्रत्यक्षरूप से जानता है । सो जिस प्रकार अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष जानता है कि मैं यह हूँ इसी प्रकार से अर्थात् प्रत्यक्षतया (चेत्+पुरुष+आत्मानम्+विजानीयात्) यदि कोई पुरुष उस परमात्मा को जानलेवे । तब वह कदापि भी शरीर पाकर दुःख नहीं पाता है इसको आगे कहते हैं—तत्र वह परमात्मविस्फुर (किम्+उच्छ्रित+कस्य+शरीरम्+अनुमन्धरेत्) क्या इच्छा करता हुआ किम् पदार्थ की कामना के लिये शरीर के पीछे हुआ होवे । अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के अनन्तर पुरुष को कोई भी इच्छा नहीं रहती । जो कोई इच्छा ही नहीं तब पुनः किस कामना लिये शरीर को धारण करेगा । क्योंकि इच्छा की पूर्ति के लिये ही शरीर धारण है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अन्धमिति । प्रशस्तनिधामार्गप्रवृत्त्यर्थमज्ञानादि निन्दति । अन्धयत्नान्धमवरोधात्कं भयजनकं । तमः तमउपलक्षितां तमः प्रधानानां वृत्तादियोनिं ते प्रविशन्ति प्रपद्यन्ते । सर्वदेव अज्ञानप्रधानयोनिमाश्रित्य तिष्ठन्तीत्यर्थः । के ? ये अनिद्यमुपासते । ज्ञानोपार्जनकेवलसाधनीभूतां मनुष्ययोनिं प्राप्यापि ये सद्विद्यां नोपासते । अज्ञानतामेव बहु मन्यन्ते ज्ञानोपार्जनेन किं सेत्स्यन्तीति वदन्तः । ननु विद्यावन्तोपि केचिदज्ञानिन इव निष्क्रिया निस्तब्धा अभिमानिनो दृश्यन्ते । तर्हि किं विद्याया अवर्द्धेष्टं विद्यावन्तमपि निन्दन्ति । ते ततस्तस्माद विद्यावन्तोपि । भूय इवाधिकमिदं तमः प्रविशन्ति । के ? ये उत

विद्याधारताः । ज्ञानं प्राप्यापि लोभाद्वा देशाचारमयाद्वा आर्त्तस्याद्वान्यस्मात्कारणाद्वा तन्नुकूलं नानुतिष्ठन्ति । यद्वा विद्यायामेव रता न कर्मणीत्यर्थः । यथा नवीना वेदान्तिनो ज्ञाने वर्तमाना अपि न कांचित् शुभामपि क्रिया मनुतिष्ठन्ति अहं ब्रह्मास्मीति वदन्तः । ते तु अन्धतामसीं योनिं प्रविशन्ति । यस्या आमहाकल्याणोद्धारः । अतो नाज्ञानमिर्भाव्यं न च विद्यामिमानिभिर्भूत्वा कर्म त्याज्यम् ॥ १० ॥ लोकस्तु भुवने जने । मनुष्येष्वपि मन्त्यनेके पशुसमानाः । कोला भीला आफ्रिकानिवासिनश्चेदानीमपि नेश्वरे किमपि जानन्ति सम्ये समाजे गृहे चापि जडमतयः सर्वथा विवेकशून्यमनमश्च बहवो दृश्यन्ते । ते नूनमज्ञानान्धतममैरावृत्ताः सन्ति । कतिचित्समुद्रा ईदृशा गभीराः सन्ति येषां तलं रवेः किरणा उष्णतावापि न प्राप्नुवन्ति । तत्रापि श्रूयते जीवनिकायोद्भावः । सूर्यस्य प्रकाशेन रहितानि भुवनान्यपि महामहाश्रयान्वितायां जगत्सां भवितुमर्हन्ति परः शतानि । अतो लोकशब्देन द्वयमपि ग्राह्यं भुवनं जनश्चेति । अयमन्त्रार्थः । ये लोका जना भुवनानि वा । अन्धेनान्धकारिणा । तमसा अज्ञानस्वरूपेण । अप्रकाशस्वरूपेण वा आवृता आच्छादिताः सन्ति । ते लोका लोके घेदे च अनन्दा नाम प्रसिद्धाः । नन्द आनन्दो न विद्यते नन्दो येषां ते अनन्दा अनानन्दा आनन्दरहिता इत्यर्थः । एतद्वर्णनप्रयोजनमाह—ये जना अविद्वांसो न केवलं सामान्यतोऽविद्वांसः किन्तु अबुधः अबोद्धारः सन्ति न बुध्यन्त इत्यबुधः ते प्रेत्य मृत्वा । तानुज्ञान् लोकान् । अमिगच्छन्ति ग्रामु-वन्ति अन्धतममाऽऽवृतेषु जनेषु भुवनेषु वा भूयो भूय वदमवन्ति । हे जना विद्वांसो बोद्धारश्च भवतेत्युप दिशति ॥ ११ ॥ आत्मानमिति—अज्ञानितरोपि—अहं गौरोस्मि, अहं कृष्णोस्मि, अहम् किञ्चनोस्मि, अहं रुमः, अहं सुखी, अहं विद्वानित्यपरोक्षतयावैति । अतः श्रुतिः स्वानुपवविषयीभूतवस्तुद्वारेण बोधयितुं प्रवर्तते । तथाहि अयमास्मि अहं गोगेस्म्यहं कृष्णोस्मीति मत्प्रत्ययवत् । यः कश्चित्पुरुषः पुरुषः । आत्मानं परमात्मानं निग्रहानुग्रहसमर्पमान-न्दराशिं ब्रह्म विजानीयाच्चेत्तर्हि न पुनरपि विनते प्रकृतिपाशे पतेत् । एतदेवाह—अपरोक्षतयाऽखिलाधारस्य ब्रह्मणो विज्ञानानन्तरम् । कस्यापूर्वस्य पदार्थस्य कामाय लामाय ज्ञाते ब्रह्मणि अपूर्वपदार्था मावात् । किमिच्छन् । किमिच्छन् किमिच्छतं किमिच्छतं किमिच्छादितम् किमिच्छन् किमिच्छन् वस्तु इच्छन् काम-

यमानः सन् शरीरं मनुमच्छरेत् । शरीरतापमनुष्येव ॥ १२ ॥

यस्यानुचितः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्सन्देहे महने प्रविष्टः । सविश्वकृतस हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उलोक्य एव ॥ १३ ॥ इहैव सन्तोऽयं विद्वस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥ १४ ॥

अनुवाद—जिम साधक का जीवात्मा विचारवान् और प्रतिबुद्ध परमज्ञानी हो गया है जो आत्मा इस गंदे शरीर में प्रविष्ट है । वह साधक विश्वकृत् बहुत कुछ कर सकता है । क्योंकि वह सब पदार्थ का कर्ता है इसी का लोक है । यह लोकस्वरूप ही है ॥ १३ ॥ यदि हम लोग यहां ही रहते हुए इसको जानते हैं तो हमारी कृतकृत्यता है । यदि नहीं जानते तो बड़ी हानि है क्योंकि जो उसको जानते हैं वे अमृतरूप होते हैं अन्य पुरुष दुःख को ही पाते हैं ॥ १४ ॥

पदार्थ—हम श्लोक से परमात्मज्ञानी की परम प्रशंसा करते हैं । इसको संस्कृत में अयंवाद कहते हैं (अयं+आत्मा) जिम साधक का जीवात्मा (अनुचित+प्रतिबुद्ध) बहुत श्रवण मनन निदिध्यासनादि व्यापार के पीछे परमविचारवान् हुआ है और प्रत्येक पदार्थ का ज्ञानी अथवा परमात्मा के प्रति जो बुद्ध अर्थान् सर्वज्ञता को प्राप्त किया है । जो आत्मा (अस्मिन्+महने) एक कठिन (सन्देहे) देह में प्रविष्ट है (सन्+विश्वकृत्) वह सब कार्य कर सकता है (हि+सन्+सर्वेत्यकर्त्ता) क्योंकि वह सबका कर्ता है (तस्य) उसी का लोक है (सन्+लोक+एव) वहीं लोक ही है यह निश्चय है ॥ १३ ॥ मुनि कहते हैं यदि (वयम्+इह+एव) हम लोग इसी शरीर इसी मनुष्य लोक में (सन्+अयं+तन्+विद्मः) रहते हुए किसी प्रकार से तम ब्रह्म को जानते हैं तो ठीक है (नन्वेत्) यदि यद्वा रहकर नहीं जानते (अवेदिः) तब हम लोग अज्ञानी रहेंगे तब हमसे (महती) बड़ी (विनष्टिः) हानि होगी क्योंकि शास्त्र की यह मर्यादा है कि (ये+तन्+विदुः) जो इस परमात्मा को जानते हैं (ते+अमृता+भवन्ति) वे अमर होते हैं (अयं+इह+एव+तन्+वयम्+एव+अपि+यन्ति) और जो लोग नहीं जानते हैं वे दुःख को पाते हैं ॥ १४ ॥

भाष्यम्—यस्येति । अनेन श्लोकेन परमात्मविदं बहुतरं प्रशंसति । जनानां प्रवृत्त्यर्थमर्थवादः प्रक्षिप्यते । यस्य साधकस्य आत्मा जीवात्मा अनुवि-
तोस्ति श्रवणमनननिदिध्यासनादिकर्मयोगसाधनं कृत्वा अनुपश्चात् । विचो-
विचारयान् संवृत्तः । पुनः प्रतिबुद्धः । प्रत्येकसूक्ष्मातिसूक्ष्मतरपदार्थस्य ज्ञानी ।
यद्वा परमात्मानं प्रति बुद्धः सर्वज्ञतां प्राप्तः परमात्मयोगेन सर्वज्ञो जात इत्यर्थः ।
कः आत्मा ? यः अस्मिन् सन्देहे शरीरे प्रविष्टः संदिह्यते तेजोवज्रादिभिर्भूत-
रुपचीयते यः सन्दधोदेहः । यकारश्चानन्दसः । किंभूते सन्देहे । गङ्गे आ-
ध्यात्मिकाद्यनेकार्थमकीर्णान्धादुर्विज्ञेये । एतेन स्थूलदेहोपाधिविशिष्टः सन्नेवा-
त्मा अनुविक्तः प्रतिबुद्धो भवति न सूक्ष्मशरीरविशिष्टः इति सूचितः । फलमाह—
स इति । सः विश्वं मयं करोतीति विश्वकृत् प्रायः स जगद्रचनायज्ञं सर्वं कर्तुं
समर्थः । हि यतः स लोकेऽपि सर्वस्य कर्त्ता दृश्यते । यथा वपिलादयः । तस्य
सर्वो लोकः तस्यैव सर्वो लोको वर्यो भवति । स उ लोक एव । स तु सर्व-
लोकस्वरूप एव । अयं निजः पगोवेति भेदज्ञानविपर्यस्तत्वात् स्वात्मवत्सर्वं
पश्यति । इतरे च स्वाभिमतया तं पश्यन्ति । अत्र परमहंसो निदर्शनम् । इदानी-
न्तनेपि समये यत्रैव परमहंसो व्रजति । तत्रैवाभिमतया दृष्टा । शिशवोपि तत्रमा-
नन्दं क्रीडन्ति । विद्वांसो मीमांसन्ते । स्त्रियो न व्रणन्ते । न च कामिनीं दृष्ट्वा
॥ स्वयं विकुरुते । आत्मवदेव सर्वस्तं पश्यति स सर्वम् । अहो आत्मज्ञानिनां
चरितम् ॥ १३ ॥ इति—मनुष्ययोनिरेव विद्यायाधिनी । येन प्राप्येमां साधी-
यसीं विद्या साधिता तस्य माङ्गल्यस्य नावधिरित्यनुक्रोशाद्वातसल्याच्च शिक्षते-
श्रुतिः । इहैव शरीरे सन्तोवर्चमानाः कामादिरहिता भूत्वा वयम् । यदि परमा-
त्मानमप्य कथंचिद्विश्रो जानीमस्तर्ह्यस्माकं कृतकृत्यता स्यात् । न चेद्देविनव-
न्तः । तर्ह्यस्माकम् । महती अनन्तपरिमाणा जन्ममरणलक्षणाविनिर्दिष्टनाशः
स्यात् । न पूर्वोक्तादन्यतमसादुद्धार आप्रलयात् । विनष्टौ हेतुमाह—अवेदिः ।
वेदनं वेदः सोऽस्यास्तीति वेदिर्वैद्यव वेदिर्नवेदिरवेदी । अज्ञानी विद्याया अ-
भावादर्यादहमज्ञानी भविष्यामि । अत्र जातावेकवचनम् । वयं सर्वे अज्ञानिनो
भविष्यामः । तस्य फलं ध्रुवा महती विनष्टिः । शास्त्रस्य त्वैव नियमः—ये
तद्ब्रह्मविदुः ते अमृता भवन्ति । अयं पुनर्ये न विदन्ति । ते इतरे अज्ञानिनः
दुःखमेव ऋणमेव अपि यन्ति प्रपद्यन्ते ॥ १४ ॥

यदेन मनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूतभ-
व्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥ यस्मादर्वाक्संवत्सरो-
ऽहोभिः परिवर्त्तते । तद्देवा ज्योतिषा ज्योतिरायुर्होषासतेऽ-
मृतम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—जब साधक साधन के पश्चात् इस आत्मदेव को देखता है जो
भूत भविष्यत्का अनुशासन करावाला है । तब यह उस कारण में किसी की निन्दा
नहीं करता है ॥ १५ ॥ दिन और रात्रियों के साथ यह सवत्सरकाल जिसके पीछे
ही घूम रहा है । जो ज्योतियों का भी ज्योति आरु और अमृत है उसकी उपासना
विद्वान्गण करते हैं ॥ १६ ॥

पदार्थ—(यदा+अनु+अञ्जसा) जब आचार्य के उपदेश के अनुसार
अनुष्ठान के पश्चात् साधक साक्षात् (यस्मात्+आत्मानम्+देवम्) इस परमात्मदेव को
(परयति+ततः+न+विजुगुप्सते) देखता है या जान लेता है तब इस आत्मा के
साक्षात्कार के कारण किसी जीव से घृणा नहीं करता या किसी जीव की निन्दा
नहीं करता है ॥ १५ ॥ यहा यह शङ्का होती है कि ईश्वर के पहिले काल या तो तब
ईश्वर उस काल का स्वामी कैसे होमकता है इस पर कहते हैं (अहोभिः+सवत्सर*)
दिनों के साथ अर्थात् रातदिन अपने अवयवों से उपलक्षित सवत्सररूप काल
(यस्मात्+अर्वाक्+परिवर्त्तते) जिस परमात्मा के पीछे ही घूमता है । (ज्योति-
षाम्+ज्योति+आयु+अमृतम्+ह+तत्+देवा+उपासते) सूर्य्य अग्नि विष्णु आदि
ज्योतियों का भी ज्योति अर्थात् प्रकाशक है और सम्पूर्ण जगत् का आयु देनेवाला
भी वही है और अमर=मरण धर्मरहित है, निश्चय उसी परमात्मा की विद्वान्गण
उपासना करते हैं ॥ १६ ॥

भाष्यम्—यदेति । यदा साधनात्परिपक्वतिः सन् । अनु पश्चात् भूतभ-
व्यस्य कालत्रयस्य । ईशानं स्वामिनम् । देव द्योतनात्मकम् । आत्मानं परमा-
त्मानम् । अञ्जसासाक्षात् परयति जानाति । ततस्तदा परमात्मदर्शनमासित-
ज्ञानात् । न विजुगुप्सते नेम पन्थान विद्यावाच्य निन्दति ॥ १५ ॥ यदिति अत्र
शङ्कन्ते प्रागीयरात्कालस्य विद्यमानत्वात् कथमीश्वरस्तस्य शासितेत्यत उत्तरं
पठनि । अय सवत्सरः । अहोभिरहोरात्रावर्त्तरूपलक्षितः सन् । यस्मादीश्वरात्

रात् अर्वाक् पश्चादेव । परिवर्त्तते भ्राम्यति । न तमपि परिच्छिन्नन्तीत्यर्थः । दिग्देशकालानदच्छिन्नत्वादीश्वरस्य । तथा च योगसूत्रं स हि पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । तद्ब्रह्म देवाविद्वांसः उपासते । कथंभूतम् ज्योति-
पामादित्यादीनामपि । ज्योतिः प्रकाशम् । आयुः । जीनाः सूर्यादायुः प्राप्नु-
वन्तीति प्रवादनिरसनाय आयुरिति विशेषणम् । ब्रह्मैवायुःप्रदमपि । अमृतम्
अमृतप्रदम् । अतः सर्वथैवोपासनीयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव
मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥ प्राणस्य
प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत ओत्रस्य ओत्रं मनसो ये मनो विदुः ।
ते निचिक्वुर्ब्रह्म पुराणमग्रथम् ॥ १८ ॥

अनुवाद—जिसमें पञ्च पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित हैं उसी को परमा-
त्मा समझता हूं मैं विद्वान् उसी को ब्रह्म मानता हूँ । मैं अमृत उसी को अमृत
मानता हूं ॥ १७ ॥ जो साधक प्राण के प्राण को चक्षु के चक्षु को ओत्र के ओत्र
को और मन के मन को जानते हैं उन्होंने ही पुराण और अग्रथ ब्रह्म को निश्चि-
तरूप से जाना है ॥ १८ ॥

पदार्थ—(यस्मिन्+पञ्च+पञ्चजनाः+पञ्च+पञ्चजनाः+आकाशः+च)
जिस परमात्मा में पञ्च प्रकार के मनुष्य अर्थात् गन्धर्व पितर देव अमुर और
राक्षस अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और पञ्चम निपाद अथवा पांच पञ्चजन
नामक अर्थान् उच्यते प्राण चक्षु ओत्र और मन और आकाश (प्रतिष्ठितः+तमेव+
आत्मानम्+मन्ये+अमृतः+अमृतम्) प्रतिष्ठित हैं उसी को मैं परमात्मा मानता हूं
अमर मैं उसी को अमर मानता हूं ॥ १७ ॥ जो जीवात्मा (प्राणस्य+प्राणम्+
चक्षुषः+चक्षुः+उत) प्राण का भी प्राण और चक्षु का भी चक्षु और (ओत्रस्य+
ओत्रम्) ओत्र का भी ओत्र (मनसः+मनः+ये+विदुः+ते+पुराणम्+अग्रथ+ब्रह्म+
निचिक्वुः) और मन का भी मन है ऐसे जीवात्मा को अनुमान के द्वारा जो
जानते हैं उन्होंने ही पुराण सर्वश्रेष्ठ वा सन के प्रथम परमात्मा को निश्चय किया
है । इसमें सन्देह नहीं ॥ १८ ॥

माध्यम्—यस्मिन्निति । अत्र निरुक्तं पञ्चजना मम होत्रं जुषन्वम् इति मन्त्रप्रतीकमुपगम्याहयास्को गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो-
वर्णा निपादः पञ्चम इत्यौपमन्यसो निपादः कस्माच्चिपदनो भवति निपण-
मस्मिन् पापकमिति । अमरकोशस्तु मनुष्यपर्यायेषु पञ्चजनशब्दं पठति
मनुष्या मानुषा मर्ता मनुजा मानवा नराः । स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः
पुरुषा नरः ॥ १ ॥ सप्त सप्तर्षयोद्गमाश्चिन्नौ अष्टौ वसत्र इत्यदिवत्प्रयोगो
ज्ञातव्यो यद्वा षोडश रलोकोक्तं ज्योतिर्वक्ष्यमाणाष्टादश रलोकोद्गमाश्चक्षुः
श्रोत्रमनांसि इमानि पञ्चवस्तूनि ग्राह्याणि । अथ रलोकार्थः—यस्मिन् परमा-
त्मनि । पञ्च पञ्चसंख्याकाः पञ्चजनाः मनुष्या उक्तं गन्धर्वादयो यद्वा ज्यो-
तिरादयः । पञ्चजनाः पञ्चजनसंज्ञकाः । प्रतिष्ठिताः । अकाशश्चाव्याकृताख्यः
सूत्राधारभूतः प्रतिष्ठितः । तमेवात्मानं ब्रह्मामृतम् । विद्वानमृतो जीवात्माऽहं
मन्ये स्वीकरोमि नान्यदित्यर्थः ॥ १७ ॥ ये साधकाः प्राणस्य प्राणं प्राणदः ।
उतचक्षुषश्चक्षुर्दशनशक्तिप्रदम् । एवं श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसोमन ईदृशं जीवात्मानं ये
निदुस्त एव पुराणंचिरन्तनमग्रयमग्रेभनम् । ब्रह्म निधिवयुः निश्चयेन ज्ञातवन्तः ।
ये अग्रयमं जीवात्मानं विदग्धि स एव पश्चात् परमात्मानं निधिन्यन्ति ॥ १८ ॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स
मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥

अनुवाद—बह प्रश्न मन से ही दर्शनीय है उसमें किञ्चित् भी अनेकत्व नहीं
जो इसमें अनेकत्व सा देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को पाता रहता है ॥ १९ ॥

पदार्थ—अब ब्रह्मदर्शन का साधन कहते हैं (अनु) पश्चात् अर्थात् आचा-
र्य्य की शिक्षा के अनुसार श्रवण मनन और निदिध्यासन आदि व्यापार के पश्चात्
(मनसा+एव+द्रष्टव्यम्+इह+किञ्चन+नाना+न+अस्ति) एकाम शुद्ध चरीकृत मन
से ही अन्य इन्द्रियों से नहीं वह दर्शनीय है इस द्रष्टव्य ब्रह्म में कुछ भी अनेकत्व
भेद नहीं है अर्थात् अनेक ब्रह्म नहीं एक ही है जैसे कोई अज्ञानी सूर्यादिकों को
या इस संसार को भी ब्रह्म मानते हैं कोई उसी शुद्ध ब्रह्म को अनेक भेद करके
विराट् दिरण्यगर्भ ईश्वर जीव मानते हैं कोई ब्रह्मा विष्णु महेश के भेद से तीन
ब्रह्मा को मानते हैं, इस प्रकार के ब्रह्मत्रिपय में जो अनेक प्रवाद हैं उन सबों के

एण्डन के लिये “नेह नानास्ति किञ्चन” कहा है । आगे नानात्व देखनेवाले की निन्दा करते हैं (यः) जो अज्ञानी (इह+नाना+एव+पश्यति+सः+मृत्योः+मृत्युम्+प्राप्नोति) इस ब्रह्म में अनेकत्वसा देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है अर्थान् मरण से मरण को पाता ही है । इस हेतु ब्रह्म को एक जान उसकी उपासना करे ॥ १६ ॥

भाष्यम्—ब्रह्मदर्शनसाधनं ब्रूते । श्रवणमनननिदिध्यासनादिव्यापारेभ्योऽनुपश्वादेकाग्रेण संशोधितेन वशीकृतेन मनसैव नान्यैरिन्द्रियैरित्यर्थः । ब्रह्मद्रष्टव्यम् । इह ब्रह्मैव दर्शनीयं वस्तु । इह द्रष्टव्ये ब्रह्मणि । किञ्चन किञ्चिदपि नानाऽनेकत्वं नास्ति नहि ब्रह्मणो नानात्वम् । यथाकेचिदादित्यादि ब्रह्म मन्यन्ते । यद्वा त्रिधा ब्रह्म मन्यन्ते इत्याद्यनेकब्रह्मप्रवादप्रत्याख्यनाय नेह नानास्ति किञ्चनेत्युक्तम् । इटीकरणाय नानात्वदर्शिनं निन्दति । योज्ञानी इह ब्रह्मणि नानेवानेकत्वमिव पश्यति स मृत्योर्मृत्युर्मरणान्मरणम् । प्राप्नोति स सर्वदैव मृत्युमुखं प्रविष्टः सन्नेव वर्तते । अत्र एकं ब्रह्म विदित्वा सदोपासनीयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥ २० ॥ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुधाय इहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥ २१ ॥

अनुवाद—वह ब्रह्म एक ही प्रकार से द्रष्टव्य अप्रमेय और ध्रुव है । यह आत्मा विरज आकाश से पर अज, महान् और ध्रुव है ॥ २० ॥ धीर ब्राह्मण उसको अच्छे प्रकार जान बुद्धि को मोक्षसम्पादिका बनावें । बहुत शब्दों की चिन्ता न करें क्योंकि वह वाणी का ग्लानिकारकमात्र है ॥ २१ ॥

पदार्थ—(अनुपेक्षणा+एव+द्रष्टव्यम्) क्रमशः श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर उत्पश्चात् एक प्रकार से ही वह ब्रह्म द्रष्टव्य है (एतद्+अप्रमयम्+ध्रुवम्) यह ब्रह्म अप्रमेय और ध्रुव=नित्यकूटस्थ है (आत्मा+विरजः+आकाशान्+परः+अजः+महान्+ध्रुवः) वह परमात्मा विरज=रजोगुण रहित और आकाश से भी

परे और भिन्न है अतएव अजन्मा महान् और ध्रुव=अविनाशी है ॥ २० ॥
 (धीर + त्राक्षण + नम् + एव + विनाय + प्रज्ञाम् + तुर्वीति) धीर ब्रह्मजिज्ञासुजन उसी
 को विशेषरूप से जान प्रज्ञा=मति को मात्सम्पादिका बनायें । आगे व्यर्थ निष्प-
 योगत प्रया के अध्ययन में दाग रहते हैं (बहन् + शब्दान् + न + अनुप्यायात्)
 इस कार्य के लिये व्यर्थ बहुत शब्दा भी चिन्ता न करें (हि + नत् + वाचः + विष्ठा-
 पनम् + इति) क्योंकि यह व्यर्थ चिन्तन केवल पाषाणों का भ्रमवारकमात्र है ॥ २१ ॥

स वा एव महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
 य एपोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्ये-
 शानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवा-
 साधुना कनीयानेप सर्वेश्वर एव भूताधिपतिरेव भूतपाल
 एव सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं देवानुव-
 चनेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽना-
 शक्येनैतमेव विदित्वा मुनिर्भजत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छ-
 न्तः प्रजन्त्येनद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते
 किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह
 स्म पुत्रैपणायाश्च वित्तैपणायाश्च लोकैपणायाश्च व्युत्थायाथ
 भिक्षाचर्यं चरन्ति वा ह्येव पुत्रैपणा सा वित्तैपणा या वित्तै-
 पणा सा लोकैपणोभे ह्येते एवमेव भवतः । स एव नेति
 नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसहो न हि
 सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमुहवेते न तरत इत्यतः
 पापमकरचमित्यतः कल्याणमकरचमित्युभे उ ह्येव एते तरति
 नेनं कृताकृते तपतः ॥ २१ ॥

पदार्थ—(वे + स + एव + आत्मा + महान् + अज) निश्चय सो यह परम
 आत्मा महान् और अज है (य + अयम् + विज्ञानमय + प्राणेषु) जो यह विज्ञान-

मय सब प्राणों में विराजमान हो रहा है (यः+एषः+अन्तर्हृदयः+आकाशः+तस्मिन्+शेते) जो यह हृदय के बीच आकाश है उसमें यह व्यापक है । केवल इसी में नहीं किन्तु (सर्वस्य+वशी+सर्वस्य+ईशानः+सर्वस्य+अधिपतिः) सब को अपने वश में रखनेद्वारा सब का शासन करनेद्वारा और सबका अधिपति है (सः+साधुना+कर्मणा+न+भूयान्) वह शुभ कर्म से न अधिक (असाधुना+न+एव+कनीयान्) और न अशुभ से छोटा होता है (एष+सर्वेश्वरः+एषः+भूताधिपतिः+एष+भूतपालः+एष+सेतुः) यह सर्वेश्वर यह भूताधिपति यह भूतपाल यह सेतु (एषाम्+लोकानाम्+असभेदाय+विधरणः) और यह इन भूर्भुवर्लोकों का विनाश न हो अतः इनका धारण करनेद्वारा है (तम्+एतम्+ब्राह्मणाः+वेदानुवचनेन+विविदिषन्ति) उम इस परमात्मा को वेदों के अनुवचन=विज्ञान से जानना चाहते हैं । तथा (यज्ञेन+दानेन+तपसा+अनाशकेन+एतम्+एव+विदित्वा+मुनिः+भवति) यज्ञ दान तप और अनशनव्रत अल्प भोजन से इसी को जान मुनि होता है (लोकम्+इच्छन्तः+प्रब्राजिनः+एतम्+एव+प्रव्रजन्ति) ब्रह्मलोक की इच्छा करते हुए संन्यासिगण इसी के समीप पहुँचते हैं या इसी के उद्देश से वे सर्व त्याग करते हैं (एतत्+ह+स्म+वै+तत्) इसी सन्यास के कारण (पूर्वे+विद्वांसः+प्रजाम्+न+कामयन्ते) पूर्व समय के विद्वान् प्रजा-संतति और धनादिक नहीं चाहते थे कि (किं+प्रजया+हरिष्यामः+येषाम्+नः+अयम्+आत्मा+अयम्+लोकः+इति) प्रजा से क्या करेंगे जिन हम लोगों का सहायक यह आत्मा है और यह दृश्यमान सम्पूर्ण लोक है (ते+ह+पुत्रैपणायाः+च+वित्तैपणायाः+च+लोकैपणायाः+च+भ्युत्थाय+अथ+भिक्षाचर्यम्+चरन्ति+स्म) इसी कारण वे सन्यासी, पुत्रकामना, वित्तकामना और लोक कामना से বিরुद्ध हो केवल प्राणयात्रार्थ भिक्षा किया करते थे (या+हि+एव+पुत्रैपणा+सा+वित्तैपणा+या+वित्तैपणा+सा+लोकैपणा+उभे+हि+एते+एषे+एव+भवतः) जो ही पुत्रकामना है वही वित्तकामना है और जो ही वित्तकामना है वही लोक कामना है । ये दोनों ही कामनाएं होती हैं । यह पूर्व में भी आचुका है । (सः+एषः+आत्मा+नेति+नेति) सो यह परमात्मा नेति नेति शब्द से आदिष्ट होता है (अगृह्यः+न+गृह्यते+अशीर्यः+न+हि+शीर्यते+असङ्गः+न+हि+मज्यते+असितः+न+ज्यते+न+रिष्यति) वह अगृह्य है यह पकड़ा नहीं जाता अहिमर्नीय है मारा नहीं जाता । असङ्ग है किसी में आसक्त नहीं होता ।

बन्धन रहित है व्यथित नहीं होता और न कदापि विनष्ट होता और न इसको पाप पुण्य लगते हैं सो आगे कहते हैं—(पापम्+अकरवम्+इति+अतः+कल्याणम्+अकरवम्+इति+अतः) मैंने पाप किया है अतः दुःख भोगूँगा, मैंने कल्याण किया है अतः सुख भोगूँगा (एते+ह+एव+न+तरतः) ये दोनों सन्ताप और हर्ष इसको न तैरते=प्राप्त नहीं होते किन्तु (उमे+उ+एते+एषः+एव+तरति) इन दोनों को यही आत्मा तैर जाता है । अर्थात् (कृताकृते+एनम्+न+तपसः) कर्म और अकर्म इसको नहीं तपाते ॥ २२ ॥

तदेतदृचाभ्युक्तमेपनित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान् तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त उपरतस्तिष्ठुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विषापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि माञ्चापि सह दास्यायेति ॥ २३ ॥

पदार्थ—(तत्+एतत्+ऋचा+अभ्युक्तम्) पुनः निष्काम ब्रह्मवित् की प्रशंसा करते हैं । पूर्व में जिस सन्यासी का जैसा वर्णन हो चुका है ऋचा के द्वारा भी वैसा ही प्रकाशित है । यह यह है—(ब्राह्मणस्य+एषः+महिमा+नित्यः) ब्रह्मवित्पुरुष का यह पूर्वोक्त महिमा नित्य=स्वाभाविक है (न+कर्मणा+वर्धते+नो+कनीयान्) वह महिमा न कर्म से बढ़ता और न अल्प ही होता (तस्य+एव+पदविद्+स्यात्) उसी महिमा के मार्गवेत्ता भनुष्य हो (शम्+विदित्वा+पापकेन+कर्मणा+न+लिप्यते+इति) उसको जान पापकर्म से लिप्त नहीं होता अर्थात् वह ज्ञानी पापकर्म में आसक्त नहीं होता, इति शब्द ऋचासमाप्तिद्यौतक है (तस्मात्+एव+वित्+शान्त.+दान्त.+उपरत.+स्तिष्ठु.+समाहितः+भूत्वा+आत्मनि+एव+आत्मानम्+पश्यति)

इसलिये ऐसा ज्ञाता पुरुष शान्त दान्त उपरत तिविधु और समाहित होके आत्मा में ही आत्मा को देखता है (सर्वम्+आत्मानम्+पश्यति) सबको आत्मतुल्य ही देखता (न+एनम्+पाप्मानम्+तपति) इसको पाप नहीं तैरता=प्राप्त नहीं होता (सर्वम्+पाप्मानम्+तपति) यह साधक ही सब पाप को तैर जाता है (नैनम्+पाप्मानम्+तपति+सर्वम्+पाप्मानम्+तपति) इसको पाप तपाता नहीं किन्तु वही पाप को तपाता है (विपापः+विरजः+अविचिकित्सः+ब्राह्मणः+भवति) वह पापरहित, रजोगुण-रहित और संशयरहित ब्राह्मण होता है (एषः+ब्रह्मलोकः+सम्राट्+एनम्+प्रापिवः+असि) यह ब्रह्मलोक=ब्रह्मविन् पुरुषों का लोक है । हे सम्राट् ! यहातक आप पहुंचाये गये हैं इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा, यह सुन राजा जनक कहते हैं कि (सः+अहम्+भगवते+विदेहान्+ददामि+माम्+सह+दास्यामि+इति) हे परमगुरु ! सो मैं आपको सम्पूर्ण विदेह राज्य देता हूं और सेवा के लिये मैं अपने को भी समर्पित करता हूं ॥ २३ ॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते
वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥ स वा एष महानज आत्माऽज-
रोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति
य एवं वेद ॥ २५ ॥

अनुवाद—निश्चय सो यह महान्, अजन्मा परमात्मा ही अन्न का संहर्ता और धनदाता है । जो ऐसा जानता है वह धन पाता है ॥ २४ ॥ सो यह महान् अज परमात्मा अजर, अमर, अमृत, अभय और महान् से महान् है । निश्चय अभय ही ब्रह्म है । जो ऐसा जानता है वह अभय ब्रह्म को ही पाता है ॥ २५ ॥

पदार्थ—(सः+वै+एषः+आत्मा+महान्+अजः) सो यह परमात्मा निश्चय महान् और अजन्मा है (अन्नादः+वसुदानः) अन्न का संहर्ता और धनदाता है (यः+एवम्+वेद+वसु+विन्दते) जो ऐसा जानता है वह धन पाता है अन्नादः अन्नस्य अदः=अन्नमोक्षा, यद्वा अन्नस्य आत्ता=अन्न का संहारकर्त्ता, यद्वा अन्नमा-समन्ताद्दातीत्यन्नादः=जो अन्न को अच्छे प्रकार देवे ॥ २४ ॥ (स+वै+अजरः+अमरः+अमृतः+अभयः) सो यह परमात्मा महान्, अज, अजर, अमृत और

अभय है (अभयम्+धै+ब्रह्म०) ब्रह्म अभय ही है निश्चय अभय ब्रह्म ही है
 (य+एतम्+वेद+ब्रह्म+भवति) जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म को प्राप्त करता ।
 भू=प्राप्तो प्राप्ति अर्थ में भी भू धातु आता है ॥ २५ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये वभूवतुर्मैत्रेयी च कात्या-
 यनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी वभूव स्त्री प्रज्ञैव तर्हि
 कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यत्पुत्रमुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥
 मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्था-
 नादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ २ ॥

पदार्थ—यह चतुर्थ अध्याय का पंचम ब्राह्मण द्वितीय अध्याय के चतुर्थ
 ब्राह्मण के समान है अतः इसकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं कीजायगी, जहां विशेष है,
 वहां २ अर्थ किया जाता है—(अय+याज्ञवल्क्यस्य+द्वे+भार्य्ये+वभूवतु+मैत्रेयी+च+
 कात्यायनी+च) याज्ञवल्क्य की दो भार्य्याएं थीं एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी
 (तयोः+ह+मैत्रेयी+ब्रह्मवादिनी+वभूव+स्त्रीप्रज्ञा+एत+तर्हि+कात्यायनी) इन दोनों
 में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी स्त्रीप्रज्ञा अर्थात् स्त्रियों को उचित बुद्धि
 जितनी होनी चाहिये उतनी बुद्धिवाली थी (अय+ह+याज्ञवल्क्य+अन्यत्+पुत्रम्+
 उपाकरिष्यन्) जब याज्ञवल्क्य गार्हस्थ्य वृत्ति को त्याग सन्यास वृत्ति को धारण
 करनेवाला थे तब ॥ १ ॥ (मैत्रेयी+इति+ह+उवाच+याज्ञवल्क्य०) मैत्रेयी को बुला
 याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे प्रिये मैत्रेयी ! (अरे+अहम्+अस्मात्+स्थानात्+प्रव्रजि-
 ष्यन्+धै+अस्मि) अरे मैं इस गृहरूप स्थान से परिजाद दान के लिये प्रव्रजन=प्रस्थान,
 गमन करनेद्वारा हूँ (हन्त+अनया+कात्यायन्यान्तं+ते+अन्वम्+करवाणि+इति) हन्त=

यदि आप दोनों की आज्ञा हो तो इन कात्यायनी के साथ आपका भ्रन्त=विच्छेद
अर्थात् धनविभाग करके पृथक् करदूँ तब मैं यहाँ से प्रस्थान करूँ ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सवर्षा पृथिवी
वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यान्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति होवाच
याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्या-
दमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ ३ ॥ सा होवाच मैत्रेयी
येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव
मे ब्रूहीति ॥ ४ ॥ स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो
भवती सती प्रियमवृणन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते
व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥ स होवाच न
वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय
पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भव-
त्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां
कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया
भवन्ति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्म-
नस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे पशूनां कामाय
पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति
न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय
ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भव-
त्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां
कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया
भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्म-
नस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे वेदानां कामाय

वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति न
 वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु
 कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य
 कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं
 भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योऽन्तव्यो निदि-
 ध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात
 इदं सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥ * ब्रह्म तं परादाद्योऽ-
 न्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद च त्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं
 वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं
 परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो
 वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं
 तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं च त्रमिमे लोका
 इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ॥७॥
 स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छ्वन्तुयाद्ग्रहणाय
 दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥
 स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छ्वन्तुया-
 द्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः
 ॥ ९ ॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छ्वन्तु-
 याद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृही-
 तः ॥ १० ॥ स यथाद्रिधाम्नेरभ्याहितस्य पृथग्भूमा विनिश्च-
 रन्त्येवं अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्चसितमेतद्यद्वेदो यजु-
 र्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः

श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं
पायितमयश्चलोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि
सर्वाणि निश्वासितानि ॥ ११ ॥ स यथा सर्वासामपां समुद्र
एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां
नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वेकायनमेवं सर्वेषां
रूपाणां चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं
सर्वेषां सङ्कल्पानां मन एकायनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदय-
मेकायनमेवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दा-
नामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वे-
षामध्वनां पादावेकायनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्
॥ १२ ॥ स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन
एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनएवैते-
भ्यो भूतेभ्यः समुत्पाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽ-
स्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥ सा होवाच
मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजा-
नामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा
अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४ ॥ यत्र हि द्वेतमिव भवति
तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं
रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं शृणोति तदि-
तर इतरं मनुते तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजा-
नाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवामूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं
जिघेसेत्तत्केन कं रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं शृणुयात्त-

त्केन कं मन्वीति तत्केन कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदं
 सर्वविजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽ-
 गृह्यो व हि गृह्यतेऽशीर्य्यो न हि शीर्य्यतेऽसङ्गो न हि
 सङ्ग्यतेऽसितो न व्यथते न रिप्यति विज्ञातारमरे केन विजानी-
 यादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेयेतावदरेखल्वमृतत्वमिति होक्त्वा
 आक्षवल्क्यो विजहार ॥ १५ ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

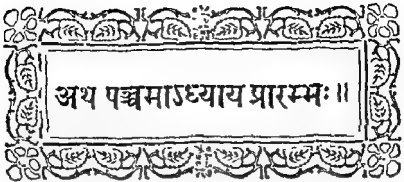
अथ वंशः । पौतिमाष्यो गोपवनाद्गोपवनः पौतिमाष्या-
 त्पौतिमाष्यो गोपवनाद्गोपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डि-
 न्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाश्च गौतमाश्च
 गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गर्ग्याद् गार्ग्यो
 गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्य्यायणा-
 त्पाराशर्य्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दा-
 लकायनो जावालायनाज्जावालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्य-
 न्दिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः कापायणात्कापायणः
 सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥
 घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्य्यायणात्पाराशर्य्यायणः
 पाराशर्य्यात्पाराशर्य्यो जातूकर्ण्यज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च

यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरोपजन्धनेरौपजङ्घनिरासुरेश-
सुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्डेर्माण्डिगौतमाद्-
गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डि-
ल्यः कैशोर्य्यात्काप्यात्कैशोर्य्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमा-
रहारितोगालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो-
वत्सनपातो वाभ्रवाद्भ्रवत्सनपाद्वाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभ-
रोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्या आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूति-
स्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौद-
धीच आथर्वणाद्ध्यङ्ग्याथर्वणोऽथर्वणोदैवादथर्वा देवो मृत्योः
प्रध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एक ऋपेरे-
कपिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातना-
त्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म
स्वयंभुव्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ ✽

इति पष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति घृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायः समाप्तम् ॥





प्रजापति और देवादिकों का संवाद ॥

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य
पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ओम् खं ब्रह्म । खं पुराणं
वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा
विदुर्वेदेनेन यदेदितव्यम् ॥ १ ॥

अनुवाद—पूर्ण है यह पूर्ण है यह पूर्ण से पूर्ण उदित होता है पूर्ण का पूर्णत्व
लेकर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है ओं ही ब्रह्म और ख है । पुराण ही ख है ।
कौरव्यायणी पुत्र कहते हैं कि पायुर्विशिष्ट यह आकाश ही ख है । यह ओम् वेद
है ऐसा ब्रह्महानियों ने जाना है, क्योंकि जो वेदितव्य ब्रह्म है उसको इसी से
जानता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(अद+पूर्णम्) इन्द्रियगोचर यह ब्रह्म पूर्ण है । (इदम्+पूर्णम्)
यह प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् भी पूर्ण है क्योंकि (पूर्णात्+पूर्णम्+उदच्यते) पूर्ण
ब्रह्म से यह पूर्ण जगत् उदित होता है अर्थात् जो ब्रह्म सर्व प्रकार से पूर्ण है
उसका कार्य भी पूर्ण ही होगा इस जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म ही है । अतः
यह भी पूर्ण है (पूर्णस्य+पूर्णम्+आदाय) इत पूर्ण जगत् के पूर्णत्व को लेकर
अन्त में (पूर्णम्+एव+अवशिष्यते) पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाना है । भाव
इसका यह है कि इस अनन्त विभक्त की पूर्णता ब्रह्म के अधीन है । अतः भीमांता

करने पर यह सिद्ध होता है कि केवल एक ब्रह्म ही सर्वथा पूर्ण है । (ब्रह्म+ओम्+स्वम्) पूर्व में कहा गया है कि ब्रह्म ही पूर्ण है अब सक्षेप से इसकी उपासना कहते हैं । ओम् और स्व इन दो नामों से वह ब्रह्म उपास्य है । सब वेदों और ससार का सार परमात्मा ही है अतः वह ओम् कहाता और परमपुरातन भी वही है अतः यह स्व कहाता है क्योंकि (स्वम्+पुराणम्) स्व शब्द पुराण अर्थात् पुरातनवाचक है । (वायुरम्+स्वम्+इति+कौरव्यायणीपुत्रः+आह+स्म+ह) परन्तु आचार्य कौरव्यायणीपुत्र कहते हैं वायुर=जिसमें सूक्ष्मात्मा वायु व्यापक हो रहा है उस आकाश को स्व कहते हैं अर्थात् ब्रह्म की उपासना जब ओम् शब्द के द्वारा करता है तब इसको सर्व जगत् का सत्त्व और सुशात्मा वायुविशिष्ट आकाशवत् व्यापक ज्ञान उपासना करे । पुनः ओङ्कार का महत्त्व दिखलाते हैं । (वेदः+अयम्+ब्राह्मणः+विदुः) यह ओङ्कार वेदस्वरूप है । ऐसा ब्राह्मणों ने जाना है क्योंकि (यद्+वेदितव्यम्+पतेन+वेद) जो सर्वथा ज्ञातव्य परमात्मा है उसको इसी ओङ्कार से जानते हैं ॥ १ ॥

आशय—पूर्व चार अध्यायों में जिन विषयों का विस्तार से निरूपण हुआ है वनही अर्थों का सक्षेप से वर्णन करेंगे, अतः ये आगे के दो अध्याय खिल अथवा परिशिष्ट नाम से पुकारने योग्य हैं ॥ १ ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ।

—०—

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यं मूपुर्देवा मनुष्या असुरा उपित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ववीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा इति व्यज्ञासिप्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्येत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १ ॥

अनुवाद—पिता प्रजापति के समीप, प्रजापति के तीन प्रकार के पुत्र, देव मनुष्य और असुर ब्रह्मचर्य के निमित्त वास कर रहे थे इनमें से देव प्रजापति के निकट जाके बोले कि हे पिता ! हम लोगों को शिक्षा दीजिये (प्रजापति ने) उनको द यह अक्षर कहा और कहकर बोले कि हे देवो ! इस द अक्षर का भाव आपने जाना ? देव बोले कि हे पिता ! हमने जानलिया । दाम्यत अर्थात् तुम सब इन्द्रियों का दमन करो यह अनुशासन हम लोगों को आपने दिया है प्रजापति बोले ! हा, तुमने इसका भाव जानलिया है ॥ १ ॥

पदार्थ—(प्राजापत्या) प्रजापति के पुत्र (देवाः+मनुष्याः+असुराः) जो देव, मनुष्य, असुर भेद से तीन प्रकार के थे वे (पितरि+प्रजापतौ+ब्रह्मचर्यम्+ऊचुः) वे पिता प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्य के निमित्त वास कर रहे थे । (देवाः+ब्रह्मचर्यम्+उपित्या) इनमें से प्रथम देवगण ब्रह्मचर्य का वास करते समार्षेय के समय (ऊचुः+नधीतु+न+भवान्+इति) प्रजापति के समीप जा बोले कि आप हम लोगों को कुछ अनुशासन दें (तेभ्यः+द+इति+एतद्+अक्षरम्+उवाच) तब प्रजापति ने उनसे “द” इस अक्षर का उपदेश दिया और बोले कि हे देवगण ! (व्यह्नासिष्टा+इति) क्या तुमने इस द अक्षर का भाव जानलिया ? (व्यह्नासिष्ट+इति+द+ऊचुः) वेचों ने उत्तर दिया कि पिता निश्चय हम सब ने इस द अक्षर का आशय समझलिया (दाम्यत+इति+न+आत्य) आपने हमसे कहा है कि तुम सब दाम्यत=अर्थात् अपने इन्द्रियों का दमन किया करो । (ओम्+इति+द+उवाच+व्यह्नासिष्ट+इति) तब प्रजापति बोले हा, तुमने इसका भाव समझलिया है ॥ १ ॥

भाष्यम्—पितुः प्रजापतेर्देवमनुष्यासुरभेदेन त्रिविधाः पुत्रा आसन् । ते ब्रह्मचर्यार्थं पितुः समीपेऽवात्सुः । प्रथमं देवाः स्वकीयं ब्रह्मचर्यं विधिना समाप्य समार्षेयकाले प्रजापतिमेत्योचुः अस्मभ्यमुपदिशतु पूज्यो भवन्निति । प्रार्थितः सर्वहृपादिष्टमिति विचार्य सम्प्रति अतिशयलघुपरमोपयोगि च अनुशासनं दित्सुस्तत्तत्पुत्राणामान्तरिकमाद्यमपि च ज्ञातुं द इत्येतदक्षरं तेभ्यो देवेभ्योऽनुशासात् । अनुशिष्टा चाध्वनीत् हे देवाः ! दकारेण भमाशयं यूयं व्यह्नासिष्टा ३ । प्लुतिर्विचारार्था । देवा अपि सम्यग् विचार्य विज्ञायचोचुः भगवन् ! यूयमिन्द्रियाणि दाम्यतेति दकारेणास्मान् शिक्षयसीति वयं विज्ञातवन्तः । तत्त-

अथ मत्तममिति न विद्वः । अत्र भवानेव प्रमाणम् । ओमिति सत्यं यूयं ममाशयं विदितवन्त इदानीमिदमनुशासनं पायेयं गृहीत्वा गच्छतेति प्रजापति-
रुवाच ॥ १ ॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैत-
देवाचरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा इति व्यज्ञासिष्मेति
होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २-॥

अनुवाद—उत्पश्चात् मनुष्यगण इनसे बोले हे पिता । हमको आप उपदेश
देवें । द यही अक्षर उनमें भी प्रजापति ने कहा और कह कर बोले कि तुमने
हमको समझा ? मनुष्यों ने कहा कि हां, हमने इसको समझ लिया आप हम
लोगों से कहते हैं कि तुम दान दो, हां, तुमने इसको समझ लिया ऐसा प्रजापति
ने उनसे कहा ॥ २ ॥

पदार्थ—(अथ+एनम्+मनुष्या+ऊचुः) देवगणों के पश्चात् मनुष्यगण
पिता प्रजापति के निकट आकर बोले (ब्रवीतु+न+भवान्+इति) हे पिता । हमको
भी उचित उपदेश देवें (तेभ्यः+ह+दः+इति+एव+एव+अक्षरम्+उवाच) इनसे
भी इसी द अक्षर का उपदेश प्रजापति ने किया और उपदेश करके बोले कि
(व्यज्ञासिष्टा+इति) हे मनुष्यों । क्या तुमने दकार मेरा आशय समझ
लिया ? इस पर मनुष्यों ने (ऊचुः+ह+दत्त+इति+नः+अथ+व्यज्ञासिष्म+इति)
कहा कि हे पिता । दकार से आप हमको उपदेश देते हैं कि “दत्त” अर्थात् तुम
सब दान किया करो ऐसा हमने समझा है । सो ठीक है या नहीं इसमें आप ही
प्रमाण हैं । (ओम्+इति+ह+उवाच+व्यज्ञासिष्टा+इति) इस पर प्रजापति ने कहा
कि हां, तुमने हमारा आशय समझ लिया । जाओ ऐसा ही किया करो ॥ २ ॥

भाष्यम्—गृहीतानुशासनेषु देवेषु मनुष्या अपि प्रजापतिमेत्योपदेशाय
निर्दिष्टवन्तः एभ्योपि प्रजापतिस्तदेव दकाराक्षरं दत्त्वा ब्रवीत् हे मनुष्याः किं
दकारेण ममाशयं विज्ञातवन्तः हे प्रजापते ! दकारेण दत्तं यूयमिति नोऽनुशा-
स्सीत्येवं व्यज्ञासिष्म । अग्रे भगवान् प्रमाणम् । ओमिति स्वीकारे । मनुष्याणां
वेदनं ओमिति शब्देन प्रजापतिः स्वीकरोति ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतद-
वाचरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिप्मेति
होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति
तदेतदेवैषा देवी वागनु वदति स्तनयित्नुर्दद इति
दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमन्दानं दया-
मिति ॥ ३ ॥

अनुवाद—उत्पन्नात् असुरगण इनसे बोले हे पिता ! आप हम लोगों को
उपदेश दें । व यही अक्षर उनसे प्रजापति ने कहा और कहकर बोले कि तुमने
इस को समझा ? असुरों ने कहा कि हां, हमने इसको समझ लिया है आप हम
से कहते हैं कि तुम “दयध्वम्” दया किया करो । तब प्रजापति ने उनसे कहा कि
हां ? तुमने इसको समझ लिया । उसी को देवीवाणी अनुवाद करता है यह जो
मेघदेव (गर्जन) द द द करता है उसका भाव यही है कि दाम्यत=दमन करो, दत्त=दो,
दयध्वम्=दया करो । दम, दान और दया इसी तीन का उपदेश करे ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अथ+ह+एनम्+असुराः+ऊचुः) मनुष्यगण को शिक्षा मिलने के
पश्चात् असुरगण भी जाके बोले कि हे पिता ! (ब्रवीतु+नः+भवान्+इति) हम
लोगों को भी उचित उपदेश दें (तेभ्यः+इत्यादि०) उनसे भी इसी “द” अक्षर
को कहा और कहकर बोले कि तुमने द अक्षर से हमारा भाव समझा ? (व्यज्ञा-
सिप्मेति) असुरों ने कहा हां हमने समझ लिया (दयध्वम्) तुम सब दया किया
करो यह उपदेश दकार से दे देते हैं । (ओम्+इति) प्रजापति ने कहा कि हा
तुमने भी दकार का तात्पर्य समझ लिया । अब जाओ ससार में इसी कार्य को करो ।
अब आगे दिखलाते हैं कि प्रजापति का इस अनुशासन को (एषा+देवी+वाक्+
अनुवदति) यह देवी मेघस्थवाणी अनुवाद करती है अर्थात् (स्तनयितुः) यह
मेघ अपने गर्जन में (द द द) द द द इन तीन दकारों को कहता है और इन
तीन दकारों का भाव यह है कि (दाम्यत) दमन करो (दत्त) दान दो (दयध्वम्)
दया करो । आजकल भी सब को उचित है कि (दमम्+दानम्+दयाम्) दमन दान
और दया (तत्+एतत्+त्रयम्+शिक्षेत्) इन तीनों को शिक्षा दिया करे ॥ ३ ॥

माध्यम्—देवमनुष्यवदसुरान् शिष्यार्थं प्राप्तान् प्रजापतिस्तदेव दकाराक्ष-
रमप्रवीत् । दयध्वम् कृपां कुरुध्वमित्याशयं तेऽसुरा गृहीतवन्तः तदेतत्प्रजाप-
तेरनुशासनं देवी चागपि अनुकरोति । केति ? स्तनयित्पुरित्याद्याह—स्तनयि-
त्सुर्मेधोऽपि स्वगर्जने दाम्यत, दत्त, दयध्वमित्येवदकारत्रयेणोपदिशति । तत
एव सर्वोऽपि विद्वानिदानीं तदेतत्त्रयं दमं दानं दयां शिचेत् ॥ ३ ॥

आशय—महात्मा के निकट पहुंचने पर अपनी २ छुट्टि को पूर्ण करना ही
महापुरुष के वचन का भाव लोग समझ करते हैं । देवों में इन्द्रिय दमन की, मनु-
ष्यों में दान की और असुरों में दया की छुट्टि प्रायः देखी जाती है । अतः 'द'
शब्द से तीनों ने तीन अर्थ ग्रहण किये और प्रजापति भी चाहते थे कि इनही
भाव को ये तीनों पृथक् २ समझें । इनसे क्या योगवत् सिद्ध नहीं होता ॥ ३ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

—०.—

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

एष प्रजापतिर्यद्ब्रूदयमेतद्ब्रह्मेतत्सर्वं तदेतज्यक्षरं हृद-
यमिति ह्र इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं
वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद
यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—जो यह हृदय है यही प्रजापति है यही ब्रह्म (बृहत्) है यही
सब है । सो यह हृदय व्यक्षर है इसमें एक अक्षर "ह्र" है इसको निज और पर
साकर देते हैं जो ऐसा जानता है इसमें एक अक्षर "द" है इसको निज और पर
देते हैं जो ऐसा जानता है इसमें एक अक्षर, "यम्" है स्वर्ग लोक को जाता है जो
ऐसा जानता है ॥ १ ॥

पदार्थ—उपनिषदों में और इस अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में भी प्रजापति

शब्द प्रयुक्त हुआ है प्रजापति कोई पुरुष है या अन्य इन्द्रियादिक हैं इमनिश्चय के लिये आगे कहते हैं कि यह हृदय ही प्रजापति है अन्य कोई पुरुष विशेष प्रजापति नहीं । यथा—(एष+प्रजापतिः+यद्+हृदयम्) जो यह हृदय है यही प्रजापति है (एतद्+ग्रह+एतन्+सर्वम्) यह हृदय ही ग्रह अर्थात् महान् अनन्त है । यह सब है (तत्+एतत्+अक्षरम्+हृदयम्) सो यह हृदय शब्द अक्षर है । इसमें तीन अक्षर हैं (ह्+इति+एकम्+अक्षरम्) इसमें एक अक्षर ह् है इस् हरणे=हरणा-
यैक ह् धातु से यह ह् बना है क्योंकि (अस्मै+स्वाः+च+अन्ये+च+अभिहरन्ति) निज नेत्र कर्णादि इन्द्रियगण और अन्य शब्द स्पर्शादि विषय अपने २ कार्य को लाकर इसी हृदय को समर्पण करते हैं अतः हृदय शब्द का ह् अक्षर हन् धातु से आया है (यः+एवम्+वेद) जो उपासक इसको इसी प्रकार जानता है उसको भी निज बन्धु बान्धव और अन्य दूरस्थ पुरुष भी विविध पदार्थ समर्पण करते हैं । (द्+इति+एकम्+अक्षरम्) इसमें द् यह एक अक्षर है । यह दानार्थक दा धातु से आया है । क्योंकि (स्वाः+च+अन्ये+च+अस्मै+ददति) निज इन्द्रिय और अन्य शब्दादि विषय बाहर से लाकर देते हैं । अतः हृदय शब्द का द्कार दा धातु से आया है (यः+एवम्+वेद) जो उपासक ऐसा जानता है उसको भी निज और पर धन समर्पण करते हैं (यम्+इति+एकम्+अक्षरम्) इसमें एक अक्षर “यम्” है यह “इण गतौ” गत्यर्थक इण धातु से आया है क्योंकि (यः+एवम्+वेद+स्वर्गम्+लोकम्+गति) जो कोई इस हृदय को ऐसा जानता है वह इस हृदय के द्वारा स्वर्गलोक को जाता है और इसी हृदय की ओर ज्ञानी पुरुष जाते हैं अर्थात् जिनका हृदय ही प्रथम दुर्बल है वह क्या कर सकता अतः प्रथम हृदय को ही सब प्रकार दृढ़ करे । इन कारणों से मालूम होता है कि हृदय का यकार ह् धातु से आया है । यही हृदय प्रजापति है अन्य नहीं ॥ १ ॥

भाष्यम्—उपनिषत्सु प्रजापतिशब्दो बहुशः प्रयुक्तः । तत् कोऽयं प्रजापतिः कार्यत्पुरुषार्थेणैव । ज्ञानोपाहृन्द्रियाणि वा एतन्निर्णयार्थमिदं ब्राह्मणमा-
रम्भते । इदं हृदयमेव प्रजापतिरिति निर्णयः । एष हृदयशब्दो हरतेर्ददाते-
रित्येव धातुयत्निष्पन्नोऽस्ति ॥ १ ॥

इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यच्चं
प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमांलोकान् जितइन्वसाव-
सथ एवमेतं महद्यच्चं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यं
ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

अनुवाद—पूर्वोक्त हृदय को ही अन्य प्रकार से पुनः कहते हैं सो यह हृदय
यही है अर्थात् सत्य ही है । इस हृदय को जो कोई महान् यज्ञ प्रथमज और
सत्य ब्रह्म जानता है वह इन लोगों को जीतता है । निश्चय यह विजित होकर
नष्ट होजाता है जो इसको अमन् जानता है जो कोई इस प्रकार इस हृदय को
महान् यज्ञ प्रथमज और सत्य ब्रह्म जानता है क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

पदार्थ—पूर्वोक्त हृदय का ही अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं—(तद्+यै+तन्)
वह जो हृदय पूर्व में कहा गया है उसी को अन्य प्रकार में वर्णन करते हैं । द्वि-
तीय तन् शब्द प्रसारान्तर का द्योतक है (एतद्+एव+तन्+आस) यही वह हृदय
है (सत्यम्+एव) अर्थात् सत्य ही यह हृदय है बहुत आदमी हृदय को ही असत्य
मान निरुद्योगी नास्तिक बन जाते हैं अतः आचार्य कहते हैं कि इस हृदय को
आत्मन् अविनश्वर मानो । यह सर्वेश आत्मा के साथ विद्यमान रहता है । केवल
मत्य ही नहीं किन्तु (सः+यः) सो जो कोई (ह+एतम्+महन्+यज्ञम्+प्रथमजम्)
इस हृदय को महान् यज्ञ=पूज्य, प्रथमज=प्रथमोत्पन्न (सत्यम्+ब्रह्म) और अत्यन्त
महान् मत्त्व मानता है वह (इमान्+लोकान्+जयति) इन समस्त लोकों को
जीतता है और इसके विपरीत (असन्) इस हृदय को अमत्त्व जानता है (असौ+
जितः+इत्+नु) वह अज्ञानी ज्ञानी में जीता ही जाता है अर्थात् हृदय को असत्य
मानने वाले सर्वथा मृद्युमुख में गिरते ही रहते हैं । पुनः उक्तार्थ का ही अनुवाद
करते हैं (य+एवम्+एतन्+महद्+यज्ञम्+प्रथमजम्+सत्यम्+ब्रह्म+इति+वेद) जो
कोई उपासक इस हृदय को महान् यज्ञ=पूज्य अग्रज और सत्य ब्रह्म जानता है

वही विजयी होता है (हि+सत्यम्+ब्रह्म) क्योंकि सत्य ही ब्रह्म अर्थात् अनिराय महान् है । आशय यह है कि यह हृदय अपरय ही सत्य है और अनिराय महान् है । इसी हृदय के स्वरूप के पूर्ण ज्ञान न होने से मनुष्य अज्ञानी बना रहता है अतः ऋषि कहते हैं कि ये मनुष्यो ! इस हृदय को सत्य पूज्य और महत्तम् समझो इसीसे तुम्हारा कल्याण है ॥ १ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

आप एवेदमम आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवां स्तेदेवाः सत्यमेवोपासते तदेतद्व्यक्षरं सत्यामिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं प-
मिरयेकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेत-
दनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति नैनं
विद्रांसमनृतं हिनस्ति ॥ १ ॥

अनुवाद—आगे यह सब कियारमकमात्र था । उस क्रिया ने सत्य को प्रका-
शित किया जो सत्य ब्रह्म अर्थात् अनिराय महान् है इसी सत्य ब्रह्म ने प्रजापति
हृदय का और उस प्रजापति ने इन देवों को प्रकाशित किया वे देव सत्य की ही
उपासना करते हैं । यह सत्य अक्षर तीन अक्षर वाला है एक अक्षर स, एक
मक्षर त् और एक अक्षर यम् है प्रथम सकार और अन्तिम यकार सत्य है और
मध्यगत त् अनृत दोनों तरफ सत्य से परिगृहीत है अतः सत्य को ही अधिकता
रहती है जाननेहारे पुरुष को अनृत नष्ट नहीं करता है ॥

पदार्थ—(अमे+इदम्+आप+एव+आप्तुः) व्यक्तव्यक्त के प्रथम अयवा

ज्ञानात्मक जगत् के प्रथम यह सब ही क्रियामात्र थी । यहा आप् शब्द क्रियावाचक है उत्पत्ति के साथ २ प्रथम मनुष्यजाति कर्मपरायण थी जैसे बालक प्रथम क्रिया में आसक्त होता है (ताः+आपः+सत्यम्+असृजन्त) उस क्रिया ने सत्य का प्रकाश किया । क्रिया करते २ पदार्थ की वास्तविक सत्यता प्रतीत होने लगती है । आगे सत्य की प्रशंसा करते हैं (सत्यम्+ब्रह्म) सत्य बहुत ही बड़ा है । सत्य का अन्त नहीं (ब्रह्म+प्रजापतिम्) जब लोगों को सत्य का पता लगा तब उस महान् सत्य ने प्रजापति=हृदय को प्रकाशित किया अर्थात् अन्त में सत्य की अन्वेषण से इस हृदय के महत्त्व और गुणों का भी पता लगा जिससे सारी विद्याएं प्रवाहवत् निकलती हैं । (प्रजापतिः+देवान्) प्रजापति अर्थात् हृदय ने नयन, कर्ण, घ्राणादि देवों के गुणों का प्रकाश किया हृदय के अन्वेषण से यह भी पता लगा कि यदि इन्द्रिय गण अविचारा रहें असुरत्त्व भाव इनका नष्ट न हो और ये देव न बनते तो हृदय भी कुछ नहीं कर सकता है । (ते+देवाः+सत्यम्+उपासते) वे दिव्यगुण सम्पन्न इन्द्रिय सत्य की ही उपासना करते हैं जो देव होंगे वे अवश्य ही सत्य की उपासना करेंगे । आगे दिखाते हैं कि सर्वथा शुद्ध सत्य की प्राप्ति मनुष्यों में नहीं होती है किञ्चित् असत्य का भाग रह ही जाता है पक्षपातादि दोषों के कारण इसको सत्य शब्द ही सिद्ध करता है यथा—(तद्+एतत्+अक्षरम्+सत्यम्+इति) इस सत्य शब्द में तीन अक्षर हैं—स त् यः (प्रथमोत्तमे+अक्षरे+सत्यम्) प्रथम सकार और उत्तम अर्थात् अन्तिम यकार ये दोनों अक्षर सत्य हैं अर्थात् स्वरयुक्त होने के कारण सत्य हैं, इन दोनों स, य में परमात्मवाचक अकार विद्यमान है अतः ये सत्य हैं और (मध्यतः+अनृतम्) मध्यगत त् हल होने के कारण अनृत=असत्य है परन्तु (तत्+एतद्+अनृतम्+अभयतः+सत्येन+परिगृहीतम्) सो यह अनृत दोनों तरफ सत्य से ही गृहीत है इसी कारण जगत् में (सत्यभूयम्+एव+भवति) सत्य की ही अधिकता होती है (एवम्+विद्वांसम्+अनृतम्+न+हिनस्ति) ऐसे जाननेहारे को असत्य नष्ट नहीं करता ॥ १ ॥

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले
पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योऽन्यस्मिन्प्रति-
ष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्

यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्ध भवेत्तन्मण्डलं पश्यति नैनमेत
रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥ २ ॥

अनुराद—जो जो सत्य है वह यह आदित्य है जो यह इस मण्डल में पुरुष
है और जो यह दक्षिण अक्षि में पुरुष है। सोये दोनों परस्पर एक दूसरे में प्रति-
ष्ठित हैं किरणों से यह इसमें प्रतिष्ठित है और प्राणों से यह उसमें (प्रतिष्ठित है)
वह जन ऊपर उठनेद्वारा होता है तब वह इस शुद्ध मण्डल को ही देगता है ये
किरण इसके प्रति पुनः नहीं आते हैं ॥ २ ॥

पदार्थ—जो सत्य इस शरीर में कार्य कर रहा है वही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में
समानरूप से कार्य कर रहा है। इस भाव को दिखलाते हैं—(सन्+यत्+सत्यम्)
सो जो यह सत्य है (सन्+असौ+सः+आदित्यः) वह यह सुप्रसिद्ध आदित्य
अर्धान् सर्वत्र सूर्य से लेकर अनन्त जगत् में व्यापक सत्ता है इन्से स्वयं कहते हैं
(यः+एषः+एतस्मिन्+मण्डले+पुरुषः) जो यह सूर्यमण्डल में पुरुष है (यः+
यः+अयम्+दक्षिणे+अक्षन+पुरुषः) जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है वही आदित्य
है (सौ+एता+अन्योरिदम्+प्रतिष्ठिता) सो ये दोनों एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं
(एषः+रश्मिभिः+अस्मिन्+प्रतिष्ठितः) वह किरणों से इस अक्षिपुरुष में प्रतिष्ठित
है (अयम्+प्राणैः+अमुष्मिन्) यह अक्षिपुरुष उस मण्डलपुरुष में प्रतिष्ठित है
अर्धान् एक ही सत्ता दोनों में समानरूप में कार्य कर रही है (सः+यदा+उत्क्र-
मिष्यन्+भवति) सो यह ज्ञानी आत्मा जन यदा से ऊपर उठने द्वारा होता है तब
(शुद्धम्+एषः+एतन्+मण्डलं+पश्यति) इस ब्रह्माण्डरूप, यदामण्डल को शुद्ध ही
देगता है इस अवस्था में (एते+रश्मयः) ये जन्ममरण प्रवाहरूप किरण
(एनम्+न+प्रत्यायन्ति) इस के प्रति पुनः नहीं आते हैं अर्धान् वह जन्म दुःख
से छूटकर मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं
शिर एकमेतदक्षरं भुव इति वाहू द्वौ वाहू द्वे एते अक्षरे
स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एत अक्षरे तस्योपनिषदहरि-
ति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ३ ॥

अनुवाद—इस मण्डल में जो यह पुरुष है उसका शिर भूः (भूलोक) है शिर एक होता है यह भूः भी एक अक्षर है । इसके बाहु भुवः (भुवलोक) हैं बाहु दो होते हैं यह (भुवः) भी दो अक्षर हैं इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् पैर स्वः (स्वलोक) है प्रतिष्ठाएँ पैर दो हैं । यह (स्व=भुवः) भी दो अक्षर हैं उसका "अहः" यह उपनिषद् है । जो ऐसा जानता है वह पापका हनन करता है और छोड़ता जाता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—इसी सत्यरूपा महती सत्ता को अन्य प्रकार से दिखलाते हैं मण्डल-स्थ पुरुष पद से मण्डलस्थ सामर्थ्य का ग्रहण नहीं है किन्तु सर्वव्यापक सत्ता से मुख्य तात्पर्य है यथा (यः+एषः+एतस्मिन्+मण्डले+पुरुषः) इस सूर्यमण्डल में जो यह पुरुष है (तस्य+शिरः+भूः+इति) उस पुरुष का शिर भूः भूलोक अर्थात् पार्थिव लोक है (एकम्+शिरः+एतद्+एकम्+अक्षरम्) शिर भी एक ही होता है और भूः यह भी एक ही अक्षर है (भुवः+इति+बाहु+द्वौ+बाहु+द्वे+एते+अक्षरे) इसके बाहु भुवः=अर्थात् अन्तरिक्ष लोक है । बाहु दो होते हैं यह भुवः पद भी दो अक्षर के हैं (प्रतिष्ठा+स्वः+इति) इसका पैर स्वलोक है (द्वे+प्रतिष्ठे+द्वे+एते+अक्षरे) पैर दो हैं यह स्वः भी दो अक्षर हैं (स्वः यह भुवः के अकार से आजाता है अतः इसको दो अक्षर कहे गये हैं) (तस्य+उपनिषद्+अहः+इति) उसका उपनिषद् अहः है । उपनिषद्=रहस्य, ज्ञान । अहः=हनन और त्यागने द्वारा इसका अर्थ दिन तो होता ही है अर्थात् उस महान् पुरुष का ज्ञान अहः शब्द से करना चाहिये जैसे दिन अन्धकार का नाश कर प्रकाश देता है दिन में पदार्थ विस्पष्ट से भासित होते हैं तद्वत् वह सत्यरूपा पुरुष भी है । यही इसका रहस्य है आगे फल कहते हैं—(यः+एष+वेद) जो कोई "अहः" शब्द को हन और हा धातु से सिद्ध जानता है वह (पाप्मानम्+हन्ति+जहाति+च) पाप का हनन करता है और उसको छोड़ देता है । हन=हिंसा करना हा=छोड़ना इसी से जहाति यनता है ॥ ३ ॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहु द्वौ बाहु द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वै प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति

पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४ ॥

अनुवाद—जो यह दक्षिण अक्षि में पुरुष है उसका शिर भूः (भूलोक) है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥

पदार्थ—(यः+अयम्+दक्षिणे+अक्षन्+पुरुषः) जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसका शिर भूलोक है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा
ग्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः
सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥ १ ॥

अनुवाद—मनोमय वह यह पुरुष है महातेज ही इसका सत्यस्वरूप है वह उस अन्तर्हृदय में ग्रीहि या जो के समान अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्रतिष्ठित है सो यह सबका ईश्वर है । सब का अधिपति है इस सब का प्रशासन करता है जो कुछ यह है ॥ १ ॥

पदार्थ—(अयम्+पुरुषः+मनोमयः) यह सर्वव्यापी महान् परमात्मा मनो-मय अर्थात् ज्ञान विज्ञान मय है । (भाः+सत्यः) महान् तेज ही इसका सत्य स्वरूप है क्या यह हम लोगों के हृदय में भी है ? इस पर कहते हैं—(तस्मिन्+अ-न्तर्हृदये+यया+ग्रीहि.+वा+यवः+वा) वह उस हृदय के मध्य में ग्रीहि और यव के समान विद्यमान है । ग्रीहि=एक प्रकार का अन्न और यव से परमात्मा के साकारत्व और स्थूलत्व की जो शक्ता उत्पन्न होती है इसकी निवृत्ति के हेतु आगे कहते हैं—(स + एषः + सर्वस्य + ईशानः + सर्वस्य + अधिपतिः) सो यह सबका ईश्वर है और सबका अधिपति है (इदम् + सर्वम् + प्रशास्ति) इस सब को अपनी आज्ञा में रखता हुआ

नियम में बद्ध रहता है (यत्+इदम्+किञ्च) जो कुछ स्थावर जंगममय संसार भासित होता है । उस सबका कर्त्ता धर्त्ता और हर्त्ता वही है ॥ १ ॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद
विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्व्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

अनुवाद—ब्रह्म को विद्युत् कहते हैं । विदारण करने के कारण यह विद्युत् कहाता है जो कोई ब्रह्म को विद्युत् नाम से जानता है उस उपासक के निकट जाकर (वह ब्रह्म सत्यरूप) इसके सब पापों का नाश कर देता है । विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

पदार्थ—पुनः सत्यस्वरूप ब्रह्म का वर्णन करते हैं उपनिषदों में जो विद्युत् ब्रह्म कहा गया है क्या इससे भौतिक विद्युत् का ग्रहण है ? इस पर कहते हैं कि इस भौतिक विजली से तात्पर्य नहीं किन्तु (विदानात्) दुष्टों का सर्वदा वह विदारण=विनाश किया करता है इस हेतु (ब्रह्म+विद्युत्+इति+आहुः) ब्रह्म को विद्युत् कहते हैं क्योंकि (विदानात्+विद्युत्) विदारण करने से ही विद्युत् नाम हुआ है, आगे फल कहते हुए विद्युत् शब्दार्थ भी करते हैं (यः+एवम्+विद्युत्+ब्रह्म+इति+वेद) जो कोई उपासक इस ब्रह्म को विद्युत्=पापविदारक जानता है (एनम्) इस उपासक के समीप जाकर वह सत्य (पाप्मनः+विद्यति) इसके पापों का नाश कर देता है अतः (ब्रह्म+विद्युत्+एव) ब्रह्म विद्युत् ही है विपूर्वक अव खण्डनार्थक दो धातु से विद्युत् शब्द सिद्ध किया गया है (वि विशेषेण द्यति अवखण्डयति विनाशयतीति विद्युत्) जो विशेषरूप से पापों को विनाश करता है वह विद्युत्, इसका एक नाम रुद्र भी है ॥ १ ॥

इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अथाष्टमं ब्राह्मणम् ॥

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो
वपट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजी-
वन्ति स्वाहाकारं च वपट्कारश्च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं
पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

अनुवाद—धेनु मानकर बाणी की उपासना करे इसके चार स्तन हैं—स्वा-
हाकार वपट्कार हन्तकार और स्वधाकार । इसके स्वाहाकार और वपट्कार दो
स्तनों के आश्रय से देव जीते हैं, मनुष्य हन्तकार के आश्रय से, पितर स्वधारार
के आश्रय से, इसका प्राण ऋषभ है मन वत्स है ॥ १ ॥

पदार्थ—(वाचम्+धेनुम्+उपासीत) सत्य ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय दिखलाते
हैं । वेदवाणी को दुग्ध देनेवाली गौ के समान समझे । (तस्याः+चत्वारः+स्त-
नाः०) इसके चार स्तन हैं वे ये हैं स्वाहाकार वपट्कार हन्तकार और स्वधाकार
(तस्यै+द्वौ+स्तनौ+स्वाहाकारम्+च+वपट्कारम्+च+देवाः+उपजीवन्ति) इस बाणी-
रूपा धेनु के दो स्तन स्वाहाकार और वपट्कार के आश्रय से देवगण जीते हैं
क्योंकि स्वाहा और वपट् शब्द उच्चारण करके देवों को हवि दिया जाता है (म-
नुष्याः+हन्तकारम्) मनुष्यगण हन्तकार स्तन के आश्रय से जीते हैं क्योंकि हन्त
यह शब्द कह कर मनुष्यगणों को हवि दिया जाता है इसी प्रकार (स्वधाकारम्+
पितरः) स्वधाकार स्तन के आश्रय से पितृगण जीते हैं (तस्याः+प्राणः+ऋषभः)
इस बाणीरूपा धेनु का स्वामी ऋषभ के समान प्राण ही है और (मनः+वत्सः)
मन वत्स है यदि मन और प्राण न हो तो वेदवाणी क्या कर सकती है ॥ १ ॥

इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अथ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते
यदेदमद्यतं तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति
स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति ॥ १ ॥

अनुवाद—यह अग्नि वैश्वानर है जो यह हम शरीर के अभ्यन्तर में है
जिससे यह अन्न पचता है जो यह खायाजाता है उसका यह घोष है कान बन्दकर
जिसको सुनता है सो यह जब ऊपर उठने (मरने) लगता है तब वह इस घोष
को नहीं सुनता है ॥ १ ॥

पदार्थ—अब पुनः दृष्टान्त द्वारा परमेश्वर की व्यापकता कहते हैं—(अयम्+
अग्निः+वैश्वानरः) यह जठराग्नि वैश्वानर नाम का अग्नि है (यः+अयम्+अन्तः+
पुरुषे) जो अग्नि सर्व शरीर के भीतर विद्यमान है (येन+इदम्+पच्यते) जिसकी
सहायता से भक्षित अन्न पचजाता है (यद्+इदम्+अद्यते) जो अन्न प्राणियों से
खायाजाता है वह इसकी सहायता से पचता है । (तस्य+एषः+घोषः+भवति)
उस वैश्वानर अग्नि का महाशब्द भी इस देह में हुआ करता है (तत्+कर्णौ+
अपिधाय+यम्+शृणोति) जब कानों पर हाथ लगा ढाकता है तब इस घोष को
सुनता है (सः+यदा+उत्क्रमिष्यन्+भवति) वह जब मरने पर आता है तब
(न+एनम्+घोषम्+शृणोति) इस महाशब्द को नहीं सुनता है । जैसे एक प्रकार
का सामर्थ्य जिसको वैश्वानर कहते हैं सर्व देह में स्थित होकर शरीर की स्थिति
का कारण है । मानो, इसका प्रत्यक्ष भी बोध होता है जब कान बन्दकर भीतर का
शब्द सुनते हैं और वह शब्द मरण समय नहीं सुन पड़ता वैसे ही इस ब्रह्माण्ड-
रूप अमन्त महान् शरीर में वैश्वानर सर्वव्यापी परमात्मा स्थित होकर इस सन्पूर्ण
जगत् की स्थिति का कारण होता है और इस जगत् की प्रत्यक्षता है इसमें सन्देह
ही नहीं, किन्तु जब निःशेष बन्धन से जीव छूट जाता है तब मानो, वह इस
मंसार को देखता ही नहीं क्योंकि ये प्राकृत पदार्थ इस पर अपना प्रभाव नहीं
ढाल सकते, उपासक की मुक्ति अवस्था में प्राप्त होना ही ऊपर उठना है ॥ १ ॥

इति नवमं ब्राह्मणम् ॥

अथ दशमं ब्राह्मणम् ॥



यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै
स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्र-
मते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा
लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति
तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व
आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शा-
श्वतीः समाः ॥ १ ॥

अनुवाद—जब जीवात्मा इस लोक से भरकर प्रस्थान करता है तब वह प्र-
थम वायु में आता है वहाँ उसके लिये यह वायु रथ चक्र के छिद्र के समान सूक्ष्म
मार्ग देता है उससे वह ऊपर चढ़ता है तब आदित्य में आता है वहाँ यह आदि-
त्य भी उसके लिये डम्बर नाम के वादित्र के छिद्र के समान मार्ग देता है उससे
वह ऊपर चढ़ता है यह चन्द्रमा में आता है वहाँ यह चन्द्रमा भी उसके लिये दु-
न्दुभि के छिद्र के समान मार्ग देता है उससे वह ऊपर चढ़ता है वह तब उस
लोक में आता है जो अशोक=शोकरहित और अहिम=हिमरहित है । यहाँ बहुत
धर्मों तक निवास करता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(यदा+वै+पुरुष +अस्मात्+लोकात्+प्रैति) जब जीवात्मा इस
लोक से भरकर चल बसता है तब प्रथम (वायुम्+आगच्छति) वायुलोक में
आता है जो सूत्रात्मा नामक एक पदार्थ आकाशावत् अत्यन्त सूक्ष्मरूप से सम्पूर्ण
ब्रह्माण्ड में स्थित है जिसकी सहायता से सूर्य तेज आदि प्रकाश सर्वत्र फैलते हैं
उसको यहाँ वायु कहा है यहाँ ज्ञानीपुरुषों के प्रस्थान की चर्चा है ज्ञानीपुरुष मरने
के पश्चात् उस अतिसूक्ष्म मानसिक दशा में प्राप्त होता है जिसको वायु कहते हैं
इस अवस्था में अपने मन के द्वारा वह सम्पूर्ण पदार्थों के वास्तविक स्वरूपों को
जानता है परन्तु वह इसी अवस्था में नहीं रहता किन्तु (सः+तत्र) वह वायु

वहां (तस्मै+यथा+रथचक्रस्य+खम्+विजिहीते) उस ज्ञानी जीवात्मा के लिये रथ-चक्र के छिद्र के समान मार्ग देता है (तेन+सः+ऊर्ध्वः+आक्रमते) उस छिद्र से वह ऊपर चढ़ता है (स+आदित्यम्+आगच्छति) तब वह आदित्यलोक में आता है मानसिक वायवीय दशा से भी अतिसूक्ष्म तेजोमय आदित्यदशा में प्राप्त होता है अर्थात् मानसिक सामर्थ्य इसका इतना बढ़जाता है कि सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दीखता है यहां सर्वे प्रकार के मय विमष्ट होजाते हैं (तस्मै+सः+तत्र०) उसके लिये वह आदित्य भी डन्वर नामके बाजा के छिद्र के समान मार्ग देता है उससे वह ऊपर चढ़ता है (सः+चन्द्रमसम्+आगच्छति) वह चन्द्रलोक में आता है यह भी एक मानसिक दशा है इसको चान्द्रमस दशा कहते हैं (तस्मै+सः+तत्र+विजिहीते+यथा+दुन्दुभेः+जम्) उसके लिये यह चन्द्र भी दुन्दुभि के छिद्र के समान सूक्ष्ममार्ग देता है (सः+तेन+ऊर्ध्वः+आक्रमते) वह उससे ऊपर चढ़ता है (सः+लोकम्+आगच्छति) वह उस लोक में आता जो (अशोकम्+अहिमम्) शोकरहित और हिमरहित है (तस्मिन्+शारवतीः+समाः+वसति) वह वहां बहुत वर्ष वास करता है यह ब्रह्मलोक है । इसका कहीं नियत स्थान नहीं ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है समानरूप से सब स्थान में है । अब मनोद्वारा ज्ञान ही अनन्त होजाता है तब ही कहा जाता है कि वह ब्रह्मलोक में प्राप्त है यह भी एक अन्तिम मानसिक दशा है ॥ १ ॥

इति दशमं ब्राह्मणम् ॥

अथैकादशं ब्राह्मणम् ॥

—:o:—

एतद्वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति य एवं वेदेतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरणं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमन्तपो यं प्रेतमग्नाव-भ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—यही परम तप है जो व्याधिग्रस्त हो के तप करता है वह परलोक को जीतता है जो ऐसा जानता है यही परम तप है जो मृतपुरुष को अरण्य में लेजाता है वह परमलोक को जीतता है जो ऐसा जानता है यही परम तप है जो प्रेत को अग्नि के ऊपर रखता है वह परमलोक को जीतता है जो ऐसा जानता है ॥ १ ॥

पदार्थ—अथ इस परिशिष्ट में दिखलाते हैं कि व्याधि अवस्था में और मरणावस्था में भी ईश्वर की ही कृपा समझे कदापि विचित्र भी चिन्ता न करे किन्तु इसको भी एक महा तप ही समझे । यथा—(एतद्+वै+परमम्+तपः) यही मानो परम तप है (यद्+व्याहितः+तप्यते) जब व्याधि में गृहीत हो उसमें चिन्ता न कर ईश्वर की ही महिमा देखता हुआ तप करता है (परमम्+ह+एव+लोकम्+जयति+यः+एवम्+वेद) वह परमलोक को जीतलेता है जो ऐसा जानता है इसी प्रकार जब ज्ञानीपुरुष मृत्यु को आसन्न जाने उस समय भी परम हर्ष को ही प्रकाशित करे और यह समझे कि (एतत्+वै+परमम्+तपः) यही परम तप है (यम्+प्रेतम्+अरण्यम्+हरन्ति) जब मैं मरजाऊगा तब मृत शुभ को धन्धु धान्धवगाण अरण्य में जलाने के लिये लेजायगे जो यह विचार है इसी प्रकार (यम्+प्रेतम्+अग्नौ+अभ्यादधति) पुनः जब मैं मरूंगा तब शुभ प्रेत को भस्म करने के लिये अग्नि के ऊपर रखेंगे इस प्रकार जो न चिन्ता कर किन्तु हर्ष प्रकाशित करता है विचारता है, मानो वह परमतप ही कर रहा है ॥ १ ॥

इत्येकादशं ब्राह्मणम् ॥

अथ द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

— ० —

अन्नं ब्रह्मे त्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नसृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तप्ते स्माऽऽह प्रतृदः पितरं किं स्विदेवैवं विदुषे साधु

कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माऽऽह पाणि-
नां मा प्रातृद् कस्त्वनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति
तस्मा उ हेतदुवाच वीत्यन्नं वे व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भू-
तानि विष्टानि रमिति प्राणो वे रं प्राणे हीमानि सर्वाणि
भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति
सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—कोई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है सो ठीक नहीं । क्योंकि प्राण के
बिना अन्न सबने लगता है । कोई कहते हैं कि प्राण ब्रह्म है सो ठीक नहीं क्योंकि
अन्न के बिना प्राण भूगने लगता है किन्तु जब ये दोनों देवताएं अन्न और प्राण
मिलकर एक होती हैं तब परमत्व (ब्रह्मत्व, बृहत्त्व, महत्त्व) को प्राप्त होती हैं ।
इस तत्त्व को जान और निश्चय कर प्रातृद् नाम का कोई आचार्य अपने पिता के
निकट आके कहने लगा कि ऐसे जाननेहारे विद्वान् के लिये क्या ही शुभ कहूं
क्या ही इसके लिये अशुभ कहू यह बचन सुन हाथ से निवारण करना हुआ
पिता बोला है प्रातृद् ! ऐसा मत कहो कौन इन दोनों को एक बना कर परमत्व को
प्राप्त होता है उस पुत्र से पिता पुनः यह कहने लगा कि हे पुत्र ! वीरशब्द को
जानो इस में प्रथम शब्द “ वी ” है अन्न ही “ वी ” है क्योंकि अन्न में ही मैं सर्व
प्राणी विष्ट अर्थान् प्रविष्ट हैं पुनः पिता ने कहा कि इस में द्वितीय शब्द “ र ” है
प्राण ही “ र ” है क्योंकि प्राण में ही ये सब प्राणी रमण (आनन्द) करते हैं
जो ऐसा जानता है इस में सर्व प्राणी प्रविष्ट होते हैं और इस में सब प्राणी रमण
करते हैं ॥ १ ॥

पदार्थ—इस परिशिष्ट में अन्न और प्राण का वीरत्त्व गुण दिखलाते हैं अन्न
और प्राण दोनों परमोपयोगी वस्तु हैं इसमें मन्देह नहीं किन्तु ये उपास्य नहीं ।
इनके यथाविधि प्रयोग से प्राणी वीर बलिष्ठ होता है । इतनी ही बात है । यथा—
(एकैऽन्नम्+ब्रह्म+इति+आहुः) कोई आचार्य कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है अर्थान्
ब्रह्मवन् यह भी पूज्य उपास्य है । (तन्+न+तया) किन्तु यह मत ऐसा मन्तव्य
नहीं अर्थान् अन्न ब्रह्म है ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है क्योंकि (प्राणाद्+ऋते+

अन्नम्+पूरयति) प्राण के बिना अन्न सद ही जाता है इसमें दुर्गन्धि आही जाती है किन्तु प्रश्न येता नहीं अतः “ अन्न प्रदा है” यह कथन ठीक नहीं इसी प्रकार (एके+प्राणः+प्रदा+इति+आहुः+तत्+न+तथा) कोई आचार्य्य कहते हैं कि प्राण प्रदा है । सो यह ठीक नहीं क्योंकि (अन्नाद्+ऋते+प्राणः+शुष्यति+चै) अन्न के बिना प्राण सूख ही जाता है तब ये दोनों अन्न और प्राण कैसे मन्तव्य हैं इस पर प्रातृद् नाम का कोई आचार्य्य कहता है कि (ते+एते+द्+एव+देयते+एकवाभूयम्+भूत्वा+परमताम्+गच्छतः) किन्तु मैं दोनों देयताएँ एक होकर परमता अर्थात् महत्त्व को प्राप्त करती हैं वृथक् २ नहीं यह इसका परमतत्त्व है । इस तत्त्व को जान प्रसन्न हो (तत्+द्+प्रातृद्+पितरम्+आह+स्म) प्रातृद् नाम का कोई पुरुष पिता से जाकर कहने लगा कि हे पिता (एव+विदुषे) जो कोई अन्न और प्राण को इस प्रकार जानता है उस विद्वान् के लिये (किं+स्विद्+एव+साधु+कुर्व्याम्) कौनसा साधु कर्म करूं कौनसा उपकार कौनसा कल्याण करूं (अस्मै+विम्+एव+असाधु+कुर्व्याम्) इसके लिये अशुभ ही क्या करूं अर्थात् ऐसे पुरुष नित्यवृत्त और कृतकृत्य होते हैं अतः नये उपकार से प्रसन्न और अपकार से अप्रसन्न होते हैं । पुत्र के इस सिद्धान्त को भी हानिकर जान (भः+द्+आह+स्म+पाणिना) वह पिता हाथ से निशारण करता हुआ कहने लगा कि (मा+प्रातृद्) हे पुत्र प्रातृद् ! ऐसा मत कहो (कः+तु+एनयोः+एकवाभूयम्+भूत्वा+परमताम्+गच्छति+इति) कौन पुरुष इस अन्न और प्राण को एक में मिलाकर महत्त्व को प्राप्त होता है अर्थात् कोई नहीं । तब पुनः इसको कैसे मानना चाहिये इस पर (तस्मै+उ+एतस्+उवाच) उस पुत्र से वह पिता कहने लगा कि पुत्र ! (वी+इति+अन्नम्+वै+यी) इन दोनों को मिलाकर वीर समझो इसमें प्रथम अक्षर “वी” है । अन्न को “वी” कहते हैं (इह+इमानि+सर्वाणि+भूतानि+अग्ने+विष्टानि) क्योंकि ये सब प्राणी अन्न में ही विष्ट अर्थात् प्रविष्ट रहते हैं यदि अन्न इन्हें न मिले तो इनका अस्तित्व नहीं रह सकता है अतः अन्न ही “वी” है (रम्+इति) वीर शब्द में द्वितीय अक्षर “र” है (प्राणः+वै+रम्+हि+इमानि+सर्वाणि+भूतानि+प्राणी+रमन्ते) प्राण को ही “र” कहते हैं क्योंकि ये सब प्राणी प्राण में ही रमण करते हैं यदि प्राण वायु न हो तो ये जीव अपने को कैसे धारण कर सकते हैं इसी के आश्रय से सब जीव आनन्द भोग रहे हैं अतः प्राण ही “र” है इससे सिद्ध

हुआ कि इन दोनों को “वीर” ऐसा मान इसके गुणों का अध्ययन करें । आगे फल कहते हैं (मर्वाणि०) जो ऐसा जानना है इसमें सब प्राणी प्रवेश करते हैं और सब प्राणी रमण करते हैं ॥ १ ॥

इति द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

अथ त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयत्युद्धा-
त्सादुक्थविद्धीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य
एवं वेद ॥ १ ॥ यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि
भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि भैष्ठयाय
यजुषः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥ साम
प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि
सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि भैष्ठयाय कल्पन्ते साम्नः
सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥ क्षत्रं प्राणो
वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र
क्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य
एवं वेद ॥ ४ ॥

अनुवाद—प्राण को ही उक्थ (स्तोत्र, चक्र, सामगान इत्यादि) जाने नि-
श्चय प्राण ही उक्थ है क्योंकि प्राण ही इस सब को उठाता है । इस उपासक से
उक्थवित् धीर पुरुष उठता (जन्म लेता) है जो ऐसा जानता है वह उक्थ का
सायुज्य और सलोकता को प्राप्त होता है ॥ १ ॥ प्राण को ही यजुः (यजुर्वेद)
जाने क्योंकि प्राण ही यजु है क्योंकि प्राण में ही ये सब प्राणी युक्त (जुड़े) हैं
इस की भैष्ठ्या के लिये सब प्राणी संयुक्त होते हैं । यजु के सायुज्य और सलो-

कता को वह पाता है जो ऐसा जानता है ॥ २ ॥ प्राण को सामवेद जाने । प्राण ही साम है क्योंकि ये सब प्राणी प्राण में ही सगम करते हैं—संमिलन करते हैं । इससे सगही प्राणी मिलते हैं और इसी श्रेष्ठता के लिये समर्थ होते हैं । साम के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है ॥ ३ ॥ प्राण को क्षत्र जाने प्राण ही क्षत्र है क्योंकि प्राण ही इस देह को क्षणिति (हिंसा) से प्राण करता है अतः प्राण ही क्षत्र है । वह पुरुष अत्र क्षत्र को विशेषरूप से पाता है क्षत्र के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

पदार्थ—उपनिषदों में तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध अर्थों का द्योतक उक्त शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है वेदों में यह स्तोत्रवाचक आया है । पक्ष ब्राह्मण ग्रन्थों में यह अनेकार्थ होनाता है, अतः इस परिशिष्ट में उभ्यादि अनेक शब्दों का अर्थ निश्चित करते हैं । (उक्थम्+प्राण+वै+उक्थम्) प्राण को ही उक्थ जाने प्राण ही इस शब्द में उक्थ कहाता है, उक्त् रूपा से उक्थ बना है ऐसा मान इस अर्थ को प्राण में पढ़ाते हैं, यथा—(हि+इदम्+सर्वम्+प्राणः+उत्थापयति) क्योंकि क्या स्थानर क्या जगम इस समस्त वस्तु जात को प्राण ही उठाता है अतः प्राण ही उक्थ है “उत्थापयति यत्तत् उक्थम्” आगे फल कहते हैं—(अस्मात्+ह+उक्थयिद्+वीरः+उत्+तिष्ठति) ऐसे ज्ञानी विद्वानी पुरुष से पुत्र भी उक्थवेत्ता और वीर उठेगा अर्थात् उत्पन्न होता है (उक्थस्य+सायुज्यम्+सलोकताम्+जयति+यः+एवम्+वेद) वह पुरुष जो ऐसा जानता है उक्थ की सलोकता और सायुज्य को पाता है (यजुः) प्राण को यजुः=यजु शब्द से गम्यमान अर्थ युक्त समझे (प्राणः+वै+यजुः) प्राण ही यजु है (इमानि+सर्वाणि+भूतानि+प्राणे+युज्यन्ते) ये सब भूत प्राण में ही युक्त होते हैं प्राण की सत्ता में ही लीन रहते हैं आगे फल कहते हैं—(अस्मे+ह+सर्वाणि+भूतानि+श्रेष्ठयाय+युज्यन्ते) इस तत्त्व के जाननेहारे विद्वान् के लिये सब ही प्राणी श्रेष्ठता सम्पादनार्थ युक्त होते हैं अर्थात् यह ज्ञानी हम में श्रेष्ठ हो ऐसा सब ही श्रोग करते हैं और (यजुः+सायुज्यम्+सलोकताम्+जयति+यः+एवम्+वेद) यजु के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है । यजु धातु से यजु शब्द सिद्ध माना है “युनक्तीति यजुः” ॥ २ ॥ (साम) प्राण को सामवत् समझे (प्राण+वै+साम) प्राण ही साम है (हि+इमानि+सर्वाणि+भूतानि+प्राणे+सम्पन्वि) क्योंकि ये सब प्राणी प्राण ही में आकर सगत अर्थात् इकट्ठे होते हैं ।

अतः प्राण ही साम है। आगे फल कहते हैं—(अस्मै+सर्वाणि+भूतानि+सम्यञ्चि) इस ज्ञानी के लिये सब प्राणी संगत होते हैं केवल संगत ही नहीं किन्तु (भैष्ठ्याय+कल्पन्ते) इसकी श्रेष्ठता के लिये समर्थ होते हैं। (साम्नः+सायुज्यम्+सलोकताम्+जयति+यः+एवम्+वेद) वह साम के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है। यहां सम् अच् धातु से साम की सिद्धि मानी गई है “सम्यगञ्चन्ति सगच्छते आस्मिन्निति साम” जिसमें सब कोई संगत हों वह साम है ॥ ३ ॥ (क्षत्रम्) इस प्राण को ही क्षत्र, (क्षत्रिय वर्ण अथवा बल) मानकर इसके गुण का अध्ययन करे (प्राणः+वै+क्षत्रम्) प्राण ही क्षत्र है, आगे क्षत्र शब्दार्थ प्राण में घटाते हैं। क्षत्र इति दो शब्दों से क्षत्र बना है शस्त्रादिकों से जो धाव होता है वह क्षत्र वस्तु जो रक्षा करे वह क्षत्र कहाता है। इसी भाव को अब दिखलाते हैं—(एतम्) इस देह को (क्षणितो+प्राण+प्रायते) क्षणितु=क्षत से जिस कारण प्राण वचाता है अतः (प्राणः+हि+वै+क्षत्रम्) प्राण ही क्षत्र अर्थात् क्षत्रिय वर्ण वा बल है, आगे फल कहते हैं—(अत्रम्+क्षत्रम्+प्र+आप्नोति) अत्र=जित-की। रक्षा=प्राण दूसरे से न होंसके यह अत्र अर्थात् महादेवजी ओजस्वी क्षत्र को पाता है और (क्षत्रस्य+सायुज्यम्०) क्षत्र के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

इति त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हेवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ (पित्रो) इनमें आठ अक्षर हैं और गायत्री के एक चरण में भी आठ ही अक्षर हैं अतः इस गायत्री का यह एक

चरण ये तीन भूमि, अन्तरिक्ष और बुलोक हैं सो जो कोई इसके इस चरण को ऐसा जानता है यह इन तीनों लोकों में जितना प्राप्तव्य है उतना पाता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(भूभिः+अन्तरिक्षः+धौ+इति+अष्टौ+अक्षराणि) भू, मि, अं, त, रि, ज ये छः अक्षर होते हैं और शौ में दि, यौ, विश्लेश करने से दो अक्षर होते हैं इस प्रकार इन तीनों में आठ अक्षर होते हैं और वत्, स, वितु, यं, रे, एयम् (णि, यम्) इस प्रकार (गायत्र्यै+एकम्+पदम्+अष्टाक्षरम्+ह+वे) गायत्री का एक पद भी अष्टाक्षर है अर्थात् इसमें भी आठ अक्षर हैं इस कारण (अस्याः+एतद्+उ+ह+एव) इस गायत्री का यह एक पद, निश्चय (एतन्) ये तीनों लोक हैं । आगे फल कहते हैं—(अस्याः+एतद्+पदम्+यं+एवम्+वेद) इसके इस एक पद को जो इस रीति से जानता है (एषु+त्रिषु+लोकेषु+यावत्) इन तीनों लोकों में जितना प्राप्तव्य है (सः+तावद्+ह+जयति) उतना वह पाता है ॥ १ ॥

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतद् वैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ २ ॥

अनुवाद—ऋ, चः, य, जू, पि, सा, मा, नि ये आठ अक्षर होते हैं और गायत्री का एक पद भी अष्टाक्षर है अतः इसका एक पद ये तीनों ऋचः यजूंषि सामानि वेद हैं यह त्रयीविद्या जितनी है उतना वह पाता है जो इसके इस पद को ऐसा जानता है ॥ २ ॥

पदार्थ—(ऋचः+यजूंषि+सामानि+इति+अष्टौ+अक्षराणि) ऋ, चः, य, जू, पि, सा, मा और नि ये आठ अक्षर हैं (गायत्र्यै+एकम्+पदम्+अष्टाक्षरम्+ह+वे) और गायत्री के “म, गौं, दे, व, स्य, धी, मही” इस एक पद में भी आठ ही अक्षर हैं अतः (एतस्याः+एतद्+उ+ह) इस गायत्री का यह एक चरण (एतन्) ये तीनों वेद हैं । आगे फल कहते हैं—(यावती+इयम्+त्रयीविद्या) जितनी यह तीनों विद्याएँ हैं (तावद्+ह+सं+जयति+यं+अस्याः+एतद्+पदम्+एवम्+वेद) उतना वह पाता है जो इसके इस पद को इस प्रकार जानता है ॥ २ ॥

आणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं

गायत्र्यै पदमेतद्दु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध
जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं
दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वे चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं
पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्व्वमुख्येवैष रज
उपर्य्युपरि तपत्येवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एत-
देवं पदं वेद ॥ ३ ॥

अनुवाद—प्राण अपान और व्यान इन तीन शब्दों में आठ अक्षर
हैं और गायत्री का एक पद भी अष्टाक्षर है अतः इसका यह पद ये तीनों
प्राण, अपान और व्यान हैं जितना यह प्राणि समुदाय है उतना यह पाता है जो
इसके इस पद को ऐसा जानता है अथ इसका यही तुरीय दर्शतपद है जो परोरजा
है और जो यह तप रहा है जो यह चतुर्थ है वही तुरीय है जो दृष्ट सा है वह
दर्शत पद है और यह परोरजा है जो यह सर्व्व राजसात्मक लोक के ऊपर २ तप
रहा है । इसी प्रकार वह (उपासक) भी श्री और यश से प्रकाशित होता है
जो इसके इस पद को ऐसा जानता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(प्राणः+अपानः+व्यान+इति+अष्टौ+अक्षराणि) प्राण अपान
और व्यान इन तीनों में अष्टाक्षर हैं (गायत्र्यै+एकम्+पदम्+अष्टाक्षरम्+इ+वै,)
और गायत्री के “ धियो यो नः प्रचोदयात् ” इस एक पद में भी आठ अक्षर
हैं अतः (अस्याः+एतद्+उ+इ+तत्) इस गायत्री का यह पद ये तीन प्राण
अपान और व्यान हैं । आगे कल कहते हैं—(यावद्+इदम्+प्राणि+वानत्+इ+
सः+जयति) जितना यह प्राणिसमूह है उतना यह प्राप्त करता है (यः+अस्या+
एतत्+पदम्+एषम्+वेद) जो उपासक इस गायत्री के (धियो+यो+नः+प्रचोद-
यात्) इस पद को इस रीति से जानता है शब्दात्मक गायत्री के तीन पद कहे गए
हैं और इसका जो मुख्य वाच्य परमात्मा है यही चतुर्थ पद है इसी भाव को अव
दितलाते हैं—(अथ) अथ शब्दात्मक गायत्री के वर्णन के पश्चात् वाच्य का
निरूपण करते हैं । (अस्याः) इसके ये ही—१ तुरीय २ दर्शतपद ३ परोरजा है यह
तप रहा है इन पदों का स्वयं ऋषि अर्थ करते हैं (यद्+वै+चतुर्थम्+तत्+तुरीयम्)

जो चतुर्थ है वही तुरीय है अर्थात् तुरीय शब्द का अर्थ चतुर्थ है (ददरो+इव+
दर्शितम्+पदम्+इति) ददरासा दर्शन पद है भाव इसका यह है कि परमात्मा
सर्वथा दृश्य नहीं होता है इसी हेतु इसको ददरो इव कहा है अर्थात् दृश्य के
समान है परन्तु सर्व मनुष्यों को दृष्टिगोचर नहीं होता यहां “ ददरो ” परोक्ष
लिट् लकार है हमसे भी यह दिखलाया कि यह परोक्ष अथवा पुरातन श्रवियों से
दृष्ट सा है वही परमात्मा दर्शनपद अर्थात् दर्शनीय चतुर्थ पद है पुनः (एवः+
एव+परोरजाः) यही परोरजा है । परोरजा का म्ययं अर्थ करते हैं (सर्वम्+उ+
दि+रजः) जो पुद्गल हम देखते हैं वे सब रंजनात्मक रजोगुण युक्त क्षणिक हैं
(एवः+दि+एव+उपरि+उपरि+तपति) इस रजोगुण ससार के ऊपर २ जो यह
प्रकाशित हो रहा है वह परोरजा है=जो रजस् लोक लोकान्तर से परे है वह
परोरजा कहाता है । अब आगे फल कहने हैं—(एवम्+ह+एव+भिया+यरासा+
तपति) यह उपात्मक इसी प्रकार शोभा से और यश से प्रकाशित होता है (यः+
अत्याः+एवद+पदम्+एवम्+वेद) जो इस गायत्री के इस चतुर्थ पद को ऐसा
जानता है ॥ ३ ॥

सैषा गायत्र्येतस्मिस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रति-
ष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं
तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति
य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्धध्याम तद्वै तत्सत्यं
बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहु-
र्वलं सत्यादोगीय इत्येवम्येषा गायत्र्यध्यात्म प्रतिष्ठिता सा
हैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्गयांस्तत्रे
तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूं सावित्रीमन्वाहेपेव सा स
यस्मा अन्वाह तस्य प्राणां स्त्रायते ॥ ४ ॥

अनुवाद—चतुर्थ जो दर्शत पद है जो पद सर्व के ऊपर रहने के कारण
परोरजा कहाता है इस पद के आश्रय में सो यह गायत्री प्रतिष्ठिता है । सत्य के

आश्रय में वह पर प्रतिष्ठित है नयन के समान ही सत्य है क्योंकि नयन ही के समान सत्य है इस हेतु जब दो आदमी विवाद करते हुए आते हैं एक वो कहता है कि मैंने देखा है दूसरा कहता है कि मैंने सुना है मो इन दोनों में से जो कहता है कि मैंने देखा है इसी के लिये हम भ्रमा करते हैं (सुनने वाले के लिये नहीं) बल के आश्रय में यह सत्य प्रतिष्ठित है । प्राण के समान ही बल है वह सत्य प्राण में प्रतिष्ठित है इस हेतु कहते हैं कि सत्य से बल ओजस्वी है । इसी प्रकार यह गायत्री अभ्यात्मक के आश्रय में प्रतिष्ठिता है सो इसने गायों की रक्षा की है निश्चय प्राण ही गाय हैं इसने प्राणों की रक्षा की है जिस हेतु इसने गायों की रक्षा की है अतः इसका गायत्री नाम है । सो यह (आचार्य उपनयन के समय बहुत से) जिस सावित्री को कहता है वह यही गायत्री है । वह (आचार्य) जिस (शिष्य) को इस गायत्री का उपदेश देता है उसके प्राणों की यह रक्षा करती है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(तुरीये) चतुर्थे=चौथा (परोरजसि) रजस्=सूर्यलोक, पृथ्वीलोक, अन्न लोक आदि इन लोकों से जो पर=उत्कृष्ट, दूर, ऊपर विद्यमान हो वह परोरजा है (दर्शते+पदे) दर्शनीय=देष्टा पद (एतास्मिन्) इस तुरीये परोरजा दर्शत पद के आश्रय में (सा+एषा+गायत्री+प्रतिष्ठिता) सो यह गायत्री प्रतिष्ठित है अर्थात् यह गायत्री वसी परमात्मा को कहती है (तद्+यै+तत्+सत्ये+प्रतिष्ठितम्) वह परमात्मपदे भी सत्य के आश्रय पर ही प्रतिष्ठित है । यदि सत्य नहीं तो उस परमात्मा के ज्ञान के लिये कौन प्रयत्न करे जो जितनी ही सत्य का अन्वेषण करेगा उसको उतना ही परमात्मा का बोध होगा वह सत्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञातव्य है दूसरे के कथनमात्र पर विश्वास कर उस सत्य को न मान लैवे किन्तु प्रबल मनन निदिध्यासनादि व्यापार से सत्य को प्रत्यक्षरूप से जाने सत्य नेत्र के समान सहायक है इस भाव को जमाने के लिये आगे का प्रकरण आरम्भ करते हैं (चक्षुः+यै+सत्यम्-) नयन के समान ही सत्य (चक्षुः+दि+यै+सत्यम्) नयन से जो कुछ देखते हैं उनमें भी अनेक भ्रम होते हैं किन्तु बहुत न्यून दिन में प्रत्यक्षरूप से देखकर कह देते हैं कि यह मनुष्य यह पशु यह सर्प यह रज्जु है वहीं २ नेत्र से देखते हुए भी चन्द्र नक्षत्र की आकृति का यथार्थ बोध नहीं कर सकते दूरस्थ पदार्थ के विषय में भी यही दशा है । तथापि समीपस्थ

यस्तु को जिसको अन्धी तरह देखते हैं नेत्र से देख निश्चय कर लेते हैं अतः पुनः
 अपि कहते हैं कि यस्तु ही के समान सत्य है (तस्माद्+यद्+इदानीम्+द्वौ+विषद-
 मानौ+प्रेयाताम्) इस हेतु जब दो पुरुष विवाद करते हुए आते हैं (अहम्+अह-
 र्शम्+अहम्+अधौपम्+इति) एक कहता है कि मैंने देखा है दूसरा कहता है कि
 मैंने सुना है (यः+एवम्+श्रूयाद्+अहम्+अदर्शम्+इति) उन दोनों में से जो यह
 कहे कि मैंने देखा है (तस्मै+एव+अहव्याम्) जमी के ऊपर हम अट्टा करेंगे और
 दूसरे के ऊपर नहीं (तद्+वै+तत्+मत्स्यम्+पले+प्रतिष्ठितम्+प्राणः+वै+यलम्+तत्+
 प्राणो+प्रतिष्ठितम्) यह सत्य यल के आश्रय में प्रतिष्ठित है प्राण के मुख्य यल है।
 प्राण के समान यल में ही यह सत्य प्रतिष्ठित है। यल=धार्मिक यल की न्यूनता
 हो जाती है फिर सत्य की प्राप्ति नहीं होती। यह यल प्राण के समान है अतः
 प्राण को ही यल कहते हैं (तस्माद्+आहुः+मत्यान्+यलम्+भोगीयः+इति)
 इसलिये कहते हैं कि मत्स्य से यल भोगीय=भोगस्वी, यलवत्तर है क्योंकि यदि
 धार्मिक यल नहीं तो सत्य छिप जाता है मत्स्य की रक्षा के लिये यल की आश्रय-
 कता है (एवम्+उ) जैसे कहा है कि यह तुरीय धर्म मत्स्य के ऊपर, मत्स्ययल के
 ऊपर प्रतिष्ठित है यल अध्यात्म यस्तु है इसी प्रकार (एवा+गायत्री+अध्यात्मम्+
 प्रतिष्ठिता) गायत्री केवल तुरीयवत् पर ही प्रतिष्ठित नहीं है किन्तु अध्यात्म
 जो नयन, श्रोत्र, वागादि प्राण हैं उनमें भी प्रतिष्ठित है क्योंकि यदि
 हमें मृग से न बोलें, मन में मनन न करें, बुद्धि से न देखें तो इसका
 ज्ञान ही कैसे हो सकता। गायत्री यह शब्द ही कहलाता है कि यह प्राणों से
 सम्बन्ध रखनेवाली है कैसे (सः+एवा+इ+गयान्+तत्रे+प्राणा+वै+गया+तान्+
 तत्रे) गय नाम प्राणों का है त्रे धातु से त्र, त्री आदि शब्द बनते हैं गयों की
 जो रक्षा करे वह गायत्री कहाती है (तत्+यद्+गयान्+तत्रे+तस्माद्+गायत्री)
 जिस कारण इस अज्ञाने प्राणों की रक्षा की है अतः इसका गायत्री नाम हुआ
 अतः यह अध्यात्म में सम्बन्ध रखती है। पुनः इसकी प्रशंसा करते हैं—(सः)
 वह प्रसिद्ध आचार्य चप्लयन के समय (याम्+एव+अमुम्+सावित्रीम्+अन्वाह)
 जिस सावित्री की प्रथम एक पद पुनः आधी श्रुति पुनः समस्त श्रुति को बहुत
 से कहता है (एवा+एव+म्मा) यह वही गायत्री है इस का देवत्व सविता है अतः
 हमें मालिनी कहते हैं यही गायत्री उपनयन के समय में वही ज्ञाती है (सः+

यस्मै+आहु+तस्य+प्राणान्+ध्यायेत) वह आचार्य इस श्रुचा को जिससे कहता है उसके प्राणों को यह रक्षा करनी है ॥ ४ ॥

तां हेतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुवेतद्वाचमनु-
श्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुष्टुयाद्यादिह
वा अप्येवं विद्वद्विप्र प्रतिगृह्णाति न ह्येव तद्गायत्र्या एकञ्च
न पदं प्रति ॥ ५ ॥

अनुवाद—कोई आचार्य इस सावित्री अनुष्टुप् का उपदेश देते हैं वे हममें
हेतु देते हैं कि अनुष्टुप् बाणी है इस हेतु हम बाणी का उपदेश देते हैं (जो इस
समय योग्य है) इस पर श्रुति कहते हैं कि ऐसा न करें किन्तु सावित्री गायत्री
का ही उपदेश दें यदि ऐसा जाननेहारा विद्वान् बहुश भी प्रतिग्रह (दान) लेवे
तो भी गायत्री के एक पद के भी वह बराबर नहीं है ॥ ५ ॥

पदार्थ—कोई २ अन्य शास्त्रावलम्बी आचार्य “तत्सवितुर्वरेण्यम्” इस गायत्री
मन्त्र का उपनयन के समय उपदेश नहीं करते किन्तु “तत्सवितुर्वरेण्यमिह वयं देवस्य
भोजनम् श्रेष्ठं सर्वपातमं तुरंगमस्य धीमहि” इस मन्त्र का उपदेश करते हैं । इस श्रुचा का
देवता सविता है अतः इसको भी सावित्री कहते हैं इसका छन्द अनुष्टुप् है अतः
वह अनुष्टुप् कहता है, यहां श्रुति कहते हैं कि “तत्सवितुर्वरेण्यम्” इसी गायत्री
का अनुशासन करना चाहिये और “ तत् सवितुर्वरेण्यमिह ” इस अनुष्टुप् का उप-
देश इस समय न करे यथा (एके+ताम्+ह+एताम्+सावित्रीम्+अनुष्टुमम्+आहुः)
कोई अन्य शास्त्री आचार्य “तन् सवितुर्वरेण्यमिह” इस सावित्री अनुष्टुप् का उपनयन
के समय उपदेश करते हैं और इस के लिये हेतु देते हैं कि (वाग्+अनुष्टुप्+
एतद्वाचम्+अनुष्टुमम्+इति) अनुष्टुप् छन्द वाक् अर्थात् वेदस्वरूप है इस हेतु इस
वाक् को अनुवचन (उपदेश करते हैं) कमराः जिसका उपदेश दिया जाता उसे
अनुवचन कहते हैं अनुष्टुप् धातु का यही अर्थ है । (न+तया+कुर्यात्+गायत्रीम्+
एव+सावित्रीम्+अनुष्टुयान्) इस पर कहते हैं ऐसा कोई न करे अर्थात् अनुष्टुप्
का उपदेश न करें किन्तु गायत्री का ही उपदेश करे जो सावित्री कहाती है ।
सवितुः जनयिता पिता परमात्मा जिसका देवता हो वह सावित्री । अब आगे फल
कहते हैं (यदि+ह+वे+अपि+एवंविद्+बहु+द्वय+प्रतिगृह्णाति) यदि गायत्रीविद्

पुरुष बहुतसा धन प्रतिग्रह् अर्थात् दान में लेने तो भी यह प्रतिग्रह् (गायत्र्या + तत् + एक्चन + पदम् + प्रति + न + द्वे) गायत्री के एक पद का भी तुल्य नहीं अर्थात् ऐसा विद्वान् यदि यज्ञ में अधिक दक्षिणा प्रयोजन पर ले लेवे तो यह अधिक नहीं है ॥ ५ ॥

स य इमां स्त्रीलोकान् पूर्णान् प्रतिगृहीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृहीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत् प्रतिगृहीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पद माप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृहीयात् ॥ ६ ॥

अनुवाद—सो जो कोई इन पूर्ण स्त्रियों लोकों का प्रतिग्रह (दान) लेता है। यह प्रतिग्रह इस गायत्री के प्रथम पद के बराबर है। और यह त्रयी विद्या जितनी है उतना जो प्रतिग्रह लेता है यह इसके द्वितीय पद के बराबर है। और जितना यह प्राणिसमूह है जो उतना प्रतिग्रह लेता है यह इस तृतीय पद के बराबर है। और इसका यही चतुर्थ दर्शत पद है जो परोरजा है और जो यह प्रकाशित हो रहा है। इसके बराबर कोई वस्तु है ही नहीं फिर यह कहा से उतना प्रतिग्रह लेगा ॥ ६ ॥

पदार्थ—पुन गायत्री की ही महिमा को विशेषरूप से दिखलाते हैं। सोता, चादी, पशु, अन्न आदि सामान्य प्रतिग्रह को तुच्छ समझ महा असंभव प्रतिग्रह को दिखलाते हुए सूचित करते हैं कि गायत्री के तत्त्वविद् किसी प्रतिग्रह को क्यों न लवे वह अपनी योग्यता से अधिक नहीं लेता है, अतः वह दोषी नहीं। (स + य + इमां + स्त्रीन् + लोकान् + पूर्णान् + प्रतिगृहीयात्) सो जो कोई गायत्रीविद् पुरुष इन स्त्रियों लोकों को धनधान्य से पूर्ण कर प्रतिग्रह में ले लेवे (स + अस्या + एतत् + प्रथमम् + पदम् + आप्नुयात्) वह प्रतिग्रह इस गायत्री के “तत्त्वविदुर्वेदयम्” इसी प्रथम पद को प्राप्त करेगा अर्थात् उतना प्रतिग्रह गायत्री के प्रथमपद के बराबर है, परन्तु तीनों लोकों का दानदाता और प्रतिग्रहीता कौन है ? (अयं + यावती + इयम् +

त्रयी+विद्या+यः+तावत्+गृहीयात्+स+अस्याः+एतद्+द्वितीयं+पदं+आप्नुयान्) और जितनी यह त्रयी विद्या ऋग्, यजु, साम है उतना जो कोई प्रतिग्रह में लेता है वह प्रतिग्रह इस गायत्री के “मगोदेवस्य धीमहि” इसी द्वितीय पद को पाता है अर्थात् उतना प्रतिग्रह गायत्री के द्वितीय पद के बराबर है इसी प्रकार (अथ+यावद्+इदम्+प्राणिभ्यः+तावत्०) और जितना प्राणीसमूह है उतना कोई प्रतिग्रह लेता है तो वह गायत्री के तृतीय पद “धियो यो नः प्रचोदयात्” के बराबर है । (अथ+अस्याः+एतद्+एव+तुरीय+दर्शतं+पदं+परोरजा+यः+एषः+तपसि) और इसका यही चतुर्थ पद है जो परोरजा है और जो सर्वत्र प्रशशित हो रहा है (न+एष+केनचन+आप्यम्) किसी प्रतिग्रह से यह तो प्राप्त हो ही नहीं सकता अर्थात् इस चतुर्थ पद के बराबर कोई दान ही नहीं सब (कुतः+उ+एतावत्+प्रतिगृहीयात्) यह उतना कहा से प्रतिग्रह ले सकता है ॥ ६ ॥

तस्या उपस्थानं गायत्र्यपस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदपदासि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्राप्नोमिति वा ॥ ७ ॥

अनुवाद—उस गायत्री का उपस्थान कहा जाता है । गायत्री ! तू एकपदी द्विपदी त्रिपदी और चतुष्पदी है । तू अपद है क्योंकि तू नहीं जाती जाती तुझे नमस्कार हो जो तू चतुर्थपरोरजा दर्शत पद है । यह पापिष्ठ और पापकर्म मुझको प्राप्त न हो । विद्वान् जिस पापिष्ठ से द्वेष करता है वह मेरे होनाप्य । उसके लिये अभिलषित पदार्थ समृद्ध न हो अथवा अवश्य ही उस पापिष्ठ को वह काम समृद्ध नहीं होता है जिसके लिये इस प्रकार गायत्रीविद् उपस्थान करता है । मैं इसी अभीष्ट को पाऊँ ॥ ७ ॥

पदार्थ—(तस्याः+उपस्थानम्) अब गायत्री का उपस्थान कहते हैं । ध्येय देवता को मन से प्रत्यक्ष देखता हुआ समीप में उपस्थित हो प्रार्थना करने का नाम उपस्थान है । (गायत्री+आसि+एकपदी) हे गायत्री ! ये तीनों लोक तेरा एक पद है

अतः तू एकपदी है (द्विपदी+त्रिपदी+चतुष्पदी) त्रयो विधा तेऽ द्वितीय पद है अतः तू द्विपदी है । प्राण तेऽ तृतीय पद है अतः तू त्रिपदी है । दशंत पद तेरा चतुर्थ पद है अतः तू चतुष्पदी है (अपद्+अभि+न+दि+पद्यसे) यद्यपि तू चतुष्पदी है तथापि तू अपद् अर्थात् अपदी है क्योंकि तू नहीं जानी जाती है । यहां गायत्रीवाच्य परमात्मा को ही गायत्रीत्वेन ध्यान कर यह धर्मेन दिया गया है (नमः+वे+तुरीयाय+दर्शनाय+पश्याय+परोरजसे) तुझे नमस्कार है जो तू चतुर्थ दशंत पद है और लोकलोकान्तर से परे रहने के कारण परोरजा कहाती है । हे गायत्री ! (अमौ+अदः+भ्य+प्रापद्+इति) मेरी कृपा से यह पापरूप भयङ्कर शत्रु था पापिष्ठ पुरुष मुक्तो कदापि भी प्राप्त न हो (यम्+द्विष्यात्+अस्मै+अस्मै+कामः+मा+समृद्धि+इति) विद्वान् जिस पापिष्ठ पुरुष से द्वेष करें उसकी कोई अभिलाषा न बढ़ने पावे (या) अथवा यह निश्चय ही है कि (न+एष+इ+अस्मै+सः+कामः+समृध्यते) इस दुष्ट पापिष्ठ पुरुष का वह अभीष्ट कभी भी नहीं बढ़ता है (यस्मै+एषम्+उपविष्टते) जिस पापिष्ठ के लिये गायत्रीविद् जब यह कहता है कि (अहम्+अदः+प्रापद्+इति) मैं इस अभिलाषित वस्तु को पाऊं तब वह उसको अवश्य ही पालेता है । यह गायत्री का माहात्म्य है अतः जिसके लिये वह अभिशाप करता है वह अवश्य ही नष्ट होजाता है ॥ ७ ॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्बुहो तद्गायत्रीविदब्रूथा अध कथं हस्तीभूतोवहसीति मुखं ह्यस्याः सम्राणं न विदाञ्चकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्वीवाग्नावभ्यादधाति सर्वमेव तत् सन्दहत्येवं हैवैवविद्यद्यपि बह्वीव पापं कुरुते सर्वमेव तस्मात्पसाय शुद्धः पूतो जरोऽमृतः सम्भवति ॥ ८ ॥

अनुवाद—इसके विषय में यह कहा जाता है कि एक समय जनक वैदेह ने आप्ततराशि बुडिल नाम के आचार्य से कहा कि यह आश्चर्य की बात है कि आप अपने को गायत्रीविद् कहते हैं तब कैसे हस्ती के समान ढोरहे हैं उनको उत्तर दिया कि हे सम्राट् ! मैंने इसका मुख नहीं जाना है जनक ने कहा कि हे आचार्य !

उसका अग्नि ही मुख है-सो यदि कोई अग्नि के ऊपर कितना ही बहुत रखता है वह अग्नि उस सय को भस्म कर देता है । ऐसा ही एवविद् पुरुष यद्यपि बहुतसा प्रतिग्रहग्रहणरूप पाप करता है तथापि उस सबको खाके शुद्ध, पूत, अजर और अमर ही होता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(एतत्+ह+वै+तत्) इस गायत्री के विषय में यह एक सम्वाद कहा जाता है (जनकः+वैदेहः) जनक वैदेह सम्राट् ने (आश्वतराधिम्+बुधिलम्+उवाच) आश्वतर का पुत्र आश्वतराधि जो बुधिल नाम का कोई ओत्रिय था उससे कहा कि हे ओत्रिय ! (यत्+तु+ह+तत्) तु=वितर्क, ह=आश्चर्य, मैं तर्क करता हूँ कि यह आश्चर्य की बात है कि (गायत्रीविद्+अभूयाः) आप सर्वदा अपने को गायत्रीविद् कहते हैं (अय+कथम्+हस्तीभूतः+वहासि+इति) तब कैसे हस्ती के समान अर्थात् दूसरे के लिये चारा ढोते हुए वा अन्ध हाथी के समान होके बहने कर रहे हैं अर्थात् इस प्रकार इस संसार में फसे हुए हैं (मुखम्+दि+अस्याः+सम्राट्+न+विदाश्चकार+इति) हे सम्राट् ! मैंने इस गायत्री का मुख नहीं जाना हे अतः मैं हस्तीभूत हो रहा हूँ-ऐसा बुद्धि ने उत्तर दिया । इस पर (ह+उवाच) राजा ने कहा कि (तस्या+अग्निः+एव+मुखम्) उस गायत्री का अग्नि ही मुख है । (यदि+ह+वै+अपि+बहु+इव+अग्नी+अभ्यादधाति) हे ओत्रिय ! यदि कोई पुरुष अग्नि के ऊपर बहुतसा इन्धन रख देता है (तत्+सर्वम्+संदहति) अग्नि उस सय को दग्ध कर देता है (एवम्+ह+एव+एवविद्+यद्यपि+बहु+इव+पापम्+कुरुते) इसी दृष्टान्त के समान ही गायत्री का मुख अग्नि है ऐसा जाननेवाला पुरुष यद्यपि बहुतसा प्रतिग्रह लेकर अपराध करता है तथापि (तत्+सर्वम्+एव+संप्साय) उस सय दोष को खाकर (शुद्धः+भूतः+अजरः+अमृतः+सम्भवति) शुद्ध पूत, अजर और अमर होता है ॥ ८ ॥

इति चतुर्दशं ब्राह्मणम् ।

अथ पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं तत्त्वं पूषन्नपा-
वृणु सत्यधर्माय दृष्टये पूषन्नेकपे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह-
रश्मीन् समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि वायुरनिलममृतमयेदं भस्मा-
न्तं शरीरम् ओम् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विज्ञानि देव वयुनानि वि-
द्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१॥

अनुवाद—सोने के पात्र से सत्य का मुख ढँका हुआ है । हे पूषन् ! सत्य-
धर्म के दर्शन के लिये तू उसको वहाँ से अलग कर दे । हे पूषन् ! हे एकपे !
हे यम ! हे सूर्य ! हे प्राजापत्य ! प्रविगन्धर्को (विनों) को दूर कर दे । तेज
दिखला, जिससे कि जो तेरा कल्याणरूप है तेरे उस रूप को मैं देख लूँ । जो वह
पुरुष है वैसे ही मैं हूँ । आन्तरिक वायु (प्राण) बाह्य वायु से मिल जाय मैं
तुम्हें अमृत में मिष्ट और यह शरीर भस्मान्त हो जाय । हे सर्वरक्षक ! हे विघ-
कर्त्ता ! तुम्हें स्मरण रख मेरा कर्म स्मरण रख (अथवा हे जीव क्रतो हे कर्म-
धारिन् जीव ! परमात्मा सर्वरक्षक ओम् को सुमर, अपना कर्म सुमर हे क्रतो जीव !
ओम् का स्मरण कर । निजकृतकर्म का स्मरण कर) हे अग्ने प्रक्षारामय देव !
अपनी सम्पत्ति दिखलाने के लिये हम को शोभन मार्ग से ले चक हे देव ! तू निखल
ज्ञान विज्ञान और मार्ग को जाननेहारा है । कुटिल पाप को हमसे धुँक् कर तुम्हें
बहुतसे नमस्कार समर्पित करते हैं ॥ १ ॥

पदार्थ—(हिरण्यमेन+पात्रेण+सत्यस्यापिहितम्) सोने के पात्र से
सत्यका मुख ढँका हुआ है (पूषन्+सत्यधर्माय+दृष्टये) हे सम्पूर्ण जगत् का
पोषणकर्त्ता परमात्मा ! उस सत्यधर्म के दर्शन के लिये (त्वम्+तद्+अपावृणु)
तू उस सत्य के आवरण को दूर कर दे । जैसा सात्त्विक उपासक को प्रार्थना करनी

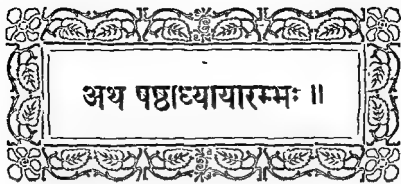
चाहिये वैसा कोई प्रार्थना करता है कि ससार के सब पुरुष प्रायः क्षणिक, सोने, चांदी, पुत्र कलत्र बन्धु आदि सम्पत्तियों में फसे हुए हैं अथवा यह सांसारिक धन इतने बढ़े हुए हैं कि इसके मद में ईश्वर को सब भूल बैठे हैं । दूसरे अकिंचन पुरुषों का दास बना अपनी पूजा करवाते हैं हे परमात्मा ! किन्तु मैं सत्यधर्म का अन्वेषण करता हूँ मुझे सत्य की ओर ले चलो इत्यादि इसका भाव है यद्वा स य-धर्माय इस पद का कोई २ यह अर्थ करते हैं “ सत्या धर्मा यस्य तस्मै सत्य-धर्माय ” सत्यधर्म वाला जो मैं हूँ उस मेरे लिये दर्शनार्थ आश्रय को दूर कीजिये (पूषन्+एक्ये+यम+सूर्य+प्राजापत्य) पूषन्=हे षोडक ! एक्ये=हे प्रधानद्रष्टा ! यम=हे नियन्ता ! सूर्य=हे प्रेरणकर्त्ता ! प्राजापत्य=हे प्रजाओं में निवासकर्त्ता ! (व्यूह+रश्मीन्) सत्यधर्म के दर्शन में प्रतिबन्धक पारों को दूर करो (तेज+समूह) और अपना तेज दिसलाओ (ते+यद्+रूपम्+वल्याणतमम्+ते+तत्+पर्यामि) तेरा जो अतिशय कल्याणकारी स्वरूप है उसको मैं देखूँ । हे भगवन् ! मैं पापिष्ठ नहीं किन्तु मैं सूर्य के समान शुद्ध हूँ (यः+अस्मां+पुरुषः) जो यह सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि में शुद्ध सामर्थ्य है वह २ जो सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि पदार्थ जड़ होने से शुद्ध हैं (स+अहम्+अस्मि) वैसा ही शुद्ध मैं हूँ अतः मुझे दर्शन देवे । हे भगवन् ! यदि इस शरीरसहित मुझ को दर्शन नहीं देते तो तत्परचात् भी दर्शन दीजिये (वायुः+अनिलम्) मेरे शरीर में जो यह भीतरी प्राण है वह अब बाह्यवायु में मिलजाय और मैं (अमृतम्) अमृतस्वरूप आपको मिलूँ (अय+इदम्+शरीरम्+भस्मान्तम्) और यह मेरा शरीर भस्मान्त हो जाय । (ओम्+क्रतो) हे सर्वरक्षक ओम् परमात्मन् ! हे क्रतो हे आश्चर्यकर्मकर्त्ता जगत्कर्त्ता (स्मर) मेरा स्मरण कीजिये मुझे मत भूलिये (कृतम्+स्मर) मेरे सब कर्म का स्मरण कीजिये (क्रतो+स्मर+स्मर+कृतम्) दृढ़ता के लिये वे ही वाक्य दुहराए गए हैं । कोई २ इस भाग का अर्थ जीवात्सपरक करते हैं । ईश्वर से प्रार्थना कर निज जीवात्मा से उपासक कहता है कि (क्रतो+ओम्+स्मर) क्रतो=हे कर्म करने द्वारा जीव ! मरने के समय में तू ओम्=परमात्मा का स्मरण कर (स्मर+कृतम्) अपने किये हुए कर्म का भी स्मरण कर (क्रतो+स्मर+स्मर+कृतम्) हे जीवा-त्मन् ! परमात्मा का स्मरण कर अपने कृतकर्म को सुमर (अग्ने+सुपथा+अस्मान्) हे सर्वव्यापी तेजस्वी परमात्मन् ! सुन्दर मार्ग से हमको (राये+नय) अपनी परम

सम्पत्ति दिसलाने के लिये ले श्रलो (देव+विश्वानि+वयुनानि+विद्वान्) हे देव !
तू सर्वज्ञान, सन कर्म, सन मार्ग जानने द्वारा हे हे देव । (जुहुराणम्) परम-
कुटिल (एनः) पापको (अस्माद्) हमसे (युयोधि) दूर कर (ते+भूयिष्ठाम्+
नमःशक्तिम्+विधेम) हे देव ! तुम्हे बहुत से नमस्कार करके तेरी सेवा हम किया
करें, यह आशीर्वाद दो ॥ १ ॥

इति पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य भाष्यं समाप्तम् ॥





अथ षष्ठाध्यायारम्भः ॥

अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूयति य एवं वेद ॥ १ ॥ यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वसुवै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूयति य एवं वेद ॥ २ ॥ यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥ ३ ॥ यो ह वै सम्पदं वेद सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै सम्पत् श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥ यो ह वा आयतनं वेदायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥ यो ह वै प्रजार्तिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभीरितो वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥ ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विव्रदमाना ब्रह्मा जग्मुस्त-

छोबु को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं
शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह अपने ज्ञातियों में
ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता ही है । प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । जो ऐसा जानता है
वह अपने ज्ञातियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता ही है और जिन में होने की इच्छा
रखता है उन में भी वह ज्येष्ठ श्रेष्ठ होता है ॥ १ ॥ जो कोई वसिष्ठा को जानता
है वह अपनी ज्ञातियों में वसिष्ठ होता है । वाणी ही वसिष्ठा है । जो ऐसा जानता
है वह अपने ज्ञातियों में वसिष्ठ होता है और जिन में होने की इच्छा करता है
उन में भी वह वसिष्ठ होता है ॥ २ ॥ जो प्रतिष्ठा को जानता है वह सब में
प्रतिष्ठित होता है और दुर्ग में प्रतिष्ठित होता है चन्द्र ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि चन्द्र
से ही सम और दुर्ग में प्रतिष्ठित होता है । जो ऐसा जानता है वह सम में
॥ ३ ॥ जो कोई सम्पद् को जानता है वह जिस कामना को चाहता है वह उसको
अच्छे प्रकार प्राप्त होता है । भोग ही सम्पद् है क्योंकि भोग में ही ये सब वेद
संप्राप्त होते हैं । जो ऐसा जानता है उस को वह सब कामनाएं प्राप्त होती हैं जिस
को वह चाहता है ॥ ४ ॥ जो कोई आयतन को जानता है वह भोज और पर-
जनों का आयतन=आश्रय होता ही है । मन ही आयतन है । जो ऐसा जानता है
वह० ॥ ५ ॥ जो कोई प्रजाति को जानता है वह प्रजा और पशुओं से संपन्न
होता ही है । रेत ही प्रजाति है । जो ऐसा जानता है वह० ॥ ६ ॥ सो ये प्राण
(इन्द्रियगण) अपनी २ श्रेष्ठता के लिये विवाद करते हुए प्रजापति के निकट
पहुंचे और उन से पूछा कि हम लोगों में वसिष्ठ=सर्वश्रेष्ठ=बसने या बसानेवाला
कौन है ? तब प्रजापति ने कहा आप में वही वसिष्ठ है आप में से जिसके चले
जाने से इस शरीर को पापिष्ठ माने ॥ ७ ॥

पदार्थ—(यः+ज्येष्ठम्+च+श्रेष्ठम्+च+वेद) जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को
जानता है वह (स्वानाम्) अपने बन्धु बान्धव और जातियों में (ज्येष्ठः+च+
श्रेष्ठः+च+भवति+इ+वै) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता ही है इसमें सन्देह नहीं ज्येष्ठ
और श्रेष्ठ कौन है ? सो आगे कहते हैं—(प्राणः+नृ+ज्येष्ठः+श्रेष्ठः+च) निश्चय
यह शरीरस्य प्राण ही इन इन्द्रियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, पुनः फल कहते हैं—

(स्वानाम्०) इत्यादि पूर्ववत् (अपि+च+येषाम्+बुभूषति) केवल अपने ज्ञातियों में ही नहीं किन्तु जिस किसी के मध्य में वह उपसक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होना चाहता है उनमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो ही जाता है (यः+एवम्+वेद) पूर्ववत् ॥ १ ॥ (यः+वसिष्ठाम्+वेद) जो कोई वसिष्ठा को जानता है वह (स्वानाम्+वसिष्ठः+भवति+ह+वै) वह अपने ज्ञातियों में अवश्य ही वसिष्ठ=श्रेष्ठ अथवा अतिशय बसने बसानेहारा अथवा पराजय करनेहारा होता ही है । वसिष्ठा कौन है सो आगे कहते हैं--(वाग्+वै+वसिष्ठा) वह वाणी ही वसिष्ठा है (स्वानाम्+वसिष्ठः) इत्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥ (यः+प्रतिष्ठाम्+वेद+समे+प्रतिष्ठित+वै+दुर्गे+प्रतिष्ठित) जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है वह समदेरा और काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्ग=दुर्गम देश और दुर्भिच्छ आदि से समुक्त काल में प्रतिष्ठित होता है (चक्षुः+वै+प्रतिष्ठा+चक्षुषा+हि+वै+समे+दुर्गे+प्रतिष्ठित) नयन ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि नयन से ही देखकर सम और दुर्ग प्रदेश में पैर अच्छी तरह रखता है । प्रतिष्ठित इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (य+सम्पदम्+वेद) जो कोई सम्पद को जानता है (अस्मे+सम्पद्यते+ह+वै) उसको वह कामना प्राप्त होती है (यम्+कामम्+कामयते) जिस कामना को वह उपासक चाहता है वह सम्पद कौन है ? सो आगे कहते हैं--(श्रोत्रम्+वै+सम्पद्) यह श्रोत्र=वान ही सम्पद है (हि+श्रोत्रे+इमे+वेदा+अभिसम्पन्नाः) क्योंकि इस श्रोत्र में ही सम्पूर्ण वेद=ज्ञान प्राप्त है और ज्ञान ही सम्पत् है अतः श्रोत्र को सम्पत् कहा है (अस्मे+सम्पद्यते) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥ (यः+आयतनम्+वेद+स्वानाम्+आयतनम्+भवति+ह+वै) जो कोई आयतन को जानता है वह अपने ज्ञातियों में आयतन=आश्रय होता है (जन्तानाम्+आयतनम्) अनायन जनों में भी वह आश्रय होता है । आयतन कौन है सो कहते हैं--(मनः+वै+आयतनम्) मन ही आयतन=आश्रय है क्योंकि सब इन्द्रियों का आश्रय मन ही है (स्वानाम्०) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ५ ॥ (यः+प्रजातिम्+वेद+प्रजया+पशुभिः+प्रजायते+ह+वै) जो प्रजाति को जानता है वह प्रजा से और विविध पशुओं से सम्पन्न होता है प्रजाति कौन है सो कहते हैं--(रेतः+वै+प्रजातिः) यह रज बीर्य ही प्रजाति है (प्रजया) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ६ ॥ इस प्रकार सब इन्द्रियों के गुणों का वर्णन करके इनमें प्राण ही श्रेष्ठ है सो आगे कहते हैं--(ते+ह+इमे+प्राणाः) सो वे वाणी, नयन, श्रोत्र, मन आदि प्राण (अहं+

भेयसे) मैं ही भेठ हूँ मैं कल्याणकारी हूँ इस प्रकार अपनी भेष्ठता के लिये
 (विवदमाना, + ब्रह्म + जग्मुः) विवाद करते हुए ब्रह्म = प्रजापति = नीवात्मा के निवट
 पहुँचे (तत् + द + उचु) और उस ब्रह्म = प्रजापति से कहा कि (व, + न; + नसिष्ठ +
 इति) हम सबमें ब्रह्म वसिष्ठ अर्थात् अतिशय बसने बसानेवाला भेष्ठ है इसका
 निर्णय आप कर दें (तत् + द + उवाच) तब उस ब्रह्मने उनसे कहा कि (व; + यस्मिन् +
 चत्कान्ते) आपमें से जिस के चलेजाने से (इक्ष्म + शरीरम् + पापीय + मन्यते) इस
 शरीर को लोक पापिष्ठ मानें (स; + च; + यसिष्ठ, + इति) वही आप में वसिष्ठ है ।
 यही निश्चय जानें ॥ ७ ॥ †

वाग्धोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोप्यागत्योवाच कथमशक-
 त मृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा कला अवदन्तो वाचा
 प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो
 मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक्
 ॥ ८ ॥ चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोप्यागत्यो वाच कथम-
 शकत मृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्त-
 श्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण
 विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह
 चक्षुः ॥ ९ ॥ श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोप्यागत्योवाच
 कथमशकत मृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृ-
 ण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचापश्यन्तश्चक्षुषा
 विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह
 श्रोत्रम् ॥ १० ॥ मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोप्यागत्योवाच
 कथमशकत मृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अवि-

† इस विषय का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् पञ्चम प्रपाठक प्रथम खण्ड में
 विस्तार से किया गया है, वहाँ देखो ।

द्वांसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसेवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥११॥ रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोप्यागत्यो वाच कथमशक्त महते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीवा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥१२॥

अनुवाद—प्रथम इस शरीर से वाणी निकली वह एक वर्ष प्रवास में रह पुनः आ बोली कि मेरे बिना आप सब कैसे जीते रहे उन्होंने उत्तर दिया कि जैसे मूक (गुंगा) बाणी में न बोलते हुए किन्तु प्राण से श्वास लेते हुए, चक्षु से देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए, मन से जानते हुए, रेत में प्रजा उत्पन्न करते हुए रहते हैं वैसे ही तुम्हारे बिना हम जीते रह सके । यह सुन वाणी पुनः शरीर में चली गई ॥ ८ ॥ इसी प्रकार नयन निकला । तब अन्ध पुरुष के समान वे जीते रहे । अन्यान्य पूर्ववत् ॥ ९ ॥ श्रोत्र निकला तब बधिर के समान वे जीते रहे । अन्यान्य पूर्ववत् ॥ १० ॥ मन निकला तब वे बड़े बा पागल के समान जीते रहे । अन्यान्य पूर्ववत् ॥ ११ ॥ रेत निकला तब क्लीव नपुमक के समान वे जीते रहे । अन्यान्य पूर्ववत् ॥ १२ ॥

पदार्थ—(वाग्+ह+वचक्राम) प्रजापति के निर्णय के पश्चात् परीक्षार्थ प्रथम हम शरीर से वाणी निकली (सा+सम्बन्धमरम्+प्रोप्य) वह वाणी एक वर्ष प्रवास में रहकर (आगत्य+उवाच) आकर अपने साथी इन्द्रियों से बोली कि (मन्+श्रुते+कथम्+जीवितुम्+अशक्त) मेरे बिना आप सब कैसे जीते रहे ? (ते+ह+ऊचु) वे कर्ण आदि अन्यान्य इन्द्रिय उस वाणी से बोले कि (यथा+अकलाः) जैसे बोलने में असमर्थ मूक=गूंगे पुरुष (वाचा+अवदन्त०) वाणी से न बोलते हुए परन्तु प्राण से श्वास प्रश्वास लेते हुए, नयन से देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए (मनसा+विद्वांस+रेतसा+प्रजायमानाः) मन से जानते हुए और वीर्य से सन्तान उत्पन्न करते हुए रहते हैं (एवम्+अजीविष्म+इति) इसी प्रकार हे वाणी ! तेरे बिना हम सब जीते रहे (इति+ह+वाग्+प्रविवेश) यह सुन वाणी अपनी

हारमान इस शरीर में पुनः बैठ गई ॥ ८ ॥ इसी प्रकार (चक्षुः+ह+उत्च-
क्राम०) नयन इस शरीर से निकले । तब (यथा+अन्धा+चक्षुषा+अपश्यन्तः)
जैसे अन्धपुरुष चक्षु से न देखते हुए किन्तु प्राण से इत्यादि पूर्ववत् ॥ ९ ॥
(श्रोत्रम्+ह) श्रवणेन्द्रिय निकला तब (वधिरा+श्रोत्रेण+अशृण्वन्तः) तब वधिर
के समान श्रोत्र से न सुनते हुए इत्यादि पूर्ववत् ॥ १० ॥ (मनः०+यथा+मुग्धाः)
पश्चात् मन निकला तब मुग्ध=मालक, मूर्ख, पागल के समान वे रहे, इत्यादि
पूर्ववत् ॥ ११ ॥ (रेतः०+क्लीया) परचात् वीर्य निकला तब क्लीनवत् अर्थात्
नपुंसकवत् वे रहे । इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः
पद्वीशशङ्कून्तं बृहेदेवं हेवेमान्प्राणान्त्संववर्ह ते होचुर्मा
भगव । उत्क्रमीर्न वै शक्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे
वर्णि कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥ सा ह वायुवाच यद्वा अहं
वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं त-
त्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहं संपदस्मि त्वं तत्सम्पदसीति
श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो
यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे
किमन्नं किं वास इति यदिदं किञ्चाऽऽश्वभ्य आकृमिभ्य
आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यान्नं
जग्धं भवति नान्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्वि-
द्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव
तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

अनुवाद—अनन्तर जैसे महान् बलिष्ठ और सिन्धुदेशोद्भव घोडा अपने
पैर के पाधने की कीलों को उखाड़ डाले वैसे ही जब यह प्राण भी इस शरीर से
निकल कर बाहर होने लगा तब इसने इन इन्द्रियात्मक प्राणों को भी उखाड़
दिया । तब वे सब प्राण मिलकर बोले हे भगवन् ! आप उत्क्रमण न कर आपके

बिना हम नहीं जीसकते । तब प्राण ने कहा कि उस मुझमें आप बलि करें । उन्होंने स्वीकार किया ॥ १३ ॥ तब वाणी बोली जो मैं वभिष्ठा हूँ वह आपकी ही कृपा है आपही मेरे वसिष्ठ हैं । तब चक्षु बोला जो मैं प्रतिष्ठा हूँ वह आपकी ही कृपा है आपही मेरी प्रतिष्ठा देनेहारे हैं तब श्रोत्र बोला जो मैं सम्पद् हूँ वह आपकी ही कृपा है आपही मेरी सम्पद् हैं । तब मन बोला जो मैं आयतन हूँ आपकी ही कृपा है आपही मेरे आयतन हैं । रेत बोला जो मैं प्रजाति हूँ वह आपकी ही कृपा है आपही मेरे प्रजानि हैं । तब प्राण ने कहा हे इन्द्रियगण ! मेरा अन्न और घास क्या होगा ? उन इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि तुम्हें से लेकर कृमि से लेकर और कीट पतंगों से लेकर जो कुछ इस पृथिवी पर प्राणिसमूह हैं उनका जो अन्न है वही आपका अन्न है और जल आपका वास=वस्त्र है । सो जो कोई इस प्रकार अन्न (प्राण) के इस अन्न को जानता है उसका अन्न कदापि भी अनन्न नहीं होता । और प्रतिग्रह भी अनन्न नहीं होता । इस तत्त्व को जानते हुए श्रोत्रियगण भोजन के समय आचमन करते हैं और खाकर आचमन करते हैं क्योंकि इस प्रकार इस अन्न (प्राण) को ही अनन्न करते हुए मानते हैं ॥१४॥

पदार्थ—(अथ+ह) इस प्रकार जब वाणी श्रोत्र आदिकों की परीक्षा होगई तब प्राण की चारी आई । इस पर कहते हैं कि (यथा+सैन्धव+महानुहयः) जैसे सैन्धव=सिन्धु देश के महान् बलिष्ठ घोडा (पड्वांशशरान्+सवृहेत्) पैर के धांगने की कीलों को बस्ताइ डाले (एवम्+हैव+प्राणः+उत्क्रमिष्यन्) ऐसे ही जब यह प्राण भी इस शरीर को छोड़ उठने लगा तब (इमान्+प्राणान्+संदर्शह) इन वाणी, चक्षु, श्रोत्रादि प्राणों को भी अपने२ स्थान से उगारा कर संग ले चलने लगा अर्थात् प्राण के बिना इनमें से कोई भी नहीं रह सकता और प्राण सहित इन्द्रियों के न सहने से यह शरीर पापिष्ठ हो जाता है यह प्रत्यक्ष है, अतः सिद्ध है कि प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है इस प्रकार प्राण की श्रेष्ठता जान (ते+ह+उचुः) वे वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन और रेत मिलकर बोले कि (भगवः+मा+उत्कर्मा.+न+वै+त्वन्+उते+जीयितुम्+शक्याम.+इति) हे प्राणनाथ ! हे भगवन् ! आप उत्क्रमण न करें इस शरीर को छोड़ हम लोगों के समान बाहर न निकलें क्योंकि आपके बिना हम सब नहीं जी सकते हैं (तस्य+उ+मे+बलिम्+कुरुन+इति) तब प्राण बोला कि हे इन्द्रियगण ! यदि ऐसा आप समझते हैं और मैं आप लोगों में

श्रेष्ठ मित्र हुआ हूँ तब उग मुक्तो वाली अर्थात् पूजा करें (तथा+इति) उन वागादिवों ने कहा एवमस्तु इमं सः आपनी पूजा के लिये प्रस्तुत हैं ॥ १३ ॥ (सा+इ+वाग्+उवाच) सबसे प्रथम वाणी बोली नि स्वागिन् प्राण ! (यत्+त्रै+अहम्+प्रतिष्ठा+आस्मि) यद्यपि मैं प्रतिष्ठा प्रार्थना कर वास देनेवाली हूँ तबानि (इत्+तत्+प्रतिष्ठ +आसि+इति) आप मेरे बलिष्ठ हैं अर्थात् आप मुक्तो भी वास देनेवाले हैं अतः आप ही श्रेष्ठ हैं (चक्षु+यत्+त्रै+प्रतिष्ठा+आस्मि+इत्+तत्+प्रतिष्ठ +आसि+इति) नयन बोलता कि हे प्राण ! यद्यपि मैं प्रतिष्ठा हूँ परन्तु इसकी भी आपही प्रतिष्ठा हैं (श्रोत्रम्+यत्+त्रै+अहम्+सम्पद्+आस्मि+यत्+तत्+सम्पद्+आनि+ति) तब श्रोत्र बोला कि हे प्राण ! यद्यपि मैं सम्पद् हूँ तबानि उसके भी सम्पत् आह्वी हैं । (मन+यत्+त्रै+अहम्+आयतनम्+तत्+तदायनम्+आमि) तब मन बोला हे प्राण ! यद्यपि मैं सब का आश्रय हूँ तबानि आप उनके भी आश्रय हैं (रेत +यत्+त्रै+अहम्+प्रजाति+आस्मि+इत्+तत्+प्रजाति+आनि+इति) तब रेत बोला हे प्राण ! यद्यपि मैं प्रजदि=प्रजा देनेवाला हूँ तबानि आपही हमारे भी प्रजानि हैं इन् प्रजा सः ने प्राण की प्रशंसा की (तस्य+मे+निम्+अन्नम्+निम्+वास +इति) तदन्तर प्राण ने कहा कि यदि मेरी श्रेष्ठता आप समझते हैं तो यह बातलाएँ कि मेरा अन्न और वस्त्र क्या दागा इस पर उन प्राणों ने उत्तर दिया कि (आन्ध्र्य +आकृमिभ्य+आकीटपतङ्गेभ्य+यद्+इदम्+किञ्च+तत्+ते+अन्नम्) हे प्राण ! कुत्ते इमि और कीट पतंग से लेकर मनुष्य तक का जो भोजन है वही आपका भी अन्न होगा । (आः+वास+इति) और जल ही आपका नाम=प्राणदायन करनेवाला वस्त्र होगा । अब आगे उपासक की प्रशंसा करते हैं (य +एवम्+अनस्य+एतद्+अन्नम्+वेद) जो उपासक इस प्रकार अन्न=प्राण के इन अन्न को जानता है (अस्य+जग्धम्+न+ह+वै+अनन्नम्+भवति) उस पुरुष का अन्न कदापि भी अनन्न अर्थात् अभक्ष्य नहीं होता है इसी प्रकार (प्रतिपृष्टीत्+न+अनन्नम्) इसका प्रतिग्रह भी अनन्न नहीं होता अर्थात् प्राण-विन पुरुष यदि अप्राप्त गजदि पदार्थों को दान में ले तो भी इसका प्रतिग्रह अनन्न=अभक्ष्य न होगा । आगे प्राण ने वस्त्र का वर्णन करते हैं (तद्विद्वांस०) प्राण का वस्त्र जल है इम विषय को जाननेवाले (ओत्रिया +अशिष्यतः+आचार-मति) ओत्रिय भोजन के समय आचमन करते हैं (तत्+एतत्+एव+अनम्+

अनग्नम्+कुर्वन्त +मन्यते) इससे शोनिय यह समझते हैं कि हम इस प्राण को ही अनग्न अर्थात् आन्ध्रादित करवे हैं ॥ १४ ॥ *

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिपदमाजगाम स आजगाम जैत्रलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीच्याऽभ्यु-
वाद कुमार ३ इति स भो ३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि
पित्रेत्योमिति होवाच ॥ १ ॥

अनुवाद—एक समय आरुणेय (अरुणपुत्र) श्वेतकेतु पंचालदेश की सभा में आया, यह वहाँ मेवकों से सेना करवाने हुए जैत्रलि प्रवाहण के समीप पहुँचा उसको देखकर वह (प्रवाहण) बोला हे कुमार ३ ! उमने प्रत्युत्तर में भोः ३ कहा । क्या आप पिता से अनुशिक्षित हैं ? उमने कहा भोम्=हाँ ॥ १ ॥

पदार्थ—(आरुणेयः+श्वेतकेतुः+ह+वै) किसी अरुणनाम के आचार्य का पुत्र सुप्रसिद्ध परन्तु गर्वित श्वेतकेतु नामक एक कुमार किसी एक समय (पञ्चा-
लानाम्+परिपदम्+आजगाम) पंचालदेश की सभा में आया । (स.+परिचारय-
माणम्+जैत्रलिम्+प्रवाहणम्+आजगाम) वह श्वेतकेतु सेवकों से परिचारयमाण=
सेवा करवाते हुए जैत्रलि=जीवल के पुत्र प्रवाहण नाम के राजा के निकट आपहुँचा
इसके अहंकार से राजा अच्छी तरह से परिचित था, अतः (तम्+उदीच्या+कुमा-
रा ३+इति+अभ्युवाद) इस श्वेतकेतु को देख अन्यान्य सत्कार न कर उसको बालक
समझते हुए राजा ने हे कुमार ३ ऐसा कहकर अभिवादन किया अर्थात् साधा-

* इस विषय को छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के प्रथम और द्वितीय
खण्ड को देखिये ॥

रण पुरुष के समान ही उसके साथ व्यवहार किया । (म०+भो०+इति+प्रतिसु-
धाय) उसने भी क्रुद्ध हो गुम्फा भो. ३ मेमा कहकर प्रत्युत्तर दिया : राजा
पुनः पूछता है (पित्रा+अनुशिष्टः+आसि+नु) क्या आपसे पिताने कुछ शिक्षा
दी है या नहीं इस पर वह श्वेतश्वेतु (ओम्+इति+ह+उवाच) प्रत्युत्तर देता
है कि ओम्=हा मुझे पिता ने सिसलाया यदि आपको सन्देह हो तो पूछ
सकते हैं ॥ १ ॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति
होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवो-
वाच वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न
सम्पूर्य्यता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यां
हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति नेति
हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा
यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि
न ऋपेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत
मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातर-
ञ्चेति नाहमत एकं च न वेदेति होवाच ॥ २ ॥

अनुवाद—१—राजा पूछता है—क्या आप जानते हैं कि ये प्रजाएँ यहाँ से
भरकर जाती हुई जैसे पृथक् छोके अलग २ होजाती हैं ? कुमार प्रत्युत्तर देता
है—मैं नहीं जानता । २—राजा—क्या आप जानते हैं कि पुनः ये प्रजाएँ इस लोक
में जैसे आती हैं ? कुमार—मैं नहीं जानता । ३—राजा—क्या आप जानते हैं कि
इस प्रकार पुनः २ जाते हुए भी बहुतसे जीवों से वह लोक भरपूर नहीं होजाता ?
कुमार—मैं नहीं जानता । ४—राजा पू०—क्या आप जानते हैं कि जिस आहुति के
पश्चात् जब पुष्पवाचक (पुरुषनामवाची) हो के और अच्छे प्रकार उठके (पुरुष
के सगान) चोलने लगता है ? कुमार—मैं नहीं जानता । ५—राजा पू०—क्या आप
जानते हैं कि देवयान और पितृयाण मार्ग का कौनसा साधन है जिसको करके देव-

यान और पितृयाण पथ की पाने हैं । क्या आपने ऋषि का वचन नहीं सुना है जो यह है कि-मरणाधर्मी मनुष्य के लिये दो मार्ग गँने सुना है । एक पितृलोक लेजानेहारा और दूसरा देवलोक लेजानेहारा । यह समस्त जगत् यात्रा करता हुआ इन्हीं दो पथों में मिलते हैं । जो धुलोक और पितृलोक के बीच में विद्यमान है । कुमार कहता है-इनमें से एक भी मैं नहीं जानता ॥ २ ॥

पदार्थ—१-(वेत्थ+यथा+इमाः+प्रजाः) अब राजा पाँच प्रश्न कुमार से पूछता है हे कुमार ! क्या आप निश्चिन रूपसे जानते हैं कि जैसे ये प्रजाएं (प्रय-त्यः+विप्रतिपद्यन्ता३+इति) यहां मरकर परलोक की यात्रा करती हुई जहां से पृथक् २ होजाती हैं (नेति+ह+उवाच) कुमार ने कहा कि हे राजन् ! मैं नहीं जानता हूं । २-(वेत्थ+उ+यथा+इमम्+लोकम्+पुनः+आपद्यन्ता३+इति) हे कुमार ! क्या आप जानते हैं कि ये जीव पुनः इस लोक को जैसे लौट आते हैं (न+इति+ह+एव+उवाच) कुमार कहता है कि मैं नहीं जानता । ३-(वेत्थ+उ+यथा+एवम्+नहुभिः+पुनः२+प्रयद्भिः) हे कुमार ! आप जानते हैं कि हम प्रकार जरा-मरणादि दुःखों में मरकर यहां से जाते हुए यदुतमे जीवों में भी (अर्मा+लोकः+न+संपूर्यता३+इति) यह लोक कभी भरपूर नहीं होता है (न+इति+ह+एव+उवाच) कुमार ने कहा कि मैं नहीं जानता । ४-(वेत्थ+उ+यति+व्यम्+आहुत्याम्+हुतागाम्) हे कुमार ! क्या आप जानते हैं कि जिस आहुति को अग्नि में डालने के पश्चात् (आपः+पुरुषवाचः+भूत्वा+ममुत्वाय+यदन्ती३+इति) जल ही पुरुष बनकर और अच्छे प्रकार उठकर बोलने लग पड़ता है ? (नेति+ह+एव+उवाच) कुमार ने कहा कि मैं नहीं जानता । ५-(वेत्थ+उ+देवयानस्य+था+पितृयाणस्य+वा+पथः+प्रतिपदम्) हे कुमार ! क्या आप जानते हैं कि देवयान और पितृयाण पथ का साधन कौनसा है (यत्+कृत्वा+देवयानम्+था+पितृयाणम्+था+पन्थानम्+प्रतिपद्यन्ते) जिस साधन को विधि-यत् करके देवयान या पितृयाण मार्ग को ये जीव जाते हैं । यदि कोई शङ्का करे कि ऐसे मार्ग हैं ही नहीं इस पर वेद का प्रमाण देते हैं-(अपि+हि+ऋषेः+वचनम्+न+श्रुतम्) क्या आपने ऋषि के उस वचन को नहीं सुना है जो इन दो मार्गों का निरूपक है वह यह है-(मर्त्यानाम्+द्वे+सृती+अहम्+अशूणवम्) मर्त्य=मर-नेहारे मनुष्यों के दो मार्ग मैंने सुने हैं (पितृणाम्+उत+देवनाम्) एक वह मार्ग है जो पितृलोक में लेजाता है दूसरा देवलोक में लेजाता है (इदम्+विश्वम्+एजत्)

यह सम्पूर्ण जगत् एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हुआ (ताभ्याम+गमेति)
उन ही दो मार्गों में अच्छे प्रकार जाते हैं अथवा मिलते हैं । वे दोनों मार्ग कहा
हैं ? इस पर कहते हैं कि (पितरम्+मातरम्+च+अन्तरा+यत्) पिता=तुलोक,
माता=पृथिवी । पितृमातृस्थ जो तुलोक और पृथिवी लोक है इसी के बीच में ये
दोनों मार्ग विद्यमान हैं । (नि अहम्+अत्+एवञ्चन+वेद+इति+ह+उवाच)
वह प्रश्न सुनकर कुमार कहता है कि इन प्रश्नों में से मैं एक भी नहीं जानता ॥२॥

अथैनं वसत्योपमंत्रयाञ्चक्रे नादृत्य वसतिं कुमारः प्र-
दुद्राव स आजगाम पितरं तं होवाचेति वाव किल नो भवान्
पुरानुशिष्टानवोचदिति कथं सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान्
राजन्यबंधुरप्राचीत्ततो नेकञ्चन वेदेति व्रतमे त इतीम इति
ह प्रतीकान्युदाजहार ॥ ३ ॥

अनुवाद—तन (राजा ने) इसको वास के लिये निमन्त्रण दिया वह कुमार
वासना अनावर करके भाग गया वह पिता के निकट पहुँचा और कहने लगा पूर्व
में आपने हम लोगों से कहा था कि तुमने हम सिखा चुके । (इस पर पिता
कहता है) हे सुमेध ! कैसे ? कुमार कहता है राजन्यबन्धु ने मुझसे पाँच प्रश्न
पूछे एक भी मैंने नहीं समझा । पिता ४०—वे कौन से हैं ? पुत्र—ये हैं, प्रतीक
कहकर सुना दिये ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अथ+गन्म+वसत्या+उपम+त्रयाचरे) तन राजा ने कुमार को
कुछ दिवस ठहरने के लिये कहा (कुमार+वसतिम्+अनाहृत्य+प्रदुद्राव) वह
कुमार राजा के निकट वास का निरादर कर वहाँ से भाग गया (स+पितरम्+
आजगाम) वह पिता के निकट आपहुँचा (तम्+ह+उवाच+इति) और पिता से
इस प्रकार कहने लगा (भवान्+न+अनुशिष्टान्+पुरा+अवोचत्+इति+वाव+
किल) हे पिता ! आप हम लोगों से पहिले कह चुके हैं कि अब तुम सब को मैंने
शिखा देदी जहा इच्छा हो वहाँ जा सकते हो । पुत्र के इस उपात्तम् वचन को
सुनकर (वयम्+सुमेधः+इति) पिता कहता है कि हे सुमेध ! प्रियपुत्र तुम ऐसी
वातें क्यों करते हो कौनसी घटना हुई सो कहो । यह सुन पुत्र श्वेतकेतु कहता है

(राजन्यगन्धुः+पञ्च+प्रभान्+मा+अप्राचीन्) राजाधम उम प्रदाहरा ने मुम्मे पांच प्रभ पृष्ठे ये (न+एकञ्जन+वेद+इति) उन पाचों मे से एक भी मैंने नहीं जान पाया (कनमे+ते+इति) पिता पूत्रता है हे कुमार ये कौनमे प्रभ हैं ? (इमे+इति+प्रतीक्षानि+उदात्तहार) पुत्र कहता है ये प्रभ हैं ऐमा कहके उन प्रभों के प्रतीक सुना दिये ॥ ३ ॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंचन वेद सर्वमहं तत्सुभ्यमशोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्य व इति भवाने गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवजेराय नत्मा आसनमाहृत्योदक मा-
हारयाश्चकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तं होवाच वरं भगवते गौतमाय दन्न इति ॥ ४ ॥

अनुवाद—वह (पिता) बोले हे तात ! जिस प्रकार जो कुछ मैं जानता हूँ वैसे ही वह मय ही मैंने तुम मे कहा है ऐमा तुम समझो आओ वहां जाकर ब्रह्मचर्य करेंगे । (पुत्र कहता है) आप ही जाय वह गौतम वहां आया जहां प्रवाहरा जैरति की परिपद्धि । उसको आमन दे के जल मगनाया । तब उसका अर्घ्य दिया और उससे बोले कि भगवन् ! भगवान् गौतम के लिये हम वर देते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थ—(सः+इ+उवाच) पुत्र के बचन सुन पिता कहने लगा कि (तात यथा+यद्+किंच+अहं+वेद+तथा+तन्+सर्वम्+सुभ्यम्+अशोचम्) हे तात ! प्रिय पुत्र ! जिस प्रकार जो कुछ मैं जानता हूँ उमी सीति से वह सब ही ज्ञान मैंने तुम से कहा है (न+स्त्वम्+जानीथाः) ऐमा हमको तुम समझो । तुममे बढ़कर प्रिय मुझे कौन होगा जिसके लिये मैं विद्या छिपा रखूंगा । राजा ने जो प्रभ पृष्ठे हैं उन्हें मैं भी नहीं जानता यदि तुम उनको जानना चाहते हो तो (प्रेहि+तु) आओ तो (तत्र+प्रतीत्य+ब्रह्मचर्यम्+वत्सयावः+इति) वहा जाकर हम दोनों ही इस विद्या के लिये ब्रह्मचर्य करते हुए राजा के निकट बाम करेंगे (भवान्+एव+गच्छतु+इति) कुमार ने कहा कि आप ही जाइये मैं अब इस राजा के निकट

नहीं जाऊगा (स + गौतम + आजगाम) वह गौतम आरुणि बड़ा आया (यत् + प्रवादणम् + जैत्रलेः + आम्) जैत्रलि = जीवन का पुत्र प्रवादण की जहा समा थी । (तस्मै + आमनय + आह्वय + उद्गम + आहारयाञ्जकार) उस राजाने उस आगत अनिरि को प्रथम आमन दे के भृत्यो में जल मगवाया (अवतह + अस्मै + अर्घ्यम् + चकार) पश्चात् इस आरुणि को अर्घ्य दिया (तम् + द + उवाच + भगवते + गौतमाय + यत् + दध् + इति) अर्घ्य देकर उनसे कहा कि भगवान गौतम को हम घर देते हैं ये जो कुछ चाहें हम से माग लें ॥ ४ ॥

सहोवाच प्रतिज्ञातो मएष वरो यान्तु कुमारस्यान्ते वाचमभापथास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५ ॥ स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६ ॥ स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापाचं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान् बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्म वै पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योयात् ॥ ७ ॥

अनुवाद—उमने कहा कि आपने मेरे लिये घर देने की प्रतिज्ञा कर ली है । अतः, कुमार के समीप आपने जो वाणी कही थी उसे मुझ से भी कहें (यही घर है) ॥ ५ ॥ तब राजा बोला कि हे गौतम ! दैव वरों में से यह एक घर है अतः उसको न मागकर मनुष्य सम्पत्ती कोई घर आप मागे ॥ ६ ॥ तब गौतम कहने लगा कि आप को ज्ञात ही है मेरे हिरण्य, गाँव, घोड़े, दासिया, परिवारगण, बल इत्यादियों की प्राप्ति है आप मेरे लिये बहुत, अनन्त, अपर्यन्त धन के अदाता न होंगे । (राजा कहता है) हे गौतम ! यह आप की ईर्ष्या, ईर्ष्यापूर्वक दण्ड विधा के प्रदण करने की इच्छा करें । गौतम कहता है मैं आप के समीप शिष्य भाव में उपस्थित होता हूँ हे राजन् ! पूर्ण समय में भी वचनमात्र में अनेक ब्राह्मण (छत्रिणादि के निकट विद्या के लिये) उपस्थित हुए हैं । सो यह गौतम सेवा की कीर्तनमात्र में राजा के समीप बाम करने लगा ॥ ७ ॥

पदार्थ—(स + द + उवाच + मे + ण्य + चर + प्रतिज्ञात) प्रवादण का घर दान

सुन वह गौतम कहने लगा कि हे राजन् ! आपने मुझको यह वर देने की प्रतिज्ञा कर ली है अतः मैं अब वर मागता हूँ वह यह है (याम्+तु+वाचम्+कुमारस्य+अन्ते+अभाषधाः) जिसी वचन को आपने मेरे कुमार के समीप कहा था (ताम्+मे+ब्रूहि+इति) उसी वाणी को मुझ से भी कहें ॥ ५ ॥ इस वचन को सुन (सहो-वाच+गौतम+तद्+देवेषु+वै+वरेषु+मानुषाणाम्+ब्रूहि+इति) वह राजा कहने लगा कि हे गौतम ! जो वर आप माग रहे हैं वह दिव्य वरों में से एक वर है उसको कोई देव ही माग सकता है आप मनुष्य हैं अतः मनुष्य सन्वन्धी हिरण्य, भूमि, गौ आदि वर मागें ॥ ६ ॥ (सहोवाच+विज्ञायते+ह+हिरण्यस्य+अपातम्+अस्ति) राजा का यह वचन सुन वह गौतम कहने लगा कि आप को ज्ञात ही है कि मुझको सुवर्ण की अगत्त=प्राप्ति है इसी प्रकार (गो+अश्वानाम्+दासीनाम्+प्रवा-राणाम्+परिधानस्य) गौबों, घोड़ों, दासियों, परिवारों और वस्त्र की प्राप्ति है । आप ऐमे वाता हो के ऐमी बातें क्यों करते हैं । (भयान्+नः+अभि+बहोः+अन-न्तस्य+अपर्यन्तस्य+अवदान्य,+मा+भूत्+इति) आप हमारे प्रति यह=बहुत, अनन्त=अनन्तफलवाला, अपर्यन्त=जिसकी समाप्ति कभी न हो ऐसे वर देने के लिये अवदान्य=अदानी, अनुदार कदापि न होवें जिस विज्ञान या अनन्त फल है इसे छोड़ अन्य वर मैं कैसे मांग सकता हूँ इस प्रकार की प्रार्थना सुन राजा कहने लगा कि (गौतम+सः+वै+तीर्थेन+इच्छासौ) हे गौतम ! आप की यदि पूर्ण इच्छा है और अन्तःकरण से प्रार्थना करते हैं तब आप तीर्थ अर्थान् विद्याध्ययन करने के गुरु शिष्यों में जितने नियम हैं उन सब नियमों को पालन करते हुए विद्या पढ़ने की इच्छा करें (अहम्+अवन्तम्+उपैमि+इति) राजा का भाव समझ कर गौतम कहता है कि मैं विधिपूर्वक आप के निकट उपस्थित होता हूँ । गुरु शिष्य के नियमों को स्वीकार करता हूँ किन्तु (पूर्वे+ह+वाच+ह+एव+उपयन्ति+स्म) हे राजन् ! पूर्वजाल के माह्वार भी विद्याध्ययनार्थ सत्रियों के निकट उपस्थित हुए हैं परन्तु शुश्रूपादि उपचार वाणीमात्र से किया करते थे वह नियम मुझे स्वीकृत है आप क्या कहते हैं राजा ने इस को स्वीकार कर लिया । तब (सः+ह+उपायन-कीर्त्ता+उवास) वह राजा की शुश्रूपा आदि उपचार वाणी से करता हुआ वहा निवास करने लगा ॥ ७ ॥

सं होवाच तथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पिता-

महा यथेयं विद्येतः पूर्व्वं कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां
त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्या
तुमिति ॥ ८ ॥

अनुवाद—राजा बोला कि हे गौतम ! आप भी वैसे ही हमारा कोई अप-
राध न करें अर्थात् हमारा अपराध क्षमा कर दें जैसे आप के पितामह क्षमा करते
आए । यह विद्या इससे पूर्व किसी ब्राह्मण में वास नहीं करती थी । उम विद्या
को आपसे मैं कहूँगा कौन पुरुष आप को विद्या के लिये अस्वीकार करेगा जो आप
इस प्रकार प्रार्थना का वचन कहते हैं ॥ ८ ॥

पदार्थ—(सः+ह्+उवाच) तब राजा कहने लगा (गौतम+स्यम्+न+तथा+
मा+अपराधः) हे गौतम ! मैंने जो पहिले कहा था कि यह देववर है । मनुष्यवर
आप मागे इससे कदाचित् आप को बहुत बलोश हुआ होगा अतः मैं प्रार्थना
करता हूँ आप भी हमारे अपराधों को वैसे ही क्षमा किया करें इसके बदले में
हमारा कोई अपराध न करें । (यथा+तव+च+पितामहा) जिस प्रकार आपके
पितामह हमारे पितामहों पर कृपादृष्टि किया करते थे । वैसी कृपादृष्टि आप भी
रखें (इयम्+विद्या+इत्+पूर्व्वम्+कस्मिन्+चन+ब्राह्मणे+न+उवास) हे गौतम !
यह विद्या इसके पहिले किसी ब्राह्मण में वास नहीं करती थी इसको आप भी
जानते हैं परन्तु यह प्रथम ही है कि सत्रिय से ब्राह्मण में यह विद्या जायगी ।
(ताम्+तु+अहम्+तुभ्यम्+वक्ष्यामि) उस विद्या को मैं आप से कहूँगा (कः+
हि+एवम्+ब्रुवन्तम्+त्वाम्+प्रत्याख्यातुम्+अर्हति+इति) क्योंकि कौन सत्य पुरुष
इस प्रकार प्रार्थना करते हुए आप को इस विद्या के देने से निषेध करेगा । एक
आप ब्राह्मण, दूसरे इस प्रकार नञ् । अतः आप को यह विद्या देता हूँ ॥ ८ ॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो
धूमोऽहरर्बिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्ने-
तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा
सम्भवति ॥ ९ ॥ पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव
समिदभ्राणि धूमोविद्युदूर्ध्विचरानिरङ्गारा द्वाहुनयो विस्फुलि-

ह्नास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुहति तस्या
आहुत्यै वृष्टिः सम्भवति ॥ १० ॥

अनुवाद—हे गौतम ! वह लोक ही प्रथम अग्निकुण्ड है उसकी समिधा सूर्य है धूम किरण, ज्वाला दिन, अङ्गार दिशाएं और चिनगारियां अवान्तर दिशाएं हैं उस इस अग्निकुण्ड में देवगण श्रद्धा की आहुति देते हैं । उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ हे गौतम ! पर्जन्य ही द्वितीय अग्निकुण्ड है उसकी समिधा संवत्सर ही, धूम अन्न, ज्वाला विद्युत् अङ्गार अशानि, विस्फुल्लिङ्ग (चिनगारी) मेघ शब्द है उस इस अग्नि में देवगण सोमराजा की आहुति देते हैं उस आहुति से वृष्टि उत्पन्न होती है ॥ १० ॥

पदार्थ—राजा यह नियम कर प्रार्थों का समाधान आरम्भ करता है पांच प्रश्न किए गए हैं । पंचमी आहुति में जल किस प्रकार पुरुषराशी होता है इस प्रश्न के अधीन अन्यान्य चार हैं अतः प्रथम इसी का आरम्भ करते हैं (गौतम+असौ+वै+लोकः+अग्निः) हे गौतम ! वह जो बहुत दूरस्थ लोक दीप्तता है । वही लोक प्रथम अग्नि अर्थात् अग्निकुण्ड है (तस्य+आदित्यः+एव+समिन्) उस अग्निकुण्ड की समिधा सूर्य ही है (धूमः+रमयः) उसकी धूम सूर्यकिरण हैं (अर्चिः+अहः) ज्वाला मानो दिन है (अङ्गाराः+दिशः) अंगार पूर्व पश्चिम दिशाएं हैं (विस्फुलिङ्गाः+अवान्तरदिशः) विस्फुलिङ्ग=चिनगारियां, मानो अवान्तर-दिशाएं हैं । (तस्मिन्+एतस्मिन्+अग्नौ+देवा+श्रद्धाम्+जुहति) उस इस आदि-त्यलोक रूप कुण्ड में देवगण=प्राकृत नियम, श्रद्धा के अत्यन्त सूक्ष्म वाष्पीय कणों को डालते हैं (तस्यै+आहुत्यै+सोमः+राजा+संभवति) उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है । श्रद्धा सोम आदि शब्द जल वाचक हैं । इसमें वेदान्त सूत्र देसो ॥ ६ ॥ (गौतम+पर्जन्यः+वै+अग्निः) हे गौतम ! द्वितीय अग्निकुण्ड यह पर्जन्य=परितो जन्यमान सूक्ष्ममेघ है (तस्य+संवत्सरः+एव+समिन्+अभ्राणि+धूमः+विद्युत्+अर्चिः) उस पर्जन्यरूप कुण्ड की समिधा यही वर्ष है । अन्न=जल धारण किए हुए मेघ ही धूम है विजुली ज्वाला है (अशानिः+अङ्गाराः+ह्लादुनयः+निस्फुलिङ्गाः) प्रकाशयुक्त वज्र अंगार है और मेघ शब्द मानो विस्फुलिङ्ग हैं (तस्मिन्+एतस्मिन्+अग्नौ+देवाः+सोमम्+राजानम्+जुहति) उस इस पर्जन्यरूप

अग्निकुण्ड मे देवगण=प्राप्तुन नियम मोक्ष राजा को डालते हैं (तस्यै+आहुत्यै+
वृष्टिः+सम्भवति) उस आहुति से वृष्टि उत्पन्न होती है ॥ १० ॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्नि-
र्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमाऽङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मि-
न्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं सम्भ-
वति ॥ ११ ॥ पुरुषो वाग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो
धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मि-
न्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्ये रेतः सम्भवति ॥ १२ ॥
योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्य एव समिक्षोमानि धूमो
योनिरर्चिश्चर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गा-
स्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्ये पुरुषः
सम्भवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥ १३ ॥

अनुवाद—हे गौतम ! यह दृश्यमान भूलोक ही तृतीय अग्निकुण्ड है । इसमें
पृथिवी ही समिधा, पृथिवीस्य अग्नि धूम, रात्रि अर्चि चन्द्रमा अङ्गार और नक्ष-
त्राणि विस्फुलिङ्ग हैं । उस इस अग्नि में देवगण वृष्टि की आहुति देते हैं उस आहुति में
अन्न उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥ हे गौतम ! पुरुष ही वागुप्यं अग्नि है इसका गुण है
समिधा, प्राण धूम, वाग अर्चि, नेत्र अङ्गारा और श्रोत्र श्रोत्राणि विस्फुलिङ्ग हैं उस इस अग्नि-
में देवगण अन्न की आहुति देते हैं उस आहुति में रेत उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥
हे गौतम ! योनाति ही व्यात्तम अग्निकुण्ड है उस इस अग्नि में देवगण रेत की
आहुति देते हैं उस आहुति में पुरुष जन्म होता है । जो यह पुरुष जीता रहता
है वह उज्ज्वल ही दिन जीता रहता है जितना उमका भोग रहता है तब वह जय
माना है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(अयम्+वै+लोकोऽग्निः+गौतमः+तस्य+पृथिवी+समिध+धूमः+रात्रिः+
चन्द्रमा+अङ्गाराः+नक्षत्राणि+विस्फुलिङ्गाः+स्तस्मिन्+एतस्मिन्+अग्नौ+देवाः+वृष्टिं+जुह्वति+तस्या+आहुत्या+अन्नं+सम्भवति)
हे गौतम ! यह दृश्यमान भूलोक ही तृतीय अग्निकुण्ड है इसकी पृथिवी ही समिधा
है (अग्नि +धूमः+वागर्चिः+चन्द्रमाः+अङ्गाराः+नक्षत्राणि+विस्फुलिङ्गाः)

पृथिवीस्थ अग्नि ही धूम है रात्रि अर्धि है चन्द्रमा अंगार है और नक्षत्रगण विस्फु-
लिङ्ग हैं (तस्मिन्) उस इस अग्नि में (देवाः+वृष्टिम्+जुहति+तस्यै+आहुत्यै+
अन्नम्+संभवति) देवगण वर्षा की आहुति डालते हैं उससे अन्न उत्पन्न होता है
॥ ११ ॥ (गौतम+पुरुषः+वै+अग्निः) हे गौतम ! चतुर्थ अग्निकुण्ड पुरुषजाति
है (तस्य+व्यात्तम्+एव+समिन्+प्राणः+धूमः+वाग्+अर्धिः+चक्षुः+अंगाराः+श्रो-
त्रम्+विस्फुलिङ्गाः) इसका मुख ही समिधा है प्राण ही धूम है वाणी ब्याला है
नयन अंगार है और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग है (तस्मिन्+एतस्मिन्) उस इस अग्नि-
कुण्ड में (देवाः+अन्नम्+जुहति+तस्यै+आहुत्यै+रेतः+संभवति) देवगण अग्नि
की आहुति देते हैं उस आहुति से रेत=पुरुषवीर्य उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥ (योपा+
वै+अग्निः) हे गौतम ! पचम अग्निकुण्ड जीजाति है उस इस अग्नि में देवगण
(रेतः+जुहति+तस्यै+आहुत्यै+पुरुषः+संभवति) रेत की आहुति देते हैं उस
आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है (सः+जीवति+यावत्+जीवति) वह जीता
रहता है जितने दिन आयु रहती है (अयं+यदा+म्रियते) तब वह जन्म मर-
जाता है ॥ १३ ॥

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवाति समित्समि-
द्धूमो धूमोऽर्धिरर्धिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गा
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुहति तस्या आहुत्यै पुरुषो
भास्वरवर्णः सम्भवति ॥ १४ ॥

अनुवाद—तब मरने के परचात् इस मृत पुरुष को अग्नि क्रियार्थ श्मशान
में ले जाते हैं इसका अग्नि ही अग्नि होता है । समिधा ही समिधा, धूम ही धूम,
ब्याला ही ब्याला अंगार ही अंगार और विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं उस
इस अग्नि में बन्धु बान्धवादि रूप देवगण पुरुष की आहुति करते हैं इस आहुति
से पुरुष (जीव) भास्वर वर्ण होता है ॥ १४ ॥

पदार्थ—(अयं+एनम्+अग्नये+हरन्ति) तब मरने के परचात् इस मृतक
पुरुष को बन्धु अत्विक् आदि दाह के लिये श्मशान में लेजाते हैं, मानो यह भी
एक होम है अतः आगे कहते हैं कि (तस्य+अग्निः+एव+अग्निः+भवति) इसका
जलानेवाला अग्नि ही अग्नि होता अर्थात् पूर्वोक्त पञ्चाग्नि सट्टा यद्वा अन्य कल्पना नहीं

होती है। (समित्+समिन्+धूमः+धूमः+अर्चिः+अर्चिः+अगाराः+अगाराः+विष्कु-
लिङ्गाः+विष्कुलिङ्गाः) जलाने की लकड़ी ही यहां समिधा है। धूम ही धूम है, ज्वाला ही
ज्वाला है, अगार ही अगार है और विष्कुलिङ्ग ही विष्कुलिङ्ग है (तस्मिन्+एत-
स्मिन्+अग्नी+देवाः+पुरुषम्+जुहोति) उस इस अग्नि में बान्धवगण पुरुष को
ढालते हैं (तस्यै+आहुत्यै+पुरुषः+भास्वरवर्णः+संस्रवति) उस आहुति से यह
पुरुष अविशय दीप्तिमान् होजाता है। यह वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में नहीं है। यह
वाहकिया का केवल माहात्म्य है अर्थात् इसको अर्थवाद जाने ॥ १४ ॥

ते प एवमेतद्विदुर्वाचमी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते
तेऽर्चिचरभिसम्भवन्त्यर्चिचपोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्य-
माणपक्षाद्यान् पणमासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं
देवलोकादादित्यमादित्याद्दैद्युतं तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस
एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो
वपन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

अनुवाद—जो कोई इस प्रकार इस पञ्चाग्नि विज्ञान को जानते हैं और जो
वे (सम्पासी) अरण्य में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं वे प्रथम ज्वाला
में प्राप्त होते हैं ज्वाला से दिन में दिन से आपूर्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष) में
आपूर्यमाण पक्ष से उन छः मासों में जिनमें सूर्य उत्तर की ओर प्रस्थान करता है
उन मासों से देवलोक में देवलोक से आदित्यलोक में आदित्यलोक से वैद्युतलोक में
प्राप्त होते हैं उन वैद्युतलोक में प्राप्त जीवों को कोई मानसपुरुष आके ब्रह्मलोक में
लेजाता है। वे उस ब्रह्मलोक में परमेष्ठिष्ट होके बहुत २ वर्षों तक वास करते हैं
उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है ॥ १५ ॥

पदार्थ—अब प्रथम और पञ्चम प्रश्न का समाधान करते हैं (ते+ये+एवम्+
एतद्+विदुः) वे विद्वान्, सत्पुरुष जो इस पूर्वोक्त पञ्चाग्नि विज्ञान को समिधादि
सहित जानते हैं वे और (ये+च+अग्नी+अरण्ये+श्रद्धाम्+सत्यम्+उपासते) जो
गृह को त्याग अथवा अलिप्त हो वन में एकान्त वास कर ईश्वर में परमश्रद्धा और
सत्य की उपासना करते हैं। (ते+अर्चि +अभिसमवति) वे दोनों प्रकार के पुरुष

प्रथम अर्चि में प्राप्त होते हैं । अर्चि=आर्चिपी, अहन्=आहिक आदि आनन्द की दशा विशेष के नाम हैं । यहां केवल ज्वाला और दिन से तात्पर्य नहीं । छान्दोग्यो-पनिषद् में इसका विस्तार से वर्णन है वहां देखिये । प्रथम आर्चिपी दशा में प्राप्त होते हैं । तत्र (अर्चिपः+अहः) आर्चिपी दशा से आहिक दशा में आहिक दशा से आपूर्यमाण पक्ष अर्थात् शुक्ल पक्षीय दशा में प्राप्त होते हैं (आपूर्यमाणपक्षाद्) आपूर्यमाण पक्ष से (यान्+पङ्+मासान्+उद्+आदित्यः+एति) चतुर्दश मासों में प्राप्त होते हैं जिनमें उत्तर की ओर प्रस्थान करता हुआ सूर्य भासित होता है अर्थात् उत्तरायण दशा में प्राप्त होते हैं (मासेभ्यः+देवलोकम्+देवलोकान्+आदित्यम्+आदि-त्याद्+वैद्युतम्) पारम् मानिक दशा में देवलोक में, देवलोक से आदित्यलोक में और आदित्यलोक से वैद्युतलोक में प्राप्त होते हैं (तान्+वैद्युतान्) उन वैद्युती दशा में प्राप्त जीवों को (मानसः+पुरुषः+एत्य) मनोमय पुरुष आकर (ब्रह्म+लोकान्+गमयति) ब्रह्मलोक में पहुंचाता है जब जीव वैद्युती दशा में प्राप्त होता है तब इस के मन के आनन्द की सीमा नहीं रहती । यही असीम मानस व्यापार ही यहां पुरुष है यही मानसिक व्यापार जीवों को परमात्मा की ओर लेजाते हैं । (सेपु+ब्रह्मलोकेपु+ते+पराः+परायतः+वसन्ति) इस ब्रह्मलोक में वे जीव परमोत्कृष्ट होके बहुत वर्षों तक निवास करते हैं (तेषाम्+न+पुनः+आवृत्तिः) उनकी पुनः आवृत्ति नहीं होती अर्थात् वे बहुत काल तक परमात्मा का साक्षात् अनुभव करते रहते हैं ॥ १५ ॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूमम-
भिसम्भवन्ति धूमाद्राग्निं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाण-
पक्षाद्यान् पण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं
पितृलोकाञ्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा
सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति
तेषां यदा तत्पथ्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशा-
द्वायुं वायोर्दृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते
पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान् प्रत्यु-
त्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न

विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

अनुराद—जो यज्ञ से, दान से और तप से लोकों को प्राप्त करते हैं वे प्रथम धूम में प्राप्त होते हैं धूम से रात्रि में रात्रि से अपक्षीयमाण (कृष्ण) पक्ष अपक्षीयमाण (कृष्ण) पक्ष से उन छवों मासों में जिनमें सूर्य दक्षिण की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है । उन मासों से पितृलोक में पितृलोक से चन्द्र में प्राप्त होते हैं वे चन्द्र में प्राप्त होके अन्न होते हैं सो जैसे सोमराजा को (सोमरस को) पुनः २ भर २ कर और पी पीकर क्षीण करके पीते हैं वैसे ही देव अर्थात् प्राकृत नियम उन अन्न हुए जीवों को राजाते हैं । तब वे इसी आकाश में प्राप्त होते हैं आकाश से वायु में, वायु से पृष्टि में, पृष्टि से पृथिवी में प्राप्त होते हैं वे पृथिवी में प्राप्त होके अन्न होते हैं तब पुनः जन्म लेकर लौकिकजन्मों के प्रति पुनः उद्योग करते हैं । वे इसी प्रकार से बार बार आते जाने रहते हैं और जो इन दोनों पथों को नहीं जानते हैं वे कीट पतङ्ग होने हैं जो ये दन्दशूक मशकादिक हैं वे होते रहते हैं ॥ १६ ॥

पदार्थ—अब देवयान मार्ग को दिग्गता के पितृपाण मार्ग का वर्णन करते हैं (अघ्न+ये+यजेन्+दानेन+तपसा+लोकान्+नयति) जो कोई यज्ञ से, दान से और तप से पितृलोकादिकों को प्राप्त करते हैं (ते+धूमम्+अभिसम्भवन्ति) वे प्रथम घौमी दशा में प्राप्त होते हैं अर्थात् वे जीव इस शरीर को त्याग किंचिज्ज्योति मिश्रित अन्धकार मय दशा में प्राप्त होते हैं (धूमात्+रात्रिम्+रात्रे.+अपक्षीयमाणपक्षम्) धूम से रात्रि में और रात्रि से अपक्षीयमाण पक्ष अर्थात् जिस पक्ष में चन्द्रमा घटता जाता है उस पक्ष में संप्राप्त होते हैं (अपक्षीयमाणपक्षात्+यान्+पद्+मासान्+दक्षिण+आदित्य+नयति) उस अपक्षीयमाण पक्ष से उन छः मासों में अर्थात् दक्षिणायन में प्राप्त होते हैं जिनमें दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए सूर्य प्रतीत होते हैं (मासेभ्यः+पितृलोकात्+पितृलोकात्+चन्द्रम्) उस दक्षिणायन से पितृलोक में और पितृलोक से चन्द्र में प्राप्त होते हैं (ते+चन्द्रम्+प्राप्य+अन्नम्+भवन्ति) वे चन्द्रमयी दशा को प्राप्त होके किंचिन्मात्र आनन्द भोगते हुए इस अनन्त आकाश में अथवा लोक लोकान्तर में भ्रमण करते रहते हैं तब पुनः प्राकृत नियम इन्हें जन्म ग्रहण करने के लिये विवश करते हैं । यही इनका अन्न होना है यहा एक दृष्टान्त कहते हैं—(यथा+सोमम्+राजानम्) जैसे सोम राजा अर्थात्

सोमरस को जब पीने लगते हैं तब (आप्यायस्व) ऋत्विक् कहते हैं कि हे सोम राजन् ! तू बढो और जब पीजाते हैं तब कहते हैं (अपक्षीयस्व+इति) कि खूब घटो इस प्रकार “आप्यायस्व” “अपक्षीयस्व” इन दो शब्दों का प्रयोग करते हुए पीते हैं (एवम्+तान्+एनान्+तत्र+नत्र+देवा+भक्षयन्ति) इस दृष्टान्त के समान अन्न हुए उन जीवों को वहा २ देवगण खाजाते हैं अर्थात् प्राकृत नियम इन्हें नीचे को फेंकने लगते हैं । इसीको दिखलाते हुए अब द्वितीय और तृतीय प्रश्न का समाधान करते हैं । (तेपाम्+यद्वा+तत्+पर्यवैति) उन जीवों के जब कर्म क्षय होजाते हैं (अथ+इमम्+एव+आकाशम्+अभिनिष्पद्यन्ते) तब इसी आकाश में प्राप्त होते हैं अर्थात् पुनः ब्रह्मरूप जलीय वाष्प में मिश्रित होजाते हैं (आकाशाद्+वायुम्+वायोः+वृष्टिम्+वृष्टेः+पृथिवीम्) तब वे आकाश से वायु में वायु से वृष्टि में वृष्टि से पृथिवी में प्राप्त होते हैं तब (ते+पृथिवीम्+प्राप्य+अन्नम्+भवन्ति) वे पृथिवी में प्राप्त होके जौ, गेहूं, धान आदि अन्न में प्रविष्ट होते हैं (ते+पुनः+पुरुषानौ+हूयन्ते) तब वे अन्न के द्वारा पुरुषरूप अग्निकुण्ड में होमे जाते हैं (ततः+योषानौ+जायन्ते) तब स्त्रीजातिरूप अग्निकुण्ड में वे जीव आते हैं (लोकान्+प्रत्युत्थायिनः) तब जन्म लेकर पुनः यज्ञ दान और तप आदि स्वल्प-फलप्रद कर्मों को करना आरम्भ करते हैं (ते+एवम्+एव+अनुपरिवर्तन्ते) वे केवल कर्मपरायण पुरुष इसी प्रकार घटीयन्त्रवत् बारंबार घूमते रहते हैं इससे यह शिक्षा देते हैं कि केवल कर्म में ही न लगे रहो किन्तु ज्ञान के द्वारा ब्रह्मवि-भूति को देसते हुए ब्रह्म की ओर चलो । (अथ+ये+एतौ+पंथानौ+न+विदुः) अब जो कोई इन दोनों मार्गों को नहीं जानते हैं अर्थात् न तो ब्रह्मा और सत्य की उपासना करते हैं और न यज्ञ दान और तप ही करते हैं (ते+कीटाः+पतगाः) वे कुट्टर जीव कीट और पतंग हुआ करते हैं (यद्+इदम्+इन्द्रशूकम्) केवल कीट पतंग ही नहीं होते हैं किन्तु जो ये अतिसूक्ष्म दानों से काटनेहारे शोणित चूमने हारे मशक आदि जीव हैं ऐसे २ जीव हो २ कर मरते जीते रहते हैं । धान्दोग्यो-पनिषद् में इस मार्ग को जायस्व और त्रियस्व मार्ग कहा है और यह भी उपदेश दिया है इससे घृणा करें ॥ १६ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

स यः कामयेत महत्प्राप्तुयामित्युदगयनआपूर्यमाण-
पक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्ब्रवीती भूत्वौदुम्बरे कंसे चमसे
वा सर्वौषधं फलानीति सम्भृत्य परिसमूह्य परिलिप्याग्नि-
मुपसमाधाय परिस्तीर्योऽऽवृताऽऽज्यं संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण
मन्थं सन्नीय जुहोति यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यङ्भ्यो
घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा
तृताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा या तिरश्ची निषद्यतेऽहं
विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे सं राधनीमहं
स्वाहा ॥ १ ॥

पदार्थ—अब यहा से समाप्ति तक कर्मकाण्ड का वर्णन है अतः इसका
मूलार्थमात्र क्रिया जाता है (सः+यः+नामयेत) ओ जो कोई उपासक कामना कं
कि मैं (महत्+प्राप्तुयाम्+इति) मन्त्रसे महान् परमात्मवत्त्व को और इस लोक में
महत्त्व को पाऊं तो वह वक्ष्यमाण क्रम से अनुष्ठान करे (उदगयने) उत्तरायणरात्र
(आपूर्णमासपक्षस्य+पुण्याहे+द्वादशाहम्) शुक्लपक्ष के पुण्य दिन में द्वादश दिव-
पर्यन्त (उपसद्ब्रवीती+भूत्वा) उपसद्ब्रवीती होके, उपसद्=ज्योतिष्टोम नाम के यज्ञ में
ओ इष्टिया होती हैं अर्थात् यज्ञिय नियमों को पालते हुए (कंसे+चमसे+वा+औदु-
म्बरे) कंस=वर्तुलाकार=गोलाकार अथवा चमस=चमस सदृश, औदुम्बर=उदुम्बर काष्ठ
विरचित किसी एक पात्र में (सर्वौषधम्) सर्व प्रकार के यज्ञसम्बन्धी व्रीहि, जौ, तिल,
धान्य, सोमलता इत्यादि जो २ मिलसकें (फलानि+इति) और विविध फलों को
(संभृत्य) इकट्ठा कर (परिसमूह्य+परिलिप्य+अग्निम्+उपसमाधाय) गृहसूत्रानु-
सार परिमूहन=भूमि को नापकर वैश्व आदि घना लेपन कर और अग्नि को
स्थापित कर (परिस्तीर्य+आवृता+आज्यम्+संस्कृत्य) पुनः कुशों का परिस्तरण कर
विधियन् आज्य को सत्कृत कर (पुंसा+नक्षत्रेण+मन्थम्+सन्नीय+जुहोति) पुंसात्मक

नक्षत्रों से संयुक्त दिन में सम्पूर्ण पदार्थों को मिला छानबीन यथायोग्य पदार्थों को शुद्ध कर इस प्रकार मन्त्र अर्थात् मिश्रित द्रव्य बना उसके ऊपर वक्ष्यमाण विधि के अनुसार दधि, मधु और घृत सीबि और एक उपमन्त्रनी पात्र में खूब मयन कर इस प्रकार बनाए हुए उस मन्त्र को अग्नि के समीप रख वक्ष्यमाण रीति पर घृत का हवन करे। आगे हवन के दो मन्त्र कहते हैं—(जाववेदः) हे सचको जाननेहारे परिपूर्ण परमात्मन् ! (त्वभिन्नावन्तः+तिर्यञ्चः+देवाः) आपके महान् सत्ता में जो तिर्यङ् कुटिल अर्थात् मनुष्यों की उन्नति में विघ्न डालनेहारे दुर्भिक्ष, अतिघृष्टि, अनाघृष्टि आदि देव हैं (पुरुषस्य+कामान्+धनन्ति) जो पुरुष के सय पुरुषार्थ को नष्ट कर देते हैं (तेभ्यः+अहम्+भागधेयम्+जुहोमि) उन सब के लिये अग्नि के द्वारा भाग देता हूँ (ते+वृषाः+सर्वैः+कामैः+मा+सर्पयन्तु+स्वाहा) वे वृत्त होकर समस्त कामों से मुझे भी वृत्त करें। स्वाहा के अन्त में आहुति देंगे। द्वितीय मन्त्र यह है—(या+तिरिष्ठी) जो कुटिल गतिवाली दुर्भिक्षादि देवता है (अहम्+विधर-णी+इति+निपद्यते) मैं ही सचको निग्रह करनेहारी हूँ मुझसे सचही डरते हैं इस निश्चय से सर्वत्र प्राप्त होती है (ताम्+त्वा+घृतस्य+धारया+अहम्+यजे) हे देवते ! उस आपको मैं घृत की धारा से यजन करवा हूँ (संराधनीम्) यह तू अब सकल काम की पूर्ण करनेहारी हो। स्वाहा ॥ १ ॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रव-
मवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे
सं स्त्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा
मन्थे संस्त्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा
मन्थे संस्त्रवमवनयति ओत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ
हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजापये स्वाहेत्यग्नौ
हुत्वा मन्थे सं स्त्रवमवनयति स्तेसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे
संस्त्रवमवनयति ॥ २ ॥

पदार्थ—१—ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा २—प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठायै स्वाहा । ३—वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा । ४—चक्षुषे स्वाहा, सम्पदे स्वाहा

५—सोमाय स्वाहा, आवननाय स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा । ६—मनमे स्वाहा । ७—रेतसे स्वाहा । ८—सात मन्त्रों को पढ़कर एक २ आहुति देवे । प्रत्येक मन्त्र में दो २ स्वाहा शब्द हैं परन्तु आहुति एक ही है ये ज्येष्ठ, भेष्ठ, प्राण और वसिष्ठा आदि बौन हैं इनका वर्णन इसी अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में विस्तार से कहा गया है वहा ही देखो । अब (अग्नो+हुत्वा) सातों मन्त्रों को स्वाहान्त पढ़कर अग्नि में आहुति दाल (संस्त्रवम्+मन्थे+अवनयति) सुता में लगे हुए आज्य को उपमन्थनी पात्र में नितम्बे मन्थ रक्खा हुआ है रखता जाय ॥ २ ॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति भूर्भुवः स्व स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्त्रवमवनयति ॥ ३ ॥

पदार्थ—१—अग्नये स्वाहा, २—सोमाय स्वाहा, ३—भूः स्वाहा, ४—भुवः स्वाहा, ५—स्वः स्वाहा, ६—भूर्भुवः स्वः स्वाहा, ७—ब्रह्मणे स्वाहा, ८—क्षत्राय स्वाहा, ९—भूताय स्वाहा, १०—भविष्यते, ११—विश्वाय स्वाहा, १२—सर्वाय स्वाहा, १३—प्रजापतये स्वाहा, इन तेरह मन्त्रों में तेरह आहुतियाँ देवें सुता में लगे हुए द्रव्य को उपमन्थ नामक पात्र में रखता जाय अग्नि सोम भू भुवः स्वः ये परमात्मा के नाम हैं । ब्रह्म=ब्रह्मवित्, क्षत्र=धार्मिक वीर पुरुष दूसरों का रक्षक, भूत=गत जीव, भविष्यत्=होनेवाले जीव, विश्व और सर्व=समस्त जीवों के लिये

भी आहुति डाली जाती है । अन्त में प्रजापति अर्वात् पुनः परमात्मा के नाम पर आहुति देवे इस प्रकार होम समाप्त करे अब सप्तवसहित इम मन्त्र को दूसरा उप-मन्थनी पात्र में पुनः मथन करे और इसी उपमन्थनी से आगे व्यवहार करे ॥३॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्त-
ब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमसि
उद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे सन्दी-
प्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि
संवर्गोऽसीति ॥ ४ ॥ अथैनमुच्यच्छत्यामंस्यामंहि ते महि स हि
राजेशानोऽधिपतिः स मां राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥ ५ ॥

पदार्थ—(अय+एनम्+अभिमृशति) अब जो मन्थ=मिश्रितद्रव्य और सं-
लब्ध पात्र में रखते गए हैं उस मन्थ को हाथ से स्पर्श करे और आगे का मन्त्र
पढ़े । वह यह है—(भ्रमद्+असि) हे भगवन् । समस्त कर्मों और निश्चित
जगत् में आप ही भ्रमण करनेवाले हैं (ज्वलद्+असि+पूर्णम्+असि+प्रस्तब्धम्+
असि) हे प्रबल । आप जाग्रत्यमान हैं पूर्ण हैं और आकाशवत् प्रस्तब्ध=निष्क्रिय
हैं (एकसभम्+असि) इस जगत् रूप समा के एक सभापति आप ही हैं
(हिङ्कृतम्+असि+हिंक्रियमाणम्+असि) यज्ञ के आरम्भ में प्रन्नोता आप के
ही उद्देश से हिंकार विधि करता है अतः आप ही हिङ्कृत हैं, यज्ञ के मध्य में भी
आप ही हिंकार विधि से पूज्य होते हैं (उद्गीथम्+असि+उद्गीयमानम्+असि)
यज्ञ में उद्गाता जो उद्गीथ का गान करता है वह भी आप के ही उद्देश से किया
जाता है अतः आप ही उद्गीथ हैं और उद्गीयमान हैं (श्रावितम्+असि+प्रत्या-
श्रावितम्+असि) आप को ही अश्वयुं और आप्रीध्र सुनाते हैं अतः आप ही
श्रावित और प्रत्याश्रावित हैं (आर्द्रे+संदीप्तम्+असि+विभूः+असि+प्रभूः+असि+
अन्नम्+असि+ज्योतिः+असि+निधनम्+असि+संवर्गः+असि) आप ही मेघ में
संश्लिप्त हो रहे हैं आपही विभू=व्यापक हैं । प्रभू=समर्थ हैं । अन्न=प्राणप्रद अन्न
आप ही हैं । ज्योति हैं । निधन=प्रलयस्थान आप ही हैं । संवर्ग=संहारकर्ता आप
ही हैं ॥ ४ ॥ (अय+एनम्+उच्यच्छति) पूर्वोक्त प्रार्थना करके अब उस मन्थ को

हाथ में लेता है और इस समय पुनः ईश्वर से प्रार्थना करता है (आ+मसि)
 हे मन्त्र आप सब जाननेहारे हैं (वे+महि+आ+महि) आप के महत्त्व को हम
 सब भी जानते हैं (स+महि+राजा+ईशानः+अधिपतिः) वह आप राजा हैं
 ईशान=सर्व शासन करनेहारे हैं अतएव सब के अधिपति हैं (सः+राजा+ईशानः)
 वह राजा ईश्वर भगवान् (मा+अधिपतिम्+करोतु+इति) मुझ को भी लोक में
 सर्वाधिपति बनावे ॥ ५ ॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यं मधुवाताश्रुतायते म-
 धुश्चरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्रोपधीर्मूः स्वाहा भर्गोदे-
 वस्य धीमहि मधुनक्तमुतोपसो मधुमत्पार्थिवं रजः मधु द्यौ-
 रस्तु नः पिता भुवः स्वाहा धियो यो नः प्रचोदयात् । मधु-
 मान्नोवनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।
 स्वः स्वाहेति सवर्वाञ्च सावित्रीमन्वाह सवर्वाश्च मधुमतीर-
 हमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी
 प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्छिराः संविशति प्रातरादित्यमुप-
 तिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुज्याणामेकपुण्डरीकं भू-
 यासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ ६ ॥

पदार्थ—(अथ+अनम+आचामति) सप्तवसहित जिस मन्त्र को इस्त के
 ऊपर रक्खा था उसको प्रथम चार प्रास करके आगे के मंत्रों से चार बार भक्षण
 करे । प्रथम पठनीयमन्त्र “तत्सवितुः” से लेकर “भूः स्वाहा” पर्यन्त है । तत्सवितु-
 र्वरेण्य का अर्थ सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र के साथ देखो (वाताः+मधु+श्रुतायते) हे
 परमात्मन् ! आपकी कृपा से वायुगण मधुवत् सुरक्षारी बह रहे हैं (सिन्धवः+
 मधु+चरन्ति) नदिया मधुर रसपूर्ण हो चल रही हैं (न+ओपधीः+माध्वीः+
 सन्तु) हम जीवों के कल्याण के लिये गेहूँ, जौ, धान आदि ओषधिया मधुर होंवें
 (भू+स्वाहा) हे परमात्मन् ! इस प्रकार मूलोक्त के ऊपर अनुग्रह करो इतना
 पद प्रथम प्रास भक्षण करे द्वितीय प्रास का मन्त्र कहते हैं (नक्तम+मधु+इत+

उपसः) रात्रि और दिन मधु होवें (पार्थिवम्+रजः+मधुमत्) पृथिवी का रज मधुर होवे (नः+चौः+पिता+मधु) हमारे कल्याण के लिये यह पालक दुलोक मधु होवे (भुवः+स्वाहाः) हे भगवन् ! इस प्रकार नभश्चर जीवों को सुरी करत्ते हुए भुवर्लोक को सुरी बनावें । इतना पढ़ द्वितीय प्रास का भक्षण करें । अब तृतीय प्रास का मन्त्र कहते हैं (नः+वनस्पतिः+मधुमान्+सूर्यः+मधुमान्+अस्तु) हमारे लिये वनस्पति मधुर होवें और सूर्य मधुर होवे (नः+गावः+माध्वीः+भवन्तु) हमारे लिये गायें मधुर दुग्ध देने हारी होवें (स्वः+स्वाहा+इति) इस प्रकार भूलोक और भुवर्लोक को सुरा पहुंचाते हुए आप स्वर्लोक को सुरित करें । इससे तृतीय प्रास का भक्षण करे । अब चतुर्थ प्रास का मन्त्र कहते हैं—(सर्वाम्+सावित्रीम्+अन्वाह) सम्पूर्ण 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि सावित्री मन्त्र पढ़े (सर्वाः+च+मधुमतीः) और "मधुवाताः" से लेकर "माध्वीर्गावो भवन्तु नः" पर्यन्त पढ़ के पश्चात् "अहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहा" इतना पढ़ चतुर्थ प्रास का भक्षण करे (अहम्+एव+इदम्+सर्वम्+भूयासम्) में यह साज होऊं ऐसी आप कृपा करें । अब गायत्री का अर्थ यह है—(देवस्य+सवितुः+तद्+वरेण्यम्+मर्गः+धीमहि) महादेव जगज्जनयिता परमात्मा के उम वरणी-तेज का ध्यान हम सब अन्तःकरण में करें (यः+नः+धियं+प्रचोदयान्) जो हमारे सम्पूर्ण शुभ कर्मों और बुद्धि की पवित्रता की ओर प्रेरणा करे । पुनः आगे का कर्त्तव्य कहते हैं (अन्ततः+आचम्य+पाणी+वक्ष्याम्य) चार प्रास लेने के पश्चात् आचमन कर दोनों हाथ धोके (अग्निम्+जघनेन+प्राक्शिराः+मविशति) अग्निकण्ड के पीछे पूर्व की ओर शिर कर के सो जाय (प्रातः+आदित्यम्+उर-तिष्ठते) प्रातःकाल उठ के सर्वव्यापी परमात्मा का उपस्थान करे इसका यह मन्त्र है—(दिशाम्+एकपुण्डरीकम्+असि) हे परमात्मन् आप पूर्व पश्चिम आदि समस्त दिशाओं का अधिपति अखण्ड त्रेयस्कारी कमलवत् परम प्रिय हैं अतः आप से प्रार्थना करता हूं कि (अहम्+मनुष्याणाम्+एकपुण्डरीकम्+भूयासम्) मैं भी मनुष्यों में अधिपति होके कमलवत् प्रिय होऊं । इस प्रकार उपस्थान कर (यया+एतम्+एजा) जिस प्रकार ईश्वरोपस्थान के लिये दूसरी जगह गया था उसी प्रकार लौट कर (अग्निम्+जघनेन+आसीनः+वशम्+जपीति) और अग्नि के पीछे बैठ-कर वक्ष्यमाण वंश का जप करे ॥ ६ ॥

तं हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याया-
न्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निपिञ्चे-
ज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ७ ॥ एतमु हैव
वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पेद्गयायान्तेवासिन उक्त्वा-
वोचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निपिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररो-
हेयुः पलाशानीति ॥ ८ ॥ एतमु हैव मधुकः पेद्गयश्चूलाय
भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ
निपिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ९ ॥ एतमु
हैव चूलो भागवित्तिर्जानकाय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वा-
वाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निपिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररो-
हेयुः पलाशानीति ॥ १० ॥ एतमु हैव जानकिरायस्थूणः
सत्यकामाय जावालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के
स्थाणौ निपिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ११ ॥
एतमु हैव सत्यकामो जावालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि
य एनं शुष्के स्थाणौ निपिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशा-
नीति तमेतन्नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥ १२ ॥

पदार्थ—(तम्+एतम्+आरुणिः+उद्दालकः+ह) इस होम विधि को अरु-
णपुत्र आचार्य उद्दालक ने (वाजसनेयाय+याज्ञवल्क्याय+अन्तेवासिने+अन्त्या+
उवाच) वाजसनेय याज्ञवल्क्य नाम के शिष्य को उपदेश देकर कहा कि हैं याज्ञ-
वल्क्य । (अपि+च+य+एनम्) जो कोई उपामक इस मन्त्र को जो सर्व औषध
और सर्व फलों से बनाया गया है (शुष्के+स्थाणौ+निपिञ्चेत्) सूखे वृक्ष के ऊपर
सींचे तो उमंग (शाखाः+जायेरन्+पलाशानि+प्ररोहेयुः+इति) शाखाएँ उत्पन्न हों
और पत्ते लगजाय अर्थात् हमना फल अवश्य हो ॥ ७ ॥ इसी प्रकार इस होम
विधि को (वाजसनेय) वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य पैंग मधुक से

कहा ॥ ८ ॥ पैंग मयूक ने अपने शिष्य भागविति चूल से कहा ॥ ९ ॥ भाग-
विति चूलने अपने शिष्य आयस्यूण जानकि से कहा ॥ १० ॥ आयस्यूण जानकि
ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल से कहा ॥ ११ ॥ सत्यकाम जाबाल ने अपने
पटुवसे शिष्यों से कहा (तम्+एनम्+अपुत्राय+वा+अनन्तेवासिने+वा+न+ब्रूयान्)
इम विधि को अपुत्र और अशिष्य को कदापि न कहे ॥ १२ ॥

चतुरौदुस्वरो भवत्यौदुस्वरः स्रुव औदुस्वरश्चमस औ-
दुस्वर इध्म औदुस्वर्या उपमन्यन्यौ दश ग्राम्याणि धा-
न्यानि भवन्ति ग्रीहियवास्तिलमाषा अणुपिपद्मवो गोधूमाश्च
मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान् दधनि मधुनि
घृतउपपिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥ १३ ॥

पदार्थ—अथ इस विधि के लिये पात्र और अन्न आदि का विधान करते हैं
(चतुरौदुस्वरः+भवति) गूलर के चार प्रकार के पात्र होते हैं ये ये हैं—(औ-
दुस्वरः+स्रुवः+औदुस्वरः+चमसः+औदुस्वरः+इध्मः+औदुस्वर्या+उपमन्यन्यौ)
औदुस्वर=गूलर का स्रुव, चमस, समिगा और दो उपमन्यनी पात्र होते हैं (दश-
ग्राम्याणि+ग्रान्यानि+भवन्ति) दश प्रकार के ग्राममन्वन्धी धान होते हैं ये ये हैं—
(ग्रीहियवाः+तिलमाषाः) ग्रीहि, जौ, तिल और माष ये चार अन्न प्रसिद्ध ही हैं
(अणुपिपद्मवः) विन्ध्याचल प्रदेश में अणुनाम का एक अन्न होता है । प्रियंगु=
इमको कहीं कंगु और कहीं काउन कहते हैं (गोधूमाः+च+मसूराः+च+खल्वाः+
च+खलकुलाः+च) गोधूम=गेहूं मसूर । खल्व=निष्पाव, खलकुल=कुलत्थ=कुरथी
ये दश प्रकार के धान्य हैं (तान्+पिष्टान्+दधनि+मधुनि+घृते+उपमिष्य+आज्य-
स्य+जुहोति) उनको अच्छी तरह पीसकर दही, मधु और घृत को इन पिष्टों के
ऊपर सींचकर घृत की आहुति देवे ॥ १३ ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोप-
धय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः
पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥ स ह प्रजापतिरीचाञ्चक्रे हन्तास्मै
प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाऽथ उपास्त-
तस्मात्स्त्रियमथ उपासीत स एतं प्राञ्चं आवाणमात्मन एव
समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥ २ ॥ तस्या वेदिरुपस्थो लो-
मानि वह्निश्चर्मोधिषवणे समिधोमध्यतस्तौ मुष्कौ स या-
वान् ह वै वाजवेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य
लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासञ्चरन्त्यासां स्त्रीणां
सुकृतं वृद्धेऽथ य इदमविद्वानधोपहासञ्चरत्यस्य स्त्रियः
सुकृतं वृजते ॥ ३ ॥

पदार्थ—(एषाम्+वै+भूतानाम्+पृथिवी+रसः) श्रीमन्पारय कर्म का उप-
देश कर उत्तम सुयोग्य सन्तान के चाहनेहारे मनुष्य के लिये रजोरूप धीज की
प्रशंसा है । इन आकाश, वायु, तेज और जल भूतों का रस पृथिवी है (पृथिव्या+
आप+अपाम्+ओषधय+ओषधीनाम्+पुष्पाणि+पुष्पाणाम्+फलानि) पृथिवी का
रस जल, जल का रस गेहूं, धान आदि ओषधि, ओषधि का रस पुष्प, पुष्प का
रस फल, (फलानाम्+पुरुषः+पुरुषस्य+रेतः) फलों का रस पुरुष और पुरुष का
रस रेत है ॥ १, ॥ अत्र. वृद्धि. श्री. अपदि. चै. श्री. पुषप. च. सयोग. चै. से. कुआ. स्त्रे.
से दिग्गताते हैं (स +ह+प्रजापति+ईक्षा+चक्रे) यहा प्रजापति उस पुरुष क
नाम है जिसने आदि मूर्ति में स्त्री पुरुष के विवाहादि व्यवहार चलाए । उस प्रजा
पति ने देखा कि (हन्त+अस्मै+प्रतिष्ठाम्+कल्पयानि+इति) मनुष्य अज्ञानी होत
है अपने पुत्रोत्पत्तिक सामर्थ्य को व्यर्थ दिगावेगा अतः इस वीर्यरूप सामर्थ्य व

प्रतिष्ठा दू (सः+स्त्रियम्+समृजे) उसने प्रथम स्त्रीजाति को बनाया अर्थात् स्त्री जाति को सब तरह से सुधार (ताम्+सृष्ट्वा+अधः+उपासन्) उस स्त्रीजाति को पुरुष की अपेक्षा अधः अर्थात् कुछ न्यून मानकर जगत् में इस जाति की उपासना= आदर सत्कार फैलाया (तस्मान्+स्त्रियम्+अधः+उपासीत्) अनः आज कल भी स्त्रीजाति की उपासना कुछ न्यून रूपमें सब कोई किया करें तब ही सुख है (सः+एतं+आन्मृतः+एव+प्राश्चम्+प्रावाणम्) उसने अपने ही पवित्र शिलाघत् स्थिर फलप्रद सामर्थ्य को (समुदपारयन्) स्त्रीजाति में पूर्ण दिया (तेन+एनाम्+अभ्य-सृजन्) उस पूर्णता से स्त्रीजाति की चारों तरफ प्रतिष्ठा स्थापित की ॥ २ ॥ अब आगे दिखलाते हैं कि स्त्रीजाति एक पवित्र वस्तु है इससे ही पुरुष जाति में बड़े २ महापुरुष और ब्रह्मवादिनी स्त्रिया उत्पन्न हुआ करती हैं अतः (तस्याः+उपस्थ.+वेदिः०) इसका शरीररङ्ग पवित्र वेदि है इसके प्रत्येक अंग को यज्ञिय पन्थर्वन् पवित्र मान आदर दृष्टि से देखें (यावान्+ह+नै+वाजपेयेन+यज्ञमानस्य+जोकः+भवति+तावान्+अस्य+लोकः+भवति) यज्ञ करनेहारों को वाजपेय यज्ञ से जितना फल होता है उतना फल इस पुरुष को होता है (यः+गवम्+विद्वान्+अधोप-हासम्+चरति) जो इस तत्त्व को जानता हुआ स्त्रीजाति के साथ अधोपहास अर्थात् प्रजननरूप यज्ञ सम्पादन करता है । प्रामान्+स्त्रीणाम्+सुकृत+वृत्ते) और वह इन स्त्रियों के शुभकर्मों को अपनी ओर लेता है अर्थात् इस जाति को शुभकर्मों सिद्धिलाने के कारण इसके ऊपर अविकारी बनता है (अथ+यन्+इदम्+अविद्वान्+अधोपहासम्+चरति) और जो मूर्ख इस तत्त्व को न जानता हुआ प्रार्थिगार्थी से इस अधोपहास नाम का यज्ञ करता है (अस्य+सुकृतम्+स्त्रियः+भृंजते) इसके सुकृत को स्त्रिया लेती हैं अर्थात् उस मूर्ख पुरुष के ऊपर स्त्रियों का अधिकार होता है ॥ ३ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराद्वैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान् कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्मा-ल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविदांसोऽधोपहासञ्चरन्तीति बहु वा इदं सुतस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥ ४ ॥

पदार्थ—पुनः अन्य प्रकार से इस विज्ञान की प्रशंसा करते हैं—(एतद्+ह्+तद्+विद्वान्+उद्दालकः+आरुणिः+आह+स्म) श्रीजावि की पवित्रता, पूज्यत्व, आदरणीयत्वादि की विज्ञान की जानते हुए उद्दालक आरुणि कहा करते थे (एतद्+ह्+तद्+विद्वान्+नाकः+मौदगल्यः+आह+स्म) इसी विज्ञान को नाक मौदगल्य कहा करते थे (एतद्+ह्+तद्+विद्वान्+कुमारहारितः+आह+स्म) और कुमारहारित कहा करते थे वे उद्दालक आदि कहते हैं कि बहुत ही शोक की बात है कि (बहवः+मर्त्याः+प्राक्कषायना+निरिन्द्रियाः+विमुक्तः) बहुत से मरणधर्मी ब्राह्मणायन=अधम ब्राह्मण जो निरिन्द्रिय अर्थात् ईश्वरप्रदत्त इन्द्रियों के प्रयोग न जानते होते हैं और जो विमुक्त=पुण्यरहित हैं वे (अस्मात्+लोकात्+प्रयन्ति) इस लोक से बिना प्रयोजन सिद्ध किए हुए चले जाते हैं । (वे+इदम्+अधिद्वांसः+अधोप-ह्वासम्+चरन्ति) जो इस तरफ को न जानते हुए अधोपह्वास यज्ञ को करते हैं । बहुत से अज्ञानी ऐसे भी हैं (सुतस्य+या+जायतः+ना+बहु+वै+इदम्+रेतः+स्कन्दति) जिनका सोते और जागते हुए भी धीर्य पृथिवी पर गिर जाता है ऐसे अधम पुरुष को प्रायश्चित्त करना चाहिये । आगे प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ ४ ॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽथ रेतः पृथिवीमस्कां-
त्सीयदोपधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामै-
त्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः । पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं
कल्पन्तामित्यनामिकांगुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ
वा निमृज्यात् ॥ ५ ॥ अथ यद्युदक आत्मानं परिपश्येत्तद-
भिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणं सुकृतमिति श्रीहं
वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनी-
मभिक्रम्योपमन्त्रयेत् ॥ ६ ॥

पदार्थ—(तद्+अभिमृशेत्+अनु+या+मन्त्रयेत्) वस अपने प्रसन्न=गिरे हुए रेत को पद अधम पुरुष प्रथम स्पर्श करे पश्चात् अपने कर्म्म पर पश्चात्ताप करके ईश्वर से प्रार्थना करे कि हे भगवन् । (यत्+मे+रेतः+अथ+पृथिवीम्+अस्तामीन्) जो मेरा रेत आज पृथिवी पर खवित होगा है (यद्+ओपधीः+

अपमरद्+यद्+अपः) जिस रेतने गिरकर किसी ओंघधि को अथवा जल को भ्रष्ट किया है इस दोष के मार्जन के लिये आप से प्रार्थना करता हूँ हे भगवन् । मैं ऐसा दुःकर्म पुनः न होने दूँगा और (इदम्+तद्+रेतः+अहम्+आदरे) मैं उस वीर्य को पुनः अपने में लूँगा अर्थात् पुनः ऐसा व्यर्थ कर्म न होने दूँगा और जो न्यूनता उससे हुई है उसे पूर्ण करूँगा आपकी कृपा से (पुन+आम+इन्द्रियम्+ऐतु+पुनः+तेज+पुनः+भगः) पुनः मुझको वीर्य प्राप्त हो पुनः तेज और पुनः सांभाल और ज्ञान प्राप्त हो (पुनः+अग्निः+वि+एषाः+यथाभ्यानम्+बल्यन्ताम्) पुनः अग्निस्थानीय तेज बल, पराक्रम आज्ञासिता आदि आन्नेय गुण प्राप्त हों । अथ आगे इसकी पवित्रता सूचनार्थ और इस अधम पुरुष की शिक्षार्थ श्रुति कहते हैं कि (अनामिच्छादुष्प्राप्त्याम्+आदाय+मनो+वा+ब्रुवो+वा+अन्तरेण+निमृश्याम्) उस पतित रेत को अनामिच्छा और अगूठे में उठा कर दोनों स्तनों अथवा भौंहों के बीच में लेप लेवे तत्पश्चात् उमी समय शुद्ध जल से स्नान कर गायत्री का जप करे ॥ ५ ॥ स्त्री के साथ बहुतसे नराधम जन में क्रीडा करके या अकेला स्नान करता हुआ अपने वीर्य को जल में गिरता है उस के लिये कहते हैं कि (अथ+यदि+उदके+आत्मानम्+पश्येत्) और यदि जल में वीर्यपान करते हुए अपने को देखे (तद्+अभि+मन्त्रयेत्) तब अपने शरीर को पवित्र कर पुनः ईश्वर से प्रार्थना करे (सयि+नेजः+इन्द्रियम्+यशः+त्रिणम्+सुरुतम्) हे भगवन् । इस भ्रष्ट कर्म से लोक वेद में निन्दा में जो भोग तेज वीर्य, यश, वित्त और पुण्य नष्ट हुए हैं या आगे होंगे वे मुझ में स्थिर होवे मैं पुनः इस नीचकर्म को न करूँगा । इति शब्द यहाँ मन्त्र समाप्तिशोक्त है । स्त्री की पवित्रता पुनः दिग्गतांते हैं—(स्त्रीणाम्+प्या+द+य+श्रीः) स्त्रियों में से यह विवाहिता स्त्री इस पुरुष की श्री=शोभा, सम्पत्ति, गृहलक्ष्मी है (यद्+मलोद्गताः) क्योंकि शुद्ध, मल रहित वस्त्र के समान स्वच्छ यह परिणीता स्त्री है । इसका निरादर कदापि करना आविष्ट नहीं (तस्माद्+मलोद्गामसम्+यशस्विनीम्+अभिकल्प्य+उपमन्त्रयेत्) इस हेतु वह नर धौतवस्त्र के समान पाप रहिता निर्मला अतएव यशस्विनी स्त्री के निकट आकर सन्तानोत्पादनार्थ दोनों एकान्त में बैठ विचार करें परन्तु कभी भी इस विवाहिता स्त्री को निरादर कर अपने इन्द्रिय को वहाँ अन्यत्र दूषित न करे ॥ ६ ॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवकीणीयात् सा चेदस्मै

नैव दद्यात्काममेनां यष्टया वा पाणिना वोपहर्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७ ॥
 सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनायेव भवतः ॥ ८ ॥ स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवति हृदयादधिजायसे स तमङ्गकपायोऽसि दिग्धविडामिव मादयेमाममूंमयीति ॥ ९ ॥

पदार्थ—अब यह दिसलाते हैं कि स्त्रिया भी कई प्रकार की होती हैं मनुष्य की ही नहीं, फिर किस के साथ कैसा व्यवहार करे (सा+चेद्+अस्मै+न+दद्यात्) यदि कोई विवाहिता भार्या किसी कारणवश सन्तानोत्पत्ति के लिये अपने को दान न करे तो प्रथम (एनाम्+कामम्+अवनीषीयात्) इसको यथेच्छ द्रव्यों और सुवचनों से निज वश में लावे (सा+चेद्+अस्मै+नैव+दद्यात्) इस पर भी पति के अनुकूल वह न होवे तो (कामम्+एनाम्+यष्टया+वा+पाणिना+वा+उपहृत्य+अतिक्रामेत्) तो यथेच्छ दण्ड का भय दिखला अथवा हाथ से उसे पकड़ अच्छे प्रकार समझावे और उसे यह भय दिसलावे कि (ते+यश+यशसा+इन्द्रियेण+आददे) हे बरारोहे ! यदि तू ऐसा करेगी तो मैं अपने यश के हेतु इन्द्रिय के साथ तेरा यश लेलूंगा अर्थात् मैं जन्मभर प्रसन्नचारी रहूँगे तेरा सन्तान न होने दूँगा फिर घृद्धा अवस्था में सन्तान के अभाव से तुम्हें अनेक बलेश पहुँचेंगे अतः नू सहमत होजा (इति+अयशा+एव+भवति) इस प्रकार वह अग्रविषयी अर्थान् इस भय से स्त्री सहमत हो जाती है ॥ ७ ॥ इस प्रकार समझने पर (सा+चेद्+अस्मै+दद्यात्) यदि वह स्त्री सन्तानार्थ अपने को समर्पण करे तो वह इसकी इस प्रकार प्रशंसा करे (ते+यश+यशसा+इन्द्रियेण+आदधामी+इति) हे सुन्दरि ! तेरे सन्तानरूप यश को मैं यशोहेतुक वीर्य्य से अच्छे प्रकार धारण करता हूँ इस प्रकार (यशस्विनी+एव+भवत्) वे दोनों दम्पती लोक में यशस्वी होते हैं ॥ ८ ॥ (स+याम्+इच्छेत्+मा+कामयेत+इति) यदि कोई पति चाहे कि मेरी स्त्री सदा मुझ से प्रसन्न रहे प्रत्येक कार्य्य में उससे मैं और वह मुझ से सन्मति लिया करे

तो इस अवस्था में (तस्याम्+अर्थम्+निष्ठाय) उस स्त्री के लिये सब शुभप्रयोजन को मित्रकर (मुखेन+मुखम्+सन्धाय) उसके मुखोच्चारित वचन से अपने मुखो-
च्चारित वचन से मिलाकर (अस्याः+उपसम्+अभिमुख्य) उसके समीपस्थ स्थान में बैठ एकान्त में सगम्भ धृष्ट विचार कर (जपेत्) यह संकल्प करे । भाव इस का यह है कि स्त्री के साथ जो प्रतिज्ञा करे उसे अवश्य पूर्ण करे अपने व्यभि-
चारादि दोष से स्त्री के मन को कभी विरक्त न बनावे । एक ही समय में दो स्त्रियां कदापि न रखे उसके समीप बैठकर सम्मति लिया करे । यही मूल से मूल मिलाना है । अब आगे जप (मन्त्र) कहते हैं अर्थात् व्यभिचार से बचने के लिये स्त्री के समीप यह प्रतिज्ञा करे (अंगान्+अंगान्+सम्भवसि) हे कामदेव ! तू अङ्ग अङ्ग से सभूत होता है (हृदयात्+अधिजायसे) परम पवित्र हृदय के सकल्प से उत्पन्न होता है (स+चम्+अगकपायः+अभि) वह तू मेरे अंगों का पवित्र रस है अतः तुझे कहीं भी मैं अन्यत्र भ्रष्ट न करूँगा ऐ वरारोहे ! तुम इस प्रतिज्ञा को मुनो । हे कामदेव ! वह तू (दिग्धिद्विष्+इव) विपलितशरविद्धा मृगी के समान (इमाम्+अमृम्+मयिमादयः+दति) इस मेरी स्त्री को मेरे लिये मदान्विता करो मैं अब से कहीं भी व्यभिचारादि दोषों से स्त्री के मन को आहत न करूँगा ॥ ६ ॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखे-
न मुखं सन्धायामिप्राणयापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत
आदय इत्यरेता एव भवति ॥ १० ॥ अथ यामिच्छेद्दधीतेति
तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धायामिप्राणयादि-
न्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

पदार्थ—विवाह करने के पश्चात् यदि केवल परोपकार में समय बिताने की प्रवृत्ति इच्छा से दोनों सन्तानोत्पात्ति न करना चाहें तो इस अवस्था में दोनों ये उ-
पाय करें (अथ+याम्+इच्छेत्+न+गर्भम्+दधीत) यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री की सम्मति से चाहे कि मेरी स्त्री गर्भवती न होवे अर्थात् हम दोनों ब्रह्मचारी, ब्रह्मचा-
रिणी रहकर जगदुपकार किया करें तो इस अवस्था में भी (तस्याम्+अर्थम्+नि-
ष्ठाय+मुखेन+मुखम्+सन्धाय) उस स्त्री के निमित्त कुछ अर्थ=सम्पत्ति आयोजना

कर स्त्री के वचन के साथ अपने वचन को अच्छे प्रकार निगहता हुआ प्रतिदिन (अभिप्रायान्+अपान्गान्) दोनों प्राणों को बाहर निहाल बाहर वायु को लिया करे अर्थात् एकान्त स्थल में प्रतिदिन प्राणायाम किया करे जिसमें दोनों ऊर्ध्वरेता हो के परम वलिष्ठ होने और सत्त्व रखे कि (ते+रेन+रेनमा+इन्द्रियेण+आददे) हे स्त्री ! तेरे रेत को मैं अपने रेतोद्देतुक योग्य के साथ लेता हूँ अर्थात् जिस प्रकार मैं परोपकार दृष्टि से प्राणायाम द्वारा रेतःप्रद इन्द्रिय को चेर रहा हूँ इसी प्रकार आपभी अपने सत्त्व में दृढ़ होवें ऐसी प्रार्थना ईश्वर से करना हूँ आप भी ऐसी प्रार्थना किया करें (इति+अरेताः+एव+भवति) इस प्रकार प्राणायाम द्वारा प्रत्येक अरेता=ऊर्ध्वरेता होते हैं ॥ १० ॥ (अथ+याम्+इच्छेत्+दधीत+इति) यदि कोई चाहे कि सन्तान हो तो इस अवस्था में सदा स्त्री के लिये शुभ प्रयोजन सिद्ध किया करे स्त्री के वचन के साथ अपने वचन में सत्य बनाया करे और नित्य दोनों यशसभय प्राणायाम किया करें शुभ मुहूर्त में यह संकल्प करे कि (रेतसा+इन्द्रियेण) मैं अपने रेतःप्रद इन्द्रिय के साथ (ते+रेन+आदधामि) तेरे रेत को स्थापित करता हूँ अर्थात् इस प्रकार स्त्री के मन को सदा प्रसन्न रखे (गर्भिणी+एव+भवति) तब यह अवश्य गर्भवती होती है ॥ ११ ॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तच्चेद्विद्व्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमं शरवर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिपाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ ते आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशून्स्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकार्क्षीति यमेवं विद् ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुतहोवंवित्परो भवति ॥ १२ ॥

पदार्थ—व्यभिचार दोष की निवृत्त्यर्थ आगे का प्रकरण आरम्भ करते हैं (यस्य+जायायै+जार+स्यात्) यदि किसी की स्त्री का कोई जार हो तो (तम्+

द्विप्यात्) उस जार से उसका पति द्वेष करे और इसकी निवृत्ति के लिये वह
 करे (आमपात्रे+अग्निम्+उपसमाधाय+प्रति+ल्लोमम्+शरवर्हिः+सीत्वा)
 जो के कच्चे पात्र में अग्नि को रख शरभय कुशों को प्रतिलोम अर्थात् उल्टा
 णाम वा पश्चिमाग्र करके विद्या (तस्मिन्+एताः+शरभृष्टीः+प्रतिलोमाः+सर्पि-
 षाः+जुहुयात्) उस अग्नि में शरभृष्टि=वाणेषिका=मूज की शरसमान जो
 होती है उसे शरभृष्टि कहते हैं उसको उल्टाकर घृत लगा होम करे और
 मन्त्र पढ़े (मम+समिद्धे+अहौषीः) अरे दुष्ट ! तैने मेरे समिद्ध योपाग्नि में
 इति डाली है अतः (असौ+इति+ते+प्राणापानी+आदे) मैं देवदत्त तुम य-
 त के प्राण और अपान ले लेता हू (मम+समिद्धे+अहौषीः+असौ+ते+पुत्रप-
 त्+आदे) तैने मेरे समिद्धाग्नि में होम किया है तेरे पुत्रों और पशुओं को ले
 लाहूँ (मम०+इष्टासुक्रते+आशापराकाशौ) तेरे यज्ञ और सुकृत तेरी आशा
 र्थना और पराकाश=प्रतिष्ठा ले लेता हूँ इस प्रकार होम करे (सः+वै+एयः+नि-
 न्द्रयः+विमुकृतः+अस्मात्+लोकान्+प्रैति) सो यह दुष्ट पापिष्ठ जार निरिन्द्रिय
 एव कर्मरहित हो इस लोक से प्रस्थान कर जाता अर्थात् मरजाता है (यम्+ए-
 वेद+ब्रह्मणः+शपति) जिस दुराचारी को ऐमा ज्ञानी ब्राह्मण शाप देता है
 तस्मात्+एवं+विच्छेन्नियस्य+दारेण+न+उपहामम्+इच्छेत्) इस कारण ऐसे ज्ञानी
 त्रिय ब्राह्मण की स्त्री के साथ कदापि उपहाम न करे (उत+हि+एवं+विद्+परः+
 इति) क्योंकि ऐसा औत्रिय उसका शत्रु होजाता है ॥ १२ ॥

अथ यस्य जायामार्त्तव्रं विन्देत् त्र्यहं कंसेन पिबेदहत-
 वासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्रिरात्रान्त आप्नुत्य
 ग्रीहीनवघातयेत् ॥ १३ ॥ स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्रो जायेत
 वेदमनुब्रवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पि-
 षमन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४ ॥

पदार्थ—आसक्ति विषय को समाप्त कर ऋतु के समय अनुष्ठेय कर्म का वि-
 धान करते हैं (अथ+यस्य+जायाम्+आर्त्तवम्+विन्देत्) जो पुरुष अपनी जाया
 को ऋतुमयी जाने उसकी स्त्री (अहन्वासाः+त्र्यहम्+कंसे न+पिबेत्) नवीनघञ्ज

पहिने ह्यग्ने रवे और तीन दिन तक वांछपात्र में न पीवे और न स्नाय (एनाम्+
नः+शृणुलः+न+शृणुली+उपहन्त्यान्) इस स्त्री को ज व्यभिचारी पुरुष और न व्य-
भिचारिणी स्त्री स्पर्श करे (त्रिगत्रान्ते+आप्लुत्य+ग्रीहीन्+अववातयेत्) तीन रात्रि
के परचान् पतुर्य दिवस में चरु बनाने के लिये ग्रीहि नामक अन्नों को घूट पीन-
कर तैयार करे ॥ १३ ॥ (सः+यः+इच्छेत्+पुत्रः+मे+शुक्लः+जायेत+वेदम्+
अनुब्रवीत्+सर्वम्+आयुः+श्यान्+इति) सो जो बोई चाहे कि मेरा पुत्र शुक्ल-
हो और एक वेद का यत्ता हो सम्पूर्ण १०८ आयु को प्राप्त करे सो (क्षीरोदनम्+
पाचयित्वा+सर्पिष्मन्तम्+मश्नीयाताम्) यह पुरुष अपनी स्त्री से क्षीरोदन अर्थात्
खानल के साथ मीर बनवा कर उसमें घृत टाल दोनों स्त्री पुरुष उस स्त्री को
स्नाय (जनयितवै+इंश्वरौ) तब वे दोनों अवश्य ही ऐसे पुत्रोत्पादन में सफल
होंगे ॥ १४ ॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदा-
बनुब्रवीत् सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्म-
न्तश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५ ॥ अथ य इच्छेत्पुत्रो मे
श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन् वेदाननुब्रवीत् सर्वमायुरिया-
दित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयि-
तवै ॥ १६ ॥ अथ य इच्छेद्दुहिता मे परिडता जायेत सर्व-
मायुरियादिति तिलोदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाता-
मीश्वरौ जनयितवै ॥ १७ ॥ अथ य इच्छेत्पुत्रो मे परिडतो
विजिगीथः समितिगमः शुश्रूषितां धाचं भाषिता जायेत
सर्वान्वेदाननुब्रवीत् सर्वमायुरियादिति माषोदनं * पाच-
यित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण
वाऽऽर्षमेण वा ॥ १८ ॥

पदार्थ—(अयं य इच्छेत्+पुत्रः+मे+कपिलः+पिङ्गलः+जायेत+द्वौ+वेदौ+
अनुब्रवीत्+सर्वम्+आयुः+श्यान्+इति)

* माठमेद—माषोदन भाष्य में इसपर टिप्पणी देखिये ।

अनुव्रवीत्+सर्वम्+आयुः+इयान्+इति) सो जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र कपिल=
 पिंगलवर्ण और पिंगलाक्ष हो, दो वेदों का अनुवचन करे सम्पूर्ण आयु को प्राप्त
 करे तो (दध्यौदनं+पाचयित्वा+सर्पि०) दही के साथ ओदन बनवा घृत मिला
 दोनों दम्नवी उसे स्थाय्य अवरय ही वे दोनों वैसे पुत्रोत्पादन में समर्थ होंगे ॥१५॥
 (अथ+यः+इच्छेत्+पुत्रः+मे+श्यामः+लोहिताक्षः+जायेत्+त्रीन्+वेदान्+अनुव्र-
 वीत्+सर्वम्+आयुः+इयान्+इति) सो जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र श्याम और
 रक्ताक्ष होवे तीन वेदों का वक्ता हो सर्व आयु को प्राप्त करे तो (उद्यौदनम्+पाच०)
 जल में चरु बनवा घृत मिला दोनों स्थाय्य तत्र अवरय ही पुत्रोत्पादन में समर्थ होंगे
 (अथ+यः+इच्छेत्+दुहिता+मे+परिडता+जायेत्+सर्वम्+आयुः+इयान्+इति+तिलौ-
 दनम्+पाच०) जो कोई चाहे कि मेरी कन्या परिडता होवे सम्पूर्ण आयु को प्राप्त
 करे तो तिल के साथ ओदन बनवा घृत मिला दोनों उस तिलौदन को स्थाय्य तो
 अवरय ही ऐसी कन्योत्पादन में दोनों समर्थ होंगे ॥ १७ ॥ (अथ+सः+यः+
 इच्छेत्+मे+पुत्रः+परिडतः+विजिगीथः+समिर्तिगमः+शुभूपिताम्+वाचम्+भाषिता+
 जायेत्) और जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र परिडत, विजिगीथ=मूढ प्रकार से गीत=
 प्रसिद्ध, समिर्तिगम=समासद्, सभागान्ता, सुनने के योग्य वाणी का भाषण करने
 वाला और (सर्वाङ्ग+वेदान्+अनुव्रवीत्+सर्वम्+आयुः+इयान्+इति) सब वेदों
 का वक्ता होवे और सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करे तो (मापौदनं+पाचयित्वा०)
 अपनी स्त्री से मापौदन माप=उरद्, उरद् के साथ चावल बनवाकर उसमें घृत
 मिला दोनों स्थाय्य तत्र अवरय ही ऐसे पुत्र के उत्पादन में वे दोनों समर्थ होंगे
 (औक्षेण+वा+आर्षमेण+वा) औक्ष विधि से अथवा ऋषभ विधि से=ऋषिकृत
 विधि से यह सप्त कर्म करे । मापौदन=सबसे पहिले एक महान् प्रमाद बहुत दिनों
 से चला आता हुआ प्रतीत होता है । मासौदन शब्द यहां नहीं चाहिये किन्तु
 मापौदन अर्थात् मापौदन के स्थान में मांसौदनम् लेखकों के भ्रम से वा किमी
 मांसप्रिय विद्वान् के कर्त्तव्य से इस प्रकार का परिवर्तन हुआ है ऐसा प्रतीत होता
 है, क्योंकि श्रीमन्थकर्म में दश प्रकार के अन्न के नाम आये हैं वे ये हैं व्रीहि, यव,
 तिल, माप, अणु, प्रियङ्गु, गोधूम, मसूर, रात्व और खलकुल और इन दश
 अन्न और सर्वोपघ मिलाकर भोग्य बनाया जाता है और उसके विधिपूर्वक ग्रहण से
 यहांतक फल कहा गया है कि सृष्टे वृत्त के ऊपर भी यदि यह मंत्र रखा जाय

तो उसमें पसे लग जाय दत्तादि वर्णन इसी उपनिषद् के पष्ठाध्याय के तृतीय ब्राह्मण में देखिये । यहा पर देखते हैं कि निल शब्द के पश्चात् माप शब्द आया है । इसी प्रकार “तिलोदन” के पश्चात् मापौदन आना चाहिये न कि “मासौदन” क्योंकि १७ वें ग्रह में तिलोदन शब्द आया है अतः १८ वे ग्रह में अवश्य मापौदन चाहिये पूर्व में भी प्रम देगते हैं कि क्षीरोदन, दध्योदन और उदोदन शब्द आए हैं अथ क्षीर, दधि और अन्न को त्याग भट्ट मास का विधान करदेना यह अमंगल प्रतीत होता है अतः यहा मापौदन ही शब्द है यह सिद्ध होता है “माप” उरद को कहते हैं । और जिनके पक्ष में मासौदन शब्द है उनके पक्ष में भी मास शब्द का अर्थ मास करना अनुचित है क्योंकि यहा इसका कोई प्रसंग नहीं । पुष्टिकारक रोगनिनाशक प्रतिबन्धनिवारक, चिकित्साशास्त्र विहित उत्तम २ ओषधि का नाम यहा मास है, क्योंकि यौगिक अर्थ यही होता है (मनः सीदत्यस्मिन् माननीयम् वा शास्त्रैः) जिससे मन प्रसन्न हो और जो शास्त्रों से माननीय हो उसे मास कहते हैं । औक्ष=उक्ष सेचने । सेचन=सींचने अर्थ में उक्ष धातु है इसीसे उक्षन् बनता है । इस उक्षन् शब्द से विशेषण में औक्ष ॥ ६ बनता है सेचन अर्थ में उक्ष धातु के बहुत प्रयोग आते हैं यहा ही १९ में “अभ्युक्षति” देखो, कौन ओषधि किसमें कितनी मिलानी चाहिये एवं विशेष २ पाक में कौन २ द्रव्यद्रव्य सींचना अर्थात् देना चाहिये इन धातों के वर्णनपरक जो शास्त्र उसे औक्ष शास्त्र कहते हैं । आर्षभ=ऋषभ शब्द से विशेषण में आर्षभ बनता है । ऋषि और ऋषभ दोनों शब्द एकार्थक हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि औक्ष शास्त्र के और आर्षभ=ऋषिभूत विधिके अनुसार जितने प्रकार के पाक बहे हैं वनवाधे और त्याग इसी हेतु अन्त में ये दोनों शब्द दिए हैं । विधि अन्त में कहते हैं—यह उपनिषद् की रीति है जैसे इसी अध्याय के तृतीय ब्राह्मण के अन्त में दश अर्घों के नाम और श्रीमथ की विधि कही गई है । यहा औक्ष और आर्षभ शब्द का अन्यय मापौदन आदि से नहीं है इत्यलम् ॥ १८ ॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपा-
कस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे
सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः

प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्यु-
क्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या
सहेति ॥ १६ ॥ अथैनामभिषद्यतेऽमोहमास्मि सा त्वं सात्व-
मस्थमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि
सं रभावहै सहरेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तय इति ॥ २० ॥

पदार्थ—अब पाक सामग्री और विधि कह के किस दिन यह विधि करें
इसके लिये आगे का ग्रन्थ आरम्भ करते हैं—(अथ+अभिप्रातः+एव) रजोधर्म
के दिन से चतुर्थ दिवस प्रातःकाल ही सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म से निवृत्त होके
(स्थालीपाकाधृता+आज्यम्+चेष्टित्वा+स्थालीपाकस्य+उपघातम्+जुहोति) स्थालीपाक
की आधृत् (विधि) के अनुसार घृत को सस्त्रुण कर स्थालीपाकों को अच्छे प्रकार
घेस और धोड़ा २ ले लेकर वक्ष्यमाण मन्त्रों से हवन करे १—अग्ने स्वाहा, २—अ-
नुमतये स्वाहा, ३—वेवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा (हुत्वा+उद्धृत्य+प्राभाति) इन
तीन मन्त्रों से होम कर स्थाली में अवशिष्ट चरु को लेकर प्रथम पति राय पश्चान्
(प्रारय+इतरस्थाः+प्रयच्छति) लाकर स्त्री को यह चरु खाने को देवे तब (पाणी+
प्रक्षाल्य+उदपात्रम्+पूरयित्वा+तेन+एनाम्+अभ्युक्षति) दोनों हाथों को धो जल-
पात्र को जल से पूर्ण कर उससे स्त्री को अच्छे प्रकार सींचे इस समय यह मन्त्र
पढ़ें (अतः+विश्वासो) हे विश्व के धन ! हे सबके धनस्वरूप परमात्मन् ! जिस
कारण पुत्रोत्पादन करने की आज्ञा है और तदनुसार मैं इस उपाय में प्रवृत्त हूं
और आपने ही अपनी प्रेरणा से इसमें प्रवृत्त कराया है इस कारण मेरे ही समान
(पत्या+सह+अन्याम्+प्रपूर्व्याम्+जायाम्+सम्०) हे परमात्मन् ! अपने २ पति
के साथ अन्यान्य पूर्णा युवती स्त्री क्रीडा करती हुई पुत्रोत्पादन करें (इच्छ)
ऐसी इच्छा आप करें अर्थात् आप प्रत्येक स्त्री को ऐसी शुभ इच्छा दें कि वह
अपने २ पति से सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करे ॥ १६ ॥ (अथ+एनाम्+अभिषद्यते)
इसके पश्चात् एकान्त में अपनी स्त्री के साथ इस प्रकार भाषण करे—(अमः+
अहम्+अस्मि) हे प्रिये ! मैं अम अर्थात् प्राणस्थानीय हूं (सा+त्वम्) और तू
सा=वाणी स्थानीया है इसी को पुनः कहते हैं (मा+त्वम्+असि+अहम्+अमः) तू
वाणी है मैं प्राण हूं (साम+अहम्+अग्नि+ऋक्+त्वम्) मैं सामवेद के समान हू

तू ऋग्वेद के समान है (यौः+अहम्+पृथिवी+त्वम्) वर्षारूप बीजप्रद सौम्यानीय में हूँ बीजधारयित्री पृथिवीस्थानीया तू है (ण्डि+तौ+संरभावहे) हे प्रिये । आ हम दोनों उद्योग करें (पुसे+पुत्राय+वित्तये+इति) पुरुषार्थ करनेहारे पुत्र की प्राप्ति के लिये (सहरेवः+दद्यावहे) हम दोनों मिलकर रेत धारण करें ॥ २० ॥

अथास्या ऊरु विहापयति विजिहीषां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिशतु आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ ॥ २१ ॥

पदार्थ—(अथ+अस्याः+ऊरु+विहापयति+विजिहीषाम्+द्यावापृथिवी+इति) जैसे बुलोक से प्रकाश, उष्णता, वर्षादि विविध पदार्थों को पृथिवीस्थ जीव प्राप्त करते हैं और पृथिवी से अन्नादिक प्राप्त कर प्राणधारण करते हैं इसी द्यावापृथिवी के समान पतिव्रता के प्रत्येक अंग समझे इसी से कल्याण है ऐसा सब कोई माने (तस्याम्०) इसके लिये सम्पूर्ण सुरा सामग्री यथाशक्ति यथासम्बन्ध प्रस्तुत रखे (विष्णुः+योनिम्+कल्पयतु) पुनः इस प्रकार परमात्मा से प्रार्थना करे—सर्वव्यापी परमात्मा इस स्त्री के सर्वावयवरूप गृह को सुखमय बनावे वेदादिक ग्रन्थों में योनिशब्द गृहवाची होता है—(त्वष्टा+रूपाणि+पिशतु) सम्पूर्ण जगत्कर्त्ता परमात्मा इसके रूप को सुन्दर बनावे (आसिञ्चतु+प्रजापतिः+धाता+गर्भम्+ते+दधातु) सर्व प्रजाधिपति धाता विधाता तेरे गर्भ को पवित्रत्वरूप जल से सिक्त करे और दृढ़ करे (सिनीवालि+गर्भं+धेहि) हे शोभायमानकेशान्विते । उस परमात्मा के अनुग्रह से तू प्रसन्नचित्ता हो गर्भ धारण कर (पृथुष्टुके+गर्भं+धेहि) हे बहुस्तुते प्रिये । प्रीतिपूर्वक दृष्ट मन होके गर्भाधान करे (पुष्करस्त्रजौ+अश्विनौ+देवौ+ते+गर्भम्+आधत्ताम्) कमलमाली अर्थात् सुखप्रद ये अहोरात्र रूप देव तेरे गर्भ को अक्षत अनुग्रहत अभ्युन्न रक्कर दद्यावहे ॥ २१ ॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्म्मन्थतामश्विनौ तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रियेण गर्भिणी वायुर्दिशां यथा गर्भ एव गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥ २२ ॥ सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति । यथा वायुः पुष्करिणीं समिज्जति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहावैतो जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमिन्द्र निर्जाहि गर्भेण सावरां सहेति ॥ २३ ॥

पदार्थ—(हिरण्मयी+अरणी) स्त्री पुरुरूप जो सुवर्णवत् देदीप्यमान दो अरणी हैं (याभ्याम्+अश्विनौ+निर्मन्थताम्) जिनमे ये अहोरात्र रूपकाल सन्तान-रूप अग्नि को मथा करते हैं (ते+वम्+गर्भम्+हवामहे) हे रम्भोर ! तेरे इस गर्भ को मैं स्थापित करता हूं (दशमे+मासि+सूतये) दशवें मास में सन्तान होने के लिये । (यथा+पृथिवी+अग्निगर्भा) जैसे अग्नि से पृथिवी गर्भवती है (यथा+इन्द्रेण+द्यौः+गर्भिणी) जैसे सूर्य से द्यौं गर्भिणी है (यथा+दिशाम्+गर्भं+वायु+एवम्+ते+गर्भम्+असौ+इति+दधामि) जैसे दिशाओं का गर्भ वायु है वैसे ही हे बरारोहे ! यह मैं तेरा गर्भ स्थापित करता हूं ॥ २२ ॥ (सोष्यन्तीम्+अद्भिः+अभ्युक्षति) भस्वोन्मुखी भाष्या को देख आगे के मन्त्रों को पढ़ जल से अभिषिक्त करे, मन्त्र ये हैं—(यथा+वायुः+पुष्करिणीम्+सर्वतः+समिज्जयति) जैसे वायु तड़ाग को सब ओर से चलायमान करता है (एवम्+ते+गर्भः+एजतु) इसी प्रकार तेरा गर्भ चलायमान होवे (जरायुणा+सह+अवैतु) और गर्भ वेष्टन चर्म के साथ निकल आवे (इन्द्रस्य+अयम्+सार्गलः+सपरिश्रयः+व्रजः+कृतः) परमात्मा ने इन्द्र=जीवात्मा के लिये इस स्थान को सार्गल=अर्गन्ता सहित और परिवेष्टन सहित बनाया है (इन्द्र । तम्+निर्जाहि) हे जीवात्मन् ! तू उस गर्भ को प्राप्त कर निकलजा और पश्चात् (गर्भेण+सह+सावराम्+इति) पश्चात् गर्भ के साथ मांसपेशी को भी निकालो ॥ २३ ॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कंसे पृषदाज्यं संस्त्री-य पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन् सहस्रं पुण्यांस मेधमानं

स्वे गृहे । अस्योपसन्ध्यां मा च्यैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च
स्वाहा । मयि प्राणां त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत्क-
र्मणात्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्-
स्विष्टं सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥ २४ ॥

पदार्थ—(जाते+अग्निम्+उपसमाधाय+अष्ट्रे+आधाय) जय सन्तान उत्पन्न
हो उस समय अग्नि को प्रज्वलित कर अपत्य को गोदी में बैठा (कसे+पृषदाज्यम्+
सेत्रीय) वास-पान में दधिमिश्रित घृत रख (पृषदाज्यस्य+वपधातम्+जुहोति)
उसको थोडा २ लेकर होम करे । मन्त्र ये हैं—(अस्मिन्+स्वे+गृहे+एधमानः+स-
हस्रम्+पुण्यासम्) हे परमात्मन् ! आप की रूपा से अपने गृह में पुत्र कलत्रादिकों
के साथ वृद्धि को प्राप्त होता हुआ सहस्रों मनुष्यों का मैं पोषण करू । (अस्य+
उपसन्ध्याम्+प्रजया+च+पशुभिः+च+मा+च्यैत्सीत्) इस भेरे अपत्य के गृह में प्रजा
और पशुओं के साथ धन सम्पत्ति का कदापि विच्छेद न हो । इतना पढ़ स्वाहान्त
एक आहुति देवे (मयि+प्राणान्+त्वयि+जुहोमि+स्वाहा) मुझ पिता में जो प्राण
हैं उन्हें मुझ पुत्र में समर्पित करता हूँ इतना कहकर द्वितीय आहुति देवें (कर्मणा+
यद्+अत्यरीरिचम्) हे भगवन् ! कर्म के द्वारा जो अधिक कर्म किया है (यद्वा+
न्यूनम्+इह+अकरम्) अथवा न्यून कर्म किया है (स्विष्टकृन्+विद्वान्+अग्निः)
परम शोभन इष्टप्रद परम ज्ञानी अग्निवत् देदीप्यमान परमात्मा (नः+तत्+स्विष्टम्+
करोतु+स्वाहा) हमारे उस अतिरिक्त और न्यून कर्म को शोभनेष्टि युक्त और सु-
हुत करे ॥ २४ ॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागीति त्रिरथ-
दधि मधु घृतं सत्रीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति ।
भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः
सर्वं त्वयि दधामीति ॥ २५ ॥ अथास्य नाम करोति वेदोऽ-
सीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६ ॥ अथैनं मात्रे
प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो-

रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः येन विश्वा पुण्यासि वार्याणि सर-
स्वति तमिह धातवे करिति ॥ २७ ॥

पदार्थ—(अय+अस्य+दक्षिणम्+कर्णम्+अभिनिधाय) हवन के पश्चात्
सन्तान के दक्षिण कान को अपने मुख की ओर करके 'इसके कान में (वाग्+
वाग्+इति+त्रिः) तीन बार वाग् वाग् इस पद को उच्चारण करे (अय+दधि+मधु+
घृतम्+सघ्नीय+अनन्तर्हितेन+जातरूपेण+प्राशयति) सब दधि, मधु और घृत को
मिला वस्त्वन्तर रहित अर्थात् शुद्ध सोने के चमस से अगले मन्त्रों को पढ़ कर
उस मिश्रित दधि मधु घृत को चटावे १-मूस्ते दधामि, २-भुवस्ते दधामि, ३-स्व-
स्ते दधामि, ४-भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि इन चारों मन्त्रों से चार बार चटावे
॥ २५ ॥ (अय+अस्य+नाम+करोति) अब इसका नाम करे (वेदः+असि+
इति) 'वेदोऽसि' तू वेद है ऐसा नाम करे (तद्+अस्य+तद्+गुह्यम्+एव+नाम+
भवति) सो यह नाम इसका गुप्त नाम होता है (अय+एनम्+मात्रे+प्रदाय+स्त्व-
नम्+प्रयच्छति) पश्चात् अपनी गोदी से अपत्य को उसकी माता की गोदी में रख
स्तन्य प्रदान करे और उस समय अपनी आर्त्या से यह वदे (यः+ते+स्तनः+
शरायः) हे बरारोहे ! जो तेरा दुग्धस्थान बालक हितकारी है (यः+मयांभूः+यः+
रत्नधा+यः+वसुविद्+सुदत्रः) जो कल्याणप्रद है जो दुग्धरूप महारत्न का धारण
करनेहार है जो सम्पूर्ण वसु का निर्धान है और परम कल्याणप्रद है (सरस्वति+
येन+विश्वा+वार्याणि+पुण्यासि) हे विदुषी देवी ! जिस स्तन से तू सम्पूर्ण वर-
णीय पदार्थ को पुष्ट किया करती है (तम्+इह+धातवे+प्रकः+इति) उस स्तन
को सन्तान के पिलाने के लिये तू प्रस्तुत कर अर्थात् नीरोग पुष्टिकारक पदार्थों के
सेवन से और नियम प्रतिपालन से उस पवित्र दुग्ध को बनाकर अपने सन्तान
को पोसा कर ॥ २७ ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इलासि मैत्रावरुणी वीरे
वीरमजीजनत् । सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतो
करदिति । तं वा एतमाहुरतिपिता वतामूरतिपितामहो वताभूः
परमां वत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो

ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥ २८ ॥

पदार्थ—(अयं+अस्+मातरम्+अभिमन्त्रयते) इसके पश्चात् यदि जातके की माता को अभिमन्त्रण अर्थात् प्रशंसा करे। वह यह है—(इमा+असि) इमा=पृथिवी, हे बरगरेहे ! जैसा पृथिवी नाना ओशधियों को पैदा कर सब जीवों की रक्षा कर रही है वैसे ही आप सन्तान को पोषण करनेवाली हैं । (मैत्रावरुणि) हे मैत्रावरुणि ! आप मेरे गृह में मित्र ब्राह्मण, सुहृद् के समान स्नेहमयी और वरुण=न्यायकर्ता महाराज के समान न्यायधरिणी हैं (वीरे+वीरम्+अजीजनत्) हे वीरे ! आप (विरोयेण+ईरयति+दुष्टान्) दुष्ट दुष्टवासी कुमार्गियों को दूर करने वाली हैं वस आप ने सन्तान को उत्पन्न किया (सा+त्वम्+वीरवती+भव) वह आप अपने सन्तान से प्रशस्त वीरवती हो (या+अस्मान्+वीरवतः+अकरन् इति) जिसने हमको वीरवान् बनाया है । इस प्रकार मन्त्र सहित गर्भाधानादि कर्म करने से कौन फल होता है सो कहते हैं—(दत्+आहुः+तम्+एतम्+अतिपिता+अभूः+दत्+अतिपितामहः+अभूः) सन्तान की चेष्टा देख सन कोई दत्-विलिनित होकर उस इस सन्तान के विषय में कहते हैं कि यह अतिपिता अर्थात् पिता के सब शुभ गुणों को अतिक्रमण करके महोत्कृष्ट गुणशाली हुआ है इसी प्रकार आश्चर्य्य से कहते हैं कि यह बालक अति पितामह अर्थात् पितामह से भी बढकर हुआ है (या+यरासा+ब्रह्मवर्चसेन+वत्+परमाम्+काष्ठान्+प्रापत्) आश्चर्य्य की बात है कि शोभा यश और ब्रह्मवैज से, यह शिशु परम काष्ठा को प्राप्त हुआ है (एषंविद्ः+ब्राह्मणस्य+यः+पुत्रः+जायते+इति) ऐसे ज्ञानी ब्राह्मण के जो पुत्र होता है वस से पिता भी प्रशस्त होता है ॥ २८ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ वंशः । पौतिमापीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनी-
पुत्रो गौतमी पुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः
पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रः औपस्वतीपुत्रादौपस्वतीपुत्रः परा-
शरीपुत्रात् पराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रः
कौशिकीपुत्रात् कौशिकीपुत्रः आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च
वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥ १ ॥
आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजी-
पुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्रा-
द्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वाक्कारुणीपुत्राद्वा-

पदार्थ—(अथ+वंशः) यह विद्या परम्परा से कैसे आई इस विषय को अब वर्णन करते हैं द्वितीय अध्याय के अन्त में भी इसी प्रकार का वंश कहा गया है यहाँ माता के नाम के साथ वंश कहा जाता है क्योंकि अव्यवहित पूर्व में स्त्री ही की प्रशंसा की गई है और स्त्रीजाति की प्रशंसा होनी भी समुचित है ॥

पौतिमापी पुत्रने कात्यायनी पुत्रसे विद्याप्राप्त की ।	कात्यायनी पुत्रने गौतमी पुत्रसे
गौतमी पुत्रने भारद्वाजी पुत्रसे	॥ १ भारद्वाजी पुत्रने पाराशरी पुत्रने
पाराशरी पुत्रने औपस्वती पुत्रसे	॥ १ औपस्वती पुत्रने पाराशरी पुत्रसे
पाराशरी पुत्रने कात्यायनी पुत्रसे	॥ १ कात्यायनी पुत्रने कौशिकी पुत्रसे
कौशिकी पुत्रने आलम्बी पुत्रसे और	} वैयाघ्रपदी पुत्रने काण्वी पुत्रसे
वैयाघ्रपदी पुत्रसे ...	
आत्रेयी पुत्र से	और कापी पुत्रसे कापी पुत्रने ॥ १ ॥
गौतमी पुत्रने भारद्वाजी पुत्र से	१ आत्रेयीपुत्रने गौतमीपुत्र से
पाराशरीपुत्रने वात्सीपुत्र से	१ भारद्वाजीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से
	१ वात्सीपुत्रने पाराशरीपुत्र से

वर्कारुणीपुत्रो वाक्कारुणीपुत्राद्वाक्कारुणीपुत्र आर्त्तभागीपुत्रा-
 दार्त्तभागीपुत्रः शौहीपुत्राच्छौहीपुत्रः साङ्कृतीपुत्रात् साङ्कृती-
 पुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बी-
 पुत्रो जायन्तीपुत्राजायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकाय-
 नीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डि-
 लीपुत्रोरथीतरीपुत्राद्रथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्रान्भालुकीपुत्रः
 क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रो वेदभृतीपुत्राद्वेदभृतीपुत्रः
 कार्शकेयीपुत्रात् कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात् प्राचीनयो-
 गीपुत्रः सान्जिबीपुत्रात् सान्जीवीपुत्रः प्राशनीपुत्रादासुरि-
 वासिनः प्राश्वीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥२॥

वाक्कारुणीपुत्रने वाक्कारुणी पुत्रसे	। वाक्कारुणीपुत्रने वाक्कारुणीपुत्रसे ।
वार्त्तभागीपुत्रने आर्त्तभागीपुत्र से	। आर्त्तभागीपुत्रने शौहीपुत्रने ।
शौहीपुत्रने साङ्कृतीपुत्रसे	। साङ्कृतीपुत्रने आलम्बायनीपुत्रसे ।
आलम्बायनीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे	। आलम्बीपुत्रने जायन्तीपुत्र से ।
जायन्तीपुत्र ने माण्डूकायनीपुत्र से	। माण्डूकायनीपुत्रने माण्डूकीपुत्र से ।
माण्डूकीपुत्र ने शाण्डिलीपुत्र से	। शाण्डिलीपुत्र ने रथीतरीपुत्र से ।
रथीतरीपुत्र ने भालुकीपुत्र से	। भालुकीपुत्र ने दो क्रौञ्चिकीपुत्रों से ।
दो क्रौञ्चिकीपुत्रों ने वेदभृतीपुत्र से	। वेदभृतीपुत्र ने कार्शकेयीपुत्र से ।
कार्शकेयीपुत्र ने प्राचीनयोगीपुत्र से	। प्राचीनयोगीपुत्र ने सान्जीवीपुत्र से ।
सान्जीवीपुत्र ने प्राश्वीपुत्र आसुरीरासी से	। प्राश्वीपुत्र ने आसुरायण से ।
आसुरायण ने आसुरी से	। आसुरी ने ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवे-
शेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो वा
ध्योगाज्जिह्वावान् वाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो
हरितात् कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात् कश्यपाच्छिल्पः
कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपान्नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या
अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजुंषि वाजसने-
येन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥ ३ ॥ समानमासाञ्जीवीपुत्रात्सा-
ञ्जीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डाव्यान्माण्डव्यः
कौत्सात् कौत्सो माहित्येर्माहित्यिर्वामकचायणाद्रामकचा-

याज्ञवल्क्य से	।	याज्ञवल्क्यने उद्दालक से ।
उद्दालक ने अरुण से	।	अरुण ने उपवेशि से ।
उपवेशि ने कुश्रि से	।	कुश्रि ने वाजश्रवा से ।
वाजश्रवा ने जिह्वावान् वाध्योग से	।	जिह्वावान् वाध्योग ने असित वार्षगण से
असित वार्षगणने हरितकश्यप से	।	हरितकश्यप ने शिल्पकश्यप से ।
शिल्पकश्यप ने कश्यप नैध्रुवि से	।	कश्यप नैध्रुविने वाक् से ।
वाक् ने अम्भिणी से	।	अम्भिणी ने आदित्य से ।

ये शुक्ल यजु आदित्यप्रोक्त हैं वाजसनेय याज्ञवल्क्य के नाम से प्रकट किए जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रजापति से लेकर संजीपुत्रवक वंश समान है आगे पुनः इस कमसे जातना :—

संजीवीपुत्र ने माण्डूकायनी से	।	माण्डूकायनि ने माण्डव्य से ।
माण्डव्य ने कौत्स से	।	कौत्स ने माहित्यि से ।
माहित्यि ने वामकचायण से	।	वामकचायण ने शण्डिल्य से ।

यणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्रात्स्यः कुशेः कुशिर्य-
ज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्का-
वपेयाक्षुरः कावपेयः प्रजापतेः प्रजाप्रतिर्वह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु
ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥

शाण्डिल्य ने वात्स्य से । वात्स्य ने कुशि से ।
कुशि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से । यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुरकावपेय से ।
तुरकावपेय ने प्रजापति से । प्रजापति ने ब्रह्म से ।
बह्म ब्रह्म स्वयम्भु है उस ब्रह्म को नमस्कार हो ॥ ४ ॥

इति पञ्चम ब्राह्मणम् ॥

षष्ठाध्यायः समाप्तः ।

— ग्रन्थश्राव्यं समाप्तिपथात् ।

इति श्रीमत्काव्यतीर्थ शिवशङ्कर शर्म विरचिते संस्कृत-
व्याख्याभाष्ये षष्ठाऽध्यायभाष्यं समाप्तम् ।

इदं सम्पूर्णं भाष्यञ्च समाप्तम् ।

इति शर्मभाष्यम् ॥